हिन्दी समिति ग्रन्थमाला सं० १०१—

शुद्ध बुद्धि मीमांसा

(क्रिटीक डेर राइनन फर्नुन्फ्ट)

मूल लेखक

इमानुएल काण्ट

अनुवादक

भोलानाथ शर्मा

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

शुद्ध बुद्धि मीमांसा

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला सं० १०१—

शुद्ध बुद्धि मीमांसा

(क्रिटीक डेर राइनन फर्नून्फट)

मूल लेखक

इमानुएल काण्ट

अनुवादक

भोलानाथ शर्मा

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६५ ई०

भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत
प्रकाशित

मूल्य—नौ रुपये

मुद्रक
लीडर प्रेस, प्रयाग

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किये जायँ। शिक्षा-मंत्रालय ने यह काम अपने हाथ में लिया है और इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से आरम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन कार्य शिक्षा-मंत्रालय स्वयं अपने अधीन करा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार की शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं मे एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय की ओर से हिंदी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इसके मूल जर्मन संस्करण के लेखक इमानुएल काण्ट हैं और हिन्दी अनुवाद श्री भोलानाथ शर्मा ने किया है।

आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

मुहम्मदअली करीम चागला
शिक्षामंत्री
भारत सरकार

प्रकाशकीय

मानव सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ ही पूर्व और पश्चिम के देशों में दार्शनिक चिन्तन की परम्पराएँ विकसित हुईं। यदि भारत में कपिल, कणाद और पतंजलि जैसे ऋषियों ने तत्त्वज्ञान का उन्मेष किया तो यूनान में सुकरात, अफलातून और अरस्तू-जैसे मनीषियों ने दार्शनिक विचारधारा को प्रवाहित किया। स्रोत चलता रहा, कभी मंद गति से और कभी तीव्र वेग से। भौतिक विज्ञान के युग में भी मनुष्य तत्त्वज्ञान की बात नहीं भूला और दर्शनाचार्य नये-नये मत स्थिर करते रहे। यूरोप में डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनित्ज ने अपने-अपने मतानुसार अध्यात्म-विद्या के विभिन्न पहलुओं की व्याख्याएँ कीं, और लॉक, बर्कले, ह्यूम तथा काण्ट ने ज्ञान-मीमांसा की विवेचना की। इमानुएल काण्ट ने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का गंभीर अध्ययन-मनन करके अनुभववाद एवं विवेकवाद की आलोचना की और "शुद्ध बुद्धि मीमांसा" शीर्षक से जर्मन में टिप्पणियाँ लिखीं। उनकी इस कृति ने जिज्ञासुओं को अत्यधिक प्रभावित किया और कुछ ही काल में इस उद्‌भट विद्वान् एवं दार्शनिक की ख्याति देश-देशान्तर में फैल गयी। अंग्रेजी मे "क्रिटिक आफ प्योर रीज़न" के नाम से उनके ग्रंथ का अनुवाद हुआ। संसार के अन्य अनेक देशों में विभिन्न भाषाओं के माध्यम से उनके दार्शनिक विचार पुस्तकों अथवा लेखों के रूप में पढ़े जाने लगे। कतिपय भारतीय भाषाओं में भी काण्ट की मीमांसा के छोटे-बड़े संस्करण प्रकाशित हुए हैं, किन्तु हिन्दी में इस जटिल एवं दुरूह ग्रंथ का अच्छा अनुवाद उपलब्ध नहीं था। श्री भोलानाथ शर्मा ने मूल जर्मन से काण्ट की इस कृति को हिन्दी में रूपान्तरित कर राष्ट्रभाषा के वाङमय की अभूतपूर्व श्रीवृद्धि की है। हिन्दी समिति उसे प्रकाशित कर गौरव का अनुभव करती है।

हमें विश्वास है कि हिन्दी-भाषी जिज्ञासु पाठक एवं विद्यार्थी उनके द्वारा लिखे गये ग्रंथों का अध्ययन कर विशेष रूप से लाभान्वित होंगे और उनकी मौलिक तथा अनूदित कृतियाँ उनके यश को अमर रखेंगी।

सुरेन्द्र तिवारी,
सचिव, हिन्दी समिति

विषयसूची

१--तत्त्वों का अनुभवातीत ज्ञान

२——अनुभवातीत तत्त्वज्ञान की पद्धति

अनुवादक का निवेदन

काण्ट् की सुविख्यात दार्शनिक रचना 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' (क्रिटीक डेर राइनन् फर्नून्फ्ट) का मूल जर्मन से हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते समय हृदय में विविध प्रकार के विचार उठ रहे हैं। सब से प्रथम विचार है इस अनुवाद-कार्य के औचित्य का। जिस जर्मन जाति ने प्राचीन भारतीय भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में स्पृहणीय श्रम किया हो, जिसने मैक्समूलर्, वाकर्, नागल, गैल्डनर् जैसे संस्कृतोपासकों को जन्म दिया हो, जिसने डायसन् एवं थिबौ जैसे शांकर भाष्य के जर्मन और अंग्रेज़ी के अनुवादक उत्पन्न किये हों, जिसने पिशैल जैसा आचार्य आपिशलि का स्मरण करा देने वाला प्राकृत का पेशल पंडित विश्व को प्रदान किया हो, जिसके रौट् और बोट्लिंक ने संस्कृत के सबसे विशाल कोष का निर्माण किया हो, उस जाति के प्रति हमको भी तो कुछ कृतज्ञतापूर्वक करना चाहिए। इन पंक्तियों के लेखक ने, इसी बात को दृष्टि में रखते हुए, १९३९ ई० में गेटे के फ़ाउस्ट (प्रथम भाग) का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था। अब उसके २० वर्ष पश्चात् एक दूसरे जर्मन ग्रंथ का अनुवाद हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करके मैं जर्मनी के भारत-प्रेम के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित कर रहा हूँ।

भारत दार्शनिकों का देश रहा है। हमारे युगयुगों के दार्शनिक चिन्तन का जैसे जैसे विश्व को पता चलता जा रहा है, वैसे ही वैसे हमारे वर्तमान भौतिक वैभव के अभाव में भी हमारा सम्मान बढ़ता ही जा रहा है। हिन्दू, बौद्ध एवं जैन दर्शन की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ विश्व भर में आदर की दृष्टि से देखी जा रही हैं। पर अन्य देशों में भी समय समय महान् दार्शनिक उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि प्रतिभा तो दिक्, काल आदि के बन्धनों से मुक्त रहती है। ऋग्वेद ने कहा है "आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः", और बाइबिल में लिखा है कि "विण्ड् ब्लोएथ् व्हेयर इट लिस्टैथ्।" काण्ट् इसी प्रकार का एक महान् दार्शनिक हुआ है। यूरोप के दार्शनिकों में उसको सर्वोच्च स्थान देने वालों की कमी नहीं रही है। मैक्समूलर ने 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' का अंग्रेज़ी अनुवाद मूल पुस्तक के प्रकाशन के १०० वर्ष पश्चात् प्रकाशित किया था। इसकी भूमिका में उसने ऋग्वेद और "शुद्ध बुद्धि मीमांसा" को आर्य-जाति की सर्वश्रेष्ठ बपौती माना है। मैक्समूलर के अनुवाद के साथ में लुडविग् न्वारे नामक विद्वान् ने विस्तृत ऐतिहासिक विषय-प्रवेश लिखा है और उसके अन्त में कहा है कि यह कहना कि धराधाम पर निवास करने वाले दार्शनिकों में काण्ट् सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक है, और "शुद्ध बुद्धि मीमांसा" मानवीय मनीषा की सर्वोच्च सिद्धि है, कोई अतिशयोक्ति नहीं है। रूपर्ट

लॉज नामक विद्वान् ने अपनी 'दि ग्रेट थिंकर्स' नामक पुस्तक की भूमिका में काण्ट् की इस रचना को यूरोप की दार्शनिक कृतियों में या तो प्रथम स्थान या प्लेटो की 'रिप-ब्लिक्' के पश्चात् द्वितीय स्थान दिया है। बर्ट्रैण्ड रसल ने अपने पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में लिखा है कि "काण्ट् को साधारण तथा आधुनिक दार्शनिकों में सबसे महान् समझा जाता है। मैं स्वयं इस आकलन से सहमत नहीं हो सकता, पर उसके विपुल महत्त्व को स्वीकार न करना मूर्खता होगी।"

ऐसे महान् दार्शनिक की श्रेष्ठ रचना का अनुवाद हिन्दी में होना ही चाहिए, यह तो निर्विवाद है। पर हमारे देश में अधिक साधन-संपन्न व्यक्ति अभी तक अंग्रज़ी के भक्त बने हुए हैं, अत: ऐसे ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद करे तो कौन करे ? हिन्दी भाषा में इस विषय पर जो पुस्तक सर्वप्रथम प्रकाशित हुई थी वह श्री पशुपाल वर्मा की 'बर्कले और केण्ट' नामक पुस्तक थी। इसको 'श्रीमध्यभारत हिन्दी साहित्य-समिति' ने १९२४ ई० में प्रकाशित किया था। इसमें ५५ पृष्ठों में काण्ट् के जीवन और दर्शन का परिचय दिया गया था। इसके अतिरिक्त स्वर्गीय पं० रामावतार पाण्डेय, श्री गुलाबराय, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री चन्द्रधर शर्मा, श्री दीवानचन्द, श्री तिवारी इत्यादि के दर्शन के इतिहासों में भी काण्ट् की चर्चा यथास्थान प्राप्त होती है। पर इसके आगे न तो उसके विषय में उसके महत्त्व के अनुरूप किसी स्वतंत्र ग्रंथ की रचना हुई है और न उसकी किसी कृति का ही अनुवाद हुआ है।

बंगला भाषा इस दिशा में हिन्दी से कुछ आगे बढ़ी हुई है। श्री हुमायूँ कबीर काण्ट् के विशेषज्ञ हैं। उन्होंने काण्ट् की "विभावना (एवं सौन्दर्य बोध) की मीमांसा" की प्रथम भूमिका का अनुवाद किया है, इमानुएल काण्ट् नामक एक पुस्तिका की बंगला में रचना की है, और भारत सरकार द्वारा प्रकाशित प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन के (अंग्रेज़ी) इतिहास में काण्ट् पर निबंध लिखा है। स्वर्गीय श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य जी अत्यन्त मौलिक विचारक थे। उन्होंने काण्ट् के विषय में बिलकुल स्वतंत्र रूप से बंगला और अंग्रेज़ी दोनोंही भाषाओंमें विस्तृत निबंध लिखे हैं। उनका बंगला निबंध "काण्ट्दर्शनेर तात्पर्य" डॉ० रासबिहारी दास की "काण्टेर दर्शन" नामक रचना के अन्त में प्रकाशित हुआ है और ७६ पृष्ठ में है। अंग्रेज़ी निबंध स्वयं उन्हीं की "स्टडीज़ इन् फिलॉसफ़ी" नामक पुस्तक की दूसरी जिल्द के अन्त में "स्टडीज़ इन काण्ट्" के नाम से प्रकाशित हुआ है और ६० पृष्ठों में है। डॉ० रासबिहारी दास ने भी काण्ट् के विषय में बंगला और अंग्रेज़ी दोनों में ही लिखा है। इनकी अंग्रेज़ी पुस्तक का नाम "ए हैण्डबुक् टु काण्ट्स क्रीटिक् ऑफ़ प्योर् रीज़न" है, तथा बंगला पुस्तक का नाम "काण्टेर दर्शन" है, जो इस समय तक संभवतया किसी भारतीय भाषा में काण्ट् के

दर्शन का सब से विस्तृत परिचय है। इसमें २२४ पृष्ठ हैं।

उर्दू भाषा में डॉ० आबिदहुसैन ने काण्ट् की "शुद्ध बुद्धि मीमांसा" के द्वितीय जर्मन संस्करण से उसके दो तिहाई भाग का अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसके साथ में ७८ पृष्ठ की भूमिका भी है। मराठी भाषा में प्रिंसिपल भाटे की "काण्ट् और शंकर" नाम की पुस्तक उपलब्ध है। बंगलूर के ऐन्० ए० निकम् एम्० ए० ने भी काण्ट् के दर्शन के संबंध में "ऐन् इण्ट्रोडक्शन् टु काण्ट्स क्रीटीक ऑफ़ प्यौर् रीज़न" नामक पुस्तक अंग्रेज़ी में लिखी है। यह पुस्तक आकार-प्रकार में डॉ० रासबिहारी दास की अंग्रेज़ी पुस्तक के समान है।

अंग्रेजी में "शुद्ध बुद्धि मीमांसा" के अनेकों पूर्ण और आंशिक अनुवाद हुए हैं। हेवुड्, माईकिलजोन (१८५५ पूर्ण), महाफ़ी (१८६६, आंशिक), हचिन्सन्-स्टर्लिंग (१८८१ आंशिक), मैक्समूलर (१८८१ पूर्ण), वाट्सन् (आंशिक), नॉर्मन् कैम्पस्मिथ् (१९२९ पूर्ण) इत्यादि विद्वानों ने इस ग्रंथ को अंग्रेजी भाषा में समय समय पर रूपान्तरित किया है। इस समय नॉर्मन् कैम्पस्मिथ् का अनुवाद आदर्श माना जाता है। प्रस्तुत अनुवादक ने हेवुड् और महाफ़ी के अनुवादों के अतिरिक्त (क्योंकि वे अब उपलब्ध ही नहीं हैं) अन्य सब अनुवादों को देखा है और उनसे लाभान्वित होने का प्रयत्न किया है। यह अनुवाद उत्तरोत्तर अधिक परिष्कृत होते गये हैं। फिर भी किसी महान् कृति का पूर्णतया परिष्कृत अनुवाद तो स्यात् कभी न हो सकेगा। यही कारण है कि डॉ० पेटन् ने कैम्पस्मिथ् के अनुवाद से बहुत से स्थलों पर अपना मतभेद प्रकट किया है।

ऐसी स्थिति में प्रस्तुत अनुवाद के संबंध में मैं किसी भी प्रकार की पूर्णता का दावा करने की धृष्टता नहीं कर सकता। वास्तविकता तो यह है कि इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद करने का साहस कर डालना ही एक बड़ी धृष्टता है। पर इस धृष्टता का संबंध मेरे जीवन के उन दिनों से है जब कि युवकों से स्वप्न देखे बिना नहीं रहा जाता। इन स्वप्नों की कहानी को मैंने प्लेटो की 'रिपब्लिक' के अनुवाद की भमिका में प्रस्तुत किया है। उन स्वप्नों से चिपटे रह कर सांसारिक सफलता की दृष्टि से बहुत कुछ खोया है। फिर भी मुझे परम सन्तोष है कि आज उन स्वप्नों को धीरे धीरे वास्तविकता का रूप प्राप्त होता जा रहा है। यह अनुवाद जैसा भी बन पड़ा है, यह सिद्ध करने के लिये फिर भी पर्याप्त है कि हिन्दी भाषा अपनी अभिव्यंजना-शक्ति में संसार की किसी भी भाषा से घट कर नहीं है; एवं जो कोई उसकी अभिव्यंजना-शक्ति का परिहास करता है, अपना अज्ञान प्रकट करता है।

मेरा अत्यन्त विनम्र निवेदन यह है कि यह एक नितान्त कठिन ग्रंथ का प्रथम

अनुवाद है और इसमें प्रथम अनुवाद की कमियाँ और त्रुटियाँ होनी अवश्यंभावी हैं। इस पुस्तक की कठिनता के संबंध में तो शौपेन हॉर का ही साक्ष्य पर्याप्त होगा। वह अपने काण्ट् संबंधी व्याख्यानों के आरंभ में कहा करता था कि "आप किसी को भी अपने को यह मत वतलाने दो कि काण्ट् की "शुद्ध बुद्धि मीमांसा" का अन्तर्विष्ट विषय क्या है"। उसका आशय यह था कि यह ग्रंथ इतना जटिल और इतना प्रमेयबहुल है कि किन्हीं दो व्यक्तियों की राय इसके संबंध में एक समान नहीं हो सकती। उसका ऐसा कहना कोरी कल्पना नहीं थी। यह वास्तविकता है कि काण्ट् की इस रचना के कोई भी दो अनुवाद एवं कोई भी दो व्याख्याएँ एक सी नहीं मिलेंगी। काण्ट् के विषय में सभी सभ्य देशों में विशाल साहित्य निर्मित होता जा रहा है। इस साहित्य की दशा ठीक वैसी है जैसी कि काण्ट् के मत में उसके पूर्व दर्शनशास्त्र की थी। जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में प्रत्येक उत्तर-कालीन दार्शनिक अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के सिद्धान्तों को उधेड़ कर तार-तार कर डालने में अपनी कृतकृत्यता का अनुभव करता है, उसी प्रकार काण्ट् के व्याख्याता भी पूर्ववर्ती व्याख्याताओं के करे धरे पर पानी फेरने में अपनी सफलता समझते हैं। उदाहरण स्वरूप डॉ० पैटन् और ऐच्० डब्ल्यू० कसीरर् की काण्ट् विषयक कृतियों के दावों को देखा जा सकता है। ऐसी दशा में मैं अपने प्रयास के संबंध में किसी भी श्रेय का दावा नहीं कर सकता, केवल इतना ही कह सकता हूँ कि इस अनुवाद के द्वारा मैंने यथाशक्ति हिन्दी भाषा के एक अभाव को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। यदि संख्या की दृष्टि से संसार की तीसरी सब से बड़ी भाषा में काण्ट् की इस कृति का अनुवाद न होता, तो यह कमी खलती और खटकती रहती। इसके आगे, मेरी भगवान् से यही प्रार्थना है कि हमारी राष्ट्रभाषा की विद्वत्ता को उस दिन की शीघ्र ही प्राप्ति हो, जब इस अनुवाद की त्रुटियाँ इतनी खटकने लगें कि इसका स्थान कोई वास्तविकतया निर्दोष अनुवाद ले सके।

प्रस्तुत अनुवाद की एक और विशेषता की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। काण्ट् साहित्य और दर्शन का गंभीर पंडित था। उसको समग्र यूरोपीय दर्शन की परम्परा का अपरोक्ष परिचय प्राप्त था। अतएव उसने अनेकों स्थानों पर ग्रीक और लैटिन भाषा के शब्दों का प्रयोग किया —ग्रीक शब्दों का कम, लैटिन शब्दों का अधिक। लैटिन कविता की पंक्तियों को भी उसने अनेक अवसरों पर उद्धृत किया है। अंग्रेज़ी अनुवादकों ने इस बात को मान कर अनुवाद में इन शब्दों और उद्धरणों का अनुवाद नहीं किया है कि साधारणतया प्रत्येक पाठक इनको समझता ही होगा। हिन्दी अनुवाद में इस प्रकार की मान्यता के लिये स्पष्ट ही स्थान नहीं हो सकता। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद में ऐसे सभी शब्दों और उद्धरणों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

भोलानाथ शर्मा

प्राक्कथन

आधुनिक दर्शन और उसके प्रमुख झुकाव : डेकार्ट को आधुनिक दर्शन का जन्म-दाता समझा जाता है। दार्शनिक विवेचन में जो कुछ महत्त्व का मौलिक काम हुआ, वह १९ वीं शति के साथ समाप्त हो जाता है। इस अवधि के विवेचन में कुछ विशेष झुकाव स्पष्ट दीखते हैं। आरंभ में विशुद्ध तत्व-ज्ञान की जिज्ञासा प्रमुख थी। डेकार्ट (१५९६–१६५० ई०), स्पिनोज़ा (१६३२–१६७० ई०) और लाइब्नित्स् (१६४६–१७१६ ई०) तीनों गणित में प्रसिद्ध स्थिति रखते थे। उस समय विज्ञान में गणित ही प्रमुख था। डेकार्ट ने तत्व-ज्ञान को गणित की निश्चितता देने के लिए ऐसी असंदिग्ध मौलिक मान्यताओं की खोज की, जो दर्शन के भवन की नींव बन सके। उसने सामयिक संदेह को अपना मार्गदर्शक बनाया। उसे सूझा कि इस व्यापक संदेह के क्षेत्र में उसकी अपनी चेतना नहीं आती। इसके अस्तित्व पर संदेह करना स्वयं इसके अस्तित्व को सिद्ध करना है। अपनी चेतना में उसने पूर्णता के प्रत्यय को देखा, और इस विचार से कि पूर्णता ही इस प्रत्यय को जन्म दे सकती है, पूर्ण परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया। उसने यह भी देखा कि वह वाह्य जगत् के अस्तित्व में दृढ़ विश्वास रखता है। यह विश्वास एक स्थायी भ्रम भी हो सकता है, और सत्य ज्ञान भी। परमात्मा की पूर्णता से यह आशा नहीं हो सकती कि वह मनुष्यों को जीवन भर धोखे में रखे; इसलिए वाह्य जगत् में विश्वास भी सत्य ज्ञान ही है।

डेकार्ट ने निम्न धारणाओं को स्वीकार किया :—

मेरा अस्तित्व है।

परमात्मा का अस्तित्व है।

प्राकृतिक जगत् का अस्तित्व है।

आत्मा और परमात्मा दोनों चेतन हैं, प्रकृति जड़ है। यह दोनों स्वाधीन द्रव्य हैं। डेकार्ट ने द्वैतवाद का समर्थन किया। स्पिनोज़ा ने कहा कि द्रव्य के प्रत्यय में ही इसका एकत्व निहित है। द्रव्य के असंख्य विशेषण हैं; हम अपनी संकुचित स्थिति के कारण केवल दो विशेषणों की बाबत ही जान सकते हैं—चेतना और विस्तार। सभी जीवात्मा अनन्त चेतना के आकार हैं; सभी भौतिक पदार्थ विस्तार के आकार हैं। स्पिनोज़ा अद्वैतवाद का सबसे बड़ा समर्थक है।

लाइब्नित्स् ने स्पिनोज़ा की इस धारणा को स्वीकार किया कि द्रव्य एक ही हो सकता है, परन्तु जीवात्मा को चेतना का आकारमात्र स्वीकार नहीं किया। उसके विचार में हरेक जीवात्मा द्रव्य है और विश्व इनका ही बना है। जिन वस्तुओं को हम भौतिक पदार्थ समझते हैं, वे भी चिरविन्दुओं के समूह ही हैं। लाइब्नित्स् का मत आध्यात्मिक अनेकवाद है। डेकार्ट फ्रांस में पैदा हुआ, स्पिनोज़ा हालैंड में, और लाइब्नित्स् जर्मनी में। इन्हें महाद्वीपी दार्शनिक भी कहा जाता है।

नवीन दर्शन में दूसरा झुकाव ज्ञान-मीमांसा के रूप में प्रकट हुआ। तत्व-ज्ञान के संबंध में इतने मतभेद को देख कर, कुछ विचारकों को ख्याल आया कि पहले यह तो देखें कि मानव-ज्ञान क्या है और इसकी पहुँच कहाँ तक है। यहाँ भी हमें तीन विचारकों से परिचित होने का अवसर मिलता है। वह तीनों इंग्लैंड के वासी थे, यद्यपि तीन विविध भागों के। जॉनलॉक (१६३२–१७०४) इंग्लैंड में पैदा हुआ, जार्ज बर्कले (१६८४–१७५३) आयरलैंड में, और डेविड ह्यूम (१७११–१७७६) स्काटलैंड में। इनके संबंध में कहा जाता है कि जॉनलॉक न होता, तो बर्कले न होता; और बर्कले न होता, तो ह्यूम भी न होता। लॉक ने अनुभववाद का आरंभ किया, बर्कले ने उसे आगे बढ़ाया, और ह्यूम ने उसे उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। लॉक ने कहा कि हमारा सारा ज्ञान अनुभव की देन है। मनुष्य का मन आरंभ में एक कोरी पट्टी के समान होता है; अनेक अनुभव वाह्य पदार्थों से आकर उस पर अंकित होते हैं। मन, क्रियाविहीन, विनीत स्थिति में, इन अनुभवों को ग्रहण करता है। पीछे, इन अनुभवों में कुछ जोड़-तोड़ करके नए चित्रों का निर्माण भी कर लेता है, परन्तु मौलिक अनुभवों के संबंध में मन का काम केवल ग्रहण करना है। लॉक ने द्वैतवाद को स्वीकार किया, यद्यपि वह द्रव्य के प्रत्यय को स्पष्ट रूप में समझ नहीं सका। भौतिक पदार्थों के गुणों में उसने प्रधान और अप्रधान का भेद किया। प्रधान गुण वाह्य पदार्थों में विद्यमान हैं, अप्रधान गुण (रंग, रूप, शब्द, रस आदि) केवल मानसिक प्रभाव हैं, जो प्रधान गुणों के आक्रमण का परिणाम होते हैं। जार्ज बर्कले ने कहा कि प्रधान और अप्रधान गुणों का भेद निराधार है : जो कुछ अप्रधान गुणों के वस्तुगत होने के विरुद्ध कहा जाता है, वही प्रधान गुणों के वस्तुगत होने के विरुद्ध भी कहा जा सकता है। प्रकृति की कोई सत्ता नहीं, सारी सत्ता आत्माओं की है—जीवआत्माओं की और परमात्मा की। एक पग उठाना ही बाकी रह गया था, वह ह्यूम ने उठा लिया। उसने कहा कि जिस तरह प्राकृत पदार्थ केवल गुण-समूह हैं, उसी तरह आत्मा भी चेतना अवस्थाओं की धारा है। द्रव्य का अस्तित्व न बाहर है, न अन्दर ही है। जब आत्मा ही न रहा, तो धर्म का क्या बनेगा ? विज्ञान की नींव कारण-कार्य-संबंध पर है। ह्यूम ने कहा कि

इस संबंध में अनिवार्यता विद्यमान नहीं; हम जिस क्रम को देखते आये हैं, उसे भ्रम में अनिवार्य नियम समझने लगते हैं। धर्म और विज्ञान के संबंध में हमें असंदिग्ध ज्ञान हो ही नहीं सकता। ह्यूम ने संदेहवाद को इसके भयानक रूप में प्रस्तुत किया।

अब स्थिति क्या थी ? महाद्वीपी दार्शनिकों ने कहा था कि मनुष्य की बुद्धि सब कुछ जान सकती है; अनुभववाद के नैयायिक निष्कर्ष के रूप में, ह्यूम ने कहा कि मानव बुद्धि रूप में कुछ भी निश्चित जान नहीं सकती। इस कठिन स्थिति में इम्मैनुयल कांट् (१७२४–१८०४) का प्रादुर्भाव हुआ।

कांट् के साथ जर्मनी दार्शनिक विवेचन का केन्द्र बनी। हेगल, फिख़टे और उनके साथियों ने अध्यात्मवाद के रूप में एक नए झुकाव को प्रस्तुत किया। १९ वीं शति में विकास का प्रत्यय दार्शनिक विचार पर आ गया। आगस्ट काम्ट ने इसे ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में लागू किया, स्पेन्सर और वर्गसाँ ने तत्व-मीमांसा के क्षेत्र में। कांट् ने कहा कि मनुष्य का मन अपने विकास में तीन मंजिलों से गुज़रा है; पहली मंजिल में, हरेक घटना को किसी चेतन की कृति समझा जाता था; दूसरी मंजिल में, चेतनों का स्थान शक्तियों और तत्वों ने लिया; और तीसरी मंजिल में, जिसमें मानव जाति अब चल रही है, मनुष्यों के तथ्यों को देखने पर ही संतोष किया। स्पेन्सर ने कहा कि दृष्ट जगत् में जो कुछ है, सब प्रकृति का विकास है। ज़ीवन और चेतना भी उचित समय पर प्राकृतिक परिवर्तनों से प्रकट हुए। वर्गसाँ ने इस दावे को अमान्य बताया और 'प्राकृत विकास' के स्थान में 'उत्पादक विकास' का समर्थन किया।

कांट् आरंभ में विवेकवादी था। वह समझता था कि बुद्धि हमें सत्य का असंदिग्ध ज्ञान दे सकती है। १७७५ ई० में उसने ह्यूम की 'मानव प्रकृति' को जर्मन अनुवाद में पढ़ा, और, जैसा वह आप कहता है, इस अध्ययन ने उसे 'सिद्धान्तवाद की निद्रा से जगा दिया।' अनुभववादियों के सम्मुख प्रश्न था—'अनुभव क्या बताता है ?' कांट् ने कहा—'पहले तो यह जानना चाहिए कि अनुभव बनता कैसे है ?' इस प्रश्न का उत्तर उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' में दिया। इस पुस्तक ने आनेवाले विचार को जितना प्रभावित किया है, उतना किसी अन्य पुस्तक ने नहीं किया। कहते हैं बाईबल को छोड़कर, किसी दूसरी पुस्तक पर इतना कहा और लिखा नहीं गया, जितना कांट् की 'मीमांसा' पर कहा और लिखा गया है। प्रकाशित होने के १०–१२ वर्षों के अन्दर यह विश्वविद्यालयों में अध्ययन का विषय बन गयी।

'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' : कांट् की 'मीमांसा' १७८१ ई० में प्रकाशित हुई। उस समय कांट् की आयु ५७ वर्ष की थी। 'मीमांसा' मुख्य रूप में ह्यूम की समीक्षा थी, और ह्यूम का काम मुख्य रूप में जार्ज बर्कले की समीक्षा थी। बर्कले ने अपनी प्रसिद्ध

पुस्तक 'मानव ज्ञान के नियम' १७१३ में, जब वह २९ वर्ष का था, लिखी; ह्यूम ने 'मानव प्रकृति' की रचना २६ वर्ष की आयु में समाप्त की। 'मीमांसा' की रचना के समय कांट् की आयु बर्कले और ह्यूम दोनों की आयु के जोड़ से भी कुछ अधिक थी। इस तथ्य ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। कुछ पौधे शीघ्र फूल-फल देने लगते हैं, कुछ देर के बाद देते हैं। इसी तरह कुछ मन शीघ्र प्रौढ़ हो जाते हैं, कुछ देर के बाद। कांट् की बाबत समझा जाता है कि उसकी मानसिक प्रौढ़ता बहुत मन्द गति से हुई। संभव है ऐसा ही हुआ हो, परन्तु जिस स्थिति में कांट् का जीवन व्यतीत हुआ, वह भी अनुकूल न थी। वह एक निर्धन परिवार में पैदा हुआ। विश्वविद्यालय में पहुँचने से पहले ही माता-पिता का देहान्त हो चुका था। विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी आप कमाना पड़ा। शिक्षा की समाप्ति पर, साधारण जीविका के लिये कानिग्सवर्ग से बाहर जाना पड़ा। वहाँ कुछ घरों में शिक्षण के काम में ७ वर्ष निकल गये। १७५५ ई० में कानिग्सवर्ग में लौट कर आया, तो विश्वविद्यालय में अवैतनिक शिक्षक का पद मिला। इसका अर्थ यह था कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को निजी रूप से पढ़ाने का अधिकार उसे दिया गया। ऐसे विद्यार्थियों को वह अपने घर में पढ़ाता था, और जो कुछ उनसे मिलता, उस पर गुज़ारा करता। दो बार अध्यापक पद के लिए प्रार्थना पत्र अस्वीकार हुआ। ऐसी स्थिति में कुछ लिखने का साहस कौन कर सकता है? १५ वर्ष इस तरह बीत गये। १७७० ई० में वह कानिग्सबर्ग विश्वविद्यालय में न्याय और तत्व-ज्ञान का प्रोफ़ेसर नियुक्त हुआ। उसकी जीवन-अभिलाषा पूरी हुई।

'मीमांसा' का दृष्टिकोण : बेकन ने कहा है कि मनुष्यों के मन तीन प्रकार के होते हैं। कुछ चींटी की तरह संग्रह करने में लगे रहते हैं; कुछ मकड़ी की तरह अपने अन्दर से उपजाते हैं; और कुछ मधुमक्खी की तरह इधर उधर से सामग्री लेकर उसे विशेष आकृति देते हैं। इस कथन में अनुभववाद, विवेकवाद और आलोचनवाद के दृष्टिकोणों की ओर सुन्दर रीति से संकेत किया गया है। अनुभववाद के अनुसार सारा ज्ञान बाहर से प्राप्त होता है; विवेकवाद के अनुसार सारा ज्ञान अन्दर से निकलता है; आलोचनवाद के अनुसार ज्ञान की सामग्री बाहर से मिलती है, उसे आकृति मन देता है। साधारण भवन की तरह ज्ञान-भवन भी सामग्री और आकृति का संयोग है।

कांट् का काम अनुभववाद और विवेकवाद का समन्वय करना था। उसने अनुभववादियों से कहा—'तुम्हारी यह धारणा तो मान्य है कि ज्ञान के निर्माण में बाहरी अंश आवश्यक है, परन्तु यह ठीक नहीं कि यह अपने आप में पर्याप्त है।'

उसने विवेकवादियों से कहा—'तुम्हारी यह धारणा तो मान्य है कि मन की कृति

के विना ज्ञान का निर्माण संभव नहीं, परन्तु यह ठीक नहीं कि मन की कृति अपने आप में पर्याप्त है।'

विवेकवाद की यह भी धारणा थी कि ज्ञान-प्राप्ति में बुद्धि की क्षमता निःसीम है। कांट् ने इस दावे को स्वीकार नहीं किया, और कहा कि बुद्धि की खोज अनुभव के क्षेत्र में सीमित है; जब यह इस क्षेत्र से परे जाने का यत्न करती है, तो अवश्य ही असफल रहती है।

'मीमांसा' का अध्ययन क्रम : कांट् ने अपनी पुस्तक को 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' का नाम दिया। शुद्ध का अर्थ है—मिलावट से बचा हुआ। शुद्ध दूध निरा दूध है, इसमें जल की या किसी अन्य वस्तु की मिलावट नहीं होती; शुद्ध जल केवल दो गैसों का रासायनिक संयोग है। शुद्ध बुद्धि अनुभव से अलिप्त बुद्धि है। कांट् का काम उन प्रत्ययों के औचित्य को जाँचना था, जिन्हें शुद्ध बुद्धि प्रस्तुत करती है। यह समालोचना ही पुस्तक का अधिक और कठिन भाग है। परन्तु बुद्धि ही अकेली मानसिक कृति नहीं; कांट् इसके साथ संवैधता या गोचरता और मति का भी वर्णन करता है। पदार्थों का संसर्ग किसी इन्द्रिय से होता है; इसका परिणाम संवेदनमात्र होता है। इस बोध को ज्ञान नहीं कह सकते। विविध इन्द्रियों से प्राप्त संवेदनों का समन्वय मानसिक कृति है। इस कृति का परिणाम प्रत्यक्ष या वस्तु-ज्ञान है। पदार्थों में किसी प्रकार का सम्बन्ध देखना मति का काम है। बुद्धि का स्पष्ट सम्बन्ध संवैधता से नहीं, केवल मति से है। मति बुद्धि और उपलब्ध शक्ति दोनों से संबद्ध है। 'मीमांसा' का प्रमुख काम तो बुद्धि के प्रत्ययों की समीक्षा है, परन्तु इस समीक्षा से पहले मति और गुण ग्रहण करने वाली शक्ति की समीक्षा भी आवश्यक है। कांट् इन प्रारंभिक समीक्षाओं से आरंभ करता है। इस तरह 'मीमांसा' तीन भागों में विभक्त होती है :—

१. संवेदन-शक्ति की समीक्षा

२. मति की समीक्षा

३. बुद्धि की समीक्षा

पहले दो भागों में कांट् ने अनुभववाद की अपर्याप्तता को सिद्ध करने का यत्न किया; तीसरे भाग में यह बताना चाहा कि विवेकवाद का यह दावा कि बुद्धि की पहुँच अनुभव के क्षेत्र से परे भी है, अमान्य है।

अनुभववाद की अपर्याप्तता : ह्यूम ने अपनी 'मानव प्रकृति' को इन शब्दों से आरंभ किया—'मनुष्य मन का सारा ज्ञान दो प्रकार का है। मैं इन्हें प्रभाव और चित्र कहूँगा। इन दोनों में उस दल और सजीवता के परिमाण का ही भेद है जिसके साथ वे मन पर चोट लगाते हैं, और हमारी चेतना में प्रविष्ट होते हैं। जो बोध अधिका-

धिक शक्ति और तीक्ष्णता के साथ प्रविष्ट होते हैं, उन्हें मैं प्रभाव कहता हूँ; चित्रों से मेरा अभिप्राय इन प्रभावों के मन्द विम्बों से है।'

चित्रों और प्रभावों के गुण-भेद को मिटाकर, ह्यूम ने समस्त ज्ञान को उन प्रभावों के रूप में देखा, जो मन को बाहर से आक्रान्त करते हैं। यह अनुभववाद का सरलतम विवरण है।

अनुभववाद के इस दावे को ध्यान में रखते हुए, कांट् ने 'मीमांसा' को निम्न शब्दों के साथ आरंभ किया :—

'इसमें तो संदेह नहीं हो सकता कि हमारा सारा ज्ञान अनुभव के साथ आरंभ होता है।.... परन्तु यद्यपि हमारा ज्ञान अनुभव के साथ आरंभ होता है, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह सब अनुभव में से निकलता है। क्योंकि, इसके विपरीत, यह बिल्कुल संभव है कि हमारा अनुभूत ज्ञान दो अंशों का मिश्रण है : एक अंश हम बाहर से प्रभावों द्वारा प्राप्त करते हैं, और दूसरा अंश ज्ञान की शक्ति अपने अन्दर से प्रदान करती है।... इसलिए इस प्रश्न पर गहरे विचार की आवश्यकता है कि क्या कोई ऐसा ज्ञान भी है, जो अनुभव से ही नहीं, अपितु, इन्द्रिय-प्रदत्त प्रभावों से भी स्वाधीन हो ? इस प्रकार का ज्ञान अनुभव-पूर्व कहलाता है : अनुभूत ज्ञान के मुकाबले में जिसका स्रोत अनुभव में है, अर्थात् अनुभव-उत्तर ज्ञान के मुकाबले में।'

कांट् का उद्देश्य अनुभव-पूर्व ज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करना है। इसके लिए गणित और रेखा-गणित ने उसकी सहायता की।

निर्णय के विविध रूप : भाषा चिन्तन का पहरावा है। जो कुछ हम कहते सुनते हैं, वह वाक्यों का संग्रह होता है। वाक्य का मानसिक पक्ष निर्णय है। निर्णय दो प्रकार का होता है : एक में जो कुछ उद्देश्य में निहित होता है, विधेय उसे स्पष्ट करता है; दूसरे में हमारे ज्ञान में वृद्धि होती है।

'मेरा भाई मेरे माता-पिता की सन्तान है।'

'मेरा भाई कालेज में प्रिंसिपल है।'

पहले वाक्य में भाई के अर्थ को ही स्पष्ट किया गया है; दूसरे में उसकी बाबत कुछ सूचना दी गयी है। इन दोनों निर्णयों को वैश्लेषिक और सांश्लेषिक कहते हैं।

अनुभव की नींव पर भी निर्णयों के दो रूप हैं : कुछ निर्णय अनुभव पर आधारित नहीं होते, कुछ अनुभव से प्राप्त होते हैं। इन्हें अनुभव-पूर्व और अनुभव-उत्तर कहा जाता है।

'हर एक त्रिभुज के दो भुज मिलकर तीसरे भुज से बड़े होते हैं।'

'पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है।'

पहला निर्णय अनुभव पर निर्भर नहीं; किसी त्रिभुज के भुजों को मापे बिना हम इसे सत्य स्वीकार नहीं करते हैं; दूसरा निर्णय एक अनुभूत तथ्य है।

विभाजन की दोनों नीवों को मिलाएँ, तो चार प्रकार के निर्णय प्रस्तुत होते हैं :—

अनुभव-पूर्व वैश्लेषिक

अनुभव-पूर्व सांश्लेषिक

अनुभव-उत्तर वैश्लेषिक

अनुभव-उत्तर सांश्लेषिक

तीसरे प्रकार के निर्णय कल्पनामात्र हैं। इनके प्रत्यय में आन्तरिक विरोध है। दूसरे प्रकार के निर्णय गणित और रेखा-गणित के निर्णय हैं। निम्न निर्णयों को देखें—

१. ७ + ५ = १२

२. त्रिभुज के दो भुज मिलकर तीसरे भुज से बड़े होते हैं। यह निर्णय अनुभव से प्राप्त नहीं होते, और हमारे ज्ञान में वृद्धि भी करते हैं। ह्यूम ने कहा था कि हमारा सारा ज्ञान अनुभव की देन है; कांट् ने कहा कि निश्चिततम ज्ञान, गणित और रेखा-गणित, ह्यूम के इस दावे को अमान्य सिद्ध करता है। यदि गणित और रेखा-गणित में अनुभव-पूर्व सांश्लेषिक निर्णय मिलते हैं, तो वे ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी मिल सकते हैं। कांट् ने यह बताने का यत्न किया कि दर्शन में भी ऐसे निर्णय मिलते हैं। इसके लिए उसने यह दिखाने का यत्न कया कि ज्ञान के विविध स्तरों पर मन की देन क्या है।

अनुभवातीत वैश्लेषिकी : मैं कुर्सी पर बैठा यह लेख लिख रहा हूँ। मेज मेरे सामने है, उस पर कुछ पुस्तकें पड़ी हैं। कुछ दूर हरी घास दिखाई देती है। इस विवरण में प्रत्यक्ष या वस्तु-ज्ञान के कई उदाहरण हैं—कुर्सी, मेज, पुस्तक, घास। इसके अतिरिक्त कुछ सम्बन्धों की ओर भी संकेत हुआ है। मेरा देखना वर्तमान की घटना है। मैं कुर्सी के ऊपर हूँ, कुर्सी मेरे नीचे है; पुस्तकें सामने हैं; घास कुछ दूर हैं। यहाँ जो कुछ ज्ञात हुआ है, देश और काल की सीमाओं में ज्ञात हुआ है। पुस्तक के ज्ञान में एक अंश संवेदना का है : पुस्तक का रूप-रंग आँख से देखा जाता है, इसकी जिल्द की सम-तलता स्पर्श का विषय है, मेज़ पर से गिरने पर जो शब्द इससे निकलता है, वह कान से पहचाना जाता है। संवेदन वस्तु-ज्ञान की सामग्री है, परन्तु वस्तु-ज्ञान नहीं। इनके वस्तु-ज्ञान बनने के लिये विशेष प्रकृति की आवश्यकता है। यह कमी देश और काल पूरा करते हैं। देश और काल संवेदन की आकृतियाँ हैं। बाह्य पदार्थों के जो गुण इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं, वे देश और काल के ढाँचों से गुज़र कर ही वस्तु-ज्ञान बनते हैं। रूपक को बदल कर कह सकते हैं कि हम जो कुछ देखते हैं, देश और काल के चश्मों में से देखते हैं; और यह चश्मे आरंभ से हमारी नाक पर लगे हैं, और उतर नहीं सकते।

इस दावे को प्रमाणित करना 'मीमांसा' के पहले भाग का प्रमुख काम है। इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष विचार के योग्य हैं :—

(१) कांट् के समाधान में बाहरी पदार्थों का रंग-रूप क्या है ?

(२) स्वयं देश और काल की प्रकृति की बावत क्या कह सकते हैं ?

बाह्य पदार्थों की स्थिति : कांट् के अनुसार जिन उपनेत्रों में से हम वाह्य पदार्थों को देखते हैं, वे आरंभ से हमारी नाक से जुड़े हैं, और अलग नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में, हम पदार्थों को उनके वास्तविक रूप में नहीं देखते। हम यह भी नहीं कह सकते कि जिन चश्मों में से हम देखते हैं, वह पदार्थों की स्थिति में क्या परिवर्तन कर देते हैं। फिर, जो परिवर्तन होता है, वह मनुष्यों के लिये होता है। यदि ज्ञाता अमानव प्रकृति का हो, तो उसके लिए पदार्थों के वास्तविक स्वरूप में परिवर्तन वही नहीं होगा, जो हमारे लिए होता है। जिस जगत् में हम रहते हैं, वह हमारे लिए प्रकटमात्र है; हमारे लिए—अपने आप में भी उसकी कुछ स्थिति है, यद्यपि हम उसे जान नहीं सकते।

साधारण मनुष्य यह सुन कर घबरा जाता है कि उसने कभी अपने भाई-बहिनों को उनके वास्तविक रूप में नहीं देखा, न कभी उनकी आवाज़ को वास्तविक रूप में सुना है। दार्शनिकों को भी कांट् के समाधान में कई कठिनाइयाँ सूझती हैं :—

(१) यदि हमारा ज्ञान अवश्यमेव प्रकरणों से परे नहीं जाता, तो यह मानना क्यों आवश्यक है कि प्रकरणों से परे कुछ है ? यह क्यों न समझ लें कि प्रकटन किसी कारण के कार्य नहीं, परन्तु स्वाधीन सत्ता रखते हैं ? और यदि उन्हें कार्य मानना आवश्यक हो, तो बाहर और अन्दर का भेद मिटा देना चाहिए। जगत् हमारे अन्दर के चित्रों का समूह है। बर्कले ने इन्हें परमात्मा की रचना कहा; जर्मनी में फ़िख़टे ने कहा कि ज्ञाता अपनी प्रकृति से विवश जगत् की रचना करता है।

(२) कांट् कहता है—हम वाह्य पदार्थों को उनके वास्तविक रूप में नहीं जानते; यह भी कहता है कि हम उन्हें उनके वास्तविक रूप में जान सकते ही नहीं। ऐसा कहने में वह उचित सीमाओं से परे चला जाता है। यह तथ्य हो या न हो, संभव ही है कि जो उपनेत्र हमारी नाक पर लगे हैं, वह उसी रंग के हों, जो बाहरी पदार्थों का है। कांट् इतना ही कह सकता है कि जिस रंग-रूप में हम बाहरी पदार्थों को देखते हैं, संभव है वह उनका वास्तविक रंग-रूप न हो; यह कहने के लिए पर्याप्त हेतु नहीं कि हम पदार्थों को उनके वास्तविक रूप में नहीं देखते, या देख नहीं सकते।

देश और काल का स्वरूप : 'सोना पीला है।' यह एक सरल वाक्य है। हम सोने को देखते हैं, छूते हैं, इसे तोलते मापते हैं। यह एक 'विशेष' है, जिसकी बावत कुछ कहा जाता है। यहाँ कहा गया है कि यह पीला

है। यह पीलापन किसी वस्तु की स्थिति में तो मिलता नहीं; इसका बोध हमें कैसे होता है? जिन वस्तुओं को हम देखते हैं, वह हमें विविध रंगों में दीखती हैं, और हम उन्हें इन रंगों की नींव पर विविध श्रेणियों में रखते हैं। पीली वस्तुओं के सामने रंग को अलग करके पीलेपन का समान्य विचार बनाते हैं। ऊपर के वाक्य में एक 'सामान्य विचार' (पीलापन) को एक 'विशेष' (सोना) के साथ युक्त किया गया है। देश और काल के सम्बन्ध में विवाद का एक विषय यह है कि ये 'विशेष' हैं या नहीं—अर्थात् वाक्यों में उद्देश्य बन सकते हैं, या नहीं। न्युटन ने इन्हें 'विशेष' का पद दिया था; इसके विपरीत लाइब्नित्स् ने कहा था कि देश और काल की स्थिति केवल 'क्रम' की है। एक प्राकृत पदार्थ दूसरे पदार्थ के दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे, या ऊपर-नीचे होता है; देश केवल उस क्रम का नाम है, जिसमें अनेक पदार्थ स्थित होते हैं; काल उस क्रम का नाम है, जिसमें घटनाएँ व्यवस्थित होती हैं। इस विवाद में कांट् ने न्युटन का पक्ष लिया और कहा कि देश और काल 'विशेष' हैं।

परन्तु यह दोनों विशेष अन्य विशेषों की तरह अनुभव से विदित नहीं होते, ये अनुभव-पूर्व हैं; अनुभव तो निर्मित ही इनकी सहायता से होता है। हम विशेष पदार्थों की तरह, देश और काल को देख या छू नहीं सकते; हर प्रकार के देखने छूने में इनकी पूर्व-स्वीकृति अनिवार्य शर्त है। ये किसी वस्तु के गुण भी नहीं; वस्तु तो बनती ही तब है, जब इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त गुण देश और काल के ढाँचों से गुज़र चुकते हैं। ये इन्द्रिय-ग्रहीत गुणों की अनुभव-पूर्व आकृतियाँ हैं।

देश और काल के अनुभव-पूर्व होने के पक्ष में, कांट् निम्न प्रमाण देता है:—

(१) जब हम बाहरी पदार्थों को देखते हैं, तो यही नहीं देखते कि उनमें गुण-भेद है, अपितु यह भी कि वे एक दूसरे के बाहर हैं, उनमें विशेष अन्तर है। उनके एक दूसरे के बाहर होने का ज्ञान हमें पदार्थों के देखने पर प्राप्त नहीं होता, यह तो पहले ही हमारे मन में विद्यमान है।

(२) हम यह क़ल्पना कर सकते हैं कि जगत् में क़ोई वस्तु विद्यमान नहीं, परन्तु यह कल्पना नहीं कर सकते कि देश का अभाव है। देश का चिन्तन प्रकटनों की संभावना की शर्त के रूप में करना चाहिए। यह अनुभव-पूर्व कल्पना है जो अनिवार्य रूप में बाहरी प्रकटनों के लिए नींव प्रस्तुत करती है।

देश के सभी भाग समान हैं; उनका स्थान स्थायी है, वे एक दूसरे के सहभावी हैं। काल के कोई दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते; परिवर्तन, निरन्तर परिवर्तन, काल का तत्व है; यह गति-रूप ही है। देश हमें तीन दिशाओं (दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे) में दीखता है; इसके विपरीत, काल की गति केवल एक दिशा में होती है;

जो क्षण बीतता है, वह सदा के लिए भूत में जा गिरता है।

मति-समीक्षा : चिन्तन के आकार : जगत् में समानता और असमानता दोनों दीखती हैं। इन दोनों के विद्यमान होने पर ही असंख्य पदार्थों का वर्गीकरण हो सकता है। ऐसे वर्गीकरण में जो परतम-जातियाँ बनती हैं, उन्हें यूनानियों ने 'कैटेगोरि' का नाम दिया। अरस्तु ने १० परतम-जातियों की सूची प्रस्तुत की। वास्तव में इस सूची में दो ही परतम-जातियां हैं—द्रव्य और गुण। गुणों में परिमाण, गुण, सम्बन्ध, क्रिया, आक्रान्तता, देश और काल को स्थान दिया। कांट् ने भ्रम में समझा कि उसका उद्देश्य भी अरस्तु का उद्देश्य ही था, और उसने भी अपने ढंग से कैटेगोरियों की सूची तैयार करना चाहा। वास्तव में दोनों विचारकों के उद्देश्य भिन्न थे : अरस्तु दृष्ट जगत् की वस्तुओं का वर्गीकरण करना चाहता था; कां् यह जानना चाहता था कि चिन्तन में कौन से अनिवार्य आकारों का विद्यमान होना आवश्यक है। उसके लिए 'कैटेगोरि' परतम-जाति नहीं, अपितु चिन्तन-आकार है।

'मीमांसा' में कांट् का उद्देश्य ज्ञान का विश्लेषण है। वह कहता है कि ज्ञान में सामग्री प्राप्त होती है, उसे आकृति मन देता है। पुस्तक के पहले भाग में बताया गया है कि संवेदन बाहर से प्राप्त होते हैं, देश और काल की आकृतियां मन की देन हैं। वास्तव में वस्तु-ज्ञान का यह विवरण पर्याप्त नहीं: विविध संवेदन देश और काल के ढाँचों से गुज़र कर भी रहते तो अलग-अलग ही हैं। फल से जो विविध संवेदन ग्रहण किये जाते हैं, वे फूल का ज्ञान तभी बन सकते हैं, जब उन्हें समन्वित किया जाए। यह समन्वय या एकीकरण गुण-ग्राहक शक्ति का काम नहीं : यह चिन्तन शक्ति की कृति है। हमारे यहाँ भी यही कहते हैं कि बाह्य करण (इन्द्रियाँ) जो बहुत्व देती, अन्तःकरण (मन) उन्हें एक बनाता है।

फूल को फूल पहिचानने में भी मन काम करता है, परन्तु, इसका प्रमुख काम निर्णय के रूप में प्रकट होता है। संवेदन के क्षेत्र में से गुज़र कर, चिन्तन के क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर हमारा काम यह जानना है कि निर्णय में ऐसा कौन सा अंश है जो अनुभव की देन नहीं, अपितु इस स्तर पर अनुभव को संभव बनाता है। चिन्तन-आकारों के निर्णीत करने में कांट् ने शुद्ध न्याय का सहारा लिया। एक सरल वाक्य लें:—

'क ख है'; 'मनुष्य मर्त्य है'।

यहाँ 'क' उद्देश्य है, 'ख' विधेय है, और 'है' संयोजक है।

यहाँ हम क की बाबत कुछ कहते हैं, परन्तु क के अन्तर्गत अनेक विशेष आते हैं। हम जो कुछ कहते हैं, कितने विशेषों की बाबत कहते हैं? सब की बाबत, कुछ की बाबत, या एक की बाबत? उद्देश्य की बाबत चिन्तन करने में परिमाण या मात्रा का विचार

अनिवार्य रूप में प्रस्तुत हो जाता है। विधेय की ओर देखें, तो प्रश्न उठता है कि ख क के अनुकूल है या नहीं। यदि दोनों में अनुकूलता है, तो वाक्य भावार्थक है; यदि अनुकूलता का अभाव है, तो वाक्य निषेधात्मक होगा—'क ख नहीं।'

अब संयोजक की ओर देखें: यह उद्देश्य और विधेय में सम्बन्ध का सूचक है। जो वाक्य ऊपर दिया गया है, वह दो पदों के सम्बन्ध की बाबत बताता है, परन्तु सम्बन्ध दो वाक्यों में भी हो सकता है:—

(१) यदि क ख है, तो ग घ है।

(यदि संसार में न्याय है, तो अपराधी को ड मिलता है।)

(२) क ख, या ग, या घ है।

(संसार की उत्पत्ति आकस्मिक है, आन्तरिक अनिवार्यता का परिणाम है, या किसी बाहरी कारण का कार्य है।)

संयोजक एक और बात की ओर भी संकेत करता है: उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध संभावना है, तथ्य है या अनिवार्य है। वाक्यों में यह भेद 'प्रकार' का भेद है

न्याय के निर्णयों की नींद पर, कां ने चार चिन्तन-आकारों का वर्णन किया, और उनमें हरएक के नीचे तीन उप-आकार रखे। इस तरह उसने १२ आकारों की सूची प्रस्तुत की।

१. परिमाण—
    एकता
    बहुत्व
    पूर्णता

२. गुण—
    भाव
    अभाव
    परिमितता

३. सम्बन्ध—
    गुणी-गुण सम्बन्ध
    कारण-कार्य सम्बन्ध
    पारस्परिक सम्बन्ध

४. प्रकार—
    संभावना-असंभावना
    भाव-अभाव

अनिवार्यता

कांट् की धारणा थी कि चिन्तन-आकारों की यह सूची सम्पूर्ण सूची है। वर्तमान प्रसंग में महत्व की बात यह है कि परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार के विचार अनुभव से प्राप्त नहीं होते, परन्तु अनुभव बनने की अनिवार्य शर्तें हैं : ये बाहर से नहीं आते, अन्दर से व्यक्त होते हैं।

कांट् के विवरण में, संवेदन और चिन्तन में निम्न भेद स्पष्ट दीखते हैं:—

(१) संवेदन मे हम आक्रान्त होते हैं, चिन्तन में क्रियाशील होते हैं।

(२) संवेदन में अनेकता या बहुत्व प्रसिद्ध है, चिन्तन एकता प्रस्तुत करता है।

(३) संवेदन बाहरी वस्तु पर आधारित है, चिन्तन आन्तरिक कृति है।

फूल, कुर्सी या किसी अन्य वस्तु से जो संवेदन प्राप्त होते हैं, वे निश्चित समूहों में ही ग्रहीत होते हैं : यह नहीं होता कि आज जो गुण फूल में मिलते हैं, उनमें से कुछ कल कुर्सी में मिले। गुण-समूहों की यह निश्चितता पदार्थों में एकता की ओर संकेत करती है, परन्तु इस एकता से भी अधिक स्पष्ट ज्ञाता के आत्मज्ञान की एकता है : जो चेतना संवेदनों को अंगीकार करती है, वही चेतना वस्तु-ज्ञानों को समन्वित करके निर्णय बनाती है। मन की प्रमुख कृति एकीकरण है ; एकीकरण करने वाली शक्ति की अपनी एकता ज्ञान की अनिवार्य पूर्व स्वीकृति है।

इस तरह ज्ञान की बनावट में तीन अंश अनिवार्य रूप में विद्यमान हैं:—

(१) सामग्री, जो असंख्य भेदों में, बाहर से प्राप्त होती है।

(२) आकृतियाँ जिन्हें मन प्राप्त अनेकता पर आप आरोपित करता है: देश, काल और चिन्तन-आकार।

(३) ज्ञाता की एकता।

यह अनुभव-क्षेत्र में अनिवार्य अंश हैं; इस क्षेत्र से परे इसकी स्थिति क्या है? यह एक पृथक् प्रश्न है।

मूल सिद्धांत : चिन्तन-आकार अनुभव से प्राप्त नहीं होते, परन्तु उनका महत्व इसी मे है कि वे अनुभव पर लागू हो सकते हैं। उनका यह प्रयोग नियमबद्ध होता है। यह सिद्धान्त ऐसे निर्णय हैं, जो किसी अन्य निर्णय पर आधारित नहीं होते; वे मूल सिद्धान्त हैं; अन्य बोध इन पर आधारित होते हैं। ऐसे मूल सिद्धान्तों के निश्चित करने में कांट् चिन्तन-आकारों की सहायता लेता है। वह समझता है कि इन मूल-सिद्धान्तों की सूची भी उसी तरह पूर्ण है, जैसे चिन्तन-आकारों की सूची पूर्ण है।

हर एक निर्णय के लिए, चाहे उसका विषय कुछ ही हो, आवश्यक है कि उसमें आन्तरिक विरोध न हो। वैश्लेषिक निर्णयों के लिए यह पर्याप्त है, परन्तु सांश्लेषिक

निर्णयों के सम्बन्ध में इसका मूल्य निषेधात्मक ही है। जिस निर्णय में आन्तरिक विरोध है, वह असत्य है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जिस निर्णय में आन्तरिक विरोध नहीं, वह सत्य हो। उसके सत्य-असत्य होने की बाबत जानने के लिए अन्य कसौटियों का का प्रयोग करना होता है।

चिन्तन-आकार हैं—परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार। इनमें हरएक से मूल-सिद्धान्त अनुमित होते हैं।

परिमाण : जो कुछ भी अनुभव में आता है, वह अवश्य किसी परिमाण में अनुभूत होता है। जिस काग़ज़ पर मैं लिख रहा हूँ, वह विस्तृत दिखाई देता है। इस स्वीकृति के अन्तर्गत दो बातें आती हैं—

(१) समग्र कुछ भागों का योग है।

(२) यह भाग एक दूसरे के बाहर हैं, और सभी एक साथ विद्यमान हैं।

देश की तरह काल का हरएक अंश भी विस्तृत विदित होता है : दिन में कई घंटे, घंटे में कई मिनट होते हैं। देश के विस्तार और काल के विस्तार में प्रसिद्ध भेद यह है कि काल के भाग एक दूसरे के पीछे आते हैं। देश-विस्तार शान्त तालाब का फैलाव है। काल विस्तार नदी के प्रवाह से मिलता है।

वस्तु-ज्ञान में एक अनिवार्य अंश संवेदन है। जब मैं आँख खोलता हूँ, तो मैं कह नहीं सकता कि मुझे क्या दिखेगा; इसके संवेदन-अंश की बाबत मुझे पूर्व-ज्ञान नहीं होता, परन्तु संवेदन कुछ भी हो, उसका कुछ परिमाण अवश्य होगा। संवेदन का परिमाण विस्तार नहीं होता, तीव्रता होती है। तीव्रता की मात्रा जाँचने के लिए हम देखते हैं कि वह शून्य से कितनी दूर है। तीव्रता अपने से छोटी तीव्रताओं का योग नहीं होती।

इन्द्रिय-जनित बोध के संबंध में मूल सिद्धान्त यह है :—

सभी इन्द्रिय-जनित बोध विस्तृत परिमाण हैं।

संवेदन के सम्बन्ध में मूल-सिद्धान्त यह है :—

हर एक संवेदन में तीव्रता होती है।

अनुभव के उपमान : अनुभव में हमें अनेक वस्तुओं का ज्ञान होता है। इस अनेकता के होते हुए भी दृष्ट जगत् एक जगत् है। सामान्य सिद्धान्त तो यह है कि इन वस्तु-ज्ञानों में अनिवार्य सम्बन्ध की कल्पना के द्वारा ही अनुभव की संभावना होती है। कांट् तीन उपमानों का वर्णन करता है, और उनके नीचे तीन मल-सिद्धान्तों को यों बयान करता है :—

(१) द्रव्य की स्थिरता

प्रकटनों के सभी परिवर्तनों में, द्रव्य स्थिर है, और जगत् में इसकी मात्रा न घटती है, न बढ़ती है।

(२) परिवर्तनों का क्रम

सारे परिवर्तन कारण-कार्य नियम के अनुसार होते हैं।

(३) सहभाव का सिद्धान्त

सभी पदार्थ, जहाँ तक वे देश में एक ही समय ज्ञात हो सकते हैं, पूर्ण रूप में एक दूसरे पर क्रिया करते हैं।

चौथे चिन्तन-आकार से कांट् कोई मूल-सिद्धान्त नहीं निकालता; केवल स्वीकृत पक्षों में संभावना, अस्तित्व और अनिवार्यता का लक्षण करता है।

यहाँ 'मीमांसा' के सिद्धान्त का भावात्मक अंश समाप्त होता है। इस भाग में कांट् बताता है कि अनुभव के निर्माण में मन का भागदान क्या है। निचले स्तर पर वस्तु-ज्ञान आता है। कांट् के अनुसार इस ज्ञान में संवेदन बाहर से प्राप्त होते हैं, उन्हें देश और काल के ढाँचों से गुज़ार कर समन्वित करना मन की कृति है। इसके बिना हम बाह्य पदार्थों से आक्रान्त तो होते हैं, परन्तु इस आक्रमण के परिणाम को ज्ञात नहीं कह सकते।

ऊपर के स्तर पर निर्णय होता है। निर्णय में हम किसी विशेष को सामान्य विचार से संबद्ध करते हैं। कांट् कहता है कि निर्णय की सामग्री विशेष और सामान्य विचार हैं, परन्तु यह दोनों अपने आप में निर्णय को प्रस्तुत नहीं कर सकते; चिन्तन-आकारों की सहायता से ही निर्णय बन सकता है। यह चिन्तन-आकार हमें कुछ मूल-सिद्धान्त देते हैं, जो अन्य समस्त ज्ञान के आधार होते हैं।

यह प्रारंभिक अनुसंधान 'मीमांसा' का मुख्य विषय नहीं। मुख्य विषय तो निषेधात्मक है : कांट् यह बताना चाहता है कि हमारा मन अनुभव के निर्माण में अनिवार्य सहायता देता है, परन्तु इसकी पहुँच अनुभव के क्षेत्र से परे नहीं। जब यह इस क्षेत्र से परे जाना चाहता है, तो उलझनों में फँस जाता है। बुद्धि ऐसी उड़ान का साहस करती है। यह हमें कुछ 'प्रत्यय' देती है। इन प्रत्ययों का मूल्य यह है कि ये हमारे व्यवहार को व्यवस्थित कर सकते हैं। यदि हम समझें कि वास्तव में इनके अनुरूप कुछ विद्यमान है, तो यह भूल है। शुद्ध बुद्धि की पहुँच कहाँ तक है, यह हमें क्या दे सकती है और क्या नहीं दे सकती ? इसकी जाँच करना, 'मीमांसा' का मुख्य काम है। अनुभवातीत तर्क-वितर्क में यह प्रयत्न किया गया है।

अनुभवातीत तर्क-वितर्क : तर्क-वितर्क न्याय-दर्शन में महत्त्वपूर्ण अंश है : कुछ लोग तो इसे न्यायदर्शन के अर्थ में ही लेते हैं। परन्तु प्रमुख विचारकों में इसके उद्देश्य

के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। इस मतभेद को समझने के लिए हम चार प्रमुख विचारकों को ले सकते हैं : प्राचीन यूनान से प्लेटो और अरस्तु को और आधुनिक जर्मनी से कांट् और हेगल को। प्लेटो का विचार उसके 'संवादों' में मिलता है। इन 'संवादों' में सुक्रात प्रमुख वक्ता है। सुक्रात कहा करता था—'मैं कुछ नहीं जानता'। ऐसा मनुष्य दूसरों को सिखा क्या सकता है ? कुछ सिखा नहीं सकता, केवल इतना ही बता सकता है कि उसकी तरह दूसरे भी कुछ नहीं जानते। सुक्रात के तर्क-वितर्क का उद्देश्य यही बताना था। अरस्तु के विचार में, यह उद्देश्य भावात्मक था। जब दो समझदार मनुष्य किसी बात पर वाद-विवाद करते हैं, तो वे प्रायः इस स्वीकृति के साथ आरंभ नहीं करते कि एक पक्ष पूर्ण रूप में सत्य है, और दूसरा पूर्ण रूप में असत्य है; अपितु इस ख्याल से चलते हैं कि प्रश्न के दोनों पक्षों के हक में कुछ कहा जा सकता है। वाद-विवाद का उद्देश्य यह देखना होता है कि संभावना की अधिकता किस ओर है। कांट् ने तर्क-वितर्क को ऐसी उलझनों के अर्थ में लिया जिनमें बुद्धि फँस जाती है, क्योंकि वह ऐसे क्षेत्र में जो उसका क्षेत्र है ही नहीं, अपना काम करना चाहती है। बुद्धि की भ्रान्तियाँ दो प्रकार की होती हैं :

(१) किसी विषय के संबंध में जैसी दलीलें पक्ष को प्रमाणित करने के लिये दी जाती हैं, वैसी ही विपक्ष को प्रमाणित करने के लिये दी जा सकती हैं। दोनों ओर की दलीलें एक समान प्रबल प्रतीत होती हैं, और दोनों ही कुछ समर्थन करने में अयोग्य होती हैं।

(२) जो अनुमान किया जाता है, उसमें न्याय की दृष्टि से कोई दोष नहीं होता, परन्तु निष्कर्ष असत्य होता है, क्योंकि अनुमान अपने क्षेत्र के बाहर लागू किया जाता है।

इस तर्क-वितर्क में विवाद सत्य और असत्य में नहीं होता, परन्तु बुद्धि के दो अंश ही एक दूसरे के विरुद्ध लड़ते हैं।

हेगल ने तर्क-वितर्क को सत्य की खोज का अनिवार्य साधन समझा। उसके विचारानुसार हर एक 'पक्ष' में उसका विरोधी 'विपक्ष' विद्यमान होता है और व्यक्त हो जाता है। 'पक्ष' और 'विपक्ष' के संघर्ष से उनका 'समन्वय' उत्पन्न होता है। यह समन्वय आप एक नया पक्ष बनता है और फिर इसका विपक्ष व्यक्त होता है। यह क्रम जारी रहता है : पक्ष (धार्णा), विपक्ष (प्रतिधार्णा) और समन्वय। चिन्तन के विकास की ही नहीं, सत्ता के विकास की भी यही कथा है।

यहाँ हमें केवल कांट् के सम्बन्ध में कुछ देखना है।

प्रत्यक्ष की आकृतियाँ (देश और काल) और चिन्तन-आकार दोनों मनन का अविष्कार हैं। मन अपनी बनावट का परीक्षण करके देखता है कि प्रत्यक्ष का प्रत्येक विषय विशेष स्थान और काल में देखा जाता है, और निर्णय में परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार अनिवार्य अंश होते हैं। बुद्धि के प्रत्यय मनन के फल नहीं, अपितु अनुमान के फल हैं। अनुमान में दो वाक्यों के संयोग से तीसरा वाक्य अवश्य निकलता है।

'कृष्ण मर्त्य हैं'।

हम कैसे जानते हैं ? क्योंकि 'सारे मनुष्य मर्त्य हैं', और 'कृष्ण एक मनुष्य है'।

हम यह कैसे जानते हैं कि 'सारे मनुष्य मर्त्य हैं' ? क्योंकि 'सारे प्राणी मर्त्य हैं', और 'मनुष्य प्राणी हैं।'

हम अपनी खोज में कहीं रुक जाते हैं, और कहते हैं कि अन्तिम धारणा स्वयं-सिद्ध है, या इसे मानना ही पड़ेगा। यह अन्तिम धारणा 'निरपेक्ष' होगी; इसकी स्वीकृति किसी अन्य धारणा पर निर्भर नहीं होगी। बुद्धि की खोज का विषय निरपेक्ष है, अर्थात् ऐसी धारणा या सत्ता, जो किसी अन्य धारणा या सत्ता पर आधारित नहीं।

जो कुछ अपेक्षित है, वह अवश्य सीमित और सान्त है। अनुभव के क्षेत्र में जो कुछ है, सीमित और सान्त है। यह क्षेत्र ही चिन्तन या मनन का क्षेत्र है। बुद्धि इस क्षेत्र से परे देखना चाहती है; समग्र या समष्टि इसका विचार-विषय है।

इस विचार में जो प्रत्यय प्रस्तुत होते हैं, उनका संबन्ध ज्ञाता से, समग्र ज्ञेय (विश्व) से, और सभी सत्ता के मूल आधार परमात्मा से है। शुद्ध बुद्धि, अनुभव से, अलिप्त बुद्धि, इनके सम्बन्ध में क्या कहती है ?

'मीमांसा' के इस भाग के तीन उपभाग हैं—

(१) बौद्धिक आत्म-विद्या।

(२) बौद्धिक विश्व-विद्या।

(३) बौद्धिक ब्रह्म-विद्या।

आत्म-विद्या का स्थान आजकल मनोविज्ञान ने ले लिया है : अध्ययन का विषय अब यह नहीं कि आत्मा का स्वरूप क्या है, अपितु यह कि मन की कृतियाँ क्या हैं। मनोविज्ञान अनुभव से परे जाने की सोचता ही नहीं; आत्म-विद्या को इस क्षेत्र में कोई दिलचस्पी न थी।

आत्म-विद्या का उद्देश्य आत्मा के अमरत्व को सुरक्षित करना था। इसके लिए आवश्यक था कि इसे द्रव्य सिद्ध किया जाए। द्रव्य के प्रत्यय में इसकी अभिन्नता और एकता निहित थीं। मिश्रित पदार्थ के भाग एक दूसरे के बाद समग्र से अलग हो सकते

हैं, और संभव है कि अन्त में पदार्थ का अस्तित्व ही न रहे। अमरत्व का महत्त्व भी तभी है जब आत्मा के स्वरूप पर काल की गति का प्रभाव न पड़े । कांट् के सम्मुख प्रश्न यह था कि आत्मा के द्रव्य होने के पक्ष में जो कुछ कहा जाता है, वह मान्य है या नहीं।

हमारा ज्ञान कुछ भी हो, आत्म-चेतना उसमें विद्यमान होती है। जैसा हम देख चुके हैं, हरएक निर्णय में चिन्तन-आकार विद्यमान होते हैं: इन आकारों का स्रोत चिन्तन करने वाला होता। अनक प्रकार के चिन्तनों में से हम उनके साझे के अंश, चिन्तन-मात्र, को पृथक् कर सकते हैं। यह पृथक्करण विचार की सुविधा के लिये होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जिस पक्ष को पृथक् किया गया है, उसका स्वाधीन अस्तित्व हो सकता है। हर एक रेखा में विशेष लम्बाई होती है, और वह विशेष दिशा में जाती है। लंबाई और दिशा रेखा के भाग नहीं, उसके दो पक्ष हैं, जो एक दूसरे से अलग अस्तित्व नहीं रखते। पदार्थों के अनुभव में सामग्री और चिन्तन-आकार दो पक्ष हैं: मन के भाग-दान से अलग ज्ञेय-पदार्थ का अस्तित्व नहीं हो सकता; इसी तरह संवेदन के बिना भी नहीं हो सकता। कांट् के विचार में आत्म-विद्या की भ्रान्ति का कारण यह है कि जिस चिन्तन को हम अनुभव में सामग्री से पृथक् कर सकते हैं, उसे यह स्वाधीन सत्ता समझ लेती है। डेकार्ट ने कहा था 'मैं विचार करता हूँ, इसलिये मैं हूँ।' इसका अर्थ इतना ही है कि 'मैं, विचार करते हुए हूँ।' इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि चिन्तन के अभाव में भी मेरा अस्तित्व है। हमें चिन्तन का बोध अनुभव के संबंध में ही होता है; इसके द्वारा अनुभव-क्षेत्र से परे जा नहीं सकते ।

कांट् ने बताया कि बुद्धि अनुभवातीत में आत्मा के द्रव्यत्व को सिद्ध नहीं कर सकती। इसके साथ यह भी प्रमाणित कर दिया कि बुद्धि ऐसी सत्ता के अभाव को भी सिद्ध नहीं कर सकती। शुद्ध बुद्धि इसमें असमर्थ है, परन्तु व्यावहारिक बुद्धि आत्मा के अस्तित्व और इसके अमरत्व को स्वीकृत-पक्ष माने बिना कुछ कर ही नहीं सकती। इसकी बाबत आगे चल कर देखेंगे ।

विश्व-विद्या : पराविद्या की भ्रान्तियाँ : विश्व में जो कुछ भी हम देखते हैं, वह देश और काल में सीमित है: यहाँ है या वहाँ है, अब है या पहले था। हर एक प्राकृतिक पदार्थ देश की विशेष मात्रा में स्थित होता है, उसे अपने अधिकार में लेता है। देश के इस भाग से परे, इसके बाहर, दूसरा भाग होता है; इससे परे तीसरा, चौथा, पाँचवाँ आदि। इस क्रम का कहीं अन्त भी होता है या नहीं? हर एक घटना से पूर्व दूसरी घटना घटी है, उससे पूर्व तीसरी, चौथी आदि। इस दौरान में कहीं रुकना होता है, या पीछे की ओर यह गति असीम है? हम विश्व के किसी अंश की बाबत नहीं, अपितु समस्त

विश्व की बाबत जानना चाहते हैं कि वह देश और काल में है सान्त या अनन्त। कांट् कहता है कि देश और काल तो संवेदन की आकृतियाँ हैं, और संवेदन अवश्य किसी सीमित पदार्थ के आक्रमण का फल होता है। हमारी इन्द्रियाँ समस्त विश्व से आक्रान्त हो ही नहीं सकतीं; इसलिये समस्त विश्व कोई संवेदन उत्पन्न नहीं कर सकता। इस स्थिति में ऐसे संवेदन के देश और काल के ढाँचों से गुज़र कर वस्तु-ज्ञान में परिवर्तन होने का प्रश्न उठता ही नहीं। बुद्धि ऐसे प्रश्न को उठाकर अपने आप को उलझनों में फँसा लेती है। यह अनुमान के प्रयोग से, विरोधी निष्कर्षों तक पहुँचती है, और यह निश्चय नहीं कर सकती कि इन विरोधी निष्कर्षों में कौन सा मान्य है। इस स्थिति को कांट् 'मत विरोध' का नाम देता है। कांट् ने इस विषय पर बहुत विस्तार से लिखा है; उसका विश्वास था कि शुद्ध बुद्धि मीमांसा की आवश्यकता को जताने के लिये, बुद्धि की इन उलझनों का व्यक्त करना सफलतम उपाय है।

विश्व का सान्त या अनन्त होना उसका परिमाणात्मक पक्ष है, परन्तु यही अकेला पक्ष नहीं जिसकी बाबत हम विचार कर सकते हैं। किसी अन्य आधार के अभाव में, कांट् ने चिन्तन-आकारों को आधार स्वीकार करके, समस्त विश्व को परिमाण, गुण, संबन्ध और प्रकार——इन चार पक्षों में विचार का विषय बनाया, और हर एक हालत में इस परिणाम पर पहुँचा कि बुद्धि किसी संतोषजनक निष्कर्ष तक पहुँचने में असमर्थ है।

पहले परिमाण को लें।

इसके संबंध में कारण यह है :——

'विश्व का आरंभ काल में हुआ और यह देश में भी सीमित है।'

इसके विपरीत प्रति-धारणा यह है :——

'विश्व का आरंभ काल में नहीं हुआ, और देश में इसकी सीमाएँ नहीं : देश और काल दोनों की स्थिति में यह अनन्त है।'

परिमाण के संबन्ध में, परमपरिमाण के साथ अतिसूक्ष्म परिमाण का ध्यान भी आ जाता है। बुद्धि जानना चाहती है कि पदार्थों के विभाजन में कहीं रुकना पड़ता है या नहीं। जिस अल्प पदार्थ को हम परमअणु कहते हैं, क्या उसका विभाजन संभव नहीं ? इस संबन्ध में दो विरोधी विचार प्रस्तुत किये जाते हैं——

धारणा : 'विश्व में प्रत्येक मिश्रित पदार्थ भागों से बना है; और जो कुछ भी है, वह या तो आप सरल है, या सरल भागों के योग से बना है।'

प्रति-धारणा : 'विश्व में कोई मिश्रित पदार्थ भी सरल अंशों से नहीं बना; और विश्व में किसी सरल अंश का अस्तित्व है ही नहीं।'

कांट् इन धारणाओं और प्रतिधारणाओं को प्रमाणित करता है। चूँकि यह दोनों, विरोधी होने के कारण, सत्य नहीं हो सकतीं, और हम इनमें किसी को असत्य सिद्ध नहीं कर सकते, हमारे लिए एक ही मार्ग खुला रहता है, और वह यह कि इस विषय में सत्य-असत्य का निर्णय करना बुद्धि की सामर्थ्य में नहीं।

परिमाण के संबन्ध में, हम विश्व के अनन्त या सान्त होने की बाबत निश्चय नहीं कर सकते; गुण के संबंध में यह नहीं जान सकते कि विश्व का अल्पतम अंश सरल है, या मिश्रित है।

अब तीसरे चिन्तन-आकार, संबन्ध, की ओर फिरें। कारण-कार्य नियम का स्वरूप क्या है ?

इस प्रश्न का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व है। जब कांट् ने, जर्मन अनुवाद में, ह्यूम को पढ़ा, तो कारण-कार्य नियम के संबन्ध में उसके विचारों को धक्का लगा, और कुछ वर्षों के लिए उसने ह्यूम के मत को अपनाया। पीछे मनन करने पर उसे सूझा कि इस विषय में ह्यूम का विचार भी संतोषजनक नहीं। ह्यूम ने कहा था कि कारण-कार्य संबन्ध वाह्य घटनाओं में विद्यमान नहीं। घटनाएँ तो सभी पृथक् होती हैं, हम उनमें कुछ एक को बार-बार एक क्रम में देखकर कारण-कार्य नियम में बद्ध समझने लगते हैं। कांट् ने कहा—'ह्यूम इन्द्रिय-जनित प्रभावों को समस्त ज्ञान का मूल समझता है; इन्द्रियाँ विशेष वस्तुओं को दर्शाती हैं, नियम या किसी संबन्ध को दिखा नहीं सकतीं। ह्यूम ने नियम को अनुचित स्थान में ढूँढ़ा, वहाँ वह उसे कैसे पा सकता था ? अनुभव तो यही बता सकता है कि कुछ घटनाएँ व्यवस्था में घटती हैं; मन इस व्यवस्था या क्रम को अनिवार्य और व्यापक नियम का पद देता है। ह्यूम ने कहा था कि कारण-कार्य का विचार अनुभव के बाद प्रकट होता है। कांट् ने कहा कि यह बात तो हम अनुभव से जानते हैं कि क ख का कारण है, और ग घ का, परन्तु कारण-कार्य संबन्ध का विचार तो पहले ही मन में विद्यमान होता है। विशेष स्थितियों में इसका लागू करना अनुभव का काम है।

हम घटनाओं और कर्मों में भेद करते हैं। कर्म किसी विचार का स्थल आकार है; इस परिवर्तन में संकल्प का हाथ होता है। सारा अचेतन जगत् कारण-कार्य नियम के अधीन विचरता है; मनुष्य समझता है कि उसका संकल्प भी एक प्रकार का कारण है। यह स्वाधीनता का सिद्धान्त है। स्वाधीनता के संबन्ध में भी बुद्धि उलझन में फँस जाती है। यहाँ भी दो विरोधी विचार प्रस्तुत होते हैं :—

धारणा : 'प्राकृतिक कारण-कार्य नियम ही अकेला कारणत्व नहीं, जिससे जगत् के प्रकटन उपजते हैं; कुछ प्रकटनों के समाधान के लिये, स्वाधीनता के द्वारा प्रकटनों

की उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ती है।'

प्रतिधारणा : 'स्वाधीनता का कोई अस्तित्व नहीं। विश्व में जो कुछ होता है, प्राकृतिक नियम के अनुसार ही होता है।

यहाँ भी कांट् पक्ष और विपक्ष दोनों को प्रमाणित करता है, और कहता है कि इनमें निश्चय करना बुद्धि की सामर्थ्य से परे है।

चौथे प्रकार की भ्रान्तियों का कारण 'प्रकार' है। किसी वस्तु का अस्तित्व तथ्यात्मक, संभव या अनिवार्य हो सकता है। काव्य के दो नेत्र हैं; यह तथ्य है। परन्तु मनुष्य के दस नेत्र हो सकते थे, या वह बिल्कुल नेत्रहीन हो सकता था; इन दोनों कल्पनाओं में कोई आन्तरिक विरोध नहीं। त्रिकोण के दो भुज अनिवार्य रूप में तीसरे भुज से बड़े होते हैं। दृष्ट जगत् में जो कुछ हम देखते हैं, वह तो तथ्य है ही, समग्र जगत् भी तथ्य है। जो संभावनाएँ तथ्य के रूप में विद्यमान नहीं, उनकी कल्पना भी हो सकती है। अनिवार्यता के सम्बन्ध में, बुद्धि जानना चाहती है कि विश्व समग्र रूप में या इसका कोई भाग अनिवार्य रूप में विद्यमान है या नहीं। और यदि यहाँ अनिवार्यता नहीं मिलती, तो इसके बाहर, इसके कारण के रूप में, कोई निरपेक्ष सत्ता विद्यमान है या नहीं।

यहाँ फिर दो विरोधी विचार प्रस्तुत होते हैं :

धारणा : 'विश्व में या इसके बाहर—इसके भाग या कारण के रूप में एक निरपेक्ष अनिवार्य सत्ता विद्यमान हैं।'

प्रतिधारणा : 'किसी निरपेक्ष अनिवार्य सत्ता का न विश्व में, न इसके बाहर इसके कारण की स्थिति में, अस्तित्व है।'

कांट् यहाँ भी धारणा और प्रतिधारणा दोनों को प्रमाणित करता है, और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि बुद्धि इनमें सत्य-असत्य का भेद करने में असमर्थ है।

चिन्तन की नींव इस धारणा पर है कि दो विरोधी वाक्यों में एक सत्य होता है और दूसरा असत्य। विश्व के संबन्ध में बुद्धि क्यों भ्रान्तियों में फँस जाती है?

'क ख है'।

'क ख नहीं'।

जब कोई मनुष्य एक साथ इन दोनों वाक्यों में किसी को अमान्य नहीं कह सकता, तो इसके दो कारण हो सकते हैं : या तो क का प्रत्यय आन्तरिक-विरोधी है, या ख को दोनों वाक्यों में भिन्न अर्थों में बर्ता जाता है।

सरल उदाहरण लें :

'त्रिभुजाकार वृत्त गोल है।'

'त्रिभुजाकार वृत्त गोल नहीं।'

यहाँ 'त्रिभुजाकार' का प्रत्यय आन्तरिक-विरोधी प्रत्यय है; इसकी बाबत कुछ कहना ही निरर्थक है।

'मनुष्य पशु है।'

'मनुष्य पशु नहीं।'

पहले वाक्य में पशु शरीरधारी जन्तु है, दूसरे में बुद्धि-विहीन जन्तु है। दोनों वाक्यों में विरोध नहीं; दोनों सत्य हो सकते हैं।

कांट् के विचारानुसार पराविद्या की पहली दो भ्रान्तियों का कारण यह है कि उनमें बुद्धि ऐसी वस्तु की बाबत सोचती है जिसके प्रत्यय में आन्तरिक विरोध है; तीसरी और चौथी भ्रान्तियों का कारण यह है कि एक वस्तु को दो भिन्न स्थितियों में देखा जाता है। पहली दो भ्रान्तियों में हम 'अनन्त समूह' की बाबत कहते हैं : वह समूह देश के भागों का, काल के क्षणों का, या प्रकृति के अल्प-अणुओं का होता है। परन्तु 'अनन्त समूह' का प्रत्यय ही आन्तरिक-विरोधी प्रत्यय है; इसकी बाबत कुछ कह ही नहीं सकते। तीसरी भ्रान्ति में कारण-कार्य संबंध की बाबत चिन्तन होता है। मनुष्य कर्त्ता है, परन्तु दो भिन्न क्षेत्रों में। भूमंडल का अंश होने की स्थिति में, वह प्राकृतिक नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता; दृष्टातीत सत्ता होने की स्थिति में वह एक विशेष प्रकार का कारण हो सकता है। चौथी भ्रान्ति में हम निरपेक्ष की बाबत कहते हैं; प्रकटनों की दुनियाँ में इसका अस्तित्व नहीं, परन्तु प्रकटनों से परे परोक्ष की दुनियाँ भी है; उसमें निरपेक्ष की सत्ता हो सकती है।

ह्यूम के सन्देहवाद ने विज्ञान और धर्म दोनों को निराधार सिद्ध करने का यत्न किया था। कांट् ने स्वीकार किया कि कारण-कार्य नियम और अनिवार्यता का अनुभव में पता नहीं चलता, परन्तु इसलिये उसने दोनों को अस्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि मन इन्हें जगत् में देखता नहीं इन्हें प्रकटनों पर लागू करके उनको जगत् में परिणत करता है। इस तरह उसने विज्ञान को सन्देहवाद के आक्रमण से बचाने का यत्न किया। धर्म के संबन्ध में जो कुछ किया, उसकी बाबत आगे देखेंगे।

कांट् कहता है कि ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में हम अनुभव की उपेक्षा करके केवल चिन्तन का सहारा ले सकते हैं, या अनुभव के आधार पर इसे सिद्ध करते हैं। दूसरी अवस्था में या तो किसी अनुभव को विवेचन की नींव बना लेते हैं, या अनुभूत सृष्टि के विशेष चिह्न का सहारा लेते हैं। इन तीनों प्रमाणों को कांट् तत्व-संबन्धी प्रमाण, विश्वज्ञान संबन्धी प्रमाण और भौतिक-धार्मिक प्रमाण का नाम देता है, और कहता है कि इनके अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण न है, न हो ही सकता है। कांट् इन तीनों

प्रमाणों की जाँच करता है, और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इनमें से कोई भी असंदिग्ध रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध नहीं कर सकता।

तत्व-संबंधी प्रमाण : इस प्रमाण के नीचे डेकार्ट ने दो बातों पर बल दिया था :

(१) जब हम किसी वस्तु का विमल और स्पष्ट प्रत्यय बना सकें, तो हम उचितता से उसके अस्तित्व को स्वीकार कर सकते हैं। ईश्वर के संबंध में ऐसा प्रत्यय हम बनाते हैं; इसलिए उचितता से उसके अस्तित्व को स्वीकार कर सकते हैं।

(२) हमारे प्रत्ययों में 'पूर्णता' का प्रत्यय विद्यमान है। किसी कार्य में उसके कारण से अधिक सत्ता नहीं हो सकती : इसलिये पूर्णता का प्रत्यय किसी अपूर्ण सत्ता का उत्पादन नहीं हो सकता। पूर्णता का प्रत्यय पूर्ण सत्ता से ही उत्पन्न हो सकता है।

कांट् कहता है कि मन के विचार और वास्तविकता में भेद है। यदि किसी वस्तु के वास्तविक अस्तित्व में हमें कोई आपत्ति नहीं दीखती, तो हम इतना ही कह सकते हैं कि उसका अस्तित्व संभव है, इससे आगे नहीं जा सकते। जो कुछ अनुभूत होता है, या हो सकता है, उसके अस्तित्व की बाबत सन्देह हो, तो उसे दूर करने का एक उपाय है—क्या वह वस्तु हमारे संवेदन या प्रत्यक्ष से संबद्ध हो सकती है ? मैं मेज़ को छूकर इसके अस्तित्व की बाबत निश्चय कर सकता हूँ, परन्तु शुद्ध विचार के विषयों की हालत में इस प्रकार का साक्षी प्राप्य नहीं। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि प्रत्यय में आन्तरिक विरोध के अभाव से हम प्रत्यय के अनुरूप पदार्थ को संभव मान लें परन्तु ऐसी स्वीकृति सिद्धि से बहुत दूर है।

कांट् कहता है :—'जब हम कहते हैं—'परमात्मा है', 'परमात्मा का अस्तित्व है', तो इस वाक्य में विधेय है ही नहीं, उद्देश्य और संयोजक ही हैं।' 'ईश्वर है'; क्या है ? जब तक कोई अन्य विचार ईश्वर के विचार के साथ युक्त नहीं होता, हम अपने प्रत्यय में कुछ वृद्धि नहीं करते। कांट् कहता है कि अस्तित्व अपने आप में कोई वस्तुगत विशेषण नहीं। 'ईश्वर' और 'ईश्वर है' में कोई भेद नहीं। अनुभव की दुनियाँ में 'है' और 'नहीं' में निर्णय करने का साधन विद्यमान है, निरे विचारों की हालत में यह विद्यमान नहीं।

कांट् के तर्क का अर्थ यह है कि आस्तिकवाद को शुद्ध चिन्तन की सहायता से प्रमाणित नहीं कर सकते। शायद अनुभव इसे प्रमाणित कर सके। देखें।

विश्व-ज्ञान संबन्धी प्रमाण : यह प्रमाण अनुभव से आरंभ करता है। यदि कोई वस्तु भी अस्तित्व रखती है, तो एक निरपेक्ष अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व भी आवश्यक है। हरेक कार्य का कारण होता है, उस कारण का अपना कारण; और यह क्रम जारी रहता है, जब तक हम ऐसे कारण

तक नहीं पहुँच जाते, जो कार्य नहीं, निरा कारण ही है। ऐसा 'प्रथम कारण' निरपेक्ष अनिवार्य अस्तित्व रखता है। जब हम यह जानना चाहते हैं कि कौन-से पदार्थ में यह विशेषण विद्यमान हैं, तो एक प्रत्यय ही पर्याप्त दीखता है, और वह सर्व-उत्कृष्ट पूर्णता का प्रत्यय है।

यह प्रमाण भी पहले प्रमाण की तरह ईश्वर में निरपेक्षता और पूर्णता दोनों विशेषणों को स्वीकार करता है, परन्तु दोनों दृष्टिकोणों में एक भेद है। तत्व-संबन्धी प्रमाण पूर्णता से आरंभ करके निरपेक्षता का अनुमान करता है, विश्वज्ञान-संबन्धी प्रमाण निरपेक्षता से आरंभ करके पूर्णता का अनुमान करता है। कांट् कहता है कि अनुभव से हम यह परिणाम तो निकाल सकते हैं कि सापेक्ष सत्ता (जैसे मेरा अस्तित्व) निरपेक्ष सत्ता की ओर संकेत करती है, परन्तु अनुभव उस निरपेक्ष के गुणों की बाबत कुछ बता नहीं सकता : उसे पूर्ण या सर्व-उत्कृष्ट मानना फिर विचारों की शरण लेना है। विश्वज्ञान-संबन्धी प्रमाण तत्व-संबन्धी प्रमाण ही है : केवल भेष बदला है। जो कुछ तत्व-संबंधी प्रमाण की आलोचना में कहा गया है, वह विश्वज्ञान-संबंधी प्रमाण के विरुद्ध भी कहा जा सकता है।

कांट् के विचार में यह संभावना भी उपेक्षित नहीं होनी चाहिये कि अनुभूत जगत् में हरएक पदार्थ निरपेक्ष और अनिवार्य है।

भौतिक-धार्मिक प्रमाण : विश्वज्ञान-संबन्धी प्रमाण के अनुसार, जगत् की बनावट कुछ भी हो, उसकी कोई वस्तु या घटना अपेक्षित होने के कारण निरपेक्ष की ओर अवश्य संकेत करती है। कांट् इसे स्वीकार करता है, परन्तु कहता है कि इस स्वीकृति में हम अपनी चिन्तन-शक्ति की बनावट की बाबत कह रहे हैं; यह आवश्यक नहीं कि हमारे चिन्तन की माँग वास्तविकता के अनुरूप हो। भौतिक-धार्मिक प्रमाण किसी प्रकार के जगत् की किसी अपेक्षित घटना या वस्तु की नींव पर आस्तिकवाद का अनुमान नहीं करता, अपितु विद्यमान जगत् के स्वरूप को इस विश्वास का आधार बनाता है। कांट् कहता है :—'भौतिक-धार्मिक प्रमाण में विशेष अंश निम्न हैं—

(१) जगत् में हम हर कहीं एक व्यवस्था देखते हैं, जो एक निर्णीत प्रयोजन के अनुकूल है जिसे बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ पूरा किया जा रहा है।

(२) यह प्रयोजनात्मक व्यवस्था जगत् के पदार्थों से भिन्न स्वभाव की है, और आकस्मिक रूप में उनमें विद्यमान है। विविध पदार्थ अपने सहयोग से निश्चित प्रयोजनों को पूरा नहीं कर सकते थे, यदि वे एक व्यवस्थापक, बुद्धिवंत सत्ता की ओर से, इन प्रयोजनों के लिये, आधारक प्रत्ययों के अनुसार चुने और निर्मित न किये जाते।

(३) इसलिए एक (या एक से अधिक) उत्कृष्ट और बुद्धिवन्त कारण विद्यमान

है, जो जगत् का कारण है, और अपनी असीम शक्ति के अन्धाधुंध प्रयोग से, उपज-मात्र से, इसका कारण नहीं, अपितु बुद्धिवंत सत्ता की स्थिति में स्वाधीनता के द्वारा काम करता है ।

(४) इस कारण का एक उन पारस्परिक संबंधों की एकता से अनुमित हो सकता है, जो संसार के भागों में, किसी चतुराई से क्रमबद्ध रचना के अंशों की तरह विद्यमान है । जहाँ तक हमारा परीक्षण इसे प्रमाणित करने के योग्य है, यह अनुमान असंदिग्ध होता है; इन सीमाओं से परे, अनुरूपता के नियमों के अनुसार, इसमें संभावना होती है ।'

कांट् इस प्रमाण का वर्णन ऐसी प्रशंसा के शब्दों में करता है कि इसका अस्वीकरण आश्चर्यजनक प्रतीत होता है । प्रमाण के विरोध में वह दो हेतु देता है :--

(१) यदि इस प्रमाण को स्वीकार भी कर लें, तो यह हमें जगत् का निर्माण-कर्त्ता दे सकता है, उत्पादक ईश्वर नहीं दे सकता : जगत् की सामग्री को अनादि मानना होता है ।

भारत में इस युक्ति का कोई महत्त्व नहीं; यहाँ तो आस्तिकवाद निर्माण-कर्त्ता ईश्वर के प्रत्यय में कोई आपत्ति नहीं देखता ।

(२) भौतिक-धार्मिक प्रमाण दूसरे प्रमाण का एक रूप ही है, और वह प्रमाण पहले प्रमाण का एक रूप है । इसलिये इस प्रमाण में भी पहले दो प्रमाणों की त्रुटियाँ विद्यमान हैं ।

'अनुभवातीत तर्क-वितर्क' के अन्त में इसका परिशिष्ट है । इसमें 'मीमांसा' के प्रमुख भाग 'तत्व-वर्णन' के मौलिक सिद्धान्त का सारांश देने के अतिरिक्त, प्रश्न के भावात्मक पक्ष को महत्त्व दिया गया है । यहाँ कांट् ने यह बताने का यत्न किया है कि शुद्ध बुद्धि के दावे अमान्य होने पर भी यह हमें ज्ञान-प्राप्ति में अमूल्य सहायता देती है ।

कांट् कहता है--

'सारा मानव ज्ञान संवेद्यता के साथ आरंभ होता है, इससे मति की ओर चलता है, और प्रत्ययों के साथ समाप्त होता है ।' इन तीनों के संबन्ध में ज्ञान के अनुभव-पूर्व स्रोत विद्यमान हैं, परन्तु पर्याप्त विवेचन बताता है कि विवेकी बुद्धि इन तीनों की सहायता से संभव अनुभव की सीमाओं से परे नहीं जा सकती ।

संवेद्यता हमें संवेदन देती है, मति, विचार या संबोध देती है, और बुद्धि प्रत्यय देती है । स्वयं संवेदन में कोई भ्रान्ति नहीं हो सकती; यह साक्षात् बोध है और इससे अधिक विश्वास के योग्य कोई साक्षी विद्यमान है ही नहीं । मति संबोधों या विचारों को बनाती है, और, चिन्तन-आकारों के अनुसार, इन्हें बाह्य पदार्थों पर लागू करती

है। वाह्य जगत् के अध्ययन में कारण-कार्य संबंध विशेष महत्त्व रखता है; इसके प्रयोग से प्रकटन एक दूसरे के साथ गठित होते हैं। इस संबंध के प्रयोग में भी कोई भ्रान्ति नहीं होती। यदि आपत्ति की जाए कि यह संबन्ध वाह्य घटनाओं में विद्यमान नहीं, तो मति कहेगी कि यह तो स्वयं उसका भागदान है। प्रत्ययों में भी योग्य और अयोग्य का भेद नहीं; भेद उनके योग्य और अयोग्य प्रयोग में है। बुद्धि का स्पष्ट संबंध संवेद्यता से नहीं, केवल मति से है। मति का उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति है; बुद्धि का काम मति को यह बताना है कि वह अपने काम को कैसे करे। जो काम विधिपूर्वक किया जाए, उसमें सफलता की संभावना बढ़ ही जाती है।

ज्ञान के तीन स्तर हैं। सब से निचले स्तर पर किसी विशेष वस्तु या घटना का बोध होता है। प्लेटो ऐसे बोध को 'सम्मति' कहता है, यह व्यक्ति की अपनी सम्पत्ति है। दूसरे स्तर पर कुछ वस्तुएँ या घटनाएँ गठित होती हैं; उनमें से जो कुछ हम एक की बाबत जानते हैं, उसी की दूसरों के संबंध में आशा कर सकते हैं। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना विज्ञान की विविध शाखाओं का उद्देश्य है। हर एक शाखा अपने लिए एक सीमित क्षेत्र चुनती है, और अन्य क्षेत्रों की ओर प्रायः उदासीन होती है। व्यवस्था विज्ञान की जान है, परन्तु यह व्यवस्था व्यापक नहीं होती; व्यापक व्यवस्था दर्शन का लक्ष्य है। दर्शनशास्त्र में यह दावा नहीं होता कि व्यापक व्यवस्था एक प्रमाणित तथ्य है; इसे स्वीकृत पक्ष का पद दिया जाता है। बुद्धि मति को कहती है—'ज्ञान की खोज में इस दृढ़-विश्वास के साथ चलो कि जगत् असंबद्ध वस्तुओं और घटनाओं का समुदाय नहीं, एक अस्थान है। अपनी प्रगति में इस धारणा को पुष्ट करते जाओ।'

बहुत्व में एकत्व का देखना ही किसी वस्तु को समझना है। प्रत्यक्ष में अनेक संवेदनों का एकीकरण है; विचार अनेक प्रत्यक्षों की नींव पर बनता है, और मति के निर्णय विचारों के संयोग का फल है। बुद्धि मति से कहती है—'इस एकीकरण-प्रक्रिया में कहीं रुको नहीं; इस मान्यता से चलो कि सभी पदार्थ एक परतम वर्ग के नीचे आते हैं; सभी घटनाएँ एक ही अन्तिम नियम के अधीन घटती हैं।'

बुद्धि ऐसी साहसी धारणा को क्यों स्वीकार करती है? प्रथम तो यह कि अनुभूत जगत् में समानता हर ओर दिखाई देती है। इस समानता की नींव पर हम कुछ पदार्थों को कुत्ता कहते हैं, कुछ को घोड़ा, कुछ को हाथी। फिर इन सब को चौपाया कहते हैं। इससे ऊपर पशु, जन्तु आदि वर्ग आते हैं। बुद्धि ऐसे वर्ग की ओर संकेत करती है जो किसी दूसरे वर्ग का उपवर्ग न हो। समानता के अभाव में, किसी प्रकार का निर्णय संभव ही न था; अन्य शब्दों में मति के लिये कोई काम ही न था।

समानता के साथ असमानता भी अवश्य होती है। जहाँ सभी पदार्थ पूर्ण रूप में समान हों, वहाँ वर्गीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। वर्ग के नीचे उपवर्ग होते हैं, उनके नीचे उप-उपवर्ग और यह क्रम कभी समाप्त नहीं होता। बुद्धि कहती है कि भेदों के देखने में कहीं रुकना नहीं चाहिये। यह विविधता या अनेकता का व्यापक नियम है।

समानता और असमानता के संयोग से बुद्धि एक तीसरे नियम को स्वीकृति के योग्य बताती है। यह निरन्तरता का नियम है। नीचे से ऊपर की ओर चलें या ऊपर से नीचे की ओर आएँ, कहीं यह नहीं कह सकते कि दो श्रणियों का भेद अन्तिम भेद है। यह संभावना सदा बनी रहती है, कि इन दोनों के मध्य में कोई अन्य श्रेणी हो। कांट् कहता है कि समानता, असमानता और निरन्तरता की नींव पर, बुद्धि मति को व्यापक व्यवस्था और एकता को स्वीकार करने का परामर्श देती है। मति का काम अनुभव को विस्तृत और ब्योरामय बनाना है। अनुभव के क्षेत्र में एकता के प्रत्यय का प्रयोग उचित है, परन्तु बुद्धि चाहती है कि, इस क्षेत्र से परे भी कुछ देखे। इस प्रयत्न से वह भ्रान्तियों में उलझ जाती है। किसी धारणा को स्वीकृति पक्ष के रूप में देखना एक बात है, उसे प्रमाणित तथ्य मानना दूसरी बात है। आत्मा, जगत् और ईश्वर के संबंध में बुद्धि उचित सीमाओं से पार जाने में क्या ग़लती करती है ?

मुझे भूख लगी थी; मैंने कुछ खाया। पहले पीड़ा की अनभूति थी, अब तृप्ति का अनुभव है। भूख और तृप्ति के बोध एक साथ नहीं हुए; मैं समझता हूँ कि यह दोनों अनुभव एक ही अनुभवी के अनुभव हैं। स्मृति अनेक बीते हुए अनुभवों को मेरे अनुभव बताती है। ह्यूम कहता है,—'अनुभवों' के अतिरिक्त अनुभवी का विचार कल्पना-मात्र है।' किसकी कल्पना ? कांट् कहता है कि हम अपनी प्रकृति से विवश यह मानते हैं कि अस्थिर अनुभवों का आश्रय एक स्थायी चेतन सत्ता है, परन्तु यह असंदिग्ध तथ्य नहीं कि सत्ता में आत्मा वास्तविक स्थिति रखता है।

यही अवस्था विश्व की है। हमें ज्ञान प्राप्ति के लिये मानना होता है कि विश्व समुदाय नहीं, संस्थान है : इसमें व्यवस्था है, और अनेक नियम अन्त में एक ही व्यापक नियम के रूप हैं। बुद्धि का यह प्रत्यय हमारे उद्देश्य में बहुत सहायक हैं, यह हमारे प्रयत्न को व्यवस्थित बनाता है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि तथ्य भी हमारी सुविधा के अनुकूल है।

ईश्वर के संबंध में भी बुद्धि के प्रत्यय का मूल्य यही है कि यह हमें व्यवहार को नियमित बनाने में सहायता देता है। इससे परे जाना बुद्धि के अधिकार में नहीं। ईश्वर के प्रत्यय को कांट् 'आदर्श' का नाम देता है। आदर्श के महत्व की बाबत कांट् का विचार

प्लेटो के विचार से मिलता है। 'रिपब्लिक' के अध्याय नौ के अन्त में सुकरात कहता है—"जिस गणतन्त्र राज्य का हमने निर्माण किया है, उसका अस्तित्व हमारे विचार में है, क्योंकि पृथिवी पर तो कहीं है नहीं।' इस पर ग्लाकन कहता है :—

'परन्तु संभवतः द्यौलोक में इसका नमूना विद्यमान है, ताकि जो कोई इसका चिन्तन करना चाहे, और चिन्तन करने पर अपने जीवन को इसके अनुसार बनाना चाहे, ऐसा कर सके। और यह बात महत्त्व ही नहीं रखती कि ऐसा राज्य कहीं है या कभी होगा। ऐसा पुरुष तो इसी राज्य के नागरिक के कर्त्तव्यों का पालन करता है; किसी अन्य राज्य के कर्त्तव्यों का नहीं।'

सुकरात ने कहा—'यह उचित है।'

कांट् कहता है कि परमात्मा के अस्तित्व को मानना हमारे जीवन को व्यवस्थित करन के लिये आवश्यक है। शुद्ध बुद्धि इसे प्रमाणित नहीं कर सकती, तो न करे; व्यावहारिक बुद्धि इसमें हमारा पथ-प्रदर्शन करती है।

कांट् का निष्कर्ष स्वयं उसके इन शब्दों में व्यक्त होता है :—'मैंने बुद्धि को एक ओर हटाया है, ताकि विश्वास और श्रद्धा के लिये स्थान खाली हो।'

शुद्ध बुद्धि से व्यावहारिक बुद्धि की ओर : मनोविज्ञान में विश्वास कर्म को निर्णीत करने वाली मानसिक अवस्था है। मैं कुर्सी पर बैठता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास होता है कि वह मेरा बोझ संहार सकती है, और उसकी बैठक में मेरे लिये पर्याप्त स्थान है। यदि कृत्रिम निद्रा में कोई मनुष्य यह सुझाव स्वीकार कर लेता है कि वह नाव से नदी में गिर पड़ा है, तो वह फ़र्श पर तैरने का यत्न करने लगता है। विश्वास सम्मति और ज्ञान के मध्य में है; इसमें दृढ़ता होती है, परन्तु ज्ञान की निश्चितता नहीं होती। अभी तक कांट् ने यह बताया है कि शुद्ध बुद्धि के प्रत्यय हमें ज्ञान नहीं दे सकते, क्योंकि ज्ञान अनुभव के क्षेत्र में ही सीमित है। ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों के संबंध में सम्मति का कोई महत्त्व नहीं; क्या विश्वास के लिये पर्याप्त हेतु विद्यमान हैं ?

कांट् इसका उत्तर 'हाँ' में देता है, परन्तु कहता है कि इसके लिये हमें व्यावहारिक बुद्धि की शरण में जाना चाहिये।

कांट् कहता है :—

'मननात्मक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की बुद्धि का सारा चित्तरंजन तीन निम्न प्रश्नों में केन्द्रित है :—

(१) मैं क्या जान सकता हूँ ?

(२) मुझे क्या करना चाहिए ?

(३) मैं क्या आशा कर सकता हूँ ?

पहला प्रश्न पूर्णरूप से मननात्मक है । इस प्रश्न के जो उत्तर दिये जा सकते हैं, उन सब को हमने देख लिया है, और अन्त में उस उत्तर को भी देखा है जिससे बुद्धि को अवश्य संतुष्ट होना पड़ता है, और जिससे इसे संतुष्ट होना भी चाहिये, जब तक यह व्यावहारिक अंश की उपेक्षा करती है । जहाँ तक ज्ञान का संबन्ध है, यह प्रमाणित हो चुका है कि मननात्मक बुद्धि आदर्शों की बाबत बता नहीं सकती । बुद्धि के प्रत्ययों का मूल्य और महत्त्व केवल व्यवहार के संबन्ध में है ।

हमारी प्रकृति में अनेक प्रवृत्तियाँ हैं; उनमें हरएक अपने आप को तृप्त करना चाहती है । सभी तृप्तियों का जोड़ सुख कहलाता है । हर एक मनुष्य स्वभाव से ही सुखी होने की इच्छा करता है : कोई होता है, कोई नहीं होता । सुख की इच्छा करना एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है; सुखी होने का अधिकार प्राप्त करना कर्त्तव्य है । यह अधिकार प्राप्त कैसे हो सकता है ? इसका एकमात्र साधन नैतिक आदेश के अनुसार आचार और आचरण को बनाना है । इस आदेश की दृष्टि में सभी मनुष्य बुद्धिवन्त होने के नाते एक स्तर पर हैं : कोई इतना ऊँचा नहीं कि वह इसके अधीन न हो, कोई इतना नीचे नहीं कि इस क्षेत्र में प्रविष्ट न हो सके ।

नैतिक आदेश है––'सदाचार से सुखी बनने का अधिकार प्राप्त करो ।' यदि मैं साधन का प्रयोग पूर्ण रूप से कर लूँ, तो क्या यह आशा कर सकता हूँ कि इसका फल अवश्य मिल जाएगा ? व्यावहारिक बुद्धि कहती है––'यदि पर्याप्त शक्ति का स्वामी, सदाचार (वृत्त) और सुख में संयोग करने वाला विद्यमान नहीं, तो नैतिक भावना निरर्थक है । नैतिक भावना और ईश्वर की सत्ता में विश्वास दोनों एक साथ स्थित रहते हैं, या गिरते हैं । व्यवहार के संबन्ध में, बुद्धि कहती है––'मैं ईश्वर की सत्ता मानने पर विवश हूँ ।'

व्यावहारिक बुद्धि की स्थिति की बाबत कां ्ने 'व्यावहारिक बुद्धि की मीसांसा' में विस्तार से लिखा है । भारत के दर्शन में 'सांख्य' और 'योग' में भी इसी प्रकार का संबंध दिखाई देता है । सांख्य सूत्रों में एक सूत्र है––'ईश्वरसिद्धेः (ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता ।) योगदर्शन में कहा गया है कि आत्म-सिद्धि के लिये ईश्वर-भक्ति एक सफल साधन है ।

ईश्वर के अस्तित्व के अतिरिक्त, स्वाधीनता और अमरत्व धर्म के प्रमुख विषय हैं । कां ् कहता है कि 'नैतिक ब्रह्मविद्या' इन दोनों का भी समर्थन करती है । नैतिक आदर्श निरपेक्ष आदर्श है । मनुष्य पूछता है—'मैं जिस जगत में रहता हूँ, उसमें स्वाधीनता के लिये कोई स्थान भी है ?' व्यावहारिक बुद्धि कहती है कि दृष्ट जगत् का

अंश होने की स्थिति में मनुष्य प्राकृतिक नियम के अधीन है, परन्तु अनुभवातीत क्षेत्र की सत्ता होने की स्थिति में वह इस नियम के अधीन नहीं, और आप एक कारण है। नीति कहती है––'तुम्हें करना चाहिये, इसलिये तुम कर सकते हो।' शेष सभी प्राणी नियम के अनुसार क्रिया करते हैं। मनुष्य नियम के प्रत्यय के अनुसार भी कर सकता है। जो कुछ वह नैसर्गिक प्रवृत्ति के अधीन करता है, उसमें स्वाधीनता का अंश नहीं होता; जो कर्म इस प्रवृत्ति को दबाकर बुद्धि के आदेशानुसार किया जाता है, वह स्वाधीन कर्म है। 'नैतिक कर्म अधिकाधिक विरोध की दिशा में किया हुआ कर्म है।'

नैतिक आदर्श है क्या ? आत्म-सिद्धि का अर्थ पूर्णता को प्राप्त करना है। हम नीति परिवर्तन तक पहुँचना चाहते हैं; ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, वह भी परे होता जाता है। इसी प्रकार की दशा पूर्णता की है ; हम इसके निकट होते जाते हैं, परन्तु इस तक पहुँच नहीं सकते। यह अनन्त आदर्श है, इस तक पहुँचने के लिये अनन्त काल की आवश्यकता है। पूर्णता की प्राप्ति के लिये जो यत्न करना होता है, वह कभी समाप्त नहीं होता। अन्य शब्दों में आत्मा , नैतिक कर्त्ता, अमर है।

दीवानचन्द

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

(१७८१ ई०)

मानव बुद्धि के ज्ञान के एक क्षेत्र में उसका यह एक विशिष्ट भागधेय है कि वहाँ वह ऐसे प्रश्नों से चिन्तित और आक्रान्त रहती है, जिनकी वह उपेक्षा नहीं कर सकती, क्योंकि इन प्रश्नों की उत्पत्ति स्वयं बुद्धि के स्वभाव से ही होती है, परन्तु उनका उत्तर देना भी उसके लिए शक्य नहीं है, क्योंकि वे मानव बुद्धि की सभी शक्तियों का अतिक्रमण करने वाले हैं।

इस कठिनाई में वह बिना किसी अपने अपराध के फँस जाती है। वह अपना व्यापार उन आधारभूत सिद्धान्तों से आरंभ करती है जिनका उपयोग अनुभव के पथ में अपरिहार्य है, और इसके साथ ही साथ जिनके उपयोग का औचित्य (या सत्य) इसी (अनुभव) के द्वारा पर्याप्तरूपेण प्रमाणित हो जाता है। इन सिद्धान्तों के साथ वह उच्च से उच्चतर और दूर से दूरतर अवस्थाओं की ओर बढ़ती है, क्योंकि यह प्रवृत्ति भी उसकी प्रकृति के साथ लगी हुई है। किन्तु तब जल्दी ही उसको पता चल जाता है कि इस प्रकार तो उसका व्यापार कदापि भी समाप्त होने वाला नहीं है, क्योंकि नये-नये प्रश्नों का उठना कभी बन्द नहीं होता; अतएव इस प्रकार वह अपने को उन आधारभूत सिद्धान्तों की शरण में जाने के लिए बाध्य हुआ पाती है, जो सब संभव अनुभव-प्रयोगों का अतिक्रमण करने वाले हैं, और फिर भी जो ऐसे आपत्तिशून्य प्रतीत होते हैं कि सामान्य मानव बुद्धि भी उनके साथ सहमत रहा करती है। किन्तु बस इसी से वह मानव बुद्धि अन्धकार और विप्रतिषेधों में लुढ़क पड़ती है, जिससे वह यह निष्कर्ष तो अवश्यमेव निकाल सकती है कि कहीं न कहीं मूल में गल्ती छिपी पड़ी है, परन्तु जिसको वह प्रकाशित नहीं कर सकती, क्योंकि जिन आधारभूत सिद्धान्तों का वह उपयोग करती है, वे अनुभव की सब सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले होने के कारण अनुभव की कसौटी पर नहीं कसे जा सकते। इन्हीं अनन्त विवादों के विग्रहक्षेत्र का नाम तो मेटाफ़ीज़िक्स—पराविद्या—है।

एक समय था कि जब यह पराविद्या अन्य सब विद्याओं की रानी कहलाती थी, और यदि संकल्प को ही कार्यसिद्धि के स्थान पर ग्रहण कर लिया जाए तो अपने विषय

की अत्यन्त गौरवपूर्णता के कारण वह निश्चयमेव इस आदरणीय नाम की सर्वथा अधिकारिणी है। पर आज तो उसके प्रति समय का कुछ ऐसा फेर हुआ है कि सभी उसको तिरस्कार प्रदर्शित करते हैं और वह निराश एवं परित्यक्ता वृद्धा स्वामिनी हिकुबां के समान विलाप कर रही है:—

Modo maxima rerum
Tot generis, natisque potens......
Nunc trahor exul inops (ओविड्-मेटामौर्फोसिस्)
अभी कुछ पहले, जो थी सबसे महान्
उतने बलशाली जामाताओं पुत्रों वाली
रानी, अब निर्वासित मैं राजपाट से, अकेली, असहाय। (ओविड् मेटा०)

आरंभ में अपरीक्षित मतवादियों के सत्ताधिकार काल में उसका शासनतंत्र स्वेच्छाचारी प्रकार का था। परन्तु क्योंकि विधानविधि में अभी तक पुरातन बर्बरता के चिह्न अवशिष्ट थे अतएव उसका साम्राज्य अन्तःकलह के कारण धीरे-धीरे पतित होकर पूर्ण अराजकता को प्राप्त हो गया, एवं संशयवादियों ने तो, जो कि अनियतनिलय जातियों के समान भूमि के स्थायी संस्कार और निवास पद्धति की उपेक्षा करते हैं, समय समय पर समग्र नागरिक समाज को नष्टभ्रष्ट कर दिया। परन्तु सौभाग्य का विषय है कि उनकी संख्या थोड़ी सी थी, इसलिये वे उन लोगों के उद्योगों को नहीं रोक सके जो नित्य नये सिरे से (यद्यपि बिना किसी सर्वसम्मत योजना के) पुनः पुनः धरती की गोड़गाड़ किया करते थे। इधर आधुनिक समय में एक बार सचमुच ऐसा प्रतीत हुआ कि, सुविख्यात दार्शनिक लॉक की मानव बोध की एक प्रकार की सुनिश्चित अंगरचना के द्वारा यह सब विवाद समाप्ति को प्राप्त हो जाएँगे, और पराविद्या के अधिकार (या दावे) की वैधता पूर्णतया स्थापित या निर्णीत हो जाएगी। पर परिणाम इसके विपरीत ही निकला। यद्यपि पूर्वेण इस तथाकथित रानी (पराविद्या) का जन्म भले ही सामान्य अनुभव रूपी साधारण जनता में से हुआ सिद्ध किया गया और इसके द्वारा उसका दावा बहुत कुछ संदेहास्पद हो जाना चाहिये था, तथापि क्योंकि यह वंशावली भी वास्तव में वितथ रचना थी, इसलिये वह (रानी) अपने दावे को पुनः पूर्ववत् प्रस्तुत करती रही; परिणामतः पराविद्या पुनः उसी पुराने सड़े गले कृमिमय अपरीक्षित मतवाद के गर्त्त में और इस कारण उस तिरस्कार में गिर पड़ी, जिसमें से इस विद्या का उद्धार किया जाना चाहिये था। और अब जब (जैसा कि मान लिया गया है) कि सब उपायों की परीक्षा करके देख ली गई है और वे सब व्यर्थ सिद्ध हो

चुके हैं, पराविद्या के क्षेत्र में क्लान्ति और परिपूर्ण उदासीनता का साम्राज्य छाया हुआ है जो सब विज्ञान क्षेत्रों में अस्तव्यस्तता और रात्रि की जननी है, किन्तु फिर भी जो इसके साथ ही साथ उनके निकट भविष्य में होनेवाले पुनर्व्यवस्थापन और संप्रकाशन का उद्गम या कम से कम उनकी प्रस्तावना भी है, जब कि अपप्रयुक्त उद्योग के द्वारा वे (विज्ञान) अंधकारग्रस्त, अस्तव्यस्त और अनुपयोगी हो गये हैं।

किन्तु वास्तव में ऐसे अनुसंधानों की विचारणा में, जिनका उद्देश्य मानव-स्वभाव के प्रति उदासीन नहीं हो सकता, औदासीन्य का बहाना करना चाहना व्यर्थ है। सच तो यह है कि वे उपेक्षा का वहाना करने वाले उदासीन लोग पण्डिताऊ शब्दावलि को सामान्य बोधगम्य भाषा में वदल कर अपने को छिपाने का चाहे जितना प्रयत्न क्यों न करें, यदि वे तनिक सा भी चिन्तन करते हैं तो वे अनिवार्यतया पराविद्या संबंधी उन्हीं प्रतिज्ञावाक्यों में फँस जाते हैं जिनके विरुद्ध उन्होंने इतना अधिक तिरस्कार प्रकट किया था। यह सब कुछ होते हुए भी, यह उदासीनता की भावना, जो कि अपने को सब विज्ञानों के फलने फूलने की स्थिति में प्रदर्शित करती है, और ठीक उन विज्ञानों को प्रभावित करती है जिनकी ज्ञानोपलब्धियाँ यदि प्राप्त हो सकें, तो किसी प्रकार तनिक भी नहीं त्यागी जानी चाहिए। यह उदासीनता एक ऐसी विचित्र घटना है जो सावधानी और मनोनिवेश की अपेक्षा करती है। स्पष्ट है कि यह किसी हलकेपन (या असावधानी) का नहीं, प्रत्युत वर्त्तमान समय के सम्पुष्ट (=परिपक्व) निर्णय[1]

१. हम जब तब प्रायः आधुनिक समय के छिछलेपन और गंभीर विद्याओं के पतन की शिकायत सुनते रहते हैं। परन्तु मेरे विचार में वो विद्याएँ (= विज्ञान) सुरक्षित नींव पर आश्रित हैं, जैसे गणित विद्या और भौतिक विज्ञान इत्यादि, वे लेशमात्र भी इस दोषारोपण की पात्र नहीं हैं प्रत्युत वे तो बहुत अधिक मात्रा में अपने ठोसपन (या साधारता) की ख्याति को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं, और द्वितीय उदाहरण (अर्थात् भौतिक विज्ञान) में बहुत कुछ उस ख्याति से आगे बढ़ गई हैं। ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी, (यदि उनके आधारभूत सिद्धान्त दृढ़ता के साथ स्थापित हुए हों) यही भावना प्रदर्शित हुई होती। इस अभाव के रहते हुए, उदासीनता, संशय और अन्ततोगत्वा कठोर अलोचना बहुत कुछ गंभीर विचार पद्धित के चिन्ह हैं। हमारा युग विशेषतया आलोचना का युग है, सब किसी को उसकी अधीनता को मानना पड़ेगा। अपनी पवित्रता के बल पर धर्म और प्रभुता के बल पर नियम विधान (क़ानून) अपने को इससे अछूता रखना चाहते हैं (या चाह सकते हैं)। परन्तु ऐसा करके वे अपने प्रति न्यायोचित सन्देह को ही उत्पन्न करते हैं एवं उस सच्ची निश्छल श्रद्धा का दावा नहीं कर सकते जिसको बुद्धि केवल उन्हीं को प्रदान करती है जो उसके स्वतंत्र (अबाध) और खुले परीक्षण को सह सकते हैं।

का परिणाम है जो अब अपने को अधिक समय तक केवल ज्ञानाभासमात्र से सन्तुष्ट नहीं रहने देना चाहता। यह तो बुद्धि का आह्वान (या चुनौती) है कि वह फिर एक नये सिरे से अपने कठिनतम कार्य को अर्थात् आत्मज्ञान के कार्य को हाथ में ले तथा एक न्यायालय को स्थापित करे, जो बलात्कारपूर्ण आज्ञाओं द्वारा नहीं, किन्तु बुद्धि के ही अमर और अपरिवर्त्तनीय नियमों द्वारा उसके समुचित अधिकारों (या दावों) को सुरक्षित कर सके, एवं निराधार मिथ्याभियोगों का निराकरण कर सके। और यह न्यायालय शुद्ध बुद्धि की मीमांसा को छोड़ कर और कुछ नहीं है।

पर इससे मेरा तात्पर्य ग्रंथों और दर्शन संस्थानों की आलोचना नहीं, प्रत्युत उन ज्ञानों को दृष्टि में रखते हुए, बोधवृत्ति या बुद्धि की सामान्यरूपेण आलोचना करना है, जिन ज्ञानों की प्राप्ति का अनूद्योग वह अनुभव पर अवलम्बित हुए बिना किया करती है; इसी से परिणामतः सामान्यतया पराविद्या की संभवता और असंभवता का निर्णय तथा उसके उद्‌गम, एवं उसके विषयविस्तार एवं सीमा का निर्धारण भी किया जाएगा—किन्तु यह सब होगा सिद्धान्तों के अनुसार।

यह जो एकमात्र मार्ग अवशिष्ट रह गया है—मैं इसी पर चल पड़ा हूँ, और मैं आत्मश्लाघा के साथ कह सकता हूँ कि इस मार्ग का अनुसरण करते हुए मैंने उन सब भ्रान्तियों को दूर करने का उपाय खोज निकाला है जो बुद्धि को उसके अनुभव-मुक्त प्रयोग में स्वयं अपने से लड़ा देती थीं। मैंने मानवीय बुद्धि की अपर्याप्तता (अक्षमता) के तर्क की ओट में उसके प्रश्नों को टाला नहीं है, प्रत्युत मैंने सिद्धान्तानुसार उनका निःशेतया विशेषाभिधान (या वर्गीकरण) कर दिया है, एवं जिस स्थान पर बुद्धि स्वयं अपने को न समझ कर आत्मकलह में लिप्त हो जाती है, उस स्थल का निर्देश करने के पश्चात् मैंने उन प्रश्नों को उस (बुद्धि) को पूर्ण संतोष प्रदान करने वाले ढंग से हल कर दिया है। यह सच है कि इन प्रश्नों का उत्तर ऐसा नहीं बन पड़ा है जैसे की आशा अपरीक्षित मतवाद की कल्पना से अभिभूत जिज्ञासा को हो सकती है, क्योंकि उसका सन्तुष्ट होना तो जादूगरी के बिना संभव नहीं था, जिसका मुझे ज्ञान नहीं है। परन्तु हमारी बुद्धि के प्रकृति द्वारा निर्धारित स्वभाव का उद्देश्य भी तो ठीक यह नहीं था; और दर्शनशास्त्र का कर्तव्य था उस छल को समाप्त कर देना जो मिथ्या-बोध से उत्पन्न होता है, फिर चाहे ऐसा करने से कितने ही बहुमूल्य और प्रिय स्वप्न नष्ट क्यों न हो जाएँ। इस अनुसंधानात्मक कृति में मैंने अपना मुख्य लक्ष्य परिपूर्णता को बनाया है, और मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कोई एक भी ऐसी पराविद्या संबंधी समस्या नहीं हो सकती जिसको यहाँ हल न कर दिया गया हो, या कम से कम जिसके हल के लिये कुञ्जी प्रदान न कर दी गई हो। वास्तव में ही शुद्ध बुद्धि ऐसी

परिपूर्ण एकता है कि यदि इस का सिद्धान्त सूत्र इसी के स्वभाव से उत्पन्न हुए सब प्रश्नों में से किसी एक को भी हल करने में असमर्थ रहे, तो इसका सर्वथा परित्याग ही कर देना चाहिये, क्योंकि तब तो यह अन्य किसी भी अवशिष्ट प्रश्न को पूर्ण विश्वसनीयता के साथ हल करने में अक्षम हो सकता है।

परन्तु जब मैं ऐसा कहता हूँ तो मैं अपनी कल्पना में आपाततः ऐसे दर्पपूर्ण और व्यर्थाडम्बर से भरे हुए दावों के कारण पाठक के चेहरे पर तिरस्कार-मिश्रित रोष के भाव को प्रकट हुआ देखता हूँ, और तिसपर भी मैं कह सकता हूँ कि वे उन लेखकों के दावों की अपेक्षा तो बिना किसी तुलना के कहीं अधिक मर्यादित हैं, जो अपने सामान्य कार्यक्रम की पद्धति के अनुसार आत्मा के सरल अविमिश्रित स्वरूप अथवा जगत् के प्रथमारंभ की प्रयोजनीयता को यथाकथंचित् सिद्ध करने का दम भरते हैं। क्योंकि यह महानुभाव तो संभव अनुभव की सब सीमाओं का उल्लंघन करके मानवीय जानकारी को अधिक विस्तीर्ण करने की प्रतिज्ञा करते हैं, और मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक स्वीकार करता हूँ कि यह बात पूर्णतया मेरी सामर्थ्य के बाहर है। इसके स्थान पर मुझे जो कुछ भी करना है, उसका संबंध केवल मात्र बुद्धि और उसकी शुद्ध विचारणा के साथ है, जिनके सुविवृत ज्ञान को खोजने के लिए मुझे अपने से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो मुझे स्वयं अपने में ही मिल जाते हैं, तथा जिनके संबंध में सामान्य न्यायशास्त्र भी मेरे लिये उदाहरण उपस्थित करता है कि बुद्धि के सरल कार्यों को किस प्रकार पूर्णतया और सुव्यवस्था के साथ गिना जा सकता है। यहाँ जो प्रश्न उठाया गया है वह केवल यही है कि अनुभव के उपादानों और सहायता के हटा लिये जाने पर, मैं केवल इसी बुद्धि के साथ कितना कुछ पा सकने की आशा कर सकता हूँ।

जिन लक्ष्यों का हमको प्रतिपादन करना है, उनमें से प्रत्येक के संबंध में परिपूर्णता की प्राप्ति के विषय में एवं सब को एक साथ मिला कर प्रतिपादन की निःशेषता की प्राप्ति के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है, एवं यह वह लक्ष्य हैं जिनको मनमाने ढंग से नहीं चुन लिया गया है, बल्कि जो स्वतः ज्ञान के स्वरूप द्वारा हमारे आलोचनात्मक अनुसंधान की सामग्री के रूप में निर्धारित होते हैं।

और फिर जहाँ तक प्रतिपादन के बाह्य रूप, अर्थात् भाषा एवं शैली इत्यादि का संबंध है, सुनिश्चतता और स्पष्टता यह दो ऐसी बातें हैं जो सारभूत माँगें मानी जाकर, औचित्य के साथ उस लेखक के समक्ष उपस्थित की जा सकती हैं जो ऐसे रपटीले अनुसंधान पथ पर चलने का साहस करता है।

अच्छा तो पहले सुनिश्चितता की ही बात को लें; मैं अपने विषय में स्वयं यह निर्णय

कर चुका हूँ कि इस प्रकार के दार्शनिक चिन्तन में सम्मति रखने की अनुज्ञा किसी प्रकार भी नहीं होनी चाहिये, और वे सब कथन जो अपने में उपस्थापना या प्रतिज्ञा के समान मात्र प्रतीत होते हों, निषिद्ध वस्तु माने जाने चाहियें जिनको अल्पतम मूल्य पर भी विक्रय के लिये प्रस्तुत नहीं करना चाहिये, प्रत्युत ज्योंही उनका पता चले तत्काल उनको ज़ब्त कर लेना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक वह ज्ञान जो अपने को स्वयंसिद्ध स्थापित हुआ मानता है, यह विज्ञापित करता है कि उसको पूर्णतया आवश्यक माना जाना चाहिये। यही बात सब शुद्ध स्वयंसिद्ध ज्ञानों के विनिश्चय के विषय में अधिकतर लागू होती है एवं जो समग्र स्पष्टतया सिद्ध (दार्शनिक) सुनिश्चितता का समुचित मानदण्ड एवं इसीलिये उदाहरण होगी। इस सुनिश्चितता के तत्व संबंध में, मैंने जो कुछ प्रतिज्ञा की है मैं उसको पूरा कर सका या नहीं, इसको मैं पूर्णतया पाठकों के निर्णय पर छोड़ता हूँ, क्योंकि लेखक को केवल अपनी युक्तियों को प्रस्तुत करना शोभा देता है, न कि अपनी रचना के परीक्षकों के ऊपर होने वाले उसके प्रभाव के विषय में निर्णय देना। परन्तु लेखक स्वयं अनजाने में निरपराधभाव से अपनी युक्तियों के प्रभाव के क्षीण होने का आदिकारण न बन जाय, इसलिए उसको यह अनुज्ञा अवश्य मिलनी चाहिये कि वह स्वयं उन कतिपय स्थलों की ओर संकेत कर सके (जो यद्यपि गौण विषय से संबंध रखते हैं, तथापि अविश्वास को अवकाश प्रदान कर सकते हैं) और इस प्रकार ठीक अवसर पर उस कुप्रभाव को दूर कर सके, जो पाठक के मन में उत्पन्न हुए इन गौण विषयों से संबंध रखने वाले संशय के कारण मुख्य विषय के संबंध में उत्पन्न हो सकता है।

मैं किन्हीं ऐसे अनुसंधानों को नहीं जानता जो उस वृत्ति का, जिसको हम बोध-वृत्ति कहते हैं, तलस्पर्शी अन्वेषण एवं साथ ही साथ उसके उपयोग के नियमों और सीमाओं का निर्धारण करने के लिये इतने महत्त्वपूर्ण हों, जितने वे अनुसंधान हैं जिनकी व्यवस्था मैंने इस ग्रंथ के "परा वैश्लेषिका विद्या" नामक खंड के दूसरे अध्याय में "बोध-वृत्ति के विशुद्ध भाव का निगमन" शीर्षक के नीचे की है, और यह भी बात है कि इन्हीं के लिये मुझे सबसे अधिक परिश्रम भी उठाना पड़ा है परन्तु मैं आशा करता हूँ कि यह अपुरस्कृत परिश्रम नहीं है। परन्तु इस पर्यालोचना के, जो कुछ गहरे आधार पर आधारित है, अथवा गंभीर महत्व रखती है, दो पक्ष हैं। एक का संबंध विशुद्ध बोध के गोचर विषयों से है, और उद्देश्य उसके स्वतः सिद्ध भावों (संबोधों) का वस्तुनिष्ठ प्रामाण्य प्रदर्शित करना एवं उसको बोधगम्य बनाना है, अतएव स्पष्ट ही यह (पर्या-लोचना) मेरे प्रयोजन के लिए सारतः उपयुक्त है। दूसरे का लक्ष्य है स्वयं बोधवृत्ति —अर्थात् यह उसकी संभावना और उन ज्ञानग्राहक शक्तियों का अनुसंधान करता

है, जिन पर यह वृत्ति स्वयं आश्रित है, परिणामतः इसका उद्देश्य विषयी रूप में उसकी आलोचना करना है, और यद्यपि यह विवेचना मेरे प्रमुख विषय के विचार की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, तथापि उसका सार अंश नहीं है; क्योंकि मुख्य प्रश्न तो सर्वदा यही रहता है कि बोधवृत्ति और बुद्धि सब अनुभव से स्वतंत्र रह कर क्या और कितना जान सकते हैं ? न कि यह कि स्वयं विचारशक्ति क्यों कर संभव है ? यह दूसरा प्रश्न तो मानों एक प्रदत्त (=प्रस्तुत) कार्य के आदि कारण की खोज करना है, अतएव उतनी मात्रा में एक उपस्थापना से समानता रखता है, (यद्यपि, जैसा कि मैं अन्य अवसर पर सूचित करूँगा, बात वास्तव में ऐसी नहीं है) अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने (मानों) इस अवसर पर सम्मति को प्रदर्शित करने की स्वतंत्रता बरती है, और ऐसी दशा में पाठक को भी मुझसे भिन्न सम्मति रखने या प्रकट करने की स्वतंत्रता अवश्य है। इस विचार से मैं पाठक की आलोचना की पेशबन्दी उसको यह स्मरण कराकर करना चाहता हूँ कि यदि मेरा विषयीनिष्ठ नियमन उसके मन में वह परिपूर्ण विनिश्चय उत्पन्न न कर सके, जिसकी मुझे आशा है, तो भी (बाह्य) विषय संबंधी निगमन (या निष्कर्ष) जो इस रचना में मेरा प्रधान लक्ष्य है, पूर्ण शक्तियुक्त बना रहता है।

और अन्ततः जहाँ तक स्पष्टता का संबंध है, पाठक को अधिकार है कि पहले तो वह संबोधों के द्वारा यौक्तिक (तार्किक) स्पष्टता की माँग करे, और तब दूसरे स्थान पर सहज ज्ञानों द्वारा अन्तःस्फूर्त्तिक (अन्तर्ज्ञान संबंधी) प्रासादिकता की माँग करे, जो उदाहरणों एवं दूसरे मूर्त दृष्टान्तों से उपलब्ध होती है। प्रथम प्रकार की स्पष्टता के लिये मैंने पर्याप्त प्रबन्ध कर दिया है। उसका संबंध तो मेरे पूर्व निर्धारित उद्देश्य की सारसत्ता के साथ था, परन्तु यही प्रसंगतः इस बात का भी कारण बन गया कि मैं दूसरी माँग को, जो यद्यपि उतनी कठोर भले ही न हो, तो भी न्यायोचित तो है ही, पर्याप्तरूपेण सन्तुष्ट नहीं कर सका। मैं अपनी इस रचना के प्रगति पथ में लगातार इस दुविधा से दोलायमान रहा हूँ कि मैं इस विषय में करूँ तो क्या करूँ। उदाहरण और दृष्टान्त मुझे सदा ही आवश्यक प्रतीत हुए और इसीलिये सचमुच वे बहते हुए आकर इस रचना की प्रथम रूपरेखा में अपने उचित स्थानों पर आसीन भी हो गये। परन्तु शीघ्र ही मेरी दृष्टि इस रचना की विशालता और विवेचनीय विषयों की बहुलता की ओर गई, और तब मुझे चेत हुआ कि केवल यही अकेले, कोरे शुष्क पाण्डित्यपूर्ण विवेचन में ग्रंथ को विपुलाकार बना देंगे, इसलिये मैं इसको उदाहरणों और दृष्टान्तों द्वारा, जो कि केवल जनसुगमता की दृष्टि से आवश्यक हैं, इस ग्रंथ को और भी विस्फीत कर देना उचित नहीं समझा; विशेषतया इस कारण क्योंकि

यह रचना जनसाधारण के उपयोग के अनुरूप किसी प्रकार भी नहीं हो सकती, एवं विज्ञान के सच्चे ज्ञाताओं के लिये इस प्रकार का सरलीकरण आवश्यक प्रतीत नहीं होता, अतएव यद्यपि यह सरलीकरण जो सर्वदा मनोज्ञ है, प्रस्तुत प्रसंग में ग्रंथ रचना के उद्देश्य का विरोधी तक हो जाता। आप्त तैरासाँ ने ठीक ही कहा है कि यदि किसी पुस्तक के आकार को उसके पृष्ठों की संख्या से नहीं, प्रत्युत उसको समझने के लिये अपेक्षित समय से नापें, तो बहुत सी पुस्तकों के विषय में यह कहा जा सकता है कि यदि वे इतनी संक्षिप्त न होतीं, तो संक्षिप्ततर होतीं। परन्तु दूसरी ओर जब किसी ऐसे मननीय ज्ञान के पूर्णावयवी की अवधारणीयता पर दृष्टि जाती है जो यद्यपि विपुल-विस्तीर्ण है तथापि एक सिद्धान्त में एकत्र समवलंबित है, तो उतने ही औचित्य के साथ कहा जा सकता है कि अनेकों पुस्तकें, स्पष्ट होने का यदि इतना अधिक उद्योग न करतीं तो स्पष्टतर होतीं। क्योंकि स्पष्टता के निमित्त जो सहायक सामग्री प्रस्तुत की जाती है वह खंडों के समझने में तो सहायता प्रदान करती है किन्तु समग्र ग्रंथ के समझने में तो बहुधा (पाठक के ध्यान को) उच्चाटित ही करती है क्योंकि यह सामग्री पाठक को समग्र ग्रंथ के पूर्ण पर्यवेक्षण तक पर्याप्त शीघ्रता से नहीं पहुँचने देती, तथा अपने चटकीले रंगों के द्वारा शास्त्र-संस्थान के संधिस्थानों और अंगविन्यास को आच्छादित करके उसकी दृष्टि से छिपा लेती है और अपरिज्ञेय बना देती है, और यही वह तत्त्व हैं जिन पर किसी ग्रंथ की एकता और ठोसपन (या उत्तमता) का निर्णय कर सकने के लिये निर्भर होना पड़ता है।

मुझे ऐसा लगता है कि उपर्युक्त कथन पाठक को अपने उद्योग को लेखक के उद्योग के साथ संयुक्त करने के लिए कोई स्वल्प आकर्षण नहीं होगा, जब कि लेखक अपनी ओर से एक विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को पूर्वोक्त योजना या रूपरेखा के अनुसार परिपूर्णतया स्थायी प्रकार से समाप्त करने की आशा लिये हुए उद्योगनिरत हो रहा है। पराविद्या ही, तत्संबंधी उन धारणाओं के अनुसार जिनको हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, सब विद्याओं में एक अकेली ऐसी विद्या है, जो एक ऐसी परिपूर्णता को, निश्चयमेव थोड़े से ही समय में, केवल अल्पमात्र किन्तु समवेत परिश्रम से प्राप्त कराने का भरोसा दिला सकती है, जिससे भावी पीढ़ियों को इसकी अपेक्षा और कुछ भी करना शेष नहीं रह जाएगा कि, इसके प्रमेयों (विषयविस्तार) में लेशमात्र वृद्धि करने में समर्थ हुए बिना वे प्रत्येक बात को अपने लक्ष्य के अनुसार उपदेशात्मक ढंग से क्रमबद्ध कर लें। क्योंकि यह पराविद्या शुद्ध बुद्धि के द्वारा उपार्जित (सिद्धान्त-) सर्वस्व के क्रमानुसार श्रेणीबद्ध संग्रह के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस क्षेत्र में हमारी दृष्टि से कुछ भी छूट नहीं सकता, क्योंकि जो कुछ भी बुद्धि पूर्णतया अपने में से ही

उत्पन्न करती है वह छिपा नहीं रह सकता, प्रत्युत ज्योंही (आधारभूत) सामान्य सिद्धान्त का आविष्कार हुआ तत्काल सब छिपे तत्व स्वयं बुद्धि द्वारा ही प्रकाश में आ जाएँगे। इस प्रकार के ज्ञान की परिपूर्ण एकता, और उसका निश्चयमेव अविकृत विशुद्ध संबोधों (प्रत्ययों) से उत्पन्न होना तथा उसका किसी अनुभव अथवा ऐसी विशेष अन्तःस्फुरण से बिलकुल भी प्रभावित न होना, जो उसको विस्तार और वृद्धि प्रदान करने वाले निश्चित अनुभव की ओर ले जाने वाली हो, यह सब बातें इस अनवस्थित पूर्णता को न केवल व्यवहार्य बल्कि अवश्यंभावी भी बना देती हैं।

Jecum habita et noris, quam sit tibi curta supetlese
(Persius. Sat. 4.52)

"तू अपने घर में चारों ओर देख, और तब तुझे पता चलेगा कि तेरी सम्पत्ति कितनी सीधी सादी है।" (पर्सियुस् सात० ४।५२)

इस प्रकार का एक विशुद्ध बुद्धि का संस्थान मैं "प्रकृति का तत्व ज्ञान (=परा-विद्या)" के शीर्षक से प्रस्तुत करने की आशा करता हूँ। विस्तार में तो यह प्रस्तुत मीमांसा के आधे के बराबर भी नहीं होगा, परन्तु विषयवस्तु की मात्रा इससे अतुल-नीयतया अधिक सम्पन्न होगा, इस मीमांसा को तो सर्वोपरि इस आलोचना की संभा-वना के मूलोद्गम और शर्त्तों का उद्घाटन करना है, मानों अब तक जो धरती पूर्णतया पड़ती पड़ी हुई थी, उसको शुद्ध और समतल करना है। इस ग्रंथ के संबंध में तो मैं पाठक से एक न्यायाधीश के सदृश् धैर्य और निष्पक्षता की अपेक्षा करता हूँ, जब कि इस दूसरी (भावी) रचना में एक सहयोगी की जैसी शुभेच्छा और सहायता की अपेक्षा करूँगा। क्योंकि इस प्रस्तुत मीमांसा में इस विचार संस्थान के सिद्धान्तों की विवेचना चाहे कितनी ही पूर्ण क्यों न हो, तथापि शास्त्र संस्थान के पूर्ण प्रतिपादन के लिये यह आवश्यक है कि उपर्युक्त सिद्धान्तों से व्युत्पन्न होने वाले कोई ऐसे अर्थ छूटने न पाएँ, जो स्वयं सिद्ध अनुमान के द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकते, बल्कि जो शनैः शनैः आविष्कृत हो सकते हैं। अतएव जब कि इस वर्त्तमान मीमांसा में सब संबोधों के पूर्ण संघटन को निःशेषतया प्रतिपादित कर दिया गया है, तो उस भावी ग्रंथ में यह आवश्यक है कि ऐसा ही उनके विश्लेषण के विषय में भी किया जाए, और यह कार्य भारी श्रम की अपेक्षा कहीं सरल, अथवा मनोरंजन का, काम होगा।

दूसरे संस्करण का प्राक्कथन

(१७८७ ई०)

उस ज्ञान का उद्योग, जिसका संबंध बुद्धि के व्यापार से है, विज्ञान के सुनिश्चित पथ पर चल रहा है या नहीं, इसका निर्णय परिणाम द्वारा शीघ्र ही हो सकता है। यदि भली प्रकार की हुई तैयारियों और साजसज्जाओं के पश्चात् भी यह ज्योंही अपने लक्ष्य के पास पहुँचने को हो त्योंही अटक कर रह जाए, अथवा उस तक पहुँचने के लिये प्रायः फिर लौट पड़ना और दूसरे मार्ग पर चलना पड़े; या फिर इसी प्रकार यदि इस एक क्षेत्र में काम करने वाले विभिन्न सहकर्म्मियों में इस विषय में ऐकमत्य प्रस्तुत करना संभव न हो कि उन सब के समान लक्ष्य का अनुसंधान किस प्रकार किया जाए, तो यह विश्वास करना चाहिये कि इस प्रकार का अनुशीलन अभी तक विज्ञान के सुनिश्चित मार्ग में प्रविष्ट नहीं हुआ, प्रत्युत इधर-उधर अँधेरे में भटक रहा है, और ऐसी स्थिति में यह निश्चय ही बुद्धि की सेवा होगी कि यदि संभव हो तो हम उस मार्ग को खोज निकालें, फिर चाहे ऐसा करने के परिणाम स्वरूप हमको ऐसी बहुत सी वस्तुएँ निष्फल मान कर छोड़ ही क्यों न देनी पड़ें, जिनको पहले बिना विचार के चुन कर मौलिक लक्ष्य में सम्मिलित कर लिया गया था।

तर्कशास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से इस सुनिश्चित मार्ग पर चलता रहा, यह बात तो इसी से प्रत्यक्ष है कि अरिस्तू के समय से लेकर इस शास्त्र ने एक पग पीछे नहीं रखा, बशर्त्ते कि हम कुछ परिहार्य सूक्ष्मताओं के निराकरण अथवा उसकी पूर्वव्याख्यात विषयवस्तु के स्पष्टतर विवरण को सुधार न समझें, क्योंकि इन दोनों बातों का संबंध विज्ञान की सुनिश्चतता की अपेक्षा उसकी शोभा से अधिक है। यह बात ध्यान देने योग्य भी है कि यह शास्त्र आज तक एक पग भी आगे नहीं बढ़ सका है, और इस प्रकार सर्वथा परिनिष्ठित और परिपूर्ण प्रतीत होता है। क्योंकि यदि कुछ आधुनिक तत्त्ववेत्ताओं ने ज्ञान की विविध वृत्तियों (यथा कल्पनावृत्ति, वैदग्ध्य वृत्ति इत्यादि) के संबंध मनोविज्ञान के अध्यायों को जोड़ कर, ज्ञान के उद्गम अथवा विषय की विभिन्नता के अनुसार सुनिश्चितता की विविधता के संबंध में (आदर्शवाद, संशयवाद इत्यादि पर) पराविद्या के अध्यायों को बढ़ाकर, अथवा अन्ततः पूर्वग्राहों के (उद्गम और उप-

चार के संबंध में) मानवजीवविज्ञानसंबंधी अध्यायों को जोड़ कर जो इस तर्कशास्त्र के परिवर्द्धन का विचार किया भी है, तो यह सब इस शास्त्र के स्वरूप विशिष्ट के संबंध में उनके अज्ञान के कारण घटित हुआ है। यदि विविध विज्ञानों की सीमाओं को मिश्रित कर उनमें परस्पर गड़बड़ की जाती है, तो इससे उनका परिवर्द्धन नहीं होता, प्रत्युत स्वरूपविकृति उत्पन्न होती है; किन्तु तर्कशास्त्र की मर्यादा तो इसी तथ्य द्वारा पूर्ण-रूपेण यथातथ्य निर्धारित हो जाती है कि वह ऐसा शास्त्र है जिसको समग्र विचार के औपचारिक नियमों की निःशेष व्याख्या एवं कठोर उपपत्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करना है (फिर चाहे वह नियम अनुभव से स्वतंत्र स्वयंसिद्ध हो चाहे अनुभवजन्य हो; चाहे उसका उद्‌गम और उद्देश्य या विषय कुछ भी क्यों न हो, और चाहे उसको हमारे मानसों में प्रासंगित अथवा स्वाभाविक कैसी भी विघ्न-बाधाओं का सामना क्यों न करना पड़ता हो।)

तर्कशास्त्र को जो इतनी अच्छी सफलता मिली है, इस लाभ के लिये वह केवल अपनी सीमितता का ऋणी है, जिसके द्वारा उसको यह अधिकार प्राप्त हो जाता है, या अधिकार क्या प्राप्त हो जाता है, बल्कि यों कहिये कि उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह ज्ञान के सब विषयों और उनके विभेदों से निर्वर्त्तित हो और फलतः बोध-वृत्ति को विवेचना के लिये स्वयं अपने आप और अपनी आकृति के अतिरिक्त और किसी से कुछ वास्ता न रह जाए। यदि बुद्धि को केवल अपने से ही बरतना या व्यव-हार करना न हो, प्रत्युत विषयों के साथ भी बरतना हो, तो स्वभाविकतया उसके लिये विज्ञान के सुनिश्चित मार्ग में प्रवेश करना बहुत ही कठिन होना चाहिये; इसलिये यह तर्कशास्त्र भी पूर्वानुबन्ध के रूप में विज्ञानों का केवल बहिरांगण ही ठहरता है; और जब विविध विज्ञानों का प्रसंग उपस्थित होता है तो यद्यपि उनके संबंध में ठीक ठीक निर्णय करने के लिये तर्कशास्त्र की पूर्वसत्ता की आवश्यकता होती है, परन्तु उनके वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिये तो उन्हीं विज्ञानों की अपेक्षा होती है जो उचित और वास्तविक रूप में विज्ञान कहलाते हैं।

अब इन विज्ञानों में यदि बुद्धि भी सम्मिलित होगी, तो इनमें कुछ अंश अनुभव से स्वतंत्र स्वतः सिद्ध रूप से जाना हुआ भी अवश्य होना चाहिये, और इस ज्ञान का संबंध अपने विषय के साथ निम्नलिखित दो प्रकारों में से किसी एक प्रकार का हो सकता है——या तो यह अपने विषय और उसके संबोध का, जो कि कहीं अन्यत्र से उप-लब्ध हुआ होना चाहिये, निर्धारण मात्र करेगा, या उसको वास्तविक भी बनाएगा। प्रथम बुद्धि का सैद्धान्तिक या शुद्ध ज्ञान है, दूसरा व्यावहारिक। दोनों ही प्रकारों में से शुद्ध अंश, अर्थात् वह अंश जिसमें कि बुद्धि अपने विषय को पूर्णतया अनुभवमुक्त

स्वयंसिद्ध ढंग से निर्धारित करती है, चाहे फिर उस अंश में अन्तर्विष्ट विषय कितना ही अधिक अथवा अल्प क्यों न हो, सबसे प्रथम पृथक्तया प्रतिपादित होना चाहिये, और वह अंश जो अन्य उद्गम से मिलता है, शुद्ध अंश के साथ मिश्रित नहीं होना चाहिये। क्योंकि, यदि जो कुछ आय हो उसको आँख मीच कर खर्च कर दिया जाए, और जब आय अवरुद्ध हो जाए तो यह निश्चित न किया जा सके कि आय का कौन सा अंश व्यय किया जा सकता है और किस में से कतरब्यौंत करना चाहिये, तो यह तो दोषपूर्ण गृह-प्रबन्ध होगा।

गणितशास्त्र और भौतिक विज्ञान दोनों बुद्धि की ऐसी सैद्धान्तिक विद्याएँ हैं, जिनको अपने विषय का निर्धारण स्वयंसिद्ध ढंग से करना पड़ता है, इनमें से प्रथम, गणितशास्त्र पूर्णतया शुद्ध प्रकार से ऐसा करता है तथा दूसरा, भौतिक विज्ञान कुछ अल्पतम अंश में, किन्तु इस (भौतिक विज्ञान) को एक मात्रा में बुद्धि के अतिरिक्त ज्ञान के अन्य स्रोतों से भी संबंध रखना पड़ता है।

गणित तो उस प्राचीनतम काल में ही, जिस तक मानव विवेक का इतिहास पहुँचा है, उस आश्चर्यजनक जाति में, जिसको ग्रीक कहते हैं, विज्ञान के सुनिश्चित मार्ग पर चल पड़ा था। परन्तु यह नहीं समझ बैठना चाहिये कि इस (गणित शास्त्र) के लिये इस राजपथ को पा लेना, अथवा उसको अपने लिये निर्माण कर लेना इतना सरल काम था जितना कि तर्कशास्त्र के लिये, जिसमें बुद्धि का वास्ता केवल अपने साथ रहता है। इसके विपरीत, मेरा तो यह विश्वास है कि यह विज्ञान बहुत लम्बे समय तक, (विशेष रूप से मिश्रदेशवासियों के मध्य में) मार्गान्वेषण में ही इधर उधर भटकता रहा, और इस परिवर्त्तन का श्रेय तो उस क्रान्ति को मिलना चाहिये जो किसी एक मनुष्य के सौभाग्यपूर्ण आकस्मिक विचार की स्फुरणा से एक प्रयोग के रूप में घटित हुई, जिससे ग्रहण किये जाने वाले मार्ग के संबंध में गलती होने की संभावना न रही, तथा विज्ञान का सुनिश्चित मार्ग सर्वदा के लिये और अनन्त विस्तार के लिये सुलक्षित और आविष्कृत हो गया। इस बौद्धिक क्रान्ति का इतिहास (जो क्रान्ति प्रख्यात उत्तमाशा अन्तरीप के मार्ग के आविष्कार की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थी) एवं उस भाग्यवान् पुरुष का नाम जिसने इस क्रान्ति को उपस्थित किया, हमारे लिये सुरक्षित नहीं रह गए हैं। परन्तु उस कथानक से, जिसे दियोगैनेस् लाएर्तियस् हमको प्रदान करता है (जिसने भूमितिशास्त्र के न्यूनतम अंशों की उपपत्तियों के आविष्कारकों का—उन ज्ञानांशों के आविष्कारकों का जो कि साधारण लोगों की सम्मति में उपपत्ति की अपेक्षा नहीं करते—नामोल्लेख किया है), यह सूचित होता है कि इस नवीन मार्ग के आविष्कार के प्रथम चिह्नों से जो परिवर्त्तन घटित हुआ, उसकी स्मृति गणित-

वेत्ताओं को परम महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुई और इसी कारण अविस्मरणीय बन गई। उस प्रथम व्यक्ति को, जो थालेस हो, या और किसी नाम वाला हो, जिसने समद्विबाहु त्रिभुज के गुणों का उपपादन किया, नया प्रकाश प्राप्त हुआ होगा। उसको यह पता चला होगा कि उसको न तो जो कुछ आकृति में दिखलाई पड़ रहा है उसका और न केवल उसके संबोध मात्र का निरीक्षण करके उसके गुणों को सीख या पढ़ लेना है, प्रत्युत उसको तो उन तत्त्वों को सुव्यक्त करना है जो उस संबोध में अवश्यमेव अस्पष्ट-तया संनिहित थे, जिसको उसने अनुभव के पूर्व ही स्वयं निर्माण किया था तथा जिसको अपने समक्ष उपस्थित करने के लिये आकृति में प्रस्तुत किया था। और उसने यह भी देखा होगा कि किसी भी बात को स्वयंसिद्धता की निश्चितता के साथ जानने के लिये उसकी आकृति में ऐसी किसी बात का आरोप नहीं करना चाहिये, जो उन लक्षणों से अनुमित न होती हो जिसको उसने उस वस्तु के अपने संबोध से उसमें आरोपित किया है।

प्रकृति-विद्या को विज्ञान के राजपथ तक पहुँचने में इसकी अपेक्षा अधिक देर लगी। क्योंकि अभी केवल लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व लार्ड बेकन ने अपने विचक्षण प्रस्तावों द्वारा इस आविष्कार को अंशतः जन्म दिया था, और अंशतः उन लोगों में नवीन स्फूर्ति उत्पन्न की थी जो पहले से ही इसकी खोज में लगे हुए थे। यह आविष्कार भी पूर्वोक्त आविष्कार की भाँति, विचार-पद्धति में शीघ्रता से उत्पन्न हुई क्रान्ति के द्वारा स्पष्ट-तया समझाया जा सकता है। प्रकृति-विज्ञान को मैं यहाँ केवल उसी सीमा तक अपनी विवेचना में सम्मिलित करूँगा, जिस सीमा तक वह अनुभव के सिद्धान्तों पर निर्भर है।

जब गैलीलियो ने अपनी उन गोलियों को, जिनके वज़न को उसने स्वयं चुना था, एक ढालू धरातल पर लुढ़काया, अथवा जब तौरीचैली ने हवा के द्वारा एक ऐसे भार को वहन कराया, जिसके विषय में उसने पहले ही यह आकलन कर लिया था कि वह जल के अमुक आयतन के बराबर है, अथवा और भी अर्वाचीन समय में जब स्टाल ने पहले धातुओं में से कुछ तत्त्व निकाल कर और फिर बाद को वही मिलाकर, धातुओं से चूना और चूने से पुनः धातुएँ बना दीं, तो प्रकृति के सब अन्वेषकों को एक प्रकाश मिला। उनको यह विदित हो गया कि बुद्धि को केवल उन्हीं विषयों में अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है जिनको वह अपनी योजना के अनुसार प्रस्तुत करती है; उस (बुद्धि) को अपने आपको प्रकृति की डोरी में बँधे हुए के समान परापनेय नहीं बना देना चाहिये, बल्कि स्वयं स्थायी नियमों पर आश्रित निर्धारणा के सिद्धान्तों के अनुसार पथप्रदर्शन करते हुए आगे चलना चाहिये, और प्रकृति को अपने द्वारा निर्धारित प्रश्नों का उत्तर

देने के लिए बाध्य करना चाहिये; क्योंकि अन्यथा ऐसे आकस्मिक निरीक्षण, जो कि बिना किसी पूर्वनिर्धारित योजना के किये गये हैं, कदापि एक ऐसे आवश्यक नियम के रूप में परिणत नहीं हो सकते, जिसको ही बुद्धि खोजती और मांगती है। बुद्धि को एक हाथ में उन सिद्धान्तों को, जिनके अनुसार संवादी अवभास नियमों के तुल्य माने जा सकते हैं एवं दूसरे हाथ में उन सिद्धान्तों के अनुसार आयोजित प्रयोगों को लेकर, प्रकृति से शिक्षा प्राप्त करने के लिये, उसके पास जाना चाहिये; परन्तु उसको प्रकृति के पास एक ऐसे शिष्य के रूप में नहीं जाना चाहिये जो गुरु की चाही हुई सब बातों को कान दबा कर सुनता है, प्रत्युत एक आसनारूढ़ न्यायाधीश के रूप में उपस्थित होना चाहिये, जो साक्षी को उन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये बाध्य कर देता है, जिनको वह स्वयं उसके समक्ष प्रस्तुत करता है। अतएव भौतिकशास्त्र भी अपनी विचार-पद्धति में हुई लाभदायक क्रान्ति के लिये पूर्णरूप से इसी आकस्मिक स्फुरणा का आभारी है कि बुद्धि को उन सब बातों को जो स्वयं उसकी अपनी क्षमता से ज्ञेय नहीं हैं, एवं जिनको यदि सीखा जाए तो प्रकृति से ही सीखा जा सकता है, प्रकृति में ही खोजना चाहिये, कल्पना द्वारा उस (प्रकृति) पर आरोपित नहीं किया जाना चाहिये पर इस खोज करने में उसको अपना मार्गोपदेष्टा उसी को बनाना चाहिये, जिसको, इसने स्वयं प्रकृति में अवस्थापित किया है। इस प्रकार से प्रकृति विद्या जो अनेकों शताब्दियों से अन्धकार में भटकने की अपेक्षा और कुछ नहीं थी, प्रथम बार विज्ञान के सुनिश्चित पथ पर चल निकली।

पराविद्या जो अन्य सब विद्याओं से बिलकुल अलग चिन्तन-परायण बुद्ध्याश्रित ज्ञान है, जो अपने को अनुभवजनित शिक्षा से पूर्णतया ऊपर उठाए रहती है और केवल संबोधों के ऊपर आश्रित रहती है, (सो भी गणित की भाँति नहीं जिसमें प्रत्यक्षों के प्रतिसंबोधों का प्रयोग किया जाता है), जहाँ इस प्रकार बुद्धि को स्वयं अपना शिष्य होना पड़ता है, अभी तक ऐसे सौभाग्य को प्राप्त नहीं कर सकी है कि विज्ञान के सुनिश्चित पथ पर चल पड़ती, यद्यपि है यह शेष अन्य सब विज्ञानों की अपेक्षा अधिक पुरानी और यदि अन्य सब विज्ञान (कभी किसी) बर्बरता के अतल में समा भी जाएँ तब भी यह बनी रहेगी। क्योंकि इस विद्या के क्षेत्र में, बुद्धि यदि उन नियमों तक में, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, स्वयंसिद्ध अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, जो नियम हमारे सामान्यतम अनुभव से पुष्ट होते हैं, तब भी उस (बुद्धि) का मार्ग निरन्तर अवरुद्ध हुआ लगता है। इसमें अनगिनती बार मार्ग बदलना पड़ता है, क्योंकि बार बार ऐसा लगता है कि यह मार्ग वहाँ नहीं ले जाएगा, जहाँ जाना अभीष्ट है। जहाँ तक इसके अनुयायियों के कथनों की एकवाक्यता का संबंध है वे इस स्थिति से इतनी

दूर हैं कि पराविद्या को एक ऐसा युद्धक्षेत्र कहना अधिक संगत होगा जो उन लोगों के लिये विलक्षणतया उपयुक्त है जो युद्धाभिनय का अभ्यास करके अपने करतब दिखाना चाहते हैं,तथा जिसमें किसी भी योद्धा ने एक अल्प से भूखण्ड को इस प्रकार नहीं जीता कि जिससे वह सर्वदा के लिये उसको अपनी भूमि कह सके। इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसकी पद्धति अब तक केवल इधर-उधर भटकने की रही है, और जो सबसे बुरी बात है वह यह है कि यह संबोधों में भटकती रही है।

तो फिर क्या कारण है कि इस क्षेत्र में ही अब तक विज्ञान के जैसा सुनिश्चित मार्ग नहीं पाया जा सका है ? स्यात्, क्या ऐसे मार्ग का आविष्कार असंभव है ? तब प्रकृति ने हमारी बुद्धि को ऐसे अविश्रान्त उद्योग से आविष्ट क्यों किया है, जिससे वह ऐसे मार्ग का अनुसंधान इस प्रकार करती रहती है मानों यह उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चिन्ता का विषय हो ? इतना ही नहीं, इससे भी अधिक बुरी बात यह है कि यदि हमारी बुद्धि हमारी जिज्ञासा के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय के संबंध में हमको न केवल असहाय छोड़ देती है, प्रत्युत छलनाभरी असत्प्रतिज्ञाओं की चकाचौंध से पथभ्रष्ट कर अन्त में हमको ठगती है, तो फिर अपनी इस बुद्धि पर आस्था बनाए रखने का कितना थोड़ा सा कारण रह जाता है ! अथवा ऐसा है कि अब तक हम केवल सच्चे मार्ग को खोजने में असफल रहे हैं ? यदि ऐसा है तो कौन से लक्षण ऐसे हैं कि जिनके आधार पर हम यह आशा कर सकते हैं कि अपने अनुसंधान को नये सिरे से आरंभ करने पर हम अपने पूर्ववर्ती अनुसंधानकारियों की अपेक्षा अधिक सफल हो सकते हैं ?

मुझे ऐसा लगता है कि गणित और प्राकृतिक विज्ञान के उदाहरण, जो एकबारगी हुई एक विचार क्रान्ति से उस अवस्था को प्राप्त हो गये जिसमें वे आज हैं, पर्याप्ति-रूपेण इतना ध्यान देने योग्य हैं कि वे हमको उस विचार पद्धति के कारण के सारभूत तत्त्व का विचार करने में प्रवृत्त कर सकते हैं, जो इन विज्ञानों के लिये इतना लाभदायक सिद्ध हुआ है, तथा जहाँ तक बुद्ध्याश्रित ज्ञान के नाते पराविद्या के साथ इनका सादृश्य आज्ञा दे, वहाँ तक कम से कम उनके अनुकरण के परीक्षण के लिये प्रेरित कर सकते हैं। अब तक यह माना जाता रहा है कि हमारा सब ज्ञान बाह्य विषयों के अनुरूप होना चाहिये; परन्तु इस धारणा के अनुसार, संबोधों के द्वारा उनके विषय में स्वयं-सिद्ध ढंग से कोई भी स्थापना प्रस्तुत करने और इस प्रकार अपने ज्ञान को विशद करने की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। अतएव एक बार यह प्रयत्न भी करके देख लिया जाना चाहिये कि हम पराविद्या की समस्याओं में कहीं इस दूसरी मान्यता के सहारे तो अधिक सफल नहीं होंगे कि बाह्य विषयों को हमारे ज्ञान के अनुरूप होना चाहिये।

यह ऐसी मान्यता है जो उन विषयों के अभ्यर्थित स्वयंसिद्ध ज्ञान की संभावना से अपेक्षाकृत अधिक मेल खाती है, जो उन बाह्य विषयों के संबंध में हमको उनकी उपलब्धि के पूर्व ही कुछ निर्धारित कर दे सकता है। इस प्रसंग के संबंध में ठीक वैसी ही परिस्थिति है जैसी कोपर निकस के प्रथम विचार के अवसर पर थी, जिसने जब यह मान कर चलने पर, कि सब तारे दृष्टा के चारों ओर घूमते हैं, नक्षत्रों की गति की व्याख्या करने में सन्तोषप्रद प्रगति नहीं की, तो इसके पश्चात् उसने यह सोच कर कि संभव है दृष्टा को घूमता हुआ और तारों को स्थिर मान कर अधिक अच्छी सफलता प्राप्त हो सके, दूसरा प्रयत्न किया। पराविद्या के क्षेत्र में भी, जहाँ तक बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष का संबंध है, इसी प्रकार के उपाय का परीक्षण किया जाना चाहिये। यदि हमारे प्रत्यक्ष को बाह्यविषयों की संघटना के अनुरूप होना आवश्यक हो, तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि उन विषयों के संबंध में कुछ भी बात पूर्वतः स्वयंसिद्ध ढंग से कैसे जानी जा सकती है; परन्तु यदि विषय का (हमारी इन्द्रियों के विषयों के रूप में) हमारी संदर्शन या प्रत्यक्षीकरण की शक्ति के अनुरूप होना आवश्यक हो, तब मैं बहुत भली प्रकार से इस संभावना को अपने लिये निरूपण कर सकता हूँ। परन्तु क्योंकि, यदि इन प्रत्यक्षों को ज्ञान के रूप में परिणत होना है, मैं इन्हीं के साथ ठहरा नहीं रह सकता, प्रत्युत प्रत्युपस्थापनों के रूप में मुझे उनको किसी वस्तु से, जो उनका विषय रूप होगी, संबद्ध करना ही पड़ेगा, और इन विषयों का निर्धारण उनके द्वारा करना पड़ेगा। तब या तो मुझे यह मानना पड़ेगा कि वे संबोध जिनके द्वारा यह निर्धारण घटित होता है, विषयों के अनुरूप हैं और तब मैं पुनः उसी कठिनाई में फँस जाऊँगा कि विषयों के संबंध में मैं कुछ भी पूर्वतः स्वयंसिद्ध प्रकार से कैसे जान सकता हूँ; अथवा मुझको यह मानना पड़ेगा कि विषय अथवा अनुभव केवल जिसमें (प्रदत्त विषयों के रूप में) वे जाने जा सकते हैं इन संबोधों के अनुरूप होते हैं, और तब तत्काल एक सरल समाधान मुझे सूझ पड़ता है, क्योंकि अनुभव स्वयं एक ज्ञान का प्रकार है जो बोध की मांग करता है, और बोधवृत्ति के नियमों के अस्तित्व को मुझे अपने में विषयों की उपलब्धि के पूर्व ही स्वयं सिद्ध सत्ता के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा, जो उन पूर्वतः स्वयंसिद्ध (अ प्रियॉरी) संबोधों में अभिव्यक्त होते हैं, जिनके अनुरूप अनुभव के सब विषयों को अनिवार्यतया बनना पड़ता है तथा जिनके साथ उनको संगत (=संमत) होना पड़ता है। विषयों के संबंध में, जहाँ तक वे केवल बुद्धि के द्वारा विचारे जाते हैं, और सचमुच आवश्यक माने जाकर विचारे जाते हैं, किन्तु जो अनुभव में, कम से कम उस रूप में जिसमें बुद्धि उनका विचार करती है, कदापि उपलब्ध नहीं हो सकते, हमको यह पता चलेगा कि उन पर विचार करने की चेष्टा (क्योंकि उनमें विचार किये जाने

की योग्यता तो है ही) आगे चलकर हमको हमारी इस विचार पद्धति की एक अत्युत्तम कसौटी प्रदान करेगी जिस पद्धति को हमने नवीन परिवर्तित पद्धति के रूप में अंगीकार किया है, तथा जो पद्धति यह है कि वस्तुओं के विषय में हम अनुभव से पूर्व स्वयंसिद्ध ढंग से, वही जान सकते हैं जो हमने उनमें स्वयं निक्षिप्त किया है।[का०]

यह प्रयोग यथेच्छ रूप से सफल होता है और पराविद्या को उसके प्रथम खण्ड में, अर्थात् उस खण्ड में जिसमें वह उन स्वयंसिद्ध संबोधों के साथ व्यापृत रहती हैं जिनके संवादी विषय जो उनके समानुरूप भी हों अनुभव में उपलब्ध हो सकते हों, विज्ञान का सुनिश्चित पथ प्रदान करने का वचन देता है। क्योंकि इस नवीन परिवर्त्तित विचार पद्धति के अनुसार ही स्वयंसिद्ध अनुभवमुक्त (आ प्रियॉरी) ज्ञान की संभावना को पूर्णतया अच्छी तरह से समझाया जा सकता है, और इससे भी बढ़कर जो बात है वह यह है कि इसी के द्वारा उन नियमों की सन्तोषप्रद उपपत्ति भी उपलब्ध हो जाती है, जो अनुभव के विषयों के समय संग्रह रूप वाली प्रतिकृत के मूल में स्वयंसिद्ध रूप में निहित हैं, यह दोनों बातें ऐसी हैं जो आज तक अनुसृत पद्धति के अनुसार असंभव थीं। परन्तु हमारी इस स्वयंसिद्ध प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने की वृत्ति का, (पराविद्या के प्रथम खण्ड में) निगमन एक बड़ा अनोखा परिणाम उत्पन्न करता है, जो पराविद्या के द्वितीय खण्ड में प्रतिपादित समग्र उद्देश्य के प्रति अत्यन्त हानिकारक परिणाम के आभास को धारण किये प्रतीत होता है; अर्थात्

का. प्रकृति का अनुशीलन करने वाले विद्यार्थियों के द्वारा ग्रहण की गई इस अध्ययन पद्धति का स्वरूप है उन तथ्यों में शुद्ध बुद्धि के तत्वों की खोज करना जो प्रयोग द्वारा स्थापित या बाधित होने के योग्य हैं। पर शुद्ध बुद्धि की स्थापनाओं का परीक्षण, विशेष कर तब जब कि वे संभव अनुभव की समग्र सीमाओं का अतिक्रमण करने का साहस करें, उनके विषयों के साथ किसी प्रयोग द्वारा उसी प्रकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान में होता है। इस प्रकार जिन संबोधों और आधारभूत सिद्धान्तों को अनुभव पूर्ववर्ती स्वयंसिद्ध रूप में स्वीकार कर लेते हैं, उनकी विवेचना के संबंध में केवल यही बात व्यावहारिक होगी कि ऐसी योजना स्वीकार कर ली जाए कि उनका उपयोग विषयों को दो पृथक दृष्टिकोणों से देखने के लिये हो—एक ओर इन्द्रियों और बोधवृत्ति के द्वारा ग्राह्य विषयों के रूप में अनुभव के संबंध में, दूसरी ओर कम से कम उस बुद्धि के लिये जो सबसे असम्बद्ध है, और अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाली है, अर्थात् ऐसे विषय रूप हैं जो केवल विचार गम्य मात्र हैं। यदि, जब वस्तुओं का अवलोकन इस द्विविध दृष्टिकोण से किया जाए, तब हमको शुद्धि बुद्धि के आधारभूत सिद्धान्त के साथ अविरोध की प्राप्ति हो, परन्तु जब उनका अवलोकन एक विधि दृष्टिकोण से किया जाए, तब बुद्धि का स्वयं अपने साथ अनिवार्य आत्मकलह उठ खड़ा होता प्रतीत हो, तब तो यही मानना पड़ता है कि यह प्रयोग इस प्रभेद के औचित्य के पक्ष में ही निर्णय करता है।

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसके साथ हम संभव अनुभव की सीमा का कभी अतिक्रमण नहीं कर सकते, यद्यपि ठीक यही कर सकना इस विद्या का सबसे अधिक प्रमुख कार्य है। पर यहीं पर तो हमको ठीक वही प्रयोग मिलता है जो उपर्युक्त परिणाम की सत्यता की प्रत्युपपत्ति है, जो हमारे स्वयंसिद्ध बुद्धि ज्ञान का प्रथम आकलन रूप है; अर्थात् जो यह है कि इस प्रकार का ज्ञान केवल अवभासों से संबंध रखता है, किन्तु स्वयं-सत्ताक वस्तु को, अवभास के प्रतिकूल, जो स्वयं वास्तविक है किन्तु हमको अज्ञात है, छोड़ देता है। क्योंकि वह तत्व जो हमको विवशतापूर्वक अनुभव की और सब अवभासों की सीमा का अतिक्रमण करने के लिये प्रेरित करता है, अनवस्थित तत्त्व है, जिसकी माँग बुद्धि अपरिहार्य आवश्यकतावश एवं सब व्यवस्थित वस्तुओं के प्रति औचित्य की दृष्टि से स्वयंसत्ताक वस्तुओं से करती है, इसलिये कि वह अवस्थाओं या शर्त्तों की माला को पूरा करने के लिये प्रयोजनीय है। तब यदि हम यह मान कर चलें कि हमारा अनुभवात्मक ज्ञान उन विषयों के अनुरूप है जो स्वयंसत्ताक वस्तुएँ हैं, हम यह देखते हैं कि अनवस्थित का विचार बिना विसंवादिता के किया ही नहीं जा सकता, और जब दूसरी ओर हम यह मानते हैं कि वस्तुओं की, जैसी कि वे हमको उपलब्ध होती हैं, हमारी प्रत्युपस्थापना उनके स्वयं-सत्ताक रूप के अनुरूप नहीं होती, प्रत्युत अवभासरूप यह विषय हमारी प्रत्युपस्थापना के ढंग के अनुरूप होते हैं, तब विसंवादिता मिट जाती है। इसलिये, यदि इस प्रकार हम देखें कि जहाँ तक हम वस्तुओं को जानते हैं अर्थात् जहाँ तक वे हमको उपलब्ध होती हैं, उनमें अनवस्थित तत्व नहीं मिल सकता, प्रत्युत वहीं तक वह उनमें उपलब्ध होता है जहाँ तक हम उनको नहीं जानते, तो ऐसी दशा में हमारा यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि जो कुछ हमने पहले पहल प्रयोग करने के लिये यों ही कल्पना कर लिया था, अब सुनिश्चिततया पुष्ट हो गया है।[का.] परन्तु अतीन्द्रिय के क्षेत्र में मननात्मक बुद्धि की प्रगति के इस प्रकार प्रतिषिद्ध हो जाने पर अब भी यह मार्ग तो

का. शुद्ध बुद्धि का यह प्रयोग उस प्रयोग के साथ बहुत कुछ सादृश्य रखता है जो रसायन शास्त्र में बहुधा प्रह्रास प्रयोग कहलाता है परन्तु सामान्यतया जो संश्लेष पद्धति नाम से अभिहित होता है। पराविद्यावेत्ताओं का विश्लेषण स्वयंसिद्ध अनुभवपूर्व शुद्ध ज्ञान को दो नितान्त विजातीय तत्त्वों में पृथक् कर के विभक्त करता है, जिनके नाम हैं, अवभास रूप में वस्तुओं का ज्ञान और स्वयं सत्ताक वस्तुओं का ज्ञान। तर्क-विद्या दोनों को बुद्ध्यपेक्षित निर्विविष्ट अनवस्थित सत्ता के भाव के साथ इनकी संगति करके पुनः इनको एक साथ संबद्ध कर देती है, और तब उसको यह पता चलता है कि उपर्युक्त विभाजन के बिना कदापि उपलब्ध नहीं हो सकती, अतएव यह विभाजन भी इस प्रकार सत्य है।

हमारे लिये शेष रह ही जाता है कि हम यह खोज करें कि कहीं बुद्धि के व्यावहारिक ज्ञान में ऐसी आधारभूत सामग्री तो नहीं मिलती जो अनवस्थित (तत्त्व) संबंधी बुद्धि के परात्पर संबोध को निर्धारित करने के लिये पर्याप्त हो, एवं इस प्रकार पराविद्या की इच्छा के अनुरूप, ऐसे ज्ञान के द्वारा जो केवल व्यावहारिक दृष्टि से संभव स्वयंसिद्ध ज्ञान है, हमको समग्र संभव अनुभव की सीमा का अतिक्रमण करने योग्य बना सकती हो। और इस प्रकार की प्रक्रिया के द्वारा मननात्मक बुद्धि ने इस प्रकार के ज्ञान विस्तार के लिये थोड़ा सा स्थान, यद्यपि वह नितान्त अल्पतम है, छोड़ दिया है, यद्यपि उसको ऐसा करना अर्थात् इस स्थान को रिक्त छोड़ना ही था, तथापि हमको इस प्रकार यह स्वतंत्रता है, नहीं इतना ही नहीं, यह हमारे कर्त्तव्य की पुकार है कि यदि हो सके तो बुद्धि प्रदत्त व्यावहारिक विचार द्वारा इस रिक्त स्थान को अधिकृत कर लें।[का.]

पराविद्या के क्षेत्र में अब तक प्रचलित पद्धति को बदल देने और उसके द्वारा भूमितिशास्त्रवेत्ताओं तथा भौतिकशास्त्रवेत्ताओं के उदाहरण के अनुसार हमारे इस पराविद्या के क्षेत्र में भी परिपूर्ण क्रान्ति उपस्थित कर देने में ही शुद्ध मननात्मक बुद्धि की इस मीमांसा का उद्देश्य सन्निविष्ट है। यह तो पद्धति विषयक निबन्ध है स्वयं कोई विज्ञान-शास्त्र नहीं है; परन्तु ऐसा होने के साथ ही साथ यह इस विज्ञान का सम्पूर्ण रेखाचित्र प्रस्तुत करती है, और वह भी जितना उसकी सीमाओं के संबंध में, उतना ही आन्तरिक अंगों की संघटना के विषय में भी। इसका कारण यह है कि शुद्ध मन-

---

का. इसी प्रकार खगोल में स्थित ज्योतिरिङ्गणों की गति के केन्द्रीय नियमों ने उन सिद्धान्तों को सुव्यवस्थापित निश्चितता प्रदान की जिनको कोपर्निकस ने आरंभ में केवल उपकल्पित अधिस्थापना के रूप में ग्रहण किया था, और साथ ही उस शक्ति (अर्थात न्यूटन वाले आकर्षण तत्व) को भी उद्घाटित कर दिया, जो इस सारे विश्व को एकता के सूत्र में बाँधे हुए है; परन्तु यदि कोपर्निकस ने सबसे पहले इन्द्रिय प्रत्यक्ष के प्रतिकूल किन्तु फिर भी ठीक ढंग से यह साहस न किया होता कि वह निरीक्षित गतियों को खगोल के तारागणों में नहीं प्रत्युत द्रष्टा में खोजे, तो यह गुरुत्वाकर्षण का नियम अनुद्घाटित हो रह जाता। विचार-प्रणाली के इस परिवर्त्तन को, जो कि उपर्युक्त अधिस्थापना से बहुत कुछ साम्य रखता है, एवं जिसका प्रतिपादन इस मीमांसा में किया गया है, मैं इस प्राक्कथन में उपकल्पित अधिस्थापना के ही रूप में इस लिये कर रहा हूँ जिससे पाठकों का ध्यान उस पर इस प्रकार के परिवर्त्तन की प्रथम चेष्टा की ओर आकृष्ट हो सके, जो परिवर्त्तन सर्वदा उपकल्पनात्मक ही होते हैं; यद्यपि स्वयं मीमांसा के कलेवर में हमारे देश और काल की प्रत्युपस्थापना के स्वरूप एवं बोधवृत्ति के तात्त्विक संबोधों के द्वारा इसका प्रतिपादन उपकल्पना के रूप में नहीं, बल्कि युक्तियों द्वारा सिद्ध (स्थापित) तत्व के रूप में किया जाएगा।

नात्मक बुद्धि की यह एक अपनी विशेषता है कि अपने चिन्तन के विषयों को चुनने की पद्धति की विविधता के अनुसार यह अपनी शक्तियों की भी माप कर सकती है, और जिन विभिन्न प्रकारों से यह अपनी समस्याओं को प्रस्तुत करती है, उनकी निःशेष गणना भी प्रदान कर सकती है; और इसीलिये यह एक पराविद्या के संस्थान की पूर्ण रेखा प्रस्तुत करने में न केवल समर्थ है, प्रत्युत ऐसा करने के लिये बाध्य है। क्योंकि जहाँ तक प्रथम बात का संबंध है, अनुभव के पूर्ववर्ती स्वयंसिद्ध ज्ञान में, विषयों से उन बातों के अतिरिक्त और किसी बात का संबंध नहीं जोड़ा जा सकता, जो विचार करने वाले विषयी ने अपने में से ही ग्रहण की हैं; और जहाँ तक दूसरी बात का संबंध है, शुद्ध बुद्धि अपने ज्ञान के सिद्धान्तों की दृष्टि से एक पूर्णतया पृथक् और आत्मनिर्भर एकता है, जिसमें एक सुसंघटित सेन्द्रिय शरीर के समान, प्रत्येक अंग की सत्ता अन्य सब अंगों के निमित्त और सब की प्रत्येक के निमित्त होती है, और इसीलिये किसी भी सिद्धान्त के शुद्ध बुद्धि के सम्पूर्ण विनियोग से जितने भी संबंध हो सकते हैं, जब तक उन सब सबंधों में उसका युगपत् सावधानी से परीक्षण न हो जाए, तब तक उसको सुरक्षितता की भावना के साथ एक संबंध में भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। किन्तु इसीलिये पराविद्या को यह अनुपम सौभाग्य भी प्राप्त है जो अन्य किसी ऐसे बुद्धि संबंधी विज्ञान के हिस्से में नहीं है जिसका विषयों से संबंध है, (क्योंकि तर्कशास्त्र का संबंध तो सामान्यतया केवल विचार के आकार के साथ ही रहता है) कि यदि यह इस मीमांसा के द्वारा विज्ञान के सुनिश्चित पथ पर पहुँचा दी जाए, तो यह अपने आश्रित ज्ञान के समग्र क्षेत्र को पूर्णतया अधिगत कर जान लेने की सामर्थ्य रखती है और इस प्रकार अपने कार्य को पूर्ण करके भावी जगत् के उपयोग के लिये उसको एक ऐसी पूँजी के रूप में उत्तराधिकार-रूप छोड़ जा सकती जिसमें भविष्य में और कुछ भी कभी नहीं बढ़ाया जा सकता, क्योंकि उसका संबंध तो केवल सिद्धान्तों और उनके उपयोग की मर्यादाओंमात्र से है, जो उन्हीं सिद्धान्तों द्वारा निर्धारित की जाती हैं। अतएव आधारभूत विद्या होने के नाते यह पराविद्या इस परिपूर्णता को प्राप्त करने के लिये बँधी हुई है, और इसके संबंध में यह कहा जा सकना चाहिये :—

nil actum reputans, si quid superesset agendum.

मत समझो पूरा हुआ काम, हो यदि अवशिष्ट तनिक सा भी।

पर यह पूछा जा सकता है कि वह किस प्रकार की निधि है, जिसको हम इस आलोचना के द्वारा शुद्ध करके किन्तु इसी के द्वारा एक सुदृढ़ स्थायी स्थिति को प्राप्त पराविद्या के रूप में आगामी पीढ़ियों के लिए उत्तराधिकार के समान छोड़ जाने का विचार कर रहे हैं? इस रचना पर एक उड़ती हुई दृष्टि डालने पर ऐसी धारणा बन सकती है

कि यह उपयोगिता केवल निषेधात्मक है, अर्थात् यह हमको चेतावनी देती है कि मननात्मक बुद्धि की सहायता से हमको अनुभव की सीमा का अतिक्रमण करने का साहस कदापि नहीं करना चाहिये। और वास्तव में यह है भी इसका प्रथम उपयोग। परन्तु ज्योंही हम विचार करके देखते हैं कि जिन सिद्धान्तों के द्वारा मननात्मक बुद्धि अपनी समुचित सीमाओं का अतिक्रमण करने का साहस करती है, वे हमारी बुद्धि के उपयोग के क्षेत्र का विस्तार नहीं करते ; प्रत्युत यदि अधिक ध्यान से देखा जाए, तो अनिवार्यतया उसके संकोच की ओर ले जाने वाले हैं, त्योंही वह विद्यात्मक (या अस्तिवाची) हो जाती है, क्योंकि वे जिस इन्द्रियगम्यता से वास्तव में संबद्ध हैं, उसकी सीमा को यथार्थ में सर्वोपरि विशद करके वे शुद्ध (व्यावहारिक) बुद्धि के उपयोग को पूर्णतया स्थानच्युत करके स्वयं उसका स्थान ग्रहण करने की धमकी देते हैं। इसलिये हमारी यह मीमांसा जिस सीमा तक मननात्मक बुद्धि को उसकी उचित मर्यादा में सीमित कर देती है, उस सीमा तक सचमुच निषेधात्मक है, परन्तु क्योंकि ऐसा करने के साथ ही वह ऐसी रुकावट को दूर करती है जो व्यावहारिक बुद्धि के उपयोग को संकुचित अथवा बिलकुल नष्ट करने की धमकी देती है, इसलिये यह वास्तव में एक विधिरूप या भावात्मक एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपयोगिता को धारण किये हुए है, इस तथ्य की यथार्थता तब तत्काल प्रकट हो जाएगी, जब हम इस विषय में आश्वस्त हो जाएँ कि शुद्ध बुद्धि का एक नितान्त आवश्यक व्यावहारिक उपयोग भी होता है, जिसमें उसको अनिवार्यतया इन्द्रियगम्यता की सीमा का अतिक्रमण करना पड़ता है; किन्तु यद्यपि इसके लिये उसको मननात्मक बुद्धि की किसी सहायता की याचना नहीं करनी पड़ती, पर तो भी उसको अपने आपको उसके विरोध से सुरक्षित रखना ही पड़ता है कि जिससे वह कहीं आत्मविरोध के जाल में न फँस जाए। यह न मानना कि हमारी मीमांसा की यह सेवा विधिरूप नहीं है, इस कथन के समान होगा कि पुलिस हमारे लिये कोई उपयोगी काम नहीं करती, क्योंकि उसका मुख्य काम इतना ही तो है कि वह नागरिकों की परस्पर की आशंकित अहिंसा को रोके या उस पर अर्गला लगा दे, जिससे प्रत्येक व्यक्ति शान्ति और सुरक्षितता के साथ अपने अपने व्यापार का अनुसरण कर सके। देश और काल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आकारमात्र हैं, इस प्रकार वे अवभासरूप वस्तुओं की सत्ता की अवस्थाएँ भर हैं; इसके आगे वस्तुओं के ज्ञान के निमित्त हमारे पास बोधवृत्ति के कोई संबोध नहीं हैं, और परिणामतः कोई आधारभूत तत्व नहीं हैं; यदि हैं, तो वहीं तक हैं, जहाँ तक उनके संबोधों के समनुरूप प्रत्यक्ष उपलब्ध हो सकते हैं। और परिणामस्वरूप हम किसी भी विषय का ज्ञान स्वयं-सत्ताक वस्तु के रूप में नहीं पा सकते, केवल उसी सीमा तक प्राप्त कर सकते हैं, जिस सीमा तक वह वस्तु इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का

विषय है, अर्थात् अवभास है। यह सब बातें इस मीमांसा के विश्लेषणात्मक भाग में सिद्ध की गई हैं; जिनसे निश्चयमेव यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धि का समस्त संभव मननात्मक ज्ञान केवल अनुभव के विषयों तक सीमित है। फिर भी, जो बात बहुत अच्छी तरह ध्यान में रखी जानी चाहिये, वह यह है कि जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है, उसके होते हुए भी हमारा यह अधिकार सर्वदा सुरक्षित रहता है कि यदि हम इन विषयों को स्वयं-सत्ताक वस्तुओं के रूप में न भी जान सकें, तो भी इनके विषय में कम से कम इस (स्वयं-सत्ताक वस्तुओं) के रूप में विचार अवश्य कर सकते हैं। क्योंकि अन्यथा तो एक नितान्त निरर्थक परिणाम उपस्थित होगा कि किसी अवभासित होने वाली वस्तु के बिना ही अवभास प्रतीत होता है। अच्छा अब आइये थोड़ी देर के लिये हम यह मान लें कि हमारी मीमांसा के द्वारा निष्पादित [१पा०] वस्तुओं का अपरिहार्य भेद अर्थात् एक ओर अनुभव के विषय के रूप में वस्तु और दूसरी ओर स्वयं-सत्ताक वस्तु का भेद बिल्कुल प्रतिपादित नहीं हुआ है; ऐसी दशा में सामान्यतया उन सभी वस्तुओं पर जो (सक्रिय) निमित्त कारण हैं कार्यकारण का आधारभूत सिद्धान्त एवं इसी के नियंत्रण में प्रकृति की यांत्रिक व्यवस्था सर्वत्र लागू होंगे। इस प्रकार एक ही वस्तु, उदाहरणार्थ मानवात्मा के विषय में, बिना स्पष्ट आत्मविप्रतिषेध में फँसे हुए यह नहीं कह सकूँगा कि उसकी इच्छा स्वतंत्र है, और फिर भी इसके साथ ही साथ वह प्रकृति की अनिवार्यता के शासन के आधीन है, अर्थात् स्वतंत्र नहीं है; क्योंकि दोनों ही वाक्यों में मैं ने आत्मा को एक ही अर्थ, [अर्थात् एक सामान्य वस्तु के रूप में (स्वयं-सत्ताक वस्तु के)] में ग्रहण किया है, एवं बिना पूर्वगामी मीमांसा के किसी दूसरे अर्थ में ग्रहण कर भी नहीं सकता था। परन्तु यदि मीमांसा (उस समय) गलती नहीं करती जब कि वह यह शिक्षा देती है कि विषय को दो अर्थों में ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् एक तो अवभास के अर्थ में और दूसरे स्वयं-सत्ताक वस्तु के अर्थ में; यदि उसका बोध

१पा. किसी विषय को जानने के लिये यह आवश्यक है कि मैं उसकी संभाव्यता को (चाहे तो अनुभव के साक्ष्य पर आश्रित उसकी वास्तविकता के द्वारा अथवा बुद्धि के द्वारा स्वयंसिद्ध अप्रियॉरी प्रकार से) सिद्ध कर सकूँ। रही विचार करने की बात तो विचार तो मैं चाहे जिस वस्तु का कर सकता हूँ, शर्त केवल यह है कि अपनी बात का स्वयं खंडन न करूँ, अर्थात् मेरा संबोध केवल संभव विचार हो; फिर चाहे, यह प्रश्न उपस्थित होने पर कि सब संभवनाओं के योगफल में उस विचार के समनुरूप कोई पदार्थ है या नहीं, मैं भले ही इसका उत्तर न दे सकूँ। परन्तु ऐसे संबोध के संबंध में वास्तविक प्रामाणिकता (वास्तविक संभावना, क्योंकि प्रथम संभावना तो केवल यौक्तिक संभावनामात्र थी) का प्रतिपादन करने के लिये इससे कुछ अधिक बात आवश्यक है। परन्तु इस "कुछ अधिक बात" को ज्ञान के सैद्धान्तिक उद्गमों में ही खोजना आवश्यक नहीं है। यह व्यावहारिक (ज्ञान के उद्गमों) में भी स्थित हो सकती है।

वृत्ति के संबोधों का निगमन सही है और इसलिये कार्यकारण का सिद्धान्त प्रथम अर्थ में गृहीत वस्तुओं के संबंध में लागू होता है, अर्थात वहीं तक लागू होता है जहाँ तक वे अनुभव का विषय हैं, परन्तु यही विषय दूसरे अर्थ में ग्रहण किये जाने पर इस नियम के आधीन नहीं हैं—तब (तो) एक ही इच्छा अवभास में (अर्थात् अपने दृष्टिगोचर व्यापारों में) प्रकृति के नियमों का अनिवार्यतया अनुगमन करती है और उसी सीमा तक स्वतंत्र नहीं होती और फिर भी दूसरी ओर वही इच्छा स्वयं-सत्ताक वस्तु के रूप में अपने पर अधिकार रखते हुए उपर्युक्त नियम के आधीन नहीं होती एवं इसलिये स्वतंत्र समझी जाती है, और यह सब बिना किसी विसंवादिता के घटित हुए हो जाता है। अब यद्यपि मैं अपनी आत्मा को इस दूसरी दृष्टि से किसी मननात्मक बुद्धि के द्वारा (अनुभवात्मक निरीक्षण के द्वारा तो और भी कम) नहीं जान सकता; परिणामतः किसी ऐसे सत् पदार्थ के गुण के रूप में स्वतंत्रता को इस प्रकार से नहीं जाना जा सकता जिस (पदार्थ) को मैं इन्द्रियग्राह्य जगत् में कार्य उत्पन्न करने वाला कहता हूँ, क्योंकि ऐसा करने के लिये मुझे एक ऐसे सत्पदार्थ को जानना आवश्यक होगा जो अपनी सत्ता में तो नियंत्रित है पर कालावच्छिन्न नहीं है, जो कि असंभव बात है क्योंकि मैं इस संबोध का समर्थन किसी (इन्द्रिय) प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं कर सकता। इतना सब कुछ होने पर भी मैं स्वतंत्रता का विचार अवश्य कर सकता हूँ (यद्यपि उसको जान नहीं सकता), अर्थात् यदि हमारे द्वारा प्रतिपादित दो प्रत्युपस्थापन (फ़ौर्स्टैलुंग = रिप्रैज़ैण्टेशन) पद्धतियों का आलोचनात्मक भेद (ऐन्द्रिक और बौद्धिक) और तज्जन्य बोधवृति के शुद्ध संबोधों और उनसे प्रवाहित होने वाले आधारभूत सिद्धान्तों का परिसीमन ठीक ठीक संपादित हो गया हो तो स्वतंत्रता के प्रतिरूपण (या प्रत्युपस्थापन) में कम से कम कोई स्वगत विरोध नहीं होगा। अब यदि यह मान लिया जाए कि सदाचार (या नीति) (कठोरतम अर्थ में) स्वतंत्रता को हमारी संकल्पशक्ति के विशिष्ट लक्षण के रूप में अनिवार्यतया पूर्वस्थित मानता है, अर्थात् हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि यह ऐसे व्यावहारिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है, जो हमारी बुद्धि में मौलिक आधारभूत सिद्धान्त हैं और उसी बुद्धि के अनुभवमुक्त पूर्वस्थित स्वयंसिद्ध न्यास रूप हैं, और यह ऐसी बात है जो स्वतंत्रता की प्राक्स्थापना के बिना संभव नहीं है, किन्तु इसके साथ ही हम यह भी मान लें कि मननात्मक बुद्धि ने यह सिद्ध कर दिया था कि इस स्वतंत्रता की बात तो सोचे जाने तक के योग्य नहीं है, तब तो सदाचार के पक्ष में जो कल्पना प्रस्तुत की गई थी उसको अनिवार्यतया इस दूसरे पक्ष के समक्ष अपदस्थ होना पड़ेगा, जिसके विरोधी पक्ष में खुली विसंवादिता निहित है। इसी के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के और उसके साथ सदाचारता को भी प्रकृति

की यांत्रिकता के लिये अपना स्थान छोड़ देना पड़ेगा, क्योंकि यदि स्वतंत्रता की पूर्व स्थापना नहीं होगी, तो उसके विरोधी पक्ष में कोई विप्रतिषेध भी निहित नहीं होगा। परन्तु क्योंकि आचारशास्त्र के लिये मुझे इस के आगे और कुछ नहीं चाहिये कि स्वतंत्रता केवल स्वयं अपना विरोध न करे, और उसके विषय में अधिक समझना अनिवार्य हुए बिना वह कम से कम अपने विषय में विचार तो करने ही दे, एवं वह एक ही कार्य के दूसरे अर्थ में ग्रहण किये जाने पर, प्राकृतिक यांत्रिकता के अनुरूप होने के मार्ग में कोई भी वाधा न डाले, तो इस प्रकार से आचारशास्त्र अपने स्थान को सुस्थिर रखता है और भौतिक विज्ञान अपने स्थान को, परन्तु यदि इस मीमांसा ने हमको पहले ही स्वयं-सत्ताक वस्तु के संबंध में हमारे अपरिहार्य अज्ञान को न सिखा दिया होता, तथा प्रत्येक उस वस्तु को, जिसको हम सैद्धान्तिकरूप से जान सकते हैं, केवल अवभासिकता में सीमित न कर दिया होता, तो यह परिणाम भी घटित न हुआ होता। शुद्ध बुद्धि के आलोचनात्मक आधारभूत सिद्धान्तों के सुनिर्धारित उपयोगों का यही विवेचन ईश्वर और आत्मा के एकरस स्वरूप के संबोधों के संबंध में भी प्रदर्शित किया जा सकता है परन्तु इसको मैं संक्षिप्तता को दृष्टि में रखते हुए छाड़े देता हूँ। मैं अपनी बुद्धि के आवश्यक अपरिहार्य व्यावहारिक प्रयोग के लिये, ईश्वर, स्वतंत्रता और अमरता को एक बार मानकर तब तक नहीं चल सकता, जब तक कि इसके साथ ही साथ मैं मननात्मक बुद्धि को उसके अतिलौकिक अन्तर्दृष्टि के मिथ्याभिमान से वियुक्त न कर दूँ; क्योंकि इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करने के लिये उसको ऐसे आधारभूत सिद्धान्तों का प्रयोग करना पड़ेगा, जो वास्तव में केवल संभव अनुभव के विषयों तक पहुँचने वाले होने कारण, और जो यदि उन तत्वों के संबंध में प्रयुक्त किये जाएँ जो अनुभव का विषय नहीं हो सकते, तो उनको वास्तव में सर्वदा अवभासमात्र में परिणत कर देते हैं, और इस प्रकार शुद्ध बुद्धि के विस्तार को स्पष्टतया असंभव बना देते हैं। इस प्रकार विश्वास को अवकाश प्रदान करने के लिए मुझे ज्ञान को अवश्यमेव पदच्युत करना पड़ा। तथा पराविद्या संबंधी अयौक्तिक मतवाद––अर्थात् यह पूर्वग्रह कि वह शुद्ध बुद्धि की मीमांसा किये बिना प्रगति कर सकती है––ही उस अविश्वास का सच्चा उद्गम है, जो सर्वदा स्वमताभिमानी है, एवं जो आचारशास्त्र के साथ झगड़ा करने वाला है। यद्यपि इस प्रकार से शुद्ध बुद्धि की मीमांसा की माप या अनुपात के अनुसार निर्मित एक सुव्यवस्थित पराविद्या को भावी पीढ़ियों के लिये प्ररिक्थ के रूप में दान दे जाना कठिन कार्य नहीं होना चाहिये, तथापि यह तुच्छ समझा जाने के योग्य उपहार नहीं है। क्योंकि ऐसा हो जाने पर, चाहे केवल बुद्धि के बिना मीमांसा के निराधार इधर उधर भटकने और छिछोरेपन से चारों ओर चक्कर काटने की तुलना में उसके उस संस्कार को रखकर

देखा जा सकता है, जो सामान्यरूपेण उसको विज्ञान के सुनिश्चित मार्ग पर चलने से प्राप्त होता है, या हमारे उन जिज्ञासु नवयुवकों के समय के अधिक अच्छे सदुपयोग से भी देखा जा सकता है जो सामान्य अयौक्तिक मतवाद के द्वारा इतनी थोड़ी अवस्था में और इतना अधिक उन बातों पर सरलतापूर्वक विचार करने के लिये प्रोत्साहित हो जाते हैं, जिन बातों के विषय में कुछ भी नहीं समझते तथा जिनके विषय में उनको अथवा उन्हीं के समान दुनिया में और भी किसी व्यक्ति को कुछ भी अन्तर्दृष्टि नहीं प्राप्त हो सकती, (इतना ही नहीं) इससे भी आगे बढ़ कर वे नवीन विचारों और मतों का आविष्कार करने लग जाते हैं एवं ठोस आधार वाले गम्भीर विज्ञानों को सीखने में प्रमाद करते हैं। परन्तु यदि विचार किया जाए तो अत्युत्कृष्ट महान लाभ यह होगा कि सदाचार और धर्म के विरुद्ध सभी आपत्तियों को सुकराती पद्धति के अनुसार, अर्थात् विरोधियों के अज्ञान को अतीव स्पष्टता से सिद्ध करके समग्र भविष्यत काल के लिए समाप्त कर दिया जाएगा। क्योंकि संसार में किसी न किसी प्रकार की पराविद्या सर्वदा से रही है और आगे भी अवश्य रहेगी ही, और फिर इसके साथ ही साथ उससे संबद्ध शुद्ध बुद्धि की तर्क विद्या भी रहेगी, क्योंकि इस का साथ उसके लिये स्वाभाविक है; ऐसी अवस्था में दर्शनशास्त्र का यह सबसे प्रथम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है कि वह पराविद्या की गल्तियों के स्रोत को बन्द करके, उसके हानिकर प्रभाव को एक बार ही सर्वदा के लिये दूर कर दे।

विज्ञानों के क्षेत्र में इन महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तनों एवं मननात्मक बुद्धि की अपने कल्पित स्वत्वों की अपरिहार्य हानि के हो जाने पर भी सामान्य मानवीय हित उसी सुविधायुक्त स्थिति में बने रहते हैं जिसमें वे पहले से चले आ रहे थे, एवं वे सब लाभ भी जो कि संसार शुद्ध बुद्धि की शिक्षा से पाता था, बिना घटे यथापूर्व अनुकूल स्थिति में ज्यों के त्यों रहते हैं। हानि का संबंध केवल सम्प्रदायों के एकाधिकार तक सीमित रहता है, किन्तु वह मानवीय हितों को किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं करती। मैं कट्टर से कट्टर मतवादी से पूछता हूँ कि क्या सारद्रव्य की सरलता के आधार पर मृत्यु के पश्चात् आत्मा की निरन्तर बनी रहने वाली सत्ता की; या विषयी और विषय की व्यावहारिक विवशता के सूक्ष्म किन्तु अकिञ्चित्कर भेद के द्वारा प्रतिपादित सर्वव्यापी सामान्य यांत्रिकता के विरुद्ध इच्छा की स्वतंत्रता की, या सब से अधिक वास्तविक सत्ता के संबोध के आधार पर ईश्वर की सत्ता की (परिवर्तनशील तत्त्वों की संभाव्यता की एवं प्रथम गतिप्रवर्त्तक की आवश्यकता की) उपपत्तियाँ दार्शनिकों के कुलक्षेत्रों से बाहर निकलने के पश्चात् जनता के मन तक पहुँचने में, अथवा उनके विश्वासों पर लेशमात्र प्रभाव उत्पन्न करने में सफल हो सकी हैं या नहीं ? अब तक तो ऐसा कभी

हुआ नहीं, और साधारण मनुष्यों की समझ के ऐसे सूक्ष्म विचारों के लिए अनुपयुक्त होने के कारण ऐसा होने की आशा भी नहीं की जानी चाहिये थी। इसके विपरीत इस प्रकार के जन-व्यापक विश्वास, जहाँ तक कि वे बुद्धि के आधार पर आश्रित हैं बिलकुल दूसरे प्रकार के विचारों से प्रभावित हुए हैं। जहाँ तक प्रथम विश्वास अर्थात् आत्मा की अमरता (या भावी जीवन की आशा) का संबंध है, यह मानव के स्वभाव की उस विलक्षणता पर आश्रित है जो केवल क्षणिक से, जो उसके समग्र भागधेय के लिये नितान्त अपर्याप्त है, कदापि सन्तुष्ट होने वाली नहीं है; दूसरे विश्वास अर्थात् संकल्प की स्वतंत्रता की चेतना का आधार तो केवल मानवीय इन्द्रियों की प्रवृत्तियों के विरुद्ध मानव कर्तव्य का स्पष्ट प्रदर्शन है; और अन्त में तीसरा विश्वास अर्थात् सर्वज्ञ महान् जगत्स्रष्टा ईश्वर की सत्ता में विश्वास केवल उस प्रभुत्वशाली व्यवस्था, सुन्दरता एवं विश्वंभरी पूर्व विधान से उत्पन्न होता है, जो प्रकृति चारों ओर सर्वत्र दृष्टिगोचर है। दार्शनिकों के सम्प्रदायों के यह बात स्वीकार कर लेने पर कि वे उस विषय में जो कि मानवमात्र की सामान्य चिन्ता से संबंध रखता है, उससे उच्चतर और पूर्णतर अन्तर्दृष्टि रखने का दावा नहीं कर सकते, जितनी कि विशाल मानव समूह को भी समान रूपेण सरलतया प्राप्त हो सकती है, और परिणामतः अपने को उन्हीं उपपत्तियों के आधारों के अध्ययन तक सीमित कर देने पर जो कि सब के द्वारा समझे जाने के योग्य हों एवं सदाचार के उद्देश्यों के पर्याप्त हों, यह मानव की समग्र सम्पदा न केवल अविकल बच जाती है, प्रत्युत इस परिवर्त्तन से उसको और भी अधिक सम्मान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस परिवर्त्तन का प्रभाव केवल सम्प्रदायों के औद्धत्यपूर्ण दावों पर ही पड़ता है जो प्रसन्नतापूर्वक ऐसे सत्यों के अकेले ज्ञाता और भण्डारी माने जाना चाहेंगे, जैसे वे वास्तव में अनेकों अन्य विषयों में समुचितरूपेण हैं भी, और साधारण जनता को तो वे इसका उपयोग मात्र करने देंगे, किन्तु कुंजियों को अपने ही पास सुरक्षित रखना चाहेंगे—

....Quod mecum nescit, solust vult scire videri.

यह सब होते हुए चिन्तनशील दार्शनिकों के मर्यादित दावों का भी समुचित ध्यान रक्खा गया है। वह अब भी सर्वदा के लिये उस विज्ञान के संबंध में एकमात्र न्यासधारी बना रहेगा जो अनजाने में सर्वसाधारण के लिये उपयोगी है, तथा जिसका नाम है बुद्धि की मीमांसा। इसका कारण यह है कि यह ऐसा विज्ञान है, जो कभी सर्वजनप्रिय नहीं हो सकता, एवं इसके लिये ऐसा होने की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि जनसाधारण में जितनी कम इच्छा उपयोगी सत्यों के पक्ष की सूक्ष्म युक्तियों को समझने की होती है, उतनी ही कम चिन्ता उन के विपक्ष दी गई सूक्ष्म आपत्तियों को समझने की भी होती

है। इसके विपरीत क्योंकि दार्शनिक सम्प्रदायों और उनके साथ ही साथ प्रत्येक ऐसे मनुष्य को जो कि चिन्तन की ऊँचाई तक उठ चुका है, अनिवार्यतया इन दोनों (पक्ष और विपक्ष की युक्तियों) को जानना पड़ता है, अतएव यह उनका बाधित कर्तव्य है कि वे चिन्तनात्मक बुद्धि के अधिकारों की तलस्पर्शी खोज के द्वारा उस लोकापवाद को एकबारगी सदा के लिये समाप्त कर दें, जो उन झगड़ों के परिमाणस्वरूप उत्पन्न होती है जिनमें पराविद्यावेत्ता (और अन्ततोगत्वा उस रूप में धर्मशास्त्रवेत्ता भी) बिना मीमांसा के फँस जाते हैं और जो पीछे चल कर उनकी शिक्षा को दूषित कर देते हैं, तथा जो लोकापवाद देर-सबेर जनसाधारण में भी निश्चयमेव फूट पड़ती है। केवल इस मीमांसा के द्वारा ही भौतिकवाद, नियतिवाद, अनीश्वरवाद, स्वतंत्र-विचारात्मक श्रद्धाहीनता (या विश्वासशून्यता), धार्मिक हठ एवं मूढ़विश्वास की जो सर्वसाधारण के लिये हानिकारक हो सकते हैं, और अन्त में आदर्शवाद और संशयवाद की जो कि सम्प्रदायों के लिये अधिक भयावह होते हैं, तथा जो जनता में कठिनता से ही घुस सकते हैं, इन सब की जड़ कट जाएगी। यदि सरकारें विद्वद्वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप करना उचित समझती हों, तो यह बात विद्याओं और समाज दोनों ही के प्रति उनकी शुभचिन्तकता के बहुत दूर तक अनुरूप होगी कि वे दार्शनिक सम्प्रदायों की तानाशाही पर अनुग्रह करने की अपेक्षा (जो सम्प्रदाय, जब कभी उन मकड़ी के जालों को नष्ट किया जाता है जिनकी ओर जनता ने कभी ध्यान नहीं दिया, एवं इसी लिये जिनके विनाश को भी कभी अनुभव नहीं कर सकती) इस प्रकार की मीमांसा पर कृपादृष्टि रखें, केवल जिसके द्वारा बुद्धि के प्रयास को स्थिर आधार पर स्थापित किया जा सकता है।

यह मीमांसा विज्ञान के रूप में बुद्धि के शुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में उसकी अविमृष्ट मतवाद की पद्धति के विरुद्ध नहीं है [क्योंकि यह पद्धति तो सर्वदा अविमृष्ट मतवादात्मक होगी अर्थात् सुनिश्चित (अनुभव से पूर्व सिद्ध) अप्रियॉरी सिद्धान्तों के आधार पर कठोरतापूर्वक उपपत्ति प्रदान करने वाला होगा]; प्रत्युत केवल अयौक्तिक मतवाद का विरोध करती है, अर्थात् इस मान्यता के विरुद्ध है कि केवल दार्शनिक संबोधों से सिद्धान्तों के अनुसार शुद्ध ज्ञान के साथ प्रगति करना संभव है, जैसा कि बुद्धि पहले से उन संबोधों की उपलब्धि के प्रकार और औचित्य की विवेचना किये बिना चिरकाल से करती चली आई है। इस प्रकार स्वयं बुद्धि का अपनी क्षमता की पूर्व विवेचना किये बिना शुद्ध बुद्धि की अविमृष्टमतवाद की पद्धति का उपयोग ही है। हमारे इस विरोध का आशय न तो उस वाचाल छिछलेपन का समर्थन करना है जो जनप्रिय दर्शनशास्त्र के नाम को धारण करता है, और न उस संशयवाद को प्रश्रय देना है

दूसरे यह कारण था कि शेष भाग के संबंध में मुझे ऐसा नहीं लगा कि किन्हीं तत्त्ववेत्ताओं और निष्पक्ष परीक्षकों को कोई भ्रान्ति हुई हो। जो महानुभाव इस तथ्य के

तक के लिये समग्र ज्ञान के उपादान को ग्रहण करते हैं केवल श्रद्धा के आधार पर स्वीकार करना पड़े; और यदि कोई इस सत्ता पर सन्देह की बात अपने मन में लाए तो हम उस के सन्देहों के निराकरण करने के लिये सन्तोषप्रद उपपत्ति प्रस्तुत करने में असमर्थ रहें। क्योंकि इस उपपत्ति की वाक्यव्यंजना में कुछ अस्पष्टता पायी जाती है, अतएव मेरी इच्छा है कि इस अवतरण को इस प्रकार बदल दिया जाए: "परन्तु यह स्थायी तत्व मेरे भीतर का कोई संवित् या अनुभव नहीं हो सकता। क्योंकि मेरी सत्ता को अध्यवसित करने वाले सब आधार जो कि मुझ में पाए जा सकते हैं प्रत्युपस्थापनाएँ हैं और ऐसा होने के कारण स्वयं अपने से भिन्न स्वतंत्र स्थायी तत्व की अपेक्षा रखते हैं, जिसके सम्पर्क में उनका परिवर्तन, तथा इसीलिये जिस में वे बदलते हैं उसमें मेरी सत्ता, अध्यवसित हो सके। इस उपपत्ति के विरोध में स्यात् यह कहा जाएगा कि तो भी अपरोक्षरूपेण मुझे केवल उसी वस्तु का ज्ञान होता है जो मेरे भीतर है, अर्थात जो वाह्य वस्तु को मेरी अपनी प्रत्युपस्थापना है, परिणामतः यह बात फिर भी सर्वदा अनिर्णीत ही बनी रहेगी कि इस (प्रत्युपस्थापना) के अनुरूप कोई वस्तु मुझ से बाहर है, या नहीं। परन्तु आन्तरिक अनुभव द्वारा मैं काल में अपनी सत्ता का भान रखता हूँ (सुतरां काल में उसकी अध्यवसायिता का भी भान रखता हूँ) और यह केवल अपनी प्रत्युपस्थापना का भान रखने से अधिक है, किन्तु फिर यह अपनी सत्ता के आनुभविक भान से अभिन्न है जो केवल किसी वस्तु के संबंध द्वारा अध्यवसित होने योग्य है, जो मेरी सत्ता के साथ बँधे होने पर भी मुझसे बाहर है। इस प्रकार समय में मेरी अपनी सत्ता का यह भान मुझसे बाहर की किसी वस्तु के संबंध की चेतना के साथ अभिन्नता के भाव से आबद्ध है। इस प्रकार वह अनुभव है भ्रम नहीं; इन्द्रियदत्त बोध है कल्पना नहीं, जो इस बाह्य (यत्किञ्चित्) को मेरे अन्तर के साथ अविच्छेद्य भाव से ग्रथित करता है; क्योंकि बाह्येन्द्रिय तो पूर्वतः ही स्वयं मेरे से वास्तव में बाहर स्थित यत्किंचित् के साथ अनुभव का संबंध है, एवं इस बाह्येन्द्रिय की वास्तविकता (जो इस को कल्पना से पृथकता प्रदान करती है) केवल उस बात पर निर्भर है जो यहाँ घटित होती है, अर्थात इसकी संभावना की शर्त के रूप में इसके आन्तरिक अनुभव के साथ अविच्छेद्य भाव से संबद्ध होने पर निर्भर है। अपने अस्तित्व की बौद्धिक चेतना के साथ, "मैं हूँ" इस प्रत्युपस्थापना में, (जो मेरे सब निर्णयों और बोधवृति के व्यापारों की सहचर है) यदि मैं युगपत् बौद्धिक अन्तर्प्रत्यक्ष के द्वारा अपनी सत्ता के अध्यवसाय को भी संपृक्त कर सकता तो किसी बाह्यवस्तु के साथ संबंध की चेतना की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु यद्यपि वह बौद्धिक चेतना सचमुच प्रथम आती है तथापि आन्तरिक अनुभव केवल जिसमें मेरी सत्ता अध्यवसित हो सकती है इन्द्रियात्मक है और समय की अवस्था के साथ आबद्ध है। परन्तु यह अध्यवसाय और इसी कारण स्वयं आन्तरिक अनुभव भी किसी ऐसे स्थायी तत्व पर निर्भर हैं मेरे भीतर नहीं है, अतएव वह केवल किसी बाह्य वस्तु में ही हो सकता है जिस वस्तु के साथ मुझे अपने को संबंध में आबद्ध मानना पड़ेगा ही। अतः सामान्यतया अनुभव संभावनामात्र के लिये बाह्येन्द्रिय की वास्तविकता अन्तरिन्द्रिय की यथार्थता के साथ अपरिहार्यतया बँधी हुई

विना भी, कि मैं उनका नामोल्लेख उनके योग्य प्रशंसा के साथ करने का साहस करूँ, स्वयं देखेंगे कि मैं ने जो ध्यान उनके सुझावों को दिया है, उसका पता बड़ी सरलता से उपर्युक्त नवीन परिवर्तित स्थलों पर लग जाएगा। परन्तु इस सुधार के साथ ही साथ पाठक को होने वाली एक छोटी सी हानि भी बँधी हुई है जिसको पुस्तक को विपुलाकार बनाए विना नहीं टाला जा सकता था, अर्थात् कई ऐसे स्थलों को या तो छोड़ देना या संक्षिप्त कर देना पड़ा, जो समग्र रचना की परिपूर्णता के लिये तो सार-भूत नहीं थे परन्तु फिर भी जिन का अभाव अनेकों पाठकों को अखरेगा, क्योंकि वे अन्य लक्ष्य की दृष्टि से उपयोगी हो सकते थे। यह इसलिये करना पड़ा कि ऐसा करने से ही मुझे उस व्याख्यान के लिये स्थान प्राप्त हो सका, जो मैं आशा करता हूँ, अब पूर्वा-पेक्षा अधिक बोधगम्य हो गया है, जिसमें स्थापनाओं के आधारभूत तत्त्वों और उनकी उपपत्तियों तक में तो बिलकुल भी परिवर्त्तन नहीं किया गया है, परन्तु तो भी जो विवरण की पद्धति में यत्र तत्र पूर्व संस्करण से इतना हटी हुई है कि बीच बीच में प्रक्षेपणों के द्वारा काम नहीं चलाया जा सकता था। फिर यह छोटी सी हानि, जिसको

है; अर्थात् मुझे इस बात का भी उतना ही निश्चित भान है कि मुझ से बाहर वस्तुओं की सत्ता है जो मेरी इन्द्रियों से संबद्ध हैं, जितना इस तथ्य का कि मैं स्वयं प्रवाह में अध्यवसित हुआ विद्यमान हूँ। यह निर्धारित करने के लिये कि मुझ से बाहर के कौन से पदार्थ मेरे कौन से प्रत्यक्षों के वास्तव में अनुरूप हैं और जो इस प्रकार बाह्येन्द्रिय से संबंध रखते हैं (जिनका श्रेय बाह्येन्द्रिय को न कि कल्पना शक्ति को), हमको प्रत्येक प्रसंग में उन नियमों का प्रयोग करना होगा जिनके अनुसार सामान्यरूपेण अनुभव (और आन्तरिक अनुभव भी) कल्पना से पृथक् किया जाता है—पर इस सब के साथ यह स्थापना तो नित्य ही पृष्ठभूमि में स्वीकृत मानी जाएगी कि बाह्यानुभव वास्तविक है। इससे आगे चलकर ध्यान देने योग्य एक यह बात और कही जा सकती है कि सत्ता वाले किसी स्थायी तत्व की प्रत्युपस्थापना और स्थायी प्रत्यु-पस्थापना यह दोनों अभिन्न नहीं हैं; क्योंकि यद्यपि स्थायी तत्व की यह प्रत्युपस्थापना अत्यन्त क्षणिक और परिवर्त्तनशील हो सकती है जैसी हमारी सब अन्य प्रत्युपस्थापनाएँ होती हैं, यहाँ तक कि स्वयं भौतिक तत्व की प्रत्युपस्थापनाएँ भी इसका अपवाद नहीं हैं, तथापि उसका संबंध किसी स्थायी तत्व से ही होता है जिसको मेरी सब प्रत्युपस्थापनाओं से पृथक् और बाह्य वस्तु होना चाहिये, जिसका अस्तित्व मेरी सत्ता के अध्यवसाय में अवश्यमेव सम्मिलित होना चाहिये, और इस के साथ मिलकर उसको केवल ऐसे एक अभिन्न अनुभव का निर्माण करना चाहिये, जो आन्तरिक अनुभव के रूप में तब तक घटित नहीं हो (सके) गा जब तक कि वह इस के साथ ही साथ आंशिकरुपेण बाह्य (भी) न हो। यह कैसे संभव है? इस प्रश्न को और अधिक स्पष्ट करने में हम इतने ही कम समर्थ हैं जितने कि नित्य तत्व का कालप्रवाह में चिन्तन करने में, जिस (नित्य तत्त्व) का परिवर्त्तनशील के साथ साहचर्य अन्यथाभाव (या विकृति) के संबोध को जन्म देता है।

प्रत्येक पाठक यथेच्छ प्रकार से प्रथम संस्करण के साथ तुलना करके भी पूरी कर सकता है, मैं आशा करता हूँ, नवीन संस्करण की अपेक्षाकृत अधिक प्रासादिकता से अति प्रचुरतया पूरित हो जाएगी। मैं ने विभिन्न प्रकाशित रचनाओं में (कुछ तो बहुत सी पुस्तकों की आलोचनाओं के प्रसंग में और कुछ विभिन्न स्वतंत्र ग्रंथों में) धन्यवादपूर्ण आह्लाद के साथ देखा है कि जर्मनी में गंभीर पाण्डित्य की भावना मरी नहीं है, प्रत्युत अल्प काल के लिये दिखावे वाले विचार स्वातंत्र्य के फैशन के तुमुलनाद में डूब भर गयी है तथा मैं ने यह भी देखा है कि इस मीमांसा (जो नियमबद्ध शुद्ध बुद्धि के विज्ञान की ओर ले जाने वाली है एवं जो विज्ञान इसी कारण केवल एकमात्र स्थायी एवं परमा-वश्यक शुद्ध बुद्धि का विज्ञान है) के कण्टकाकीर्ण मार्ग ने साहसी और निर्मल मस्तिष्कों को इस ग्रंथ के अधिकारी विद्वान् बनने में बाधा नहीं डाली है (अथवा हतोत्साह नहीं किया है)। मैं इन योग्य पुरुषों के ऊपर, जो अन्तर्दृष्टि की तलस्पर्शिता के साथ सौभाग्यवश विशद व्याख्या करने वाली प्रतिभा से सम्पन्न हैं (जिस प्रतिभा की सत्ता का भान मुझे अपने अन्तर में नहीं है) अपनी इस रचना में यत्र तत्र अब तक पायी जाने वाली व्याख्या संबंधी त्रुटियों को पूर्ण करने का भार छोड़ता हूँ क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में युक्तियों द्वारा निराकरण या खंडन का भय बिलकुल नहीं है, भय है तो न समझे जाने का है। अपनी ओर से मैं अब आगे भविष्य में अपने को विवादों में तो नहीं पड़ने दूँगा, तथापि इस भूमिका के सिद्धान्तों के अनुसार, परीक्षणात्मक दर्शनशास्त्र के अधिकाधिक विशदीकरण के लिये उन सब सुझावों पर बड़ी सावधानी से विचार करूँगा जो मुझे प्राप्त होंगे, फिर चाहे वे मित्रों से मिले अथवा प्रतिपक्षियों से। क्योंकि इस श्रमपूर्ण व्यवसाय में लगा हुआ मैं वर्षों की गणना के कुछ काफ़ी आगे बढ़ गया हूँ (इस महीने में मैं चौंसठवें वर्ष में पहुँच रहा हूँ), अतएव यदि मुझको प्रकृति की पराविद्या और आचार की पराविद्या को प्रस्तुत कर देने की अपनी प्रस्तावित योजना को पूरा करने में सफलता प्राप्त करनी है जो चिन्तनात्मक और व्यवहारात्मक बुद्धि के क्षेत्रों में मेरी भी मीमांसा की सत्यता को पुष्ट कर देंगी, तो मुझको अपने समय का उपयोग मितव्ययता के साथ करना होगा, और प्रस्तुत रचना की अस्पष्टताओं को, (जो प्रारम्भिक उद्यम में कठिनता से ही वर्जित हो सकती हैं) स्पष्टीकरण और इस समग्र दर्शनसंस्थान के संरक्षण के काम के लिये निश्चय ही उन योग्य पुरुषों की प्रतीक्षा करनी होगी जिन्होंने इस दर्शन को अपना मान कर अंगीकार कर लिया है। प्रत्येक दार्शनिक रचना या विवेचना कहीं कहीं एकाध विरल पर आपत्ति उठाने के योग्य हो सकती है, क्योंकि वह गणित की रचना के समान सर्वांग में लौहवर्म से आवृत नहीं हो सकती तो भी समग्र दर्शन की संघटना एक इकाई के रूप में इस प्रकार

का लेशमात्र भय नहीं हो सकता। यदि कोई दर्शन नवीन हो तो उससे परिचित होने की बहुमुखी बुद्धिप्रवणता थोड़े से ही व्यक्तियों में पायी जाती है और क्योंकि नवीनता के प्रति मानवस्वभाव को सामान्यतया अरुचि होती है, अतएव नवीन दर्शन से परिचित होने की कामना तो और भी कम व्यक्तियों को होती है। यदि इक्का दुक्का स्थलों को उनके संदर्भों से हटा कर एक दूसरे के समक्ष रख कर उनकी तुलना की जाए तो, विशेष कर एक ऐसे ग्रंथ में जो स्वतंत्र शैली में लिखा गया हो, आपाततः कितनी भी विसंवादिताएँ छाँट कर निकाली जा सकती हैं, जो विसंवादिताएँ दूसरों के निर्णय पर निर्भर रहने वाले मनुष्यों की दृष्टि में ऐसी रचना को प्रतिकूल प्रकाश में प्रस्तुत करती हैं, किन्तु उन लोगों की दृष्टि में जिन्होंने कि समग्र ग्रंथ के आशय को स्वयं आत्मसात् कर लिया, वे सब बड़ी सरलता से निराकृत हो जाती हैं। फिर भी यदि किसी सिद्धान्त में स्थायित्व होता है, तो निन्दा और स्तुति की क्रिया और प्रतिक्रिया जो कि आरंभ में अत्यन्त भयपूर्ण मालूम पड़ती है, कुछ समय के पश्चात् उसकी विषमताओं को घिसघिसा कर दूर करने में सहायक ही सिद्ध होती है और जब निष्पक्षता, अन्तर्दृष्टि और सच्ची जनप्रियता से सम्पन्न व्यक्ति को इसके साथ व्याप्त कर देते हैं तो थोड़े ही समय में इसको अपेक्षित चारुता भी प्राप्त हो जाती है।

केओनिग्सबर्ग, अप्रैल १७८७।

विषय प्रवेश

शुद्ध और अनुभवजन्य ज्ञान का भेद

इस विषय में बिलकुल भी सन्देह नहीं है कि हमारा समग्र ज्ञान अनुभव से आरंभ होता है; क्योंकि जो विषय हमारी इन्द्रियों को स्पर्श करते हैं और अंशतः स्वयं प्रत्युपस्थापनाओं को उत्पन्न करते हैं, अंशतः, इन प्रत्युपस्थापनाओं की तुलना करने, उनको संयुक्त या पृथक् करके इन्द्रियगृहीत संवेदनों की अनिर्मित सामग्री विषयों के उस ज्ञान के रूपनिष्पन्न करने के लिये जिसको अनुभव कहते हैं, हमारी बोधवृत्ति की सक्रियता को जगाते हैं, उनके द्वारा यदि हमारी ज्ञान-शक्ति अपने कार्य में संलग्न होने के लिये न जागृत हुई, तो अन्यथा कैसे जागेगी ? इस प्रकार कालक्रम के अनुसार हमारा कोई भी ज्ञान अनुभव का पूर्ववर्ती नहीं है, तथा अनुभव के साथ समग्र (ज्ञान) आरंभ होता है ।

परन्तु यद्यपि हमारा समग्र ज्ञान अनुभव के साथ आरंभ होता है, तथापि इससे यह तात्पर्य नहीं है कि वह सब अनुभव से उत्पन्न होता है। क्योंकि ऐसा होना बिलकुल संभव है कि हमारा अनुभवात्मक ज्ञान दो तत्त्वों का सम्मिश्रण है, जिनमें से एक तत्त्व वह है जिसको हम इन्द्रियों पर पड़ी विषयों की छाप से प्राप्त करते हैं, और दूसरा वह जिसको हमारी ज्ञानशक्ति, (इन्द्रियों पर पड़ी छाप) जिसकी क्रिया को प्रेरित करने का अवसरमात्र प्रदान करती है, स्वयं अपनी ओर से प्रदान करती है, एवं जिस पूरक तत्त्व को हम तब तक अनिष्पन्न सामग्री से पृथक् करने में समर्थ नहीं हो पाते, जब तक कि दीर्घ कालीन अभ्यास हम को इस विषय में अवधानप्रवण और इसको पृथक् करने के योग्य नहीं बना देता ।

इस प्रकार यह प्रश्न कि क्या ऐसा ज्ञान हो सकता है या नहीं जो उपर्युक्त प्रकार से अनुभव और इन्द्रियों पर अंकित समग्र विषयों के संवेदनों या छापों से भी स्वतंत्र है, ऐसा प्रश्न है जो कम से कम पूर्वापेक्षा और अधिक सूक्ष्म परीक्षण की अपेक्षा करता है, एवं ऐसा नहीं है कि इसको प्रथम दृष्टिपातमात्र से समाप्त कर दिया जाए । इस प्रकार के ज्ञान को प्रागनुभवज्ञान कहा जाता है, एवं इसको उस ज्ञान से भिन्न माना जाता है जो अनुभव से प्रसूत है ।

परन्तु यह 'प्रागनुभवज्ञान' उक्ति भी तो अभी इतनी सुनिश्चित नहीं है कि जो उपर्युक्त प्रश्न के संपूर्ण आशय को ठीक ठीक सूचित कर सके। क्योंकि जो बहुत सा ज्ञान अनुभव के स्रोत से उपलब्ध होता है, उसके विषय में भी यह कहने की प्रथा पड़ गई है कि या तो हम इस ज्ञान को प्रागनुभवी प्रकार से जानने की क्षमता रखते हैं अथवा इसमें भागीदार हैं, और यह इस कारण से कि हम इस ज्ञान को सीधे प्रक्षतया अनुभव से व्युत्पादित नहीं करते, प्रत्युत एक सामान्य नियम से प्राप्त करते हैं जो स्वयं अनुभव उधार लिया गया है। उदाहरणार्थ जिस मनुष्य ने अपने घर की नींव खोद डाली हो, उसके विषय में कहा जाता है कि यह बात तो वह अनुभव के पूर्व जान सकता था कि ऐसा करने से मकान गिर पड़ेगा, अर्थात् उसको इस अनुभव की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं थी कि मकान वास्तव में गिर ही पड़े। परन्तु तो भी इस बात को पूर्णतया प्रागनुभवी पद्धति से नहीं जान सकता था। क्योंकि शरीर-संघात भारवान् होते हैं, और इसीलिये जब उनका सहारा हटा लिया जाता है तो वह गिर जाते हैं, यह सामान्य नियम तो उसको पहले अनुभव के द्वारा ही ज्ञात हो सका होगा।

इसलिये इस रचना में आगे जब हम प्रागुनभवी ज्ञान शब्द का प्रयोग करेंगे, तब उससे हमारा आशय ऐसे ज्ञान से नहीं होगा जो इस या उस अनुभव से स्वतंत्र है, प्रत्युत उस ज्ञान से होगा जो सब प्रकार के अनुभवों से नितान्त स्वतंत्रतया घटित होता है। इसके विपरीत वे ज्ञान हैं जो अनुभवप्रसूत हैं, जो केवल पश्चात्भावी होते हैं, अर्थात् अनुभव के द्वारा ही संभव होते हैं। प्रागनुभवी ज्ञानों में से भी वे ज्ञान शुद्ध ज्ञान कहे जाते हैं जो अनुभवजन्य ज्ञान के साथ लेशमात्र भी मिश्रित नहीं होते। उदाहरणार्थ यह कथन कि, प्रत्येक परिवर्त्तन का कोई कारण होता है, प्रागनुभवी कथन तो है, परन्तु शुद्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि 'परिवर्त्तन' एक ऐसा संबोध, है, जो अनुभव से प्राप्त किया जा सकता है।

२

हम सब को असंदिग्ध प्रागनुभवी ज्ञान प्राप्त हैं, और सामान्य बोधवृत्ति भी कभी ऐसे ज्ञान से रहित नहीं होता

अब हमको एक ऐसी कसौटी चाहिये जिससे हम निश्चयरूप से शुद्धज्ञान को अनुभवजन्य ज्ञान से पृथक् कर सकें। यह सच है कि अनुभव हमको सिखाता है कि अमुक वस्तु इस या उस प्रकार से निर्मित है, पर यह नहीं सिखाता कि वह जैसी है उससे भिन्न नहीं हो सकती। प्रथमतः यदि कोई ऐसी स्थापना हो जिसका विचार करने के साथ उसकी अवश्यंभाविता का भी विचार जुड़ा हो, तो वह प्राग्ज्ञान निर्णय है;

इसके अतिरिक्त यदि किसी ऐसी स्थापना को छोड़कर जो स्वयं उसी के समय अवश्यं-भाविता की प्रामाणिकता को लिये है, अन्य किसी स्थापना से निष्पादित न हुई हो, तो यह स्थापना एकान्ततः प्राग्ज्ञान विभावना है। दूसरे, अनुभव अपनी विभावनाओं या निर्णयों को कदापि कठोर सर्वगतता प्रदान नहीं करता, प्रत्युत (उद्गमन के द्वारा) केवल मान ली हुई और तुलनात्मक सर्वगतता प्रदान करता है। इसलिये वास्तव में तो यह कहना चाहिये कि अब तक हमने जितना निरीक्षण किया है, वहाँ तक इस अथवा उस नियम का कोई अपवाद नहीं मिला है। तो इस प्रकार यदि किसी निर्णय या विभावना का विचार कठोर सर्वगतत्त्व के साथ किया जाए, अर्थात् उसके प्रति किसी भी अपवाद को संभव न माना जाए, तो यह मानना पड़ेगा कि वह अनुभवजात नहीं है, प्रत्युत एकान्ततः प्रामाणिक प्रागनुभवी है। परिणामतः अनुभवगम्य सर्वगतत्त्व तो केवल उस प्रामाणिकता का, जो अधिकतम प्रसंगों में लागू होती है, उस दूसरी प्रामाणिकता के रूप में स्वच्छन्द विस्तार है जो प्रामाणिकता सर्वत्र लागू होती है, जैसा कि उदाहरणार्थ इस प्रस्थापना में है--सब शरीरसंघात भारवान् होते हैं। इसके प्रतिकूल जहाँ कठोर सर्वव्याप्ति किसी विभावना या निर्णय की सराङ्गभूत होती है, तो वह ज्ञान के विशिष्ट स्रोत या उद्गम को सूचित करती है; अर्थात् प्रागनुभवी ज्ञान शक्ति को सूचित करती है। इस प्रकार अवश्यंभाविता और कठोर, अपवाद रहित सर्वव्याप्ति प्रागनुभवी ज्ञान की अचूक कसौटी है, और परस्पर अविभाज्य-तया नित्यसंबद्ध हैं। परन्तु क्योंकि व्यवहार में इन कसौटियों का उपयोग करने पर कभी तो विभावना में यदृच्छा की अपेक्षा आनुभविक मर्यादा को प्रदर्शित करना अधिक सरल होता है, अथवा कभी ऐसा भी स्पष्ट प्रतीत है कि उन विभावनाओं की अनिवार्यता की अपेक्षा उनकी अपरिच्छिन्न सर्वव्याप्ति को अपेक्षाकृत अधिक विश्वासोत्पादकता के साथ सिद्ध किया जा सकता है, अतएव यह आदेष्टव्य है कि उप-र्युक्त दोनों कसौटियों का उपयोग पृथक् पृथक् किया जाए, क्योंकि इन दोनों में से प्रत्येक स्वयं अमोघ है।

अब रहा यह प्रदर्शित करना कि इस प्रकार के अवश्यंभावी और कठोरतम अर्थ में सर्वव्याप्त, अतएव शुद्ध प्रागनुभवात्मक निर्णय मानवीय ज्ञान में वास्तव में उपलब्ध होते हैं, तो यह एक सरल कार्य है। यदि इस तथ्य का उदाहरण विज्ञानों के क्षेत्र में से लेना अभीष्ट हो, तो गणित की सब स्थापनाओं में से किसी पर भी दृष्टि डालनामात्र पर्याप्त है; यदि इस प्रकार का उदाहरण बोधवृत्ति के सामान्यतम उपयोगों के क्षेत्र में खोजना इष्ट हो तो इस स्थापना से काम चल जाएगा कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होना चाहिये। इस द्वितीय प्रसंग में सचमुच ही कारण के संबोध

में ही कार्य के साथ उसके संबंध की अनिवार्यता (=अवश्यंभाविता) का संबोध और नियम की कठोर सर्वव्याप्ति का संबोध इतनी स्पष्टता के साथ सन्निविष्ट होता है कि यदि, जैसा ह्यूम ने किया था, उसी के अनुसार, जो घटित हुआ है तथा जो उसका पूर्ववर्ती था इन दोनों के साहचर्य की वारंवार पुनरावृत्ति से,और इस पुनरावृत्त साहचर्य से उत्पन्न होने वाली एवं प्रत्युपस्थापनाओं को संबद्ध करने वाली रूढ़ि से इस कारण संबोध को व्युत्पादित करने की चेष्टा करें, तो (क्योंकि रुढ़ि के आधार पर तो केवल विषयीगत अवश्यंभाविता उपलब्ध होगी) यह संबोध पूर्णतया विलुप्त हो जाएगा। मानवीय अनुभव में शुद्ध प्रागनुभवी आधारभूत सिद्धान्तों की वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त उदाहरणों की आवश्यकता को एक ओर रख कर भी स्वयं अनुभव की संभावना के निमित्त उनकी अनिवार्यता का प्रतिपादन किया जा सकता है और इस प्रकार उनका प्रागनुभवी होना सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि, यदि वे सब नियम, जिनका अनुसरण अनुभव किया करता है, सर्वदा अनुभवाश्रित होते और इसी कारण यादृच्छिक होते, तो स्वयं अनुभव को ही अपनी सुनिश्चितता कहाँ से उपलब्ध होती ? इस प्रकार के नियम तो मुश्किल से ही प्राथमिक आधारभूत सिद्धान्त माने जा सकते हैं। यहाँ तो हम इतने पर संतोष कर सकते हैं कि हमने यह तथ्यरूपेण निर्धारित कर दिया कि हमारी ज्ञानवृत्ति का शुद्ध उपयोग होता है, और इसके साथ यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस उपयोग के जानने के लक्षण या चिह्न क्या हैं। परन्तु केवल विभावनाओं में ही नहीं, प्रत्युत स्वयं कुछ संबंधों तक में उनका उद्गम स्पष्ट प्रागनुभवात्मक प्रतीत होता है। शरीर के अनुभवजन्य संबोध में से एक के पश्चात् एक उन सब गुणों को हटाते जाइए जो उसमें अनुभव के द्वारा पाये जाते हैं—अर्थात् रंग, कठोरता या मृदुता, भारीपन, अप्रवेश्यता इत्यादि सबको हटा दीजिए, तब भी वह देश शेष बच रहता है जिसको वह शरीर, जो अब बिलकुल विलुप्त हो चुका है, अधिकृत किये हुए था, और उसको तुम हटा नहीं सकते। इसी प्रकार, यदि तुम अपने किसी शरीरी अथवा अशरीरी विषय के अनुभवजन्य संबोध में से उन सब गुणों को हटा दो जिनको अनुभव ने सिखाया है, तो भी तुम उस गुण को नहीं हटा सकते जिसके द्वारा उसको पदार्थ के रूप में अथवा पदार्थाश्रित रूप में चिन्तन किया जाता है (यद्यपि सामान्य विषय के संबोध की अपेक्षा इस संबोध में अधिक निश्चितता रहती है)। अतएव, जिस अनिवार्यता के द्वारा यह संबोध स्वयं अपने को बलात् तुम्हारे ऊपर आरोपित करता है, उससे बाधित होकर तुम को यह मानना पड़ेगा कि इसका स्थान तुम्हारे प्रागनुभवी ज्ञान में है।

३

फ़िलासफ़ी (दर्शनशास्त्र) को एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता है, जो समग्र प्रागनुभवी ज्ञान की संभावना, सिद्धान्तों तथा अधिकार क्षेत्र का निर्धारण कर सके

परन्तु सब पूर्वोक्त कथनों की अपेक्षा जो कहीं अधिक महत्वपूर्ण बात कहनी है, वह यह है कि कुछ ज्ञान सब संभव अनुभवों के क्षेत्र को पीछे छोड़ जाते हैं, एवं ऐसे संबोधों के द्वारा, (जिनके अनुरूप विषय हमारे अनुभव क्षेत्र में कभी भी उपलब्ध नहीं हो सकता) हमारी विभावनाओं के क्षेत्र को सब अनुभव संबंधी मर्यादाओं के आगे विस्तृत कर देने का आभास उत्पन्न करते हैं।

और ठीक इसी अन्तिम प्रकार के ज्ञानों में, जो इन्द्रियजगत् का अतिक्रमण करने वाले हैं, जहाँ अनुभव न तो हमारा पथ प्रदर्शन कर सकता है और न संशोधन, हमारी बुद्धि के अनुसंधान चलते हैं, जिनको हम उन सब ज्ञानों की अपेक्षा (जिनको हमारी बोधवृत्ति अवभासों के क्षेत्र में सीख सकती है) उन अनुसंधानों के महत्व के कारण कहीं अधिक उत्तम और अन्तिम लक्ष्य की दृष्टि से कहीं अधिक उदात्त मानते हैं, जिसके कारण इसकी अपेक्षा कि हमको दुविधावश अथवा उदासीनता एवं अवहेलना के कारण ऐसे महत्वपूर्ण अनुसंधानों को त्याग देना पड़े, हम सब कुछ की बाजी लगा देते हैं, यहाँ तक कि पथभ्रष्ट होने तक के भय को भी मोल ले लेते हैं। शुद्ध बुद्धि की स्वयं अपनी यह अपरिहार्य समस्याएँ तीन हैं; ईश्वर, स्वाधीनता और अमरता। और वह विज्ञान जिसका अन्तिम लक्ष्य अपनी समग्र तैयारी के साथ इन समस्याओं को सुलझानामात्र है, पराविद्या कहलाता है, तथा जिसकी पद्धति आरंभ में वैधिकी होती है, अर्थात् पहले पहल यह विज्ञान इस महान् उपक्रम को सम्पादित करने के लिये बुद्धि की क्षमता या अक्षमता का पूर्व परीक्षण किये बिना ही आत्म विश्वास के साथ कार्य करने में जुट जाता है।

अब यह बात नितान्त स्वाभाविक प्रतीत होती है कि ज्योंही अनुभव के ठोस आधार को त्याग दिया जाता है, त्योंही यह नहीं होगा कि हमारी उस जानकारी से, जिसके विषय में यह पता नहीं कि वह कहाँ से प्राप्त हुई है और उन सिद्धान्तों के भरोसे पर जिनके उद्गम का ज्ञान नहीं, तत्काल एक भवन बना कर खड़ा कर दिया जाए, बिना इसके कि चिन्तापूर्ण खोज के द्वारा पहले से ही स्वयं उसकी नींव के विषय में सुनिश्चितता न हो गई हो और यह भी स्वाभाविक है कि यह प्रश्न बहुत पहले उठाया जाए कि हमारी बोध-वृत्ति को यह सब प्रागनुभवी ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ और इसका

आयाम, प्रामाणिकता और मूल्य क्या है । वास्तव में यदि 'स्वाभाविक' का अर्थ हो वह जो औचित्य और सविवेकता के साथ घटित होना चाहिये, तो उपर्युक्त कथन की अपेक्षा अन्य कुछ भी अधिक स्वाभाविक नहीं हो सकता; परन्तु यदि यह शब्द उसको समझा जाए जो सामान्यतया घटित हुआ करता है, तो फिर दूसरी ओर इसके अतिरिक्त अन्य कोई बात अधिक स्वाभाविक और समझ में आने योग्य नहीं हो सकती कि उपर्युक्त अनुसंधान इतने दीर्घकाल तक अवरुद्ध पड़ा रहा । क्योंकि इस ज्ञान का एक खण्ड, अर्थात् गणितशास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से निर्भर योग्यता को प्राप्त किये हुए है, और उसके द्वारा अन्य खण्डों के विषय में भी अनुकूल आशा बँधाता है, फिर चाहे यह अन्य खण्ड नितान्त भिन्न प्रकार के ही क्यों न हों । इसके अतिरिक्त, ज्योंही कोई अनुभव की परिधि के बाहर हुआ, वह इस विषय में सुनिश्चित हो जाता है कि अनुभव के द्वारा उसका प्रतिवाद नहीं होगा । अपने ज्ञान को अधिक विस्तीर्ण करने का आकर्षण इतना महान् है कि कोई भी व्यक्ति केवल स्पष्ट विप्रतिषेध से टकरा कर ही इस दिशा में अपनी प्रगति में अवरुद्ध हो सकता है । परन्तु इसका परिहार किया जा सकता है, यदि हम अपनी मनः-कल्पना की रचना सावधानी से करें, तथापि ऐसा होने पर भी वह रहेगी मात्र मनः-कल्पना ही (उससे अधिक और कुछ नहीं) । हम अनुभव से पूर्णतया स्वतंत्र रहते हुए भी प्रागनुभव ज्ञान में कितनी दूर आगे बढ़ सकते हैं, इस बात का ज्वलन्त उदाहरण गणितशास्त्र है । सचमुच ही गणित विषयों और ज्ञान के साथ अपने को उतनी ही दूर तक व्यापृत करता है जितनी दूर तक वे स्वयं दृक्प्रत्यक्ष में प्रत्युपस्थापित होने योग्य होते हैं । पर इस परिस्थिति की उपेक्षा सरलता से हो जाया करती है, क्योंकि उपर्युक्त दृक्प्रत्यक्ष स्वयं प्रागनुभवात्मक प्रकार से उपलब्ध हो सकता है, अतएव उसको केवल विशुद्ध संबोध से कठिनता से पृथक् किया जा सकता है । बुद्धि की शक्ति के इस प्रमाण के द्वारा भुलावे[१पा] में पड़कर ज्ञान के विस्तृत करने की अन्तःप्रेरणा को कोई मर्यादा या सीमा नहीं सूझती । हलकी-फुलकी पिड़की अपनी स्वच्छन्द उड़ान में वायु को चीरती हुई उस की रुकावट का अनुभव करते हुए अपने मन में यह कल्पना कर सकती है कि वायु से मुक्त आकाश में उड़ने में उसको कहीं अधिक सफलता प्राप्त होगी । इसी प्रकार तो प्लातौन् ने इन्द्रियजगत् को छोड़ दिया, क्योंकि वह उसकी बोधवृत्ति के लिये अत्यन्त संकीर्ण सीमा निर्माण करता प्रतीत हुआ और तदुपरान्त विचारों के पंखों पर उड़ता हुआ उस इन्द्रियजगत् के परे शुद्ध बोधवृत्ति के रिक्त आकाश में पहुँच गया । उसने इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि उसके इन प्रयत्नों से कुछ भी प्रगति नहीं हो सकी

१ पा. प्रथम संस्करण में "आउफ़गैमुण्टर्ट" (= प्रोत्साहित) पाठ था ।

है, क्योंकि उसको मार्ग में को ई रुकावट तो मिली नहीं जो मानों टेकड़ी के रूप में उसके काम आती, जिसके ऊपर ठहकर कर अपनी शक्ति का उपयोग करता और इस प्रकार अपनी बोधवृत्ति को प्रगतिशीलता प्रदान करता। परन्तु सच तो यह है कि मनन के क्षेत्र में मानवीय बुद्धि का सामान्य भागधेय यही है कि पहले तो यथासंभव शीघ्रता के साथ चटपट भवन निर्माण कर लेना और तत्पश्चात् सर्वप्रथम यह खोजना कि भवन की नींव भी अच्छे प्रकार से डाली गई है या नहीं। पर तव या तो हमको उस नींव की सुदृढ़ता का विश्वास दिलाने के लिये, या इससे भी बढ़कर[१पा.] ऐसे विलम्बित और भयावह अनुसंधान को पूर्णतया अस्वीकार करने के लिए सब प्रकार के बहाने बतलाए जाते हैं। परन्तु जो बात भवन के निर्माण काल में[२पा.] हमको सब प्रकार की चिन्ताओं और सन्देहों से निर्मुक्त रखती है तथा प्रतीयमान दृढ़ता की भावना से हमको प्रतुष्ट करती है, वह निम्नलिखित है। हमारी बुद्धि के व्यापार का एक बड़ा खण्ड, और स्यात् सबसे बड़ा खण्ड, उन संबोधों का अंग विश्लेषण होता है जिनको हम विषयों के संबंध में पहले से ही रखते हैं। यह विश्लेषण हमको प्रभूत मात्रा में ऐसी ज्ञानराशि प्रदान करता है जो उन भावों के स्पष्टीकरण और व्याख्यान के अतिरिक्त कुछ भी अधिक नहीं होता जो हमारे संबोधों में (चाहे अस्तव्यस्त में ही सही) पहले ही सोचे जा चुके थे। तथापि जो कम से कम रूप (=आकृति) नवीन अन्तर्दृष्टि के तुल्य बहुमूल्य समझी जाती है; यद्यपि जो संबोध हमको उपलब्ध (या प्राप्त) होते हैं यह (विश्लेषण) उनके उपादान अथवा अन्तःनिहित सामग्री के संबंध में हमारे ज्ञान को विस्तृत नहीं करता प्रत्युत उनको एक दूसरे से पृथक् करके सुलझा करके प्रस्तुत भर कर देता है। क्योंकि यह पद्धति हमको एक ऐसा वास्तविक प्रकार का प्रागनुभवात्मक ज्ञान प्रदान करती है जो सुरक्षितता और सदुपयोगिता के साथ प्रगति करता चलता है, अतएव बुद्धि इतनी भ्रान्त हो जाती है कि वह अनजाने में चोरी से धोखे में आकर एक अन्य प्रकार के कथनों या निर्णयों को अंगीकार कर लेती है, जिनमें दिये संबोधों के साथ वह कुछ दूसरे नितान्त अनजाने संबोधों को जोड़ लेती है, और वह भी निश्चयमेव प्रागनुभवी प्रकार से, यद्यपि यह कोई नहीं जानता कि बुद्धि ऐसा कैसे कर सकती है, और न बुद्धि के द्वारा इस प्रकार के प्रश्न को विचार में ही लाने दिया जाता है। इसलिये मैं तो अविलम्ब आरंभ में इन दोनों प्रकार के ज्ञानों के भेद का ही विवरण प्रस्तुत करूँगा।

---

१. पा. "इस से भी बढ़ कर" इतना अंश द्वितीय संस्करण में बढ़ाया गया।

२. पा. मूल में प्रथम संस्करण के संबंध कारक के रूप को स्वीकार किया गया, द्वितीय संस्करण में संप्रदान का रूप है।

४

विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक विभावनाओं का भेद

सब विभावनाओं में, जिनमें उद्देश्य के साथ विधेय के संबंध का विचार किया जाता है (मैं यहाँ केवल सकारात्मक विभावनाओं का विवेचन कर रहा हूँ, क्योंकि नकारात्मक विभावनाओं के संबंध में आगे चलकर इस सिद्धान्त का उपयोग सरलता से हो सकता है) यह संबंध दो पृथक् पृथक् प्रकार से संभव है। या तो विधेय 'ब' उद्देश्य 'अ' से इस प्रकार संबद्ध है कि 'ब' संबोध 'अ' में (चाहे प्रच्छन्न रूप से ही क्यों न हो) अन्तर्विष्ट कोई वस्तु है, अथवा 'ब' संबोध 'अ' से बिलकुल बाहर स्थित है, यद्यपि इसका उससे सम्पर्क अवश्य है। प्रथम प्रकार की (अवस्था की) विभावना को मैं विश्लेषणात्मक विभावना कहता हूँ तथा दूसरी को संश्लेषणात्मक। इस प्रकार (सकारात्मक) विश्लेषणात्मक विभावनाएँ वे होती हैं जिनमें विधेय के उद्देश्य के साथ के संबंध का विचार तादात्म्य द्वारा किया जाता है, किन्तु वे विभावनाएँ जिनमें इस संबंध का विचार बिना तादात्म्य के किया जाता है, संश्लेषणात्मक विभावनाएँ कहलाएँगी। प्रथम प्रकार की विभावनाओं को स्पष्ट करने वाली तथा दूसरी प्रकार की विभावनाओं को ज्ञान का विस्तार करने वाली विभावना भी कहा जा सकता है, क्योंकि प्रथम प्रकार की विभावना में विधेय के द्वारा उद्देश्य के संबोध में कुछ भी वृद्धि नहीं होती (अथवा कुछ भी नयी बात नहीं जोड़ी जाती। प्रत्युत वह संबोध केवल अंगविश्लेषण द्वारा अपने घटक उन संबोध खंडों में विभक्त हो जाता है जो पहले से ही उसी में (यद्यपि उलझे हुए या अस्पष्ट प्रकार से) अन्तर्विष्ट समझे जाते थे; इसके विपरीत दूसरे प्रकार की विभावना उद्देश्य के संबोध को एक ऐसे विधेय से जोड़ती है जो उस उद्देश्य में लेशमात्र भी अन्तर्विष्ट नहीं समझा जाता था तथा जो किसी भी अंगविश्लेषण की प्रक्रिया से उस उद्देश्य में से निकाला नहीं जा सकता था। उदाहरण के लिये जब मैं कहता हूँ कि "सब विग्रह (शरीर) विस्तीर्ण होते हैं" तो यह एक विश्लेषणात्मक विभावना है। क्योंकि इस विभावना में मुझे उद्देश्य से संबद्ध विस्तार को पाने के लिये उस संबोध के परे नहीं जाना पड़ता जिसको मैंने विग्रह शब्द के साथ आबद्ध कर रखा है, प्रत्युत इस विधेय को उसमें पाने के लिये केवल इस (विग्रह) शब्द के संबोध का विश्लेषणमात्र करना पड़ता है; अर्थात् मुझे केवल उस अनैक्य के विषय में, जिसको मैं सर्वदा उस संबोध में निहित समझता हूँ, अपने प्रति सजग सचेत होना पड़ता है, अतएव यह विभावना विश्लेषणात्मक विभावना है। दूसरी ओर यदि मैं कहूँ कि सब शरीर (या विग्रह) भारी होते हैं, तो ऐसी दशा में विधेय

उन बातों से कुछ भिन्न है जिनका मैं शरीर के संबोधमात्र में सामान्यतया विचार करता हूँ। अतएव ऐसे विधेय का योग संश्लेषणात्मक विभावना प्रदान करता है।

अनुभवात्मक विभावनाएँ स्वरूपतः सामग्र्येण संश्लेषणात्मक होती हैं। क्योंकि किसी विश्लेषणात्मक विभावना की नींव अनुभव पर रखना निरर्थक बात होगी; इस प्रकार की विभावना को सम्पादित करने के लिये मुझको अपने संबोध से बाहर जाने की किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं, और इसलिये उसके लिये अनुभव का साक्ष्य आवश्यक नहीं है। शरीर (या विग्रह) विस्तृत है, यह सुव्यवस्थापित प्रागनुभवात्मक स्थापना है, अनुभवात्मक विभावना नहीं है। क्योंकि अनुभव की शरण में जाने के पहले ही मेरी विभावना के लिये अपेक्षित सब शर्तें तो उस संबोध में ही मिल जाती हैं, जिसमें से मुझे प्रतिषेध के नियम के अनुसार विधेय को निकालना भर है और इस के द्वारा तत्काल विभावना की अनिवार्यता अवगत हो सकेगी—जिसको अनुभव मुझे कदापि नहीं सिखाएगा। दूसरी ओर, यद्यपि मैं शरीर के सामान्य संबोध में 'भार' विधेय को पहले से बिलकुल सम्मिलित नहीं करता, तथापि यह संबोध स्वयं अपने एक खंड के द्वारा अनुभव के एक विषय को सूचित करता है, जिस खंड के साथ मैं उसी अनुभव के अन्य खंडों को भी, एक साथ उस संबोध से संबद्ध रूप में, जोड़ सकता हूँ। आरंभ में तो शरीर के संबोध को विश्लेषणात्मक प्रक्रिया द्वारा विस्तृतता, अप्रवेश्यता, आकृति इत्यादि ऐसे लक्षणों से समझ लेता हूँ, जिन सबको इस संबोध के अन्तर्गत विचार किया जाता है। परन्तु अब मैं अपनी जानकारी बढ़ाने के लिये जब पुनः उस अनुभव की ओर मुड़कर देखता हूँ जिसमें से इस संबोध को निकाला था, तो मैं यह देखता हूँ कि पूर्वोक्त लक्षणों के साथ भार का लक्षण भी नित्य साथ लगा हुआ है, और इस प्रकार मैं इस लक्षण को भी विधेय रूप में संश्लेषणात्मक प्रकार से उपर्युक्त संबोध के साथ जोड़ देता हूँ। इस प्रकार विधेय 'भार' के संबोध के 'शरीर' के साथ संश्लेष की संभावना जिस के ऊपर आश्रित है, वह अनुभव है; क्योंकि यद्यपि दोनों संबोधों में से कोई एक दूसरे में अन्तर्विष्ट नहीं है, तथापि वे एक अवयवी अर्थात् अनुभव (जो स्वयं इन्द्रिय प्रत्यक्षों का एक संश्लेषणात्मक संघात है) के खंडों के रूप में —चाहे केवल यादृच्छिकतया ही सही—एक दूसरे से संबद्ध हैं।

परन्तु संश्लेषणात्मक प्रागनुभवी विभावना में इस सहायता का सर्वथा अभाव है। जब मुझे संबोध 'अ' से संबद्ध एक दूसरे संबोध 'ब' को जानने के लिये संबोध 'अ' से परे जाना पड़े, तो वह कौन सी वस्तु है जिस पर मैं अपने को निर्भर करूँ और जिसके द्वारा संश्लेष संभव हो? क्योंकि यहाँ मुझे इस कार्य के लिये अनुभव के क्षेत्र

में चतुर्दिक देखने का सुअवसर प्राप्त नहीं है। उदाहरण के लिये, इस प्रस्थापना को ले लिया जाए ''प्रत्येक घटना जो घटती है, उसका एक कारण होता है''। किसी ऐसी घटना के संबोध में जो घटती है, मैं निःसन्देह एक ऐसी सत्ता का विचार करता हूँ जिसके पूर्व समय इत्यादि था और इससे विश्लेषणात्मक विभावनाओं को निष्पन्न किया जा सकता है। परन्तु कारण का संबोध इस उपर्युक्त संबोध के बिलकुल बाहर है और जो घटित होता है उससे कुछ भिन्न वस्तु को सूचित करता है और इस प्रकार वह इस दूसरी प्रत्युपस्थापना में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर्विष्ट नहीं है। तो फिर मैं उसके विषय में जो कि सामान्यतया घटित होता है, ऐसी बात का कथन कैसे कर पाता हूँ जो उससे बिलकुल भिन्न है, तथा कारण के संबोध को जो यद्यपि निश्चय ही उपर्युक्त संबोध में अन्तर्विष्ट नहीं है, तथापि उससे संबद्ध और यहाँ तक कि अनिवार्यतया संबद्ध कैसे मान लेता हूँ ? यहाँ वह अविज्ञात तत्त्व–'क' क्या है, जिस पर हमारी बोध-वृत्ति उस समय आश्रय किया करती है जब वह यह विश्वास किया करती है कि वह संबोध 'अ' के बाहर एक ऐसे विदेशी संबोध 'ब' को खोज सकती है जिसको वह विदेशीय होने के साथ ही साथ उस (संबोध 'अ') के साथ संबद्ध भी समझती है ? अनुभव तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि इस सुझाए हुए अज्ञात आधारभूत सिद्धान्त ने इस प्रथम प्रत्युपस्थापना को द्वितीय प्रत्युपस्थापना के साथ, न केवल महत्तर सार्वि-कता के सहित प्रत्युत अनिवार्यता के लक्षण के सहित, अतएव पूर्णतया प्रागनुभविकतया एवं संबोधों के आधार पर जोड़ दिया है। हमारे चिन्तनात्मक प्रागनुभवात्मक ज्ञान का समग्र चरमोद्देश्य ऐसे ही संश्लेषणात्मक अर्थात् ज्ञानविस्तारक आधारभूत सिद्धान्तों पर आश्रित है; क्योंकि यद्यपि विश्लेषणात्मक विभावनाएँ निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक होती हैं, तथापि वे संबोधों के संबंध में उस स्पष्टता की उपलब्धि के लिये ही महत्त्वपूर्ण हैं, जो एक ऐसे सुनिश्चित एवं वितत संश्लेषण के लिये अपेक्षित है और वास्तव में यही नवीन ज्ञानार्जन की ओर ले जाने वाला है।

५

बुद्धि की सब मननात्मक अथवा सैद्धान्तिक विद्याओं में प्रागनुभवी संश्लेषणात्मक विभावनाएँ मौलिक सिद्धांत के रूप में अन्तर्विष्ट रहती हैं

गणितशास्त्र की विभावनाएँ तो सामग्र्येण संश्लेषणात्मक होती हैं। यह प्रस्थापना यद्यपि अविवाद्यरूपेण निश्चित और परिणाम में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, तथापि आज तक यह उन लोगों के ध्यान से छूट गई प्रतीत होती है जो मानवीय बुद्धि

के विश्लेषण में लगे रहते हैं, इतना ही नहीं, प्रत्युत उनकी सब अटकलों के प्रतिकूल जाती प्रतीत होती है। क्योंकि जब यह पता चल गया कि गणित के सब अनुमान विप्रतिषेध के नियम का अनुसरण करते हैं (जो कि प्रत्येक स्पष्टतया सिद्ध सुनिश्चि-तता के स्वरूप के लिये अपेक्षित है), तो यह कल्पना कर लिया गया कि गणितशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त भी उसी विप्रतिषेध के नियम से निकले हुए स्वीकार कर लिये जाने चाहिये। परन्तु ऐसा समझने में भूल हुई ; क्योंकि यद्यपि यह सच है कि संश्लेष-णात्मक प्रस्थापना प्रतिषेध के नियम का अनुसरण करती प्रतीत हो सकती है, परन्तु ऐसा केवल तभी हो सकता है जबकि एक दूसरी ऐसी संश्लेषणात्मक प्रस्थापना की सत्ता उससे पूर्व ही मान ली गई हो, जिससे यह स्थापना निकल सकती हो, परन्तु इस प्रकार की स्थापना स्वतः कदापि संभव नहीं हो सकती।

सबसे पहले तो इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिये कि गणित की वास्तविक स्थापनाएँ सर्वदा प्रागनुभवी विभावनाएँ होती हैं, अनुभवजन्य नहीं होतीं, क्योंकि वे अपने साथ अनिवार्यता की भावना लिये रहती हैं, जो अनुभव से उपलब्ध नहीं की जा सकती। यदि इस बात को अंगीकार नहीं किया गया तो न सही, मैं अपने कथन को शुद्ध गणित की सीमा के भीतर सीमित करने को तैयार हूँ, जिसके संबोध तक में यह अर्थ ध्वनित होता है कि वह अपने में अनुभवजन्य ज्ञान को नहीं, प्रत्युत विशुद्ध प्रागनुभवी ज्ञान को अन्तर्विष्ट रखता है।

आरंभ में निश्चयमेव ऐसा समझा जा सकता है कि स्थापना ७+५=१२ एक-मात्र विश्लेषणात्मक स्थापना है, जो सात और पाँच के योगफल के संबोध से विप्रति-षेध के नियम के अनुसार निष्पन्न होती है। परन्तु जब इस पर अधिक निकट से दृष्टि-पात किया जाता है, तो पता चलता है कि ७ और ५ के योगफल के संबोध में दोनों संख्याओं की एक साथ एकीकृत एकता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अधिक वस्तु नहीं है, जिसके द्वारा यह बिलकुल भी नहीं विचारा जा रहा है कि यह एकीकृत संख्या कौन सी है जो दोनों संख्याओं को एकत्र अन्तर्विष्ट किये है। और जब मैं केवल इस ७ और ५ की एकता विचार करता हूँ, तो इसके द्वारा ही १२ के संबोध का विचार किसी प्रकार भी नहीं हो जाता, और मैं इस प्रकार के अपने योग के संबोध का चाहे जितने समय तक विश्लेषण करता रहूँ, फिर भी मैं उसमें १२ को कभी नहीं पा सकूँगा। हमको इन संबोधों के बाहर जाना ही पड़ेगा, और उस इन्द्रियप्रत्यक्ष की सहायता लेनी ही पड़ेगी, जो निम्नलिखित दोनों प्रत्यक्षों में से किसी एक से मेल खाता है, अर्थात् या तो अपनी पाँचों अँगुलियों, या (जैसा कि त्सेग्नर ने अपने अंकगणित में किया है) पाँच विन्दुओं की सहायता लेनी पड़ेगी, एवं इस प्रकार पाँच की प्रत्यक्ष में दी हुई इकाइयों

को एक एक करके क्रमशः सात के संबोध के साथ जोड़ना पड़ेगा। क्योंकि प्रथम मैं ७ संख्या को लेता हूँ और पाँच के संबोध के लिये अपने हाथ की अँगुलियों को (सहायता के लिये) प्रत्यक्ष के रूप में ग्रहण करता हूँ, और इस प्रकार मैं उन इकाइयों को जिनको मैंने पहले ५ संख्या बनाने के लिये इकट्ठा ग्रहण किया था, अब अपने हाथ की अँगुलियों के कल्पनाचित्र के सहारे एक एक करके क्रमशः ७ संख्या के साथ जोड़ता हूँ, और १२ संख्या को समुत्थित होते हुए देखता हूँ। जो संख्या ७ + ५ के बराबर है, उसके संबोध में यह तो मैंने अवश्यमेव पहले ही विचार कर लिया था कि ५ को ७ के साथ जोड़ा जाना चाहिये, पर यह विचार नहीं किया था कि वह संख्या १२ के बराबर है। इस प्रकार अंकगणित की प्रस्थापनाएँ सर्वदा संश्लेषणात्मक होती हैं। यदि कुछ और अधिक बड़ी संख्याओं को लिया जाए, तो यही बात और भी अधिक स्पष्टता के साथ प्रत्यक्ष हो जाएगी; तब यह बात स्पष्टतया प्रकाशित हो जाएगी कि हम अपने संबोधों को चाहे जैसे तोड़ें मरोड़ें, किन्तु बिना प्रत्यक्ष दर्शन की सहायता लिये, केवल संबोधों के विश्लेषणमात्र से, हम उन संख्याओं के योगफल को कदापि प्राप्त नहीं कर सकते।

ठीक इसी के समान शुद्ध भूमिति शास्त्र का भी कोई आधारभूत सिद्धान्त विश्लेषणात्मक नहीं होता। 'दो विन्दुओं के मध्य में सरल रेखा सबसे छोटी रेखा होती है', यह एक संश्लेषणात्मक स्थापना है। क्योंकि मेरे सरल रेखा के संबोध में लंबाई की मात्रा का भाव बिलकुल नहीं है, केवल गुण का भाव है। अतएव सबसे छोटी होने का संबोध पूर्णतया बाहर से जोड़ा हुआ संबोध है, एवं सरल रेखा के संबोध के किसी भी विश्लेषण के द्वारा नहीं निकाला जा सकता। अतएव यहाँ भी प्रत्यक्ष दर्शन को सहायता के लिये ग्रहण करना ही पड़ेगा, उसकी सहायता के द्वारा ही संश्लेषण संभव है।

कुछ थोड़े से आधारभूत नियम जिनको, भूमितिशास्त्रवेत्ता पूर्वकल्पित करके चलते हैं, निश्चय ही वस्तुतः विश्लेषणात्मक हैं, तथा विप्रतिषेध के सिद्धान्त पर आश्रित हैं। परन्तु वे तो एकात्मक प्रस्थापनाओं के समान केवल प्रक्रिया की श्रृंखला के लिये उपयोग में आते हैं, न कि सिद्धान्तों के रूप में; उदाहरणार्थ अ = अ, अर्थात् अवयवी स्वयं अपने बराबर होता है, अथवा (अ + ब) = > अ, अर्थात् अवयवी अपने अवयव से बड़ा होता है। और फिर यह प्रस्थापनाएँ भी तो, यद्यपि यह शुद्ध संबोधों के अनुसार प्रामाणिक हैं, तथापि गणित में इनको इसलिये स्वीकृत किया गया है क्योंकि वह प्रत्यक्ष दर्शन में भी प्रत्युपस्थापित की जा सकती हैं।

२. प्रकृति विज्ञान या भौतिकी में प्रागनुभवी विभावनाओं का समावेश सिद्धान्तों

के रूप में रहता है। उदाहरण के लिये मैं केवल दो स्थापनाओं को उपस्थित करूँगा; यथा (१) मूर्त जगत् के सब परिवर्तनों में भौतिक पदार्थ की मात्रा अपरिवर्तित रहती है, अथवा (२) गति के प्रेषण में क्रिया और प्रतिक्रिया सर्वदा एक दूसरे के बराबर होनी चाहिये। इन दोनों के विषय में न केवल यह स्पष्ट है कि वे दोनों अनिवार्य हैं, अतएव उनका उद्भव प्रागनुभवी प्रकार का है, प्रत्युत यह भी स्पष्ट है कि वे संश्लेषणात्मक भी हैं। क्योंकि द्रव्य के संबोध में मैं उसके स्थायित्व की बात नहीं सोचता, प्रत्युत केवल उस देश या स्थान में उसकी सत्ता की बात को, (जिसको वह अधिकृत किये है) सोचता हूँ। इस प्रकार, पदार्थ के संबोध में प्रागनुभवी ढंग कुछ और अन्य ऐसी बात जोड़ने के लिये जिसको मैंने उसके भीतर नहीं समझा था, मैं वास्तव में संबोध से बाहर जाता हूँ। अतएव यह प्रस्थापना विश्लेषणात्मक नहीं, संश्लेषणात्मक है; परन्तु तो भी प्रागनुभव प्रकार से विचारित है, तथा यही बात भौतिक विज्ञान के शुद्ध-खंड की शेष प्रस्थापनाओं के विषय में भी ठीक है।

३. पराविद्या में भी, यदि उसको अभी तक केवल प्रयत्न करता हुआ, किन्तु फिर भी मानवीय बुद्धि के स्वभाव के कारण अपरिहार्य विज्ञान माना जाए, प्रागनुभवी संश्लेषणात्मक ज्ञान अवश्य होना चाहिये। तथा इसका कार्य यह बिलकुल नहीं है कि यह उन संबोधों का, जिनको हम वस्तुओं के संबंध में बनाते हैं केवल अंगविच्छेद करे और उसके द्वारा उनका विश्लेषणात्मक स्पष्टीकरण करे, प्रत्युत इसका कार्य यह है कि हमारे प्रागनुभवी ज्ञान का अधिक विस्तार करे। इसके लिये हमको ऐसे आधारभूत सिद्धान्तों का उपयोग करना पड़ेगा जो दिये संबोध में कुछ ऐसी बात जोड़ते हैं जो उसमें सम्मिलित नहीं थी, तथा जो प्रागनुभवी संश्लेषणात्मक विभावनाओं के द्वारा वे दिये हुए संबोध इतनी दूर आगे निकल जाते हैं, कि जहाँ स्वयं अनुभव भी हमारा अनुसरण नहीं कर सकता, उदाहरणार्थ जैसे इस स्थापना में देखा जा सकता है कि "जगत् का आदिकारण अवश्य होना चाहिये"—इसी प्रकार और भी स्थापनाओं में देखा जा सकता है। इस प्रकार पराविद्या, कम से कम अपने उद्देश्य के अनुसार तो विशुद्धरूपेण प्रागनुभवी संश्लेषणात्मक प्रस्थापनाओं से घटित होती है।

६

शुद्ध बुद्धि की सामान्य समस्या

यदि बहुत से अनुसंधानों को एक अकेली समस्या के सूत्र या गुर में समाविष्ट किया जा सके, तो इतने के द्वारा बहुत बड़ा लाभ होता है। क्योंकि इसके द्वारा न केवल हमारा अपना कार्य इसलिये हलका हो जाता है कि हम उसको अपने लिये पर्याप्त-

रूपेण सुव्यवस्थित कर लेते हैं, प्रत्युत प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के लिये भी वह सरलतर हो जाता है जो यह निर्णय करने के लिये इसका परीक्षण करना चाहता है कि हमने अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिये पर्याप्तरूपेण उद्योग किया है या नहीं। सम्प्रति यह कहा जा सकता है कि शुद्ध बुद्धि की वास्तविक समस्या इस प्रश्न में अन्तर्विष्ट है कि "प्रागनुभवी संश्लेषणात्मक विभावनाएँ किस प्रकार संभव हैं ?"

पराविद्या जो आज तक अनिश्चितता और विप्रतिषेध की दोलायमान स्थिति में पड़ी रही है, इसका केवल कारण यह है कि यह समस्या और स्यात् विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक विभावनाओं का भेद तक पहले कभी विचार में नहीं आया। इस समस्या के समाधान पर अथवा इस बात की संतोषप्रद उपपत्ति पर, कि जिस संभावना को वह स्पष्ट किया हुआ जानना चाहती है उसकी वास्तव में सत्ता ही नहीं है, सम्प्रति पराविद्या की प्रतिष्ठा अथवा पतन निर्भर हैं। दार्शनिकों में जो व्यक्ति इस समस्या के निकटतम पहुँचा, वह डैविड ह्यूम था, परन्तु वह भी इसके स्वरूप को सुनिश्चित-तया नहीं समझ सका, और उसकी व्यापकता में उसका विचार नहीं कर सका। उसने तो कार्यकारण संबंध की दृष्टि से केवल संश्लेषणात्मक विभावना के विचार से ही अपने को व्यापृत रक्खा। उसका विश्वास था कि उसने यह प्रदर्शित कर दिया कि इस प्रकार की प्रागनुभवी प्रस्थापना पूर्णतया असंभव है। उसके निष्कर्षों के अनुसार वह सब जिसको हम पराविद्या कहते हैं, मायामात्र है जिससे हम उस विषय में बौद्धिक अन्तर्दृष्टि रखने की कल्पना किया करते हैं, जो वास्तव में केवल अनुभव से उधार लिया गया है, तथा जो रूढ़ि के द्वारा अनिवार्यता का आभास धारण कर लेता है। यदि उसने हमारी समस्या को उसकी सर्वव्याप्ति की दृष्टि से अपनी आँखों के सामने रखा होता, तो वह समग्र विशुद्ध दर्शन शास्त्र के घातक इस कथन पर निपतित कदापि न हुआ होता, क्योंकि तब तो उसने यह देख लिया होता कि उस की युक्तियों के अनु-सार तो शुद्ध गणितविद्या का भी अस्तित्व नहीं रह जाता है, क्योंकि इस में निश्चय ही संश्लेषणात्मक प्रागनुभवी स्थापनाएँ अन्तर्विष्ट रहती हैं, और तब इस कारण उसकी सद्बुद्धि ने उसको ऐसा कथन कर डालने से बचा लिया होता।

उपर्युक्त समस्या के हल में ही उन सब विज्ञानों की स्थापना और पूर्ण विकास में शुद्ध बुद्धि के उपयोग की संभावना भी निहित है जो पदार्थों के प्रागनुभवी सैद्धान्तिक ज्ञान को अपने में अन्तर्विष्ट रखती हैं; अर्थात् इस हल में निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर भी आ जाता है :—

शुद्ध गणित किस प्रकार संभव है ?

शुद्ध प्राकृतिक विज्ञान किस प्रकार संभव है ?

क्योंकि यह दोनों विज्ञान वास्तव में विद्यमान हैं, अतएव उनके विषय में यह प्रश्न करना सर्वथा उचित है कि वे किस प्रकार संभव हैं; क्यों वे संभव अवश्य ही हैं, यह बात तो उनकी वास्तविकता से ही सिद्ध है।[कां.] (परन्तु जहाँ तक पराविद्या का संबंध है, (एक तो) इसकी अब तक की तुच्छ प्रगति को दृष्टि में रखते हुए और (दूसरे) क्योंकि आज तक प्रस्तुत की गई किसी एक भी पराविद्या के विषय में, जहाँ तक उसके मूलभूत (=सारभूत) उद्देश्य का संबंध है, यह नहीं कहा जा सकता कि कोई ऐसा विज्ञान वास्तव में विद्यमान है (जो उपर्युक्त उद्देश्य को पूर्ण करता हो), इन दोनों कारणों से प्रत्येक व्यक्ति को उसकी संभावना के विषय में संदेह करने का आधार मिल जाता है।)

परन्तु फिर भी एक विशिष्ट अर्थ में इस प्रकार का ज्ञान निश्चयमेव उपलब्ध माना जाना चाहिये, तथा पराविद्या, विज्ञान के रूप में चाहे न भी हो, तो भी स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में वास्तविक है ही। क्योंकि मानवीय बुद्धि बहुविध ज्ञान के अहंकार से प्रेरित हुए बिना भी अपनी ही आन्तरिक आवश्यकता से प्रणोदित हुई निर्बाध गति से ऐसे प्रश्नों तक की ओर प्रवृत्त हुआ करती है, जिनका उत्तर बुद्धि के किसी अनुभव-व्यापार और उससे निकले हुए सिद्धान्तों द्वारा नहीं दिया जा सकता। अतएव सब मनुष्यों में जब उनकी बुद्धि चिन्तन करने की विशदता प्राप्त कर लेती है वास्तव में सर्वदा किसी न किसी प्रकार की पराविद्या रही है और सर्वदा रहेगी भी। और इसलिये इस विषय में भी प्रश्न उठता है :—

पराविद्या स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में किस प्रकार संभव है ?

अर्थात् जिन प्रश्नों को शुद्ध बुद्धि स्वयं अपने प्रति उपस्थित करती है, तथा जिनका यथाशक्य ठीक ठीक उत्तर देने के लिये वह अपनी ही[पा.] आवश्यकता के द्वारा प्रणोदित

कां. जहाँ तक विशुद्ध विज्ञान का संबंध है उसकी वास्तविकता के विषय में तब भी बहुतों को संदेह हो सकता है। तथापि जो पृथक् पृथक् प्रस्थापनाएँ वास्तविक भौतिकविज्ञान के आरम्भ में पाई जाती हैं—जैसे द्रव्य की मात्रा के स्थायित्व का सिद्धान्त, जड़ता का सिद्धान्त, क्रिया प्रतिक्रिया की समान्यता का सिद्धान्त, इत्यादि—उन पर यदि दृष्टिपातमात्र किया जाए, तो कोई भी इस विषय में शीघ्र आश्वस्त हो जाएगा कि वे एक शुद्ध भौतिकशास्त्र अथवा विवेकाश्रित भौतिकशास्त्र का निर्माण करती हैं, जो स्वय भली भाँति स्वतंत्ररूपेण एक पृथक् विज्ञान के रूप में अवस्थित होने के योग्य है, और वह अपने समग्र आभोग में, फिर चाहे वह सीमित हो चाहे विस्तृत।

१ पा. चतुर्थ संस्करण में ''अपनी ही'' शब्द निकाल दिये गये थे।

परन्तु क्योंकि इन स्वाभाविक प्रश्नों के (जैसे कि—क्या संसार का कोई आदि है अथवा यह शाश्वत है ? इत्यादि) के उत्तर देने के जो प्रयत्न आज तक किये गये वे प्रत्येक अवसर पर अनिवार्यतया विप्रतिषेध को प्राप्त हुए हैं, अतएव पराविद्या के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्तिमात्र से, अर्थात् स्वयं शुद्ध बुद्धि की क्षमता से, जिससे निश्चयमेव सर्वदा ही किसी न किसी प्रकार की (चाहे जैसी भी हो) पराविद्या उत्पन्न हुआ ही करती है, सन्तुष्ट नहीं रहा जा सकता; प्रत्युत इसके साथ ही साथ बुद्धि के लिये पराविद्या के विषय को जानने अथवा न जानने के संबंध में निश्चय पर पहुँचना संभव होना चाहिये, अर्थात् या तो हमारे लिये पराविद्या के विषयों के संबंध में निर्णय करना संभव होना चाहिये, या उन विषयों के संबंध में बुद्धि की कोई निर्णय करने की क्षमता अथवा अक्षमता का निश्चय कर लेना संभव होना चाहिये, जिससे या तो हम भरोसे के साथ शुद्ध बुद्धि के क्षेत्र का विस्तार कर सकें, और या उस पर सुनियंत्रित एवं सुदृढ़ मर्यादाएँ आरोपित कर सकें। यह अन्तिम प्रश्न, जो उपर्युक्त सामान्य समस्या से ही निःसृत होता है, ठीक प्रकार से यूँ व्यक्त होगा :—

विज्ञान के रूप में पराविद्या किस प्रकार संभव है ?

इस प्रकार बुद्धि की मीमांसा अन्त में अवश्यमेव विज्ञान की ओर ले जाती है, जब कि इसके विपरीत उसका विवेचन विरहित निर्विविक्त उपयोग ऐसे निराधार कथनों की ओर ले जाता है, जिनका विरोध नित्य उन्हीं के समान सन्तोषप्रद प्रतीत होने वाले कथनों द्वारा किया जा सकता है , अतएव यह उपयोग संशयवाद को जन्म देने वाला है।

यह विज्ञान महद्भयोत्पादक विस्तार वाला भी नहीं हो सकता, क्योंकि इसका संबंध बुद्धि के विषयों से नहीं जिनकी विविधता अनन्त है प्रत्युत केवल स्वयं बुद्धि और उन समस्याओं से है जो पूर्णतया उसी (बुद्धि) के गर्भ से उत्पन्न होती हैं, तथा जिन समस्याओं को उसके समक्ष बाह्य वस्तुओं की प्रकृति के द्वारा, जो उससे भिन्न हैं, हल करने के लिये प्रस्तुत नहीं किया जाता, प्रत्युत स्वयं उसके अपने ही स्वभाव के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। अतएव यदि बुद्धि ने पहले ही उन विषयों के संबंध में, जो उसको अनुभव में उपलब्ध हो सकते हैं, अपनी क्षमता को पूर्णतया जान लिया है, तो फिर उसके लिये अपने समग्र अनुभव क्षेत्र से परे भी अपने विचेष्टित विनियोग की विस्तृति और मर्यादा को पूर्णतया और सुरक्षिततया नियंत्रित करना सरल हो जाना चाहिये।

होती है, वे प्रश्न सर्वसामान्य मानवीय बुद्धि के स्वभाव से किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ?

इस प्रकार आज तक विवेचनाशून्य पद्धति से पराविद्या की स्थापना के लिये की गई सब चेष्टाओं को न हुआ जैसा माना जा सकता है, और माना जाना भी चाहिये। क्योंकि, किसी एक या दूसरी चेष्टा में जो विश्लेषण, अर्थात् बुद्धि में निवास करने वाले प्रागनुभवी संबोधों का अंगविघटनमात्र, मिलता है, वह यथार्थ पराविद्या का लक्ष्य तो किसी प्रकार भी नहीं है,—(लक्ष्य तो संश्लेषण के द्वारा उसके प्रागनुभवात्मक ज्ञान को अधिक विस्तृत करना है), प्रत्युत उसके लिये केवल तैयारीमात्र है, और वह भी इस उद्देश्य के लिये व्यर्थ है, क्योंकि वह केवल यही तो प्रदर्शित करती है कि इन संबोधों में क्या अन्तर्विष्ट है, पर यह तो सूचित नहीं करती कि हम इस प्रकार के संबोधों को प्रागनुभवात्मक प्रकार से कैसे प्राप्त करते हैं, जिससे तदनुसार सर्वसामान्य ज्ञान के विषयों के संबंध में उनके सही विनियोग को निर्धारित किया जा सके। यथार्थ पराविद्या की स्थापना के लिये उसके संबंध में किये जाने वाले इन सब दावों को त्यागने के निमित्त केवल बहुत थोड़े से ही आत्म-निरोध की आवश्यकता है, जब कि दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि अप्रत्याख्येय तथा विवेचनाशून्य पद्धति में अपरिहार्य बुद्धि आत्मविप्रतिषेधों ने आज तक प्रतिपादित प्रत्येक पराविद्या को चिरकाल से उसकी प्रतिष्ठा से वञ्चित कर रक्खा है। मानवीय बुद्धि की इस अपरिहार्य विद्या को, जिसकी प्रत्येक शाखा को भले ही काट डाला जाए पर जिसके मूल को कदापि निर्मूल नहीं किया जा सकता, एक ऐसी प्रतिपादन की अन्य शैली के द्वारा जो आज तक प्रयुक्त सब शैलियों के सर्वथा प्रतिकूल है, अन्ततः एक बार परिपुष्ट और सफल वृद्धि की ओर अग्रसर करने के निमित्त आन्तरिक कठिनाइयों और बाह्य विरोधों से भयभीत न होने के लिये, सामान्य से अधिक दृढ़ता की आवश्यकता होगी।

७

"शुद्ध बुद्धि की मीमांसा" नामक विशिष्ट विज्ञान का स्वरूप और उसका विषय विभाग

इस समय उपर्युक्त विवेचन से एक विशिष्ट विद्या का विचार उत्पन्न होता है, जिसको "शुद्ध बुद्धि की मीमांसा" कहा जा सकता है। क्योंकि बुद्धि वह शक्ति है जो प्रागनुभवात्मक ज्ञान के सिद्धान्त प्रदान करने में सहायक होती है। अतः शुद्ध बुद्धि वह वृत्ति या शक्ति है जिसमें किसी वस्तु को केवल प्रागनुभवात्मक प्रकार से जानने के सिद्धान्त अन्तर्विष्ट हैं। शुद्ध बुद्धि का शास्त्र, अथवा शुद्ध बुद्धि की आन्वीक्षिकी उन सब सिद्धान्तों का समूह होगा, जिनके अनुसार सब शुद्ध प्रागनुभवात्मक ज्ञान उपार्जित किये जा सकते हैं, और वास्तव में उपलब्ध किये जाएँगे। इस प्रकार

के शास्त्र के निःशेष प्रयोग के द्वारा शुद्ध बुद्धि के तंत्र या संस्थान की प्राप्ति होगी। परन्तु क्योंकि यह तो बहुत बड़ी माँग है, तथा अभी तो यही अनिश्चित है कि इस क्षेत्र में हमारे ज्ञान का विस्तार संभव भी है या नहीं, और यदि संभव है भी तो किन अवस्थाओं में संभव है, अतएव हम शुद्ध बुद्धि, उसके उद्गम, उसकी सीमाओं की मीमांसा के विज्ञानमात्र को ही शुद्ध बुद्धि के परिपूर्ण तंत्र की प्रस्तावना मान सकते हैं। इस प्रकार के विज्ञान को शुद्ध बुद्धि का सिद्धान्त नहीं, प्रत्युत केवल मीमांसा ही कहना चाहिये; तथा चिन्तन के संबंध में इसका उपयोग वास्तव में केवल निषेधात्मक ही होगा––अर्थात् यह हमारी बुद्धि के क्षेत्र के विस्तार के लिये नहीं, प्रत्युत उसके संशोधन, और उसको भ्रान्तियों से मुक्त रखने के लिये ही उपयोगी होगा––जो स्वयं एक बड़ा लाभ है। मैं उस समग्र ज्ञान को परज्ञान या अनुभवातीत ज्ञान के नाम से अभिहित करता हूँ जिसका संबंध उतना विषयों से नहीं होता, जितना कि हमारे विषयों को जानने के प्रकार से होता है, जहाँ तक यह प्रकार प्रागनुभवात्मक ढंग से संभव होता है। इस प्रकार के संबोधों के तंत्र को अनुभवातीत तत्वज्ञान कहा जा सकता है। परन्तु इस चिन्तन पद्धति की प्रारंभिक अवस्था के लिये तो यह भी अभी बहुत बड़ा कार्य है। क्योंकि इस प्रकार के विज्ञान में जितना विश्लेषणात्मक प्रागनुभवी ज्ञान का पूर्णतया समावेश होना चाहिये उतना ही संश्लेषणात्मक ज्ञान का भी, अतएव जहाँ तक हमारे उद्देश्य का संबंध है, इस विज्ञान का आभोग अपेक्षाकृत अधिक विशाल है, जब कि हम अपने विश्लेषण को उतनी दूर तक ही ले जाना चाहते हैं, जितनी दूर तक वह प्रागनुभवात्मक संश्लेषण के सिद्धान्तों के परिपूर्ण क्षेत्र के सन्निरीक्षण के लिये अनिवार्यतया आवश्यक है, क्योंकि हमको तो केवल उन्हीं से काम है। यह अनुसन्धान ही, जिसको हम औचित्य के साथ सिद्धान्त नहीं, प्रत्युत केवल परा मीमांसा कह सकते हैं वह कार्य है जिसके साथ हम समय व्यापृत हैं। इसका उद्देश्य ज्ञान का विस्तार नहीं प्रत्युत उसका संशोधन है, और समग्र प्रागनुभवात्मक ज्ञान की सारवत्ता अथवा निस्सारता को जाँचने के लिये कसौटी प्रस्तुत करना है। अतएव इस प्रकार की मीमांसा यथासंभव एक सिद्धान्तशास्त्र की तैयारी है, और यदि ऐसा संभव न हो सके, तो कम से कम एक नियम की तैयारी है ही, जिसके अनुसार स्यात् कभी समय आने पर शुद्ध बुद्धि का परिपूर्ण तंत्र विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक दोनों ही प्रकार से प्रत्युपस्थापित हो सकता है, फिर चाहे वह भले ही उसके ज्ञान को विस्तृत करने के लिये उपयोगी हो अथवा केवल उसको सीमित करने के लिये। क्योंकि, (१) यह संभव है और (२) सचमुच ही ऐसा तंत्र इतनी विशाल परिधि वाला नहीं है कि उसके पूरे होने की आशा न की जा सके। इन दोनों बातों का पता तो इसी तथ्य से चल जाता है

कि यहाँ हमारा अधिकृत विषय वस्तुओं के स्वरूपों का निरूपण करना नहीं जो अनन्त हैं, प्रत्युत बोधवृत्ति का निरूपण करना है, जो वस्तुओं के स्वरूप के विषय में निर्णय किया करती है; और इस बोधवृत्ति का निरूपण भी इसके प्रागनुभवात्मक ज्ञान के संबंध की सीमा तक ही करना है। क्योंकि उस बोधवृत्ति की इस निधि को बाहर नहीं खोजना है, अतएव वह हमसे छिपी नहीं रह सकती, एवं अखिल संभावनाओं को दृष्टि में रखते हुए भी वह पर्याप्तरूपेण इतनी अल्प होगी कि उसको सामग्र्येण ग्रहण किया जा सके, और उसकी सारवत्ता अथवा निस्सारता का निर्णय करके उसका ठीक ठीक मूल्यांकन किया जा सके। शुद्ध बुद्धि संबंधी ग्रंथों और तंत्रों की आलोचना की आशा तो यहाँ और भी कम की जानी चाहिये, प्रत्युत विशुद्ध बोधवृत्ति की क्षमता की मीमांसा की ही आशा की जानी चाहिये। जब यह मीमांसा आधार या नींव के रूप में प्राप्त हो जाएगी, केवल तभी हमको भरोसा करने योग्य वह कसौटी उपलब्ध होगी, जिसके द्वारा इस विषय की पुरानी और नयी कृतियों का दार्शनिक मूल्य आँका जा सकता है। अन्यथा, अप्रामाणिक इतिहासलेखक और आलोचक अन्य लोगों के निराधार कथनों की अपने उतने ही निराधार कथनों द्वारा आलोचना करता रहता ही है।

अनुभवातीत तत्त्वज्ञान एक ऐसे विज्ञान का संकल्प है जिसके लिए शुद्ध बुद्धि की मीमांसा को आधारभूत सिद्धान्तों के अनुसार, उन सब अंगों की परिपूर्णता और सुरक्षितता की पूर्ण प्रत्याभूति (गारण्टी) के साथ योजना प्रस्तुत करनी होगी जो इस तंत्र के भवन में अन्तर्विष्ट हैं। यह वास्तव में शुद्ध बुद्धि के निखिल सिद्धान्तों का तंत्र है। इस मीमांसा को अनुभवातीत दर्शन नहीं कहा गया है, इसका कारण केवल यही है कि परिपूर्ण संस्थान होने के लिये उसमें समग्र मानवीय प्रागनुभवी ज्ञान का निःशेष विश्लेषण होना आवश्यक है। सम्प्रति यह तो निश्चित ही है कि हमारी मीमांसा को हमारी आँखों के सामने सचमुच ही उन सब मौलिक संबोधों की पूरी गिनती, जो विशुद्ध समझी जाने वाली ज्ञानराशि के घटक हैं, उपस्थित करनी चाहिये। परंतु स्वयं इन संबोधों के विस्तृत विवरणयुक्त विश्लेषण और इसी प्रकार उनसे निःसृत अन्य संबोधों के सर्वांगीण अनुसंधान से जो यह मीमांसा अपने को विरत रखती है, सो उचित ही है। कुछ तो इसका कारण यह है कि यह विश्लेषण हमारे लिये प्रयोजनीय नहीं है, क्योंकि इसके विषय में एसी कोई शंका नहीं है जैसी संश्लेषण में हमारे सामने आती है, जिसके निमित्त ही समग्र मीमांसा निर्दिष्ट है; और कुछ इसका कारण यह भी है कि ऐसा करना हमारी योजना की एकता के प्रतिकूल होगा कि यह मीमांसा अपने को ऐसे विश्लेषण और उसकी निःस्रुति (निःसृति) की पूर्णता के उत्तरदायित्व में फँसा ले; जिससे अपने लक्ष्य की दृष्टि से हमको क्षमा किया जा सकता है। इन प्राग-

नुभवी संबोधों का विश्लेषण, जिनको हमें आगे चल गिनाना है, तथा उनसे निःसृत से अन्य संबोध--इन दोनों की परिपूर्णता सरलता से पूर्णतया संपादित हो सकती है, पर ऐसा हो तभी सकता है जब प्रथम उनके विषय में यह स्थापित कर दिया जाए कि वे संश्लेषण के आधारभूत सिद्धान्तों के निःशेषतया घटक हैं तथा इस परमावश्यक सारभूत लक्ष्य के संबंध में उनमें कोई कमी नहीं है।

अतएव वे सब बातें जिनसे अनुभवातीत दर्शन घटित होता है, शुद्ध बुद्धि की मीमांसा में आ जाती हैं, और यद्यपि यह (मीमांसा) अनुभवातीत दर्शन का पूर्ण संकल्प अवश्य है, तथापि यह उस विज्ञान के साथ तदाकार (अथवा अभिन्न) नहीं है, क्योंकि यह विश्लेषण की दिशा में केवल उतनी ही दूर जाती है, जितनी दूर संश्लेषणात्मक प्रागनुभवी ज्ञान को पूर्णतया निर्णीत करने के लिये अपेक्षित है।

इस प्रकार के विज्ञान के विषय विभाजन में सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें कोई ऐसे संबोध नहीं आने चाहिये, जिनमें अनुभवजन्य ज्ञान लेशमात्र भी अन्तर्विष्ट हो; अथवा यों कहिये कि यह विज्ञान पूर्णतया शुद्ध प्रागनुभवी ज्ञान है। परिणामतः यद्यपि आचारशास्त्र के सर्वोच्च सिद्धान्त और आधारभूत संबोध प्रागनुभवात्मक ज्ञान हैं, तथापि वे अनुभवातीत दर्शनशास्त्र के अंग नहीं हैं, क्योंकि यद्यपि यह शास्त्र सुख और दुःख, इच्छा और प्रवृत्ति इत्यादि के संबोधों को, जो सबके साथ सब अनुभव से प्रादुर्भूत होनेवाले हैं, निश्चय ही अपने उपदेशों की नींव के रूप में स्थापित[1] नहीं करता, तो भी शुद्ध आचारशास्त्र की रचना में यह अनुभवजन्य संबोध अनिवार्यतया कर्तव्य के संबोध के अन्तर्गत (अतिक्रमणीय व्यवधान के रूप में अथवा ऐसे उद्दीपक के रूप में जो प्रेरणा का आधार नहीं बनाया जाना चाहिये) सम्मिलित होने ही चाहिये। इसलिये अनुभवातीत दर्शन शुद्ध और केवल चिन्तनपरक बुद्धि द्वारा प्रसूत विश्वदर्शन है। क्योंकि समग्र क्रियात्मकता, जहाँ तक उसमें प्रेरणाएँ अन्तर्विष्ट होती हैं भावुकता से संबद्ध होती है जिसका संबंध अनुभवजन्य ज्ञान के उद्गम से है।

यदि इस विज्ञान का विभाजन सामान्य वैज्ञानिक पद्धति के व्यापक दृष्टिकोण से करना अभीष्ट हो, तो, जैसा हमने अभी समझाया है, उसमें प्रथमतः एक तत्त्वों का सिद्धान्त और द्वितीयतः एक शुद्ध बुद्धि की पद्धति का सिद्धान्त अवश्य ही होना चाहिये। इनमें से प्रत्येक मुख्य विभाग के उपविभाग भी होंगे, तथापि जिनके आधारभूत हेतुओं का विवरण अभी यहाँ नहीं दिया जाएगा। प्रस्तावना अथवा पूर्वाभास

---

१. वालेण्टीनर् द्वारा स्वीकृत पाठ यहाँ "ईरन् फ़ौरश्रिफ्टन् त्सूम ग्रुण्डे लैगन्" है। मूल में जो पाठ स्वीकृत किया है वह "त्सूम ग्रुण्डे इरर् फौरश्रिफ्टन् लैगन्" है।

के रूप में केवल इतना कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि मानवीय ज्ञान की दो प्रमुख शाखाएँ हैं, जो स्यात् दोनों ही एक समान, किन्तु हमारे लिये अज्ञात, मूल से उत्पन्न होती हैं ––इन्द्रियों की ज्ञानग्रहण करने की वृत्ति और बोधवृत्ति इनमें प्रथम के द्वारा विषयों की उपलब्धि होती है, तथा दूसरी के द्वारा उन पर विचार किया जाता है। जहाँ तक इन्द्रियों की ज्ञानग्रहण वृत्ति में उस अवस्था को संघटित करने वाली प्रागनुभवात्मक प्रत्यभिव्यक्ति का समावेश हो सकेगा जिस में हमको विषयों की उपलब्धि होती है, वहीं तक यह इन्द्रियवृत्ति अनुभवातीत दर्शनशास्त्र का अंग होगी। अनुभवातीत इन्द्रियवृत्ति विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन तत्त्वविज्ञान के प्रथम भाग के अन्तर्गत होना चाहिये, क्योंकि वे अवस्थाएँ जिनके आधीन मानवीय के विषय उपलब्ध होते हैं, उन अवस्थाओं की पूर्वगामिनी होती हैं जिनके आधीन उन पर विचार किया जाता है।

शुद्ध बुद्धि की मीमांसा

(१)

तत्वों का अनुभवातीत ज्ञान
(ट्रान्सैण्डैण्टाले एलिमैण्टार्लेरे)

तत्वों का अनुभवातीत ज्ञान

प्रथम भाग

अनुभवातीत संदवेना ज्ञान

§ १

किसी ज्ञान का संबंध उसके अपने विषय से चाहे जिस प्रकार या उपाय से होता हो, तथापि वह वस्तु जिसके द्वारा यह ज्ञान उन विषयों से सीधा प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करता है तथा उपाय स्वरूप जिसके प्रति समग्र विचार प्रवृत्त होता है, प्रत्यक्ष अनुभव है। परन्तु यह वहीं तक घटित होना संभव है, जहाँ तक विषय उपस्थित हो; और फिर कम से कम हम मनुष्यों के लिए तो उसके द्वारा ऐसा होना केवल तभी संभव है जब कि वह हमारे मन को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करे। जिस ढंग से हम विषयों से प्रभावित होते हैं, उस ढंग से प्रतिरूपों को ग्रहण करने की क्षमता को संवेदनशीलता कहते हैं। इस प्रकार संवेदनशीलता के द्वारा विषय हमारे प्रति उपस्थित किये जाते हैं। यही संवेदनशीलता हमको अनुभवों की उपलब्धि कराती है, किन्तु बोधवृत्ति के द्वारा उनका विचार किया जाता है और उस बोधवृत्ति से संबोधों या प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। परन्तु प्रत्यक्षरूपेण हो या अप्रत्यक्षतया अन्ततोगत्वा सब विचार, कुछ विशिष्ट लक्षणों द्वारा अनुभवों से संबद्ध होने ही चाहिये, अतएव हमारे (अर्थात् मनुष्यों के) पक्ष में संवेदनशीलता से संबद्ध होने चाहिये, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से कोई भी विषय हमारे प्रति उपस्थित नहीं हो सकता।

प्रत्युपस्थापन शक्ति पर किसी विषय का प्रभाव—जहाँ तक हम उससे प्रभावित होते हैं—संवेदन कहलाता है। जो प्रत्यक्षानुभव संवेदन के द्वारा विषय से संबद्ध होता है, वह दृष्टानुभव (या लौकिक ज्ञान) कहलाता है। लौकिक ज्ञान के अनिर्धारित विषय को अवभास कहते हैं।

अवभास में जो तत्व संवेदन के समनुरूप होता है उसको मैं उसका उपादान कहता हूँ किन्तु उस तत्त्व को, जो अवभास की विविधरूपता को इस प्रकार से नियंत्रित करता है कि वह एक निश्चित प्रकार के संबंधों में व्यवस्थित हो सके, मैं अवभास का आकार कहता हूँ। वह तत्त्व, केवल जिस अकेले में संवेदन होते हैं और एक विशिष्ट आकार

में स्थित हो सकते हैं, स्वयं तो संवेदन हो नहीं सकता, अतएव सब अवभासों का उपादान तो हमको परतः ही उपलब्ध होता है, किन्तु इसके आकार को निश्चय ही पूर्वतः संवेदन के निमित्त मस्तिष्क (मन) में प्रस्तुत रहना चाहिये और इसीलिये उसको सब संवेदनों से पृथक् स्वतः विचार किये जाने के योग्य होना चाहिये ।

मैं उन सब प्रतिरूपों को अनुभवातीत अर्थ में शुद्ध कहता हूँ जिन में संवेदन से संबंध रखने वाला तत्त्व लेशमात्र भी न हो। इसलिये इन्द्रियानुभव का वह शुद्ध आकार, जिसमें अवभासों की विविधता संबंधों की एक विशेष प्रकार की व्यवस्था में अनुभूत होती है, सामान्यतया मस्तिष्क (मन) में पूर्वतः ही पाया जाना चाहिये। चेतनवृत्ति का यह शुद्ध आकार स्वयं शुद्धानुभव भी कहा जा सकता है। इस प्रकार यदि किसी सांग पदार्थ के प्रत्युपस्थापन में से मैं वे सब तत्त्व,—पदार्थ, शक्ति, विभाज्यता इत्यादि —निकाल दूँ, जिनको हमारी बुद्धि उसके विषय में विचारा करती है, और इसके साथ ही साथ—अप्रवेश्यता, कठोरता, रंग इत्यादि वे दूसरे तत्त्व भी निकाल दूँ जो उसके संवेदन से संबंध रखते हैं, तो इस के उपरान्त भी इस प्रत्याक्षानुभव में से कुछ तत्त्व, विस्तार और आकृति, शेष बच रहते हैं। इनका संबंध शुद्धानुभव से है, जो बिना किसी वास्तविक ऐन्द्रिक विषय अथवा संवेदन के पूर्वतः मानस में चेतनवृत्ति के आकारमात्र के रूप में स्थित रहता है।

पूर्वसिद्ध चेतनवृत्ति के समग्र सिद्धान्तों के विज्ञान को, मैं अनुभवातीत संवेदनाज्ञान* का नाम देता हूँ। अनुभवातीत (या अलौकिक) तत्त्वज्ञान के प्रथम भाग के घटक के रूप में इस प्रकार का एक विज्ञान अवश्य ही होना चाहिये, और होना चाहिये उस

---

* जर्मन लोग ही अकेले ऐसे हैं जो 'ऐस्थेटिक' (संवेदनज्ञान) शब्द का प्रयोग अभी (१७८१ ई०) तक उस अर्थ में कर रहे हैं जिसके लिये अन्य जातियों के लोग 'सुरुचि शास्त्र' शब्द काम में लाते हैं। इस शब्द का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग उस असफल आशा पर आश्रित है जो श्रेष्ठ विश्लेषक बाउमगार्टन् ने सौन्दर्य संबंधी विवेचनात्मक विधानों को विवेकाश्रित सिद्धान्तों के अन्तर्गत लाने और उनके नियमों को विज्ञान का रूप देने के लिये बाँधी थी। परन्तु इस प्रकार के उद्योग मात्र व्यर्थ हैं। क्योंकि यह उपर्युक्त नियम अपने प्रमुख उद्गम स्थानों के अनुसार केवल प्रत्यक्षाश्रित हैं, अतएव वे ऐसे सुनिश्चित या सुनिर्धारित पूर्वतः सिद्ध नियमों का काम कदापि नहीं दे सकते, जिनके द्वारा हमारे सुरुचि विधानों का संशोधन होना चाहिये। इसके विपरीत हमारी विभावना ही इन नियमों के सही होने की समुचित कसौटी है। इस कारण सत्परामर्श तो यह है कि या तो इस सुरुचि की कसौटी के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग त्याग दिया जाए और उस संवेदना के सिद्धान्त के अर्थ में इसका प्रयोग सुरक्षित कर दिया जाए जो वास्तविक विज्ञान है—जिसके द्वारा हम उन प्राचीन यूनानी लोगों की वाणी और अर्थ के अधिक समीप पहुँच जाएँगे जिनके मध्य में ज्ञान का "विभाजन दर्शन और

ज्ञान के प्रतिपक्षी के रूप में जो शुद्ध विचार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। एवं अलौकिक या अनुभवातीत तर्कशास्त्र कहलाता है।

इसलिये अलौकिक संवेदनाज्ञान में से हम पहले तो उन सब तत्त्वों को, जिनको हमारी समझ अपने सामान्य ज्ञान के द्वारा सोचा करती है, निकालकर चेतनवृत्ति को अलग कर लेंगे, जिससे कि प्रत्याक्षानुभव के अतिरिक्त और कुछ भी शेष न रहे। दूसरे, हम उससे उन सब अंशों को भी अलग कर देंगे जिनका संबंध संवेदन से है, जिससे शुद्धानुभव और अवभास के आकारमात्र को छोड़ कर और कुछ भी न बचे। यही वह सब तत्त्व हैं जिनको चेतनवृत्ति पूर्वतः उपलब्ध कर सकती है। इस खोज की प्रगति में यह पता चलेगा कि इन्द्रियानुभव के शुद्ध आकार दो हैं—देश और काल—जो पूर्वतः सिद्ध ज्ञान के प्रमुख तत्त्वों के रूप में काम देते हैं। बस अब हम अपने को इन्हीं के विचार में लगाएँगे।

निरूपण में विभाजन अत्यन्त विख्यात था—या फिर इस नाम का प्रयोग चिन्तनपरायण दर्शन-शास्त्र के साथ साझे में किया जाए और "ऐस्थेटिक" शब्द का प्रयोग अंशतः अनुभवातीत अर्थ में और अंशतः मनोवैज्ञानिक अर्थ में किया जाए।

अनुभवातीत संवेदन-शास्त्र

प्रथम खंड

देश

§ २

बाह्येन्द्रिय के द्वारा (जो हमारे चित्त की ही एक वृत्ति या गुण है) हम विषयों को अपने से बाहर और सभी को देश में प्रत्युपस्थापित करते हैं। उनकी आकृति, उनकी विशालता और उनका पारस्परिक संबंध देश में ही निर्धारित अथवा निर्धारणीय होते हैं। वह अन्तरिन्द्रिय जिसके द्वारा चित्त स्वयं अपना अथवा अपनी आन्तरिक दशा का अपरोक्षानुभव प्राप्त करता है, वास्तव में विषय के रूप में आत्मा की कोई अपरोक्षानुभूति प्रदान नहीं करती, तथापि एकमात्र निश्चित आकार जिसको काल या समय कहते हैं, केवल ऐसा है जिसमें आन्तरिक अवस्थाओं का अपरोक्षानुभव संभव है, और इसी हेतु वे सब वस्तुएँ जो आन्तरिक निर्धारणाओं से संबद्ध हैं, समय के संबंधों में प्रत्युपस्थापित की जाती हैं। जिस प्रकार देश का हमारे भीतर स्थित किसी तत्व के रूप में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसी प्रकार काल का हमारे से बाहर प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। तो प्रश्न होता है कि देश और काल क्या हैं? क्या वे वास्तविक पदार्थ हैं? क्या वे निश्चय ही केवल पदार्थों की निर्धारणाएँ अथवा संबंध भी हैं, जो उन पदार्थों से तब भी संबद्ध रहेंगे, जबकि उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा? अथवा वे ऐसे तत्त्व हैं कि जिनका संबंध केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आकारमात्र से है, और इसलिए जिनका संबंध हमारे स्वगत मनोगठन है, जिसके अतिरिक्त वे अन्य किसी भी वस्तु के संबंध में विहित नहीं किये जा सकते? इन प्रश्नों के विषय में उपयुक्त ज्ञान प्राप्त करने के लिये हम प्रथम देश के संबोध का विवेचन करेंगे। विवेचन या विवरण से मेरा तात्पर्य उस तत्व के स्पष्ट प्रत्युपस्थापन से है जो सर्वांग परिपूर्ण तो नहीं, परन्तु संबोध में निहित है एवं जब यह विवरण संबोध के अनुभव से पूर्व उपलब्ध रूप को प्रदर्शित करने वाले तत्त्वों को अपने अन्तर्विष्ट किये होता है, तब इसको परतात्त्विक विवरण कहते हैं।

१. देश का संबोध अनुभवजन्य संबोध नहीं है जो बाह्यानुभव से व्युत्पादित

किया गया है। क्योंकि एक तो इसलिये कि कुछ संवेदन मेरे अपने से बाहर की किसी वस्तु के प्रति अभिनिर्दिष्ट हों (अर्थात् किसी ऐसी वस्तु के प्रति अभिनिर्दिष्ट जो देश के उस भाग से पृथक् भाग में स्थित हैं जिसमें मैं अवस्थित हूँ), और इसी तरह इसलिये कि मैं उन संवेदनों को एक दूसरे के बाहर और एक दूसरे के पास पास प्रत्युपस्थापित कर सकूं, और इसी के परिणामस्वरूप न केवल एक दूसरे से भिन्न किन्तु भिन्न भिन्न स्थानों में प्रत्युपस्थापित कर सकूं, देश की प्रत्युपस्थापना को पहले से ही आधार में स्थित मानना पड़ेगा। अतएव देश की प्रत्युपस्थापना को अनुभव के द्वारा बाह्य अवभासों के संबंधों से उधार लेकर प्राप्त नहीं किया जा सकता, प्रत्युत इसके विपरीत यह बाह्यानुभव तक स्वयं सर्वप्रथम केवल पूर्वोक्त प्रत्युपस्थापना के द्वारा ही संभव होता है।

२. देश एक अनिवार्य प्रागनुभवी प्रत्युपस्थापना है जो सब बाह्य इन्द्रियप्रत्यक्षों के मूल में संनिहित रहती है। इस प्रकार की प्रत्युपस्थापना कभी की ही नहीं जा सकती कि देश हो ही नहीं, यद्यपि यह अत्यन्त सरलता से विचारा जा सकता है कि उसको भरने के लिये कोई पदार्थ न हों। अतएव इसको अवभासों की संभावना की शर्त माना जाना चाहिये, तथा उन अवभासों के ऊपर आश्रित निर्धारणा नहीं समझा जाना चाहिये। यह एक ऐसी प्रत्युपस्थापना है जिसकी सत्ता अनुभव के पूर्व से है, एवं जो अनिवार्यतया बाह्य अवभासों के मूल में अवस्थित रहता है।

३. देश कोई बौद्धिक अथवा जैसा कि कहा जाता है कोई प्रायेण वस्तुओं के संबंधों का सामान्य संबोध नहीं है, प्रत्युत शुद्ध प्रत्यक्ष है। क्योंकि प्रथमतः हमारे प्रति केवल एकमात्र देश प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है, और यदि बहुत से देशों की बात कही जाती है, तो उससे एकमेवाद्वितीय देश के भागों का ही तात्पर्य समझा जाता है। दूसरे, यह देश के भाग, सर्वव्यापी अथवा सर्वग्राही देश के मानों ऐसे संघटकों के रूप में जिनसे इस देश का संघटन हो सकता है, पूर्ववर्ती नहीं हो सकते, इसके विपरीत वे केवल उस के अन्तःवर्तिमात्र विचारे जा सकते हैं। साररूपेण देश एक ही है, इसके अन्तर की विविधता एवं इसीलिये प्रायेण देशों का सामान्य संबोध केवलमात्र परिसीमन के ऊपर निर्भर है। इससे यह निष्पन्न होता है कि प्रागनुभवात्मक सहज प्रत्यक्ष, न कि अनुभवात्मक प्रत्यक्ष, स्वयं देश के समग्र संबोधों के मूल में अवस्थित है। इसी प्रकार भूमितिशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त, जैसे उदाहरणार्थ, त्रिभुज में दो भुजाएँ मिलकर तीसरी से बड़ी होती हैं, रेखा और त्रिभुज के सामान्य संबोधों से कदापि व्युत्पन्न नहीं हो सकते, प्रत्युत वे तो केवल सहज प्रत्यक्ष के द्वारा ही निष्पादित हो सकते हैं, और वह सहज-प्रत्यक्ष भी स्वयंसिद्ध सुनिश्चितता समन्वित प्रागनु-

भवात्मक प्रत्यक्ष होना चाहिये ।

४. देश एक अनन्त प्रदत्त (या उपलब्ध) महत्परिमाण के रूप में प्रत्युपस्थापित किया जाता है । प्रत्येक संबोध एक ऐसी प्रत्युपस्थापना के रूप में ख्याल किया जाना चाहिये जो अपरिमित संख्या वाली विभिन्न संभव प्रत्युपस्थापनाओं में (उनके सामान्य लक्षण के रूप में) अन्तर्विष्ट रहता है, और जो इसलिये उनको अपने में अन्तर्विष्ट रखता है; परन्तु स्वरूपतः कोई भी संबोध असंख्य प्रत्युपस्थापनाओं को अपने भीतर धारण किये हुए ख्याल नहीं किया जा सकता । तथापि देश का विचार तो इस दूसरे प्रकार से ही किया जाता है, क्योंकि देश के सब भाग अनन्ततः साथ साथ अवस्थित रहते हैं । अतएव देश की आद्य प्रत्युपस्थापना एक प्रागनुभवात्मक सहज प्रत्यक्ष है, संबोध नहीं है ।

§ ३

देश के संबोध का पारतात्विक विवरण

पारतात्विक विवरण से मैं एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में किसी संबोध की व्याख्या को समझता हूँ जिससे अन्य प्रागनुभवात्मक संश्लिष्ट ज्ञान की संभावना समझी जा सके । इस उद्देश्य के लिये यह अपेक्षित है कि (१) इस प्रकार का ज्ञान वास्तव में उपलब्ध ज्ञान से निस्सृत हुआ हो, तथा (२) यह ज्ञान, केवल उस संबोध की एक विशिष्ट प्रकार की व्याख्या पद्धति की मान्यता के आधार पर ही संभव हो ।

भूमितिशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो देश के विशेष लक्षणों को संश्लिष्टतया किन्तु तिस पर भी प्रागनुभवात्मक पद्धति से निर्धारित करता है । तो हमारी देश संबंधी प्रतिस्थापना किस प्रकार की होनी चाहिये, जिससे हमारा उसका इस प्रकार का ज्ञान संभव हो सके ? यह मूलतः अन्तःप्रत्यक्ष होना चाहिये ; क्योंकि केवल संबोधमात्र से ऐसी किसी प्रस्थापना को नहीं निकाला जा सकता जो संबोध की सीमा से परे जाती हो—जैसा कि भूमितिशास्त्र में फिर भी होता ही है (विषय प्रवेश[४]) । किन्तु यह अन्तःप्रत्यक्ष प्रागनुभवात्मक होना चाहिये, अर्थात् किसी विषय के प्रत्यक्ष के पूर्व इस की उपलब्धि हमको अपने में होनी चाहिये, अतएव यह शुद्ध प्रत्यक्ष होना चाहिये, अनुभवाश्रित प्रत्यक्ष नहीं । क्योंकि भूमितिशास्त्र की सभी प्रस्थापनाएँ स्वयंसिद्ध होती हैं अर्थात् अपनी अनिवार्यता की चेतना के साथ आबद्ध होती हैं, जैसे कि यह प्रस्थापना कि देश की तीन विमायें हुआ करती हैं; पर इस प्रकार की स्थापनाएँ अनुभवाश्रित प्रस्थापनाएँ अथवा अनुभवजन्य विभावनाएँ नहीं हो सकतीं, और न ऐसी विभावनाओं से निकले हुए निष्कर्ष हो सकती हैं । (विषय प्रवेश २)

अब प्रश्न यह उठता है कि मानस् में एक ऐसा बाह्यप्रत्यक्ष किस प्रकार रह सकता है जो स्वयं विषयों से भी पूर्वगामी है, तथा जिसमें इन विषयों का संबोध अनुभव के पूर्व ही निर्धारित किया जा सकता है ?

स्पष्ट है कि ऐसा इसकी अपेक्षा अन्यथा किसी प्रकार से नहीं हो सकता (और वह भी उतनी सीमा तक जितनी) कि यह प्रत्यक्ष विषयी में उसके आकृत्यात्मक लक्षण के रूप में अवस्थित रहता हो, जिसके परिणामस्वरूप विषयों से प्रभावित) होने में (पर) यह (विषयी) उन (विषयों) की अपरोक्ष (अथवा अव्यवहि। प्रत्युपस्थापना को अथवा प्रत्यक्ष को प्राप्त कर लेता है, और इसलिये उतनी दूर तक उनको ग्रहण कर सकता है जहाँ तक यह सामान्यतया बाह्येन्द्रिय का आकार या आकृति है ।

इस प्रकार हमारी व्याख्या ही ऐसी है जो प्रागनुभवात्मक संश्लिष्ट ज्ञान के रूप में भूमितिशास्त्र की संभावना को बोधगम्य बना देती है । व्याख्या की कोई पद्धति, जो ऐसा करने में सफल होती, यद्यपि वह अन्यथा इसके कुछ सदृश भी प्रतीत क्यों न होती हो, तथापि इस कसौटी के द्वारा अधिकतम निश्चितता के साथ इस से स्पष्टतया पृथक् की जा सकती है ।

§ ४

उपर्युक्त संबोधों से निकलनेवाले निष्कर्ष

(क) देश स्वरूपतः निरपेक्ष वस्तुओं की किन्हीं भी विशेषताओं को प्रत्युपस्थापित नहीं करता और न वह उन वस्तुओं को उनके पारस्परिक संबंधों में प्रत्युपस्थापित करता है, अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि देश किसी ऐसी निर्धारणा को प्रत्युपस्थापित नहीं करता जो स्वयं विषयों से सम्पृक्त है, तथा जो उस समय भी बनी रहती है जब कि प्रत्यक्ष की समग्र विषयीगत अवस्थाओं का अपहार कर लिया जाता है । क्योंकि उन वस्तुओं की सत्ता के ग्रहण के पूर्व जिनसे निर्धारणाओं का संबंध है, किसी भी निर्धारणा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, चाहे वे निर्धारणाएँ निरपेक्ष हों चाहे सापेक्ष, और इसीलिये उनमें से किसी प्रत्यक्ष अनुभव के पूर्व नहीं हो सकता ।

(ख) देश बाह्येन्द्रिय के द्वारा गृहीत सब अवभासों के आकारमात्र के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, अर्थात् वह इन्द्रियग्राह्यता की विषयीगत शर्त है, केवल जिसके आधीन हमारे लिये बाह्य प्रत्यक्ष संभव है । क्योंकि, अब यह तो निश्चित ही है कि विषयी की ग्रहणशीलता, विषय के द्वारा प्रभावित होने की इसकी क्षमता इन विषयों के सभी प्रत्यक्षों की अवश्यमेव पूर्वगामिनी है, अतः यह बात स्वयं समझ में

आ जाती है कि सब अवभासों का आकार किस प्रकार सब वास्तविक प्रत्यक्षों के पहले ही उपलब्ध हो सकता है, और इसलिये मानस् में अनुभव के पूर्व इसकी सत्ता हो सकती है, एवं एक शुद्ध प्रत्यक्ष के रूप में, (जिस में सब विषय निर्धारित होने चाहियें) इसमें अनुभव के पूर्व ऐसे तत्त्व (या सिद्धान्त) अन्तर्विष्ट हो सकते हैं, जो इन विषयों के संबंधों को निर्धारित करते हैं।

इसलिये हम यह जो देश के संबंध में और वितत वस्तुओं इत्यादि के संबंध में कुछ कहते हैं, तो वह केवल मानवीय दृष्टिविन्दु से कह सकते हैं। परन्तु यदि हम उस विषयीगत शर्त या प्रतिबन्ध से, जिसके अधीन रह कर ही हम को बाह्य प्रत्यक्ष उपलब्ध हो सकता है, हट जाएँ (और यह प्रतिबन्ध है हमारी बाह्यविषयों के द्वारा प्रभावित होने की संभाव्यता), तो हमारे लिये देश की प्रत्युपस्थापना का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता। वस्तुओं के साथ इस विधेय का कथन केवल उस सीमा तक होता है जिस सीमा तक वे हमको प्रतीत होती हैं, अर्थात् जहाँ तक वे इन्द्रियग्राह्यता के विषय हैं। इस ग्रहणशीलता का स्थायी आकार जिसको हम इन्द्रियग्राह्यता कहते हैं, उन सब संबंधों की एक अनिवार्य शर्त है, जिनमें विषयों का हमारे बाहर स्थित रूप में प्रत्यक्ष होता है और यदि इन विषयों का अपहार कर लिया जाता है, तो एक शुद्ध प्रत्यक्ष बच रहता है जो देश के नाम को वहन करता है। क्योंकि हम इन्द्रियग्राह्यता की विशिष्ट शर्तों को वस्तुओं की संभावना की शर्त नहीं बना सकते, प्रत्युत केवल उनके अवभासों की शर्त मान सकते हैं। अतएव हम भले प्रकार कह सकते हैं कि देश उन सब वस्तुओं को व्याप्त करता है जो हम को अपने से बाहर प्रत्यक्ष अवभासित हो सकती हैं, परन्तु सब वस्तुओं को स्वयं स्वरूपतः व्याप्त नहीं करता, फिर चाहे उनका प्रत्यक्ष किसी भी विषयी द्वारा होता हो, अथवा चाहे उनका प्रत्यक्ष होता हो अथवा न भी होता हो। क्योंकि हम अन्य विचार करने वाले सत्त्वों के प्रत्यक्षों के संबंध में कदापि यह निर्णय नहीं कर सकते कि वे भी उन्हीं प्रतिबन्धों से बँधे हैं या नहीं, जिनसे हमारे प्रत्यक्ष परिसीमित हैं, तथा जो प्रतिबन्ध हमारे लिये सर्वत्र सत्य हैं। यदि हम किसी निर्णय के विषयी के संबोध के साथ उस मर्यादा को भी जोड़ देते हैं जिसके अधीन निर्णय किया गया था, तो वह निर्णय निर्बन्ध भाव से वैध या प्रामाणिक हो जाती है। यह स्थापना कि "देश में सब वस्तुएँ परस्पर एक दूसरे के पार्श्व में स्थित होती हैं" केवल इस मर्यादा के अधीन वैध है कि इन वस्तुओं को हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषयों के रूप में ग्रहण किया जाए। अब यदि मैं संबोध के साथ प्रतिबन्ध को जोड़ दूं, और कहूँ कि बाह्य अवभासों के रूप में सब वस्तुएँ देश में परस्पर एक दूसरे के पार्श्व में स्थित रहती हैं, तो यह नियम सर्वत्र प्रामाणिक होगा और सो भी बिना किसी मर्यादा (या परिसी-

मन) के। अतएव हमारे यह विवरण उन सब वस्तुओं के संबंध में जो कि हमारे प्रति बाह्यतः विषयों के रूप में प्रत्युपस्थापित की जा सकती हैं, देश की वास्तविकता अर्थात् विषयगत प्रामाणिकता को स्थापित करते हैं, परन्तु इसके साथ ही साथ उसी समय वे उन वस्तुओं के संबंध में (जो कि बुद्धि के द्वारा स्वरूपतः विचारित होती हैं अर्थात् जब कि वे हमारी इन्द्रियग्राह्यता की रचना पर ध्यान दिये बिना विचारित होती हैं) देश की विषयिता को स्थापित करते हैं। अतएव हम समग्र संभव बाह्य अनुभव के संबंध में देश की अनुभवाश्रित वास्तविकता का निश्चयपूर्वक कथन करते हैं और फिर इसके साथ ही साथ उस की पारतात्त्विक विषयिता का भी उसी समय कथन करते हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कहते हैं कि ज्योंही हम उपर्युक्त प्रतिबन्ध को अर्थात् संभव अनुभव के साथ संबंध की मर्यादा को हटाते हैं और उस को स्वरूपतः निरपेक्ष वस्तुओं के अधिष्ठित मूलाधार के रूप में मानते हैं, तो वह कुछ भी नहीं रह जाता है।

किन्तु देश के अतिरिक्त (या देश के बाहर) ऐसी कोई अन्य प्रत्युपस्थापना नहीं जो किसी बाह्य वस्तु की ओर संकेत करने वाली हो एवं जिसको एक साथ प्रागनुभवी और विषयगत कहा जा सके। क्योंकि अन्य कोई ऐसी विषयीगत प्रत्युपस्थापना नहीं है जिसे हम (उसी प्रकार) प्रागनुभवात्मक संश्लिष्ट प्रस्थापना को व्युत्पादित कर सकते हैं, जिस प्रकार देशगत प्रत्यक्ष से कर सकते हैं (§३)। अतएव यदि नपे तुले शब्दों में कहना पड़े, तो कहना चाहिये कि इन अन्य प्रत्युपस्थापनाओं में विषयिता नहीं है, यद्यपि वे देश की प्रत्युपस्थापना के साथ यह सादृश्य रखती हैं कि वे केवल हमारी संवेदना के ढंग की विषयीगत संघटना से संबद्ध हैं, जैसा कि उदाहरणार्थ वर्ण (रूप) शब्द और उष्णता (स्पर्श) के संवेदनों के संग में नेत्र, श्रवण और त्वचा की संघटना के संबंध में देखा जा सकता है, जो केवल संवेदन हैं प्रत्यक्ष नहीं हैं अतएव किसी विषय का ज्ञान उत्पन्न नहीं करते, किसी प्रागनुभवात्मक ज्ञान को उत्पन्न करना तो दूर की बात है।

उपर्युक्त कथन का उद्देश्य केवल किसी को भी यह ख्याल करने से रोकना है कि यहाँ देश की जिस विषयिता का निश्चयपूर्वक कथन किया गया है, उसको वर्ण या स्वाद के जैसे उदाहरणों से सिद्ध किया जा सकता है, जो सब के सब भी इस कार्य के लिये अपर्याप्त हैं, क्योंकि वर्ण और स्वाद इत्यादि को औचित्यपूर्णता के साथ वस्तुओं का गुण भी नहीं माना जा सकता, उनको केवल विषयी में उत्पन्न हुआ परिवर्त्तन माना जा सकता है, और परिवर्त्तन भी कैसे कि जो विभिन्न व्यक्तियों के लिये विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। क्योंकि ऐसे प्रसंग में जो वस्तु मूलतः केवल अवभासमात्र है, (जैसे उदाहरण के लिये एक गुलाब को ले लीजिये) उसको अनुभवात्मक समझ के द्वारा

स्वयं स्वरूपतः वस्तु मान लिया जाता है, तथापि जो अपने वर्ण (रंग) के नाते प्रत्येक नेत्र को भिन्न प्रतीत हो सकती है। इसके विपरीत, देश में स्थित अवभासों का पारतात्त्विक संबोध इन तथ्यों का आलोचनात्मक अनुस्मारक है (१) कि देश के भीतर प्रत्यक्षीकृत कुछ भी स्वरूपतः निरपेक्ष वस्तु नहीं हो सकती (२) कि देश स्वरूपतः निरपेक्ष वस्तुओं की अपनी विशिष्ट आन्तरिक विशेषता के रूप में उनमें अन्तर्विष्ट रहने वाला आकार नहीं है, (३) कि विषय अपने (निरपेक्ष) रूप में हमारे लिये पूर्णतया अज्ञात हैं और (४) कि जिनको हम बाह्य विषय कहते हैं, वे हमारी संवेदनशीलता की केवल उन प्रत्युपस्थापनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं जिनका आकार देश है। परन्तु इन प्रत्युपस्थापनाओं की सच्ची प्रतिसापेक्षिणी, निरपेक्ष वस्तु न तो इन के द्वारा जानी जाती है और न जानी जा सकती है, पर फिर इन के संबंध में अनुभव के क्षेत्र में भी तो कभी कोई प्रश्न नहीं पूछा जाता।

द्वितीय खंड

काल

§ ५

काल के संबोध का पारतात्त्विक विवरण

१. काल कोई आनुभविक संबोध नहीं, क्योंकि यदि काल की प्रत्युपस्थापना अनुभव से पहले ही मूल में अधिष्ठित न हो, तो समकालिकता अथवा पौर्वापर्य्य दोनों ही हमारे प्रत्यक्ष में कभी उपलब्ध नहीं हो सकेंगे। केवल काल की पूर्वकल्पना के आधार पर ही हम अपने प्रति कुछ वस्तुओं को साथ साथ एक समय में स्थित (सम कालिकता) अथवा विभिन्न कालों में स्थित (पौर्वापर्य) प्रत्युपस्थापित कर सकते हैं।

२. काल सभी प्रत्यक्षों के मूल में अधिष्ठित एक अनिवार्य प्रत्युपस्थापना है। अवभासों के संबंध में सामान्यतोभावेन काल को हटाया नहीं जा सकता, यद्यपि हम काल में से अवभासों को भले प्रकार से पृथक् कर सकते हैं। अतएव काल अनुभव के पूर्व ही उपलब्ध है। केवल इस में ही अवभासों की समग्र यथार्थता संभव है। यह अवभास चाहे भले ही सब के सब विलीन हो जाएँ, परन्तु, उनकी सार्वभौम संभावना की शर्त के रूप में काल स्वयं अपाकृत नहीं हो सकता।

३. कालिक संबंधों के स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों की संभावना अथवा कालसंबंधी सामान्य स्वयंसिद्ध तत्व भी इसी प्रागनुभवात्मक अपरिहार्यता के ऊपर ही आश्रित हैं। काल की विभा केवल एक होती है; विभिन्न काल समकालिक नहीं होते, पूर्वापर होते हैं (ठीक जैसे कि विभिन्न देश पूर्वापर नहीं होते, समकालिक होते हैं)। यह आधारभूत सिद्धान्त अनुभव से व्युत्पादित नहीं हो सकते, क्योंकि अनुभव न तो कठोर सर्वव्याप्ति प्रदान कर सकता है और न स्वतःसिद्ध सुनिश्चितता। अनुभव के आधार पर तो हम इतना ही कहने के योग्य हो सकते हैं कि सामान्य अनुभव हमको यह शिक्षा देता है ; यह नहीं कह सकते कि यह बात अवश्यमेव ऐसी होनी चाहिये। यह सिद्धान्त ऐसे नियमों के रूप में प्रामाणिक है, जिनके अधीन अनुभव संभव होते हैं; वे हमको अनुभवों के संबंध में शिक्षा देते हैं, अनुभवों के द्वारा शिक्षा नहीं देते।

४. काल तर्काश्रित या उस प्रकार संबोध नहीं, जिसको सामान्य या सर्वीय

संबोध कहा जाता है, प्रत्युत इन्द्रियग्राह्य प्रत्यक्ष का शुद्ध आकार है। विभिन्न काल एक अभिन्न काल के भागमात्र हैं। पर जो प्रत्युपस्थापना केवल एक अकेले विषय द्वारा प्रदान की जा सकती है, प्रत्यक्ष कहलाती है। और फिर इसके अतिरिक्त यह प्रस्थापना कि विभिन्न काल समकालिक नहीं हो सकते, किसी सामान्य या सर्वीय संबोध से व्युत्पादित होने योग्य नहीं है। यह तो एक संश्लिष्ट प्रस्थापना है और केवल संबोध से उद्भूत नहीं हो सकती। अतएव यह काल के प्रत्यक्ष और प्रत्युपस्थापन में अपरोक्ष प्रकार से अन्तर्विष्ट है।

५. काल की अनन्तता का आशय इससे अधिक और कुछ नहीं कि काल का प्रत्येक अवच्छिन्न परिमाण उसके मूल में अधिष्ठित एक अभिन्न काल के अवच्छेदन के द्वारा ही संभव होता है। अतएव मूल प्रत्युपस्थापना अर्थात् काल अनवच्छिन्न रूप में ही उपलब्ध होनी चाहिये। परन्तु जब किसी विषय के स्वयं भाग तक और प्रत्येक मात्रा तक केवल परिसीमन के द्वारा अवच्छिन्नतया प्रत्युपस्थापित किये जा सकते हों, तब सब प्रत्युपस्थापना संबोधों के द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें तो केवल आंशिक प्रत्युपस्थापना ही अन्तर्विष्ट होती है। इसके विपरीत इस प्रकार के संबोध स्वयं अव्यवहित प्रत्यक्ष के आधार पर आश्रित होने चाहिये।

§ ६

काल के संबोध का पारतात्त्विक विवरण

यहाँ मैं §५,३ की ओर संकेत कर सकता हूँ, जहाँ मैंने संक्षेप की दृष्टि से 'पारतात्त्विक विवरण' शीर्षक के अन्तर्गत उस विषय का प्रतिपादन किया है जो वास्तव में अनुभवातीत है। अब यहाँ मैं इतना और जोड़ सकता हूँ कि परिवर्त्तन का संबोध, और उसके साथ स्थान परिवर्त्तन के रूप में गति का संबोध केवल काल के द्वारा और काल की प्रत्युपस्थापना में ही संभव है; और यदि यह प्रत्युपस्थापना एक प्रागनुभवात्मक अन्तःप्रत्यक्ष न होती, तो फिर कोई भी संबोध चाहे वह कुछ भी क्यों न होता, परिवर्त्तन की संभावना को बुद्धिग्राह्य न बना सकता; अर्थात् एक ही विषय में व्याघात की सीमा तक पहुँचने वाले विरोधी विधेयों के संयोग को बुद्धिग्राह्य न बना सकता, जिसका उदाहरण एक अभिन्न वस्तु का एक स्थान पर एक साथ होना और न होना है। दो व्याघात की सीमा तक विरोधी विधेय एक अभिन्न विषय में, केवल काल-क्रम में ही एक दूसरे के पश्चात् मिल सकते हैं। इस प्रकार हमारा काल का संबोध उस प्रागनुभवात्मक संश्लिष्ट ज्ञान राशि की संभावना का विवरण प्रस्तुत करता है, जो कि सामान्य गति सिद्धान्त में प्रदर्शित होती

है, तथा जो किसी प्रकार कम फलदायक नहीं है ।

§ ७

उपर्युक्त संबोधों से निकलने वाले निष्कर्ष

(क) काल कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी सत्ता स्वतःसिद्ध हो, अथवा जो वस्तुओं में विषयगत निर्धारण के रूप में अन्तर्विष्ट हो; और इसीलिये जब कि प्रत्यक्ष की सब विषयिगत उपाधियों का अपकर्षण किया जाता है, तो यह अवशिष्ट नहीं रहता । क्योंकि प्रथम विकल्प को मानने पर काल ऐसा तथ्य सिद्ध होगा, जो बिना वास्तविक विषय हुए वास्तविक हो । दूसरा विकल्प मानने पर, स्वयं वस्तुओं में अन्तर्विष्ट निर्धारण अथवा क्रम व्यवस्था के रूप में यह उन वस्तुओं की सत्ता की शर्त्त होते हुए उनका पूर्वगामी नहीं हो सकता, एवं संश्लिष्ट प्रस्थापना के द्वारा अनुभव के पूर्व संज्ञात और प्रत्यक्षीकृत नहीं हो सकता । पर इसके विपरीत यह अन्तिम बात तब भले प्रकार संभव हो जाती है, जब कि काल उस विषयिगत प्रतिबन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, केवल जिसके अधीन हम में प्रत्यक्ष घटित होता है । क्योंकि ऐसी अवस्था में ही आन्तरिक प्रत्यक्ष का यह प्रकार विषयों के पूर्व अतएव अनुभव से पूर्व प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है ।

(ख) काल आन्तरिक इन्द्रिय के आकार अर्थात् हमारे आत्म के प्रत्यक्ष के और और हमारी आन्तर-अवस्था के आकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । क्योंकि काल बाह्य अवभासों का कोई निर्धारण नहीं हो सकता; इसका वास्ता न तो आकृति से है, और न स्थिति इत्यादि से है; इसके विपरीत हमारी आन्तर अवस्था में जो प्रत्युपस्थापनाएँ उनके संबंधों का निर्धारण करता है । और क्योंकि यह आभ्यन्तर प्रत्यक्ष किसी आकृति को प्रदान नहीं करता, अतएव ठीक इसी कारण हम इस कमी को सादृश्य के आधार पर पूरा करने की चेष्टा किया करते हैं, और कालानुक्रम को एक अनन्त की ओर अग्रसर होनेवाली रेखा के द्वारा प्रत्युस्थापित करते हैं, जिसमें कि वैविध्य केवल एक विभा वाली शृंखला को संघटित करता है, और इस रेखा के विशिष्ट लक्षणों से, एक अपवाद को छोड़कर काल के विशिष्ट लक्षणों या गुणों के विषय में निष्कर्ष निकाला करते हैं; और अपवाद यह है कि जहाँ रेखा के भाग समकालिक होते हैं, वहाँ इसके विपरीत काल के भाग सर्वदा पारस्परिक पौर्वापर्य्य के अनुक्रम में आते हैं । काल के संबंध सब बाह्य प्रत्यक्ष में अभिव्यक्त किये जाने के योग्य हैं; इससे यह भी स्पष्ट है कि काल की प्रत्युपस्थापना स्वयं एक प्रत्यक्ष है ।

(ग) काल सभी अवभासों की प्रागनुभवी आकारिक शर्त है । जहाँ तक देश का

संबंध है, वह समग्र बाह्य प्रत्यक्षों के विशुद्ध आकार होने के नाते केवल बाह्य अवभासों की प्रागनुभवात्मक शर्त ही है। परन्तु इसके विपरीत, क्योंकि सब प्रत्युपस्थापनाओं का सबन्ध चाहे उनका विषय बाह्य वस्तुएँ हों अथवा न हों, स्वयं अपने आप मानस की निर्धारणा के रूप में हमारी आन्तरिक अवस्था से होता है, किन्तु यह आन्तरिक अवस्था आन्तरिक प्रत्यक्ष की औपचारिक शर्त के अधीन रहती है, अतएव काल से संबद्ध है, इस हेतु काल सामान्यतया समग्र अवभासों की प्रागनुभवात्मक शर्त है, और निश्चय-मेव हमारे आन्तरिक अवभासों का अर्थात् हमारी आत्माओं का अव्यवहित और इसी कारण बाह्यावभासों की भी व्यवहित शर्त है। जैसे मैं अनुभव के पूर्व यह कह सकता हूँ कि सब बाह्य अवभास देश में अवस्थित हैं, एवं वे देश के सम्बन्धों के अनुसार ही प्रागनुभवात्मक ढंग से निर्धारित होते हैं, वैसे ही मैं अन्तःकरण के नियम के आधार पर नितान्त सामान्यतया यह भी कह सकता हूँ, कि यावत् अवभास अर्थात् इन्द्रियों के समग्र विषय काल में अवस्थित हैं, एवं अनिवार्यतया कालिक संबंधों में स्थित रहते हैं।

यदि हम, अपने अभ्यन्तरेण आत्मप्रत्यक्ष के प्रकार से, एवं उस प्रत्यक्ष के प्रकार से जिसके द्वारा हम सब बाह्य प्रत्यक्षों को भी अपनी प्रत्युपस्थापना की शक्ति में ग्रहण करते हैं, निवर्त्तन करें, और इस प्रकार विषयों को उनके वास्तविक रूप में ग्रहण करें, तो काल कुछ भी नहीं रहता, अथवा अवस्तु ठहरता है। काल केवल अव-भासों के संबंध में ही वास्तविक प्रामाणिकता वाला होता है, क्योंकि यह अवभास ही तो वे वस्तुएँ है, जिनको हम अपनी इन्द्रियों के विषय-रूप में ग्रहण करते। परन्तु यदि हम अपने प्रत्यक्ष की विषयग्राहिता से, अर्थात् परिणामतः उस प्रत्युपस्थापना के प्रकार सेजो कि हमारी विशिष्टता है, निवर्त्तन करें, और वस्तुओं की सामान्यभाव से चर्चा करें, तो फिर काल वास्तविक विषय नहीं रह जाता। इस प्रकार काल केवल हमारे (मान-वीय) प्रत्यक्ष का विषयिगत प्रतिबन्ध है, जो सर्वदा ही इन्द्रियग्राह्य होता है, अर्थात् उस सीमा तक इन्द्रियग्राह्य होता है जहाँ तक हम विषयों के द्वारा प्रभावित होते हैं, और विषयी के बाहर अपने में कुछ भी नहीं है। तथापि यह सब होने पर भी, समग्र अवभासों के संबंध में, अतएव उन सब वस्तुओं के संबंध में भी जो हमारे अनुभव में प्रविष्ट हो सकती हैं, काल अनिवार्यतया वास्तविक है। हम नहीं कह सकते कि सब वस्तुएँ काल में स्थित हैं, क्योंकि सर्वसामान्य वस्तुओं के इस संबोध में स्वयं उनके प्रत्यक्ष के प्रत्येक प्रकार से निवर्त्तन हो जाता है, परन्तु यही तो वह समीचीन प्रतिबन्ध है केवल जिसके अधीन विषयों को काल में स्थित प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है। परन्तु अब यदि प्रतिबंध या शर्त को संबोध के साथ जोड़ दिया जाए, और यह कहा जाए कि अवभास रूप में सब वस्तुएँ काल में स्थित हैं, तब प्रस्थापना अपनी अच्छी वास्तविक

प्रामाणिकता और प्रागनुभवात्मक सर्वव्यापी से समन्वित हो जाती है।

अतएव हमारे कथन काल की अनुभवगम्य वास्तविक की शिक्षा देते हैं, अर्थात् उन सब विषयों के संबंध में इसकी वास्तविक प्रामाणिकता को सिखाते हैं जो कभी हमारी इन्द्रियों को उपलब्ध हो सकते हैं। और क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष सर्वदा ही इन्द्रियग्राह्य होता है, अतः अनुभव में कदापि हमको ऐसा कोई विषय उपलब्ध नहीं हो सकता, जो कि काल के प्रतिबंध के समनुरूप न हो। इसके विपरीत हम काल के चरम सत्य होने के सब दावों का विरोध करते हैं, अर्थात् हम इस बात को स्वीकार नहीं करते कि हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आकार की अपेक्षा से कुछ भी वास्ता न रखते हुए, काल निरपेक्ष वस्तुओं से उनके प्रतिबन्ध या विशिष्टताओं के रूप में संबद्ध है। वस्तुओं के जो गुण उनके निरपेक्ष स्वरूप से संबंध रखते हैं, वे हमको इन्द्रियों के द्वारा कदापि उपलब्ध नहीं हो सकते। बस इस प्रकार इसी में काल की अनुभवातीत भावगम्यता है, जिसके अनुसार यदि इन्द्रिय प्रत्यक्ष की विषयिगत शर्तों से निवर्त्तन किया जाता है, तो काल नितान्त कुछ भी नहीं रह जाता, तथा उसका आरोप विषयों के अपने निरपेक्ष रूप पर (हमारे प्रत्यक्ष के साथ उनके संबंध से भी पृथक्) न तो उपजीव्यता के नाते से किया जा सकता है, और न अन्तर्भाव के नाते से किया जा सकता है। तथापि काल की इस मानसिकता की तुलना संवेदन की प्रवंचकता से उतनी ही कम की जा सकती है जितनी देश की मानसिकता की, क्योंकि उसके संवेदन के पक्ष में तो यह मान लिया जाता है कि जिस अवभास में इन्द्रियग्राह्य विधेय अन्तर्विष्ट होते हैं, स्वयं उसी में वैषयिक वास्तविकता भी होती है, (किन्तु) इस प्रकार की वैषयिक वास्तविकता यहाँ (देश और काल के प्रसंग में) पूर्णतया दूरापास्त हो जाती है, हाँ उस सीमा तक ऐसा नहीं होता जिस सीमा तक यह अनुभवगतमात्र होती है अर्थात् उस सीमा तक जिस तक हम स्वयं विषय को भी अवभासमात्र मानते हैं। इस संबंध में पिछले खंड के अन्त में जो कुछ कहा गया है वह भी दृष्टव्य है।

§ ८
व्याख्या

यह जो काल की आनुभविक वास्तविकता को स्वीकार करने वाला किन्तु उसकी निरपेक्ष अनुभवातीत यथार्थता को अस्वीकार करने वाला उपर्युक्त सिद्धान्त है, इसके विरुद्ध मैंने बहुत से सूझबूझ वाले लोगों को एक स्वर से आपत्ति उठाते सुना है। इससे मुझे अवश्यमेव यह विचार करना पड़ा है कि यह आपत्ति उन सब पाठकों को स्वाभाविकतया सूझ पड़ेगी जो इस मेरी विचार पद्धति से अपरिचित हैं। उनकी आपत्ति

इस प्रकार परिवर्त्तन वास्तविक होते हैं (यदि सब बाह्य अवभासों को उनके परिवर्त्तनों के सहित अस्वीकार भी क्यों न कर दिया जाए तो भी यह परिवर्तन की वास्तविकता तो स्वयं हमारी अपनी प्रत्युपस्थापनाओं के परिवर्त्तन से ही सिद्ध है) । परिवर्त्तन काल में ही संभव है, अतएव काल कुछ ऐसा तत्त्व सिद्ध होता है जो वास्तविक है। इस आपत्ति के प्रत्याख्यान में कुछ भी कठिनाई नहीं है। मैं समग्र युक्ति को माने लेता हूँ। निश्चयमेव काल कुछ वास्तविक तत्त्व है, अर्थात् वह आन्तरप्रत्यक्ष वास्तविक आकार है। अतएव आन्तरानुभव के संबंध में उसमें विषयिगत वास्तविकता रहती है, अर्थात् उसके अन्तर्गत मुझे वास्तव में काल और अपनी निर्धारणाओं की प्रत्युपस्थापनाएँ प्राप्त होती हैं। अतएव काल वास्तविक तो है, परन्तु विषय के रूप में नहीं, प्रत्युत मेरे अपने आपको विषय रूप जानने की प्रत्युपस्थापना के ढंग में वास्तविक है। यदि इन्द्रियग्राह्यता की इस शर्त के बिना मैं स्वयं अपना प्रत्यक्ष कर सकता, अथवा अन्य कोई सत्त्व (या भूत) मेरा प्रत्यक्ष कर सकता, तो वे ही निर्धारणाएँ जिनको इस समय अपने प्रति परिणामों के रूप में प्रत्युपस्थापित करते हैं, हमको ऐसा ज्ञान प्रदान करतीं, जिनमें काल की प्रत्युपस्थापना और इसी हेतु परिवर्त्तन की भी प्रत्युपस्थापना नाम को भी प्रविष्ट न होतीं। इस प्रकार हमारे समग्र अनुभवों के प्रतिबन्ध के रूप में काल की अनुभवाश्रित वास्तविकता बनी रहती है। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार केवल इसकी चरम निरपेक्ष वास्तविकता स्वीकार नहीं की जाती। काल हमारे आन्तरिक प्रत्यक्ष के आकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। [का] यदि हमारे आन्तरिक प्रत्यक्ष से हमारी इन्द्रियग्राह्यता के प्रतिबन्ध को हटा दिया जाए, तो इसके साथ इसी के समान काल के संबोध का भी लोप हो जाता है, काल स्वयं विषयों में अन्तर्विष्ट नहीं रहता, प्रत्युत केवल विषयी (या द्रष्टा) में आश्रित है, जो विषयों का प्रत्यक्ष करता है।

यह आपत्ति इतने एक स्वर के साथ उठाई जाती है, और सो भी निश्चय ही उन लोगों के द्वारा जो देश की मानसिकता के विरुद्ध तो कुछ भी स्पष्ट नहीं जानते; इस का मूल कारण निम्नलिखित है। वे यह आशा तो करते नहीं कि वे देश की चरम निरपेक्ष वास्तविकता को स्वयंसिद्ध रूप में स्पष्ट सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि उनको आदर्श-

---

का मैं सचमुच यह कह सकता हूँ कि मेरी प्रत्युपस्थापनाएँ एक दूसरे के पश्चात् आती हैं, पर यह कहना है तो बस इतना कहना है कि हमको उनकी चेतना, अपने अन्तःकरण के आकार के अनुसार मानों काल के पौर्वापर्य क्रम में हुआ करती है। अतएव समय न तो अपने आप में ही कुछ है और न वस्तुओं में (स्वतः) अन्तर्विष्ट विषयगत निर्धारणा (= नियंत्रणा) ही है।

वाद का सामना करना पड़ता है, जिसके अनुसार बाह्यविषयों की यथार्थता की कोई समुचित उपपत्ति प्रदान करना बनता नहीं है; इसके विपरीत मेरे अन्तःकरण के विषयों (मेरे अपने आप और मेरी अवस्था) की वास्तविकता चेतना के द्वारा अपरोक्ष रूप से स्पष्ट है। बाह्यविषय तो भ्रममात्र हो सकते हैं, परन्तु अन्तःप्रत्यक्ष के विषय उनके मतानुसार अप्रत्याख्येय प्रकार से यत्किञ्चित् यथार्थ तत्व हैं। परन्तु जिस बात का इन लोगों ने विचार नहीं किया, वह यह है कि प्रत्युपस्थापना के रूप दोनों की वास्तविकता निर्विवाद होने के बावजूद भी, बाह्यप्रत्यक्ष और आन्तरप्रत्यक्ष दोनों के विषय समान रूप से अवभासमात्र हैं, जिस अवभास के सर्वदा दो पक्ष होते हैं: एक पक्ष वह है जिसके द्वारा विषय अपने स्वरूप में देखा जाता है (एवं उसके प्रत्यक्ष करने के ढंग पर भी ध्यान नहीं दिया जाता, अतएव इस कारण उसका स्वरूप भी सर्वदा संशयापन्न या अनिर्णीत ही बना रहता है), दूसरा पक्ष वह है जिसके द्वारा इस विषय के प्रत्यक्ष के आकार का विचार किया जाता है, जिस आकार को स्वतः विषय में नहीं खोजा जाना चाहिये, प्रत्युत विषयी में, जिसको उस विषय की प्रतीति होती है, ढूँढ़ना चाहिये; तथापि इतना होने पर भी यह आकार विषय के अवभास में वास्तव में अपरिहार्यतया अन्तर्विष्ट रहता है।

इसलिये काल और देशज्ञान के दो स्रोत हैं, जिनसे विविध प्रागनुभवी संश्लिष्ट ज्ञान (अथवा प्रागनुभवात्मक प्रकार से विविध संश्लिष्ट ज्ञान) व्युत्पादित किये जा सकते हैं, जैसे कि विशेष प्रकार से शुद्ध गणितशास्त्र देशसंबंधी ज्ञान की दृष्टि से उसके संबंधों का एक भास्वर उदाहरण उपस्थित करता है। देश और काल दोनों साथ मिलकर समस्त इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के शुद्ध आकार हैं, और इसलिये संश्लिष्ट प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाओं को संभवपर बनाते हैं। परन्तु यह ज्ञान के प्रागनुभवात्मक स्रोत (क्योंकि वे हमारी संवेद्यता की केवल शर्तमात्र हैं) बस इसी कारण वे अपनी मर्यादा का भी निर्धारण करते हैं, अर्थात् वे विषयों पर उसी सीमा तक लागू होते हैं, जिस सीमा तक वे अवभासरूप में देखे जाते हैं और वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में प्रस्तुत नहीं करते। उनकी प्रामाणिकता का क्षेत्र बस इतना है। यदि इसका अतिक्रमण किया जाए, तो उनका कोई भी वैषयिक उपयोग नहीं किया जा सकता। देश और काल की यह यथार्थता अनुभवज्ञान की सुनिश्चितता को अछूता रहने देती है; क्योंकि चाहें तो यह आकार स्वयं वस्तुओं के सच्चे स्वरूप में अन्तर्विष्ट हों अथवा हमारे द्वारा गृहीत उनके प्रत्यक्षों में अन्तर्विष्ट, दोनों ही अवस्थाओं में हम उनके अनुभव-ज्ञान के विषय विश्रब्ध रहते हैं। इसके विपरीत जो दार्शनिक देश और काल की निरपेक्ष यथार्थता को मानते हैं (फिर चाहे वह उसको उपजीव्य या केवल अन्तर्विष्ट ही क्यों

न मानते हों), उनको स्वयं अनुभव के सिद्धान्त के विरुद्ध होना ही पड़ेगा। क्योंकि यदि वे प्रथम विकल्प के पक्ष में निर्णय करें (जो कि सामान्यतया प्रकृति गणितज्ञ विद्यार्थियों के दल की दृष्टि है), तो उनको दो शाश्वत और अनन्त स्वस्थित अवस्तुओं (=देश और काल) को स्वीकार करना पड़ता है जो (उनमें बिना कुछ भी यथार्थ होने पर भी) हैं तो सही, पर केवल इसलिये कि जो कुछ भी वास्तविक है वह सब उनके पेटे में समा सके। यदि वे दूसरे विकल्प को स्वीकार करें (जैसा कि प्रकृति के कुछ दार्शनिक विद्यार्थियों के द्वारा माना जाता है) एवं देश और काल उनको अनुभव से निवर्तित, (तथापि इस पृथकता में अविविक्त भाव से प्रत्युपस्थापित) (पास-पास या पौर्वापर्य में स्थित) अवभासों के संबंध प्रतीत हों, तो उनको यह अस्वीकार करना पड़ता है कि यथार्थ वस्तुओं के प्रति (उदाहरणार्थ देश में) प्रागनुभवात्मक गणित सिद्धान्तों में कोई प्रामाणिकता है; या कम से कम यह अस्वीकार करना पड़ता है कि उनमें स्वयंसिद्ध निश्चितता है; क्योंकि इस प्रकार की निश्चितता अनुभवगम्यता में तो बिल्कुल उपलब्ध नहीं होती, तथा इस दृष्टिकोण के अनुसार तो देश और काल के प्रागनुभवात्मक संबोध सचमुच केवल कल्पना की सृष्टि ठहरते हैं, जिनका उद्‌गम वास्तव में अनुभव में खोजा जाना चाहिये, जिस अनुभव में से कल्पना ने कुछ ऐसी वस्तु निर्माण कर ली है, जिसमें उन संबंधों का सामान्य सचमुच अन्तर्विष्ट है, परन्तु जो उन मर्यादाओं के बिना नहीं टिक सकता, जो प्रकृति ने उन पर लगा दी हैं। प्रथम श्रेणी के विचारकों की इतनी जीत है कि वे अवभासों के क्षेत्र को गणित की प्रस्थापनाओं के लिये उन्मुक्त कर देते हैं। इसके विपरीत, जब वे बोधवृत्ति के साहाय्य से इस क्षेत्र के अतिक्रमण की इच्छा करते हैं, तो वे इन्हीं प्रतिबन्धों या शर्तों द्वारा बड़े भारी झमेले में फँस जाते हैं। दूसरे पक्ष के विचारकों को देश और काल के संबंध में सचमुच यह सुविधा प्राप्त है कि यदि वे विषयों के संबंध में, उनको अवभास रूप में न मान कर प्रत्युत केवल बोधवृत्ति के साथ उनके संबंध के विषय में निर्णय करना चाहें, तो देश और काल की प्रत्युपस्थापनाएँ उनके मार्ग में बाधाएँ नहीं बनतीं। परन्तु क्योंकि उनके पास सच्चे और विषयगत प्रागनुभवात्मक प्रत्यक्ष का अभाव है, इस कारण न तो वे प्रागनुभवात्मक गणितज्ञान की संभावना का आधार बतला सकते हैं और न अनुभव की प्रस्थापनाओं का उन कथनों के साथ अपरिहार्य अविरोध ही स्थापित कर सकते हैं। संवेदनशीलता इन दोनों मौलिक आकारों (देश और काल) की सच्ची संघटना के हमारे सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

अन्तिम बात यह है कि अनुभवातीत संवेदनाज्ञान में इन दो तत्त्वों (=देश और काल) से अधिक तत्त्व अन्तर्विष्ट नहीं हो सकते। यह तो इससे ही स्पष्ट है कि संवेदन-

शीलता से संबद्ध अन्य सब संबोध, यहाँ तक कि गति का संबोध भी, जिसमें उपर्युक्त दोनों तत्त्व एकत्र मिल जाते हैं, कुछ न कुछ अनुभवात्मक तत्त्व की पूर्वसत्ता को स्वीकार करते हैं। क्योंकि गति किसी गतिशील तत्त्व के प्रत्यक्ष की पूर्वकल्पना पर अवस्थित है। पर यदि देश के स्वरूप का स्वतः विचार किया जाए, तो उसमें कुछ भी गतिशील नहीं मिलेगा; परिणामतः गतिमान तत्त्व अवश्यमेव कुछ ऐसा होना चाहिये जो देश में अनुभव द्वारा पाया जाए, और इसी कारण उसको अनुभवगत सामग्री होना चाहिये। इसी हेतु अनुभवातीत संवेदनाज्ञान परिवर्तन के संबोध की गणना अपनी प्रागनुभवी सामग्री के अन्तर्गत नहीं कर सकता, क्योंकि काल स्वयं नहीं बदलता, प्रत्युत जो कुछ काल में स्थित होता है, बदला करता है। इस प्रकार परिवर्त्तन का संबोध किसी सत्ता के और उसकी निर्धारणाओं के अनुक्रम के प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है अतएव अनुभव की अपेक्षा करता है।

§ ९
अनुभवातीत संवेदनज्ञान के विषय में सामान्य अवेक्षण

(१) सब प्रकार की बोधभ्रान्तियों को वर्जित करने के लिये सब से पहले इस बात की यथासंभव स्पष्टतया व्याख्या कर देना आवश्यक होगा कि सामान्यतया इन्द्रिय-संवेद्य ज्ञान की आधारभूत संघटना के संबंध में हमारी दृष्टि क्या है।

हमने कुछ इस प्रकार कहना चाहा है कि हमारा समग्र प्रत्यक्ष अवभासों की प्रत्युपस्थापना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है; जिन वस्तुओं का हम प्रत्यक्ष करते हैं वे स्वयं अपने आप में वैसी नहीं हैं जैसा कि हम उनका प्रत्यक्ष करते हैं, और न उनके संबंध अपने आप में ऐसे संघटित होते हैं जैसे वे हमको प्रतीत होते हैं; तथा यदि हम विषयी अथवा सामान्यरूपेण केवल इन्द्रियों की विषयिगत संघटना को भी दूर कर दें, तो पदार्थों की निखिल संघटना और देश-काल में उनके सब के सब संबंध, इतना ही क्यों स्वयं देश और काल भी, विलय को प्राप्त हो जाएँगे; वे अवभास रूप में अपने में नहीं, प्रत्युत केवल हम में ही स्थित रह सकते हैं। विषयों की अवस्था स्वयं अपने आप में, और हमारी इस समग्र इन्द्रियसंबंधी ग्रहणशीलता के अतिरिक्त, क्या हो सकती है—यह हमको पूर्णतया अज्ञात है। उनके प्रत्यक्ष करने के प्रकार के अतिरिक्त हम और कुछ भी नहीं जानते, और यह जानने का प्रकार भी कैसा कि निश्चयमेव सब भूतमात्र भागधेय नहीं, हाँ प्रत्येक मानव का भागधेय अवश्य है। बस केवल इसी से हमारा वास्ता है। देश और काल इसके विशुद्ध आकार हैं, और संवेदना सामान्यरूपेण इसका उपादान है। इनमें से केवल पहले दो तत्त्वों (देश और काल) को हम

प्रागनुभव प्रकार से जान सकते हैं, अर्थात् वास्तविक अनुभव के पूर्व जान सकते हैं। इस प्रकार का ज्ञान विशुद्ध प्रत्यक्ष कहलाता है, परन्तु दूसरा तत्त्व (अर्थात् संवेदन) हमारे ज्ञान के अन्तर्गत वह तत्त्व है जिससे ऐसा होता है कि वह ज्ञान पश्चानुभवी ज्ञान अथवा अनुभवगत प्रत्यक्ष कहलाता है। वे दोनों (देश और काल) तो हमारी संवेदनशीलता में निरपेक्ष अनिवार्यता के साथ अन्तर्विष्ट रहते हैं, चाहे हमारे संवेदन किसी भी प्रकार के क्यों न हों, परन्तु संवेदन विविध प्रकारों में उपलब्ध हो सकते हैं। यदि हम अपने इस प्रत्यक्ष को स्पष्टता की उच्चतम पराकाष्ठा को भी पहुँचा सकें, तो इससे भी हम विषयों की जो अपनी संघटना है उसके अपेक्षाकृत अधिक समीप नहीं पहुँच सकेंगे। तो भी हम सर्वथा केवल अपने प्रत्यक्ष के प्रकार को ही अर्थात् अपनी संवेदनशीलता को ही पूर्णतया जानेंगे, और इसको भी सर्वदा केवल देश और काल के प्रतिबन्ध के अधीन ही जानेंगे, जो प्रतिबन्ध मूलतः विषयी में अन्तर्विष्ट हैं विषय अपने आप में, अपने स्वरूप में क्या हो सकते हैं यह बात तो हम उस (तत्त्व) के—अर्थात् उनके अवभास के—उद्भासिततम ज्ञान के द्वारा भी नहीं जान सकते (और उनका अवभासमात्र ही हमको उपलब्ध हुआ करता है)।

यह मान लेना कि हमारी समग्र संवेदनशीलता वस्तुओं की अविस्पष्ट प्रत्युपस्थापना को छोड़ कर और कुछ नहीं, और उसमें वही अन्तर्विष्ट है जो वस्तुओं के स्वरूप से संवद्ध है, और ऐसा भी उन लक्षणों और आंशिक प्रत्युपस्थापनाओं के समूह के अधीन होता है, जिसको हम चेतना के साथ एक दूसरे से पृथक् नहीं करते,—संवेदनशीलता और अवभास के संबोधों का वितथीकरण है, जो हमारी तद्विषयक समग्र शिक्षा को व्यर्थ और सारशून्य करने वाला है। अविस्पष्ट और सुस्पष्ट प्रत्युपस्थापना का भेद तो केवलमात्र तार्किक भेद है, उसका संबंध अन्तर्वस्तु से कुछ भी नहीं है। (इसमें कोई सन्देह नहीं कि साधारण समझबूझ में काम देने वाले "रेश्ट्" (अंग्रेजी राइट सीधा, न्याय या अविकार) के संबोध में वह सब तत्त्व अन्तर्विष्ट हैं जिनको सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन उसमें से विकसित कर सकता है, यद्यपि इसके साधारण और व्यावहारिक प्रयोग में इस विचार में अन्तर्विष्ट विविध प्रत्युपस्थापनाओं के प्रति सचेत नहीं रहा जाता। पर इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण संबोध इन्द्रिय-संवेद्य है और इसमें केवल एक अवभास अन्तर्विष्ट है, क्योंकि शुभ कदापि अवभास नहीं हो सकता, प्रत्युत इसका संबोध हमारी बोधवृत्ति में स्थित रहता है, तथा कार्यों के एक लक्षण या गुण को प्रत्युपस्थापित करता है, जो उन कार्यों के अपने स्वरूप से संबद्ध है। इसके विपरीत, दूसरी ओर प्रत्यक्ष में किसी पिण्ड की प्रत्युपस्थापना में ऐसा कुछ भी अन्तर्विष्ट नहीं होता, जिसका संबंध स्वयं विषय के अपने निरपेक्ष स्वरूप से हो,

प्रत्युत उसमें केवल किसी वस्तु का अवभास और उस किसी वस्तु से हमारे प्रभावित होने का प्रकारमात्र अन्तर्विष्ट होता है। और हमारी ज्ञानवृत्ति की यह ग्रहणशीलता संवेदनशीलता कहलाती है, और यदि उस अवभास के तल तक को आरपार देखना संभव हो सकता, तो इस प्रकार का ज्ञान विषय के स्वरूपतः अपने ज्ञान से इतनी दूर रहता, जितना कि आकाश का समग्र विस्तार है।

लाइब्नित्स् और वौल्फ़ के दर्शन ने इस प्रकार संवेद्य और बोध्य के भेद को केवल तार्किक भेद समझ कर हमारे ज्ञान के स्वरूप और उद्गम संबंधी समग्र अनुसंधान को पूर्णतया गलत दिशा प्रदान की; क्योंकि यह भेद तो स्पष्ट ही अनुभवातीत है, और इसका संबंध केवल उनके तार्किक आकार की सुस्पष्टता अथवा अस्पष्टता से नहीं, प्रत्युत उनके उद्गम और अन्तःस्थित विषयवस्तु से है। ऐसा नहीं कि हम अपनी संवेदनशीलता द्वारा वस्तुओं के स्वगत स्वरूप को स्पष्टता से नहीं जान सकते, प्रत्युत तथ्य यह है कि हम उनको कतई नहीं जान सकते; और ज्योंही हम अपने स्वगत स्वरूप को हटाते हैं, त्योंही प्रत्युपस्थापित विषय उन सब अपने गुणों या लक्षणों के साथ, जो उसको इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा प्रदान किये गये हैं, सामान्यतया कहीं भी उपलब्ध नहीं रहता, और न संभवतया उपलब्ध हो ही सकता है, क्योंकि यही विषयिगत स्वरूप ही तो अवभास के रूप में आकार को निर्धारित करता है।

अवभासों में जो बात उनके अनुभव में सारवत्तया अन्तर्विष्ट होती है और प्रत्येक मानवीय सूझबूझ के लिये ठीक प्रतीत है, हम उसको उस तथ्य से प्रायः पृथक् किया करते हैं जो उनके अनुभव से यादृच्छितया संबद्ध हुआ करती है, और जो सामान्य संवेदनशीलता के संबंध में प्रामाणिक नहीं होती प्रत्युत किसी विशिष्ट स्थान के दृष्टि-विन्दु के या अमुकामुक इन्द्रिय की संघटना विशेष के संबंध में ही प्रामाणिक प्रतीत होती है। और तब प्रथम प्रकार के ज्ञान को स्वयं विषय के आत्मगत स्वरूप को प्रत्यु-पस्थापित करने वाला मान लिया जाता है, एवं दूसरे को केवल अवभास रूप माना जाता है। पर यह विभेद केवल अनुभवाश्रित है। तो (जैसा प्रायः हुआ करता है) यदि यहीं रुक जाया जाए, तथा स्वयं अनुभवजन्य अपरोक्ष प्रतीति को भी स्वयं अवभास मानने की दिशा में आगे न बढ़ा जाए, (जिस अवभास में कोई भी ऐसी बात नहीं पाई जा सकती, जो वस्तु अपने स्वगत रूप से संबद्ध हो), तो हमारा अनुभवातीत भेद समाप्त हो जाता है और तब हम यह विश्वास करते हैं कि हम वस्तुओं को उनके अपने स्वरूप में जानते हैं, परन्तु तथ्य यह है कि इन्द्रियानुभव वाले जगत् में चाहे हम इसके विषयों में कितना ही गहरा अनुसंधान क्यों न करें, तब भी हमारा वास्ता अवभासों की अपेक्षा अन्य और किसी वस्तु से नहीं होता। उदाहरण के लिये धुपहली वर्षा में हम इन्द्र-

धनुष को केवल अवभासमात्र कहेंगे, परन्तु वर्षा को स्वरूपत : सद्वस्तु मानेंगे यह बात ठीक भी होगी, बशर्ते इस संबोध को केवल भौतिक अर्थ में समझा जाए, अर्थात् वर्षा को कुछ ऐसी वस्तु समझा जाए, जो सकल अनुभवों में और इन्द्रिय संबंधी विभिन्न स्थितियों में, हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष इसी प्रकार से निर्धारित हुई है, अन्यथा निर्धारित नहीं हुई है । परन्तु यदि हम इस अनुभवाश्रित विषय को इसके सामान्य स्वरूप में ग्रहण करते हैं, और इस बात का ख्याल किये बिना कि यह सभी मानवबोधों के लिये एक ही वस्तु है या नहीं, यह प्रश्न पूछते हैं कि क्या यह भी किसी विषय को अपने स्वरूप में प्रत्युपस्थापित करता है (यह प्रश्न वर्षा की बूँदों के संबंध में नहीं पूछा गया है, क्योंकि यह तो अवभास-रूप होने के कारण पहले से ही अनुभवाश्रित विषय हैं), तो प्रत्युपस्थापना और विषय के संबंध का यह प्रश्न तत्काल अनुभवातीत या अलौकिक प्रश्न बन जाता है और न केवल वर्षा की यह बूँदें ही अवभासमात्र होती हैं, अपितु स्वयं उनकी गोल आकृति, इतना ही नहीं प्रत्युत जहाँ वे गिरती हैं, वह अन्तराल भी स्वरूपतः कुछ भी नहीं हैं, प्रत्युत हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के रूपान्तर अथवा आधार-विन्यास-मात्र हैं । अनुभवातीत विषय हमको अज्ञात ही बना रहता है ।

हमारे अनुभवातीत संवेदनशास्त्र का दूसरा महत्वपूर्ण व्यवसाय यह है यह केवल आपातरमणीयसत्य उपकल्पना के रूप में अनुकूलता को अर्जित न करे, अपितु उतना सुनिश्चित और सन्देहशून्य हो, जितनी सुनिश्चित और सन्देहशून्य होने की माँग वैज्ञानिक पद्धति के रूप काम देने योग्य सिद्धान्त से की जा सकती है । इस सुनिश्चितता को पूर्णतया विश्वासोत्पादक बनाने के लिये हम कोई एक ऐसा प्रसंग चुनेंगे, जिसके द्वारा हमारे पक्ष की प्रामाणिकता सुस्पष्ट हो जाएगी और जो तीसरी कण्डिका (§३) के कथन को अधिक प्रकाश प्रदान करने के काम आएगा ।

अतएव मान लीजिये कि देश और काल स्वतः विषयात्मक हैं और स्वरूपतः सत् वस्तुओं की संभावना की शर्तें हैं, तो प्रथमतः तो यह नितान्त स्पष्ट है कि इन दोनों के ही संबंध में प्रागनुभवात्मक स्वयंसिद्ध तथा संश्लेशात्मक प्रस्थापनाओं की एक काफी बड़ी संख्या उपलब्ध होती है, विशेषकर देश के संबंध में, अतएव इसी कारण हम यहाँ इसको उदाहरण स्वरूप लेकर इसके विषय में मुख्यतया अनुसंधान करेंगे । क्योंकि भूमितिशास्त्र की प्रस्थापनाएँ संश्लिष्ट प्रागनुभवी होती हैं और स्वयंसिद्ध सुनिश्चितता के साथ ज्ञात हुआ करती हैं। अतएव मैं पूछता हूँ कि आप ऐसी प्रस्थापनाओं की उपलब्धि कहाँ से करते हैं और इस प्रकार के एकान्त अनिवार्य एवं विश्वजनीन प्रामाणिकता से समन्वित सत्यों को प्राप्त करने के लिये हमारा बोध किसके भरोसे पर निर्भर रहता है ? संबोधों अथवा इन्द्रिय-प्रत्यक्षों को छोड़ कर अन्य कोई दूसरा

मार्ग है ही नहीं, पर यह दोनों अपने स्वरूप में या तो अनुभव से पूर्व अथवा अनुभव के पश्चात् उपलब्ध हुआ करते हैं। इस दूसरे अनुभव के पश्चात् वाले रूप में अनुभवाश्रित संबोध के रूप में, तथा उस रूप में भी जिस पर यह आधारित हैं अर्थात् अनुभवात्मक प्रत्यक्ष के रूप में यह किसी संश्लेषणात्मक प्रस्थापना को उत्पन्न नहीं कर सकते, अतिरिक्त ऐसी प्रस्थापना के जो स्वयं भी कोरी अनुभवाश्रित प्रस्थापना या अनुभव-प्रस्थापना है, और इसी हेतु जो कदापि उस अनिवार्यता और एकान्तिक सर्वव्याप्ति से समन्वित नहीं हो सकती, जो भूमिति की समग्र प्रस्थापनाओं का लक्षण है। परन्तु जहाँ तक प्रथम एवं एकमेवाद्वितीय उपाय के द्वारा इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँचने का प्रश्न है, अर्थात् प्रागनुभवी ढंग से केवल संबंधों या प्रत्याक्षानुभवों के द्वारा, यह स्पष्ट है कि कोरे संबंध से संश्लेषणात्मक ज्ञान तो नाममात्र को भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, प्रत्युत केवलमात्र विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, केवल इस प्रस्थापना को ले लीजिये कि "दो सरल रेखाओं के द्वारा किसी स्थान को नहीं घेरा जा सकता एवं उनसे कोई आकृति बनना संभव नहीं है" तथा 'सरल रेखाओं' और 'दो' के संबोधों से इस प्रस्थापना को व्युत्पादित करने का प्रयत्न करके देखिए; अथवा इसको भी ले देखिये कि "तीन सरल रेखाओं के दिये होने पर आकृति बनना संभव है", एवं केवल इसमें सन्निहित संबोधों से इसको व्युत्पादित करने का प्रयत्न कीजिये। आपका सारा श्रम बेकार है, आप देखते हैं कि आपको प्रत्यक्ष की शरण लेने को विवश होना पड़ता है, जैसा कि भूमितिशास्त्र में भी सर्वदा किया जाता है। इस प्रकार आप अपने को प्रत्यक्ष में एक विषय प्रदान करते हैं; परन्तु यह प्रत्यक्ष है किस प्रकार का? क्या यह शुद्ध प्रागनुभवी प्रत्यक्ष है अथवा अनुभवजन्य प्रत्यक्ष है? यदि यह दूसरे प्रकार का है, तो इससे सर्वव्यापी प्रामाणिकता की कोई भी प्रस्थापना कभी उत्पन्न नहीं हो सकती—तथा इससे भी कम संभावना स्वयंसिद्ध प्रस्थापना के उत्पन्न होने की है—क्योंकि अनुभव इस प्रकार की प्रस्थापनाओं को कभी प्रसव नहीं कर सकता। अतएव आपको अपने को प्रागनुभवी प्रकार से विषय को प्रत्यक्ष में प्रदान करना पड़ेगा, और अपनी संश्लेषणात्मक प्रस्थापना की नींव इस पर रखनी होगी। अब यदि आप में प्रागनुभवात्मक प्रत्यक्ष की शक्ति की सत्ता न होती, और यदि वह विषयिगत प्रतिबन्ध अपने आकार की दृष्टि से इसके साथ ही साथ वह सर्वव्यापी प्रागनुभवात्मक प्रतिबन्ध भी न होता, जिसके अधीन इस बाह्य प्रत्यक्ष का विषय संभव है, यदि विषय (त्रिभुज) विषयी के सम्बन्ध बिलकुल पृथक् अपने आप कुछ स्वतंत्र वस्तु होता, तो आप यह किस प्रकार कह सकते कि जो बातें एक त्रिभुज को बनाने के लिए विषयिगत प्रतिबन्ध के रूप में अनिवार्यतया आपके

अन्दर विद्यमान हैं, स्वयं त्रिभुज में भी अनिवार्यतया विद्यमान होनी चाहिये ? क्योंकि तब तो आप तीन रेखाओं के संबोधों में किसी ऐसी नई बात को नहीं जोड़ सके होते जो कि विषय में अनिवार्यतया उपलब्ध होनी ही थी, क्योंकि उस मान्यता के अनुसार, तो आपके ज्ञान के पूर्व ही उपलब्ध था, आपके ज्ञान के द्वारा उपलब्ध नहीं हुआ था। अतएव यदि देश और काल केवलमात्र आपके प्रत्यक्ष के आकारमात्र न होते, जिनमें वे प्रागनुभवात्मक शर्तें अन्तर्विष्ट हैं केवल जिनके अधीन वस्तुएँ आपके लिये बाह्यविषय हो सकती हैं, तथा जिन इन विषयिगत प्रतिबन्धों के बाह्यविषय अपने कुछ भी नहीं हैं, तो आप बाह्यविषयों के संबंध में प्रागनुभवी प्रकार से और संश्लेषणात्मक प्रकार से किञ्चिन्मात्र भी निर्धारित नहीं कर सकते थे। इस प्रकार यह निःसन्देह सुनिश्चित बात है, (कोरी संभव ही बात नहीं है और न संभावना ही है) कि देश और काल समग्र बाह्य और आभ्यन्तर अनुभवों को अपरिहार्य शर्तों के रूप में केवल हमारे समग्र प्रत्यक्षों की विषयिगत शर्तें हैं, तथा इसीलिये जिनके संबंध में सब विषय केवल अवभासमात्र हैं और इस प्रकार स्वतः सत् उपलब्ध वस्तुएँ नहीं हैं। इस कारण, जहाँ तक उनके आकार का सम्बन्ध है प्रागनुभवात्मक ढंग से उनके संबंध में बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु उस स्वरूपतः सत् वस्तु के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, जो इन अवभासों के मूल में निहित हो सकती है।

२. बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही इन्द्रियों एवं इसी कारण सब इन्द्रियवेद्य विषयों के अवभास रूप के मनोराज्यता सिद्धान्त की पुष्टि यह ध्यान में रखना विशेष प्रकार से प्रसंगसंगत है कि हमारे ज्ञान में वे सब बातें जो कि प्रत्यक्ष से संबंध रखती हैं। सुख और दुःख की भावना और इच्छा-शक्ति जो ज्ञान नहीं हैं, उन को छोड़ कर उनमें केवल संबोधों को छोड़ कर और कुछ भी नहीं है। यह संबन्ध प्रत्यक्ष में अवस्थिति (विस्तार), या स्थान के परिवर्त्तन (गति), और उन नियमों के (जिनके अनुसार यह परिवर्त्तन निर्धारित होता है—गति के उत्पादक वेगों) के संबंध हैं (जो कुछ इस या उस अवस्थान में विद्यमान है, अथवा अवस्थान के परिवर्त्तन से पृथक् है, जो स्वयं वस्तुओं में काम कर रहा है, उसकी उपलब्धि प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकती) अब यह तो स्पष्ट ही है कि स्वरूपतः सत् कोई भी वस्तु केवल संबंधों के द्वारा नहीं जानी जा सकती; अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्योंकि बाह्येन्द्रिय (या करण) हमको संबंधों के अतिरिक्त और कुछ भी प्रदान नहीं करता, इसलिये यह करण अपनी प्रत्युपस्थापना में केवल विषय के प्रति विषयी का संबंध सन्निहित रखता है, स्वरूपतः सत् विषय के आन्तरिक गुणों को अपने में अन्तर्विष्ट नहीं रखता। अन्तरिन्द्रिय के विषय में भी यही बात सत्य है। ऐसा केवल इस कारण नहीं है कि बाह्ये-

न्द्रिय की प्रत्युपस्थापनाओं से वह सामग्री संघटित होती है जिस के साथ हम अपने मस्तिष्क को व्यापृत रखते हैं, अपितु इस कारण है कि काल जिसमें हम इन प्रत्युपस्थापनाओं को स्थापित करते हैं तथा जो स्वयं अनुभव में उनकी चेतना का पूर्ववर्ती है, और जो उस प्रकार की आकृत्यात्मक शर्त के रूप में, जिस के अनुसार हम उन उपस्थापनाओं को प्रस्थापित करते हैं, उनमें अनुस्यूत रहता है, वह (काल) भी स्वयं अपने में केवल पौर्वापर्य के, समकालिक स्थिति के तथा उस स्थायिता के (जो पौर्वापर्य की समकालिक स्थिति वाली है) संबंधों को ही धारण किये रहता है। अब रहा वह जो, प्रत्युपस्थापना के रूप में, किसी भी वस्तु-संबंधी चिन्तन के व्यापार का पूर्वगामी हो सकता है, पूर्वभान या प्रत्यक्षानुभव है, और यदि उसमें संबंधों के अतिरिक्त और कुछ भी अन्तर्विष्ट न हो, तो प्रत्यक्ष का आकार होता है, जो—जहाँ तक मन में कुछ स्थापित हो उसको छोड़ कर अन्य कुछ भी प्रत्युपस्थापित नहीं करता, तथा जो इस कारण उस प्रकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता जिसके अनुसार मन स्वयं अपनी क्रियाशीलता के द्वारा प्रभावित होता है (अर्थात् अपनी इन प्रत्युपस्थापनाओं को प्रस्तुत करने के द्वारा प्रभावित होता है), अतः स्वयं अपने ही द्वारा प्रभावित होता है, अर्थात् (दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि) अपने आकार के प्रति यह एक अन्तरिन्द्रिय है। सभी वस्तुएँ, जो किसी इन्द्रिय द्वारा प्रस्युपस्थापित की जाती हैं, उस सीमा तक सर्वदा अवभास होती हैं, और इसलिये या तो अन्तरिन्द्रियको बिलकुल स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये, अथवा यह माना जाना चाहिये कि वह विषयी जो इन्द्रिय का विषय है, इसके द्वारा केवल अवभास के रूप में ही प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है, उस रूप में नहीं जिसमें (यदि उसका प्रत्यक्ष केवल आत्मक्रियामात्र होता, अर्थात् बौद्धिक होता तो) वह अपने आपको विभावित करता। बस इस विषय की सारी कठिनाई की जड़ यहीं पर है कि कोई विषयी अपने को आन्तरिकतया प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है? परन्तु यह कठिनाई सभी मतों या सिद्धान्तपक्षों में समान रूप से पाई जाती है। आत्मा की चेतना (स्व-प्रत्यक्ष) तो अहं की सीधीसादी सरल प्रत्युस्थापना है, और यदि वह जो कि विषयी में विविधरूप है आत्मा की क्रिया के द्वारा उपलब्ध होगा, तो आन्तरिक प्रत्यक्ष बौद्धिक होगा। मानव में यह चेतना उस विविधता के आन्तर-प्रत्यक्ष की माँग करती है जो कि विषयी में पहले से ही उपलब्ध है, तथा वह प्रकार या ढंग जिसके अनुसार बिना स्वतश्चालना यह मन में सम्प्राप्त होता है, इस विलक्षणता के कारण इन्द्रिय संवेद्यता या संवेदनशीलता कहा जाएगा। यदि अपने विषय में चेतना को प्राप्त करने की शक्ति, जो कुछ मानस में अन्तर्निविष्ट है, उसको खोज पाना हो, तो यह अवश्य ही मन को प्रभावित करेगी, और केवल

६

इसी प्रकार से स्वयं उसके प्रत्यक्ष को उत्पन्न कर सकेगी। परन्तु इस प्रत्यक्ष का आकार जो कि पहले से ही मानस में आधारतः विद्यमान है, उस प्रकार को (जिस के अनुसार विविधता मानस में सन्निहित है) काल की प्रत्युपस्थापना में सुनिर्धारित करता है, क्योंकि तब यह अपना प्रत्यक्ष उस प्रकार से नहीं करता, जैसा कि यह अपरोक्षतया आत्मसक्रियता से अपने को प्रत्युपस्थापित करता; प्रत्युत उस प्रकार से करता है जिस प्रकार यह आन्तरिकतया प्रभावित होता है, अतएव वैसे अपने को प्रत्यक्ष करता है जैसा कि अपने को प्रतीत होता है न कि जैसा वह है।

३. जब मैं यह कहता हूँ कि बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष और मन का स्वात्म प्रत्यक्ष दोनों एक समान रूप से विषयों और मन को देश तथा काल में उस प्रकार से प्रत्युपस्थापित करते हैं जिस प्रकार वे वह हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करते हैं, अर्थात् जैसे वे प्रतीत होते हैं, तो मेरा यह अभिप्राय नहीं होता कि यह विषय केवल माया-मात्र है। क्योंकि अवभास में तो विषय तो क्या वे गुण तक जिनका आरोपण हम उन विषयों पर करते हैं, कुछ ऐसी वस्तु माने जाते हैं जो वास्तव में उपलब्ध हैं; बस बात है तो इतनी सी कि जहाँ तक इन गुणों का संबंध है, यह उपलब्ध विषय और विषयी के संबंध में, विषयी के प्रत्यक्ष के प्रकार पर आश्रित हैं, अतएव अवभास रूप विषय को वास्तविक स्वतंत्रसत्ताक विषय से पृथक् किया जाना चाहिये। अतः जब मैं यह प्रतिपादन करता हूँ कि देश का गुण और काल का गुण––जिनके अनुसार, उनकी सत्ता की शर्तों (या प्रतिबन्धों) के रूप में, मैं अनेकों शरीरों को और अपनी आत्मा को स्थापित करता हूँ––मेरे प्रत्यक्ष के प्रकार में अवस्थित हैं, स्वतः उन विषयों के स्वयं-सत्ताक-रूप में स्थित नहीं हैं, तो मैं यह नहीं कहता कि शरीर मुझसे बाहर दिखलाई भर पड़ते हैं, अथवा मेरी आत्मा मेरी आत्म-चेतना में उपलब्ध हुई दिखलाई भर देती है। अतः यदि जिसको मुझे अवभास रूप गिनना चाहिये, उसको मैं केवल माया या छल बना डालूँ तो यह तो मेरा अपना अपराध होगा। [कां] परन्तु यह बात सब इन्द्रिय

(कां) हमारी इन्द्रिय के संबंध में, अवभास के विधेय को स्वयं विषय पर आरोपित किया जा सकता है, उदाहरण के लिये लाल रंग या गन्ध का आरोप गुलाब के फूल पर किया जा सकता है; पर जो मायिक अवभास है उसका आरोप विषय पर कभी नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने पर हम स्वयंसत्ताक विषय पर उस वस्तु का आरोप कर रहे होते हैं जो हमारी इन्द्रियों के संबंध में, उसमें पाई जाती है, अथवा सामान्यतया विषयी के संबंध में पाई जाती है, जैसे उदाहरण के "शनि" के दो हत्थे जो पहले कभी उस पर आरोपित किये गये थे। अवभास वह है जो यद्यपि विषय की प्रत्युपस्थापना से पृथक् नहीं किया जा सकता, तथापि जो स्वतंत्रसत्ताक विषय में नहीं पाया जाता, पर सर्वदा विषयी के संबंध में उपलब्ध होता है।

प्रत्यक्षों के मनःकल्पितता के हमारे सिद्धान्त के परिणामस्वरूप प्राप्त नहीं होती—प्रत्युत बात इससे बिलकुल उल्टी जैसी है। यह तो केवल उसी समय ऐसा होगा जब हम प्रत्युपस्थापना के इन आकारों पर विषयगत (=वास्तविक) यथार्थता का आरोप करें कि हमारे लिये इस कारण प्रत्येक वस्तु को केवल माया रूप में परिवर्तित हो जाने से बचाना असंभव हो जाएगा। क्योंकि, यदि देश और काल को ऐसे गुण माने जाएँ जिनको अपनी संभावना के लिये स्वयंसत्ताक वस्तुओं में पाया जाना चाहिये, और तब यह विचार किया जाए कि ऐसी दो वस्तुओं को स्वीकार करके, जो अपरिमेय (या अनन्त) हैं, पदार्थरूप नहीं हैं और न वास्तव में पदार्थों में वास्तव में अन्तर्विष्ट कोई वस्तु है, इतना ही क्यों इससे आगे जिसको सब सत्तावान वस्तुओं की सत्ता की अनिवार्य शर्त के रूप में रहना चाहिये, एवं इससे भी परे इसको उस समय भी बना रहना चाहिये जब कि सब सत्ताधारी पदार्थ उठा लिये जाएँ, हम यदि यह विचार करें कि हम कैसी विसंगतियों में उलझ गये हैं, तो सब आयतनों को मायामात्र बना डालने के लिये नेक बर्कले पर दोषारोपण नहीं कर सकते। नहीं, इतना ही नहीं, स्वयं हमारा अपना अस्तित्व तक भी, काल जैसी अवस्तु की आत्मनिर्भर यथार्थता पर इस प्रकार आश्रित बना दिया जाने पर, इसके साथ साथ अनिवार्यतया विशुद्ध मायामात्र में परिवर्तित हो जाएगा—और यह एक ऐसी निरर्थक विसंगति है, जिसको मानने का अपराध इस समय तक किसी से भी नहीं बन पड़ा है।

४. प्राकृतिक धर्मशास्त्र के क्षेत्र में, ऐसे विषय (=ईश्वर) का विचार करते समय जो न केवल हमारे लिये कदापि प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, अपितु स्वयं भी अपने लिये इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, सावधानी के साथ उसके सम्पूर्ण प्रत्यक्ष से देश और काल के प्रतिबन्ध को हटा दिया जाता है, क्योंकि उसका समग्र ज्ञान प्रत्यक्ष ही होगा, विचार नहीं होगा क्योंकि विचार में सर्वदा ही अवच्छेदन का भाव निहित रहता है। किन्तु यदि पहले से ही दोनों को स्वसत्ताक वस्तुओं का आकार बना दिया गया है, और वह भी ऐसा आकार जा वस्तुओं की अपसारणा के पश्चात् भी उनकी सत्ता के प्रागनुभवी प्रातिबन्ध के रूप में बचा रहेगा, तो फिर हम

इस परिभाषा के अनुसार, देश और काल के विधेय इन्द्रियों के विषयों पर विषय के रुप में समुचित प्रकार से आरोपित किये जाते हैं और इसमें कुछ भी माया या छल नहीं है। दूसरी ओर यदि मैं स्वयंसत्ताक गुलाब के फूल पर रक्तिमा का आरोप करूँ, "शनिग्रह" पर हत्थों का करूँ, अथवा सब स्वयंसत्ताक बाह्य विषयों पर विस्तार का आरोप करूँ, और ऐसा करूँ इन विषयों के विषयी के साथ सुनिश्चत संबंध का बिना कुछ ध्यान करके और अपनी विभावना को उस संबंध से मर्यादित न करके, तो प्रथमतः माया की उत्पत्ति होती है।

ऐसा करने का क्या अधिकार रखते हैं ? क्योंकि सभी सत्तामात्र की सामान्य शर्त होने कारण, वे इश्वर की सत्ता के प्रतिबन्ध होंगे ही। यदि इनको सब वस्तुओं का विषयगत आकार न माना जाए, तब तो इस के अतिरिक्त और कुछ विकल्प शेष नहीं रह जाता कि उनको हमारे आन्तर और बाह्य प्रत्यक्ष के विषयिगत आकार के रूप में देखा जाए, जो प्रत्यक्ष भी इसी कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है क्योंकि वह मौलिक नहीं है, अर्थात् ऐसा नहीं है जो हमको स्वतः अपने विषय की सत्ता प्रदान कर सके--(ऐसे प्रकार का प्रत्यक्ष, जहाँ तक हमको सूझ पड़ता है, केवल आदि सत्ता = आदि पुरुष = ईश्वर का ही भागधेय हो सकता है) प्रत्युत जो विषय की सत्ता पर निर्भर है और इसलिये केवल तभी संभव है जब विषयी की प्रत्युपस्थापनावृत्ति विषय के द्वारा प्रभावित हो।

यह भी आवश्यक नहीं है कि हम इस देश और काल में विषयों के प्रत्यक्ष करने के प्रकार को मानवीय इन्द्रियग्राह्यता तक ही सीमित रखें, ऐसा हो सकता है कि इस विषय में सब सान्त विचारवान् जीव अनिवार्यतया मनुष्य के सदृश हों (यद्यपि हम इस सम्बन्ध में कुछ निर्णय नहीं कर सकते) किन्तु चाहे यह इन्द्रियग्राह्यता का प्रकार कितना ही सर्वव्याप्ति वाला क्यों न हो (अथवा सर्वव्यापी प्रामाणिकता वाला क्यों न हो) पर इस कारण वह इन्द्रियग्राह्यता होने से तो नहीं रुकता। क्योंकि यह व्युत्पादित प्रत्यक्ष (इण्टुइटुस्, डैरीवाटिवुस) है मौलिक नहीं अतएव यह बौद्धिक प्रत्यक्ष नहीं है। इस प्रकार का बौद्धिक प्रत्यक्ष तो पूर्वोक्त (उपर्युक्त) कारणों के अनुसार केवल आद्यपुरुष से संबद्ध हो सकता है, परन्तु किसी परावलंबी सत्ता से, जो अपने अस्तित्व और प्रत्यक्ष दोनों की ही दृष्टि से परावलंबी हो एवं जो अपनी सत्ता को उस प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्णतया दिये हुए विषयों के संबंध में निर्धारित करती है कदापि संबद्ध नहीं हो सकता, यद्यपि इस अन्तिम कथन को हमारे संवेदन के सिद्धान्त के उदाहरण के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिये, उपपत्ति के अंक के रूप में नहीं।

१०: अनुभवातीत संवेदनशास्त्र का निष्कर्ष

अतएव अब यहाँ हमको अनुभवोत्तर दर्शन की सामान्य समस्या "प्रागनुभवात्मक संश्लिष्ट प्रस्थापना किस प्रकार संभव है?"--को हल करने के लिये अपेक्षित एक घटक की उपलब्धि देश और काल के शुद्ध प्रागनुभवी भानों में हो गई। यदि हम प्रागनुभवी विभावना में किसी दिये हुए संबोध से परे जाने की इच्छा करते हैं, तो हम उस तत्व को पाते हैं जो उस संबोध में खोज कर नहीं निकाला जा सकता, परन्तु जो उस संबोध के समनुरूप प्रत्यक्ष (भान) में प्रागनुभवात्मकतया निश्चय ही उपलब्ध होता

है, एवं उसके साथ संश्लिष्टतया आबद्ध किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार की विभावनाएँ जो इस प्रकार प्रत्यक्ष (-भान) पर आश्रित होती हैं, इन्द्रियगोचर विषयों से परे कदापि नहीं जा सकतीं, एवं वे केवल संभावित अनुभव के विषयों के प्रति प्रामाणिक हैं।

तत्वों का अनुभवातीत ज्ञान

दूसरा भाग

अनुभवातीत तर्कशास्त्र

विषयप्रवेश

अनुभवातीत तर्कशास्त्र का भाव

१

सामान्य तर्कशास्त्र

हमारा ज्ञान मन के दो मूलभूत स्रोतों से उत्पन्न होता है, जिनमें से पहला है प्रत्युपस्थापनाओं को ग्रहण करने का सामर्थ्य (या संस्कारों की ग्राहकता), तथा दूसरा है इन प्रत्युपस्थापनाओं के द्वारा विषय को जानने की शक्ति (=संबोधों के निर्माण की स्वतः स्फूर्ति) । पहले के द्वारा हमको विषय की उपलब्धि होती है, दूसरे के द्वारा उस विषय पर उस उपलब्ध प्रत्युपस्थापना के संबंध में विचार किया जाता है (जो प्रत्युपस्थापना केवल मस्तिष्क की शुद्ध निर्धारणामात्र है) । इस प्रकार प्रत्यक्ष और संबोध दोनों हमारे समग्र ज्ञान के तत्वों की संघटना करते हैं, जिससे कि न तो बिना किसी प्रकार के समनुरूप प्रत्यक्ष के संबोध ही हमको ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, और न प्रत्यक्ष बिना संबोधों के । यह दोनों ही या तो शुद्ध होते हैं या अनुभवाश्रित । अनुभवात्मक तब होते हैं जब कि उनमें संवेदन अन्तर्विष्ट होता है (जो कि विषय की वास्तविक उपस्थिति को पहले से ही कल्पना करके चलता है) ; परन्तु जब प्रत्युपस्थापना के साथ संवेदन का मिश्रण नहीं होता,तो वे विशुद्ध होते हैं । संवेदन को इन्द्रियज्ञान का उपादान तत्व माना जा सकता है । अतएव शुद्ध अन्तः-भान में केवलमात्र वह आकार सन्निविष्ट रहता है जिसके अधीन किसी विषय वस्तु का प्रत्यक्ष किया जाता है, और शुद्ध संबोध में केवल सामान्य विषय के विचार का आकारमात्र अन्तर्विष्ट रहता है । केवल शुद्ध अन्तर्भान या केवल शुद्ध संबोध अनुभव के पूर्व ही संभव है, अनुभवाश्रित प्रत्यक्ष और अनुभवाश्रित संबोध केवल अनुभव के पश्चात् संभव हैं ।

यदि हम अपने मन की ग्राहकता को, अर्थात् जहाँ तक वह किसी प्रकार से प्रभावित हो वहाँ तक उसकी प्रत्युपस्थापनाओं को ग्रहण करने की योग्यता को संवेदनशीलता कहते हैं, तो इसके विपरीत उसकी अपने से स्वतः प्रत्युपस्थापनाओं को उत्पन्न करने की शक्ति अर्थात्, ज्ञान के संबंध में इसकी स्वतः स्फूर्तिता को बोध या बोधवृत्ति कहना चाहिये । हमारा स्वभाव कुछ बना ही इस प्रकार का है कि हमारे प्रत्यक्ष या भान कभी भी इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु से भिन्न अन्य कुछ हो ही नहीं सकते, अर्थात् इसमें तो केवल वही ढंग अन्तर्भूत है जिसके अनुसार हम पदार्थों द्वारा प्रभावित हुआ करते हैं । इसके विपरीत, वह शक्ति जो हमको इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषयों के संबंध में विचार करने की क्षमता प्रदान करती है, बोधवृत्ति कहलाती है । इन दोनों शक्तियों में से किसी को भी दूसरी से बढ़ कर नहीं माना जा सकता । संवेदनशीलता के बिना हमको किसी भी विषय की उपलब्धि नहीं हो सकती, बोधवृत्ति के बिना किसी विषय का विचार नहीं किया जा सकेगा । अन्तःस्थित विषय के बिना विचार शून्य हैं, और प्रत्यक्ष संबोधों के बिना अन्धे हैं । अतएव, संबोधों को इन्द्रियसंवेद्य बनाना (अर्थात् उनके साथ प्रत्यक्ष में स्थित विषय को जोड़ना) उतना ही आवश्यक है, जितना प्रत्यक्षों को बुद्धिगम्य बनाना (अर्थात् उनको संबोधों के अधीन करना) । इन दोनों शक्तियों या क्षमताओं की वृत्तियों का परस्पर विनिमय नहीं हो सकता । बोधवृत्ति को कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, और इन्द्रियाँ कुछ भी विचार नहीं कर सकतीं । केवल इन दोनों के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है । पर इसी कारण उन दोनों के अंशदानों का संकरीकरण तो नहीं किया जाना चाहिये, प्रत्युत यही तो ऐसा प्रबल कारण है कि प्रत्येक के योगदान को सावधानी से पृथक् किया जाए, और एक दूसरे से भिन्न समझा जाए । इसलिये हम सामान्य संवेदनशीलता के नियमों के विज्ञान अर्थात् संवेदनशास्त्र और सामान्य बोधवृत्ति के नियमों के विज्ञान अर्थात् तर्कशास्त्र में भेद करते हैं ।

और फिर तर्कशास्त्र का प्रतिपादन भी दो प्रकार से किया जा सकता है—अर्थात् बोधवृत्ति के साधारण उपयोग के तर्कशास्त्र के रूप में अथवा बोधवृत्ति के विशेष उपयोग के तर्कशास्त्र के रूप में । तर्कशास्त्र में विचार के नितान्त आवश्यक नियमों का अन्तर्भाव होता है जिन नियमों के बिना बोधवृत्ति का किञ्चित् विनियोग भी नहीं हो सकता, अतएव यह तर्कशास्त्र, बोधवृत्ति का प्रतिपादन उन सब विषयों के भेदों की ओर बिना ध्यान दिये हुए करता है जिनके प्रति बोधवृत्ति प्रेरित (या प्रवृत्त) की जा सकती है । बोधवृत्ति के विशेष उपयोग के तर्कशास्त्र में किसी एक विशेष प्रकार के विषयों से संबंध रखने वाले शुद्ध विचार पद्धति के नियम अन्तर्विष्ट

रहते हैं। प्रथम प्रकार के तर्कशास्त्र को तत्व संबंधी तर्कशास्त्र कहा जा सकता है; दूसरे तर्कशास्त्र को इस या उस विज्ञान का कारण कहा जा सकता है। यह दूसरा तर्कशास्त्र प्रायेण विद्यालयों में विज्ञानों की प्रारम्भिक भूमिका के रूप में पढ़ाया जाता है, यद्यपि मानवीय बुद्धि की वास्तविक पद्धति के अनुसार इस की उपलब्धि सब से अन्त में उस समय होती है, जब कि प्रतिपाद्य विज्ञान पहले ही पूर्णता को प्राप्त हो चुका होता है और उसके संशोधन परिपूर्णता के लिये केवल यत्रतत्र अन्तिम परिष्कार अपेक्षित रह गया होता है। क्योंकि जो विषय विचाराधीन हैं, तत्संबंधी विज्ञान की उपलब्धि के नियमों को निर्धारित करना संभव होने से पूर्व ही उन विषयों का भले प्रकार पूर्णतया ज्ञान होना आवश्यक है।

सामान्य तर्कशास्त्र या तो शुद्ध तर्कशास्त्र होता है अथवा विनियुक्त। इन में से प्रथम प्रकार के तर्कशास्त्र में हम उन सब अनुभवजन्य प्रतिबन्धों या शर्तों से अपहार करते हैं जिनके अधीन हमारी बोधवृत्ति व्याप्त होती है; उदाहरणार्थ इन्द्रियों के प्रभाव, कल्पना की क्रीड़ा, स्मृति के नियमों, अभ्यास या प्रवृत्ति के बल इत्यादि से एवं इसी प्रकार सभी अविचारित पूर्वग्रहों के स्रोतों से, संक्षेप में सचमुच सब ऐसे कारणों से अपहार किया करते हैं, जिससे यह या वह (अर्थात् किसी न किसी प्रकार का) ज्ञान उत्पन्न हो सकता है या उत्पन्न होता प्रतीत है। इस का कारण यह है कि उन सब बातों का संबंध बोधवृत्ति से वहीं तक है जहाँ तक कि वह किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में विनियुक्त हुआ करती है, एवं इन परिस्थितियों को जानने के लिये अनुभव अपेक्षित होगा। अतएव सामान्य किन्तु विशुद्ध तर्क का वास्ता शुद्ध प्रागनुभवात्मक सिद्धान्तों से पड़ता है, और वह बोधवृत्ति और बुद्धि दोनों का आधारभूत सिद्धान्त है; परन्तु ऐसा यह उन्हीं तत्वों के संबंध हैं जो अपने विनियोग में आकारात्मक हैं, चाहे फिर उनमें अन्तर्विष्ट विषय अनुभवाश्रित हो या अनुभवातीत। सामान्य तर्कशास्त्र उस समय विनियोजित तर्कशास्त्र कहलाता है, जब यह विषयिगत अनुभवाश्रित प्रतिबन्धों के अधीन बोधवृत्ति के संप्रयोग नियमों के प्रति प्रेरित किया जाता है, उन प्रतिबन्धों (=शर्तों) के अधीन जिनका प्रतिपादन मनोविज्ञान में किया जाता है। अतएव विनियोजित तर्कशास्त्र के सिद्धान्त आनुभविक सिद्धान्त होते हैं, यद्यपि वह इस पर भी इस सीमा तक साधारण तर्कशास्त्र ही बना रहता है कि विषयों की विभिन्नता पर दृष्टिपात किये बिना बोधवृत्ति के प्रयोग से ही संबंध रखता है। परिणामतः न तो यह सामान्य बोधवृत्ति का आधारभूत सिद्धान्त ही है, और न विशिष्ट विज्ञान का करण ही, प्रत्युत सामान्य बोधवृत्ति का शोधक (या विरेचक) मात्र है।

इसलिये सामान्य तर्कशास्त्र में वह भाग जिसको बुद्धि के शुद्ध सिद्धान्त रूप में

संघटित होना है, पूर्णतया उस भाग से अवश्य ही पृथक् कर दिया जाना चाहिये जो विनियोजित (यद्यपि तो भी सामान्य) तर्कशास्त्र के रूप में संघटित होना है। इन में से प्रथम भाग ही असली विज्ञान है, यद्यपि यह सचमुच ही आकार में छोटा और शुष्क होगा, जैसा कि बोधवृत्ति के तत्वों के सिद्धान्त का सुव्यवस्थित विवरण होना ही चाहिये। अतएव इस संबंध में तार्किकों को दो नियम सर्वदा अपनी आँखों के सामने रखने चाहिये :—

१. सामान्य तर्कशास्त्र के रूप में यह बोधवृत्ति के ज्ञान के अन्तर्वर्ती समग्र विषय वस्तु से और अपने विषयों के समस्त विभेदों से अपकर्षण करता है, एवं विचार के आकारमात्र के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ कुछ वास्ता नहीं रखता।

२. शुद्ध तर्कशास्त्र के रूप में इसके कोई अनुभव संबंधी सिद्धान्त नहीं हैं, और न यह (जैसा कि प्रायः माना जाता है) मनोविज्ञान से कुछ उधार लेता है, जो (मनोविज्ञान) इस प्रकार बोधवृत्ति के आधारभूत सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं डालता। वह तो एक प्रमाणीकृत सिद्धान्त है और इसमें सब कुछ अनुभव के पूर्व सुनिश्चित होना चाहिये।

जिसको मैं विनियोजित तर्कशास्त्र कहता हूँ वह इस शीर्षक के सामान्य (स्वीकृत) अर्थ के प्रतिकूल है, उस अर्थ के अनुसार तो इसमें कुछ ऐसे अभ्यासों का समावेश होना चाहिये जिनके लिये नियम शुद्ध तर्कशास्त्र में दिये होते हैं। वह वास्तविक व्यवहार में अर्थात् उन आकस्मिक विषयिगत परिस्थितियों में जो इसके विनियोग के लिये सहायक या विघातक हो सकती हैं एवं जो केवल अनुभव के द्वारा ही उपलब्ध होती हैं, बोधवृत्ति और उसके आवश्यक नियोजन के नियमों की प्रत्युपस्थापना है। यह ध्यान (=अवधान), अवधान के मार्ग के विघ्नों,[१पा.] और परिणामों, भ्रान्तियों के उद्गम, दुविधा, हिचकिचाहट (या वितर्क) एवं संप्रत्यय की स्थिति इत्यादि विषयों का प्रतिपादन करता है। सामान्य और शुद्ध तर्कशास्त्र का इस तर्कशास्त्र के साथ उसी प्रकार का संबंध है जिस प्रकार का संबंध शुद्ध आचारशास्त्र का, (जिसमें केवल सामान्यतः स्वतंत्र इच्छा से संबंध रखने वाले अपरिहार्य आचार नियमों का समावेश होता है) व्यावहारिक नीतिशास्त्र से है जो इन नियमों का विचार भावनाओं, प्रवृत्तियों एवं उद्वेगों (की वृत्तियों, जिनके आधीन मानवमात्र समधिक मात्रा में रहा करते हैं) की मर्यादाओं (या प्रतिबन्धों) में रह कर किया करता है, एवं जो सिद्धान्त कदापि भी यथार्थ एवं प्रमाणीकृत विज्ञान को प्रस्तुत नहीं कर सकता,

---

१ पा. यहाँ एकवचनान्त एवं बहुवचनान्त दोनों ही प्रकार के पाठ मिलते हैं।

क्योंकि विनियोजित तर्कशास्त्र के समान यह भी अनुभव एवं मनोविज्ञान के शिद्धान्तों पर निर्भर रहता है।

२
अनुभवातीत तर्कशास्त्र

जैसा हम दिखला चुके हैं, सामान्य तर्कशास्त्र ज्ञान के अन्तर्गत सब विषयों से अपहार करता है, अर्थात् ज्ञान के साथ विषयों के सब संबंधों से अपहार करता है; एवं ज्ञानों में परस्पर पाये जाने वाले संबंधों में जो तार्किक आकार रहता है, केवल उसका प्रतिपादन करता है, अर्थात् यह सामान्यतः विचार (या चिन्तन) के आकार का प्रतिपादन करता है। परन्तु क्योंकि (जैसा कि अनुभवातीत संवेदनशास्त्र ने सिद्ध कर दिया है) प्रत्यक्ष शुद्ध और अनुभवात्मक दोनों ही प्रकार के हुआ करते हैं, अतएव इसी प्रकार विषयों के शुद्ध और अनुभवाश्रित विचार में भी विभेद पाया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में ऐसे तर्कशास्त्र की उपलब्धि होगी जिसमें ज्ञान के अन्तर्वर्ती समग्र विषय से अपहार नहीं किया जाएगा; क्योंकि यह तर्कशास्त्र जिसमें केवल किसी विषय के शुद्ध विचार के नियमों का समावेश रहेगा, केवल उन्हीं सब[१पा.] ज्ञानों का अपवर्जन (या निष्कासन) करेगा, जिनमें अनुभवाश्रित विषय अन्तर्विष्ट हैं। यह तर्कविद्या हमारे विषयों के ज्ञान के मूलोद्गम का भी उस सीमा तक प्रतिपादन करेगी, जिस सीमा तक उस ज्ञान को विषयों से उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत दूसरी ओर सामान्य तर्कशास्त्र का ज्ञान के मलोद्गम से कोई भी वास्ता नहीं रहता, प्रत्युत वह तो केवल प्रत्युपस्थापनों का (चाहे तो वे मूलतः अनुभव के पूर्व हमारे अन्दर हों, और चाहे केवल अनुभव से उपलब्ध हुए हों), उन नियमों के अनुसार विचार करता है जिनका उपयोग बोधवृत्ति उन प्रत्युपस्थापनाओं को विचार में परस्पर एक दूसरे को संबद्ध करने में किया करती है, और इस प्रकार यह तर्कविद्या केवल उस आकार का प्रतिपादन करती है जिसको बोधवृत्ति प्रत्युपस्थापनों को प्रदान करने में समर्थ होती है, चाहे वे प्रत्युपस्थापन किसी भी स्रोत से उत्पन्न हुए हों।

और यहाँ अब मैं एक ऐसी बात कहता हूँ जिसका प्रभाव आगे आने वाले समग्र विवेचन पर फैला हुआ है, एवं जिसको इस कारण भले प्रकार दृष्टि में रखा जाना चाहिये। वह बात यह है कि प्रत्येक प्रागनुभवी ज्ञान को अनुभवातीत ज्ञान नहीं कहना चाहिये, प्रत्युत केवल उसको कहना चाहिये जिसके द्वारा हम जानते हैं कि—और

---

१ पा. यह अर्थ आदिकैस के "विउर्डे ब्लौस् अलै" पाठ के अनुसार है।

यह भी जानते हैं कि किस प्रकार––कुछ प्रत्युपस्थापन (प्रत्यक्ष अथवा संबोध) विशुद्ध प्रागनुभवात्मक प्रकार से विनियोजित हो सकते हैं अथवा संभव हैं[१पा.]। इस लिये न तो देश और न उसका कोई प्रागनुभवात्मक भूमिति संबंधी,निर्धारण, इन दोनों में से कोई भी अनुभवातीत प्रत्युपस्थापन नहीं है ; अनुभवातीत कहलाने का अधिकार जिसको है, वह तो केवल यह ज्ञान है कि यह प्रत्युपस्थापन अनुभवमूलक नहीं हैं,[२पा.] और केवल यह संभावना है कि इस पर भी वे[३पा.] किस प्रकार अनुभव के विषयों के साथ संबद्ध हो सकते हैं।[४पा.] इसी प्रकार सामान्यतया देश का विषयों के संबंध में उपयोग **अनुभवा-तीत** होगा, (परन्तु इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत) विषयों में मर्यादित कर दिये जाने पर अनुभवाश्रित कहलाएगा। इस प्रकार अनुभवातीत और अनुभवाश्रित का भेद केवल ज्ञान की मीमांसा रखता है ; उस ज्ञान का जो संबंध अपने विषय से है, उससे इसका कोई वास्ता नहीं है।

अतएव इस आशा में कि स्यात् कुछ ऐसे संबोध हो सकते हों जो शुद्ध अथवा ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष के रूप में नहीं, प्रत्युत केवल शुद्ध विचार––कर्म के रूप में प्रागनुभवात्मकतया विषयों से संबद्ध हैं––अर्थात् ऐसे संबोधों के रूप में जो न तो अनुभवमूलक हैं और न संवेदनमूलक––हम अपने लिये पूर्वाविधारण द्वारा शुद्ध बोधवृत्ति और शुद्ध बुद्धि के ज्ञान की ऐसी विद्या की भावना निर्माण करते हैं, जिसके द्वारा हम विषयों का पूर्ण-तया प्रागनुभवात्मकतया विचार करते हैं। इस प्रकार के विज्ञान को जिसको इस प्रकार के ज्ञान के उद्गम, विषयगोचर, एवं विषयगत प्रामाणिकता का निर्धारण करना है, अनुभवातीत तर्कशास्त्र का नाम देना होगा, क्योंकि सामान्य तर्क शास्त्र के विपरीत, जिसको निर्विशेषतया बुद्धि के अनुभवात्मक एवं शुद्ध दोनों प्रकार के ज्ञान के प्रति प्रवृत्त होना पड़ता है, इसको बोधवृत्ति और बुद्धि के नियमों के साथ उसी सीमा तक वास्ता रखना होता है, जिस सीमा तक विषयों के साथ उनका प्रागनुभवा-त्मक संबध होता है।

३.

सामान्य तर्कविद्या के दो विभाग : वैश्लेषिकी तथा आन्वीक्षिकी

चिरकाल से विख्यात चला आने वाला प्रश्न, जिसके द्वारा तार्किक कोने में

१ पा., २ पा. मूल में यहाँ संशयार्थक ''ज़ाइन्'' seyn का प्रयोग मिलता है।

३ पा. गै औरलाण्ट् के अनुसार ''वे'' से तात्पर्य = कोई प्रागनुभवात्मक भूमिति संबंधी निर्धारण है।

४ पा. यहाँ पाठान्तर के अनुसार एक वचन अर्थ भी संभव है।

धकेल दिये गये माने जाते थे एवं या तो एक दयनीय कूट तर्क की शरण लेने के लिये बाध्य हो जाते थे अथवा अपने अज्ञान को एवं परिणामत: अपनी समग्र कला की रिक्तता को स्वीकार करने के लिये विवश हो जाते थे, यह है कि "सत्य क्या है ?" सत्य की यह शाब्दिक परिभाषा कि सत्य ज्ञान की अपने विषय के साथ अन्विति है यहाँ स्वीकृत हुई मान ली गई है, परन्तु फिर भी जो जानने की अपेक्षा है , वह यह है कि प्रत्येक ज्ञान की सामान्य और सुनिश्चित कसौटी क्या है ।

यह जानना कि औचित्य के साथ कौन से प्रश्न पूछे जा सकते हैं, स्वयं बुद्धिमत्ता अथवा अन्तर्दृष्टि का बड़ा सबूत है। क्योंकि यदि कोई प्रश्न स्वत: ही निरर्थक है और उत्तर की अपेक्षा न होने पर भी उत्तर चाहता है, तो वह न केवल प्रश्न प्रस्तुत करने वाले पर लज्जा का भार डालता है, प्रत्युत असावधान श्रोता को भी निरर्थक उत्तर देने के लिये धोखे में डाल सकता है ; और इस प्रकार (जैसा कि पुरातन लोगों ने कहा है), वह हास्यास्पद दृश्य उपस्थित कर दे सकता है जिसमें कोई एक आदमी बकरे को दुह रहा हो और दूसरा उसके नीचे छलनी थामे हुए हो ।

यदि सत्य ज्ञान और उसके विषय की अन्विति में संनिहित है, तो ऐसा होने से वह विषय अन्य विषयों से भिन्न होना चाहिये ; क्योंकि जो ज्ञान जिस विषय से संबद्ध होता है, वह यदि उससे मेल न खाए तो वह झूठा होता है, फिर चाहे भले ही उसमें कुछ ऐसी वस्तु अन्तर्विष्ट हो जो अन्य विषयों के संबंध में प्रामाणिक हो । अब सत्य की सामान्य कसौटी ऐसी होनी चाहिये जो ज्ञान के सभी प्रकारों के लिये, चाहे उनके विषय कितने भी विभिन्न क्यों न हों प्रामाणिक हो । परन्तु यह तो स्पष्ट है ही कि क्योंकि ऐसी कसौटी संबंध में स्वतः ज्ञान में अन्तर्विष्ट सब विषय से अपहार (अर्थात् विषय के संबंध से अपहार) किया जाता है, और क्योंकि सत्य का संबंध ठीक इस अन्तर्विष्ट विषय से ही होता है, अतएव ज्ञान में अन्तर्विष्ट इस विषय के सत्य के चिन्ह की माँग करना पूर्णतया असंभव और निरर्थक है, तथा सत्य की पर्याप्त और साथ ही साथ सामान्य कसौटी प्रदान करना संभवतया बन ही नहीं सकता । क्योंकि ऊपर हम पहले ही ज्ञान के अन्तर्विष्ट विषय को उसका उपादान कह चुके हैं, अतएव हम को यह भी कहना चाहिये ही कि हमारे ज्ञान के उपादान के सत्य के संबंध में किसी सर्वमान्य कसौटी की माँग नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकार की माँग स्वयं अपना विरोध करने वाली है ।

परन्तु जहाँ तक (समग्र अन्तर्विष्ट विषय को छोड़कर) केवल आकार के संबंध में ज्ञान का प्रश्न है, यह भी उतना ही स्पष्ट है कि तर्कशास्त्र को जहाँ तक वह बोध-वृत्ति के सर्वव्यापी और अनिवार्य नियमों की व्याख्या करता है, इन नियमों में सत्य

की कसौटी भी प्रदान करनी चाहिये। जो कुछ भी इन नियमों का विरोधी है वह असत्य है, क्योंकि इससे बोधवृत्ति स्वयं अपने ही नियमों का, और इस कारण स्वयं अपना, विरोध करने वाली हो जाती है। परन्तु इन कसौटियों का संबंध केवल सत्य के आकार-मात्र से है, अर्थात् सामान्यतः विचार के आकारमात्र से है, और इस सीमा तक वे बिलकुल सही हैं, परन्तु पर्याप्त नहीं हैं। क्योंकि, यद्यपि कोई ज्ञान तार्किक आकार की दृष्टि से पूर्णतया नपातुला ठीक हो, अर्थात् स्वविरोधी न हो, तथापि इतना होने पर भी यह संभव है कि वह अपने विषय का विरोधी हो। इसलिये सत्य की विशुद्ध तार्किक कसौटी, अर्थात् ज्ञान का बोधवृत्ति और बुद्धि के सामान्य और औपचारिक (आकारिक) नियमों के साथ अविरोध अपरिहार्य शर्त है, अतएव समग्र सत्य की निषेधात्मक शर्त है; पर इससे आगे तर्कशास्त्र जा नहीं सकता, एवं उस गलती को, जिसका संबंध आकार से नहीं प्रत्युत अन्तर्हित विषय से है, तर्कशास्त्र किसी कसौटी के द्वारा उद्घाटित नहीं कर सकता।

सामान्य तर्कशास्त्र बोधवृत्ति और बुद्धि की सम्पूर्ण व्यापार पद्धति को उसके अंशों में विघटित करता है और उनको हमारे ज्ञान के समग्र तर्क संबंधी मीमांसा के सिद्धान्तों के रूप में प्रदर्शित करता है। अतएव तर्कशास्त्र का यह भाग वैश्लेषिकी कहला सकता है और कम से कम यह सत्य की निषेधात्मक कसौटी है, क्योंकि इसके पहले कि किसी ज्ञान के संबंध यह देखने के लिये कि उसमें उसके विषय के संबंध में विधि रूप सत्य का समावेश है या नहीं, उसका स्वयं उसके अन्तर्विष्ट विषय के अनुसार उसका परीक्षण किया जाए, सर्वप्रथम समग्र ज्ञान के आकार के परीक्षण और मूल्यनिर्धारण के लिये इसके नियमों का विनियोग होना चाहिये। परन्तु क्योंकि ज्ञान का आकारमात्र, चाहे वह तार्किक नियमों के साथ कितनी भी पूर्ण अन्विति (अविरोध) से युक्त क्यों न हो, तथापि ज्ञान के उपादानात्मक (विषयगत) सत्य के निर्धारण करने में दूरेण अपर्याप्त रहता है, इसलिये केवल तर्कशास्त्र की सहायता से कोई भी विषयों के संबंध में निर्णय करने का और बलपूर्वक कोई बात कहने का साहस नहीं कर सकता जब तक कि इसके पूर्व, तर्कशास्त्र से पृथकतया उसने विश्वसनीय जानकारी एकत्रित न कर ली हो, जिससे कि इसके पश्चात् तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार इस जानकारी के उपयोग और एक सुसंसक्त पूर्णावयवी उसके संयोजन की चेष्टा की जा सके, अथवा और भी अच्छा यह हो, कि इस जानकारी का इन नियमों के अनुसार परीक्षण किया जा सके। तथापि इस प्रकार की दिखावटी कला के स्वामित्व में, जिसके द्वारा हमारे समग्र ज्ञान को, चाहे उसके अन्तर्विष्ट विषय के संबंध में हम कितने ही अज्ञान और शून्य क्यों न हों, बोधवृत्ति का आकार दिया जा सकता है,

कुछ ऐसी लुभावनी शक्ति है कि, साधारण तर्कशास्त्र का, जो कि विभावना के लिये मानदण्डमात्र है, उपयोग कुछ इस प्रकार किया गया है कि मानों वह कम से कम विषयगत निष्कथनों के आभास के वास्तविक उत्पादन का करण (या उपकरण) हो, और इस प्रकार इसी कारण सचमुच इसका दुरुपयोग हुआ है। सामान्य तर्कशास्त्र, करण के सादृश्य को धारण करने पर डाइलेक्टिक या आन्वीक्षिकी कहलाता है।

पुरातन मनीषियों ने विज्ञान अथवा कला के इस नाम (डाइलैक्टिक) को जिन अर्थों में प्रयुक्त किया है, वह चाहे कितने ही विविध प्रकार के क्यों न रहे हों, तथापि उनके वास्तविक प्रयोग से सुरक्षिततया यह समझा जा सकता है कि यह उनके लिये दिखावे (या माया) के तर्क के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। यह कूट तर्क की वह कला थी कि जो तर्कशास्त्र के द्वारा साधारणतया निर्धारित पद्धति-संबंधी परिपूर्णता का अनुकरण करके एवं थोथे अभिमान की रिक्तता को इसके 'वार्ता विषय' के प्रयोग से छिपा कर अज्ञान को, नहीं, नहीं, वास्तव में अभिप्रेत वाक्छलों तक को सत्य का अवभास प्रदान करने वाली थी। तो अब यह बात एक सुनिश्चित और उपयोगी चेतावनी के रूप में ध्यान में रखी जा सकती है कि सामान्य तर्कशास्त्र ज्ञान के उपकरण की दृष्टि से सर्वदा दिखावे का तर्कशास्त्र है, अर्थात् केवल वादमात्र है। क्योंकि तर्कशास्त्र हम को ज्ञान के अन्तर्विष्ट विषय में कुछ भी नहीं सिखाता, प्रत्युत बोधवृत्ति के साथ अन्विति (या अविरोध) की शर्तों को निर्धारित करता है, जो शर्तें विषयों के संबंध में पूर्णतया उदासीन हैं; अतएव कोई भी ऐसा प्रयत्न जो इस तर्कशास्त्र को ऐसे उपकरण के रूप में उपयोग में लाना चाहता है जो हमारे ज्ञान को विस्तीर्ण और परिवर्द्धित करने का दम भरता है, केवल संलापमात्र में पर्यवसित हो सकता है––जिसमें कुछ सत्याभास के सहारे हम किसी भी संभव कथन का या तो मण्डन करते हैं और या अपनी इच्छा के अनुसार खण्डन करते हैं।

इस प्रकार की शिक्षा दर्शनशास्त्र की प्रतिष्ठा के लिये लेशमात्र भी शोभनीय नहीं है। इन्हीं कारणों से, तर्कशास्त्र के इस भाग को वादात्मक दिखावे की मीमांसा के अर्थ में 'वाद' (डाइलैक्टिक) नाम दिया गया है। हमारी यह इच्छा है कि यहाँ यह शब्द इसी अर्थ में समझा जाए।

४

अनुभवातीत तर्कशास्त्र का अनुभवातीत वैश्लैषिकी और अनुभवातीत अन्वीक्षिकी में विभाजन

अनुभवातीत तर्कशास्त्र में हम बोधवृत्ति को उसी प्रकार पृथक् करते हैं (जिस

प्रकार अनुभवातीत संवेदनशास्त्र में संवेदनशीलता को पृथक् करते हैं), और अपने ज्ञान में से केवल विचार के उस अंश को पृथक् करते हैं जिसका मूलोद्गम केवल बोधवृत्ति में होता है। इस शुद्ध ज्ञान का उपयोग इस शर्त के ऊपर निर्भर करता है कि जिन विषयों के सम्बन्ध में इस की प्रवृत्ति हो सकती है, वे हमको प्रत्यक्ष में उपलब्ध हों। प्रत्यक्ष के अभाव में हमारा सब ज्ञान विषयरहित रहता है, एवं इस कारण पूर्णतया रिक्त रहा करता है। इस प्रकार अनुभवातीत तर्कशास्त्र का वह भाग जो बोधवृत्ति के द्वारा उत्पादित शुद्ध ज्ञान के अंशों और उन सिद्धान्तों का (जिनके बिना किसी विषय का विचार नहीं किया जा सकता) प्रतिपादन करता है, अनुभवातीत वैश्लेषिकी विद्या है, और साथ ही साथ सत्य का तर्कशास्त्र भी है। क्योंकि कोई भी ज्ञान बिना तत्काल अपने अन्तर्विष्ट समग्र विषय को गवाँए हुए अर्थात् किसी भी विषय के साथ समग्र संबंध को, और इसलिये समग्र सत्य को खोये बिना इसका प्रत्याख्यान नहीं कर सकता। परन्तु क्योंकि बोधवृत्ति के इन ज्ञान के विशुद्ध प्रकारों और इन सिद्धान्तों का अपने आप में और अनुभव की मर्यादा के बाहर भी प्रयोग करना अत्यन्त लुभावना लगता है, [उस अनुभव की मर्यादा के बाहर प्रयोग करना जो केवल उन (उपादानों) या विषयों को प्रदान करता है, जिनके प्रति बोधवृत्ति के यह विशुद्ध संबोध प्रवृत्त हो सकते हैं] इसलिये बोधवृत्ति केवल विवेक के दिखावे के साथ, अपने विशुद्ध और केवल औपचारिक (अथवा आकृत्यात्मक) सिद्धान्तों के उपादान के रूप में उपयोग कर और बिना भेदभाव के ऐसे विषयों के संबंध में निर्णय देने का (जो हमको उपलब्ध नहीं और इतना ही नहीं स्यात् कभी किसी प्रकार उपलब्ध हो भी नहीं सकते), खतरा उठाने के लिये तैयार हो जाती है। क्योंकि सम्यक् प्रकार से तो इस अनुभवातीत वैश्लेषिकी विद्या का उपयोग बोधवृत्ति के आनुभविक प्रयोग के विषय में आधारभूत सिद्धान्त के रूप में निर्णय देने के लिये होना उचित है, अतएव यदि इसके सामान्य और अनन्त विनियोग के लिये इसका आह्वान किया जाए, एवं यदि परिणामतः केवल शुद्ध बोधवृत्ति के साथ ही विषयों के संबंध में सामान्य भाव से संश्लिष्ट प्रकार से निर्णय (करने) निष्कथन करने, एवं निश्चय करने का इसका उपयोग किया जाए, तो यह इसका दुरुपयोग होगा। इस प्रकार तो शुद्ध बुद्धि का उपयोग द्वन्द्वात्मक हो जाता है। अनुभवातीत तर्कशास्त्र का दूसरा भाग भी इस प्रकार इस द्वन्द्वात्मक भ्रम की मीमांसा होना चाहिये; और यह अनुभवातीत युक्तिविद्या कहलाती है--पर इस प्रकार के भ्रम को वैधिक (या अविवेचित) प्रकार से उत्पन्न करने वाली कला के रूप में नहीं (जो कला दुर्भाग्यवश तत्वज्ञान के जादूगरों के द्वारा अत्यन्त सामान्यरूप से व्यवहृत हुआ करती है), प्रत्युत बोधवृत्ति और बुद्धि के अतिभौतिक विनियोग में

उनकी मीमांसा के रूप में अनुभवातीत युक्तिविद्या कहलाती है। इसका उद्देश्य होगा उन निराधार व्यदेशों (अभिमानों) के वितथ भ्रमात्मक स्वरूप का भण्डाफोड़ करना, और उनके ज्ञान के आविष्कार और विस्तार करने के दावों को (जिनको उनके विचार में केवल अनुभवातीत मूलभूत सिद्धान्तों के द्वारा पहुँचा जा सकता है) को घटाकर केवल बोधवृत्ति की विभावना तथा वाक्छल की प्रवञ्चना से उसकी रक्षा करना।

अनुभवातीत तर्कशास्त्र

प्रथम खण्ड

अनुभवातीत वैश्लेषिकी

§ १

अनुभवातीत वैश्लेषिकी हमारे समग्र प्रागनुभवात्मक ज्ञान का शुद्ध बोधवृत्ति के ज्ञान के तत्वांशों के रूप में अंग विच्छेद है। इस कार्य के लिये निम्नलिखित बातें मुख्यतया विचारणीय हैं—(१) कि संबोध शुद्ध हों अनुभवाश्रित न हों। (२) कि वे प्रत्यक्ष या इन्द्रिय संवेद्यता से संबद्ध न हों, प्रत्युत विचार और बोधवृत्ति से संबद्ध हों। (३) कि वे मूल तात्विक संबोध हों एवं व्युत्पादित तथा संहत संबोधों से भले प्रकार पृथक्कृत हों। (४) कि उनकी सूची या तालिका (निर्विशेषतया) परिपूर्ण हो, एवं शुद्ध बोधवृत्ति के समग्र क्षेत्र को पूर्णतया व्याप्त करने वाली हो। पर किसी ऐसे विज्ञान की यह पूर्णता, जो कि केवल प्रयोगात्मक पद्धति द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का संग्रह है, अन्दाजे के आधार पर विश्वास के साथ स्वीकार नहीं की जा सकती। अतएव यह पूर्णता तो केवल बोधवृत्ति द्वारा उत्पादित प्रागनुभवात्मक ज्ञान की समग्रता की भावना के द्वारा तथा उससे निर्धारित उपर्युक्त अवयवी के संघटक संबोधों के विभाजन के द्वारा, अतएव परिणामतः केवल उनके एक संस्थान के अधीन उनके सहावलम्बन के द्वारा संभव है। शुद्ध बोधवृत्ति अपने को न केवल सब अनुभवाश्रित तत्वों से पृथक् करती है, प्रत्युत समग्र इन्द्रिय संवेद्यता से भी पूर्णतया पृथक् करती है। यह स्वतः अधिष्ठित, स्वतः पर्याप्त, एवं किसी बाहर से जोड़े जाने वाले तत्वों की वृद्धि को प्राप्त न होने वाली एकता है। इस प्रकार इसके ज्ञान का सकल समाहार एक विचार या भावना में समाविष्ट और अवधारित एक संस्थान है, जिसकी पूर्णता और अंग-सन्धि-योजना एक साथ इसके संघटक सब ज्ञानांशों के सही होने और प्रकृत होने की कसौटी भी प्रदान करती हैं। परन्तु अनुभवातीत तर्कशास्त्र के इस

सम्पूर्ण भाग में दो पुस्तकें सम्मिलित हैं जिनमें से एक में बोधवृत्ति के संबोधों का तथा दूसरी में मूलभूत सिद्धान्तों का समावेश होता है ।

अनुभवातीत वैश्लेषिकी

प्रथम पुस्तक

संबोधों की वैश्लेषिकी

§ २

संबोधों की वैश्लेषिकी से मेरा आशय उनके विश्लेषण या दार्शनिक अनुसंधान में सामान्यतया चालू पद्धति से नहीं है, जो किन्हीं भी समक्ष उपस्थित होने वाले संबोधों का विश्लेषण करके इस प्रकार उनको अधिक स्पष्ट बना देती है; प्रत्युत मेरा अभिप्राय प्रागनुभवात्मक संबोधों की जन्मभूमिरूपिणी बोधवृत्तिमात्र में खोज करके एवं इस शक्ति के शुद्ध विनियोग का विश्लेषण करके इन प्रागनुभवात्मक संबोधों की संभावना के अन्वेषण के लिये स्वयं बोधवृत्ति का अंग विश्लेषण करना है जो अब तक बहुत कम अध्यवसायित हुआ है; क्योंकि यही तो अनुभवातीत दर्शनशास्त्र अपना विशिष्ट व्यवसाय है। जो कुछ इसके आगे अवशिष्ट रह जाता है वह सामान्यतः दर्शनशास्त्र में अन्तर्विष्ट संबोधों का तार्किक प्रतिपादन भर है । अतएव हम शुद्ध संबोधों का मानवीय बोध में, उनके प्रथम बीज रूप और अवस्थान योजना तक में अनुसरण करेंगे, जहाँ कि वे तैयार हुए, तब तक पड़े रहते हैं, जब तक अन्ततोगत्वा अनुभव से अवसर मिलने पर वे विकसित किये जाते हैं और उसी बोधवृत्ति द्वारा, अपने साथ में आसक्त अनुभवाश्रित परिस्थितियों से मुक्त हुए अपनी शुद्धता में प्रदर्शित किये जाते हैं ।

संबोधों की वैश्लेषिकी

प्रथम अध्याय

बोधवृत्ति के सब शुद्ध संबोधों के आविष्कार की कुञ्जी

§ ३

जब किसी ज्ञानशक्ति की क्रिया चालू कर दी जाती है, तो अवसरों की विविधता के अनुसार विभिन्न संबोध दृष्टिगोचर होते हैं, जो इस शक्ति को ज्ञेयता प्रदान करते हैं एवं जितने दीर्घकाल तक और जितनी अधिक तीक्ष्णता के साथ उनका निरीक्षण किया जाता है, उतने ही अनुपात में वह स्वयं अपने को समधिक मात्रा में संचित हो जाने देते हैं। इस यान्त्रिक जैसी पद्धति के अनुसार यह अन्वेषण कहाँ पूर्णता को प्राप्त होगा, यह बात कभी भी सुनिश्चितता के साथ नहीं कही जा सकेगी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार अवसरानुसार आविष्कृत संबोध अपने आप को किसी क्रम अथवा एकता में प्रकट नहीं करते, प्रत्युत अन्ततोगत्वा अपने सादृश्यानुसार युग्मों में विन्यस्त, एवं अन्तर्विष्ट विषय की मात्रा के अनुसार श्रेणीबद्ध हो जाते हैं, जिनका क्रम सरलता से आरंभ कर विमिश्रितता की ओर चलता है, अर्थात् सरल पहले और मिश्रित पीछे आते हैं—पर यह ऐसा विन्यास है जो सुव्यवस्थितता से बहुत दूर है, यद्यपि कुछ एक सीमा तक व्यवस्था के साथ स्थापित अवश्य हुआ है।

अनुभवातीत दर्शनशास्त्र को अपने संबोधों को एक सिद्धान्त के अनुसार खोजने की सुविधा किन्तु साथ ही साथ कर्तव्य-बन्धन भी प्राप्त है; क्योंकि वे शुद्ध और अविमिश्रित रूप में बोधवृत्ति में से उद्गत होते हैं, जो एक ऐकान्तिक अथवा निरपेक्ष एकता है, अतएव वे परस्पर एक दूसरे के साथ एक संबोध अथवा भाव के अनुसार संबद्ध होने चाहिये। पर इस प्रकार का संबंध हमको एक ऐसा नियम हस्तगत करा देता है कि जिसके अनुसार बोधवृत्ति के प्रत्येक शुद्ध संबोध का समुचित स्थान तथा जिसके द्वारा प्रागनुभवात्मक पद्धति से उनकी सुव्यवस्थित पूर्णता को निर्धारित किया जा सकता है, अन्यथा इन सब बातों में रुचि अथवा दैवयोग पर निर्भर होना पड़ता।

बोधवृत्ति के समग्र शुद्ध संबोधों के आविष्कार की अनुभवातीत कुञ्जी

प्रथम खंड

बोधवृत्ति का सामान्यतः तर्कशास्त्रीय प्रयोग

§ ४

ऊपर बोधवृत्ति का अनैन्द्रिक शक्ति के रूप में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह केवल नकारात्मक है। अब क्योंकि इन्द्रिय संवेद्यता के बिना हमको कोई प्रत्यक्षोपलब्धि हो नहीं सकती, अतएव बोधवृत्ति प्रत्यक्षोपलब्धि की शक्ति नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्यक्षोपलब्धि के अतिरिक्त संबोधों के उपाय को छोड़ कर और कोई ज्ञान की प्राप्ति का प्रकार नहीं है। अतएव बोधवृत्ति के द्वारा, अथवा कम से कम मानवीय बोधवृत्ति के द्वारा, उत्पादित ज्ञान अवश्यमेव संबोधों के साधन से सम्प्राप्त ज्ञान होना चाहिये ; इसलिये इस प्रकार का ज्ञान ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत तार्किक ज्ञान होता है। जबकि इन्द्रियाश्रित होने के कारण सब उपलब्धियाँ प्रभावग्रहणता पर निर्भर होती हैं, संबोध सक्रिय वृत्ति पर निर्भर करते हैं ; सक्रिय वृत्ति से मेरा अभिप्राय विभिन्न प्रत्युपस्थापनाओं को एक सामान्य प्रत्युपस्थापना के अधीन व्यवस्थित करने के कर्म की एकता से है। इस प्रकार संबोध विचार की स्वगत-स्फूर्ति पर वैसे ही आधारित रहते हैं, जैसे कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष संस्कार की ग्रहणशीलता पर निर्भर रहते हैं। बस अब इन संबोधों से बोधवृत्ति इसके अतिरिक्त और कोई काम नहीं ले सकती कि उनके द्वारा निर्णय प्रस्तुत करे। क्योंकि, कोई भी प्रत्युपस्थापना, जबकि वह शुद्ध प्रत्यक्षोपलब्धि नहीं होती, विषय के साथ अव्यवहित संबंध नहीं रखती, इसलिये कोई भी संबोध किसी भी विषय से अव्यवहिततया संबद्ध नहीं होता, प्रत्युत उसके किसी अन्य प्रत्युपस्थापन से (चाहे वह अन्य उपस्थापन प्रत्यक्ष हो चाहे स्वयं कोई संबोध ही हो, संबद्ध होता है। अतएव विभावना या निर्णय किसी विषय का व्यवहित ज्ञान है, अर्थात् उसकी प्रत्युपस्थापना की भी प्रत्युपस्थापना है। प्रत्येक विभावना में एक संबोध हुआ करता है जो अनेकों प्रत्युपस्थापनाओं के विषय में लागू होता

है, और उन अनेकों में से एक निर्दिष्ट प्रत्युपस्थापना के विषय में भी, जो अव्यवहित भाव से विषय से संवद्ध होती है। उदाहरण के लिये इस निर्णय में कि "सब शरीर विभाज्य होते हैं" विभाज्य का संबोध अन्य विविध संबोधों के प्रसंग में भी लागू होता है, परन्तु यहाँ यह विशिष्टतया शरीर के संबोध के संबंध में प्रयुक्त हुआ है, और यह संबोध स्वयं कुछ ऐसे अवभासों के संबंध में लागू होता है, जो अपने को हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं। अतएव यह विषय विभाज्यता के संबोध के द्वारा व्यवहित-तया प्रत्युपस्थापित किये जाते हैं। इसके अनुसार सब विभावनाएँ हमारी प्रत्युपस्थापनाओं के मध्य में एकता की वृत्तियाँ हैं; किसी विषय को जानने में अव्यवहित प्रत्युपस्थापना के स्थान पर एक ऐसी उच्चतर प्रत्युपस्थापना का उपयोग किया जाता है जो अपने भीतर अव्यवहित प्रत्युपस्थापना एवं अनेकों विविध अन्य प्रत्युपस्थापनाओं का समाहार किये रहती है, और इस प्रकार बहुत कुछ संभव ज्ञान एक ज्ञान के भीतर समाहृत हो जाता है। परन्तु हम बोध के सब कार्यों को विभावनाओं में प्रतिरूपित कर सकते हैं, और इसलिये बोध को विभावना शक्ति के रूप में प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है। क्योंकि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बोध विचार करने की शक्ति है। विचार या चिन्तन संबोधों के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान है। परन्तु संबोध, संभव विभावना के विधेय के रूप में अद्यावधि अनिर्धारित विषय की प्रत्युपस्थापना से संबद्ध हुआ करते हैं। इस प्रकार शरीर का कुछ अर्थ या आशय हुआ करता है, (जैसे उदाहरण के लिये धातु के संबोध को ले सकते हैं) जो उस संबोध के द्वारा जाना जा सकता है। अतएव यह संबोध भी केवल अपने में अन्य प्रत्युपस्थापनाओं का समाहार कर लेने के कारण है, जिनके द्वारा यह विषय से संबंध स्थापित कर सकता है। इस प्रकार यह किसी संभव विभावना का विधेय है, जैसे उदाहरण के लिये "प्रत्येक धातु एक आयतन या शरीर है" अतएव यदि विभावनाओं में एकता की वृत्तियों को पूर्णतया प्रस्थापित किया जा सके, तो बोध की वृत्तियों का भी बिल्कुल आविष्कार हो सकता है। और यह बिलकुल सरलता से किया जा सकता है, यह बात आगामी खंड प्रत्यक्ष कर देगा।

बोधवृत्ति के समग्र संबोधों के आविष्कार की कुञ्जी

द्वितीय खण्ड

विभावनाओं (या विधानों) में बोधवृत्ति का तर्कशास्त्रीय व्यापार

§ ५

यदि हम किसी विभावना में से उसके समग्र अन्तर्विष्ट विषय से सामान्यतः अप-

हार करें और केवल बोधवृत्ति के आकारमात्र पर ध्यान दें, तो हम को पता चलता है कि विभावना में विचार का कार्य (या व्यापार) चार शीर्षकों के अन्तर्गत आनीत हो सकता है, जिनमें से प्रत्येक में तीन उपविभाग हैं। उनको निम्नलिखित तालिका में सुविधा के साथ प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है

१

विभावना की मात्रा (या व्याप्ति)

सर्वव्यापी

विशिष्ट

ऐकिक

२

गुण

विधिरूप

निषेधात्मक

अनन्त

३

संबंध

अनिर्बन्ध

हेतुहेतुमद्भाव

वियुक्तविकल्पात्मक

४

प्रकारता

अनिर्णीत

दृढ़ कथनात्मक

स्वतः सिद्ध

क्योंकि यह विभाजन उन विशिष्ट प्रभेदों से जो कि तर्कशास्त्रियों द्वारा सामान्यतया स्वीकृत किये जाते हैं, कुछ बातों में भिन्न हैं, यद्यपि सारवान् बातों में ऐसा नहीं है, अतएव किसी भी संभव मिथ्याबोध के अपहारार्थ निम्नलिखित संनिदर्शन सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

१. तार्किकों का यह कथन औचित्यपूर्ण है कि न्यायवाक्य (सिलौजिज़्म) में विभावनाओं के उपयोग करने में ऐकिक विभावनाओं को सर्वव्यापी विभावनाओं के तुल्य माना जा सकता है। ऐसा इसलिये है कि उनमें कोई आभोग या विस्तार बिलकुल भी नहीं होता, अतएव विधेय का संबंध विधेय के संबोध में अन्तर्विष्ट विषय के एक भागमात्र से नहीं हो सकता और शेष भाग से अपवर्जित नहीं हो सकता। इस प्रकार यह विधेय उस संबोध के विषय में ठीक उसी प्रकार बिना अपवाद के प्रामाणिक

होता है, जिस प्रकार मानों वह सामान्य संबोध हो जिसमें ऐसा विस्तार हो जिसके अर्थ के सर्वांग के प्रति विधेय लागू होता हो । दूसरी ओर यदि हम ऐकिक विभावना की तुलना केवल ज्ञान के रूप में मात्रा की दृष्टि से सर्वव्यापी विभावना के साथ करें, तो उस ऐकिक और सर्वव्यापी का अनुपात वही होगा जो एकता और अनन्तता का है, और इसलिये वह ऐकिक विभावना स्वतः सर्वव्यापी विभावना से सारतः भिन्न है । अतएव यदि हम ऐकिक विभावना का मूल्यांकन केवल उसकी आन्तरिक प्रामाणिकता की दृष्टिमात्र से न करें, किन्तु सामान्य ज्ञान के रूप में अन्य ज्ञानों की तुलना में इसकी मात्रा की दृष्टि से करें, तो यह सामान्य विभावना से निश्चय ही विभिन्न है, और यद्यपि चाहे विभावनाओं के पारस्परिक संबंध तक सीमित तर्कशास्त्र में सचमुच ही उसको स्थान न मिले, तथापि वह सामान्यतः विचार के गतिचक्र की परिपूर्ण सारणी में पृथक् स्थान पाने के योग्य है ।

२. इसी प्रकार अनुभवातीत तर्कशास्त्र में अनन्त विभावनाएँ विधिरूप विभावना से पृथक् की जानी चाहिये, यद्यपि सामान्य तर्कशास्त्र में वह उनके साथ उचिततया ही, एक ही श्रेणी में अन्तर्भुक्त मानी जाती हैं, और विभाजन में पृथक् अंगनिर्मित नहीं करतीं । यह सामान्य तर्कशास्त्र तो विधेय के समस्त अन्तर्विष्ट विषयों से अपहार करता है, चाहे वह निषेधरूप ही क्यों न हो । वह तो केवल यही विचार करता है कि विधेय का उद्देश्य के संबंध में विधान किया गया है या निषेध । परन्तु अनुभवातीत तर्कशास्त्र इस बात का भी विचार करता है कि इस प्रकार केवल निषेधात्मक विधेय द्वारा जो तार्किक विधान किया गया है, उसका मूल्य और अन्तर्विष्ट विषय क्या है, एवं हमारे समग्र ज्ञान की वृद्धि में इसके द्वारा किस लाभ की उपलब्धि होती है । यदि मैंने आत्मा के विषय में यह कहा होता कि "वह मर्त्य नहीं है", तो इस निषेधात्मक विभावना के द्वारा मैंने कम से कम एक भ्रम का निवारण किया होता । तो अब इस प्रस्थापना के द्वारा कि "आत्मा मर्त्य नहीं है" (अथवा "आत्मा अमर्त्य है") जहाँ तक तार्किक आकार का संबंध है, मैंने वास्तव में विधिरूप कथन किया है, क्योंकि मैं आत्मा को अमर्त्य सत्वों के अपरिसीम मण्डल में स्थापित कर रहा हूँ । क्योंकि समग्र संभव सत्वों के विस्तार का एक खंड मर्त्य है, और दूसरा अमर्त है अतएव मेरी प्रस्थापना ने इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा है कि आत्मा उन अनन्त संख्यक वस्तुओं में से एक है, जो उस समय बच रहती हैं,जब मैं उन सब वस्तुओं को एक साथ अलग कर देता हूँ जो मर्त्य हैं । पर ऐसा करने से समग्र संभव का अनन्त मण्डल केवल इतना सीमित हुआ है कि उसमें से मर्त्य को पृथक् कर दिया गया है, और आत्मा को उस मण्डल के अवशिष्ट स्थलके विस्तार में स्थापित कर दिया गया है । किन्तु इसे पृथक् कर देने के उपरान्त

भी यह स्थल सर्वदा अनन्त बना रहता है, और आत्मा के संबोध को न्यूनतम मात्रा में भी बिना बढ़ाये हुए अथवा विधिरूप प्रकार से बिना निर्धारित किये इसके और भी कई भाग पृथक् किए जा सकते हैं । इस प्रकार यह विभावनाएँ यद्यपि अपने तार्किक विस्तार की दृष्टि से अनन्त होती हैं, तथापि वास्तव में अपने ज्ञान के अन्तः-स्थित विषय की दृष्टि से सामान्यतः यह संकोचकमात्र होती हैं, अतएव विचार के सब गतिचक्रों की अनुभवातीत सारणी के अन्तर्गत इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती, क्योंकि इनके द्वारा अभिव्यक्त बोध की वृत्ति स्यात् इसके शुद्ध प्रागनुभवा-त्मक ज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हो सकती है ।

विभावनाओं में विचार के सब संबंध (क) विधेय का उद्देश्य के साथ, (ख) कारण का परिणाम के साथ, (ग) विभक्त ज्ञान का परस्पर समस्त विभाजन के अंगों के साथ इन तीन प्रकारों के होते हैं । प्रथम प्रकार की विभावना में केवल दो प्रकार के संबोधों का विचार किया जाता है, दूसरे प्रकार की में दो विभावनाओं का, तथा तीसरे प्रकार की में उनके परस्पर संबंधों के साथ कई एक विभावनाओं का विचार किया जाता है । इस उपकल्पित प्रस्थापना में कि "यदि परिपूर्ण न्याय हो तो दुराग्रही दुष्टगण दण्डित हुआ करते हैं", वास्तव में दो प्रस्थापनाओं के संबंध सम्मिलित हैं। वे प्रस्थापनाएँ यह हैं कि "परिपूर्ण न्याय है" और "दुराग्रही दुष्ट दण्डित होते हैं।" यह दोनों प्रस्थापनाएँ स्वयं अपने आप में सत्य हैं या नहीं, यह बात यहाँ अनिर्णीत ही रहती है । इसके द्वारा तो केवल तार्किक पौर्वापर्य का ही विचार किया जाता है । अन्त में आती है वियुक्त विकल्पात्मक विभावना जिसमें दो या अधिक प्रस्थाप-नाओं का पारस्परिक संबंध सम्मिलित रहता है, तथापि यह संबंध तार्किक पौर्वापर्य का संबंध नहीं होता, प्रत्युत जहाँ तक एक का व्याप्ति क्षेत्र दूसरे के व्याप्ति क्षेत्र का निवारण करता है इनका संबंध तार्किक विरोध का है किन्तु साथ ही साथ, जहाँ तक दोनों या सब प्रस्थापनाएँ मिल कर प्रसंगोपात्त ज्ञान के समग्र व्याप्ति क्षेत्र को पूर्णतया अधिष्ठित किये रहते हैं, इनका संबंध समुदायकता का भी है; इसलिये वियुक्त विकल्पा-त्मक विभावना इस प्रकार के ज्ञान के मण्डल के खंडों के संबंध को सूचित करती है, क्योंकि प्रत्येक खंड का क्षेत्र दूसरे खंड के क्षेत्र का पूरक है, और दोनों मिलकर विभक्त ज्ञान के योग को उत्पादित करते हैं । इस कथन के उदाहरण स्वरूप इस विभावना को ले सकते हैं कि 'दुनिया का अस्तित्व या तो अन्ध संयोग के कारण है, या आन्तर आवश्यकता के कारण है, अथवा बाह्य कारण के द्वारा।' इन प्रस्थापनाओं में से प्रत्येक प्रस्थापना संसार के अस्तित्व से संबंध रखने वाले साधारण संभव ज्ञान के मंडल के एक देश को अधिकृत किए हुए है; और सब मिल कर सम्पूर्ण मण्डल को व्याप्त किए

हैं। इन मण्डलों में से एक में से ज्ञान को बाहर निकालना उसको दूसरे मण्डलों में से किसी एक में रखना है, तथा उसको किसी एक में रखना उसको दूसरे में से निकालने के बराबर है। इसलिये विकल्पात्मक विभावना में ज्ञान के ज्ञात घटकों की एक ऐसी सुनिश्चित सामाजिकता रहती है कि वे परस्पर एक दूसरे का निवारण किया करती हैं और तो भी इस कारण वे अपने संयुक्त रूप में सच्चे ज्ञान को निर्धारित करती हैं; क्योंकि सब के एक साथ मिल कर ग्रहण किये जाने पर वे किसी दिए हुए ज्ञान समग्र अन्तर्विष्ट विषय को घटित करती हैं। और जहाँ तक आगामी विवेचन का संबंध है, मैं इतना कहना ही पर्याप्त समझता हूँ।

४. विभावनाओं की प्रकारता उनकी स्वतः एक अत्यन्त विशिष्ट वृत्ति है, जिसका विलक्षण चिह्न यह है कि वह विभावना के अन्तर्विष्ट विषय-वस्तु में कुछ भी योगदान नहीं देती, (क्योंकि, मात्रा, गुण और संबंध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जिससे विभावना का अन्तर्विष्ट विषय घटित होता हो), प्रत्युत इसका वास्ता सामान्य विचार के संबंध में केवल योजक के मूल्य से होता है। अनिर्णीत विभावनाएँ वे होती हैं, जिनमें विधि अथवा निषेध को मात्र संभव माना जाता है। दृढ़ कथनात्मक विभावनाओं में उस विधि या निषेध को वास्तविक एवं स्वतः सिद्ध विभावना में इसको अपरिहार्य माना जाता है।* इस प्रकार वे दोनों विभावनाएँ जिनके संबंध से हेतुहेतुमद्भावात्मक विभावना उत्पन्न होती है, पूर्वगामी हेतु और उसके अन्वयी परिणाम और वह विभावनाएँ जिनका इतरेतर संबंध वियुक्त विकल्पात्मक विभावना को जन्म देता है (विभाजन के अंग), वे सब की सब शक्यतावाची या संदिग्धमात्र होती हैं। उपर्युक्त उदाहरण के अन्तर्गत जो यह विभावना है कि "दुनिया में पूर्ण न्याय है", इसका कथन दृढ़तया नहीं किया गया है, प्रत्युत इसका एक वैकल्पिक विभावना के रूप में विचार किया है, जिसको किसी व्यक्ति द्वारा मान लिया जाना संभव है; इसका तार्किक या यौक्तिक अन्वयी परिणाम दृढ़ कथनात्मक है। इसलिये इस प्रकार की विभावनाएँ आपाततः असत्य हो सकती हैं, तथापि शक्यतावाचक रूप में ग्रहण किये जाने पर वे सत्य के ज्ञान की शर्त हो सकती हैं। जैसे कि इस विभावना को ले सकते हैं कि "दुनिया की सत्ता अन्ध संयोग के कारण है।" यह वियुक्त विकल्पात्मक विभावना के अन्तर्गत केवल शक्यतावाचक अर्थ रखती है, अर्थात् कोई व्यक्ति इस प्रस्थापना को कुछ एक पल भर के लिये मान ले सकता है; तथापि इसके साथ ही, उन अनेक मार्गों की संख्या में, जिन सब को ग्रहण किया जा सकता है, गलत रास्ते चिह्न के समान यह सच्ची प्रस्थापना को खोज निकालने में सहायक होती है। इसलिये शक्यतावाचक या अनिर्णीत प्रस्थापना वह होती है जो केवल यौक्तिक संभावना को (जो विषयगत या वस्तु-

गत नहीं होती) प्रकट करती है; अर्थात् ऐसी प्रस्थापना के बोध के अन्तर्गत स्वच्छन्द वरण और केवल स्वीकरण को सूचित करती है। दृढ़ कथनात्मक प्रस्थापना तार्किक वास्तविकता या सत्य को कहती है, जैसे कि हेतुहेतुमद्भावात्मक अनुमान वाक्य में गुरुपक्ष या व्याप्ति वाक्य में पूर्वगामी हेतु संदिग्ध होता है।

*ठीक इस प्रकार जैसे कि मानों संदिग्ध विभावना में विचार (करना) बोधवृत्ति का कार्य हो, तथा दृढ़ कथनात्मक विभावना में विभावना शक्ति का कार्य हो एवं स्वतः सिद्ध विभावना में बुद्धि (या विवेध) का कार्य हो। यह कथन आगे चल कर स्पष्ट रूप से समझाया जाएगा। लघु पक्ष में दृढ़ कथनात्मक होता है, और यह सूचित करता है कि प्रस्थापना बोधवृत्ति के साथ उसके नियमों के अनुसार बँधी हुई है। स्वतःसिद्ध प्रस्थापना दृढ़ कथनात्मक प्रस्थापना का विचार बोधवृत्ति के इन्हीं नियमों के द्वारा निर्धारित रूप में और इसीलिये प्रागनुभवात्मकतया विधिरूप कथन करते हुए करती है, और इस प्रकार से यह यौक्तिक अपरिहार्यता को प्रकट करती है। क्योंकि अब यहाँ प्रत्येक वस्तु क्रमानुसार एक एक पग बढ़ते हुए बोधवृत्ति में समाविष्ट हो जाती है--वह इस प्रकार कि पहले किसी की वस्तु की विभावना संदिग्ध रूप में की जाती है, तदुपरान्त उसके सत्य को दृढ़ कथनात्मक प्रकार समर्थित किया जाता है, और अन्त में उसका बोधवृत्ति के साथ अवियोज्यतया आबद्ध रूप में विधान किया जाता है। अतएव प्रकारता के इन तीन कार्यों को सामान्यतः विचार के तीन गतिचक्र माना जा सकता है।

बोधवृत्ति के समग्र संबोधों के आविष्कार की कुञ्जी

तृतीय खंड

बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध अथवा प्रकार

§ ६

जैसा कि अनेक बार कहा जा चुका है, सामान्य तर्कशास्त्र ज्ञान के अन्तर्विष्ट समग्र विषय से अपहार करता है, तथा उन प्रत्युपस्थापनाओं के लिये जिनको इसे विश्लेषण की पद्धति से संबोधों में परिवर्तित करना है, किसी अन्य उद्गम को खोजता है, चाहे फिर वह कहीं भी क्यों न हो। इसके विपरीत, अनुभवातीत तर्कशास्त्र अपने समक्ष प्रागनुभवात्मक संवेदन का वैविध्य पड़ा हुआ पाता है, जो उसके लिये अनुभवातीत संवेदनशास्त्र द्वारा शुद्ध बोधवृत्ति के संबोधों के उपादान के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसके बिना वे संबोध समग्र अन्तःस्थित विषय से शून्य और इसी कारण

नितान्त रिक्त होंगे। देश और काल में शुद्ध प्रागनुभवात्मक अन्तरुपलब्धि का वैविध्य समाहित रहता है, पर इसके साथ ही साथ वह हमारे मानस की ग्रहणशीलता की शर्तें भी हैं—वह शर्तें कि केवल जिनके अधीन रह कर वह विषयों की प्रत्युपस्थापनाओं को ग्रहण कर सकता है और इसीलिये जिसको इन्हीं विषयों के संबोधों को भी सर्वदा अवश्य ही प्रभावित करना चाहिये। हमारे विचार की स्वयंस्फूर्तिता की यह माँग है कि यह बहुविधतत्व जाना जा सके। इसके लिये सर्वप्रथम इसका एक विशेष से पूर्णतया अवगाहन होना चाहिये, इसको ग्रहण किया जाना चाहिये और आबद्ध किया जाना चाहिये, तब कहीं जाकर इससे ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है। इस कार्य को मैं संश्लेषण कहता हूँ।

इसके सामान्यतम अर्थ में, संश्लेषण से मेरा आशय विभिन्न प्रत्युपस्थापनाओं को एक साथ व्यवस्थित करना, तथा जो कुछ उनमें बहुविध है उसको एक ज्ञान के अन्तर्गत परिगृहीत करना है। इस प्रकार का संश्लेषण उस समय शुद्ध होता है जब कि वैविध्य की उपलब्धि अनुभव से नहीं, प्रत्युत (जैसा कि देश और काल के संबंध में होता है) प्रागनुभवात्मकतया हुआ करती है। इसके पूर्व कि हम अपनी प्रत्युपस्थापनाओं का विश्लेषण करें, प्रत्युपस्थापनाएँ स्वयं हमको उपलब्ध होनी चाहिये; और जहाँ तक अन्तर्विष्ट विषय का संबंध है, विश्लेषण के द्वारा पहले पहल कोई संबोध उत्पन्न नहीं हो सकते। वैविध्य के संश्लेषण से ही (चाहे उसकी उपलब्धि अनुभव से हुई हो, अथवा प्रागनुभवात्मकतया हुई हो) सर्वप्रथम ज्ञान की उत्पत्ति होती है। आरंभ में सचमुच ही यह ज्ञान अपरिपक्व और अस्तव्यस्त हो सकता है और इसी कारण इसको विश्लेषण की आवश्यकता हो सकती है; तथापि फिर भी वह तत्व संश्लेषण ही है, जो वास्तव में उसके तत्वों को ज्ञान (की उत्पत्ति) के लिये एकत्र करता है और विशिष्ट अन्तरार्थ को बनाने के लिए उनको संयुक्त करता है। इसलिये यदि हमको अपने ज्ञान के मौलिक उद्गम का निर्णय करना हो, तो हमको इस संश्लेषण की ओर ही अपने ध्यान को प्रेरित करना चाहिये।

सामान्यरूपेण, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, संश्लेषण कल्पना शक्ति का परिणाममात्र है, आत्मा की अन्धी किन्तु अपरिहार्य प्रवृत्ति है, जिसके बिना हमको किञ्चिन्मात्र ज्ञान की भी प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु जिसके विषय में हम कठिनाई से ही कभी एक बार सचेत रहते हों। इस संश्लेषण को संबोधों का रूप प्राप्त करा देना ऐसा कार्य है जिसका संबंध बोधवृत्ति से है, तथा बोधवृत्ति के इस कार्य के द्वारा ही हमको वास्तव में ज्ञान कहे जाने योग्य वस्तु की पहले पहल प्राप्ति होती है।

शुद्ध संश्लेषण अपने सामान्य रूप में प्रत्युपस्थापित होने पर बोधवृत्ति का शुद्ध

संबोध प्रदान करता है। पर इस संश्लेषण से उस तत्व को समझता हूँ जो प्रागनुभवात्मक संश्लिष्ट एकता के आधार पर स्थित है। इस प्रकार हमारी गिनती (जैसा कि बड़ी संख्याओं के प्रसंग में सरलता से देखा जा सकता है) संबोधों के अनुसार एक संश्लेषण है, क्योंकि यह इकाई के सामान्य आधार के अनुसार प्रतिपादित की जाती है (जैसे उदाहरणार्थ दशक को ले सकते हैं)। इसलिये इस संबोध के द्वारा वैविध्य के संश्लेषण के अन्तर्गत एकता आवश्यक हो जाती है-।

विश्लेषण के द्वारा विविध प्रस्थापनाएँ एक संबोध के अधीन ले आई जाती हैं—इस प्रक्रिया का प्रतिपादन सामान्य तर्कशास्त्र में किया जाता है। पर जिस बात को अनुभवातीत तर्कशास्त्र सिखाता है वह संबोधों के प्रति प्रत्युपस्थापनाओं को लाना नहीं है, प्रत्युत प्रत्युपस्थापनाओं के शुद्ध संश्लेषण को (उनके प्रति) लाना है। सब विषयों के प्रागनुभवात्मक ज्ञान के निमित्त जो चीज़ सबसे पहले उपलब्ध होनी चाहिये, वह है शुद्ध उपलब्धि की विविधता। इस विविधता का कल्पना के द्वारा संश्लेषण या संयोजन दूसरा तत्व है, किन्तु यह भी कोई ज्ञान नहीं देता। वे संबोध जो इस शुद्ध संश्लेषण को एकत्व प्रदान करते हैं, तथा जो एकमात्र इस अपरिहार्य संश्लिष्ट एकता की प्रत्युपस्थापना से घटित होते हैं, किसी विषय के ज्ञान के लिये तीसरा आवश्यक अंश प्रस्तुत करते हैं, और वे बोधवृत्ति की देन हैं।

वही प्रवृत्ति जो कि किसी विभावना के अन्तर्गत विभिन्न प्रत्युपस्थापनाओं को एकता प्रदान करती है, किसी अन्तरुपलब्धि के अन्तर्गत विविध प्रत्युपस्थापनाओं के केवल संश्लेषण को भी एकता प्रदान करती है, जो एकता अपनी परम सामान्य अभिव्यक्ति में बोधवृत्ति का शुद्ध संबोध कहलाती है। वही बोधवृत्ति और उन्हीं व्यापारों के द्वारा, जिनके द्वारा विश्लेषणात्मक एकता से उसने संबोधों में विभावना के तर्कशास्त्रीय रूप को उत्पन्न किया था, उपलब्धि में सामान्यतया स्थित विविधता की संश्लेषणात्मक एकता के द्वारा उसकी प्रत्युपस्थापनाओं में भी अनुभवातीत अन्तरार्थ निवेशित कर देती है, जिसके कारण वह प्रत्युपस्थापनाएँ बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध कहलाते हैं, और विषयों के प्रति प्रागनुभवात्मकतया लागू होते हैं, यह ऐसी बात है जिसको सामान्य तर्कशास्त्र स्थापित नहीं कर सकता।

इस प्रकार, बोधवृत्ति के उन शुद्ध संबोधों की, जो कि उपलब्धि के विषयों के प्रति प्रागनुभवात्मकतया लागू होते हैं, ठीक वही संख्या उत्पन्न होती है, जितनी पिछली सारणी में सब संभव विभावनाओं में यौक्तिक या तार्किक प्रवृत्तियाँ पाई गई थीं। क्योंकि इन विवेचित प्रवृत्तियों द्वारा बोधवृत्ति पूर्णतया निःशेषित हो जाती है और अपनी शक्तियों की निःशेष तालिका प्रदान कर देती है। अरिस्तू का अनुसरण करते

हुए हम इन संबोधों को प्रकार (या कैटेगरीज़) कहेंगे, क्योंकि हमारा मुख्य उद्देश्य उसके उद्देश्य से अभिन्न है, यद्यपि अनुष्ठान के प्रकार में उसकी पद्धति से बहुत दूर हटा हुआ है।

प्रकारों (या कैटेगरीज़) की सारणी

१

मात्रा-संबंधी
एकता
अनेकता
समग्रता

२

गुण-संबंधी
यथार्थता
निषेध
परिसीमन

३

संबंधात्मक
समवाय, उपजीव्य
कारण कार्य
सामाजिकता, (=समुदाय)

४

प्रकारता
संभावना––असंभवता
सत्ता––सत्ताभाव
अपरिहार्यता––यादृच्छिकता

बस उन सब संश्लेषण के मौलिक शुद्ध संबोधों की तालिका यही है जो कि प्रागनुभवात्मकतया बोधवृत्ति अपने में धारण करती है, और यह इन्हीं के धारण करने कारण ही तो शुद्ध बोधवृत्ति कहलाती है; क्योंकि केवल उनके द्वारा ही यह उपलब्धि के वैविध्य में कुछ समझ सकती है, अर्थात् अनुभव के विषय को विचार सकती है। यह विभाजन सुव्यवस्थिततया एक सामान्य सिद्धान्त से विकसित किया गया है, जिसका नाम विभावना-शक्ति है (जो विचार-शक्ति से अभिन्न है) यह विभाजन असंबद्धप्रलाप के ढंग से, बिना विचार किये शुद्ध संबोधों की अटकलपच्चू खोज के परिणाम स्वरूप सौभाग्यवशात् उत्पन्न नहीं हुआ है : इन संबोधों की, केवल सामान्यानुमान पर आधारित, पूरी गणना कभी निश्चित नहीं की जा सकती। इस अन्तिम प्रकार की प्रक्रिया के अनुसार तो यह पता भी नहीं चल सकता कि बस ठीक यही संबोध क्यों शुद्ध बोधवृत्ति

के अन्तर्गत रहते हैं और अन्य क्यों नहीं रहते। इन आधारभूत मौलिक संबोधों की खोज करना सर्वथा एक ऐसी योजना थी, जो अरिस्तू के समान कुशाग्रबुद्धि सूक्ष्मचिन्तक के ही योग्य थी। परन्तु क्योंकि इस संबंध में उसके पास कोई आधारभूत सिद्धान्त नहीं था, उसने उनको राह चलते उठा लिया और पहले पहल उसने दस को पाया जिनको उसने कैटेगरीज़ नाम दिया। आगे चलकर उसको ऐसा विश्वास हुआ कि उसने पाँच और अन्य प्रकारों का आविष्कार कर लिया है, जिनको उसने "पोस्ट प्रीडिकामैण्ट्स", पश्चात्कालीन प्रकार, कहा। पर तो भी उसकी सारणी सदोष ही बनी रही। इसके अतिरिक्त इस सारणी में शुद्ध इन्द्रिय संवेद्यता के भी कुछ प्रकार पाये जाते हैं (समय, स्थान, स्थिति तथा पूर्व, पश्चात्) और एक अनुभव (गति) का भी, जिनमें से कोई भी बोधवृत्ति की इस वंशावली से बिल्कुल भी संबद्ध नहीं हो सकता अथवा अरिस्तू की इस सारणी में मौलिक संबोधों के साथ ही साथ कुछ व्युत्पादित संबोध भी गिनाये गये हैं (कर्तृत्व, कर्मसहत्व), और मौलिक संबोधों में से कुछ का इसमें पूर्णतया अभाव है।

इनके संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि शुद्ध बोधवृत्ति के सच्चे मौलिक संबोधों के रूप में इन प्रकारों के शुद्ध व्युत्पादित संबोध भी होते हैं, जिनकी किसी अनुभवातीत दर्शनशास्त्र के परिपूर्ण संस्थान में अवहेलना नहीं की जा सकती, परन्तु केवल आलोचनात्मक निबंध में, मैं उनके उल्लेखमात्र को पर्याप्त समझता हूँ।

मैं बोधवृत्ति के इन शुद्ध किन्तु व्युत्पादित संबोधों को, प्रीडिकामैण्ट अर्थात् प्रकारों (= कैटगरीज़) से पृथक् निर्दिष्ट करने के लिये, शुद्ध-बोध-के-विधेयवर्ग नाम देने की अनुज्ञा चाहता हूँ। यदि हमको मूलभूत और आद्य संबोध उपलब्ध हों तो उनके साथ व्युत्पादित और सहायक संबोधों को जोड़ना और इस प्रकार शुद्धबोध के वंशवृक्ष को पूर्णतया चित्रित करना सरल है। क्योंकि इस समय मेरा उद्देश्य इस संस्थान की पूर्णता का प्रतिपादन करना नहीं, प्रत्युत उन सिद्धान्तों का निरूपण करना है जिनके अनुसार इस दर्शन संस्थान का निर्माण होना है; अतएव इस संपूरक कार्य को मैं किसी भावी अवसर के लिये रख छोड़ता हूँ। इस उद्देश्य की प्राप्ति तो सत्ताशास्त्र संबंधी पुस्तकों की सहायता से भले प्रकार से हो सकती है; उदाहरणार्थ कार्यकारण प्रकार के अन्तर्गत वेग, करना और सहना, इस विधेयवर्ग को सम्मिलित करके, समाज प्रकार के अन्तर्गत उपस्थिति और निरोध इन विधेयों को ग्रहण करके, प्रकारता के अन्तर्गत होना, समाप्त होना, परिवर्त्तन इत्यादि विधेय वर्ग को सम्मिलित करके यह उद्देश्य पूर्ण हो सकता है। यह प्रकार शुद्ध संवेद्यता के साथ अथवा परस्पर एक दूसरे के साथ आबद्ध होकर व्युत्पादित प्रागनुभवात्मक संबोधों की एक बड़ी संख्या को उत्पन्न करते हैं, जिनको

ध्यान में रखना और यदि संभव हो, तो उनकी पूरी तालिका तक प्रस्तुत करना एक उपयोगी और अविप्रिय कार्य होगा, पर चो कष्ट यहाँ परिहार्य होना चाहिये।

इस ग्रंथ में मैं स्वयं प्रकारों की परिभाषाओं को, (यद्यपि वे मुझको हस्तगत हैं) जानबूझ कर छोड़े दे रहा हूँ। मैं इन संबोधों के विश्लेषण की दिशा में उतना ही आगे बढ़ूँगा, जितना कि मेरे द्वारा प्रतिपाद्यमान रीति-सिद्धान्त के संबंध में आवश्यक है। शुद्ध-बुद्धि के दर्शन संस्थान में औचित्य के साथ प्रकारों की परिभाषाओं की माँग की जाएगी, परन्तु यहाँ तो वे ऐसे सन्देहों और आपत्तियों को उठाकर हमारे अनुसंधान के प्रधान विषय को दृष्टिपथ के वाहर कर देंगी, जिनको प्रस्तुत विषय के सार तत्व को हानि पहुँचाए बिना किसी अन्य अवसर के लिये उठा रखा जा सकता है। इसी बीच में जो कुछ थोड़ी बात मैंने कही है, उससे यह तो स्पष्ट प्रकट हो गया होगा कि एक पूरा शब्दकोश, जिसके साथ सब अपेक्षित स्पष्टीकरण भी हों, न केवल संभव कार्य है, अपितु सरलता से प्रतिपादित होने वाला कार्य है। विभाग तो सब प्रस्तुत हैं ही, इसके उपरान्त जो काम शेष रह जाता है, वह उनको भरना है, एवं इस प्रकार का क्रमबद्ध विषय जैसा कि यहाँ प्रस्तुत है, प्रत्येक संबोध के स्थल के संबंध में पर्याप्त पथप्रदर्शन प्रदान करता है, और साथ ही साथ यह भी निर्देश करता है कि कौन से विभाग अभी तक रिक्त पड़े हुए हैं।

§ ७

प्रकारों की यह सारणी कुछ ऐसे बढ़िया विचार विन्दुओं को सुझाती है, जिनके बुद्धि के द्वारा उपलब्ध होने वाले ज्ञान के सभी वैज्ञानिक आकारों के संबंध में स्यात् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम हो सकते हैं। क्योंकि यह बात कि, यह सारणी दर्शन-शास्त्र के सैद्धान्तिक विभाग में अत्यन्त उपयोगी है, और वास्तव में जहाँ तक कोई विज्ञान प्रागनुभवात्मक संबोधों पर निर्भर रहता है यह ऐसे समग्र विज्ञान की परिपूर्ण योजना को समुपलब्ध कराने के लिये, एवं उसको निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार सुव्यवस्थितया विभाजित करने के लिये अपरिहार्य है, तो पहले ही इस तथ्य से स्पष्ट है कि इस सारणी में बोधवृत्ति के सभी तात्विक संबोध अपनी पूर्णता के साथ समाविष्ट हैं। इतना ही नहीं, इसमें मानवीय बोधवृत्ति के अन्तर्गत स्वयं उनके संस्थान का आकार भी उसमें सन्निहित है, और तदनुसार यह एक आयोजित चिन्तनात्मक विज्ञान के गति चक्रों को सूचित करती है, और उनके क्रम को भी सुझाती है, जैसा कि मैंने अन्यत्र प्रदर्शित किया है। इस संबंध में कुछ ध्यान देने योग्य बातें निम्नलिखित हैं।

प्रथम बात यह है कि यह सारणी, जिसमें कि बोधवृत्ति के संबोधों के चार वर्ग

संनिहित हैं, प्रथमतः दो भागों में विभक्त की जा सकती है, जिनमें से प्रथम भाग के संबोधों का संबंध अन्तरुपलब्धि के (शुद्ध एवं अनुभवाश्रित दोनों प्रकार के) विषयों से है, तथा दूसरे भाग के संबोधों का वास्ता इन विषयों के पारस्परिक संबंध की अथवा बोधवृत्ति के साथ उनके संबंध की दृष्टि से उनकी सत्ता के साथ है।

प्रकारों के इस प्रथम वर्ग को मैं गणितात्मक नाम दूँगा, और दूसरे को गत्यात्मक कहूँगा। जैसा कि देखा जा सकता है, प्रथम वर्ग में इतरेतर संबद्ध तत्व नहीं हैं, जो केवल दूसरे वर्ग में ही मिलते हैं। इस भेद का कुछ न कुछ आधार बोधवृत्ति के स्वरूप अवश्य होना चाहिये।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि सर्वत्र प्रत्येक वर्ग में प्रकारों की संख्या वही एक सी––अर्थात् तीन है। यह बात भी समधिक मनन करने योग्य तथ्य है, क्योंकि विशेषतया सभी संबोधों का प्रागनुभवात्मक विभाजन द्विधापृथक्करण द्वारा ही होना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि तीसरा प्रकार प्रत्येक वर्ग के दूसरे प्रकार के प्रथम प्रकार के साथ सम्मिलन से उत्पन्न होता है।

इस प्रकार सर्वता या समस्तता, एकता के रूप में मानी हुई अनेकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; सीमितता निषेध के साथ आबद्ध वास्तविकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; समुदाय परस्पर एक दूसरे को परिच्छिन्न या निर्धारित करने वाले पदार्थों का परस्पर कार्य कारण भाव है; और अपरिहार्यता उस सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो स्वयं संभवता के द्वारा उपलब्ध होता है। परन्तु ऐसा विचार नहीं किया जाना चाहिये कि इसीलिये तृतीय प्रकार केवल एक व्युत्पादित संबोध है, और बोधवृत्ति का शुद्ध संबोध नहीं है। क्योंकि तृतीय संबोध को उत्पन्न करने के लिये प्रथम और द्वितीय संबोध का संयोजन बोधवृत्ति के एक विशिष्ट कार्य की माँग करता है, जो प्रथम तथा द्वितीय संबोध के संबंध में अनुष्ठित कार्य से अभिन्न नहीं है। इसी प्रकार संख्या का संबोध (जिसका संबंध समस्तता के प्रकार से है) सर्वदा जहाँ अनेकता और एकता के संबोधों की उपस्थिति होती है, वहाँ संभव नहीं होता (उदाहरण के लिये अनन्त की प्रत्युपस्थापना को ले सकते हैं); और न केवल कारण के संबोध और पदार्थ के संबोध के संयोजन से मैं तत्काल प्रभाव के संबोध को––अर्थात् इस बात को, कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में किसी वस्तु (किसी कार्य) का कारण किस प्रकार हो सकता है––समझ सकता हूँ। इससे यह स्पष्ट है कि इन प्रसंगों में बोधवृत्ति के एक विशिष्ट कार्य की अपेक्षा है; और अवशिष्ट प्रसंगों में भी यही बात लागू होती है।

तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें एक प्रकार अर्थात् समुदायकता के प्रकार में, जो कि तृतीय वर्ग में उपलब्ध होता है, वियुक्त विकल्पात्मक विभावना के

आकार के साथ——अर्थात् उस आकार के साथ जो तार्किक प्रवृत्तियों में इसके समनुरूप होता है——इसकी संगति इतना स्पष्टतया प्रत्यक्ष नहीं होता, जितना अन्य प्रसंगों में।

इस संगति के विषय में निश्चित ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमको इस बात का विचार करना चाहिये कि सभी वियुक्त विकल्पात्मक विभावनाओं में विभावना का क्षेत्र या मंडल (अर्थात् उन सब का झुंड, जो उसमें अन्तर्विष्ट है), विभागों में (अधीन संबंधों में) विभक्त अवयवी के रूप में प्रत्युपस्थापित होता है, और क्योंकि उनमें से कोई भी किसी दूसरे में अन्तर्विष्ट नहीं हो सकता; वे परस्पर एक दूसरे के साथ समानाधिकृत ख्याल किये जाते हैं, अधरीकृत नहीं समझे जाते; और इसलिये वे एक शृंखला के तुल्य एक दूसरे को केवल एक दिशा में निर्धारित या परिच्छिन्न करते हुए नहीं माने जाते, प्रत्युत एक समूह में, जैसी स्थिति होती है उसके समान परस्पर निर्धारित करते हुए समझे जाते हैं (यदि किसी भाग का अंग स्थापित किया जाता है तो शेष सब बहिष्कृत हो जाते हैं, और विलोमक्रम से भी ऐसा ही होता है।)

अब रही ऐसे अवयवी की बात जो वस्तुओं से मिलकर निर्मित हुआ है, तो उसमें भी इसी प्रकार का संयोजन ख्याल किया जाता है; क्योंकि इसमें कोई वस्तु कार्य रूप में, अन्य वस्तु के प्रति जो उसकी सत्ता का कारण रूप है, अधरीकृत नहीं होती, प्रत्युत युगपत् एवं उभयतः दूसरे के निर्धारण के हेतु के रूप में उसके साथ समानाधिकृत होती है (जिस प्रकार, उदाहरण के लिये, किसी एक अवयवी की अवस्था होती है, जिसके भाग परस्पर एक दूसरे को आकर्षित और अपकर्षित करते हैं), जो उस संबंध की अपेक्षा जो केवल कारण और कार्य (हेतु और फल) के संबंध के मध्य में पाया जाता है, एक पूर्णतया भिन्न प्रकार का संबंध है, क्योंकि कारण और कार्य के संबंध में कार्य पुनः अपनी ओर से बदले में कारण को निर्धारित नहीं करता, और इसीलिए इसके साथ मिलकर एक अवयवी को घटित नहीं करता——(जैसे उदाहरणार्थ जगत्, जगत्-स्रष्टा के साथ मिलकर एक अवयवी का निर्माण नहीं करता)। अपने प्रति किसी विभाजित संबोध के क्षेत्र को प्रत्युपास्थपित करने में बोधवृत्ति जिस प्रक्रिया का अनुसरण करती है, उसी का अनुसरण तब भी करती है जब यह किसी वस्तु को विभाज्य समझती है; और जिस प्रकार प्रथम प्रसंग एक विभाग के अंग एक दूसरे को निवारण करते हैं और फिर भी एक मण्डल में संयुक्त बने रहते हैं, इसी प्रकार द्वितीय प्रसंग में बोधवृत्ति भागों की पदार्थ रूप सत्ता को अपने प्रति कुछ ऐसे प्रकार से प्रत्युस्थापित करती है, कि यद्यपि प्रत्येक भाग दूसरे भागों से स्वाधीनतया स्थित रहता है तथापि वे सब साथ मिलकर एक अवयवी के रूप में संयोजित हो जाते हैं।

§ ८

प्राचीन काल के लोगों की पराविद्या में एक और अध्याय सम्मिलित रहता हैं, जिसमें बोधवृत्ति के वे शुद्ध संवोध अन्तर्विष्ट रहा करते हैं जो यद्यपि प्रकार भेदों के अन्तर्गत नहीं गिने जाते, पर जिनको उनके मतानुसार विषयों के प्रागनुभवात्मक के संवोधों का पदस्थानी माना जाना चाहिये । इस स्थिति में वे प्रकारों की संख्या को बढ़ाएँगे, परन्तु ऐसा हो नहीं सकता। वे पुरातन शास्त्रियों के मध्य में उस अत्यन्त प्रसिद्ध प्रस्थापना में प्रस्तुत किये गये हैं जो इस प्रकार है : 'सत्य सत्ता वह है जो एक, सत्य और पूर्ण है ।' यद्यपि इस सिद्धान्त का उपयोग परिणाम की दृष्ट से निश्चय ही बहुत हीन रहा है, और इसने वास्तव में ऐसी प्रस्थापनाओं को उत्पन्न किया है जो केवल पुनरुक्त्यात्मक हैं, एवं इसी कारण तत्वज्ञान में आधुनिक समय में यह अपने स्थान को केवल प्रायः शिष्टाचार के कारण सुरक्षित रख सका है। तथापि दूसरी ओर वह विचार जिसने अपने को इतने दीर्घ काल तक सुरक्षित बनाये रखा है, चाहे वह कितना ही रिक्त जैसा क्यों न प्रतीत होता हो, अवश्यमेव इस योग्य है कि उसके उद्गम की दृष्टि से उसकी खोज की जाए; और यह अनुमान करना समुचित प्रतीत होता है कि इसका आधार बोधवृत्ति के किसी नियम में है, जिसकी, जैसा कि बहुधा होता है, गलत व्याख्या की गई है। वस्तुओं के यह तथाकल्पित अनुभवातीत विधेय वास्तव में सामान्यतः वस्तुओं के समग्र ज्ञान की तर्कसम्मत अपेक्षाओं और कसौटियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, और यह इस ज्ञान के लिये मात्रा के प्रकार अर्थात्, एकता, बहुलता तथा समस्तता को निर्दिष्ट करती हैं। बस बात इतनी सी है कि यह प्रकार जो कि समुचित प्रकार से देखे जाने पर स्वरूपतः वस्तुओं की अनुभवाश्रित विषयों की संभावनाओं से संबद्ध सामग्री के रूप में माने जाने चाहिये, इस प्रसंग में समग्र ज्ञान की तर्कसम्मत अपेक्षा स्वरूप केवल अपने औपचारिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, और तिस पर भी असावधानी के कारण इन विचार की कसौटियों ने अपने को स्वरूपतः वस्तुओं के गुणों के रूप में परिवर्तित कर दिया है। किसी भी विषय के ज्ञान में संबोध की एकता रहती है, जिसको गुणात्मक एकता कहा जा सकता है, जहाँ तक कि उससे हम अपने ज्ञान के वैविध्य के संयोजन की एकतामात्र का विचार करते हैं,—जैसे उदाहरण के लिये किसी नाटक, भाषण या कथा में प्रकरण या विषय की एकता होती है। द्वितीयतः इसके परिणाम के संबंध में सत्य रहता है। किसी दिये हुए संबोध से जितनी अधिक संख्या सच्चे अनुमान निष्पन्न होते हैं, उसकी वास्तविक यथार्थता की उतनी ही अधिक कसौटियाँ हुआ करती हैं। इसको लक्षणों की गुणात्मक अनेकता कहा जा सकता है, उन लक्षणों की अनेकता जो सामान्य आधार के रूप में उस संबोध से संबद्ध होते

हैं, परन्तु जो उसमें मात्रा के रूप में स्थित ख्याल नहीं किये जाते हैं। तीसरी और अन्तिम बात है पूर्णता जिसकी संघटना इस प्रकार है कि यह उपर्युक्त अनेकता एक साथ संबोध की एकता की ओर प्रत्यावर्त्तन करती है, और पूर्णतया इसी संबोध के साथ मेल खाती है अन्य और किसी के भी साथ नहीं। इसको गुणात्मक पूर्णता नाम दिया जा सकता है। इस सब विवेचन से यह स्पष्ट है कि सामान्य ज्ञान की संभावना की तर्कसम्मत यह कसौटियाँ मात्रा के तीन प्रकार हैं, जिसमें परिमाण के उत्पादन की एकता साद्यन्त सर्वत्र एक भावात्मक मानी जानी चाहिये। तथा यह तीन प्रकार यहाँ इसलिए रूपान्त-रित किये जा रहे हैं कि ज्ञान के गुण को संबंधन का तत्व (या सिद्धान्त) मान कर उसके द्वारा विविध जातिक ज्ञान का एक चेतना के भीतर संनिबधन उत्पन्न हो सके। इस प्रकार किसी भी संबोध की (स्वयं विषय की नहीं) संभावना की कसौटी उसकी परि-भाषा है, जिसमें कि संबोध की एकता, तथा जो उससे अव्यवहिततया अनुमित हो सकता है उसकी सत्यता, और अन्ततः इस प्रकार जो उससे अनुमित हुआ है, उसकी पूर्णता (यह तीनों मिलकर) उस सबको प्रदान करती हैं, जो एक पूर्णांग संबोध के निर्माण के लिये अपेक्षित है। इसी प्रकार किसी अधिष्ठापना की भी कसौटी उसकी व्याख्या के माने हुए हेतु या आधार की बोधगम्यता अर्थात् (बिना किसी सहायक अधि-ष्ठापना के) उसकी एकता, उससे जो परिणाम अनुमित किये जाते हैं, उनकी सत्यता (——उनकी पारस्परिक और परिणामों के साथ अनुरूपता), और अन्ततः इन परिणामों की व्याख्या के आधार या हेतु की पूर्णता है, जो हमको लौटा कर न तो उससे अधिक की ओर ले जाती है, न कम की ओर जो कि अधिष्ठापना में स्वीकार किया गया था; और इस प्रकार पश्चादनुभवी विश्लेषणात्मक ढंग से हमें उसको लौटा देती है और उसके अनुरूप भी होती है, जो पूर्वतः संश्लिष्ट प्रागनुभवी ढंग से विचारा जा चुका है। इस प्रकार एकता, सत्यता और पूर्णता के संबोधों के द्वारा प्रकारों की अनुभवातीत सारणी, (मानों वह किसी पक्ष में अपूर्ण रही हो) में कोई वृद्धि नहीं की, प्रत्युत केवल जो कुछ हमने किया है, वह यह है कि ज्ञान का स्वयं अपने साथ समन्वय करने के हेतु इस संबोधों के उपयोग को सामान्य तर्कशास्त्र के नियमों के अधीन कर दिया है—— जब कि विषयों के साथ उनके संबंध का प्रश्न पूर्णतया एक ओर अलग छोड़ दिया गया है।

संबोधों की वैश्लेषिकी

द्वितीय अध्याय

बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों का निगमन

प्रथम खण्ड

सामान्य अनुभवातीत निगमन के सिद्धान्त

§ ९

जब विधिविशारद लोग अधिकारों और दावों की बात करते हैं, तो वे कानूनी मामले में अधिकार के प्रश्न और तथ्य के प्रश्न में भेद किया करते हैं; और जब कि वह दोनों को सिद्ध या उपपन्न करने की माँग करते हैं, तो प्रथम की उपपत्ति को, जिसको अधिकार या वैध दावे को कथन करना पड़ता है, वे निगमन कहते हैं। बहुत से अनुभवजन्य संबोध बिना किसी की ओर से संशय या प्रश्न किये गये हुए स्वीकार कर लिये जाते हैं, और बिना निगमन के भी उनके लिये किसी भी अर्थ को, आरोपित आशय को आयत्त करने में अपने व्यवहार का औचित्य मान लेते हैं, क्योंकि उनकी वास्तविक यथार्थता की उपपत्ति के लिये अनुभव विद्यमान होता है। पर कुछ अपहरण किये गये संबोध भी होते हैं, जैसे भाग्य, दैव (इत्यादि), जो यद्यपि प्रायः सार्वत्रिक अनुग्रह से चालू रहने दिये जाते हैं, तथापि कभी कभी उनको अधिकार के प्रश्न के द्वारा चुनौती दे दी जाती है। निगमन यह माँग हमको बड़ी उलझन में फँसा देती है क्योंकि, जो उनके उपयोग (व्यवहार) का औचिन्य सिद्ध के लिये पर्याप्त हो सके ऐसा कोई स्पष्ट वैध अधिकार पत्र न तो अनुभव से उपलब्ध है और न बुद्धि से।

मानवीय ज्ञान का अत्यन्त जटिल जाल जिन विविध संबोधों से बना है, उन में से कुछ ऐसे हैं जो (पूर्णतया समग्र अनुभव पर अनिर्भर रहते हुए) शुद्ध प्रागनुभवात्मक उपयोग के लिये निर्धारित हैं; और उनका यह अधिकार सर्वदा निगमन की माँग करता है; क्योंकि अनुभवाश्रित उपपत्तियाँ इस प्रकार के उपयोग के औचित्य साधन के लिये पर्याप्त नहीं होतीं, अतएव यह जानना आवश्यक हो जाता है कि यह संबोध उन विषयों से किस प्रकार से संबद्ध हो सकते हैं, जिनको वे किसी भी अनुभव से प्राप्त

नहीं करते । जिस प्रकार से यह संबोध स्वतः प्रागनुभवात्मकतया विषयों से संबद्ध हो सकते हैं, उस प्रकार की व्याख्या को मैं उनका अनुभवातीत निगमन कहता हूँ; तथा अनुभवाश्रित निगमन को मैं इससे भिन्न मानता हूँ, जो (अनुभवाश्रित निगमन) उस ढंग को प्रदर्शित करता है कि जिसके अनुसार अनुभव और अनुभव के चिन्तन द्वारा अनुभव की सम्प्राप्ति होती है, और इसलिये जिसका संबंध उसकी वैधता से नहीं होता, प्रत्युत उसके तथ्यात्मक उत्पादन प्रकार से होता है।

हमको पहले से ही ऐसे संबोध प्राप्त होते हैं जो दो नितान्त विभिन्न प्रकार होते हैं, तथापि जो इस बात में एक समान होते हैं कि वे विषयों के साथ पूर्णतया प्राग-नुभवात्मकतया संबद्ध होते हैं, अर्थात् संवेद्यता के आधार के रूप में देश और काल के संबोध एवं बोधवृत्ति के संबोधों के रूप में बोधप्रकार । इन दोनों प्रकार के संबोधों में से किसी भी एक प्रकार के संबोधों के अनुभवाश्रित निगमन की खोज करना व्यर्थ का परिश्रम होगा; क्योंकि उनको पृथक् करने वाला लक्षण बस यह है कि वे अनुभव से बिना कोई ऐसी वस्तु ग्रहण किये, जो उन विषयों की प्रत्युपस्थापना में काम दे सके, विषयों से संबद्ध होते हैं। अतएव यदि इस प्रकार संबोधों का निगमन अनिवार्य हो, तो उसको सर्वदा अवश्य ही अनुभवातीत होना चाहिये ।

तथापि, जैसा कि समस्त ज्ञान के संबंध में, उसी प्रकार इन संबोधों के संबंध में भी यदि अनुभव के अन्तर्गत उनकी संभावना के सिद्धान्त को चाहे न खोज निकाला जा सके, तो भी उनके उत्पादन को अवसर प्रदान करने वाले हेतु को तो खोजा जा ही सकता है । जहाँ कभी इन्द्रियसंस्कार ने प्रथम उत्तेजन प्रदान किया, सम्पूर्ण ज्ञान-प्रवृत्ति उन कारणों के प्रति उन्मुक्त हो जाती है और अनुभव की उत्पत्ति होती है। इसमें दो अत्यन्त असमान तत्व अन्तर्विष्ट रहते हैं, जिनमें से एक है ज्ञान का उपादान जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है, और दूसरा है इस उपादान को व्यवस्थित करने के लिये निश्चित आकार, जो शुद्ध उपलब्धि और विचार के आन्तरिक उद्गम से प्राप्त होता है । यह अन्तरुपलब्धि और विचार इन्द्रिय-संस्कार के अवसर पर सक्रिय हो जाते हैं, और संबोधों को उत्पन्न करते हैं । हमारी ज्ञानशक्ति के प्रथम उद्योगों का ऐसा अनुसंधान, जिसके द्वारा वह विशेष प्रत्यक्षों से सार्वभौम संबंधों की ओर प्रगति करती है, निःसन्देह महान् उपयोगिता रखता है, और अनुसंधान के इस नवीन मार्ग को खोलने के लिये सुविख्यात दार्शनिक "लौक" का आभार स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु शुद्ध प्रागनुभवात्मक संबोधों का निगमन इस प्रकार से कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिये कि ऐसी दिशा में उसके पाने की खोज ही व्यर्थ है; क्योंकि उनके भावी उपयोग की दृष्टि से, जिसको अनुभव से पूर्णतया स्वतंत्र होना है, उनको एक

ऐसा जन्मपत्र दिखलाने के लिये रखना चाहिये, जो अनुभव से उत्पन्न होने के जन्मपत्र से बिल्कुल भिन्न हो। क्योंकि यह प्रयतित शरीर-विज्ञान-संबंधी व्युत्पादन तथ्य संबंधी प्रश्न से वास्ता रखता है ; इसलिये औचित्य के साथ इसको निगमन बिलकुल भी नहीं कहा जा सकता, अतएव मैं इसको शुद्धज्ञान के अधिकार की व्याख्या का नाम दूँगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस ज्ञान का जो केवल निगमन दिया जा सकता है, वह अनुभवातीत निगमन है, न कि अनुभवाश्रित और यह अनुभवाश्रित निगमन तो, शुद्ध प्रागनुभवात्मक संबोधों के पक्ष में, व्यर्थ प्रयत्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसके साथ अपने को वही व्यापृत कर सकते हैं, जो इस प्रकार के ज्ञान के नितान्त विलक्षण स्वभाव को समझ नहीं सके हैं।

परन्तु यद्यपि अब यह बात स्वीकार कर ली जा सकती है कि शुद्ध प्रागनुभवात्मक ज्ञान का केवल जिस प्रकार का निगमन संभव है, वह अनुभवातीत मार्ग पर चल कर ही संभव है, पर तो भी यह बात इतना होने पर भी एकदम उतनी स्पष्ट नहीं है कि यह अनुभवातीत निगमन नितान्त अपरिहार्यतया आवश्यक है। हमने पहले ही अनुभवातीत निगमन के द्वारा देश और काल के संबोधों का उनके उद्‌गम तक अनुसंधान कर लिया है, तथा उनकी प्रागनुभवात्मक विषयगत प्रामाणिकता को स्पष्ट और निर्धारित कर दिया है। तथापि भूमितिशास्त्र पूर्णतया प्रागनुभवात्मक ज्ञान में सुनिश्चित विश्वास के साथ चलती है, तथा उसको अपने आधारभूत देश-संबंधी संबोध की शुद्ध और वैध कुलोद्‌भवता के लिये दर्शनशास्त्र से किसी प्रमाणपत्र को माँगने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस विज्ञान में इस संबोध का उपयोग केवल उसके बाह्य इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् के निर्देश के संबंध में हुआ करता है, जिसकी अन्तरुपलब्धि का शुद्ध आकार देश है, जहाँ प्रागनुभवात्मक उपलब्धि में आश्रित होने के कारण समस्त भूमितिशास्त्र का ज्ञान अपरोक्ष साक्ष्य से समन्वित होता है, और विषय तो जहाँ तक उनके आकार का संबंध है, अपने ज्ञान के द्वारा ही प्रागनुभवात्मक तया अन्तरुपलब्धि दिये रहते हैं। दूसरी ओर बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों के पक्ष में, न केवल स्वयं उनके, अपितु देश के संबोध के भी निगमन की अनिवार्य आवश्यकता सब से पहली बार आरंभ होती है, और ऐसा इसलिये होता है कि वे अन्तरुपलब्धि और संवेदनशीलता के विधेयों के द्वारा विषयों के संबंध नहीं बोलते, प्रत्युत शुद्ध प्रागनुभवात्मक विचार विधेयों के द्वारा बोलते हैं। उनका विषयों के साथ संबद्ध, संवेदनशीलता की सब शर्तों से परे सर्वव्यापी होता है; और जो, अनुभव पर आधारित न होने के कारण, प्रागनुभवात्मक अन्तरुपलब्धि में किसी ऐसे विषय को प्रदर्शित नहीं कर सकते, जो समस्त अनुभव के पूर्व उनके संश्लेषण के आधार का काम दे सके, और इस कारण वे केवल न स्वयं

अपने उपयोग की विषयगत प्रामाणिकता और मर्यादा के संबंध में ही संशय को उत्पन्न करते हैं, प्रत्युत देश के संबोध की इन्द्रियोपलब्धि के प्रतिबन्धों के परे भी उपयोग करने की उनकी प्रवृत्ति के कारण, वे उस (देश के) संबोध को भी द्वयर्थक (अनेकार्थवाचक) वना डालते हैं। और सचमुच यही कारण है कि हमने इसके अनुभवातीत निगमन को आवश्यक माना है। इसीलिये तो पाठक को उसके शुद्ध बुद्धि के क्षेत्र में एक पग चलने के पहले ही, इस प्रकार के अनुभवातीत निगमन की अपरिहार्य आवश्यकता के विषय में आश्वस्त हो जाना चाहिये, नहीं तो उसका आगे चलना अन्धों के समान चलना होगा, और वहुशः चक्कर काट कर उसको पुनः उसी अनभिज्ञता पर लौट आना पड़ेगा, जहाँ से वह चला था। पर यदि उसको उस विषयवस्तु की अस्पष्टता का दुखड़ा नहीं रोना है जो स्वयं स्वभावतः गहरे परदे में छिपी हुई है, अथवा बाधाओं को दूर करने में वहुत शीघ्र झुँझला नहीं उठना है, तो उसको इस संकल्पित उपक्रम की अनिवार्य कठिनाई को पहले से ही स्पष्टतया देख लेना चाहिये; क्योंकि हमको निम्नलिखित दो मार्गों में किसी एक को चुन लेना है, या तो हमको श्रेष्ठ समादर के योग्य क्षेत्र में, अर्थात् उस क्षेत्र में जो कि समग्र संभव अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाला है, शुद्ध बुद्धि संबंधी निर्णय करने के सब दावे त्याग देने चाहिये, अथवा इस मीमांसात्मक अनुसंधान को पूर्णता को पहुँचाना चाहिये।

हम ऊपर कुछ स्वल्प सी कठिनाई के साथ देश और काल के संबोधों के विषय में इस बात को समझाने में समर्थ हो सके कि यह दोनों ज्ञान के प्रागनुभवात्मक प्रकार होते हुए भी किस प्रकार विषयों से अवश्य ही संबद्ध होने चाहिये, एवं सब अनुभव से पूर्णतया स्वतंत्र रहते हुए भी वे किस प्रकार विषयों के संश्लिष्ट ज्ञान को संभव बनाते हैं। ऐसा इसलिये है कि केवल इन्द्रिय-संवेद्यता के ऐसे शुद्ध आकारों के द्वारा ही कोई विषय हमको अवभासित हो सकता है, और इस प्रकार हमारी अनुभवोपलब्धि का विषय हो सकता है; अतएव देश और काल ऐसी शुद्ध उपलब्धियाँ हैं जिनमें अवभासों के रूप में विषयों की संभावना की शर्त अन्तर्विष्ट रहती है, एवं उनमें जो संश्लेष घटित होता है उसमें वैषयिक प्रामाणिकता रहती है।

दूसरी ओर बोधवृत्ति के प्रकार उन शर्तों को प्रत्युपस्थपित नहीं करते, जिनके अधीन अन्तरुपलब्धियों में विषय उपलब्ध होते हैं, अतएव बोधवृत्ति के व्यापार के अधीन होने की आवश्यकता के विना ही विषय सचमुच हमारे प्रति अवभासित हो सकते हैं और इसलिये बोधवृत्ति में उनकी प्रागनुभवात्मक शर्तों का होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार यहाँ एक ऐसी कठिनाई प्रकट होती है जैसी इन्द्रियसंवेद्यता के क्षेत्र में हमको नहीं मिली थी, और वह यह कि विचार के विषयिगत प्रतिबन्धों (या शर्तों)

में विषयगत प्रामाणिकता किस प्रकार रह सकती है, अर्थात् विचार की विषयिगत शर्तें विषयों के समस्त ज्ञान की संभावना की शर्तें किस प्रकार प्रस्तुत कर सकती हैं, क्योंकि अवभास तो निश्चयमेव बोधवृत्ति के व्यापार बिना भी अन्तरुपलब्धि सम्प्राप्त हो सकते हैं। उदाहरण के लिए मैं कारण के संबोध को लिये लेता हूँ जो एक विशेष प्रकार के संश्लेषण को सूचित करता है, जिसके अनुसार किसी वस्तु 'अ' के होने पर एक बिलकुल दूसरी वस्तु 'ब' एक नियमानुसार प्रस्थापित होती है। प्रागनुभवात्मकतया यह स्पष्ट नहीं होता कि अवभासों में कोई ऐसी वस्तु क्यों कर अन्तर्विष्ट होनी चाहिये (इसलिये कि इस की उपपत्ति के लिये अवभासों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिस तथ्य की स्थापना करनी है, वह एक प्रागनुभवात्मक संबोध की विषयगत प्रामाणिकता, और इसलिये अनुभव के पूर्व यह बात सन्दिग्ध ही है कि कहीं इस प्रकार का संबोध बिलकुल रिक्त ही न हो और अवभासों में उसका विषय कहीं भी न मिले। क्योंकि यह बात तो स्पष्ट है कि इन्द्रियोपलब्धि के विषय इन्द्रियसंवेद्यता की औपचारिक शर्तों का, जो अनुभव के पूर्व ही मानस में रहती हैं, अनुसरण करेंगे ही, क्योंकि अन्यथा तो वह हमारे लिये (अनुभव का) विषय ही नहीं होंगे। परन्तु यह कि उनको इसी प्रकार उन शर्तों के भी समनुरूप होना चाहिये जिन की अपेक्षा बोधवृत्ति को विचार की संश्लेषणात्मक एकता के लिये होती है, यह ऐसा निष्कर्ष है कि जिसका मूलाधार सरलता से स्पष्टतया दिखलाई नहीं देता। क्योंकि अवभास तो स्यात् आसानी से ऐसे प्रकार से निर्मित हो सकते हैं कि बोधवृत्ति उनको अपनी एकता की शर्तों के समनुरूप न पाए; एवं उदाहरणार्थ प्रत्येक वस्तु ऐसी अस्तव्यस्तता में पड़ी हो सकती है कि अवभासों की शृंखला में कुछ भी ऐसा तत्व न प्रकट हो जो एकता के नियम को प्रदान कर सके, एवं इस प्रकार कार्यकारण संबोध के समनुरूप हो सके, तब ऐसी दशा में यह संबोध पूर्णतया रिक्त अकिञ्चित् और अर्थशून्य हो जाएगा परन्तु क्योंकि अन्तरुपलब्धि को विचार की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं होती, तथापि अवभास हमारी अन्तरुपलब्धि के लिये विषयों को उपस्थित करेंगे ही।

यदि इन परिश्रमसाध्य अनुसंधानों से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिये यह कह कर विचार किया जाए कि अनुभव तो लगातार अवभासों के मध्य में ऐसी नियमबद्धता के उदाहरण उपस्थित करता ही है और इस प्रकार कारण के संबोध को (उन उदाहरणों में से) निकालने का भरपूर अवसर प्रदान करता है, और इसके साथ ही साथ इस प्रकार के संबोध विषयगत प्रामाणिकता के सत्यापादन का भी अवसर प्रदान करता है, तो हम तथ्य पर उचित ध्यान नहीं दे रहे होंगे कि कारण का संबोध

इस प्रकार से उद्भूत नहीं होता, प्रत्युत या तो यह पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया बोधवृत्ति में आधारित होना चाहिये, अथवा मस्तिष्क द्वारा कल्पित छायाभासमात्र के रूप में पूर्णतया त्याग दिया जाना चाहिये। क्योंकि यह संबोध निरपेक्ष भाव से यह माँग करता है कि कोई वस्तु अ इस प्रकार की होनी चाहिये कि कोई दूसरी वस्तु ब उस के पश्चात् अनिवार्यतया और एक निरपेक्ष सर्वव्यापी नियम के अनुसार उसका अनुसरण करती है। अवभास सचमुच ही ऐसे प्रसंग प्रस्तुत करते हैं, जिनसे ऐसे नियम संभवतया निकाला जा सकता है जिसके अनुसार कोई वस्तु सामान्यतया घटित हुआ करती है, पर वे इस पौर्वापर्य को कदापि अपरिहार्य सिद्ध नहीं कर सकते। कार्य-कारण भाव के संश्लेषण को एक प्रतिष्ठा प्राप्त है जिसको अनुभवाश्रिततया अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, अर्थात् कार्य केवल कारण का अनुसरणमात्र नहीं करता, प्रत्युत वह उसके द्वारा प्रस्थापित किया जाता है, उसमें समुत्थित होता है। इस नियम की यह कठोर सर्वव्यापकता अनुभवाश्रित नियमों का लक्षण कदापि नहीं है, वे आगमन के द्वारा केवल सापेक्ष सर्वव्यापी को प्राप्त कर सकते हैं, अर्थात् विस्तृत उपयोगिता उपलब्ध कर सकते हैं। यदि बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों को अनुभव की उपज माना जाए, तो वे अपने विलक्षण स्वरूप को ही खो देंगे।

प्रकारों के अनुभवातीत निगमन की ओर संक्रमण

§ १०

केवल दो ही ऐसे मार्ग संभव हैं जिनके अनुसार संश्लिष्ट प्रत्युपस्थापनाएँ और उनके विषय संयोजन स्थापित कर सकते हैं, परस्पर एक दूसरे के प्रति अनिवार्यतया संबद्ध हो सकते हैं, और मानो एक दूसरे से मिल सकते हैं। या तो केवल विषय प्रत्युपस्थापना को संभव बनाए, अथवा केवल प्रत्युपस्थापना विषय को संभव बनाए। यदि प्रथम विकल्प माना जाए, तो यह संबंध केवल अनुभवाश्रित है, और ऐसी अवस्था में प्रत्युपस्थापना प्रागनुभवात्मकतया कदापि संभव नहीं हो सकती। अवभासों के प्रसंग में यह ठीक है, अर्थात् उनके उस तत्व के संबंध जिनका संबंध संवेदन से है। यदि दूसरे विकल्प को माना जाए, तो यद्यपि जहाँ तक अस्तित्व का संबंध प्रत्युपस्थापना स्वयं अपने विषय को उत्पन्न नहीं करती (क्योंकि हम यहाँ संकल्पशक्ति के द्वारा इसकी कारणता की बात नहीं कह रहे हैं), तथापि यदि स्थिति ऐसी हो कि केवल प्रत्युपस्थापना के द्वारा ही किसी वस्तु को विषय रूप में जानना संभव हो, तो यही ठहरेगा कि प्रत्युपस्थापना विषय को प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित करने वाली है। बस केवल दो शर्तें ऐसी हैं जिनके अधीन किसी विषय का ज्ञान संभव है : प्रथम है उपलब्धि जिसके

द्वारा वह विषय स्वयं दिया जाता है, यद्यपि अवभासमात्र रूप में दूसरी शर्त है संबोध, जिसके द्वारा, इस उपलब्धि के अनुरूप किसी विषय का विचार किया जाता है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि पहली शर्त, अर्थात् केवल जिसके अधीन विषय अन्तरुपलब्ध हो सकते हैं, वास्तव में विषयों की औपचारिक भूमि के रूप में अनुभव के पूर्व (प्रागनुभवात्मकतया) मन में स्थित रहती है। संवेद्यता की इस औपचारिक शर्त के साथ सब अवभास अनिवार्यतया संगत होते हैं, क्योंकि इसी के द्वारा वे अवभासित होते हैं अर्थात् आनुभविकतया उपलब्ध और प्रदत्त हो सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रागनुभवात्मक संबोध भी तो कहीं ऐसी पुरोगामी शर्तों के रूप में उपयोगी नहीं होते, केवल जिनके अधीन कोई वस्तु यदि अन्तरुपलब्ध नहीं होती तथापि सामान्यत: विषय के रूप में विचारी जाती है; क्योंकि तब तो विषयों का समस्त अनुभवात्मक ज्ञान अनिवार्यतया ऐसे संबोधों के अनुरूप होगा, इसलिये कि बिना इनको पूर्वत: मान कर अनुभव के विषय के रूप में कुछ भी संभव नहीं है। सब अनुभव में वास्तव में इन्द्रियों की विषयोपलब्धि (जिसके द्वारा किसी भी वस्तु की अनुभव में प्राप्ति होती है) के साथ साथ एक उसके द्वारा प्रदत्त विषय का अर्थात् अवभासमान विषय का संबोध भी अन्तर्विष्ट होता है। इस प्रकार सामान्य विषयों के संबोध समग्र अनुभवात्मक ज्ञान में उसकी प्रागनुभवात्मक शर्त के रूप में अनुस्यूत रहते हैं; परिणामतः प्रागनुभवात्मक संबोधों के रूप में प्रकारों की विषयगत प्रामाणिकता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि जहाँ तक विचार के आकार का वास्ता है, केवल उन्हीं प्रकारों के द्वारा विचार संभव होता है। क्योंकि तब तो वे अनुभव के विषयों के साथ अपरिहार्यतया एवं प्रागनुभवात्मकतया संबद्ध होते हैं, इस कारण कि अनुभव का चाहे कोई भी विषय क्यों न हो, उसका विचार केवल उन्हीं के द्वारा किया जा सकेगा।

इस प्रकार सब प्रागनुभवात्मक संबोधों के निगमन का एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार समस्त अनुसंधान का संचालन किया जाना चाहिये : वह यह है कि उनको अनुभव की संभावना की प्रागनुभवात्मक शर्त के रूप स्वीकृत किया जाना चाहिये, चाहे उसका संबंध अनुभव के अन्तर्गत पाई जाने वाली उपलब्धि से हो या विचार से। वे संबोध जो अनुभव की संभावना के विषयगत आधार को प्रस्तुत करते हैं, वे इसी कारण अनिवार्य होते हैं। परन्तु जिस अनुभव में उनकी प्राप्ति होती है, उस अनुभव का विश्लेषण (या विकचन) उनका निगमन नहीं है, प्रत्युत वह तो उनका उदाहरणमात्र है; क्योंकि वे वहाँ तो केवल आनुषंगिक ही होंगे। संभव अनुभव के साथ उनके मौलिक संबंध को छोड़ कर जिसमें ज्ञान के सब विषय पाये जाते हैं, अन्य किसी प्रकार से, किसी भी विषय के साथ उनका संबंध नितान्त अबोध्य होगा।

ख्यातनामा दार्शनिक लॉक् ने, इन उपर्युक्त विचारों के आलोचन में असफलता के कारण तथा बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों के अनुभव में मिलने के कारण, उनको निगमित भी अनुभव से ही कर डाला, और फिर ऐसा अयौक्तिक मार्ग ग्रहण किया कि उनकी सहायता से वह ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जो अनुभव समस्त परिसीमाओं को दूर अतिक्रमण करता है। डैविड् ह्यूम ने इस बात को पहचाना कि ऐसा कर सकने के लिये यह आवश्यक है कि इन संबोधों का उद्गम प्रागनुभवात्मक होना चाहिये। परन्तु क्योंकि वह इस बात की व्याख्या नहीं कर सका कि वे संबोध जो कि विषय में अनिवार्यतया सम्पृक्त होने के कारण स्वतः बोधवृत्ति के साथ संयुक्त नहीं हैं, उनके विषय में यह कैसे संभव है कि बोधवृत्ति को उनका विचार अवश्य करना चाहिये, और क्योंकि यह बात उसको कभी नहीं सूझ पड़ी कि स्वयं बोधवृत्ति ही स्यात् कहीं इन संबोधों के द्वारा उस अनुभव की निर्मात्री न हो, जिसमें उसके विषय उपलब्ध होते हैं, ऐसी परिस्थिति में अपरिहार्य आवश्यता से बाध्य होकर उसने उनको अनुभव से व्युत्पादित किया, अर्थात् उस विषयिगत अनिवार्यता से व्युत्पादित किया जो अनुभवगत बहुधा पुनरावृत्त साहचर्य से उत्पन्न होती है, और जो भ्रान्तिवश विषयगत मानी जाने लगती है, किन्तु इन प्रतिज्ञावयवों से उसने यौक्तिकता के साथ तर्क किया, और यह घोषित किया कि इन संबोधों तथा उन सिद्धान्तों के साथ जिनको यह संबोध उत्पन्न करते हैं, अनुभव की सीमा का अतिक्रमण करना असंभव है। पर यह अनुभवाश्रित व्युत्पादन जिसके विषय में दोनों ही दार्शनिक एकमत हैं, उस वैज्ञानिक प्रागनुभवात्मक ज्ञान की वास्तविकता के साथ समन्वित नहीं किया जा सकता, जो हमको प्राप्त है, अर्थात् जो शुद्ध गणित और सामान्य प्राकृतिक विज्ञान के रूप में हमको उपलब्ध है। अतएव यह तथ्य इस व्युत्पादन को असिद्ध कर देता है।

इन दो प्रख्यात दार्शनिकों में से लॉक् ने अमित उत्साह के लिये द्वार और कपाट खोल दिये, क्योंकि यदि बुद्धि को अपने पक्ष में इस प्रकार के अधिकार मिल जाएँ तो वह फिर अपने को मर्यादा की किन्हीं अस्पष्ट संस्तुतियों के द्वारा सीमा के भीतर नहीं रख सकती ; दूसरे महानुभाव ने अपने को पूर्णतया सन्देहवाद के हवाले कर दिया, क्योंकि उसने यह तथ्य उद्घाटित कर लिया (जैसा कि उसका विश्वास था) कि आज तक जिसको बुद्धि समझा जाता रहा था वह हमारी ज्ञान-शक्ति को आक्रान्त किये हुए सर्वव्यापी छलमात्र था। हम इस बात की परीक्षा करने का प्रस्ताव करते हैं कि क्या मानवीय बुद्धि को इन दोनों चट्टानों के मध्य में से सकुशल निकाला जा सकता है अथवा नहीं निकाला जा सकता, और उसकी सुनिर्धारित मर्यादाएँ निर्दिष्ट

करके फिर भी उसके लिये उसके निजी विशिष्ट क्रिया-कलाप का समग्र क्षेत्र खुला रखना संभव है या नहीं।

पर पहले मैं प्रकारों के स्पष्टीकरण से चरचा का श्रीगणेश करूँगा। वे किसी भी सामान्य विषय के संबोध हैं जिनके द्वारा किसी विषय की इन्द्रियोपलब्धि विभावना के किसी एक तार्किक व्यापार के संबंध में निर्धारित हुई मानी जाती है। इस प्रकार प्रकारात्मक विभावना का व्यापार, उद्देश्य और विधेय के सम्बन्ध का व्यापार है; जैसे उदाहरण के लिये यह विभावना कि सब आयतन विभाज्य हैं। परन्तु जहाँ तक बोधवृत्ति के केवल तार्किक विनियोग का संबंध है, यह बात अनिर्धारित रह जाती है कि दोनों संबोधों में से उद्देश्य एवं विधेय का व्यापार किस किस के प्रति निर्दिष्ट किया जाना चाहिये। क्योंकि यह भी कहा जा सकता है कि "कोई विभाज्य वस्तु आयतन है।" परन्तु पदार्थ के प्रकार के द्वारा, जब मैं आयतन के संबोध को उसके अन्तर्गत ले आता हूँ, तो यह निर्धारित हो जाता है कि अनुभव के अन्तर्गत इसकी अनुभूत उपलब्धि सर्वदा उद्देश्य समझी जानी चाहिये, विधेय कदापि नहीं; अन्य शेष प्रकारों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

द्वितीय खण्ड

बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों का अनुभवातीत निगमन

§ ११

सामान्य संयोजना की संभावना

प्रत्युपस्थापनाओं का वैविध्य सहजोपलब्धि में दिया हुआ हो सकता है, जो सहजोपलब्धि विशुद्धतया ऐन्द्रिक होती है, अर्थात् जो ग्रहणशीलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; और इस सहजोपलब्धि का आकार हमारी प्रत्युपस्थापना की शक्ति में अनुभव के पहले से ही स्थित हो सकता है, जो उस प्रकार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता है जिसमें विषयी प्रभावित हुआ करता है। परन्तु सामान्य वैविध्य का संयोजन हमको इन्द्रियों के द्वारा कभी नहीं प्राप्त हो सकता, और इस लिये इन्द्रियोपलब्धि के शुद्ध आकार में पहले से ही अन्तर्विष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि यह प्रत्युपस्थापना की शक्ति स्वतः स्फूर्तिता का कार्य है और क्योंकि, इन्द्रिय संवेद्यता से इसको पृथक् करने के लिये इसको बोधवृत्ति नाम देना चाहिये, इसलिये समस्त संयोजन—चाहे हम उसके संबंध में सचेत हों अथवा न हों, चाहे वह सहजोपलब्धि के वैविध्य का संयोजन हो अथवा विविध संबोधों का, और सहजोपलब्धियों के प्रसंग में एन्द्रिकोपलब्धियों का हो अथवा अनैन्द्रिकोपलब्धियों का—बोधवृत्ति का व्यापार

है, जिसको हम सामान्य नाम 'संश्लेषण' से अभिहित करेंगे, जिसके द्वारा यह सूचित हो सके कि हम अपने प्रति किसी ऐसी वस्तु को विषय में संयोजित प्रत्युपस्थापित नहीं कर सकते, जिसको हमने स्वयं पूर्वतः संयोजित न किया हो, एवं समग्र प्रत्युपस्थापनाओं में संयोजन ही एक ऐसी प्रत्युपस्थापना है जो विषय के द्वारा प्रदत्त नहीं हो सकती, प्रत्युत जो केवल विषयी के द्वारा प्रतिपादित हो सकती है, क्योंकि वह विषयी की अपनी निजी क्रिया का कार्य है। यह बात सरलता से देखी जा सकेगी कि यह व्यापार मूलतः एक और समग्र संयोजनों के लिये समान महत्व का होना चाहिये तथा इसका विलय अर्थात् विश्लेषण जो इसका विरोधी जैसा प्रतीत होता है, तथापि वह भी इसकी पूर्वसत्ता की कल्पना को मान कर चलता है क्योंकि जहाँ बोधवृत्ति ने पहले से संयोजन नहीं किया है, वहाँ वह विश्लेषण नहीं कर सकती। कारण यह है कि वह वस्तु जिसका विश्लेषण किया जाना है, इस बोधवृत्ति के द्वारा संयोजित होने पर ही, हमारी प्रत्युपस्थापना-शक्ति को उपलब्ध की जा सकी होगी।

पर संयोजन के संबोध में वैविध्य और उसके संश्लेषण के संबोध के अतिरिक्त, इसकी एकता का संबोध भी सन्निविष्ट रहता है। वैविध्य की संश्लेषणात्मक एकता की प्रत्युपस्थापना ही संयोजन है।*अतएव इस एकता की प्रत्युपस्थापना संयोजना से उद्भूत नहीं हो सकती, अपितु वह तो वह वस्तु है जो वैविध्य के संबोध के साथ अपने को जोड़ कर, संयोजन के संबोध को पहले पहल संभव बना देता है। यह एकता जो कि प्रागनुभवात्मकतया संयोजनों के सब संबोधों की पूर्वगामिनी है, एकता का 'प्रकार' नहीं है; क्योंकि सब प्रकार विभावना के यौक्तिक कार्यों पर आश्रित है, और इन कार्यों में दिये हुए संबोधों का संयोजन एवं इसी कारण एकता, यह दोनों पहले से ही विचार कर ली जाती हैं। इसलिये प्रकार पहले से ही संयोजन पूर्वतः मान कर चलता है। अतएव हमको इस गुणात्मक एकता के लिये और भी अधिक ऊँचाई पर खोजना चाहिये; अर्थात् उस स्थान में खोजना चाहिये, जिसमें विभावना के विभिन्न संबोधों की एकता का आधार संनिहित है, और इसी लिये जहाँ तक उसके यौक्तिक विनियोग तक का संबंध है, बोधवृत्ति की संभावना का आधार भी समाविष्ट है।

---

* यहाँ जो प्रश्न विचारणीय है वह यह नहीं है कि प्रत्युपस्थपनाएँ स्वतः अभिन्न हैं (या नहीं) और इसलिये एक विश्लेषणात्मकतया दूसरे के द्वारा विचार किया जा सकता है या नहीं। जहाँ तक वैविध्य विचाराधीन रहता है, एक की चेतना को सर्वदा ही दूसरे की चेतना से पृथक् करना पड़ता हीं है, और यहाँ हम केवल जिस बात का विवेचन कर रहे हैं वह इस (संभव) चेतना का संश्लेषण है।

§ १२

निजबोध की मौलिक संश्लेषात्मक एकता

"मैं सोचता हूँ"––इस वाक्य के लिये मेरी समग्र प्रत्युपस्थापनाओं का सहचर होना संभव होना चाहिये; क्योंकि अन्यथा तो मुझमें कुछ ऐसी वस्तु प्रयुपस्थापित होगी जिसका विचार लेशमात्र भी नहीं किया जा सकता; अन्य शब्दों में, या तो प्रत्युपस्थापना असंभव होगी, या कम से कम मेरे लिये इसका कुछ अर्थ नहीं होगा। विचार से पूर्व जो प्रत्युपस्थापनाएँ हमको उपलब्ध हो सकती हैं, वे अन्तरुपलब्धि कहलाती हैं। इस प्रकार स्वोपलब्धि के समस्त, वैविध्य का "मैं सोचता हूँ" के साथ अनिवार्य संबंध है, और यह संबंध भी उसी विषयी में पाया जाता है जिसमें कि यह वैविध्य पाया जाता है। पर यह प्रत्युपस्थापना स्वयंस्फूर्तिता कर्म है, अर्थात् यह नहीं माना जा सकता कि इसका संबंध इन्द्रिय संवेदना से है। इसको अनुभवाश्रित निजबोध से पृथक् करने के लिये मैं इसको शुद्ध निजबोध कहता हूँ अथवा मौलिक निजबोध कहता हूँ, क्योंकि यह आत्मचेतना है जो "मैं विचार करता हूँ" इस प्रत्युपस्थापना को उत्पन्न करते हुए––(जिस प्रत्युपस्थापना को अन्य सब प्रत्युपस्थापनाओं का साहचर्य करने के लिये अवश्यमेव समर्थ होना चाहिये, तथा जो समस्त चेतना में एकमेवाद्वितीय है) स्वयं अन्य किसी प्रत्युपस्थापना के द्वारा अनन्वित रहती है। इस निजबोध की एकता को मैं आत्मचेतना की अनुभवातीत एकता इसलिये कहता हूँ कि जिससे यह सूचित हो सके कि इससे प्रागनुभवात्मक ज्ञान की उत्पत्ति की संभावना है। क्योंकि वे बहुविध प्रत्युपस्थापनाएँ, जो किसी अन्तरुपलब्धि में प्रदत्त होती हैं, यदि वे सब एक आत्मचेतना से संबद्ध न हों, तो वे सब की सब मेरी प्रत्युपस्थापनाएँ नहीं होंगी, अर्थात् मेरी प्रत्युपस्थापनाओं के रूप में (चाहे मैं स्वयं इस रूप में उनके विषय में सचेत न होऊँ) उनको अवश्य ही उस शर्त के अनुरूप होना पड़ेगा, केवल जिसके अधीन वे एक सामान्य चेतना के अन्तर्गत सब एक साथ टिक सकती हैं, अन्यथा वे सब निरपवादस्वरूप से मुझ से संबद्ध नहीं होंगी। इस मौलिक संयोजन से कई एक परिणाम अनुमित होते हैं।

जैसे, उस वैविध्य की स्वोपलब्धि की यह परिपूर्ण अभिन्नता जो कि अन्तरुपलब्धि में प्रदत्त होती है, अपने भीतर प्रत्युपस्थापनाओं के ऐसे संश्लेषण को अन्तर्विष्ट रखती है एवं केवल इस संश्लेषण के चेतना के द्वारा ही संभव होती है। क्योंकि वह अनुभवगम्य चेतना जो विविध प्रत्युपस्थापनाओं के साथ रहती है, स्वयं अपने आप में बिखरी हुई होती है और विषयी की अभिन्नता के साथ संबंधरहित होती

है। इस प्रकार यह संबंध केवल इस कारण से घटित नहीं होता कि मैं प्रत्येक प्रत्युपस्थापना के साथ चेतना का योग करता हूँ, प्रत्युत केवल उतनी मात्रा में घटित होता है जितनी मात्रा में मैं एक प्रत्युपस्थापना को दूसरी के साथ संयुक्त करता हूँ, और उनके संश्लेषण के विषय में स्वयं सचेत होता हूँ। इसलिये इन प्रत्युपस्थापनाओं की चेतना की अभिन्नता को अपने प्रति प्रत्युपस्थापित करना उतनी ही मात्रा में मेरे लिये संभव है, जितनी मात्रा में मैं किन्हीं दी हुई प्रत्युपस्थापनाओं को एक अकेली चेतना में एकत्रित कर सकता हूँ, अर्थात् स्वोपलब्धि की विश्लेषणात्मक एकता केवल इसके विशिष्ट संश्लेषण की एकता के अभ्युपगम अधीन ही संभव है। [कां] अतएव यह विचार कि अन्तर्-उपलब्धि में दिये हुए सब के सब प्रत्युपस्थापन मेरे हैं, इस विचार के समान है कि मैं उनको एक आत्मचेतना में एकत्र संयुक्त करता हूँ, अथवा कम से कम उनको इस प्रकार उस आत्मचेतना में संयुक्त कर सकता हूँ और यद्यपि यह विचार स्वयमेव प्रत्युपस्थापनाओं के संश्लेषण की चेतना तो नहीं है, तथापि यह उस संश्लेषण की संभावना को अभ्युपगत करता है, अर्थात् इन सब की सब प्रत्युपस्थापनाओं को जो मैं अपनी (प्रत्युपस्थापनाएँ) कहता हूँ वह केवल इस कारण क्योंकि मैं प्रत्युपस्थापनाओं की विविधरूपता को एक चेतना के भीतर संगृहीत कर सकता हूँ; क्योंकि अन्यथा तो मुझको ऐसी बहुरंगी और विविध प्रकार की आत्मा वाला होना पड़ेगा, जैसी वे प्रत्युपस्थापनाएँ हैं जिनके विषय में मैं अपने

कां। चेतना की विश्लेषणात्मक एकता तो सभी सामान्य संबोधों में स्वरूपतः पाई जाती है, उदाहरणार्थ जब मैं सामान्यतः लाल के विषय में विचार करता हूँ, तो मैं उसके द्वारा अपने प्रति एक ऐसे गुण को प्रत्युपस्थापित करता हूँ जो (एक लक्षण या चिह्न के रूप में) किसी वस्तु में पाया जाता है, अथवा अन्य प्रत्युपस्थापनाओं के साथ संबद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार केवल पूर्वतः अभ्युपगत संभव संश्लेषणात्मक एकता के द्वारा ही मैं अपने समक्ष विश्लेषणात्मक एकता को प्रत्युपस्थापित्त कर सकता हूँ। वह प्रत्युपस्थापना जो कि विविध विभिन्न प्रत्युपस्थापनाओं में समान रूप स्थित मानी जाती है, ऐसी प्रत्युपस्थापनाओं से संबद्ध ख्याल की जाती है जो उसके साथ ही कुछ भिन्न तत्व भी अपने में रखती हैं, परिणामतः इसके पूर्व कि मैं इसमें उस विश्लेषणात्मक एकता का विचार कर सकूँ जो इसको सामान्य संबोध—कॉन्सैप्टुस कॉम्युनिस्—बनाती है, पहले इसका विचार अन्य (चाहे फिर केवल संभव) प्रत्युपस्थापनाओं के साथ संश्लेषणात्मक एकता में अवश्य किया जाना चाहिये। और इस प्रकार आत्मोपलब्धि की संश्लेषणात्मक एकता वह सवच्चिविन्दु है, जिसके साथ बोधवृति का समस्त व्यापार, इतनी ही क्यों समग्र तर्क-शास्त्र भी और तदनुसार अनुभवातीत दर्शनशास्त्र तक अभिसंबद्ध किया जाना चाहिये। सच तो यह है कि यह आत्मोपलब्धि (= आत्मचैतन्य) की शक्ति ही स्वयं बोधवृत्ति है।

प्रति सचेत हूँ । अन्तर्-उपलब्धियों की विविधरूपता की संश्लेषणात्मक एकता, प्रागनुभवात्मकतया प्रदत्त होने पर इस प्रकार स्वयं आत्मोपलब्धि की अभिन्नता की आधार होती है, जो कि मेरे सब परिच्छिन्न विचारों की प्रागनुभवात्मकतया पूर्वगामिनी है । किन्तु संयोजन विषयों में नहीं रहता है, एवं प्रत्यक्ष के द्वारा उनसे उधार लिया जा कर बोधवृत्ति में उसके द्वारा उद्गृहीत नहीं हो सकता, प्रत्युत वह तो केवल बोधवृत्ति की ही कृति है, जो स्वयं किन्हीं दी हुई प्रत्युपस्थापनाओं को प्रागनुभवात्मकतया संयोजित करने और उनकी विविध रूपता को आत्मोपलब्धि की एकता के अधीन लाने की शक्ति के अतिरिक्त और अधिक कुछ नहीं है, यह सिद्धान्त समस्त मानवीय ज्ञान के क्षेत्र में सर्वोच्च सिद्धान्त है ।

आत्मोपलब्धि की अनिवार्य एकता का यह आधारभूत सिद्धान्त सचमुच स्वयमेव एक अभिन्न और इसी लिये विश्लेषणात्मक प्रस्थापना है; तथापि यह अन्तर उपलब्धि में दी हुई विविधरूपता के संश्लेषण को अनिवार्य द्योतित करती है, जिसके विना आत्मचैतन्य की सर्वतोगामिनी अनन्यता का विचार भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि साधारण रूप वाले 'मैं' की प्रत्युपस्थापना के द्वारा कुछ भी विविधरूप की उपलब्धि नहीं होती; केवल उस उपलब्धि में जो 'मैं' से पृथक् है कोई विविधरूप उपलब्ध हो सकता है; और एक चेतना के भीतर संयोजना के द्वारा ही इसका विचार किया जा सकता है । वह बोधवृत्ति जिसमें आत्मचेतना के द्वारा सब विविधरूप स्वयं अपने आप प्रदत्त होंगे, औपलब्धिक (अथवा अपरोक्ष) बोधवृत्ति होगी। हमारी बोधवृत्ति तो केवल विचार कर सकती है, उपलब्धि के लिये तो उसको इन्द्रियों की ओर ताकना पड़ेगा । प्रत्यक्षोपलब्धि में दी हुई प्रत्युपस्थापनाओं की विविधरूपता के संबंध में मैं आत्मा की अनन्यता के विषय में सचेत होता हूँ, क्योंकि मैं उन सब की सब को अपनी प्रत्युपस्थापनाएँ कहता हूँ और जो इकट्ठी एक प्रत्यक्ष को घटित करती हैं परन्तु यह तो इतनी बात हुई कि मैं प्रागनुभवात्मकतया अपने प्रति प्रत्युपस्थापनाओं के एक अनिवार्य संश्लेषण के विषय में सचेत हुआ करता हूँ, जो आत्मोपलब्धि की मौलिक संश्लेषणात्मक एकता कहलाती है; जिसके अधीन मुझे उपलब्ध होने वाली सब प्रत्युपस्थापनाएँ स्थित होती हैं; परन्तु एक संश्लेषण द्वारा ही होती हैं ।

§ १३

स्वोपलब्धि की संश्लेषणात्मक एकता का आधारभूत सिद्धान्त बोधवृत्ति के समस्त विनियोगों का सर्वोच्च सिद्धान्त है

अनुभवातीत संवेदनाशास्त्र के अनुसार, इन्द्रियसंवेद्यता के संबंध में समस्त इन्द्रियप्रत्यक्षों की संभावना का सर्वोपरि सिद्धान्त यह है कि इन्द्रिय प्रत्यक्षों के समस्त विविधरूप देश और काल के औपचारिक प्रतिबन्धों के अधीन होने चाहिये। और बोधवृत्ति के संबंध में उसी संभावना का सर्वोपरि मूलभूत सिद्धान्त यह है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के समस्त विविधरूप स्वोपलब्धि की मूलभूत संश्लेषणात्मक एकता के प्रति-बन्धों के अधीन स्थित हों *। जहाँ तक प्रत्यक्षोपलब्धि की विविधरूप उपस्थापनाएँ हमको दी हुई होती हैं, वे सब इन में से प्रथम सिद्धान्त के अधीन स्थित होती हैं; और जहाँ तक वे अपने को एक चेतना के अन्तर्गत संयोजित हो जाने देने के लिये बाध्य हैं वहाँ तक वे दूसरे सिद्धान्त के अधीन होती हैं; क्योंकि इस प्रकार के संयोजन के बिना तो कुछ विचारा और जाना नहीं जा सकता, इस कारण कि दी हुई प्रस्थापनाओं में "मैं विचार करता हूँ" इस प्रकार का आत्मोपलब्धि कार्य तो समान रूप से पाया ही नहीं जाएगा, और इसलिये एक आत्मचेतना में संगृहीत नहीं हो सकेगा।

सामान्य प्रकार से कहना हो तो कह सकते हैं कि बोधवृत्ति ज्ञान की शक्ति है। यह ज्ञान दी हुई प्रत्युपस्थापनाओं के किसी विषय के साथ निर्दिष्ट संबंध में अवस्थित होता है। किन्तु विषय वह है जिसके संबोध में किसी दिये हुए प्रत्यक्ष का विविधरूप संयुक्त होता है, या एकीभूत होता है। अब रहा प्रत्युपस्थापनाओं का समेकीकरण सो वह उनके संश्लेषण में चेतना की एकता की माँग करता है। परिणामस्वरूप चेतना की एकता ही वह वस्तु है जो अकेली ही प्रत्युपस्थापनाओं का किसी विषय के साथ संबंध घटित करती है, इसी हेतु उन की विषयगत प्रामाणिकता को और परिणामतः इस तथ्य को भी प्रतिपादित करती है कि वे ज्ञान के प्रकार हैं, तथा इसी हेतु इसके

---

* देश और काल और उनके समस्त खंड प्रत्यक्षोपलब्धियाँ हैं, और इसीलिये वे अपने में अन्तर्विष्ट विविधरूपों के सहित इकली प्रत्युपस्थापनाएँ हैं (देखिए अनुभवातीत संवेदनाशास्त्र) परिणामतः ये संबोधमात्र भी नहीं हैं, जिनके द्वारा एकमेवाद्वितीय चेतना बहुत सी प्रत्युपस्थापनाओं में अन्तर्विष्ट पाई जाती है; प्रत्युत उनके द्वारा बहुत सी प्रत्युपस्थापनाएँ एक प्रत्युपस्थापना में और उस प्रत्युपस्थापना की चेतना में अन्तर्विष्ट पायी जाती हैं; और इस प्रकार वे विमिश्र हैं; अतएव उस चेतना की एकता संश्लेषणात्मक होने के साथ मौलिक भी पाई जाएगी। यह विलक्षता स्वयमेव परिणाम की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। (देखिए § २१)

ऊपर ही बोधवृत्ति की संभावना निर्भर करती है।

इस प्रकार बोधवृत्ति का प्रथम शुद्ध ज्ञान, जिसके ऊपर इसका शेष सब व्यापार आधारित है, और जो इस के साथ ही साथ इन्द्रियग्राह्य प्रत्यक्ष के सब प्रतिबन्धों से पूर्णतया स्वाधीन है, स्वात्मबोध की मौलिक सांश्लेषिक एकता है। इसीलिये बाह्य इन्द्रियग्राह्य प्रत्यक्ष का मात्र आकार, देश, स्वतः अभी तक ज्ञान नहीं है; यह तो केवल संभव ज्ञान के लिये प्रागनुभवात्मक बोध विविधरूपतामात्र प्रदान करता है परन्तु देश के अन्तर्गत किसी वस्तु को (उदाहरण के लिये, एक रेखा को) जानने के लिये, मुझे उसको खींचना होगा और इस प्रकार दिए हुए विविधरूप के अवच्छिन्न संयोजन को सांश्लेषिकतया सत्ता प्रदान करनी पड़ेगी, जिससे कि इस कार्य की एकता इसके साथ ही चेतना की एकता भी (जैसे कि रेखा के संबोध में) है, और तद्द्वारा (अर्थात् उस चेतना की एकता के द्वारा) ही सर्वप्रथम कोई विषय (जैसे कोई सुनिर्धारित देश) ज्ञात होता है। अतएव चेतना की सांश्लेषिक एकता समस्त ज्ञान की वैषयिक शर्त है, जो केवल ऐसी शर्त नहीं है जिसकी मैं स्वयं किसी विषय को जानने के लिये अपेक्षा करता हूँ, प्रत्युत ऐसी शर्त है जिसके अधीन प्रत्येक उपलब्धि को मेरे लिये ज्ञान का विषय बनने के लिये होना पड़ता है; क्योंकि अन्य प्रकार से तो, इस संश्लेषण के बिना, विविधरूपता एक चेतना में समेकीकृत नहीं होगी।

यद्यपि यह प्रस्थापना सांश्लेषिक एकता को समस्त विचार की शर्त बनाती है, तथापि जैसा कहा जा चुका है, यह स्वयं वैश्लेषिक है, क्योंकि यह इससे अधिक कुछ नहीं कहती कि किसी भी दी हुई उपलब्धि में मेरी समस्त प्रत्युपस्थापनाएँ उस प्रतिबन्ध या शर्त के अधीन होनी चाहिये, केवल जिसके अधीन मैं उनकी गणना एक और अभिन्न आत्मा के संबंध में अपनी प्रत्युपस्थापनाएँ कह कर, कर सकता हूँ, और इस प्रकार संश्लिष्टतया संयोजित हुए उन को "मैं विचार करता हूँ," इस एक सामान्य अभिव्यक्ति में एक आत्मबोध में अवधृत कर सकता हूँ।

तथापि इस मूलभूत सिद्धान्त को ऐसा सिद्धान्त नहीं मानना चाहिये जो प्रत्येक संभव बोधवृत्ति के लिये लागू होने वाला हो, प्रत्युत केवल उसी बोधवृत्ति के लिये लागू होने वाला मानना चाहिये जिसकी शुद्ध स्वोपलब्धि के द्वारा, "मैं हूँ" (अहमस्मि) इस प्रत्युपस्थापना में विविधरूपता लेशमात्र भी उपलब्ध नहीं होती। वह बोधवृत्ति जो कि अपनी आत्मचेतना के द्वारा अपने लिये एक साथ ही उपलब्धि की विविधरूपता प्रदान कर दे सकती है—दूसरे शब्दों में वह बोधवृत्ति जिसकी प्रत्युपस्थापनाओं के द्वारा एक साथ ही उपस्थापनाओं के विषयों की सत्ता संभव हो—चेतना की एकता के लिये विविधरूपता के संश्लेषण के विशेष कर्म की अपेक्षा नहीं करेगी,

परन्तु मानवीय बोध के लिये जो कि केवल विचार करता है पर प्रत्यक्षोपलब्धि प्राप्त नहीं करता, इस प्रकार का कर्म अपेक्षित है। परन्तु तो भी मानवीय बोध के लिये यह प्रथम अनिवार्य आधारभूत सिद्धान्त है जिससे वह मानव अन्य किसी संभव बोधवृत्ति का किञ्चिन्मात्र भी संबोध नहीं बना सकता—न तो किसी ऐसी बोधवृत्ति का जो स्वतः अपरोक्षोपलब्धि प्राप्त करने वाली हो और न किसी दूसरी ऐसी का जो इन्द्रियोपलब्धि के ऐसा आधारभूत प्रकार को अपने में रखती हो, जो देश और काल में इन्द्रियोपलब्धि के प्रकार से भिन्न प्रकार का हो।

§ १४

आत्मचेतना की विषयगत (वास्तविक) एकता क्या है

स्वोपलब्धि की अनुभवातीत एकता द्वारा ही किसी अन्तर्प्रत्यक्ष में दी हुई विविधरूपता विषय के संबोध के रूप में समेकीकृत हुआ करती है। इसलिये यह वैषयिक कही जाती है, और इसको चेतना की विषयिगत एकता से पृथक् समझा जाना चाहिये, जो विषयिगत चेतना अन्तःकरण का निर्धारण है,—जिसके द्वारा उपर्युक्त वैषयिक संयोजन के लिये संदर्शन की विविधरूपता अनुभवात्मकतया प्रदान की जाती है। मैं विविधरूपता के संबंध में अनुभवात्मकतया समकालतः चेतनावान् होता हूँ, अथवा क्रमशः यह बात परिस्थितियों अथवा आनुभविक अवस्थाओं पर निर्भर करती है। अतएव चेतना की आनुभविक एकता, जो कि प्रत्युपस्थापनाओं के साहचर्य के द्वारा घटित होती है, स्वतः अवभास से ही वास्ता रखती है, और पूर्णतया अनिश्चित होती है। इसके विपरीत है, काल के अन्तर्गत संदर्शन के शुद्ध आकार की स्थिति, केवल साधारण संदर्शन के रूप में, जो अपने में विविधरूपता को अन्तर्विष्ट रखता है, संदर्शन की विविधरूपता के केवल "मैं विचार करता हूँ" इस एक के साथ अनिवार्य संबंध के द्वारा (जो) चेतना की मूलभूत (आद्य) एकता के अधीन रहा करता है; और इसीलिये बोधवृत्ति के उस शुद्ध संश्लेषण के द्वारा भी (उस उपर्युक्त चेतना की मूलभूत एकता के अधीन रहता है) जो आनुभविक संश्लेषण का प्रागनुभवात्मक मूलाधार है। केवल मौलिक एकता ही वास्तव में प्रामाणिक है; आत्मोलब्धि (=अभिबोधन) की आनुभविक एकता जिसके संबंध में हम यहाँ विचार नहीं कर रहे हैं, तथा जो पूर्वोक्त एकता से केवल वास्तविकता में दी हुई अवस्थाओं में व्युत्पादित भी होती है, केवल विषयिगत प्रामाणिकता से समन्वित होती है। कोई एक व्यक्ति किसी एक शब्द की प्रत्युपस्थापनाओं को एक वस्तु के साथ जोड़ता है तो दूसरा व्यक्ति दूसरी वस्तु के साथ; और जो आनुभविक है उसमें

जो चेतना की एकता है वह जो कुछ अनुभव में उपलब्ध है, उसके संबंध में अनिवार्य-तया और सर्वशः प्रामाणिक नहीं होती।

§ १५

समस्त विभावनाओं में तर्कसंगत आकार उनमें अन्तर्विष्ट संबोधों की आत्मोपलब्धि की वैषयिक एकता से घटित होता है

तार्किक लोग सामान्यतः विभावना का जो स्पष्टीकरण करते हैं, मैं उससे कदापि भी सन्तुष्ट नहीं हो सका हूँ। उनका कहना है कि विभावना दो संबोधों के मध्य में एक संबंध का प्रत्युपस्थापन है। अब यहाँ पर इस स्पष्टीकरण में जो दोष या खामियाँ हैं, उनके संबंध में उनसे बिना विवाद किये हुए—क्योंकि वे तो सभी अवस्थाओं में केवल निरपेक्ष विभावनाओं के पक्ष में लागू होती हैं, सापेक्ष अथवा वैकल्पिक विभाव-नाओं के प्रसंग में लागू नहीं होतीं (इन दोनों में तो संबोधों का संबंध नहीं, प्रत्युत विभाव-नाओं का संबंध अन्तर्विष्ट रहता है), यद्यपि तार्किकों की एतत्संबंधी असावधानी से भी अनेकों कष्टकर परिणाम उत्पन्न हुए हैं।[कां.] मुझे केवल यह बतलाना है कि यहाँ इस बात का निर्धारण नहीं किया गया है कि यह संबंध क्या है।

परन्तु यदि मैं किसी विभावना (या निर्णय) में दिये हुए ज्ञान के प्रकारों के संबंधों की अधिक सूक्ष्मता के साथ खोजबीन करूँ और इसको, बोधवृत्ति से संबंध रखने कारण नियमों के अनुसार बनने वाले प्रत्युत्पादक कल्पना के संबंध से पृथक् करूँ, जो केवल विषयिगत प्रामाणिकता से समन्वित है, तो मैं देखता हूँ कि विभावना उस प्रकार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, जिसके अनुसार दिये हुए ज्ञान स्वोपलब्धि की वैषयिक एकता को प्राप्त करा दिये जाते हैं। संबंधवाचक शब्द "है" का स्वयं यही लक्ष्य है, जो दिए हुए प्रत्युपस्थापनों की वैषयिक एकता को विषयिगत एकता से पृथक् करने के लिये प्रयुक्त होता है। यह मौलिक स्वोपलब्धि के साथ उनके संबंध को प्रदर्शित

कां. अनुमान वाक्य के चार प्रकारों से संबंध रखने वाले लम्बे सिद्धान्त का वास्ता केवल निरपेक्ष अनुमान वाक्य से है, और यद्यपि वास्तव में, तार्किकों ने जिस ढंग को अपनाया है वह ढंग, शुद्ध अनुमान की प्रतिज्ञाओं में चोरी छिपका से अव्यहित अनुमानों को प्रविष्ट करके, इस अवभास को, प्रथम प्रकार के अनुमान के अतिरिक्त अनुमान के अन्य प्रकार भी हैं, प्राप्त करने के कृत्रिम ढंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है; तथापि इस सिद्धान्त को इतनी आश्चर्य-जनक व्यापक स्वीकृति कठिनता से ही मिलती, यदि इसके पुरस्कर्ता निरपेक्ष विभावनाओं को इतनी एकान्ततः सम्मानार्ह बनाने सफल न हो गये होते, कि जिनके रूप में अन्य सब प्रकार की विभावनाएँ रुपान्तरित हो सकती हैं—पर यह ऐसा विचार है जो §९ के अनुसार वितथ है।

करता है, और उनकी अनिवार्य एकता को भी, फिर चाहे विभावना स्वयं अनुभवाश्रित और इसलिये अनिश्चित ही क्यों न हो, तब भी यही बात लागू होती है, जैसे कि इस विभावना के प्रसंग में कि "शरीर भारी होते हैं।" इससे मैं निश्चय ही यह नहीं कहना चाहता कि अनुभवाश्रित उपलब्धि में यह प्रत्युपस्थापनाएँ अनिवार्यतया परस्पर संबद्ध हैं, प्रत्युत यह कहना चाहता हूँ कि उपलब्धियों के संश्लेषण में निहित स्वोपलब्धि की अनिवार्य एकता के गुण के कारण वे परस्पर संबद्ध हैं, अर्थात् समस्त प्रत्युपस्थापनाओं, जहाँ तक इनसे किसी ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है, के वैषयिक निर्धारण के सिद्धान्तों के अनुसार हैं––जो सिद्धान्त सामग्र्येण स्वोपलब्धि की अनुभवातीत एकता के आधारभूत सिद्धान्त से व्युत्पादित हैं। केवल इसी प्रकारमात्र से इस संबंध से एक ऐसी विभावना उत्पन्न होती है, अर्थात् ऐसा संबंध उत्पन्न होता है जो वैषयिकतया प्रामाणिक होती है, और जो इसी कारण इन्हीं प्रत्युपस्थापनाओं के उस संबंध से जिसमें केवल विषयिगत प्रामाणिकता होती है––(जैसा कि उदाहरणार्थ साहचर्य के नियम के अनुसार हुआ करता है) पर्याप्तरूपेण पृथक् किया जा सकता है। दूसरे प्रसंग में मैं जो कुछ कह सकता हूँ, वह कुछ इस प्रकार का होगा––"जब मैं किसी शरीर को धारण करता हूँ, तो मैं भार के संस्कार का अनुभव करता हूँ", किन्तु यह नहीं कह सकता कि शरीर भारी है; जिसको कहने का आशय यह होगा कि यह दोनों प्रत्युपस्थापनाएँ विषय के अन्तर्गत आबद्ध हैं, अर्थात् विषयी की अवस्थाओं के भेद के विचार किये बिना भी ऐसा सत्य है, और केवल प्रत्यक्ष में ही आबद्ध नहीं हैं चाहे यह कितनी ही पुनरावृत्त हुआ है।

§ १६

समस्त ऐन्द्रिक उपलब्धियाँ ज्ञान-प्रकारों के, जो कि ऐसी शर्तें हैं केवल जिनके अन्तर्गत उन उपलब्धियों की विविधरूपता एक साथ मिल कर एक चेतना में समा सकती है, अधीन होती हैं

ऐन्द्रिक उपलब्धि में दी हुई विविधरूपता, अभिबोधन की मौलिक सांश्लेषिक एकता के अधीन है, क्योंकि केवल इसी के द्वारा उपलब्धियों की एकता संभव है (§१७)। परन्तु बोधवृत्ति का वह व्यापार जिसके द्वारा दी हुई प्रत्युपस्थापनाओं की विविधरूपता चाहे वह अन्तरुपलब्धियाँ हों अथवा संबोध हो, एक स्वोपलब्धि के अन्तर्गत लाया जाता है, विभावना का एक यौक्तिक वृत्ति (कार्य) है (§ १९)। इसलिये, जहाँ तक समस्त विविधरूपता केवल एक अकेली आनुभविक सहजोपलब्धि में दी हुई होती है, वहाँ तक वह विभावना की किसी एक यौक्तिक वृत्ति के संबंध में निर्धारित होती है, और उसके द्वारा एक सामान्य चेतना के अन्तर्गत आनीत हुआ करती है। वास्तव

में अनुभव के प्रकार, जहाँ तक वे किसी दी हुई सहजोपलब्धि की विविधरूपता के निर्धारण में व्यवहृत होते हैं, बस ये विभावना की वृत्तियाँ ही हैं (§१३)। परिणामतः किसी भी दी हुई सहजोपलब्धि में बहुविधता अनिवार्यतया प्रकारों के अधीन होती है।

§ १७

आलोकन

किसी ऐसी सहजोपलब्धि में अन्तर्विष्ट बहुरूपता जिसको मैं अपनी सहजोपलब्धि कहता हूँ, आत्मचेतना की अपरिहार्य एकता से संबंध बोधवृत्ति के संश्लेषण के द्वारा प्रत्युपस्थापित की जाती है; और यह प्रकार के[कां.] द्वारा घटित होता है। प्रकार की यह आवश्यकता इस बात को सूचित करती है कि एक अकेली सहजोपलब्धि में दी हुई विविधरूपता की आनुभविक चेतना, शुद्ध प्रागनुभवात्मक चेतना के अधीन रहती है, ठीक जिस प्रकार आनुभविक सहजोपलब्धि एक ऐसी शुद्ध ऐन्द्रिक सहजोपलब्धि के अधीन होती , जो कि इसी प्रकार प्रागनुभवात्मकतया घटित होती है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रस्थापना में बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों के निगमन का सूत्रपात किया गया है, जिस निगमन में, क्योंकि प्रकारों का उद्‌गम, संवेद्यता से वियुक्त, केवल बोधवृत्ति में ही है, मुझे उस प्रकार से भी अवश्यमेव अपहार करना पड़ेगा, जिसके अनुसार आनुभविक सहजोपलब्धि की विविधरूपता सम्प्राप्त होती है, और केवल उस एकता की ओर देखना होगा जो प्रकार के माध्यम से बोधवृत्ति के द्वारा सहजोपलब्धि में अनुप्रविष्ट होती है। आगे आने वाले विवेचन में (देखिए § २६), जिस प्रकार से इन्द्रियसंवेद्यता में आनुभविक सहजोपलब्धि दी हुई होती है, उससे यह प्रदर्शित किया जाएगा कि इसकी एकता उस एकता से अलग कोई अन्य वस्तु नहीं है, जिसको उपर्युक्त §२० के अनुसार प्रकार सामान्यता किसी भी दी हुई सहजोपलब्धि की विविधरूपता के लिये नियोजित करता है,और इस तरह,हमारे इन्द्रियार्थों के संबंध में प्रकारों की प्रागनुभवात्मक प्रामाणिकता के प्रतिपादित हो जाने से निगमन का उद्देश्य सर्वप्रथम पूर्णतया सिद्ध हो जाएगा।

उपर्युक्त उपपत्ति का एक खंड ऐसा है जिससे मैं अपहार नहीं कर सका, और वह यह है कि सहजोपलब्धि के लिये जो विधिरुपता है, वह बोधवृत्ति के संश्लेषण के पूर्व

कां. इस की उपपत्ति सहजोपलब्धि की उस प्रत्युपस्थापित एकता पर निर्भर करती है, जिस के द्वारा विषय उपलब्ध होता है, जो सर्वदा अपने भीतर सहजोपलब्धि के निमित्त दी हुई विविधरूपता के संश्लेषण धारण किये रहती है, और इसलिये स्वोपलब्धि की एकता के साथ इस विविरूपता का संबंध तो पहले से ही उसमें अन्तर्विष्ट रहता है।

ही एवं उससे स्वतंत्र रूप से दी हुई होनी चाहिये। परन्तु यह कैसे संभव है--यह तथ्य यहाँ अनिर्धारित रह गया है। क्योंकि यदि मैं किसी ऐसी बोधवृत्ति का विचार कर पाता जो स्वतः सहजोपलब्धि की योग्यता से युक्त होती (जैसी कि, उदाहरण के लिये दिव्य बोधवृत्ति की योग्यता होती है, जिसको दिये हुए विषयों को अपने प्रति प्रत्युपस्थापित करना नहीं होता है, प्रत्युत जिसकी प्रत्युपस्थापना से विषय स्वयं प्रदत्त अथवा उत्पादित हुआ करते हैं), तो ऐसे ज्ञान के संबंध में प्रकारों का नाममात्र को भी कुछ अर्थ नहीं होता। वे तो बस एक ऐसी बोधवृत्ति के लिये उपयुक्त नियममात्र हैं जिसकी सारी शक्ति विचार करने में अन्तर्विष्ट है, अर्थात् उस व्यापार में निहित है जिसके द्वारा यह अपने को अन्य स्थान से सहजोपलब्धि में दी हुई विविधरूपता के संश्लेषण को स्वोपलब्धि की एकता के पास प्रस्तुत कर देती है--अतएव जो ऐसी शक्ति है कि स्वतः कुछ भी नहीं जानती, प्रत्युत जो केवल ज्ञान के उपादान अर्थात् सहजोपलब्धि को, जो कि उसको अवश्यमेव विषय के द्वारा ही दी जानी चाहिये, संयोजित और व्यवस्थित करती है। हमारी बोधवृत्ति की यह विलक्षणता, कि यह केवल प्रकारों के, और वह भी ऐसे और इतने ही प्रकारों के द्वारा प्रागनुभवात्मकतया अभिबोधन की एकता को उत्पन्न कर सकती है, इससे अधिक व्याख्या के इतने ही कम योग्य हैं, जितना कि यह प्रश्न कि हमारी विभावनाओं की इतनी ही वृत्तियाँ क्यों हैं, अन्य क्यों नहीं हैं, अथवा यह प्रश्न कि हमारी संभव सहजोपलब्धियों के आकार केवल देश और काल ही क्यों हैं।

§ १८

वस्तु-ज्ञान के लिये, अनुभव के विषयों के संबंध में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त प्रकार का और कोई उपयोग नहीं है

किसी विषय पर विचार करना और किसी विषय को जानना यह दोनों एक ही नहीं हैं। ज्ञान के लिये निम्नलिखित दो अंग आवश्यक होते हैं; प्रथम, संबोध जिसके द्वारा विषय सामान्य का विचार किया जाता है (प्रकार), और दूसरा, सहजोपलब्धि जिसके द्वारा वह दिया उपलब्ध होता है; क्योंकि यदि संबोध के समनुरूप सहजोपलब्धि प्रदत्त न हो सके, तो भी जहाँ तक आकार का संबंध है, संबोध विचाररूप तो होगा ही, परन्तु वह सर्वथा विषय-रहित होगा एवं उसके द्वारा किसी भी वस्तु का ज्ञान संभव नहीं होगा; क्योंकि जहाँ तक मेरा ज्ञान था, न कोई पदार्थ था न हो सकता था, जिसके प्रति मेरा विचार प्रयुक्त हो सकता। अब, जैसा कि संवेदन के विवेचन ने दिखला दिया है कि हमारे लिये जो सहजोपलब्धि संभव है, वह केवल इन्द्रियसंवेद्य है, अतएव बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध के द्वारा किसी भी विषय सामान्य का विचार हमारे

लिये उसी सीमा तक ज्ञान हो सकता है जहाँ तक कि संबोध ऐन्द्रिक विषयों से संबद्ध है। ऐन्द्रिक सहजोपलब्धि या तो शुद्ध सहजोपलब्धि (देश और काल की) होती है, अथवा उस वस्तु की आनुभविक सहजोपलब्धि होती है जो इन्द्रिय संवेदना के द्वारा देश और काल में वास्तविक रूप प्रत्युपस्थित किया जाता है। इनमें से प्रथम (अर्थात् शुद्ध सहजोपलब्धि) के निर्धारण के द्वारा हम विषयों का प्रागनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जैसे कि गणित में; परन्तु यह ज्ञान, अवभासरूप उनकी आकृतियों के संबंध में ही होता है। यह बात इतने पर भी अनिर्णीत ही रहती है कि क्या इस प्रकार की वस्तुएँ हो सकती हैं अथवा नहीं हो सकतीं, जिनकी इस आकृति में सहजोपलब्धि होनी चाहिये। परिणामतः इस मान्यता को छोड़कर कि इस प्रकार की वस्तुएँ हैं, जो हमारे प्रति केवल उस शुद्ध सहजोपलब्धि के आकार के अनुसार उपस्थित की जाने योग्य हैं, समस्त गणित संबोध स्वरूपतः ज्ञान नहीं है। रही वस्तुओं के देश और काल में प्रदत्त होने की बात, तो ऐसा तो उसी सीमा तक वे प्रत्यक्ष होती हैं (अर्थात् संवेदन से समन्वित प्रत्युपस्थापनाएँ होती हैं)––अतएव वे केवल आनुभविक प्रत्युपस्थापनाओं के द्वारा प्रदत्त होती हैं। परिणामतः बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध, जब कि वे, जैसे गणित में, प्रागनुभवात्मक सहजोपलब्धियों के प्रति भी प्रयुक्त होते हैं, तो उसी सीमा तक ज्ञान प्रदान करते हैं जिस सीमा तक यह सहजोपलब्धियाँ––और इसलिये अप्रत्यक्षतया उनके द्वारा बोधवृत्ति के संबोध भी (अर्थात् शुद्ध संबोध भी)––आनुभविक सहजोपलब्धियों के संबंध में प्रयुक्त हो सकते हैं। इसलिये प्रकार तो शुद्ध सहजोपलब्धियों की सहायता तक से हमको पदार्थों का कोई भी ज्ञान प्रदान नहीं करते; वे तो ऐसा केवल आनुभविक सहजोपलब्धियों के प्रति अपने संभावित प्रयोग के द्वारा ही कर सकते हैं, अर्थात् वे आनुभविक ज्ञान की संभावना के लिये काम में आते हैं। किन्तु यही तो अनुभव कहलाता है। परिणामतः निष्कर्ष यह निकला कि, पदार्थों का ज्ञान प्रदान करने में प्रकारों का, उन वस्तुओं के संबंध में छोड़ कर जो कि संभव अनुभव का विषय हो सकती हैं, कोई अन्य उपयोग नहीं है।

§ १९

उपयुक्त प्रस्थापना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि जिस प्रकार अनुभवातीत संवेदनशास्त्र ने हमारी ऐन्द्रिक सहजोपलब्धि के शुद्ध आकारों के प्रयोग की मर्यादाओं को निर्धारित कर दिया था, उसी प्रकार यह विषयों के संबंध में बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों के प्रयोग की मर्यादाओं को निर्धारित करती है। उन प्रतिबन्धों के रूप में केवल जिनके अधीन हमको संभवतया विषयों की उपलब्धि होती है, देश ओर काल ऐन्द्रिक विषयों के लिये प्रामाणिक हैं इसके आगे नहीं, अतएव केवल अनुभव के लिये प्रामाणिक

हैं। इन सीमाओं के परे वे कुछ भी प्रत्युपस्थापित नहीं करते, क्योंकि वे केवल इन्द्रियोंके क्षेत्र के भीतर ही हैं, और उनके परे उनकी कुछ भी वास्तविकता नहीं है। बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध इन सीमाओं से मुक्त हैं, और वे सहजोपलब्धि के सामान्य विषयों तक उनका विस्तार है; बस शर्त यही है कि सहजोपलब्धि ऐन्द्रिक होनी चाहिये बौद्धिक नहीं, फिर चाहे वह हमारी सहजोपलब्धि के भले ही समान हो या न हो। पर हमारी ऐन्द्रिक सहजोपलब्धियों के परे संबोधों का यह विस्तार हमारी कुछ भी सहायता नहीं करता, अर्थात् हमारे किसी काम का नहीं। क्योंकि ऐसी दशा में वे विषयों के संबोध के रूप में तो रीते (शून्य) होते हैं, और हमको यह तक निर्णय करने की योग्यता नहीं प्रदान करते कि उनके विषय संभव हैं अथवा नहीं; वे वैषयिक वास्तविकता से विरहित केवल विचार के आकारमात्र होते हैं, क्योंकि हमारे समक्ष कोई सहजोपलब्धि उपस्थित नहीं होती जिसके प्रति वह स्वोपलब्धि लागू हो सके, जो इन आकारों का समग्र अन्तरार्थ है और इस प्रकार लागू होकर किसी विषय को निर्धारित कर सके। केवल हमारी ऐन्द्रिक और आनुभविक स्वोपलब्धि ही उनको कोई आयतन और आशय प्रदान कर सकती है।

यदि अनैन्द्रिक उपलब्धि के किसी विषय को प्रदत्त मान लिया जाए, तब तो वास्तव में स्वतंत्रतापूर्वक इसको उन सब विधेयों के द्वारा प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है, जो इस अभ्युपगम में अध्याहृत हैं कि उसमें ऐन्द्रिकोपलब्ध विशिष्ट लक्षण एक भी नहीं मिलता। इस प्रकार, यह न तो विस्तार से युक्त है और न किसी प्रदेश ही में स्थित है, इसका स्थायित्व समयगत नहीं है, इसमें कोई परिवर्त्तन (काल में निर्धारणों की ज्ञानुपूर्वी) नहीं, मिलता, इत्यादि इत्यादि। परन्तु यदि मैं यह कहने में कि अमुक उपलब्धि में क्या अन्तर्विष्ट है, समर्थ हुए बिना बस केवल यह सूचित करूँ कि किसी विषय की उपलब्धि क्या नहीं है, तो ऐसी स्थिति में समुपयुक्त ज्ञान की प्राप्ति नहीं मानी जा सकती; क्योंकि तब तो संबोध के समनुरूप किसी उपलब्धि को प्रस्तुत न कर सकने के कारण, प्रत्युत केवल यह कह सकने के कारण कि हमारी उपलब्धि उसके संबंध में लागू नहीं होती; मैंने यह (भी) प्रदर्शित नहीं किया है कि मैं जिस विषय को विशुद्ध संबोध के द्वारा विचार रहा हूँ, वह संभव तक भी है। पर जो सब से मुख्य बात है, वह यह है कि उपर्युक्त जैसी किसी वस्तु के प्रसंग में, कोई भी प्रकार किसी समय लागू नहीं हो सकता; उदाहरण के लिये, इसके प्रति हम पदार्थ का संबोध प्रयुक्त नहीं कर सकते, क्योंकि पदार्थ से आशय ऐसी वस्तु से है जो उद्देश्य के रूप में तो रह सकती है परन्तु जो मात्र विधेय के रूप में कदापि नहीं रह सकती; क्योंकि जहाँ तक अनुभवात्मक उपलब्धि इसके प्रयोग के लिये अवसर प्रदान करती है, उसको छोड़कर मैं नहीं जानता

कि कोई ऐसी वस्तु हो भी सकती है, या नहीं, जो इस विचार के आकार के समनुरूप हो।

§ २०

सामान्य इन्द्रियार्थों के प्रति प्रकारों का प्रयोग

बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध, केवलमात्र बोधवृत्ति के द्वारा, प्रत्यक्षोपलब्धि के सामान्य विषयों के साथ स्वतः संबद्ध होते हैं, फिर चाहे वह प्रत्यक्षोपलब्धि स्वयं हमारी अपनी हो अथवा अन्य किसी व्यक्ति की बशर्ते वह इन्द्रियग्राह्य हो, तथापि इसी हेतु यह संबोध विचार के आकारमात्र होते हैं, केवल जिनके द्वारा कोई सुनिर्धारित विषय जाना नहीं जाता। उनमें, जो बहुविधता का संश्लेषण अथवा संनिबंधन होता है, वह केवल स्वोपलब्धि की एकता से संबद्ध होता है; एवं इस कारण वह प्रागनुभवात्मक ज्ञान की संभावना उस सीमा तक आधार होता है जहाँ तक यह ज्ञान बोधवृत्ति पर आश्रित होता है। और इसी कारण यह संश्लेषण केवल अनुभवातीत ही नहीं, प्रत्युत मात्र बौद्धिक भी होता है। परन्तु क्योंकि हमारे अन्दर प्रागनुभवात्मक ऐन्द्रिक उपलब्धि का एक विशिष्ट प्रकार रहा करता है, जो प्रत्युपस्थापन शक्ति की ग्रहणशीलता पर निर्भर करता है, अतः स्वतःस्फूर्तिता के रूप में बोधवृत्ति , स्वोपलब्धि की सांश्लेषिक एकता के अनुसार दिये हुए प्रत्युपस्थापनों के वैविध्य के द्वारा अन्तःकरण को अवच्छिन्न करने में समर्थ होती है, और इस प्रकार उस शर्त के रूप में, जिसके अधीन हमारी मानवीयोपलब्धि समस्त विषय अनिवार्यतया स्थित रहते हैं, वह प्रागनुभवात्मक इन्द्रियग्राह्य उपलब्धि के वैविध्य की स्वोपलब्धि सांश्लेषिक एकता का विचार करने समर्थ हो जाती है। इस तरह इसके द्वारा , प्रकार जो कि स्वरूपतः केवल विचार के आकार हैं, वैषयिक वास्तविकता को प्राप्त कर लेते हैं; अर्थात् जो विषय हमको ऐन्द्रिकोलब्धि में प्रदत्त होते हैं, उनके प्रति इनका प्रयोग हो सकता है। परन्तु यह विषय हमको मात्र अवभासों के रूप में उपलब्ध होते हैं, क्योंकि हम केवल इन अवभासों की प्रागनुभवात्मक ऐन्द्रिकोपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं।

इन्द्रियोपलब्धि के वैविध्य का यह संश्लेषण , जो प्रागनुभवात्मकता संभव और अनिवार्य है, मूर्त संश्लेषण कहा जाता है; और इसलिये कहा जाता है कि इसको उस संश्लेषण से पृथक् किया जा सके जिसको किसी सामान्य उपलब्धि के वैविध्य के संबंध में मात्र प्रकार में विचारा जाता है और जिसको बोधवृत्ति द्वारा संयोजन कहा जाता है। दोनों ही, न केवल प्रागनुभवात्मकतया घटित होने के कारण, प्रत्युत अन्य प्रागनुभवात्मक ज्ञान की संभावना को अवस्थित करने के हेतु भी, अनुभवातीत हैं।

परन्तु यदि मूर्त संश्लेषण केवलमात्र स्वोपलब्धि की मौलिक सांश्लेषिक एकता की दिशा में प्रेरित किया जाए, अर्थात् जो प्रकारों में विचारी जाती है उस अनुभवातीत एकता की ओर प्रेरित किया जाए, तो उसको मात्र बौद्धिक संयोजन से पृथक् करने के लिये, कल्पना-शक्ति का अनुभवातीत संश्लेषण कहना चाहिये। (किसी विषय की सत्ता के बिना भी प्रत्यक्ष (या अनुभव) में उसको प्रत्युस्थापित करने की क्षमता (ही) कल्पना शक्ति है।) पर अब क्योंकि हमारी समस्त अनुभवोपलब्धियाँ इन्द्रियाश्रित हैं, अतः उन विषयिगत शर्तों के कारण केवल जिनके अधीन रह कर यह बोधवृत्ति के संबोधों को समनुरूप उपलब्धियाँ दे सकती है, कल्पनाशक्ति इन्द्रिय-संवेद्यता से संबद्ध है; परन्तु तो भी जहाँ तक इस का संश्लेषण स्वयंस्फूर्तिता की अभिव्यक्ति है, जो निर्धारक है, और जैसे इन्द्रियाँ हैं उनके समान निर्धार्यमात्र नहीं है, और जो इसलिये इन्द्रिय को उसके आकार की दृष्टि से स्वोपलब्धि की एकता के अनुसार प्रागनुभवात्मक प्रकार से निर्धारित करने में समर्थ होता है, अतः उसी सीमा तक एक ऐसी शक्ति है जो इन्द्रिय संवेदना को निर्धारित करती है। और उसका उपलब्धियों का संश्लेषण, प्रकारों के अनुरूप होने के हेतु कल्पना का अनुभवातीत संश्लेषण होना चाहिये, जो संश्लेषण बोधवृत्ति का इन्द्रियसंवेदना के ऊपर कार्य है, और हमारी संभव उपलब्धियों के विषयों के प्रति इसका प्रथम प्रयोग है, और इसीलिये अन्य सब प्रयोगों का आधार है। मूर्त्त होने के हेतु, यह बौद्धिक संश्लेषण से भिन्न है, जो कल्पना की सहायता के बिना केवल अकेली बोधवृत्ति के द्वारा प्रतिपादित होता है। अब, जिस सीमा तक कल्पना स्वतःस्फूर्ति है, मैं इसको कभी कभी उत्पादक कल्पना भी कहा करता हूँ, और इसके द्वारा उसको प्रत्युत्पादक कल्पना से पृथक् कर देता हूँ, जिसका संश्लेषण पूर्णतया आनुभविक नियमों, अर्थात् साहचर्य के नियमों के अधीन है, और जो इसीलिये प्रागनुभवात्मक ज्ञान की सम्भावना की व्याख्या में कुछ भी योगदान नहीं करती, और इसी हेतु उसका संबंध अनुभवातीत दर्शन से नहीं प्रत्युत मनोविज्ञान से है।

* * *

हमारी आन्तर-इन्द्रिय के आकार के विवरण में (§६) जो विरोधाभास सब किसी को स्पष्ट प्रतीत हुआ होगा, उसको स्पष्ट कर देने का भी यही समुचित स्थान है। वह विरोधाभास यह है कि यह अन्तरिन्द्रिय हमारी अपनी आत्मा को भी चेतना के प्रति वैसा ही प्रत्युपस्थापित करती है, जैसे कि हम अपने को प्रतीत होते हैं न कि जैसे कि हम वास्तव में हैं; क्योंकि हम अपनी वैसी ही सहजोपलब्धि प्राप्त करते हैं, जैसे कि हम आन्तरिकतया प्रभावित होते हैं, और यह बात विरोधी जैसी प्रतीत

होगी, क्योंकि ऐसी अवस्था में हमको अपने साथ स्वतः निश्चेष्ट संबंध में स्थित होना पड़ेगा, इसीलिये (अर्थात् इस विरोध को समाप्त करने के लिये) अन्तरिन्द्रिय को जिसको हमने बड़ी सावधानी से स्वोपलब्धि की योग्यता से पृथक् विवेचित किया था, मनोविज्ञान के संस्थान में, सामान्यतया उस क्षमता से अभिन्न माना जाता है।

अन्तरिन्द्रिय को जो चीज़ निर्धारित करती है, वह बोधवृत्ति और उसकी सहजोपलब्धि के वैविध्य को संयोजित करने वाली मौलिक शक्ति है; अर्थात् वह शक्ति है जो इसको स्वोपलब्धि के अधीन करने वाली है, जिसके ऊपर स्वतः बोधवृत्ति (तक) की संभावना आश्रित रहती है। अब क्योंकि हम मनुष्यों में बोधवृत्ति स्वतः कोई सहजोपलब्धि की शक्ति नहीं है, और यदि सहजोपलब्धियाँ इन्द्रियसंवेदना में दी हुई भी हों तो भी बोधवृत्ति उनको अपने में इस प्रकार से ग्रहण नहीं कर सकती कि जिससे उनको अपनी सहजोपलब्धि के वैविध्य के रूप में संयोजित कर सके, अतएव इसका संश्लेषण, यदि इस (संश्लेषण) को केवल इसी के रूप में देखा जाए, उस कार्य की एकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसके प्रति कार्य के रूप में यह अपने तईं इन्द्रिय-संवेदना के बिना भी सजग-संकेत है; परन्तु इतना होने पर भी जिसके द्वारा यह इन्द्रिय संवेदना को उस वैविध्य के संबंध में आन्तरिकतया निर्धारित करने में समर्थ है जो इसको सहजोपलब्धि के आकार के अनुसार उपलब्ध हो सकता है। इस प्रकार बोधवृत्ति कल्पना के अनुभवातीत संश्लेषण के नाम से, इस कार्य को उस कारित विषयी के ऊपर करती है, जिसकी यह स्वयं शक्ति है, इस कारण हम औचित्य के साथ यह कह सकते हैं कि अन्तरिन्द्रिय उससे प्रभावित हुई है। स्वोपलब्धि और उसकी सांश्लेषिक एकता सचमुच ही आन्तरिक इन्द्रिय से अभिन्न होने से इतने दूर हैं कि इन में से प्रथम, समस्त संयोजनाओं के उद्‌गम के रूप में, प्रकारों के नाम से, सामान्यतया विषयों की समस्त ऐंद्रिक सहजोपलब्धियों के पूर्व, सामान्यतः सहजोपलब्धियों के वैविध्य के प्रति अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त होता है; जबकि इसके विपरीत आन्तरिक इन्द्रिय अपने भीतर केवल सहजोपलब्धि के आकार को अन्तर्विष्ट रखता है, परन्तु उसके भीतर वैविध्य के संयोजन को धारण नहीं करता; अतएव इसी सीमा तक किसी निर्धारित सहजोपलब्धि को भी अपने में अन्तर्विष्ट नहीं रखता—जो (सहजोपलब्धि का धारण करना) केवल कल्पना के अनुभवातीत कार्य के द्वारा वैविध्य के निर्धारण की चेतना से ही संभव है (जो कि बोधवृत्ति का अन्तरिन्द्रिय पर पड़ने वाला सांश्लेषिक प्रभाव है), जिसको मैं ने आकृतिमूलक संश्लेषण कहा है।

इसको हम अपने में ही देख सकते हैं। विचार में उसको खींचे बिना हम रेखा की बात नहीं विचार सकते, बिना उसको कल्पना में बनाए वृत्त का विचार नहीं कर

सकते, देश की तीन दिशाएँ (लम्बाई, चौड़ाई और गहराई) बिना एक बिन्दु पर तीन रेखाएँ एक दूसरे से समकीण पर बनाए बिलकुल प्रत्युपस्थापित नहीं कर सकते। स्वयं समय तक को भी तो हम, एक सरल रेखा के खींचने में (जो कि समय की बाह्य आकृत्यात्मक प्रत्युपस्थापना का काम देती है) मात्र वैविध्य के संश्लेषण के व्यापार को (जिसके द्वारा हम अनुक्रम से आन्तरिक इन्द्रिय को निर्धारित करते हैं, और ऐसा करने में आन्तरिक इन्द्रिय में इस निर्धारण के अनुक्रम को ध्यान देते हैं) ध्यान दिये बिना प्रत्युपस्थापित नहीं कर सकते। विषयी के व्यापार के रूप में (न कि विषय[कां.] के निर्धारण के रूप में) गति, तत्परिणामत: वैविध्य का देशगत संश्लेषण, (यदि हम इस वैविध्य से अपने चित्त का अपहार करें और केवल उस व्यापार को ध्यान दें जिसके द्वारा उसके आकार के अनुसार अन्तरिन्द्रिय का निर्धारण करते हैं) अनुक्रम के संबोध को सर्वप्रथम उत्पन्न करता है। इस प्रकार बोधवृत्ति अन्तरिन्द्रिय में वैविध्य के इस प्रकार के संयोजन को नहीं पाती, प्रत्युत इस अर्थ में कि यह उस इन्द्रिय को प्रभावित करती है, यह उसको उत्पन्न करती है।

परन्तु वह "मैं" जो कि विचार करता है उस "मैं" से कैसे स्पष्ट पृथक् हो सकता है जो कि अपने को सहजोपलब्ध करता है (क्योंकि मैं इसके अतिरिक्त सहजोपलब्धि के और कई एक प्रकार जो कम से कम संभव हैं, प्रत्युपस्थापित कर सकता हूँ) और तिस पर भी, वही विषयी रूप होते हुए, दूसरे मैं से अभिन्न हो सकता है; और इस प्रकार मैं कैसे कह सकता हूँ कि "प्रज्ञा और विचार करने वाले विषयी के रूप में मैं अपने को ऐसे विषय के रूप में जानता हूँ जिसका विचार किया जाता है, (और) वहाँ तक जानता हूँ जहाँ तक मैं अपने को अपने प्रति उस रूप में प्रदत्त होता हूँ जो उस में से अन्य अथवा परे है जो मेरे को सहजोपलब्धि में प्रदत्त होता है, और तिस पर भी मैं अपने को अन्य अवभासों के समान उसी रूप में जानता हूँ जैसा कि मैं अपने को प्रतिभात होता हूँ उस रूप में नहीं जैसा कि बोधवृत्ति के प्रति हूँ—" यह ऐसे प्रश्न हैं कि जिनकी कठिनाई न तो इस प्रश्न से अधिक है और न कम कि मैं अपने

कां. किसी पदार्थ की देश में गति किसी शुद्ध विज्ञान से संबंध नहीं रखती, अतः भूमितिशास्त्र से भी संबंध नहीं रखती; क्योंकि यह तथ्य कि कोई वस्तु गतिशील है प्रागनुभवात्मकतया नहीं जाना जा सकता प्रत्युत अनुभव के द्वारा ही जाना जा सकता है। तथापि किसी प्रदेश को आँकने या छेकने के रूप में गति, उत्पादक कल्पना के द्वारा सामान्य बाह्योपलब्धि में वैविध्य के अनुक्रमिक संश्लेषण का शुद्ध कार्य है और न केवल भूमितिशास्त्र से संबंध रखता है, प्रत्युत अनुभवातीत दर्शनशास्त्र से भी संबंध रखता है।

लिये कोई विषय किञ्चिन्मात्र हो ही कैसे सकता हूँ और फिर अधिक विशेषतया सहजोपलब्धि और आन्तरप्रत्यक्ष का विषय किस प्रकार हो सकता हूँ। वास्तव में यह वात कि यह सब कुछ जैसा होना चाहिये वैसा ही है सरलता से इस तथ्य के द्वारा स्पष्ट की जा सकती है--(वशर्ते कि यह मान लिया जाए कि देश बाह्येन्द्रिय के अवभासों का शुद्ध आकार भाव है) कि हम अपने लिये समय की (जो बाह्य सहजोपलब्धि का विषय नहीं है) प्रत्युपस्थापना को, एक रेखा की मूर्तकल्पना, (जिसको हम विचार में खींचते हैं एवं केवल उसको इस प्रकार अंकित करने की पद्धति के द्वारा ही उसकी विभा की एकता को जान सकते हैं) की अपेक्षा अन्य किसी प्रकार से सम्प्राप्त नहीं कर सकते; और इसी प्रकार (यह वात इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि) समस्त आन्तरप्रत्यक्षों के लिये समय की दीर्घता का या कालविन्दुओं का निर्धारिण हम को बाह्य वस्तुओं में प्रदर्शित परिवर्त्तनों के आधार पर करना पड़ता है, तथा इस तथ्य से भी कि इसीलिये अन्तरिन्द्रिय की निर्धारणाओं को कालगत अवभासों के रूप में ठीक इसी प्रकार क्रमबद्ध करना पड़ता है, जिस प्रकार हम बाह्येन्द्रिय की निर्धारणाओं को देश में क्रमबद्ध किया करते हैं। अतएव यदि इन बाद को वर्णन किये गये तथ्यों के संबंध में हम यह मान लें कि हम वाह्य विषयों को उसी सीमा तक जानते हैं जहाँ तक हम वाह्यतः प्रभावित होते हैं, तो हम को यह भी मानना पड़ेगा कि जहाँ तक अन्तरिन्द्रिय का संबंध है, हम इसके द्वारा अपने को उतना ही सहजोपलब्ध करते हैं जितने हम अपने द्वारा आन्तरिकतया प्रभावित होते हैं; अर्थात् जहाँ तक हमारी आन्तरोपलब्धि का संबंध है हम अपने आपको अवभास के रूप में ही जानते है, स्वरूपतः नहीं। [कां.]

§ २१

दूसरी ओर, समान्यरूपेण प्रत्युपस्थापनाओं के विविधरूप के अनुभवातीत संश्लेषण में, और इसीलिये स्वोपलब्धि को सांश्लेषिक मौलिक एकता में, मैं अपने विषय में जो चेतन रहता हूँ, वह न तो इस विषय में चेतन रहता हूँ कि मैं कैसा अवभासित

कां. मुझे यह नहीं सूझ पड़ता कि इस बात को मान लेने में कि हमारी अन्तरिन्द्रि स्वयं हमारे द्वारा प्रभावित होती है, इतनी अधिक कठिनता क्यों पाई जानी चाहिये। इसका उदाहरण तो हमको अवधान का प्रत्येक व्यापार प्रदान कर सकता है। अवधान के प्रत्येक व्यापार में बोधसहजोपलब्धि के प्रति निर्धारित किया करती है जो बोधवृति के संश्लेषण में अन्तर्विष्ट विविधरूप के समनुरूप होती है। सामान्यतया हमारा मानस उससे कितना प्रभावित होता है इस बात का प्रत्यक्ष प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने में कर सकेगा।

होता हूँ, और न जैसा मैं स्वरूपतः हूँ उसके विषय में चेतन रहता हूँ; बस केवल इस बात के संबंध में चेतन रहता हूँ कि मैं हूँ। यह प्रत्युपस्थापना एक विचार है, सहजोपलब्धि नहीं है। परन्तु अपने को जानने के लिये विचार के व्यापार के साथ साथ (जो व्यापार प्रत्येक संभव प्रत्यक्षोपलब्धि के विविधरूप को स्वोपलब्धि की एकता के प्रति उपनीत करता है), सहजोपलब्धि का एक सुनिर्दिष्ट प्रकार भी अपेक्षित होता है, जिसके द्वारा यह विविधरूप प्रदान किया जाता है; अतएव यद्यपि मेरा अस्तित्व निश्चिततया ही अवभास नहीं है (माया तो और भी नहीं है), तथापि मेरी सत्ता का निर्धारण तो केवल [कां.] अन्तरिन्द्रिय के आकार की अनुरूपता में उस विशेष प्रकार के अनुसार घटित हो सकता है, जिसमें मेरे द्वारा संयोजित विविधरूप आन्तरिक सहजोपलब्धि में प्रदत्त होता है; और इस प्रकार मुझे अपने विषय में, जैसा मैं हूँ, ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं होता; प्रत्युत जैसा मैं अपने को प्रतीत होता हूँ, अपने विषय में वही जानता हूँ। उन सब प्रकारों के होते हुए भी जो एक स्वोपलब्धि के अन्तर्गत विविधरूपता की संयोजना के द्वारा सामान्यतया किसी विषय के विचार की संघटना के लिये प्रयुक्त किये जा रहे हैं, आत्मा की चेतना फिर भी आत्मा के ज्ञान से बहुत दूर की बात है। जिस प्रकार अपने से भिन्न किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रकार में सामान्यतः विषय के विचार के अतिरिक्त मेरे लिये एक सहजोपलब्धि भी अपेक्षित होती है, जिसके द्वारा मैं उस सामान्य संबोध को निर्धारित करता हूँ, इसी प्रकार अपनी आत्मा के ज्ञान के लिये चेतना के अतिरिक्त (अर्थात् अपने आपके विचार के अतिरिक्त) मुझे अपने में स्थित विविधरूपता की एक सहजोपलब्धि की अपेक्षा होती है, जिसके द्वारा मैं इस विचार को निर्धारित करता हूँ। और मैं एक ऐसी बुद्धिमत्ता

कां. "मैं विचार करता हूँ" यह तत्व मेरी सत्ता के निर्धारित करने के व्यापार को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार इसके द्वारा सत्ता तो पूर्वतः ही प्रदत्त है, परन्तु वह प्रकार जिसमें मुझे इस सत्ता का निर्धारण करना है, अर्थात् तत्संबद्ध विविधरूप, इसके द्वारा प्रदत्त नहीं होता। ऐसा होने के लिये आत्मसहजोपलब्धि अपेक्षित है, और इस प्रकार की सहजोपलब्धि एक दिए हुए प्रागनुभवात्मक आकार अर्थात् काल द्वारा अवस्थित होती है जो ऐन्द्रिक है, और निर्धार्य की ग्रहणशीलता से संबद्ध है। परन्तु अब क्योंकि मुझे ऐसी कोई दूसरी आत्मोपलब्धि में काल किया करता है, अतएव मैं स्वतः-सक्रिय भूत की सत्ता के समान अपनी सत्ता का निर्धारण नहीं कर सकता, प्रत्युत मैं अपने प्रति केवल अपने विचार की स्वतःप्रवृत्ति को ही प्रत्युपस्थापित कर सकता हूँ; और इतने पर भी मेरी सत्ता केवल ऐन्द्रिकतया अर्थात् अवभास की सत्ता के रूप में ही निर्धार्य बनी रहती है। पर इसी स्वतःप्रवृत्ति का ही यह फल है कि मैं अपने को "बुद्धि" कहता हूँ।

के रूप में सत्तावान हूँ (अस्तित्व रखता हूँ) जो केवल अपनी संयोजना की शक्ति के विषय में सचेत है; परन्तु उन विविधरूपों के संबंध में जिनको इसको संयोजित करना पड़ता है, मैं मर्यादाकारी प्रतिबन्ध (जो कि अन्तरिन्द्रिय कहलाता है) के अधीन कर दिया गया हूँ जो यह है कि यह संयोजन केवल कालिक संबंध के अनुसार सहजो-पलब्धव्य बनाया जा सकता है, जो संबंध यदि अत्यन्त कठोरता के साथ देखे जाएँ, तो बोधवृत्ति के संबोधों के बिलकुल बाहर की वस्तु हैं; और इसी कारण इस प्रकार की बुद्धि अपने आपको किसी ऐसी सहजोपलब्धि के संबंधों (जो कि बौद्धिक नहीं है और जो मात्र बोधवृत्ति के द्वारा प्रदत्त नहीं हो सकती) केवल वैसा ही जान सकती जैसी कि वह अपने प्रति अवभासित होती है, किन्तु वैसा नहीं जान सकती जैसा तब जानती जब उसकी सहजोपलब्धि बौद्धिक होती ।

§ २२

अनुभव के अन्तर्गत बोधवृति के शुद्ध संबोध के सर्वंश: संभव विनियोग का इन्द्रियातीत निगमन

प्रकारों के तात्विक निगमन में प्रकारों के प्रागनुभवात्मक उद्गम को, विचार के सामान्य तार्किक व्यापारों के साथ उनके पूर्ण ऐकमत्य के द्वारा सिद्ध कर दिया गया है; परन्तु इन्द्रियातीत निगमन में हमने सामान्यतया किसी सहजोलब्धि के विषयों के प्रागनुभवात्मक ज्ञान के प्रकार के रूप में उनकी संभावना को प्रदर्शित कर दिया है (तुलना कीजिए § २० और § २१ के साथ) । अब हमको उन विषयों को प्रकारों द्वारा प्रागनुभवात्मकतया जानने की संभावना को स्पष्टतया समझाना है, जो विषय अपने आपको हमारी इन्द्रियों के प्रति उपस्थित करते हैं, एवं यह स्पष्टीकरण उनकी सहजो-पलब्धि के संबंध में सचमुच नहीं करना है, प्रत्युत उनके संयोजन के नियमों के संबंध में करना है और इसी कारण मानों प्रकृति के लिये नियमों को प्रविहित करने के और प्रकृति तक को संभव बनाने के संबंध में करना है। क्योंकि इसके बिना उनकी यह उप-योगिता कि प्रत्येक वह वस्तु जो हमारी इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित की जा सकती है, उन नियमों के अधीन होनी चाहिये जिनका उद्गम प्रागनुभवात्मकतया बोधवृत्ति है, स्पष्टतया नहीं समझाई जा सकती ।

सबसे पहले मैं इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि अवधारण के संश्ले-षण से मैं आनुभविक सहजोपलब्धि में प्रस्तुत बहुविधता के उस संयोजन को समझता हूँ, जिसके द्वारा प्रत्यक्ष यानी (अवभास रूप में) सहजोपलब्धि की आनुभविक चेतना संभव (होती) है ।

देश और काल की प्रत्युपस्थापनाओं में हमको बाह्य और आन्तर ऐन्द्रिक सहजोपलब्धि के आकार उपलब्ध हैं; और अवभासों की विविधरूपता के अवधारण का संश्लेषण सर्वदा इनके समनुरूप होना चाहिये, क्योंकि ऐसा केवल इसी आकार के अनुसार घटित हो सकता है। परन्तु देश और काल प्रागनुभवात्मकतया केवल ऐन्द्रिक सहजोपलब्धि के आकार के रूप में ही प्रत्युपस्थापित नहीं होते, प्रत्युत स्वतः अपनी विविधरूपता की एकता की निर्धारणा के सहित प्रत्युपस्थापित होते हैं और इसी कारण इस विविधरूपता की एकता की निर्धारणा के सहित प्रत्युपस्थापित होते हैं (दे० अनुभवातीत संवे. ज्ञा [कां.])। इसलिये विविधरूपता के संश्लेषण की एकता, चाहे हमारे बाहर हो या भीतर, और परिणामतः एक संयोजन भी, जिसके अनुरूप प्रत्येक ऐसी वस्तु को होना चाहिये, जो देश या काल में निर्धारित हुई जैसी प्रत्युपस्थापित की जानी है,—समस्त अवबोध के संश्लेषण की शर्त के रूप में इन सहजोपलब्धियों में तो नहीं पर इनके साथ प्रागनुभवात्मकतया प्रदान की जाती है। यह सांश्लेषिक एकता प्रकारों के अनुसार मौलिक चेतना में प्रदत्त किसी सामान्य सहजोपलब्धि के संयोजन (जहाँ तक कि यह संयोजन हमारी ऐन्द्रिक सहजोपलब्धि के प्रति प्रयुक्त होता है) की एकता से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती। परिणामतः समस्त संश्लेषण, यहाँ तक कि वह संश्लेषण भी जो कि प्रत्यक्ष को संभव कर देता है प्रकारों के अधीन है; और क्योंकि अनुभव सुश्रृंखलित प्रत्यक्षों के द्वारा प्राप्त ज्ञान है, अतः प्रकार अनुभव की संभावना की शर्तें हैं और इसी कारण अनुभव के समस्त विषयों के प्रति सत्य या तर्क सिद्ध हैं।

* * *

कां. विषय के रूप में प्रत्युपस्थापित (जैसा कि भूमितिशास्त्र में करना अपेक्षित होता है) देश अपने में केवल सहजोपलब्धि के आकार की अपेक्षा कुछ अधिक धारण किये रहना, उसमें सहजोपलब्धि प्रत्युपस्थापना में, इन्द्रियसंवेदना के आकार के अनुसार प्रदत्त विविधरूपता का संयोजन भी रहता है जिससे सहजोपलब्धि का आकार केवल विविधरूप और औपचारिक सहजोपलब्धि प्रत्युपस्थापना की एकता प्रदान करती है। संवेदनज्ञान के खंड में मैंने इस एकता को जो केवल इन्द्रिय संवेना से संबद्ध वर्णन किया था सो केवल इस तथ्य पर बल देने के लिए किया गया था कि यह किसी भी (= सभी) संबोधों की पूर्वगामिनी है, यद्यपि वास्तविक तथ्य यह है कि यह एक ऐसे संश्लेषण की पूर्वकल्पना प्रदान करती है जिसका संबंध इन्द्रियों से नहीं है पर जिसके देश और काल और काल के समस्त संबोध सर्वप्रथम संभव होते हैं। ऐसा इसलिये है क्योंकि इसके द्वारा [इसलिये कि बोधवृत्ति इन्द्रियसंवेद्यता नियंत्रण (= निर्धारण) करती है] देश और काल पहले पहल सहजोपलब्धि में प्रदत्त होते हैं, अतः इस प्रागनुभवात्मक सहजोपलब्धि की एकता देश और काल से संबद्ध होती है न कि बोधवृति के संबोध से (§ २४ से तुलना कीजिए)।

अतएव जब उदाहरण के लिए मैं अवबोधन के द्वारा एक घर के विविधरूप की आनुभविक सहजोपलब्धि को प्रत्यक्ष में परिणत करता हूँ, तो सामान्यतः देश और बाह्य सहजोपलब्धि की अनिवार्य एकता मेरे अवबोधन के आधार में निहित रहती है, और तब मानों मैं देश में विविधरूपता की इस सांश्लेषिक एकता के अनुरूप घर का रेखाचित्र खींचता हूँ। परन्तु यदि मैं देश के आकार से अपहार करूँ, तो इसी सांश्लेषिक का स्थान बोधवृत्ति में होता है, और तब यह समान्यरूपेण सहजोपलब्धि में सजातियों के संश्लेषण का प्रकार या कोटि हो जाती है, अर्थात् मात्रा का प्रकार या कोटि हो जाती है, और इसलिये अवबोधन के संश्लेषण अर्थात् प्रत्यक्ष को पूर्णतया इस प्रकार के समनुरूप होना चाहिये। [कां.]

एक दूसरे उदाहरण में जब मैं जल के जमने को देखता हूँ, तो मैं दो अवस्थाओं द्रव और कठोर अवस्थाओं को ग्रहण करता हूँ, और इन दोनों को भी परस्पर कालगत संबंध में स्थित देखता हूँ। परन्तु काल में, जिसको मैं आन्तरिक सहजोपलब्धि के रूप में, अवभास के मूलाधार में स्थापित करता हूँ, मैं अपने प्रति अनिवार्यतया विविधरूप की सांश्लेषिक एकता को प्रत्युपस्थापित करता हूँ, जिसके बिना काल का वह संबंध काल के पौर्वापर्य के प्रसंग में निर्धारित किसी सहजोपलब्धि में प्रदत्त नहीं हो सकता। अब यह सांश्लेषिक एकता, एक प्रागनुभवात्मक शर्त के रूप में, जिसके अधीन मैं सामान्यतया सहजोपलब्धि के विविधरूप को संयोजित करता हूँ––यदि मैं अपनी आन्तरिक सहजोपलब्धि के स्थिर आकार अर्थात् काल से अपहार करूँ––कारण का प्रकार है, जिसके द्वारा, जब मैं इसको अपनी इन्द्रियसंवेद्यता के प्रति प्रयुक्त करता हूँ, तो मैं उस प्रत्येक वस्तु को सामान्यतः काल में निर्धारित कर देता हूँ जो इसके द्वारा नियुक्त संबंध के अनुसार घटित होती है। इस प्रकार ऐसी घटना का मेरा अवधारण (या अवबोधन) अतएव स्वयं वह घटना भी, (एक संभव प्रत्यक्ष के रूप विचारे जाने पर) कार्यों और कारणों के संबंध के संबोध के अधीन रहते हैं, और ऐसा ही अन्य सब प्रसंगों के संबंध में भी होता है।

*   *   *

विचार के प्रकार ऐसे संबोध हैं जो प्रागनुभवात्मकतया अवभासों के प्रति, और

कां. इस प्रकार यह सिद्ध किया गया कि अवबोधन का संश्लेषण, जो कि आनुभविक है, अनिवार्यतया स्वोपलब्धि के संश्लेषण के समनुरूप होना चाहिये, जो (= स्वोपलब्धि का संश्लेषण) बौद्धिक है, और पूर्णरूपेण प्रागनुभवात्मकतया प्रकार में अन्तर्विष्ट है। यह वही एक और अपृथक् स्वतःस्फूर्ति है जो एक प्रसंग में कल्पनाशक्ति के नाम से और दूसरे में बोधवृत्ति के नाम से सहजोपलब्धि के विविधरूप में संयोजन को संघटित करती है।

इसीलिए प्रकृति के प्रति जो कि समस्त अवभासों की समष्टि है, नियमों का निर्देश करते हैं। इसलिये अब यह प्रश्न उठता है कि जब वे प्रकार प्रकृति से व्युत्पादित नहीं होते और न अपने को उसके नमूने पर ढालते हैं (क्योंकि अन्यथा तो वे नितान्त अनुभवाश्रित हो जाएँगे), तो यह बात कैसे विचारक्षम हो सकती है कि प्रकृति को अपने को उनके अनुसार व्यवस्थित करना चाहिये, अर्थात् प्रकार प्रकृति से व्युत्पादित न होने पर भी, प्रकृति के विविधरूप के संयोजन को प्रागनुभवात्मकतया किस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं। इस पहेली का समाधान यह है :—

यह तथ्य कि प्रकृति में स्थित अवभासों के नियम बोधवृत्ति और उसके प्रागनुभवात्मक आकार के साथ संगत होने चाहिये, अर्थात् इसकी सामान्यरूपेण विविधरूपों को संयोजित करने की शक्ति के साथ संगत होने चाहिये, इस तथ्य की अपेक्षा अधिक अनोखा नहीं है कि अवभासों को स्वयं प्रागनुभवात्मक ऐन्द्रिक सहजोपलब्धि के साथ संगत होना चाहिये। क्योंकि नियम अवभासों में उतने ही कम सत्ता प्राप्त रहते हैं, प्रत्युत केवल उस विषयी की अपेक्षा सत्तावान् होते हैं, जिससे (जहाँ तक वह बोधवृत्ति से समन्वित होता है) अवभास संबद्ध होते हैं, जितने अवभास स्वयं स्वतःसत्तावान् नहीं होते, प्रत्युत उस विषयी की अपेक्षा सत्तावान् होते हैं जिसमें (जहाँ तक वह इन्द्रियों से समन्वित होता है) वे अवभास अन्तःस्थित होते हैं। स्वरूपतः सत् वस्तुएँ तो उनको जानने वाली किसी बोधवृत्ति से पृथक्तया, अपने निजी नियमों के अनुरूप होती हैं परन्तु अवभास उन वस्तुओं की प्रत्युपस्थापनाएँमात्र हैं जो अपने स्वतःसत्ताक रूप की दृष्टि से अज्ञात हैं। प्रत्युपस्थापना मात्र रूप में वे उन नियमों को छोड़ कर जिनका निर्देश संयोजक वृत्ति करती है अन्य किन्हीं संयोजन नियमों के अधीन नहीं रहती। अब जो शक्ति ऐन्द्रिक सहजोपलब्धि के विविधरूप को संयोजित करती है वह कल्पना की शक्ति है; और वह कल्पनाशक्ति अपने बौद्धिक संश्लेषण की एकता के लिये बोधवृत्ति पर और अवबोधन की विविधरूपता के लिये इन्द्रिय संवेद्यता पर निर्भर करती है। इस प्रकार समस्त संभव प्रत्यक्ष अवबोधन के संश्लेषण का आश्रित है, और यह आनुभविक संश्लेषण पर्यायशः अनुभवातीत संश्लेषण पर निर्भर करता है और इसलिये प्रकारों पर निर्भर है। परिणामतः सभी संभव प्रत्यक्ष, और इसीलिये प्रत्येक वह वस्तु जो आनुभविक चेतना को सम्प्राप्त हो सकती है, अर्थात् प्रकृति के समस्त अवभास, अपने संयोजन के अनुसार प्रकारों के अधीनस्थ होने चाहिये, जिन प्रकारों के ऊपर उनको विधान के प्रति प्रकृति की अनिवार्य अनुरूपता का मौलिक आधार मानकर प्रकृति सामान्य प्रकृति के रूप में निर्भर रहती है। देश और काल में अवभासों की वैधी व्यवस्था के रूप में सामान्य प्रकृति जिन विधानों के ऊपर आश्रित रहती है, शुद्ध

बोधवृत्ति केवल प्रकारों के द्वारा उन विधानों के परे अवभासों के प्रति अन्य प्रागनुभवात्मक विधान नियुक्त करने में असमर्थ है। विशिष्ट विधान (क्योंकि उनका वास्ता उन अवभासों से होता है जो आनुभविकतया निर्धारित होते हैं) पूर्णतया उन प्रकारों से व्युत्पादित नहीं हो सकते, यद्यपि वे सब के सब होते उन्हीं के आधीन हैं। इन विशेष विधानों के संबंध सामान्यरूपेण कुछ भी जानने के लिये अनुभव का आश्रय लेना पड़ता है; पर अनुभव सामान्य के संबंध में, और अनुभव के किसी विषय में जो कुछ जाना जा सकता है उसके संबंध में हमको केवल प्रागनुभवात्मक नियम ही शिक्षा प्रदान कर सकते हैं।

§ २३

बोधवृत्ति के संबोधों के इस निगमन का परिणाम

प्रकारों के बिना हम किसी विषय का विचार नहीं कर सकते; इन संबोधों के समनुरूप सहजोपलब्धियों के बिना हम इस प्रकार विचारित किसी विषय को नहीं जान सकते। अब हमारी समस्त सहजोपलब्धियाँ इन्द्रियसंवेद्य हैं और यह ज्ञान, जहाँ तक कि उसका विषय प्रदत्त होता है, आनुभविक है। पर दृष्ट ज्ञान ही तो अनुभव है। परिणामतः संभव अनुभव के विषयों को छोड़ कर अन्य किसी के संबंध में प्रागनुभवात्मक ज्ञान नहीं हो सकता।[कां.]

परन्तु यद्यपि यह ज्ञान, मात्र अनुभव के विषयों तक परिसीमित है, तथापि इसी हेतु सामग्र्येण अनुभव से ही उधार लिया हुआ नहीं है, प्रत्युत जैसे शुद्ध सहजोपलब्धि वैसे ही बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध यह दोनों ही ज्ञान के तात्विक अंश हैं, जो प्रागनुभवात्मकतया हममें पाये जाते हैं। केवल दो मार्ग ऐसे हैं जिनके द्वारा अनुभव के साथ उसके विषयों के संबोधों के अनिवार्य समन्वय का विचार किया जा सकता है—या तो अनुभव

कां. जिससे कोई इस कथन से अत्यधिक शीघ्रता से निष्पादित होने वाले परिणाम से ठोकर न खा जाए. अतएव मैं केवल इस बात को स्मरण करा देना चाहता हुँ कि विचार क्षेत्र में प्रकार हमारी सहजोपलब्धियों की शर्तों से परिसीमित नहीं हैं, प्रत्युत उनका क्षेत्र अपरिसीम है; और केवल उसके ज्ञान के लिये जिसका हम विचार करते हैं, अर्थात् विषय के निर्धारण करने के लिये हमको सहजोपलब्धि की आवश्यकता होती है; किन्तु जहाँ, सहजोपलब्धि के अभाव में भी विषय का विचार विषयी के विवेक के योग के संबंध में अपने सच्चे और उपयोगी परिणामों से युक्त होता है, वहाँ यह जो विवेक विनियोग है यह सर्वदा विषय के निर्धारण की ओर अर्थात् ज्ञान की ओर निर्दिष्ट नहीं होगा, प्रत्युत विषयी और उसके संकल्प के निर्धारण की ओर भी प्रेरित होता है—अतएव यहाँ तो उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

इन संबोधों को संभव बनाता है, या यह संबोध अनुभव को संभव बनाते हैं। प्रथम विकल्प प्रकारों के संबंध में ठीक नहीं बैठता (और न शुद्ध ऐन्द्रिक सहजोपलब्धि के पक्ष में ही ठीक बैठता है); क्योंकि वे तो प्रागनुभवात्मक संबोध हैं अतएव अनुभव से मुक्त हैं (अतः उनके लिये आनुभविक आधार का आरोप करना एक प्रकार का द्विधा प्रजनन मानना होगा)। अतः केवल दूसरा विकल्प शेष रहता है (जो शुद्ध बुद्धि के उपजनन के संस्थान के सदृश प्रतीत होता है) अर्थात् बोधवृत्ति की ओर प्रकारों में समग्र सामान्य अनुभव की संभावना के आधार अन्तर्विष्ट रहते हैं। वे अनुभव को किस प्रकार संभव बनाते हैं; एवं अनुभव की संभावना के वे कौन से सिद्धान्त हैं, जिनको वे अवभासों में अपने विनियोग के अन्तर्गत प्रदान करते हैं, यह सब बातें "विभावना वृत्ति का अनुभवातीत विनियोग" नामक आगामी अध्याय में अधिक विस्तार के साथ प्रदर्शित की जाएँगी।

उपर्युक्त दो पृथक् मार्गों के मध्य में कोई एक तीसरे मार्ग का प्रस्ताव कर सकता है कि प्रकार न तो हमारे ज्ञान के स्वतः विचारित प्रागनुभवात्मक प्रथम तत्व या सिद्धान्त हैं, और न अनुभव से व्युत्पादित तत्व हैं, प्रत्युत वे विचार की विषयिगत ऐसी योजनाएँ हैं, जो हमारी सत्ता के आरंभ के समय से हममें आरोपित है, एवं हमारे स्रष्टा के द्वारा इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि उनका विनियोग प्रकृति के उन विधानों के साथ पूर्णतया संगत है जिनके अनुसार अनुभव प्रगमन किया करता है। जिस निर्दिष्ट मध्यमार्ग के विरुद्ध एक आपत्ति यह है कि इस उपकल्पना के अनुसार भावी विभावनाओं के प्रति पूर्व निर्धारित योजना की धारणा कितनी दूर तक पहुँचेगी, इसके लिये कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। निश्चित आपत्ति यह है कि ऐसी अवस्था में प्रकारों की अनिवार्यता की, (जो कि उनके संबोधों का महत्त्वपूर्ण सार तत्व) बलि देनी होगी। उदाहरण के लिये कारण का संबोध जो कि, पूर्वकल्पित अवस्था में किसी घटना के घटने की अनिवार्यता को अभिव्यक्त करता है, यदि केवल किसी ऐसी यादृच्छिक विषयिगत अनिवार्यता पर आश्रित हो जो कार्य कारण भाव के नियम के अनुसार किन्हीं आनुभविक प्रत्युपस्थापनाओं को संयोजित करने वाली हो और हममें आरोपित हो, तो वह वितथ हो जाएगा। तब मैं यह नहीं कह सकूँगा कि कार्य कारण के साथ अनिवार्यतया आबद्ध है, प्रत्युत केवल यही कह सकूँगा कि मैं स्वयं ऐसे ढंग से निर्मित हुआ हूँ कि मैं इस प्रत्युपस्थापना को इस प्रकार संबद्ध होने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से सोच ही नहीं सकता। और यह ठीक वही बात है जिसकी संदेहवादी सब से अधिक इच्छा करता है; क्योंकि ऐसी अवस्था में (हमारी विभावनाओं की कल्पित वैषयिक प्रामाणिकता पर आश्रित) हमारी समग्र अन्तर्दृष्टि केवलमात्र छल के अतिरिक्त

कुछ नहीं है और ऐसे लोगों की भी कमी नहीं होगी जो इस विषयिगत अनिवार्यता को (जो अनिवार्यता केवल अनुभव ही की जाती है) अंगीकार करना स्वीकार नहीं करेंगे। हर स्थिति में किसी मनुष्य के साथ उस विषय को लेकर विवाद नहीं किया जा सकता, जो केवल उसकी अपनी संघटना के प्रकार पर निर्भर है।

इस निगमन की संक्षिप्त रूपरेखा

यह निगमन बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों का विवरण है, और इसके साथ ही साथ, अनुभव की संभावना के सिद्धान्तों के रूप में समस्त विचारात्मक प्रागनुभवात्मक ज्ञान का भी विवरण है——यहाँ पर सिद्धान्त का आशय सामान्यरूपेण देश और काल में अवभासों का निर्धारण माना गया है और अन्ततः यह निर्धारण, देश और काल के संबंध में (जो कि ऐन्द्रिक संवेदना के मौलिक आकार हैं) बोधवृत्ति के आकार के रूप में स्वोपलब्धि की मौलिक सांश्लेषिक एकता से अनुसृत होता माना गया है।

* * *

विषय के विवेचन का संख्यापूर्वक कण्डिकाओं (=पैराग्राफों) में विभाजन मैं यहीं तक आवश्यक समझता हूँ क्योंकि इस स्थान तक हमको आरंभिक तत्वों का प्रतिपादन करना था। अब हमको उनके प्रयोग विनियोग का विवरण प्रस्तुत करना है, अतएव इस प्रकार संख्या दिये बिना व्याख्या को लगातार चालू रखा जा सकता है।

अनुभवातीत वैश्लेषिकी

द्वितीय पुस्तक

आधारभूत सिद्धान्तों की वैश्लेषिकी

सामान्य तर्कशास्त्र का निर्माण एक ऐसी आधार-योजना के ऊपर निर्मित होता है, जो ज्ञान की उच्चतर वृत्तियों के साथ पूर्णतया ठीक समनुपातिनी है। यह वृत्तियाँ बोधवृत्ति, विभावनावृत्ति और बुद्धि हैं। इन मानसिक शक्तियों के (जो कि साधारणतया चलती भाषा में सामान्यतया बोधवृत्ति के नाम से अभिहित होती हैं) के व्यापार और क्रम के अनुसार तर्कशास्त्र अपने वैश्लेषिकी भाग में संबोधों, विभावनाओं और अनुमानों का विवेचन या प्रतिपादन करता हूँ।

क्योंकि यह उल्लिखित केवल औपचारिक तर्कशास्त्र ज्ञान के समस्त विषयक्षेत्र तत्वों को अपकृष्ट करता है, चाहे वह ज्ञान शुद्ध हो अथवा आनुभविक, और अपने को केवल सामान्यतया विचार के आकार, अर्थात् यौक्तिक या तार्किक ज्ञान के विचार के आकार के साथ व्यापृत करता है, अतएव यह अपने वैश्लेषिक भाग में बुद्धि की विधि को परिगृहीत कर सकता है; जिस (बुद्धि) का आकार सुव्यवस्थापित नियमों से समन्वित है, जो परिगृहीत ज्ञान के विशिष्ट स्वरूप पर ध्यान दिये बिना ही, केवल ज्ञान के व्यापार को उसके घटकांशों में विश्लिष्ट करके प्रागनुभवात्मकतया आविष्कृत किये जा सकते हैं।

क्योंकि अनुभवातीत तर्कशास्त्र एक सुनिश्चित एवं निर्धारित अन्तर्विष्ट विषय तक सीमित, अर्थात् ज्ञान के उन प्रकारों के अन्तर्विष्ट विषय तक सीमित है जो शुद्ध और प्रागनुभवात्मक हैं, अतः इस विभाग में यह साधारण तर्कशास्त्र का अनुसरण नहीं कर सकता। क्योंकि ऐसा लगता है कि बुद्धि (या विवेक) का अनुभवातीत उपयोग वैषयिकतया प्रामाणिक नहीं है, अतएव सत्य के तर्क से अर्थात् वैश्लेषिकी संबद्ध नहीं, प्रत्युत आभास के तर्क के रूप में इसके लिये वैदुष्य प्रासाद में अनुभवातीत तर्कविद्या (ट्रान्सैण्डैण्टल डाइलैक्टिक) के नाम से एक विशिष्ट स्थान अपेक्षित है।

अतएव बोधवृत्ति और विभावना दोनों अनुभवातीत तर्कशास्त्र में अपने उपयोग की विषयगत प्रामाणिक एवं सही विधि को पा लेते हैं, और इस प्रकार उसके वैश्लेषिक

भाग से संवद्ध हैं। परन्तु बुद्धि, विषयों के संबंध में किन्हीं तत्वों को प्रागनुभवात्मक-तया निर्धारित करने और इसलिये ज्ञान को संभव अनुभव की सीमा के परे तक विस्तृत करने के अपने उद्योगों में पूर्णतः यौक्तिक ही है; और इसके प्रातिभाषिक कथन उस विधान में अन्तर्भुक्त नहीं हो सकते जो वैश्लेषिकी के अन्तर्गत अभिप्रेत है।

अतएव मूलभूत सिद्धान्तों की वैश्लेषिकी केवल विभावना के लिये विधान स्वरूप होगी जो विभावना को इस बात की शिक्षा देगी कि अवभासों के प्रति बोधवृत्ति के संबोधों को, जिनमें प्रागनुभवात्मक नियमों की शर्त संनिविष्ट है, किस प्रकार उपयोग में लाया जाए। इस कारण, यद्यपि वास्तविकतया मेरा अधिकृत विषय "बोधवृत्ति के सिद्धान्त" है, तथापि मैं "विभावना का तत्व" इस नाम का उपयोग करूँगा, क्योंकि यह हमारे अध्यवसाय को अधिक यथार्थता के साथ अभिव्यक्त करता है।

विषय प्रवेश

अनुभवातीत विभावनावृत्ति का सामान्य निरूपण

यदि सामान्य बोधवृत्ति को नियमों की वृत्ति समझा जाए, तो विभावनावृत्ति नियमों के अधीन करने की शक्ति, अर्थात् इस बात का विवेक करने की शक्ति होगी कि कोई वस्तु किसी दिए हुए नियम के अधीन है या नहीं। साधारण तर्कशास्त्र में न तो विभावनावृत्ति के लिये कोई नियम होते हैं, और न हो ही सकते हैं। क्योंकि साधारण तर्कशास्त्र समग्र ज्ञानमत विषय से तत्वापहार करता है, अतएव इसके लिये, संबोधों, विभावनाओं और अनुमानों के रूप में अभिव्यक्त ज्ञान के आकारों की विश्लेषणात्मक व्याख्या देने और इसके द्वारा बोधवृत्ति के उपयोग के औपचारिक नियम प्राप्त करने को छोड़ और कोई कार्य शेष नहीं रह जाता। यदि यह तर्कशास्त्र सामान्यतया यह निर्देश करना चाहे कि इन नियमों के अधिकार में किसी वस्तु को कैसे लाया जाए, अर्थात् यह भेद करना चाहे कि कोई वस्तु उन नियमों के अधिकार के अन्तर्गत आती है या नहीं, तो ऐसा भी किसी नियम के द्वारा ही हो सकता है, नियम के बिना नहीं हो सकता। और यह भी पर्यायशः, क्योंकि यह एक नियम है, नये सिरे से विभावना-वृत्ति से निर्देश पाने की माँग करता है, और इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि यह सत्य है कि बोधवृत्ति नियमों के द्वारा सुशिक्षित और सुसंभृत होने की क्षमता रखती है, किन्तु विभावनावृत्ति एक विलक्षण प्रतिभा है, जो कतई नहीं सिखायी जा सकती प्रत्युत जिसका अभ्यास किया जा सकता है। यह तथाकथित सहजबुद्धि का विशिष्ट गुण है, जिसके अभाव की पूर्ति कोई विद्यालय नहीं कर सकता; क्योंकि यद्यपि दूसरों की अन्तर्दृष्टि से उधार लिये हुए नियमों की प्रचुर संख्या किसी सीमित बोधवृत्ति

को प्रदान किया जाए, अथवा मानों उसके ऊपर कलम की तरह आरोपित कर दिया जाए, तथापि उनको ठीक प्रकार से उपयोग करने की क्षमता तो स्वयं सीखने वालों में ही पाई जानी चाहिये। और इस प्रकार की प्राकृतिक देन के अभाव में, कोई भी नियम जो उसके प्रयोक्ता के लिये निर्धारित किया जाए, ऐसा नहीं हो सकता जो नियमों के दुरुपयोग को बचा सके।[कां.] किसी वैद्य, न्यायाधीश, अथवा शासक के मस्तिष्क में बहुत से अत्यन्त उत्तम रोगसंबंधी, न्यायसंबंधी और नीतिसंबंधी नियमों का भंडार हो सकता है, यहाँ तक कि वह उनका गहरगंभीर शिक्षक तक बन जा सकता है, किन्तु इतने पर भी उनका उपयोग करने में बड़ी सरलता से ठोकर खा सकता है; और ऐसा या तो इस कारण से होता है कि उसमें सहज विभावना शक्ति की (न कि बोधवृत्ति) की कमी है, और वह सामान्य सिद्धान्तों को भावरूप में भली भाँति तो जानता है पर यह विवेक नहीं कर सकता कि व्यवहार में कोई प्रसंग अमुक नियम के प्रयोग के अधिकार में आता है या नहीं, अथवा ठोकर लगने का कारण यह हो सकता है कि उसकी विभावना शक्ति उदाहरणों और वास्तविक व्यवहार के द्वारा पर्याप्तरूपेण परिनिष्ठित नहीं हुई है। यह भी उदाहरणों का एक अनोखा और महान् लाभ है कि वे विभावना-शक्ति को तीक्ष्ण कर देते हैं। परन्तु जहाँ तक बोधवृत्ति की शुद्धता और सम्यक्त्व का संबंध है, वे सामान्यतया इनको कुछ दूषित या दुर्बल कर दिया करते हैं। क्योंकि नियमों की शर्तों को तो वे बहुत कम पर्याप्तरूपेण पूरा कर पाते हैं, और इसके अतिरिक्त वे प्रायः बोधवृत्ति के उस प्रयत्न को दुर्बल कर डालते हैं जो अनुभव की विशेष परिस्थितियों पर अवलम्बित न रह कर नियमों को उनकी सर्वव्यापकता में ग्रहण करने के लिए अपेक्षित होता है, और इस प्रकार हमको नियमों को गुर के रूप में, न कि सिद्धान्त के रूप में, प्रयोग करने का अभ्यस्त बना देते हैं। इस तरह उदाहरण विभावना शक्ति के लिये बच्चों को चलना सिखाने वाली गाड़ी के समान हैं, जिनको वे व्यक्ति जो कि सहज (विभावना शक्ति की) देन से रहित हैं कदापि नहीं छोड़ सकते।

कां. विभावना शक्ति की त्रुटि (या कमी) ही ठीक वह (अवस्था) है जिसको बुद्धूपन कहा जाता है और इस प्रकार के अभाव का कोई उपचार नहीं है। मन्द और सकुञ्चित मस्तिष्क वाला व्यक्ति, जिसके पास बोधवृत्ति की समुचित मात्रा और तदुपयुक्त संबोधों के सिवा और कोई कमी नहीं है, अध्ययन के द्वारा इतना शिक्षित किया जा सकता है कि वह बहुश्रुत (=बहुवधीत) बन जाए। परन्तु क्योंकि तब भी (ऐसे व्यक्तियों में) बहुधा विभावना शक्ति का अभाव (सेकुन्दुम् पेत्री) पाया जाता है, अतः ऐसे अत्यन्त बहुश्रुत महानुभावों के बहुधा दर्शन होना (कोई विरल घटना नहीं है) जो अपने ज्ञानविज्ञान के प्रयोग में इस (विभावना शक्ति के) अभाव को प्रदर्शित कर बैठते हैं, जिस अभाव की पूर्ति कभी नहीं की जा सकती।

परन्तु यद्यपि सामान्य तर्कशास्त्र बोधवृत्ति के लिये कोई निर्देश प्रदान नहीं कर सकता, तथापि अनुभवातीत तर्कशास्त्र के प्रसंग में स्थिति बिलकुल दूसरी ही है, जिससे ऐसा लगता है कि इस तर्कशास्त्र का विशिष्ट व्यापार, शुद्ध बोधवृत्ति के उपयोग में निर्धारित नियमों के द्वारा विभावना को संशोधित और सुरक्षित बनाना है। क्योंकि, शुद्ध प्रागनुभवात्मक ज्ञान के क्षेत्र में बोधवृत्ति के मण्डल को विस्तार करने में, अर्थात् मतवाद के रूप में दर्शनशास्त्र किञ्चिन्मात्र भी आवश्यक नहीं है, अथवा यह कहना चाहिये कि यह कार्य बहुत अधिक दुरुपयुक्त है क्योंकि इसके द्वारा आज तक किये गये समस्त प्रयत्नों के हो जाने पर भी बहुत थोड़ा अथवा बिलकुल नहीं के बराबर प्रदेश विजित हो पाया है परन्तु इसके विपरीत, थोड़े से बोधवृत्ति के जो संबोध हमको उपलब्ध हैं, उनके उपयोग में विभावना की गल्तियों से छुटकारा पाने के लिये मीमांसा के रूप में दर्शनशास्त्र का, यद्यपि इससे होने वाले लाभ केवल निषेधात्मक ही होंगे, उसकी समग्र कुशाग्रता और परीक्षणकला कुशलता के साथ आह्वान किया जाएगा।

किन्तु अनुभवातीत-तत्वदर्शन की यह विलक्षता है कि उस नियम (अथवा नियमों की सर्वव्यापी शर्त) के अतिरिक्त जो कि बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध में दिया हुआ है, वह प्रागनुभवात्मकतया उस प्रसंग का भी निर्देश कर सकता है, जिसमें उस (नियम) का प्रयोग होना चाहिये। इस विषय में, गणितशास्त्र को छोड़कर, इसको अन्य सब शैक्षणिक विज्ञानों की अपेक्षा जो सुविधा प्राप्त है, उसका कारण यह है कि इसका उन संबोधों से वास्ता है जिनको विषयों के साथ प्रागनुभवात्मक संबंध रखना पड़ता है, और जिनकी वैषयिक प्रामाणिकता पश्चादनुभवात्मकतया प्रदर्शित नहीं की जा सकती क्योंकि इसका अर्थ उनकी विलक्षण प्रतिष्ठा को पूर्णतया अछूता छोड़ देना होगा,; प्रत्युत उसको सर्वव्यापी किन्तु पर्याप्त चिन्हों के द्वारा उन शर्तों का विधान करना पड़ेगा, जिनके अधीन विषय संबोधों के सुसंगततया प्रदत्त हो सके। अन्यथा संबोध समस्त अन्तर्विष्ट विषयों से शून्य, अतएव मात्र यौक्तिक आकार बन जाएँगे, बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध नहीं होंगे।

विभावनावृत्ति के इस अनुभवातीत तत्वाम्नाय में दो भाग होंगे, प्रथम में उस ऐन्द्रिक प्रतिबन्ध का प्रतिपादन होगा केवल जिसके अधीन बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों का उपयोग हो सकता है, अर्थात् शुद्ध बोधवृत्ति के आकारायण का प्रतिपादन किया जाएगा, दूसरा विभाग उन सांश्लेषिक विभावनाओं का प्रतिपादन करेगा जो इन शर्तों के अधीन बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों से प्रागनुभवात्मकतया निःसृत होती हैं, तथा जो प्रागनुभवात्मकतया ज्ञान के अन्य सब प्रकारों के मूलाधार में स्थित रहती हैं—दूसरे

शब्दों में द्वितीय भाग शुद्ध बोधवृत्ति के आधारभूत तत्वों या सिद्धान्तों का प्रतिपादन करेगा।

विभावना शक्ति का लोकातीत तत्वाम्नाय

(अथवा आधारभूत सिद्धान्तों का विश्लेषण)

प्रथम अध्याय

बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों का आकारायण

किसी विषय के किसी संबोध के समस्त अधीनीकरणों में, विषय की प्रत्युपस्थापना को संबोध का सजातीय होना चाहिये; अर्थात् संबोध में कुछ ऐसी चीज होनी चाहिये, जो उस विषय में प्रत्युपस्थापित हो जिस विषय को संबोध के अधीन करना है; क्योंकि यह जो वाक्यांश है कि "कोई विषय एक संबोध के अन्तर्गत अन्तर्विष्ट है" इसका अर्थ यही होता है। इस प्रकार तश्तरी का आनुभविक संबोध वृत्त के शुद्ध भूमितिशास्त्रात्मक संबोध के साथ सजातीय है, क्योंकि जिस गोलाई का वृत्त में विचार किया जाता है, तश्तरी में उसी की सहजोपलब्धि होती है।

परन्तु बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध आनुभविक सहजोपलब्धियों से तथा वास्तव में सभी ऐन्द्रिक सहजोपलब्धियों से, नितान्त इतर जातीय होने के कारण, किसी भी सहजोपलब्धि में नहीं पाये जा सकते। तब ऐसी दशा में ऐन्द्रिक सहजोपलब्धियों का शुद्ध संबोधों के अधीन होना, प्रकार का अवभासों के प्रति लागू होना कैसे संभव है, जब कि कोई भी व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि, उदाहरण के लिये, कार्य कारण प्रकार का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो सकता है और वह अवभास में अन्तर्विष्ट है। वास्तव में इस स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न के कारण ही विभावना का इन्द्रियातीत तत्वाम्नाय की आवश्यकता पड़ती है, ताकि यह दिखलाया जा सके कि बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध अवभासों के प्रति किस प्रकार लागू हो सकते हैं। अन्य सब विज्ञानों में, जिनमें वे संबोध जिनके द्वारा विषयों का सामान्यरूपेण विचार किया जाता है, उनसे (जो उसको जैसा वह दिया हुआ है मूर्तरूप में प्रत्युपस्थापित करते हैं) उतने अधिक इतर जातीय अथवा भिन्न नहीं होते, संबोधों के अवभासों के प्रति या लागू होने के संबंध में कोई विशेष विवेचना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अब यह स्पष्ट है कि कोई तीसरी वस्तु अवश्यमेव ऐसी होनी चाहिये, जो एक ओर प्रकार और दूसरी ओर अवभास के साथ सजातीय है, तथा जो इस प्रकार अवभासों के प्रति संबोधों के प्रयोग को संभव बनाती है। यह मध्यवर्तिनी प्रत्युपस्थापना शुद्ध

यानी (आनुभविकता से रहित) होनी चाहिये, किन्तु फिर भी साथ ही साथ एक दृष्टि से बौद्धिक और दूसरी दृष्टि से ऐन्द्रिक होनी चाहिये। इस प्रकार की प्रत्युपस्थापना इन्द्रियातीत आकारकल्पना है।

बोधवृत्ति के संबोध में सामान्यरूपेण विविधरूप की शुद्ध सांश्लेषिक एकता अन्तर्विष्ट रहती है। अन्तरिन्द्रिय के विविधरूप के औपचारिक प्रतिबन्ध के रूप में और इसीलिये समस्त प्रत्युपस्थापनाओं के संयोगों के औपचारिक प्रतिबन्ध के रूप में काल अपने में शुद्ध सहजोपलब्धि में प्रागनुभवात्मक विविधरूप को अन्तर्विष्ट रखता है। समय का अनुभवातीत निर्धारण प्रकार के साथ (जो इसकी एकता को घटित करता है), इस सीमा तक सजातीय है कि यह सर्वव्यापी है और प्रागनुभवात्मक नियम पर निर्भर है। पर दूसरी ओर यह अवभास के साथ इस सीमा तक सजातीय है कि प्रत्येक विविधरूप को प्रत्येक आनुभविक प्रत्युपस्थापना में काल अन्तर्विष्ट रहता है। इस प्रकार बौद्धिक प्रकार का अवभासों के प्रति प्रयोग, काल के इन्द्रियातीत निर्धारण के द्वारा, जो निर्धारण बोधवृत्ति के संबोधों की आकारकल्पना के रूप में अवभासों को प्रकार के अधिकार के अधीन करने में मध्यस्थता करता है, संभव हो जाता है।

बौद्धिक प्रकारों के निगमन में जो कुछ प्रदर्शित किया जा चुका है, उसके पश्चात्, मुझे विश्वास है कि कोई भी इस प्रश्न के विषय में निर्णय करने के संबंध में दुविधा में नहीं रहेगा कि बोधवृत्ति के यह शुद्ध संबोध मात्र आनुभविक प्रयोग के अथवा अनुभवातीत प्रयोग के भी काम के हैं, अर्थात् संभव अनुभव की शर्त के रूप में क्या वे प्रागनुभवात्मकतया केवल अवभासों से संबद्ध हैं, अथवा सामान्यतः वस्तुओं की संभावना की शर्तों के रूप में वे स्वरूपतः सत् वस्तुओं तक विस्तृत किये जा सकते हैं। क्योंकि हम देख चुके हैं कि यदि संबोधों के लिये या कम से कम उनके घटक तत्वों के लिये कोई विषय प्रदत्त न हों, तो संबोधों का होना नितान्त असंभव है और ऐसी अवस्था में उनका कोई अर्थ भी नहीं हो सकता; अतएव वे स्वरूपतः सत् वस्तुओं के प्रति (बिना इस प्रश्न के विचार के यह वस्तु हमको प्रदत्त हो सकती है या नहीं, और यदि हो भी सकती है तो कैसे हो सकती है) बिलकुल भी प्रयुक्त नहीं हो सकते, इसके आगे हमने यह भी प्रदर्शित कर दिया है कि वह एकमात्र प्रकार जिसके अनुसार विषय हमको प्रदत्त हो सकते हैं, हमारी इन्द्रिय संवेदना के विवर्त्त का प्रकार है, अन्ततः हमने यह प्रदर्शित कर दिया है कि शुद्ध प्रागनुभवात्मक संबोधों में, बौद्धिक प्रकारों में व्यक्त बोधवृत्ति के व्यापार के अतिरिक्त, प्रागनुभवात्मकतया संवेदनात्मकता की कतिपय औपचारिक शर्तें, अर्थात् अन्तरिन्द्रिय की शर्तें अवश्य अन्तर्विष्ट होनी चाहिये, जो शर्तें उस सर्वव्यापी शर्त को घटित करती हैं केवल जिसके अधीन (बौद्धिक) प्रकार किसी विषय के प्रति प्रयुक्त

हो सकता है। संवेदना की इस औपचारिक और शुद्ध शर्त को जिस तक बोधवृत्ति के संबोध का प्रयोग मर्यादित है, हम संबोध की आकारयोजना (स्कीमा) नाम देंगे, तथा इन आकारयोजनाओं में प्रयुक्त बोधवृत्ति की पद्धति को शुद्ध बोधवृत्ति का आकारायण नाम से अभिहित करेंगे।

आकार योजना अपने रूप में स्वतः कल्पनाशक्ति का उत्पादन है; परन्तु क्योंकि कल्पनाशक्ति किसी एक अकेली सहजोपलब्धि को लक्ष्य नहीं बनाती, प्रत्युत केवल संवेदना के निर्धारण में एकमात्र एकता को अपना लक्ष्य बनाती है, अतएव आकार योजना को बिम्ब से पृथक् करना पड़ता है। यदि पाँच बिन्दुओं को इस प्रकार परस्पर बराबर बराबर स्थापित किया जाए.... .तो मुझको 'पाँच' का बिम्ब मिल जाता है। परन्तु इसके विपरीत, यदि मैं संख्या सामान्य का चिन्तन करूँ, चाहे वह पाँच हो अथवा सौ, तो यह चिन्तन स्वयं बिम्ब की अपेक्षा किसी रीति की प्रत्युपस्थापना ही अधिक है, जिसके द्वारा कोई बहुलता––उदाहरणार्थ एक हज़ार––किसी विशिष्ट संबोध की अनुरूपता के साथ एक बिम्ब में प्रत्युपस्थापित की जा सकती है; जिस बिम्ब को इस एक हज़ार के प्रसंग में मैं मुश्किल से अधीक्षित और संबोध के साथ उपमित कर पाता। किसी संबोध के लिये बिम्ब प्रदान करने के हेतु कल्पनाशक्ति की सर्वव्यापी रीति की इस प्रत्युपस्थापना को मैं इस संबोध की आकार योजना कहता हूँ।

वास्तव में जो वस्तु हमारे शुद्ध संवेदनात्मक संबोधों के मूल में अधिष्ठित होती है, वह आकार योजना है, विषयों के बिम्ब नहीं हैं। त्रिभुज सामान्य के संबोध के लिये कोई भी बिम्ब पर्याप्त नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि यह संबोध की उस सर्वव्यापकता को कदापि भी प्राप्त नहीं कर सकेगा, जो उस (संबोध) को सब त्रिकोणों के संबंध में, चाहें वे समकोण, अधिककोण अथवा न्यूनकोण त्रिकोण हों–– प्रामाणिक बना देती है; यह (बिम्ब) तो सर्वदा इस क्षेत्र के एक भाग तक ही सीमित रहेगा। त्रिकोण की आकार योजना विचार को छोड़ अन्य कहीं नहीं रहती (अथवा, त्रिकोण की आकार योजना की सत्ता विचार को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं है), और यह देशान्तर्गत शुद्ध आकारों के संबंध में कल्पनाशक्ति के संश्लेषण के एक नियम को द्योतित करती है। अनुभव का कोई विषय अथवा उसका बिम्ब तो कभी भी आनुभविक संबोध के लिये समुपयुक्त होने की और भी कम क्षमता रखता है, प्रत्युत यह (संबोध) तो, किसी सुनिश्चित सर्वव्यापी संबोध के अनुसार, हमारी सहजोपलब्धियों के निर्धारण के लिये नियम स्वरूप कल्पनाशक्ति की आकार योजना के साथ सर्वदा अपरोक्ष संबंध में बँधा रहता है। कुत्ते का संबोध एक ऐसे नियम को सूचित करता है जिसके अनुसार मेरी कल्पना शक्ति सामान्यरूपेण एक चार पैर वाले जीव की रेखा-

कृति अंकित कर सकती है, जो किसी एक अकेली सुनिर्धारित आकृति में जो अनुभव के द्वारा मुझको प्रदान की गई है, अथवा किसी संभव बिम्ब में जिसको मैं मूर्त रूप में प्रत्युपस्थापित कर सकता हूँ, सीमाबद्ध नहीं है। अवभासों और उनके आकारमात्रों के प्रति हमारी बोधवृत्ति के प्रयोग में उस बोधवृत्ति का यह आकारायण मानवात्मा की गहराई में छिपी हुई एक कला है, जिसके सच्चे हस्तकौशल को हम प्रकृति के द्वारा कभी मुश्किल से ही उद्घाटित कर सकते हैं, और वे मुश्किल से ही कभी आँखों सामने अनावृत दिखलाई दे सकते हैं। हम केवल इतना दावे के साथ कह सकते हैं कि बिम्ब कल्पनावृत्ति की प्रत्युत्पादिका अनुभवशक्ति की उपज है, इन्द्रिय संवेद्य संबोधों की आकारयोजना, जैसी कि देश में आकृतियों की आकारयोजना होती है, शुद्ध प्रागनुभवात्मक कल्पनाशक्ति की उपज और मानों गुम्फिताक्षर (मोनोग्राम) है, जिसके द्वारा और जिसके अनुसार स्वयं बिम्ब तक पहले पहल संभव होते हैं, जो (बिम्ब) संबोध के साथ केवल आकारयोजना के द्वारा, जिसको वे सूचित करते हैं, संबद्ध हो सकते हैं, परन्तु स्वतः अपने आप में कदापि संबोध के साथ पूर्णतया सर्वांगसम नहीं होते। इसके विपरीत दूसरी ओर बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध की आकारयोजना कुछ ऐसी वस्तु है, जो किसी बिम्ब के अन्तर्गत नहीं लाई जा सकती, प्रत्युत यह संबोधों के अनुसार उस एकता के नियम द्वारा निर्धारित, शुद्ध संश्लेषणमात्र है, जिस (एकता को) बौद्धिक प्रकार अभिव्यक्त करते हैं, और यह वास्तव में कल्पनाशक्ति की लोकातीत उपज है––ऐसी उपज जिसका वास्ता उस सीमा तक सब प्रत्युपस्थापनाओं के संबंध में, जहाँ तक यह प्रत्युपस्थापनाएँ स्वोपलब्धि की एकता के अनुरूप प्रागनुभवात्मकतया एक संबोध में संबद्ध की जाती हैं, अन्तरिन्द्रिय के साथ उसके आकार (=काल) की शर्त के अनुसार है।

सामान्यतः बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों की लोकातीत आकारयोजना के द्वारा जिन शर्तों की माँग की जाती है, उनके शुष्क और उकता देने वाले विश्लेषण में हमको और विलम्ब न हो, इसलिये हम अब उनकी व्याख्या बौद्धिक प्रकारों के क्रम के अनुसार एवं उन्हीं प्रकारों के संबंध में करेंगे।

बाह्येन्द्रिय के लिये समस्त परिमाणों का शुद्ध बिम्ब देश है, सामान्यरूपेण इन्द्रियों के समस्त विषयों का बिम्ब काल है। परन्तु बोधवृत्ति के संबोध के रूप में परिमाण की शुद्ध आकारयोजना संख्या है, जो एक ऐसी प्रत्युपस्थापना है, जो समांग इकाइयों के क्रमानुगत जोड़ने से बनती है। अतएव संख्या तो सामान्य समांग सहजोपलब्धि के विविधरूप के संश्लेषण की इकाई भर है, वह इकाई जो मेरे सहजोपलब्धि के अवधारण में काल के संजनन के हेतु उत्पन्न होती है।

बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध में, वास्तविकता वह है, जो सामान्यतया इन्द्रिय संवेदन के समनुरूप होती है; इसलिये यह वह है जिसका संबोध स्वतः (काल में) किसी होने को प्रदर्शित करता है; अवास्तविकता वह है जिसका संबोध (काल में) न होने को प्रत्युपस्थापित करता है। इन दोनों का विरोध एक ही काल के--भरे या खाली होने के--भेद के कारण घटित होता है। क्योंकि काल तो सहजोपलब्धि का आकारमात्र है, और इसीलिये वह अवभास रूप में विषयों का भी आकार ही है, अतएव इन (स्वरूपतः वस्तुरूप) विषयों में जो कुछ इन्द्रिय संवेदन के अनुरूप है, वह समस्त विषयों की इन्द्रियातीत सामग्री है। अब, प्रत्येक संवेदन में मात्रा या परिमाण हुआ करता है, जिसके द्वारा वह काल को (अर्थात् किसी विषय की प्रत्युपस्थापना के संबंध में अन्तरिन्द्रिय को) समधिक मात्रा में तब तक भरे रख सकता है, जब तक वह शून्य में विलीन न हो जाए। इस प्रकार यथार्थता और अभाव (अथवा सत् और असत्) के मध्य में एक संबंध और संयोग है; अथवा यह कहना अधिक अच्छा होगा कि सत् की ओर से असत् तक एक संक्रम रहता है, जो हमारे लिये प्रत्येक यथार्थता या सत् को परिमाण के रूप में प्रत्युपस्थातव्य कर देता है; और समय को व्याप्त करने वाली किसी वस्तु की मात्रा के रूप में किसी यथार्थ सत् (वस्तु) की आकारयोजना काल में ठीक उसी सन्तत और समरूप सत् (= यथार्थ) का उत्पादन है, जो उस समय जाना जाता है जब हम कुछ निश्चित मात्रा से समन्वित संवेदन से अनुक्रमिकतया उसके विलय की ओर उतरते हैं, अथवा प्रक्रमिकतया उसके निषेध (असदवस्था) से उसके कुछ परिमाण की ओर चढ़ते हैं।

द्रव्य (= मूर्तद्रव्य) की आकारयोजना काल में वास्तविक (या सत्) की नित्यता है, अर्थात् काल सामान्य के आनुभविक निर्धारण के आधार के रूप में सत् (या यथार्थ) का प्रत्युपस्थापन है, जो अन्य सब के बदलते रहने पर भी बना रहता है। काल स्वयं व्यतीत नहीं होता, परन्तु उसके अन्तर्गत परिवर्तनशील की सत्ता विलय को प्राप्त हो जाती है। अवभासों के क्षेत्र में काल, जो स्वयं अक्षणिक और नित्य-स्थायी है, के साथ जो तत्व समनुरूप है, वह है जो उस (अवभास) की सत्ता में अक्षणभंगुर है अर्थात् द्रव्य है, और केवल इस द्रव्य में ही अवभासों का अनुक्रम और सहास्तित्व काल में निर्धारित किये जा सकते हैं।

कारण की और वस्तु सामान्य की कारणता की आकारयोजना वह सत् या यथार्थ, जिसके उपरान्त, यदि उसको सत्तावान् मान लिया जाए, सर्वदा कोई दूसरी वस्तु अनुसरण (अनुवर्त्तन) करती है। अतः यह बहुविध अनुक्रम से, जहाँ तक यह अनुक्रम नियम के अधीन रहता है संस्थित होती है।

संघात अथवा पारस्परिकता की आकारयोजना, अर्थात् उपलक्षणों की दृष्टि से द्रव्यों की पारस्परिक कारणता, एक द्रव्य के निर्धारणों के साथ दूसरे के निर्धारणों का, सर्वव्यापी नियम के अनुसार सहास्तित्व है।

संभावना की आकारयोजना विभिन्न प्रत्युपस्थापनाओं के संश्लेषण का काल सामान्य की शर्तों के साथ समन्वय या ऐकमत्य है; जैसे उदाहरणार्थ विरोधी बातें एक ही समय एक ही वस्तु में संभव नहीं हो सकतीं, प्रत्युत एक दूसरे के पश्चात् हो सकती हैं; अतएव यह आकारयोजना किसी एक समय या दूसरे समय पर किसी वस्तु की प्रत्युपस्थापना का निर्धारण है।

वास्तविकता की आकारयोजना किसी सुनिर्धारित काल में सत्ता का होना है।

अनिवार्यता की आकारयोजना किसी विषय की सर्वकालिक सत्ता है।

इस सबसे ऐसा दिखलाई देता है कि प्रत्येक बौद्धिक प्रकार की आकारयोजना में केवल काल का ही कोई निर्धारण अन्तर्निविष्ट रहता है, और वह उसी को प्रत्युपस्थापना के योग्य बनाती है। परिमाण की आकारयोजना तो किसी विषय के अनुक्रमिक अवधारण में स्वयं काल का ही संजनन संश्लेषण है; गुण की आकारयोजना काल के प्रत्युपस्थापन के साथ संवेदन या प्रत्यक्ष का संश्लेषण है; अथवा यह काल का आपूरण या भरना है, संबंध की आकारयोजना, सब कालों में (कालनिर्धारण के नियम के अनुसार) प्रत्यक्षों का परस्पर संयोजन है; अन्ततः प्रकारता और उसके प्रकारों की आकारयोजना, (कोई विषय समय से सबद्ध है अथवा नहीं, यदि है तो कैसे है) इस निर्धारण के सहसंबद्ध के रूप में स्वयं काल ही है। इस प्रकार आकारयोजनाएँ नियमों के अनुसार प्रागनुभवात्मकतया काल के निर्धारणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, और बौद्धिक प्रकारों के क्रम में यह नियम समस्त संभव विषयों के प्रसंग में कालमाला (= काल श्रेणी), कालान्तर्गत विषय, कालक्रम और अन्ततः काल के सारसंग्रह से संबद्ध रहते हैं।

अतः अब यह स्पष्ट हो गया कि बोधवृत्ति की आकार योजना, कल्पनाशक्ति के इन्द्रियातीत संश्लेषण के द्वारा जो कुछ कर पाती है, वह बस केवल अन्तरिन्द्रिय में सहजोपलब्धि के समस्त विविधरूप की एकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; और इसलिये अप्रत्यक्षतया स्वोपलब्धि की एकता है जो वृत्ति या व्यापार रूप में अन्तरिन्द्रिय की ग्रहणशीलता के समनुरूप है। इस प्रकार बोधवृत्ति के शुद्धसंबोधों की आकारयोजनाएँ ही वह सच्ची और केवल शर्तें हैं जिनके द्वारा (—जिनके अधीन) यह संबोध विषयों से संबद्ध हो पाते हैं और सार्थकता से समन्वित हो जाते हैं; और इसलिये अन्त में बौद्धिक प्रकारों का आनुभविक उपयोग के अतिरिक्त अन्य कोई संभव उपयोग

नहीं है, इस कारण कि एक अनुभवनिरपेक्ष (= प्रागनुभवात्मक) अपरिहार्य एकता के आधारों के रूप में (जो एकता, एक मौलिक स्वोपलब्धि में समस्त चेतना का अनिवार्य संयोजन है) वे (बौद्धिक) प्रकार अवभासों को संश्लेषण के सर्वव्यापी नियमों के अधीन कर देने का ही काम देते हैं; और उसके द्वारा उनको एक अनुभव में सर्वतो-गमी संयोजन के लिये समुपयुक्त बना देने का काम देते हैं।

फिर हमारा समस्त ज्ञान समग्र संभव अनुभव के अन्तर में ही समाहित रहता है, और वह अनुभवातीत सत्य जो कि आनुभविक सत्य का पूर्वगामी है और उसको संभव बनाता है, संभव अनुभव के साथ अपने इस सर्वव्यापी संबद्ध में सन्निहित है।

पर यह भी प्रत्यक्ष ही है कि यद्यपि इन्द्रिय संवेदना की आकारयोजनाएँ ही सर्व-प्रथम बौद्धिक प्रकारों को कार्यान्वित वास्तविक प्रतीत कराती हैं, तथापि वे ही साथ ही साथ उनको सीमित भी कर देती हैं; अर्थात् उनको ऐसे प्रतिबन्धों की सीमा में बाँध देती हैं, जो बोधवृत्ति के बाहर स्थित हैं--(अर्थात् जो इन्द्रिय संवेदना की सीमा में स्थित हैं)। ठीक तो यह है कि आकारयोजना, बौद्धिक प्रकार के साथ संगत किसी विषय का आभास अथवा ऐन्द्रिक संबोधमात्र है। [संख्या, मात्रा आभास हैं, यथार्थ संवेदना आभास है, सनातन स्थायी वस्तुपदार्थ आभास हैं--शाश्वत, अनिवार्य (सब) आभास हैं इत्यादि, इत्यादि]। यदि हम किसी सीमित करने वाले प्रतिबन्ध को हटा देते हैं, तो ऐसा लगेगा कि हम पूर्वतः मर्यादित संबोध के गोचर-क्षेत्र को विस्तार प्रदान कर रहे हैं। इस विचार के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है: बौद्धिक प्रकारों को अपने शुद्ध अर्थ (आशय) में (इन्द्रिय संवेदना के सब प्रतिबन्धों से पृथक्) वस्तु सामान्य के प्रति उनके उसी रूप में लागू होने चाहिये जैसी वे हैं, न कि उनको, आकारयोजना-समान वैसा प्रत्युपस्थापित करना चाहिये जैसी वे अवभासित होती हैं। इस प्रकार उनको, समग्र आकारयोजनाओं (खाकों) पर अंलम्बित न रहने वाले और बहुत दूर तक वितत (विस्तीर्ण) अर्थ से समन्वित होना चाहिये। वास्तव में सब ऐन्द्रिक प्रतिबन्ध के हटा देने के उपरान्त भी, बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों में एक अर्थ शेष बच रहता है, पर यह शुद्ध तार्किक अर्थ है, जो केवल प्रत्युपस्थापनाओं की एकतामात्र को द्योतित करता है, जिन (प्रत्युपस्थापनाओं) का कोई विषय नहीं होता, अतएव उनको कोई ऐसा अर्थ भी उपलब्ध नहीं होता जो किसी विषय का संबोध प्रदान कर सकता हो। उदाहरण के लिये, 'द्रव्य', जब उससे स्थायित्व का ऐन्द्रिक निर्धारण पृथक् कर दिया जाता है, किसी ऐसी यत्किञ्चित् वस्तु को द्योतित करता है जिसका केवल उद्देश्य के रूप में चिन्तन किया जा सकता है, अन्य किसी वस्तु के विधेय के रूप में विचार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की प्रत्युपस्थापना का तो

मैं कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता क्योंकि वह मुझको उस वस्तु के स्वरूप के संबंध में कुछ भी नहीं बतलाती कि वह वस्तु जो प्रथम उद्देश्य के रूप में विचारणीय है उसका निर्धारण किस प्रकार किया जाता है। इसलिये आकारयोजना के बिना बौद्धिक प्रकार बस संबोधों के प्रति बोधवृत्ति के व्यापार (कर्म) मात्र हैं, एवं किसी विषय को प्रत्युपस्थापित नहीं करते। यह वैषयिक अर्थ या आशय वे इन्द्रियसंवेदना से प्राप्त करते हैं, जो बोधवृत्ति को मर्यादित करने की प्रक्रिया में ही उसको यथार्थता भी प्रदान करती है।

विभावना शक्ति का अनुभवातीत तत्ववाद

अथवा आधारभूत सिद्धान्तों की वैश्लेषिकी

द्वितीय अध्याय

शुद्ध बोधवृत्ति के समस्त आधारभूत सिद्धान्तों का संस्थान

पिछले अध्याय में हमने अनुभवातीत विभावना शक्ति का विचार केवल उन सर्वव्यापी प्रतिबन्धों के संबंध में किया है, जिनके अधीन रह कर ही इसका बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों का सांश्लेषिक विभावना के लिये उपयोग करना उचित ठहरता है। अब हमारा कार्य है उन विभावनाओं को, जिनको बोधवृत्ति इस समालोचनात्मक उपबन्ध के द्वारा अनुभवनिरपेक्षतया वास्तव में उपलब्ध कर लेती है, सुव्यवस्थित संयोजना में प्रदर्शित करना, जिस कार्य के लिये हमारे लिये निःसन्देहरूपेण बौद्धिक प्रकारों की तालिका को स्वाभाविक और सुरक्षा पथप्रदर्शन प्रदान करना चाहिये। क्योंकि इन बौद्धिक प्रकारों का समस्त संभव अनुभव के साथ संबंध ही वह चीज़ है जिसके द्वारा बोधवृत्ति का समस्त शुद्ध प्रागनुभवात्मक ज्ञान संविधान किया जाने को है। इसलिये इन्द्रियसंवेदना के साथ सामान्य भाव से उनका संबंध, बोधवृत्ति के उपयोग के समस्त अनुभवातीत आधारभूत सिद्धान्तों को पूर्णतया और सुव्यवस्थिततया प्रदर्शित कर देगा।

प्रागनुभवात्मक (अथवा अनुभवनिरपेक्ष) आधारभूत सिद्धान्त जो इस नाम को धारण किये हैं, वह केवल इस कारण नहीं कि उनमें अन्य विभावनाओं के आधार अन्तर्निविष्ट हैं; प्रत्युत इस कारण भी इस नाम को धारण किये हैं कि वे स्वयं उच्चतर और अधिक सर्वव्यापी ज्ञानों पर आश्रित नहीं हैं। परन्तु यह विशेष लक्षण उनको उपपत्ति के क्षेत्र के परे नहीं कर देता। क्योंकि यद्यपि यह उपपत्ति किसी वैषयिक प्रकार के अनुसार अधिक आगे प्रतिपादित नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसे सिद्धान्त

विषयों के समस्त ज्ञान के मूल में अधिक निहित रहते हैं; तथापि यह तथ्य हमको किसी भी विषय सामान्य के ज्ञान की संभावना के विषयिगत उद्गमों की ओर उपपत्ति प्रदान करने के उद्योग में बाधक नहीं होता ; सच तो यह है कि यदि इन प्रस्थापनाओं को केवल छद्म से प्राप्त हुए कथन होने के महान सन्देह का भाजन नहीं बनना है, तो इस प्रकार की उपपत्ति अनिवार्य है।

दूसरी बात यह है कि हम अपने को केवल उन सिद्धान्तों तक सीमित रखेंगे जो बौद्धिक प्रकारों के साथ संबद्ध हैं। अनुभवातीत संवेदनशास्त्र के वे सिद्धान्त जिनके अनुसार देश और काल, अवभास के रूप में समस्त वस्तुओं की संभावना की शर्तें हैं, इसी प्रकार इन आधारभूत सिद्धान्तों की मर्यादा––अर्थात् कि वे स्वरूपतः सत् वस्तुओं के प्रति लागू नहीं हो सकते––यह सब ऐसी बातें हैं जो हमारे वर्त्तमान में अधिकृत अनुसंधान की सीमा में नहीं आतीं। इसी हेतु गणित के सिद्धान्त भी इस विचार संस्थान के अंग नहीं बनते, क्योंकि वे सहजोपलब्धिमात्र से व्युत्पादित होते हैं, बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध से नहीं; फिर भी क्योंकि वे भी प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक विभावनाएँ हैं, उनकी संभावना को भी इस अध्याय में मान्यता मिलनी चाहिये, निश्चयमेव उनकी यथार्थता और स्वयंसिद्ध निश्चितता को सिद्ध करने के लिये नहीं, जिसकी उनको लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत सुस्पष्ट प्रागनुभवात्मक ज्ञान के उदाहरणों के रूप में उनकी संभावना को विचारगम्य और निगम्य बनाने के लिये उनको स्थान प्रदान किया जाना चाहिये।

हमको वैश्लेषिक विभावनाओं के आधारभूत सिद्धान्त का भी विवेचन करना पड़ेगा सांश्लेषिक विभावनाओं के विरोध में, जो (सांश्लेषिक विभावनाएँ) केवल हमारे अधिकृत विवेचन का विषय हैं, क्योंकि यह आपेक्षिक साम्मुख्य (मुकाबले) सांश्लेषिक विभावना के सिद्धान्तों को मिथ्याबोध से मुक्त कर देता है और उनको उनके विशिष्ट स्वरूप में हमारे नेत्रों के समक्ष स्पष्टतया रख देता है।

शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्तों का संस्थान

प्रथम खण्ड

हमारे ज्ञान के अन्तर्गत स्थित विषय कुछ भी हो, और वह ज्ञान अपने विषय से किसी प्रकार से संबद्ध हो, तथापि हमारी समस्त विभावनाओं की सामान्य सर्वव्यापी किन्तु केवल निषेधात्मक शर्त यह है कि वे आत्मविरोधी न हों, नहीं तो यह विभावनाएँ, विषय की ओर निर्देश किये बिना ही, स्वतः कुछ भी नहीं हैं। परन्तु यद्यपि हमारी विभावना में कोई भी आत्मविरोध न हो तथापि वह संबोधों को परस्पर

ऐसे प्रकार से संयोजित कर सकती है जो विषय से प्रमाणित न होता हो, अथवा ऐसे भी प्रकार से उनको संयोजित कर सकती है, कि प्रागनुभवात्मकतया अथवा पश्चादनुभवात्मकतया उस विभावना का औचित्य प्रतिपादन करने के लिये पर्याप्त हेतु ही उपलब्ध न हो सकते हों; और इस प्रकार सब प्रकार के आन्तरिक विरोधों से मुक्त होते हुए भी, कोई विभावना असत्य या निराधार हो सकती है।

यह प्रस्थापना कि किसी वस्तु का विरोधी या विसंवादी विधेय उससे (उसके भागधेय के रूप में) संबद्ध नहीं हो सकता, विरोध (या विसंवादिता) का सिद्धान्त कहलाता है, और सत्य की सर्वव्यापी कसौटी है (जो है अवश्य ही ऋणात्मकमात्र)। परन्तु यह केवल तर्कशास्त्र से ही सम्बन्ध रखता है, क्योंकि ज्ञान के लिये तो यह उसके अन्तर्विष्ट विषय की ओर न देखते हुए केवल ज्ञान की दृष्टि से लागू होता है, और इसका कहना है स्वविरोध (आत्मविसंवादिता) ज्ञान को पूर्णतया विनष्ट और अप्रमाणित कर देता है।

किन्तु स्वयं इसका एक विधिरूप उपयोग भी किया जा सकता है, अर्थात् असत्य और गलती को दूर करने भर के लिये ही नहीं, प्रत्युत सत्य को जानने के लिये भी इसका उपयोग किया जा सकता है। क्योंकि यदि विभावना वैश्लेषिक है, चाहे फिर वह निषेधात्मक हो या विधिरूप, तो विसंवादिता के सिद्धान्त के अनुसार इसके सत्य को सर्वदा पर्याप्तरूपेण जाना जा सकता है। क्योंकि विषय के ज्ञान में जो कुछ संबोध के रूप में अन्तर्विष्ट रहता है और विचारा जाता है, उसका विरोधी का विप्रतिशेध सर्वदा ठीक होता है, परन्तु संबोध का तो अवश्यमेव अभिपोषण ही होना चाहिये, इसलिये क्योंकि उसका विरोधी विषय का निषेध करेगा।

अतएव विरोध (या विसंवादिता) का सिद्धान्त अवश्यमेव समस्त वैश्लेषिक ज्ञान का विश्वव्यापी और पूर्णतया पर्याप्त सिद्धान्त माना जाना चाहिये, परन्तु इस से परे सत्य की पर्याप्त कसौटी के रूप में उसकी कोई प्रभुता और व्यवहारोपयोगिता नहीं है। यह तथ्य कि कोई भी ज्ञान बिना आत्मघात किए, इस सिद्धान्त का विरोध नहीं कर सकता, इस सिद्धान्त को हमारे ज्ञान के सत्य की अपरिहार्य शर्त तो भले ही बना देता है, पर उसकी निर्धारणा का आधार नहीं बनाता। परन्तु इस समय तो इस विवेचनात्मक अनुसंधान में अपने ज्ञान के केवल सांश्लेषिक खंड से ही हमारा वास्ता है, अतएव यद्यपि इस अनतिक्रमणीय सिद्धान्त का कदापि भी उल्लंघन न करने के विषय में हमको सर्वदा नितान्त सावधान अवश्य ही रहना चाहिये, तथापि सांश्लेषिक ज्ञान के सत्य के संबंध में इस सिद्धान्त से यत्किञ्चित् जानकारी प्राप्त करने की आशा कदापि नहीं की जा सकती।

पर फिर भी सब प्रकार के अन्तर्विष्ट विषय से रहित और नितान्त औपचारिक इस सुविख्यात सिद्धान्त का एक सूत्ररूप ऐसा है, जिसमें अनवधानतावश और नितान्त अनावश्यकतया संश्लेषण का सम्मिश्रण अन्तर्विष्ट हो गया है। यह सूत्ररूप यह है—'यह असंभव है कि कोई वस्तु एक साथ हो भी और न भी हो।' यहाँ असंभव शब्द के द्वारा सूचित स्वयंसिद्ध सुनिश्चितता अनावश्यकतया इस वाक्य के साथ जोड़ दी गई है, क्योंकि यह तो प्रस्थापना के स्वरूप से स्वतः ही समझी जा सकती है; इसके अतिरिक्त यह प्रस्थापना स्वयं समय के प्रतिबन्ध (शर्त) से भी प्रभावित हो गई है; मानों यह प्रस्थापना यह कहती है कि कोई वस्तु 'अ' जो 'ब' है, वह एक ही समय में 'न-ब' नहीं हो सकती; परन्तु अनुक्रमशः वह ब और न-ब दोनों ही बखूबी हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक आदमी जो कि युवा है, उसी समय बूढ़ा नहीं हो सकता, किन्तु वही मनुष्य बखूबी एक समय युवा और दूसरे समय बूढ़ा हो सकता है। पर केवल आधारभूत तार्किक सिद्धान्त के रूप में विरोध के सिद्धान्त को अपने कथनों को कालिक-संबंधों से लेशमात्र भी मर्यादित नहीं करना चाहिये, अतएव उपर्युक्त प्रकार का सूत्र-कथन इस सिद्धान्त के आशय के नितान्त प्रतिकूल है। इस भ्रान्ति के उत्पन्न होने का केवल कारण यह है कि प्रथम तो किसी वस्तु के विधेय को उसके संबोध से पृथक् कर दिया जाता है और तत्पश्चात् इस विधेय को उसके विरोधी से जोड़ दिया जाता है, जिससे उद्देश्य के साथ विरोध कदापि घटित नहीं होने देता प्रत्युत केवल विधेय के साथ होने देता है और वह उस विधेय के साथ जो कि उद्देश्य के साथ संश्लिष्टतया संबद्ध है कर दिया गया है, एवं उसके साथ भी ऐसा केवल तभी होता है जब कि दोनों विधेयों का एक ही समय कथन किया जाता है। यदि मैं कहूँ कि जो मनुष्य अकृतविद्य है वह विद्यावान् नहीं है तो इसके साथ एक ही "समय" यह शर्त अवश्यमेव जोड़ी जानी चाहिये, क्योंकि जो व्यक्ति एक समय अकृतविद्य है वह दूसरे समय बखूबी कृतविद्य (= विद्यावान्) हो सकता है। परन्तु यदि मैं यह कहूँ कि कोई अकृतविद्य (उन्गेलेर्ट्-अनलर्नेड्) विद्यावान् नहीं होता, तो यह एक वैश्लेषिक प्रस्थापना है, क्योंकि अब यह "अकृतविद्यता" रूप विलक्षणता (या चिह्न) उद्देश्य के संबोध को घटित करती है और अब "एक ही समय" इस प्रतिबन्ध को जोड़ने की आवश्यकता पड़ने के बिना ही विसंवादिता के सिद्धान्त से ही निषेधात्मक प्रस्थापना का स्वरूप अपरोक्षतया स्पष्ट हो जाता है। बस यही कारण है जिससे मैंने इसके सूत्ररूप को प्रतिपादन में परिवर्तन किया है, जिससे इसके द्वारा वैश्लेषिक प्रस्थापना का स्वरूप स्पष्टतया प्रकट किया जा सके।

शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्तों का संस्थान

द्वितीय खण्ड

समस्त सांश्लेषिक विभावनाओं के सर्वोच्च सिद्धान्त के विषय में

सांश्लेषिक विभावनाओं की संभावना का स्पष्टीकरण एक ऐसी समस्या है जिसके साथ सामान्य तर्कशास्त्र का कोई वास्ता नहीं है, यहाँ तक कि उसके लिये इसका नाम तक जानना आवश्यक नहीं है। पर अनुभवातीत तर्कशास्त्र में यह समस्त कार्यों की अपेक्षा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है, इतना ही नहीं, यदि प्रागनुभवी सांश्लेषिक विभावना की संभावना के प्रसंग में हमको उनकी प्रामाणिकता की शर्तों और विस्तार का भी विचार करना हो, तब तो यही एकमात्र उस (तर्कशास्त्र) का कार्य हो जाता है। क्योंकि इस अनुसंधान के पूर्ण होने के पश्चात् ही अनुभवातीत तर्कशास्त्र अपने लक्ष्य को अर्थात् शुद्ध बोध के आयाम और मर्यादाओं के निर्धारण को, पूर्ण सन्तोष के साथ प्रतिपादन कर सकता है।

विश्लेषणात्मक विभावना में, उससे कुछ निर्धारण करने के लिये, मैं दिये हुए संबोध से ही संसक्त रहता हूँ। यदि यह विभावना विधिरूप हो, तो मैं उस संबोध के विषय में उसी बात का विधान करता हूँ, जो कि उसके अन्तर्गत पहले से विचारा जा चुका है; यदि निषेधात्मक हो, तो मैं उसके प्रतिपक्ष का उसमें से निराकरण करता हूँ। पर सांश्लेषिक विभावनाओं में मुझको दिये हुए संबोध की सीमा से बाहर इसलिये जाना पड़ता है कि मैं कुछ ऐसी बात विचार करने के लिये उसके संबंध में ला सकूं, जो उसके अन्तर्गत विचारे गये तथ्यों से बिलकुल भिन्न हो, अतएव जो संबंध कदापि न तो तादात्म्य का संबंध हो सकता है, और न पूर्ण विसंवादिता का, तथा विभावना में स्वतः अपने में कोई बात ऐसी नहीं होती, जिससे इस संबंध के सत्यासत्य का निर्णय किया जा सके।

तो यह मान लिया कि यदि किसी दिये हुए संबोध की किसी अन्य संबोध के साथ सांश्लेषिक विधि से तुलना करने के लिये प्रथम संबोध से बाहर जाना पड़े, तो कोई एक ऐसी तीसरी वस्तु आवश्यक होगी, केवल जिसके अन्तर्गत दोनों संबोधों का संश्लेषण प्रस्फुटित हो सके। पर अब समस्त सांश्लेषिक विभावनाओं के माध्यम के रूप में यह तीसरी वस्तु क्या है? बस ऐसा सारभूत अवयवी, जिसमें हमारे समस्त प्रत्युपस्थापन अन्तर्विष्ट रहते हैं, केवल एक है जो कि हमारा अन्तःकरण और उसका प्रागनुभवात्मक आकार काल है। प्रत्युपस्थापनाओं का संश्लेषण कल्पनाशक्ति पर आश्रित है और उनकी सांश्लेषिक एकता जो कि विभावनाओं के लिये अपेक्षित होती

है, स्वोपलब्धि की एकता पर। अतएव इन्हीं तीनों अर्थात् अन्तःकरण, कल्पनाशक्ति और अन्तर्बोध में सांश्लेषिक विभावना की संभावना की खोज की जानी चाहिये, और क्योंकि तीनों में ही प्रागनुभवात्मक प्रत्युपस्थापनाओं के उद्गम अन्तर्विष्ट हैं, अतएव शुद्ध सांश्लेषिक विभावना की संभावना भी उन्हीं में से की जानी चाहिये। इतना ही नहीं, यदि विषयों का पूर्णतया प्रत्युपस्थापनाओं के संश्लेषण पर आश्रित रहने वाला ज्ञान प्राप्त करना हो तो इन उपर्युक्त कारणों से वे तीनों अनिवार्यतया आवश्यक हैं।

यदि ज्ञान की वैषयिक यथार्थता अभीष्ट हो, अर्थात् उसका विषय से संबंध होना इष्ट हो और यदि विषय के संबंध में ही उसका अर्थ और आशय होना उचित है, तो विषय को किसी न किसी प्रकार से अवश्यमेव दिया हुआ होना चाहिये। इसके बिना संबोध निर्विषय रह जाते हैं, उनके द्वारा हमने विचार किया अवश्य है, पर इस विचार के द्वारा जाना कुछ भी नहीं है; प्रत्युत प्रत्युपस्थापनाओं के साथ खेल ही किया है। कोई विषय दिया हुआ है (यदि इस वाक्यांश का आशय किसी अवान्तर प्रक्रिया की ओर संकेत करना न हो, प्रत्युत अन्तर्ज्ञान में प्रत्यक्ष उपस्थापना की ओर संकेत करना हो) तो इसका अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता कि जिस प्रत्युपस्थापना के द्वारा विषय का विचार किया जाता है, उसका संबंध वास्तविक अथवा संभव विषय से है। स्वयं देश और काल तक भी चाहे उनके संबोध समस्त आनुभविक तत्वों से कितने ही विशुद्ध क्यों न हों, और चाहे यह भी कितना निश्चित क्यों न हो कि वे मानस पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया प्रत्युपस्थापित होते हैं, तो भी यदि अनुभव के विषयों के प्रति उनके अनिवार्य उपयोग को प्रदर्शित किया न जाए, तो वे विषयगत प्रामाणिकता से रहित आशयशून्य और निरर्थक ही रहेंगे। इतना ही नहीं, उनकी प्रत्युपस्थापना तो केवल चित्राकारमात्र हैं जो सर्वदा उस प्रत्युत्पादक कल्पनाशक्ति से संबद्ध रहता है, जो अनुभव के विषयों को अकारित कर के इकट्ठा करता है, तथा जो उन विषयों के बिना किसी भी अर्थ से हीन रहेंगे। और यही बात निर्विशेषतया सब प्रकार के संबोधों के विषय में भी लागू होती है।

अतएव, जो वस्तु हमारे समस्त प्रागनुभवात्मक ज्ञानों को वैषयिक यथार्थता प्रदान करती है वह केवल अनुभव की संभावना ही है। रहा अनुभव, सो वह तो आभासों की सांश्लेषिक एकता पर आश्रित रहता है, अर्थात् सामान्यतः आभासों के विषय के संबोध के अनुसार होने वाले संश्लेषण पर आश्रित रहता है; जसके बिना वह कदापि भी ज्ञान नहीं हो सकेगा, प्रत्युत ऐसे प्रत्यक्षों की विसंगत गीतमात्र रहेगा जो किसी भी परिपूर्णतया व्यवस्थित संभव चेतना के नियमों के अनुसार किसी भी संदर्भ में

सुस्थापित नहीं हो सकेगा, और इसी लिये अन्तर्बोध की अनुभवातीत और अनिवार्य एकता के अनुरूप नहीं होगा। अतएव अपने आधार के रूप में अनुभव के अपने आकार के प्रागनुभवात्मक नियम होते हैं, अर्थात् अवभासों के संश्लेषण के अन्तर्गत जो एकता के सर्वव्यापी नियम हैं, वही उसका आधार होते हैं, इन नियमों की विषयगत यथार्थता, अनुभव की अपरिहार्य शर्त के रूप में, इतना ही नहीं, प्रत्युत अनुभव की संभावनामात्र की अनिवार्य शर्त के रूप में सर्वदा अनुभव में प्रदर्शित की जा सकती है। पर इस संबंध से परे प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक सिद्धान्त पूर्णतया असंभव हैं, क्योंकि उनमें कोई ऐसी तीसरी वस्तु नहीं होती, अर्थात् कोई ऐसा विषय नहीं होता जिसमें सांश्लेषिक एकता उनके संबोधों की विषयगत वास्तविकता को सिद्ध कर सके।

इसलिये यद्यपि हम प्रागनुभवात्मकतया ही सांश्लेषिक विभावनाओं में देश सामान्य के विषय में, अथवा उन आकृतियों के विषय में, जिनको उत्पादक कल्पना-शक्ति उसमें बनाया करती है, बहुत कुछ जानते हैं और उनके लिये वास्तव में अनुभव की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं होती; तो भी यदि देश को बाह्यानुभव के उपादान स्वरूप अवभासों की शर्त के रूप में न मानना पड़ता, तो यह सब ज्ञान भी मनोराज्य के साथ मनोविनोदनमात्र ही होता ; अतएव वे शुद्ध सांश्लेषिक विभावनाएँ, चाहे केवल परोक्षतया ही क्यों न हों, संभव अनुभव अथवा उससे भी अधिक अनुभव की संभावना से संबद्ध होती हैं, और केवल इसी तथ्य पर उनके संश्लेषण की विषयगत प्रामाणिकता आधारित होती है।

इस प्रकार, क्योंकि प्रत्यक्षदृष्ट संश्लेषण के रूप में अनुभव ही (जहाँ तक इस प्रकार के अनुभव की संभावना है), ज्ञान का एकमात्र ऐसा प्रकार है, जो अन्य सब संश्लेषों को यथार्थता प्रदान करता है, इसलिये यह (अन्य संश्लेषण) प्रागनुभवात्मक ज्ञान के रूप में केवल इस शर्त पर सत्य को अर्थात् विषय के साथ संवादिता को अपने में धारण कर सकता है कि उस में सामान्यरूपेण अनुभव की सांश्लेषिक एकता के लिये जो तत्व अनिवार्य उसको छोड़ कर और कुछ न हो।

अतएव समस्त सांश्लेषिक विभावनाओं का सर्वोच्च सिद्धान्त यह है—'प्रत्येक विषय किसी संभव अनुभव में इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विविधरूप की सांश्लेषिक एकता के अनिवार्य प्रतिबन्धों के अधीन रहता है।'

इस प्रकार प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक विभावनाएँ तभी संभव होती हैं जब कि हम प्रागनुभवात्मक अन्तर्ज्ञान की औपचारिक शर्तों, कल्पना-शक्ति के संश्लेषण, और किसी अनुभवातीत स्वोपलब्धि के अन्तर्गत इस संश्लेषण की अनिवार्य एकता को सामान्यतया किसी संभव आनुभविक ज्ञान के साथ संबद्ध करते हैं, और कहते हैं

कि सामान्य अनुभव की संभावना की शर्तें एकदम वही हैं जो कि अनुभव के विषय की संभावना की शर्तें हैं, और इसीलिये उनमें सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक विभावना में विषयगत प्रामाण्य रहा करता है ।

शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्तों का संस्थान

तृतीय खण्ड

उसी (शुद्ध बोधवृत्ति) के समस्त सांश्लेषिक आधारभूत सिद्धान्तों की सुव्यवस्थित प्रत्युपस्थापना

सामान्यरूपेण किन्हीं भी आधारभूत सिद्धान्तों का अस्तित्व है, इसका श्रेय पूर्णरूपेण शुद्ध बोधवृत्ति को दिया जाना चाहिये जो यह बोधवृत्ति केवल घटित होने वाले बातों के संबंध में नियामक वृत्ति नहीं है, प्रत्युत स्वयं उन आधारभूत सिद्धान्तों का उद्‌गम भी है, जिनके अनुसार वे सब वस्तुएँ, जो हमको केवल विषय के रूप में प्रतीत हो सकती हैं, अनिवार्यतया नियमों के अधीन रहा करती हैं, क्योंकि ऐसे नियमों के बिना अवभास कदापि भी अपने समनुरूप विषय का ज्ञान प्रदान नहीं कर सकेंगे। स्वयं प्राकृतिक नियम तक, बोधवृत्ति के आनुभविक प्रयोग के सिद्धान्तों की दृष्टि से, अपने साथ युगपत् एक अपरिहार्यता की अभिव्यञ्जना को वहन करते हैं, और इसीलिये उनमें ऐसे आधारों से जो कि प्रागनुभवात्मकतया एवं सब अनुभवों के पहले ही प्रामाणिक हैं, कम से कम एक नियंत्रण का संकेत (सुझाव) रहता है। परन्तु प्रकृति के नियम तो बिना किसी अपवाद के सब के सब, बोधवृत्ति के उच्चतर सिद्धान्तों के अधीन अवस्थित रहते हैं, और वह इस प्रकार कि वे इनका प्रयोग केवल अवभास के विशेष अवसरों पर किया करते हैं। इस प्रकार केवल यही सिद्धान्त उस संबोध को प्रदान करते हैं जिसमें सामान्यतः किसी भी नियम का प्रतिबन्ध और निदर्शक रहता है, पर अनुभव उस उदाहरण को प्रदान करता है जो नियम के अधीन अवस्थित रहता है ।

इसलिये इस बात की वास्तव में कोई आशंका नहीं हो सकती कि केवल अनुभव के आधारभूत सिद्धान्तों को शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्त या दूसरी ओर इसका उलटा मान लिया जाए, क्योंकि संबोधों की अनुगामिनी अनिवार्यता जो शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्तों को विशिष्टता प्रदान करती है, एवं जिसका अभाव प्रत्येक अनुभवाश्रित प्रस्थापना में स्पष्ट दिखलाई देता है, चाहे उस प्रस्थापना का प्रयोग कितना ही व्यापक क्यों न हो, इस गड़बड़झाले को रोकने के लिए पर्याप्त है। पर ऐसे प्रागनुभवात्मक

शुद्ध आधारभूत सिद्धान्त भी पाये जाते हैं, जिनको मैं शुद्ध बोधवृत्ति से उत्पन्न हुआ नहीं मान सकता, और वह इसलिये कि वे शुद्ध संबोधों से व्युत्पादित नहीं होते, प्रत्युत शुद्ध सहजज्ञानों से व्युत्पादित होते हैं, (यद्यपि ऐसा है बोधवृत्ति की मध्यस्थता से ही) परन्तु बोधवृत्ति संबोधों की वृत्ति है। इस प्रकार के सिद्धान्त गणितशास्त्र में पाए जाते हैं, किन्तु अनुभव के प्रति उनके प्रयोग की अर्थात् उनकी विषयगत प्रामाणिकता की समस्या, नहीं यही नहीं, इस प्रकार के सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक ज्ञान की संभावना का निगमन तक, सर्वदा शुद्ध बोधवृत्ति पर ही आश्रित रहती है।

इस कारण मैं अपने आधारभूत सिद्धान्तों के अन्तर्गत गणित के सिद्धान्तों की गणना नहीं करूँगा, फिर भी उनको अपनी गणना में अवश्य सम्मिलित करूँगा जिनके ऊपर गणित के इन सिद्धान्तों की संभावना तथा प्रागनुभवात्मक वैषयिक प्रामाणिकता आश्रित है, और जो परिणामतः सभी गणित के सिद्धान्तों की आधारभूमि माने जाने चाहिये, तथा जो संबोधों से सहज प्रत्यक्ष की ओर चलते हैं, न कि सहजप्रत्यक्षों से संबोधों की ओर।

बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों के संभव अनुभव के प्रति प्रयोग में उनके संश्लेषण का विनियोग या तो गणित संबंधी होता है या गति संबंधी; क्योंकि अंशतः उसका वास्ता सामान्यतः किसी अवभास के सहज प्रत्यक्षमात्र के साथ होता है, और अंशतः अवभास के अस्तित्व के साथ। पर सहज प्रत्यक्ष की प्रागनुभवात्मक शर्तें किसी भी संभव अनुभव के संबंध में निरपेक्षतया अनिवार्य होती हैं, दूसरी ओर किसी संभव आनुभविक सहजबोध के विषय के अस्तित्व की शर्तें स्वतः अपने संबंध में केवल यादृच्छिक हुआ करती हैं। अतएव गणित संबंधी विनियोग के सिद्धान्त निरपेक्षतया अनिवार्य अर्थात् स्वतःसिद्ध ध्वनित होंगे, दूसरी ओर गति संबंधी विनियोग के सिद्धान्त भी निश्चयमेव प्रागनुभवात्मक अनिवार्यता के लक्षण से समन्वित होंगे, किन्तु ऐसा किसी अनुभव में दृष्ट विचार के प्रतिबन्ध के अधीन ही हो सकेगा, अतएव केवल किसी की मध्यस्थता से या परोक्षतया ही हो सकेगा। परिणामतः, अनुभव के समग्र क्षेत्र में उनकी असन्दिग्ध मिश्रितता के होते हुए भी, इनमें वह अपरोक्ष साक्ष्य नहीं मिलेगा, जो उनकी विशेषता है। तथापि इस विषय में, आधारभूत सिद्धान्तों के इस संस्थान की समाप्ति पर अधिक अच्छा निर्णय किया जा सकेगा।

प्रकारों की तालिका पूर्ण स्वाभाविकतया इन सिद्धान्तों की तालिका के संबंध में मार्गदर्शिका होगी; क्योंकि यह सिद्धान्त प्रकारों के वैषयिक विनियोग के नियमों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। इस कारण शुद्ध बोधवृत्ति के समस्त सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१

सहज प्रत्यक्ष के स्वयंसिद्ध सूत्र

२

प्रत्यक्ष का पूर्वावधारण

३

अनुभवों के सादृश्य

४

सामान्य आनुभविक विचार के अपेक्षित आधार-तत्व

इन नामों को मैं ने पहले से ही विचार करके इसलिये चुना है कि जिससे इन सिद्धान्तों के साक्ष्य के तथा व्यवहार के संबंध में जो भेद हैं, वे अपरिलक्षित न रह जाएँ। पर यह बात तो अपने को शीघ्र प्रकट कर देगी कि मात्रा और गुण के प्रकारों के अनुसार (इन दोनों––मात्रा और गुण––प्रकारों का केवल औपचारिक विचार करने पर) जहाँ तक साक्ष्य और उसी के समान अवभासों के प्रागनुभवात्मक निर्धारण का संबंध है, जो सिद्धान्त इन दोनों में अन्तर्ग्रस्त हैं, वे शेष दोनों से बहुत अधिक मात्रा में भिन्न हैं; और ऐसा इसलिये है कि वे तो साहजिक सुनिश्चितता, और यह मात्र तार्किक सुनिश्चतता के योग्य है, यद्यपि हैं दोनों (अपने अपने प्रकार से) पूर्ण निश्चितता के योग्य। इसलिये मैं उनको गणित संबंधी और गति संबंधी सिद्धान्तों का नाम[कां.] दूँगा। इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिये कि मैं यहाँ पर एक ओर गणित सिद्धान्तों को उतना ही

कां. सब संयोग या तो सम्मिश्रण होता है या संबंध। इनमें से प्रथम विविधरूपों का संश्लेषण है, जिसके विभिन्न संघटक एक दूसरे से अनिवार्यतया संबद्ध नहीं हैं, जैसे उदाहरणार्थ वे दो त्रिभुज जिनमें एक वर्ग अपने कारण द्वारा विभक्त होता है एक दूसरे से अनिवार्यतया संबद्ध नहीं होते; इसी प्रकार का संश्लेषण उन सब वस्तुओं में समजातियों का भी होता है जिनका गणित की दृष्टि से विचार किया जा सकता है, [और यह संश्लेषण स्वयं संग्रहण और संगमन इन दो भागों में विभक्त हो सकता है, जिनमें प्रथम का प्रयोग आयत्तन और द्वितीय का प्रयोग घन की मात्रा के लिये हो (सकता है)]। दूसरे प्रकार का संयोग विधि रूपों का उस हद तक संश्लेषण है, जिस हद तक उसके घटक एक दूसरे से अनिवार्यतया संबद्ध हैं–उदाहरण के लिये जैसे गुण का पदार्थ से और कार्य का कारण से—अतएव यह उसका संश्लेषण है, जो यद्यपि इतरजातीय है तथापि प्रागनुभवात्मकतया संबद्ध हुआ प्रत्युपस्थापित किया जाता है। इस संबंध को, क्योंकि यह यादृच्छिक नहीं है और क्योंकि इसका वास्ता विविधरूप की सत्ता के संबंध से है इसलिये मैं 'गतिशील' नाम देता हूँ। और फिर इस प्रकार का संबंध एवं प्रागनुभवात्मक ज्ञान में अवभासों के अतिभौतिक संबंध—इन दो संबंधों में विभक्त हो सकता है)।

कम दृष्टि के सामने रख रहा हूँ, जितना दूसरी ओर सामान्य भौतिक गतिविज्ञान के सिद्धान्तों को। केवल शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्तों को दृष्टि के समक्ष रखता हूँ, क्योंकि इन्हीं के द्वारा गणित और गतिविज्ञान अपनी संभावना को प्राप्त करते हैं। इसलिये मैंने उनका नामकरण उनके विषय की दृष्टि की अपेक्षा उनके विनियोग को दृष्टि में रख कर किया है; और अब मैं उनके विषय में विचार करने के लिये उसी क्रम में अग्रसर होता हूँ जिस क्रम में वे उपर्युक्त तालिका में दिये हुए हैं।

१

सहज प्रत्यक्ष के स्वयंसिद्ध सूत्र

उनका सिद्धान्त यह है—सब सहज-प्रत्यक्ष विस्तृत परिमाण हैं

उपपत्ति

सब अवभासों में, उनकी आकृति के अनुसार, देश और काल में एक सहज प्रत्यक्ष अन्तर्विष्ट रहता है, जो प्रागनुभवात्मकतया उन सब के मूलाधार में अवस्थित रहता है। इस प्रकार, वे विविधरूप के उस संश्लेष को, जिसके द्वारा निर्धारित देश अथवा काल की प्रत्युपस्थापनाएँ उत्पन्न की जाती हैं, अर्थात् समजातीय विविधरूप और उसकी सांश्लेषिक चेतना को छोड़कर अन्य किसी वस्तु के द्वारा अवधारित, अर्थात् आनुभविक चेतना में परिगृहीत नहीं हो सकते। और सामान्यतः सहजप्रत्यक्ष में विविधरूप समजातीय की सांश्लेषिक एकता की चेतना, जहाँ तक कि उसके द्वारा किसी विषय की प्रत्युपस्थापना पहले पहल संभव होती है, किसी परिमाण का संबोध ही है। इस प्रकार से, अवभास के रूप में किसी विषय का प्रत्यक्ष तक केवल दिये हुए ऐन्द्रिक सहजबोध के विविधरूप की वैसी ही सांश्लेषिक एकता के द्वारा संभव होता है, जैसी (सांश्लेषिक एकता) के द्वारा परिमाण के संबोध में विविधरूप समजातीय के संयोग की एकता का विचार किया जाता है; अर्थात् सब अवभास निरपवादेन परिमाण होते हैं और निश्चयमेव विस्तृत परिमाण होते हैं, क्योंकि देश और काल में स्थित सहज प्रत्यक्षों के रूप में वे उसी संश्लेषण के द्वारा प्रत्युपस्थापित होंगे, जिसके द्वारा सामान्यतः देश और काल निर्धारित होते हैं।

विस्तृत परिमाण मैं उसको कहता हूँ, जिसमें एक अंश की प्रत्युपस्थापना समग्र अंशी की प्रत्युपस्थापना को संभव बनाती है, और इसलिये अनिवार्यतया उस अंशी की प्रत्युपस्थापना की पूर्वगामिनी होती है। मैं किसी रेखा को, चाहे वह कितनी भी छोटी क्यों न हो, बिना उसको विचार में खींचे, अर्थात् एक विन्दु से क्रमशः उसके अंशों को बिना जन्म दिये और इसी के द्वारा सबसे पहले उसके सहज प्रत्यक्ष को बिना उत्पन्न या प्राप्त किये, अपने प्रति प्रत्युपस्थापित नहीं कर सकता। बिलकुल ठीक यही बात काल के प्रत्येक अंश के विषय में भी लागू होती है, चाहे वह काल का अल्पतम अंश ही

क्यों न हो। इन काल के अंशों में मैं अपने प्रति एक पल के उपरान्त अन्य पल की प्रगति का चिन्तन करता हूँ, जिसके द्वारा सब कालांशों और उनके योग से अन्त में एक निर्धारित काल-मात्रा उत्पन्न होती है। क्योंकि समस्त अवभासों में सहज प्रत्यक्षमात्र का तत्व देश या काल होता है, अतएव सहज प्रत्यक्ष के रूप में प्रत्येक अवभास विस्तृत परिमाण होता है, और ऐसा इस कारण होता है क्योंकि उसके अवधारण में एक अंश के साथ दूसरे अंश के अनुक्रमिक संश्लेषण के द्वारा ही उसको जाना जा सकता है। परिणामतः समस्त अवभास पहले से दिये अंशों के समूहों के रूप में सहज दृष्ट होते हैं, पर यह बात भी सब प्रकार के परिमाणों के विषय में ठीक नहीं है, प्रत्युत केवल उनके विषय में ठीक है जो हमारे द्वारा विस्तारवान् रूप में प्रत्युपस्थापित और अवधारित होते हैं।

आकृतियों की उत्पादक कल्पना के इस अनुक्रमिक संश्लेषण पर ही देश-संबंधी गणित अर्थात् भूमितिशास्त्र अपने स्वयंसिद्ध सूत्रों के साथ आश्रित है, जो (सूत्र) उन ऐन्द्रिक प्रागनुभवात्मक सहज प्रत्यक्ष की शर्तों को सूत्रित करते हैं, जिनके अधीन ही बाह्यावभास के शुद्ध संबोध के आकार उत्थापित हो सकते हैं। जैसे, दो बिन्दुओं के मध्य में केवल एक सरल रेखा संभव है; दो सरल रेखाएँ किसी देश (= स्थान) को नहीं घेर सकतीं इत्यादि। यह ऐसे स्वयंसिद्ध सूत्र हैं जो औचित्य के साथ केवल स्वरूपतः परिमाणों या मात्राओं के प्रसंग में लागू होते हैं।

जहाँ तक परिमाण का संबंध है, अर्थात् जहाँ तक इस प्रश्न के उत्तर का संबंध है कि "कोई वस्तु कितनी बड़ी है ?" इस विषय में स्वयंसिद्ध सूत्र के नपे तुले कठोर अर्थ में, कोई स्वयंसिद्ध सूत्र नहीं है, यद्यपि इस प्रकार की कुछ विविध प्रस्थापनाएँ अवश्य हैं, जो सांश्लेषिक हैं और अपरोक्षतया हैं। क्योंकि यह वाक्य कि 'समानों में समानों को जोड़ें अथवा उनमें से समानों को घटाएँ, तो समानों की प्राप्ति होती है', वैश्लेषिक प्रस्थापनाएँ हैं। ऐसा इस कारण है क्योंकि मैं एक परिमाण के उत्पादन के तादात्म्य के विषय में उसी समय तत्काल सचेत हो जाता हूँ, जब कि दूसरे की उत्पत्ति होती है; अतएव यह स्वयंसिद्ध सूत्र नहीं हैं, क्योंकि स्वयंसिद्ध सूत्रों को तो प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक प्रस्थापना होना चाहिये। इसके विपरीत दूसरी ओर, संख्या संबंधी स्पष्ट प्रस्थापनाएँ निश्चयमेव सांश्लेषिक होती हैं, परन्तु वे भूमितिशास्त्र की प्रस्थापनाओं के समान सार्विक नहीं होतीं, और इसीलिये स्वयंसिद्ध सूत्र नहीं कहला सकतीं, केवल सांख्यिक गुरु या सूत्र कहला सकती हैं। यह कथन '७ + ५ = १२ है', वैश्लेषिक प्रस्थापना नहीं है। क्योंकि १२ संख्या का विचार न तो में ७ की प्रत्युपस्थापना में करता हूँ, न ५ की में और न दोनों के संयोग की प्रत्युपस्थापना में "यदि यह कहो कि दोनों के योग में मुझे ऐसा करना अर्थात् इस १२ का विचार करना पड़ेगा ही, तो यह तो प्रसंगोपात्त बात

ही नहीं है; क्योंकि वैश्लेषिक प्रस्थापना में तो केवल प्रश्न यह होता है कि मैं वास्तव में विधेय का विचार उद्देश्य की प्रत्युपस्थापना में करता हूँ या नहीं" परन्तु यद्यपि यह वाक्य सांश्लेषिक तो है, तथापि यह एक अकेला भी है। जिस सीमा तक यहाँ समजातियों मात्र के (इकाइयों के) संश्लेषण को ध्यान दिया जा रहा है, उस सीमा तक यह संश्लेषण केवल एक विशिष्ट प्रकार से ही घटित हो सकता है, यद्यपि इस संख्या का उपयोग पीछे सामान्य होता है। यदि मैं कहूँ कि ऐसी तीन रेखाओं के द्वारा जिनमें कोई दो साथ मिलकर तीसरी से बड़ी हैं, एक त्रिभुज घटित हो सकता है; तो मैं यहाँ केवल उत्पादक कल्पनाशक्ति की वृत्ति को अभिव्यक्त करता हूँ, जो रेखाओं को छोटी और बड़ी खींच सकता है और उनको मनचाहे कोण पर जोड़ सकने दे सकता है। इसके विपरीत दूसरी ओर संख्या ७ एक ही प्रकार से संभव है, और संख्या १२ भी जो प्रथम संख्या के साथ ५ के संश्लेषण से उत्पन्न होती है ऐसी ही है। इसलिये ऐसी प्रस्थापनाओं को स्वयंसिद्ध सूत्र नहीं कहना चाहिये (क्योंकि ऐसा करने पर तो इन सूत्रों की संख्या अपरिमेय हो जाएगी), प्रत्युत सांख्यिक सूत्र कहना चाहिये।

अवभासों के गणित का यह अनुभवातीत आधारभूत सिद्धान्त हमारे प्रागनुभवात्मक ज्ञान को विशाल विस्तार प्रदान करता है। क्योंकि यह अकेला ही शुद्ध गणित को अपनी परिपूर्ण सुनिश्चितता के साथ, अनुभव के पदार्थों के प्रति व्यवहारोपयुक्त बना देता है, जो विनियोग इस आधारभूत सिद्धान्त के बिना कदापि इस प्रकार स्वतः स्पष्ट न होता। इतना ही नहीं, इसके बिना इसके विषय में बहुत से विरोध उठ खड़े हुए हैं। अवभास स्वयं अपने आप स्वरूपतः वस्तु नहीं है। आनुभविक सहज प्रत्यक्ष केवल (देश के और काल के) शुद्ध सहज प्रत्यक्ष के द्वारा ही संभव है; इसलिये भूमितिशास्त्र जो कुछ शुद्ध सहज प्रत्यक्ष के विषय में कहता है वह बिना किसी विरोधी कथन के आनुभविक सहज प्रत्यक्ष के विषय में भी प्रामाणिक होता है और यह जो व्यर्थ की टालमटूल (या बहानेबाज़ी) है कि ऐन्द्रिक विषय देश में ऐसी बनावट के नियमों के (जैसे कि रेखा और कोण की अनन्त विभाज्यता इत्यादि है), अनुरूप स्यात् न हो सकें त्याग दी जानी चाहिये। क्योंकि इस प्रकार की बहानेबाज़ी से तो देश की ही वैषयिक प्रामाणिकता का प्रतिवाद हो जाता है और उसके साथ ही साथ समस्त गणितशास्त्र की प्रामाणिकता का भी, और फिर यह पता नहीं चलता कि गणित क्यों और कहाँ तक अवभासों के विषय में लागू हो सकता है। देशों और कालों का संश्लेषण, समस्त सहजप्रत्यक्षों के सारभूत आकारों का संश्लेषण होने के कारण, वह तत्व है जो अवभासों के अवधारण को संभव बनाता है और परिणामतः प्रत्येक बाह्यानुभव को और इस प्रकार के अनुभव के समस्त विषयों के ज्ञान को (भी) संभव बनाता है, और अपने शुद्ध उपयोग में गणित अवधारण

के आकार के संश्लेषण के विषय में सिद्ध (या उपपन्न) करता है वह अवधृत विषयों के संबंध में अनिवार्यता प्रामाणिक होता है। (इसके विरुद्ध) समस्त आपत्तियाँ वितथ-शिक्षित बुद्धि के व्यर्थ प्रलापमात्र हैं, जो भ्रमवश ऐन्द्रिक विषयों (या पदार्थों) को हमारी संवेदनशीलता की औपचारिक शर्तों से विलग करने का दम भरता है; और यद्यपि वे अवभासमात्र हैं, तो भी उनको बोधवृत्ति के लिये प्रदत्त स्वतः अस्तित्व वाले विषयों के रूप में प्रत्युपस्थापित करती है, यह ऐसी स्थिति है कि जिसमें उनके विषय में कोई भी प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक ज्ञान निश्चय ही उपलब्ध नहीं हो सका, और इसीलिये देश के शुद्ध संबोध के द्वारा भी उनको सांश्लेषिकतया नहीं जाना जा सकता; और तो और जो विज्ञान इन को निर्धारित करता है, अर्थात् भूमितिशास्त्र, वह स्व-मेव ऐसी परिस्थिति में संभव नहीं होगा।

२

प्रत्यक्ष के पूर्वावधारण

इनका सिद्धान्त इस प्रकार है—समस्त अवभासों में, सत्पदार्थ जो संवेदन का विषय होता है, सान्द्र या गहन परिमाण वाला होता है, यानी मात्रा वाला होता है।

उपपत्ति

प्रत्यक्ष आनुभविक चेतना है, अर्थात् ऐसी चेतना है जिसमें संवेदन भी साथ ही साथ प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष के विषय के रूप में, अवभास देश और काल के समान शुद्ध, मात्र औपचारिक सहजोपलब्धि भर नहीं होते, क्योंकि ये, देश और काल स्वयं अपने आप में कदापि प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। अवभासों में सहजोपलब्धि के अतिरिक्त सामान्यतः किसी विषय की सामग्री भी अन्तर्विष्ट होती है, जिसके द्वारा देश और काल में सत्तावान् किसी वस्तु को प्रत्युपस्थापति किया जाता है, अर्थात् उनमें संवेदन का वास्तविक तथ्य केवल विषयिगत प्रत्युपस्थापना के रूप में अन्तर्विष्ट रहता है, जिससे केवल यह चेतना प्राप्त होती है कि विषयी प्रभावित हुआ है, और जिसको अपने आप में सामान्यतः किसी विषय से संबद्ध किया जाता है। अब, आनुभविक चेतना से शुद्ध चेतना की ओर क्रमिक संक्रान्ति शनैः शनैः संभव है, जिससे आनुभविक चेतना का वास्तविक तत्व पूर्णतया विलीन हो जाता है, और देश और काल में विविधरूप की केवल औपचारिक प्रागनुभवात्मक चेतना अवशिष्ट रह जाती है; इसीलिये किसी संवेदन के परिमाण के उत्पादन की प्रक्रिया का (शुद्ध अन्तर्बोध में उसके शून्य के बराबर परि-माण से आरंभ करके किसी भी अपेक्षित परिमाण तक) संश्लेषण भी संभव है। अब, क्योंकि संवेदन अपने रूप में वैषयिक प्रत्युपस्थापना नहीं है, और क्योंकि उसमें न तो

देश का और न काल अन्तर्प्रत्यक्ष उपलब्ध हो सकता है, इसलिये उसका परिमाण विस्तारी तो हो नहीं सकता, पर तो भी परिमाण तो उसमें होता ही है (और यह परिमाण निश्चयमेव अवधारण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही उत्पन्न होता है, जिसमें आनुभविक चेतना एक निश्चित काल में शून्य से लेकर किसी दी हुई मात्रा तक बढ़ सकती है); अतएव यह परिमाण सघन या सान्द्र परिमाण होता है, जिसके अनुरूप सान्द्र परिमाण, अर्थात् अपेक्षित इन्द्रिय पर प्रभाव की मात्रा, प्रत्यक्ष के समस्त विषयों से उस सीमा तक संबद्ध माननी पड़ेगी, जिस सीमा तक प्रत्यक्ष में संवेदन अन्तर्विष्ट रहता है।

उस सब ज्ञान को, जिसके द्वारा मैं उस वस्तु को जान और निर्धारित कर सकता हूँ जो आनुभविक ज्ञान से संबंध रखती है, पूर्वावधारण नाम दिया जा सकता है; और निःसन्देह वह अर्थ यही है जिसको सूचित करने के लिये ऐपिकुरस् ने 'प्रौलेप्सिस्' शब्द का प्रयोग किया था। परन्तु क्योंकि अवभासों में कुछ ऐसा तत्व रहता है जो प्रागनुभवात्मकतया कदापि नहीं जाना जा सकता, और इसीलिये जो आनुभविक ज्ञान और प्रागनुभवात्मक ज्ञान के विशिष्ट अन्तर को भी निर्धारित करता है——(जो अन्तर, प्रत्यक्ष का उपादान यानी संवेदन है)——इससे यह परिणाम निकला कि यह संवेदन ही वह विशिष्ट तत्व है जिसका पूर्वावधारण नहीं हो सकता। इसके विपरीत दूसरी ओर, आकृति के संबंध में और परिमाण के संबंध में भी देश और काल के अन्तर्गत शुद्ध निर्धारणाओं को अवभासों का पूर्वावधारण कह सकते हैं क्योंकि अनुभव के पूर्व उस तत्व को प्रत्युपस्थापित कर जो अनुभव में सर्वदा पीछे प्रदत्त हो सकता है। तो भी यदि संवेदन में, उसके सामान्य भाव से ही, विना किसी विशिष्ट संवेदन को प्रस्तुत किये, कोई ऐसा तत्व हो जो अनुभव करने के पूर्व ही जाना जा सके, तो वह एक नितान्त विशिष्ट अर्थ में पूर्वावधारण कहे जाने के योग्य होगा, क्योंकि यह बात सचमुच ही बड़ी अद्भुत प्रतीत होती है कि हम अनुभव में ठीक उसी तत्व को पूर्वावगृहीत कर लें जो उससे संबद्ध है जिसको केवल अनुभव से ही उसी के द्वारा प्राप्त किया जाना है, यानी जो उसका उपादान है। तथापि यहाँ वास्तव में मामला है ऐसा ही।

केवल संवेदन के द्वारा अवधारण में, यदि मैं बहुत से अनुक्रमिक संवेदनों का विचार न करूँ, केवल एक क्षण लगता है। क्योंकि अवभास के क्षेत्र में वह कुछ ऐसा तत्व है जिसके अवधारण में अंशों की ओर से पूर्ण प्रत्युपस्थापना की ओर प्रगति करता हुआ क्रमिक संश्लेषण संनिहित नहीं होता, अतएव संवेदन में विस्तारयुक्त परिमाण नहीं रहता; उसी क्षण में संवेदन का अभाव उस क्षण को रिक्त और परिणामतः शून्य (०) के बराबर प्रत्युपस्थापित करेगा। अब आनुभविक सहज प्रत्यक्ष में संवेदन के समनुरूप

जो तथ्य तत्व है, वह वास्तविकता है जो उसके अभाव के समनुरूप है, वह निषेध अर्थात् (०) शून्य है। फिर प्रत्येक संवेदन में घटते जाने की भी क्षमता होती है, अतः वह कम होते होते शनैः शनैः विलीन हो सकता है। इसलिये अवभासों में जो वास्तविकता है, उसके तथा निषेध या अभाव के मध्य में अनेक संभव मध्यस्थानीय संवेदनों का सतत संदर्भ रहता है, एवं इन संवेदनों में से किन्हीं दो संवेदनों का अन्तर सर्वदा किसी दिये हुए संवेदन और शून्य के अन्तर से कम ही होता है। अर्थात् अवभास में जो वास्तविक तत्व है उसमें सर्वदा परिमाण रहता है, परन्तु क्योंकि केवल संवेदन के द्वारा उसके अवधारण में एक क्षण भर लगता है, और क्योंकि यह अवधारण विभिन्न संवेदनों के अनुक्रमिक संश्लेषण के द्वारा नहीं होता, तथा इसीलिये इसकी प्रगति अंश से अंशी की ओर को नहीं होती। अतएव उसमें परिमाण होता अवश्य है पर वह विस्तृत परिमाण नहीं होता।

अब मैं उस परिमाण को, जो केवल एक इकाई के रूप में अवधृत होता है, एवं जिसमें अनेकता को केवल अभाव (= ०) के निकट पहुँचने के द्वारा प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है, सान्द्र या तीव्र परिमाण कहता हूँ। अतएव अवभास के क्षेत्र में प्रत्येक वास्तविकता में सान्द्र परिमाण होता है, अर्थात् उसकी एक मात्रा होती है। यदि इस वास्तविकता को कारण के रूप में देखा जाता है (चाहे अवभास के क्षेत्र में संवेदन के या अन्य किसी वास्तविकता के कारण के रूप में, जैसे उदाहरण के लिये कोई परिवर्त्तन लिया जा सकता है), तो कारण के रूप में वास्तविकता की मात्रा एक क्षण कहलाती है—यथा गुरुत्व का क्षण; और ऐसा नाम निश्चय ही इसलिये दिया जाता है, क्योंकि मात्रा केवल उस परिमाण को सूचित करती है जिसका अवधारण अनुक्रमिक नहीं क्षणिक होता है। पर यहाँ पर इसका उल्लेख मैंने राह चलते कर दिया है, क्योंकि मैं अभी कारणवाद का प्रतिपादन नहीं कर रहा हूँ।

अतएव प्रत्येक संवेदन में एवं उसी प्रकार अवभास में प्रत्येक वास्तविकता में, चाहे वह कितना स्वल्प क्यों न हो, एक (मात्रा यानी सान्द्र परिमाण) होती है, जिसे सर्वदा कम किया जा सकता है; और यथार्थ सत्ता तथा पूर्ण अभाव के मध्य में संभव वास्तविकताओं और संभव अल्पतर प्रत्यक्षों का सतत संदर्भ रहता है। प्रत्येक रंग, (जैसे उदाहरण के लिये लाल रंग) में मात्रा होती है, जो चाहे कितनी ही अल्प क्यों न हो, अल्पतम नहीं हो सकती। यही बात उष्णता, गुरुत्व के क्षण इत्यादि में सर्वत्र लागू होती है।

परिमाणों की यह विलक्षणता, जिसके कारण उनका कोई भी अंश अल्पतम संभव नहीं होता, (अर्थात् कोई अंश सरल, अर्मश नहीं होता) उनकी सततता कहलाती है।

देश और काल सतत प्रमात्राएँ हैं, क्योंकि उनका कोई भी अंश (विन्दुओं और क्षणों) की सीमा के मध्य में सीमित हुए विना प्रदत्त नहीं हो सकता, अतएव केवल ऐसे प्रकार से प्रदत्त होता है कि यह खंड स्वयं अपने आप में एक देश अथवा काल होता है। अतएव देश केवलमात्र देशों से और काल केवलमात्र कालों से संगठित होता है। विन्दु और पल तो सीमाएँ मात्र हैं, अर्थात् उनकी सीमाओं के स्थलमात्र हैं, यह स्थल सर्वदा उन अन्तर्प्रत्यक्षों की पूर्व कल्पना का आभास प्रदान करते हैं, जिनको उन्हें सीमित या मर्यादित करना होता है, और केवल ऐसे स्थलों से, जो कि देश और काल के पूर्व दिये हुए होने के योग्य घटकों के रूप में माने जा सकते हों, न तो देश का निर्माण हो सकता है और न काल का। इस प्रकार के परिमाणों को प्रवहमान भी कहा जा सकता है, क्योंकि उनके उत्पादन में प्रयुक्त जो (उत्पादक कल्पनाशक्ति) का संश्लेषण है, वह काल के अन्तर्गत प्रगमन है जिस सातत्य को विशेष रूप से प्रवहमान शब्द से सूचित करने का रिवाज चल पड़ा है।

इसलिये सब अवभास सामान्यतया सातत्ययुक्त परिमाण हैं, जैसे वे अपने सहज-प्रत्यक्ष में विस्तारयुक्त सतत परिमाण हैं, वैसे ही अपने केवल प्रत्यक्ष में (संवेदन और उसी के साथ वास्तविक सत्ता में) सान्द्र सतत परिमाण हैं। यदि अवभास के विविध रूप का संश्लेषण बाधित हो जाता है, तो विभिन्न अवभासों का एक समूह प्राप्त होता है, न कि असली प्रमात्रा के रूप में विशिष्ट अवभास, जो किसी प्रकार के उत्पादक संश्लेषण को बिना रुकावट के सतत चालू रखने से उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत निरन्तर रुक जाने वाले संश्लेषण की पुनरावृत्ति से उत्पन्न होता है। यदि मैं १३ टालर को धन की एक प्रमात्रा कहूँ, तो मेरा यह कहना उस हद तक ठीक होगा, बशर्ते मेरा आशय शुद्ध चाँदी के एक मार्क का मूल्य बतलाना हो, जो निश्चयमेव एक सतत परिमाण है, जिसमें कोई भी अंश अल्पतम नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक अंश सिक्के का एक अंश बन सकता है, जिसमें और भी छोटे अंशों का उपादान सर्वदा अन्तर्विष्ट होगा। परन्तु यदि इस वाक्यांश "१३ गोल टालर" से मैं इतने सिक्के समझूँ (फिर चाहे उनका चाँदी का मूल्य कुछ भी क्यों न हो) तो "टालरों की एक मात्रा" इस वाक्यांश के द्वारा मैं समुचित कथन नहीं कर रहा हूँ, प्रत्युत इसको एक समूह अर्थात् धन के खंडों (सिक्कों) की संख्या कहा जाना चाहिये। परन्तु क्योंकि समस्त संख्या के मूलाधार में इकाई संनिहित रहती है, अतएव इकाई के रूप में अवभास एक प्रमात्रा होता है और प्रमात्रा के रूप में वह सर्वदा सततत्तत्व होता है।

अब क्योंकि सब अवभास, अपने विस्तीर्ण और तीव्र (=सान्द्र) दोनों ही पक्षों में एक समान सातत्ययुक्त परिमाण होते हैं, इसलिये इस प्रस्थापना को कि समस्त परि-

वर्त्तन (=किसी वस्तु का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण) सतत या अनवरत होता है, सरलता से और गणितीय साक्ष्य के साथ सिद्ध किया जा सकता; पर ऐसा संभव होता, यदि परिवर्त्तन की कारणता सामान्यतया अनुभवातीत तत्वज्ञान की सीमा के पूर्णतया बाहर न होती, और आनुभविक सिद्धान्तों की पुरः कल्पना न करती। क्योंकि इस समस्या या प्रश्न पर कि क्या कोई ऐसा कारण संभव है जो किसी वस्तु की अवस्था को बदलने की क्षमता रखता है, अर्थात् किसी एक दी हुई निश्चित अवस्था से उसकी विपरीत अवस्था में निर्धारित कर देने की क्षमता रखता है, प्रागनुभवात्मक बोधवृत्ति हमको कोई खुला मार्ग प्रदान नहीं करती, और ऐसा केवल इसलिये नहीं होता क्योंकि इसको उसकी संभावना की अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं होती, (क्योंकि इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि का अभाव तो हमको और भी अनेकों प्रागनुभवात्मक ज्ञानों में रहा करता है) प्रत्युत क्योंकि परिवर्त्तनीयता केवल अवभासों के कतिपय निर्धारणों में ही प्राप्त होती है, जिनके विषय में केवल अनुभव ही शिक्षा दे सकता है, जब कि उनका कारण वास्तव में अपरिवर्त्तनीय तत्व में उपलब्ध होता है। परन्तु क्योंकि यहाँ, समस्त संभव अनुभव के शुद्ध आधारभूत संबोधों के अतिरिक्त (जिनमें कहीं भी कुछ भी आनुभविक होना ही नहीं चाहिये) हमारे पास और कुछ भी सामग्री नहीं है जिसका हम अपने लिये उपयोग कर सकें, अतएव बिना अपने दर्शन-संस्थान की एकता को नष्ट किए हुए, हम सामान्य प्राकृतिक विज्ञान का, जो कुछ निश्चित आधारभूत अनुभवों पर निर्मित है, पूर्वग्रहण नहीं कर सकते।

तो भी हमारे पास अपने इस आधारभूत सिद्धान्त के उस महान् प्रभाव के विषय में प्रमाणों का अभाव नहीं है जो यह प्रत्यक्षों के पूर्वावधारण के प्रसंग में प्रदर्शित करता है, और उनके अभाव से जो वितथ अनुमान निकाले जा सकते हैं उनके ऊपर अर्गला लगा कर जो एक प्रकार से उनके अभाव तक की कमी को भी पूरा करता है।

यदि प्रत्यक्ष में उपलब्ध होने वाली समस्त वास्तविकता में एक ऐसी मात्रा रहती है कि जिसकी सत्ता और अभाव के बीच में नितान्त अल्पतम मात्राओं का अनन्त कोटि क्रम पाया जाता है, और इसी प्रकार यदि प्रत्येक इन्द्रिय में भी ग्रहणशीलता की एक सुनिर्धारित मात्रा अवश्य पाई जाती हो, तो कोई भी प्रत्यक्ष, और परिणामतः कोई भी अनुभव (ऐसा) संभव नहीं हो सकता जो या तो अपरोक्षतया या परोक्षतया (चाहे कितने ही चक्करदार तर्कों का सहारा क्यों न लिया जाए) अवभास में समग्र वास्तविकता का पूर्ण अभाव सिद्ध नहीं कर सकता, अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि रिक्त देश और रिक्त काल की उपपत्ति कदापि भी अनुभव से व्युत्पादित नहीं हो सकती। क्योंकि, सबसे पहले तो ऐन्द्रिक अन्तर्प्रत्यक्ष में यथार्थता का पूर्ण अभाव

स्वयं प्रत्यक्ष ही नहीं किया जा सकता; और दूसरे कोई ऐसा अवभास, और किसी अवभास की वास्तविकता की मात्रा का कोई ऐसा अन्तर या भेद नहीं है, जिससे उसका अनुमान किया जा सके और न कभी उस अभाव को अवभासों इत्यादि की व्याख्या या स्पष्टीकरण के लिये ही ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि यदि किसी सुनिर्धारित देश या काल का समग्र सहज प्रत्यक्ष पूर्णतया वास्तविक भी है, अर्थात् यद्यपि उसका कोई भी भाग रिक्त नहीं है, तो भी क्योंकि प्रत्येक वास्तविकता की मात्रा (एँ) होती है जो, अवभास के विस्तृत परिमाण बिना किसी प्रकार बदले अनन्त क्रमकोटि में गुज़र कर घटते हुए शून्य को प्राप्त हो सकती है, अतएव ऐसी अनन्त विभिन्न मात्राएँ अवश्यमेव होनी चाहिये जिनमें देश और काल को भरा जा सकता है; और जहाँ तक गहन या तीव्र परिमाण का सवाल है, वह विभिन्न अवभासों में छोटा या बड़ा हो सकता है, यद्यपि सहज प्रत्यक्ष का विस्तृत परिमाण एकमेवाद्वितीय रहता है।

हम इसका एक उदाहरण देंगे। लगभग सभी प्रकृतिवेत्ता, कुछ तो आकर्षण अथवा भारतत्व विभ्रमिषा के द्वारा और कुछ अन्य गतिशील उपादानों के प्रति बाधा की विभ्रमिषा के द्वारा यह देख कर कि एक समान आयतन वाले शरीरों में विभिन्न प्रकार के उपादानों की मात्रा में महान् अन्तर पाया जाता है, एक मत होकर यह निर्णय करते हैं कि यह आयतन (अवभास का विस्तृत परिमाण या आभोग) सभी उपादानों में विभिन्न मात्रा में अवश्यमेव रिक्त होना चाहिये। भला किसी को यह ख्याल कभी भी क्यों आ सका होगा कि यह प्रकृति की खोज करने वाले वैज्ञानिक जो कि बहुधा गणित और गतिविज्ञान के ही चिन्तन में उलझे रहते हैं, अपने निर्णय को केवलमात्र पराविद्या की पूर्व कल्पना पर आधारित करेंगे—उस प्रकार की कल्पना पर आधारित करेंगे जिसको वे इतना अधिक टालने का उपक्रम करते हैं? क्योंकि वे मान कर चलते हैं कि वास्तविक सत्ता देश के अन्तर्गत सर्वत्र एकाकार या एकरस है (मैं यहाँ इसको अप्रवेश्यता या भार का नाम नहीं दे सकता क्योंकि ये दृष्ट या आनुभविक संबोध हैं) और केवल विस्तृत परिमाण राशि (=मात्रा) में ही विभिन्न हो सकती है। इस पूर्वमान्यता के प्रतिपक्ष में, जिसके लिये वे अनुभव में कोई आधार नहीं पा सकते, अतएव जो बिलकुल पराविद्यात्मक है, मैं एक अनुभवातीत प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ, जो वास्तव में देशांशों के परिभरण के अन्तर की तो व्याख्या नहीं करता है, परन्तु जो उपर्युक्त पूर्वमान्यता की [कि इस अन्तर या भेद की व्याख्या केवल रिक्त देश (= अवकाश) की मान्यता के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा नहीं हो सकती है] कल्पित अनिवार्यता को पूर्णतया समाप्त कर देता है। और इसमें यह गुण है कि यदि ऐसा पता चले कि उपर्युक्त (अवभासों के) तथ्य की स्वाभाविक व्याख्या के लिये किसी अन्य

मान्यता की आवश्यकता है, तो यह बोधवृत्ति को मुक्त कर देता है कि वह इस विभिन्नता के विषय में किसी अन्य प्रकार से विचार करने के लिए स्वतंत्र है। क्योंकि तब हम देखते हैं कि यद्यपि दो बराबर देशांश विभिन्न प्रकार के उपादानों से इस प्रकार पूर्णतया भरे हो सकते हैं कि दोनों में कहीं भी कोई ऐसा बिन्दु न मिल सके जिसमें उपादान की उपस्थिति न हो, तथापि प्रत्येक वास्तविक सत्ता, अपने गुण को अपरिवर्तनीय ज्यों का त्यों रखते हुए भी (बाधा या भार की) अपनी विशिष्ट मात्रा रखती है, जो उसके विस्तृत परिमाण या राशि के कम हुए बिना अनन्त क्रम में थोड़ी थोड़ी कम होती जा सकती है, यहाँ तक कि वह शून्यता को पहुँच कर पूर्णतया विलीन हो सकती है। इस प्रकार कोई विकिरण जो किसी स्थान (देश) को अपने से भरता हो, उदाहरण के लिये उष्णता (को ले सकते हैं), और इसी प्रकार (अवभासों में) प्रत्येक अन्य यथार्थ सत्ता, अपने द्वारा भरे हुए स्थान को लेशमात्र रीता छोड़े बिना अपनी मात्रा में अनन्ततः कम हो जा सकती है, और तो भी वह अपनी इस घटी हुई मात्रा से भी देश (——स्थान) को ठीक उसी प्रकार भर सकती है, जिस प्रकार कोई अन्य अवभास अपनी बड़ी मात्रा से भर सकता है। इससे यहाँ मेरा तात्पर्य यह कहने का कदापि नहीं है कि उपादानों के आपेक्षिक भार की विभिन्नता की अवस्था में भी वास्तव में ऐसा ही होगा, प्रत्युत केवल शुद्ध बोधवृत्ति के आधारभूत सिद्धान्त के द्वारा यह स्थापित करना है कि हमारे प्रत्यक्ष का स्वरूप एक इस प्रकार की व्याख्या को संभव बनाता है और अवभासों में वास्तविक सत्ता को मात्रा में एक समान मानना तथा केवल संहनन (झुंड) एवं विस्तृत परिमाण में उनको भिन्न मानना ठीक नहीं है। इतना ही नहीं इससे भी आगे यह मानना कि इस प्रकार की व्याख्या बोधवृत्ति के प्रागनुभवात्मक व्यदिष्ट सिद्धान्त के आधार पर स्वीकृत हो सकती है, और भी अधिक अनुचित है।

तो भी प्रत्यक्ष का यह पूर्वावधारण उस शोधक को चौंका देने वाला हो सकता है जो अनुभवातीत विवेचन का अभ्यस्त है और उसके द्वारा अत्यन्त सावधान स्वभाव वाला बन गया है, और इस विषय में यह कुछ सन्देह को भी जगा सकता है कि आया बोधवृत्ति, अवभासों में जो यथार्थ है उसकी मात्रा के संबंध में, (उसकी अनुभवगम्य विशेषता को पृथक् करके) ऐसी सांश्लेषिक प्रस्थापना को पूर्वावधृत कर सकती है, और इसीलिये स्वयं संवेदन में भी आंतरिक भेद की संभावना को घोषित कर सकती है, अतएव यह प्रश्न समाधान के कदापि अयोग्य नहीं है कि बोधवृत्ति अवभासों के विषय में सांश्लेषिकतया और प्रागनुभवात्मकतया किस प्रकार उद्घोषणा कर सकती है; नहीं, इतना ही क्यों, इनको उसके संबंध में पूर्वावधृत कर सकती है जो सचमुच केवल अनुभवाश्रित है, अर्थात् जो संवेदन से संबंध रखता है ?

संवेदन का गुण, जैसा, उदाहरण के लिये, रंग और स्वाद इत्यादि में देखा जा सकता है, केवल सर्वदा अनुभवगम्य होता है, और प्रागनुभवात्मकतया कदापि प्रत्युपस्थापित नहीं किया जा सकता। परन्तु तत्व या सत्ता जो निषेध = ० (शून्य) के विपरीत सामान्यतः संवेदनों के समनुरूप होता है, केवल कुछ ऐसे तत्व को प्रत्युपस्थापित करता है, जिसके संबोध में ही सत् अन्तर्विष्ट रहता है, और वह सामान्यतः आनुभविक चेतना में संश्लेषण के अतिरिक्त अन्य और कुछ सूचित नहीं करता। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि अन्तर् इन्द्रिय में आनुभविक चेतना शून्य से लेकर किसी भी ऊँची मात्रा तक ऊपर उठाकर पहुँचाई जा सकती है कि जिससे किसी आन्तरप्रत्यक्ष का कोई विस्तृत परिमाण, (उदाहरण के लिये जैसे कोई उद्भासित धरातल) इतने महत् संवेदन को उत्तेजित कर सकता है, जितना कि ऐसे ही अपेक्षाकृत कम उद्भासित अनेक अन्य धरातलों का सम्मिलित समूह कर सकेगा। इस प्रकार अवभास परिमाण से पूर्णतया अपहार किया जा सकता है (अर्थात् क्योंकि अवभास का विस्तृत परिमाण स्वतंत्र रूप से बदला करता है अतएव उसकी ओर से ध्यान को पूर्णतया हटाया जा सकता है), और फिर भी उसके किसी एक क्षण में केवल संवेदनमात्र में ऐसे संश्लेषण को प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है जो शून्य से दी हुई किसी आनुभविक चेतना की ओर एक समान प्रकार से बढ़ता जाता है। परिणामतः समस्त संवेदन स्वरूपतः अनुभव के पश्चात् ही उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनकी यह विलक्षणता कि उनमें मात्रा होती है, अनुभव के पूर्व जानी जा सकती है। यह बात ध्यान देने के योग्य है कि परिमाणों के विषय में हम केवल एक विशेषता को प्रागनुभवात्मकतया जान सकते हैं, और वह सातत्य है। पर समस्त गुण (अर्थात् अवभास में वास्तविक) में हम उनकी तीव्रता को; अर्थात् इस बात को कि उनमें एक मात्रा होती है, छोड़ कर प्रागनुभवात्मकतया और कुछ भी नहीं जान सकते; अन्य शेष सब कुछ को अनुभव पर छोड़ देना पड़ता है।

§ ३

अनुभव के सादृश्य

इन सादृश्यों का सिद्धान्त यह है—अनुभव केवल प्रत्यक्षों के अनिवार्य संबन्धन की प्रत्युपस्थापना के द्वारा संभव है।

उपपत्ति

अनुभव दृष्ट ज्ञान है, अर्थात् एक ऐसा ज्ञान है जो प्रत्यक्ष के द्वारा किसी विषय

का निर्धारण करता है। अतएव वह प्रत्यक्षों का एक ऐसा संश्लेषण है जो स्वयं प्रत्यक्ष में अन्तर्विष्ट नहीं होता, प्रत्युत जो प्रत्यक्षों के विविध रूप की सांश्लेषिक एकता को एक चेतना में अपने में धारण किये रहता है, जो सांश्लेषिक चेतना किसी भी इन्द्रियों के विषयों के ज्ञान में अर्थात् (केवल सहज प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियों के संवेदन में नहीं, प्रत्युत) अनुभव में सारभूततत्व को निर्मित करता है। अब, अनुभव में तो प्रत्यक्ष एक दूसरे के साथ यादृच्छिक प्रकार से आया करते हैं और इसलिये उनके संबंध को निर्धारित करने वाली अनिवार्यता न तो स्वयं प्रत्यक्षों से प्रकट होती है और न हो ही सकती है, क्योंकि अवधारण तो केवल दृष्ट अन्तर्भास का संस्थापन है, पर हम उस (अवधारण) में अवभासों के संबद्ध अस्तित्व की किसी ऐसी अनिवार्यता की प्रत्युपस्थापना को नहीं पाते जो देश और काल में उनको निर्धारित करने वाली हो। परन्तु क्योंकि अनुभव प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त हुआ विषयों का ज्ञान है, अतएव विविध रूप के अस्तित्व में संनिहित संबंध को अनुभव में उस रूप में प्रत्युपस्थापित करना नहीं है जिसमें वह काल के अन्तर्गत संस्थापित हो जाता है, प्रत्युत उस रूप में जिसमें कि वह स्वतः वैषयिकतया काल में स्थित रहता है; और क्योंकि स्वयं काल का प्रत्यक्ष होता नहीं, अतएव काल में विषयों की सत्ता का निर्धारण काल सामान्य में उनके संबंधमात्र के द्वारा ही घटित हो सकता है और इसलिये केवल उन संबोधों के द्वारा हो सकता है जो उनको प्रागनुभवात्मकतया संबद्ध करने वाले हैं। क्योंकि यह सर्वदा अनिवार्यता को अपने साथ धारण किये रहते हैं अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुभव प्रत्यक्षों के अनिवार्य संबंधों की प्रत्युपस्थापना के द्वारा ही संभव है।

काल की तीन वृत्तियाँ, स्थिति, अनुक्रमिकता और सहभाव हैं। अतएव समस्त अवभासों के कालगत संबंधों के तीन नियम होंगे, जिनके अनुसार प्रत्येक अवभास की सत्ता समस्त काल की एकता के संबंध में निर्धारित हो सकेगी, जो (नियम) समस्त अनुभव के पूर्वगामी होंगे और उसको सर्वप्रथम संभव बनाएँगे।

तीनों सादृश्यों का आधारभूत सिद्धान्त, काल के प्रत्येक क्षण में समस्त संभव दृष्ट चेतना (अर्थात् प्रत्यक्ष) के संबंध में स्वोपलब्धि की अनिवार्य एकता पर आश्रित है; परिणामतः, क्योंकि यह एकता प्रागनुभवात्मकतया आनुभविक चेतना के मूल में निहित रहती है, यह सिद्धान्त समस्त अवभासों (जहाँ तक काल में उनके संबंध की बात है) की सांश्लेषिक एकता के ऊपेर आश्रित है। क्योंकि मौलिक स्वोपलब्धि अन्तरिन्द्रिय (समस्त प्रत्युपस्थापनाओं के समवधारण) के संबंध में स्थित रहती है, और वास्तव में निश्चय ही उसके आकार, अर्थात् विविध रूप आनुभविक चेतना के कालक्रम के पूर्व (=प्रागनुभवात्मकतया) स्थित रहता है। यह समस्त विविध

रूप, अपने कालगत संबंध के अनुसार, मौलिक स्वोपलब्धि में एकत्र संयुक्त होना चाहिये ; क्योंकि यह उस स्वोपलब्धि की प्रागनुभवात्मक लोकातीत एकता की माँग है, जिसके अधीन वह सब वस्तुएँ रहती हैं, जिनको मेरे ज्ञान से संबद्ध होना है, अतएव जो मेरे लिये विषय हो सकती हैं। समस्त अवभासों के कालगत संबंधों में यह सांश्लेषिक एकता जो कि प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित होती है, इस प्रकार यह नियम बनती है, कि समस्त आनुभविक काल-निर्धारणाएँ सर्वव्यापी काल-निर्धारणाओं के नियमों के अधीन रहनी चाहिये, और अनुभव के सादृश्य, जिनका अब हमको प्रतिपादन करना है, इसी प्रकार के नियम होने चाहिये।

इन सिद्धान्तों की अपनी एक विलक्षणता यह है कि वे अवभासों और उनके आनुभविक अन्तर् प्रत्यक्षों के संश्लेषण से कोई वास्ता नहीं रखते, प्रत्युत केवल इन अवभासों की सत्ता, और सत्ता की दृष्टि से उनके पारस्परिक संबंध से वास्ता रखते हैं। जिस प्रकार से कोई वस्तु अवभास रूप में अवधृत की जाती है, उस प्रकार को प्रागनुभवात्मकतया इस तरह निर्धारित किया जा सकता है कि उसके संश्लेषण का नियम, हमारे समक्ष आने वाले प्रत्येक आनुभविक उदाहरण में, इस प्रागनुभवात्मक अन्तर्प्रत्यक्ष के तत्व को तत्काल प्रदान कर सकता है, अर्थात् उपस्थित कर सकता है। बस केवल अवभासों की सत्ता मात्र प्रागनुभवात्मकतया नहीं जानी जा सकती, और यद्यपि हम किसी ऐसे प्रकार से किसी वस्तु की सत्ता के अनुमान पर पहुँच भी सकें, तो भी हम उसको सुनिर्धारित या सुनिश्चित प्रकार से नहीं जान सकेंगे, अर्थात् उस तत्व को पूर्वावधृत नहीं कर सकेंगे जिसके द्वारा वस्तु के अनुभवगम्य सहज प्रत्यक्ष को अन्य सहज प्रत्यक्षों से पृथक् किया जा सके।

दोनों पूर्व वर्णित सिद्धान्त, जिनको मैंने इस विचार से गणितीय सिद्धान्त का नाम दिया था कि वे अवभासों के प्रति गणित के उपयोग के औचित्य का प्रतिपादन करने वाले[१] हैं, इन अवभासों का अनुसंधान केवल उनकी संभावना के संबंध में करते हैं, और यह सिखाते हैं कि उनके सहज प्रत्यक्ष और उसी के समान उनके प्रत्यक्षगत यथार्थ (तत्व) की दृष्टि से वे किस प्रकार एक गणितीय संश्लेषण के नियमों के अनुसार उत्पादित किये जा सकते हैं; इसलिये हम सांख्यिक परिमाण को और उसके साथ ही साथ परिमाण रूप में अवभासों के निर्धारण को जैसे एक सहज प्रत्यक्ष के पक्ष में प्रत्युक्त कर सकते हैं उसी प्रकार दूसरे के प्रत्यक्षगत के पक्ष में भी प्रयुक्त कर सकते हैं। इस प्रकार, उदाहरणार्थ मैं सूर्य के प्रकाश के संवेदनों की मात्रा को चन्द्रमा के

१. श्मिट् ने भूत काल का तथा ऐर्डमान् ने वर्त्तमान काल का प्रयोग किया है।

कोई २ लाख प्रकाशों के संघात से प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित अर्थात् निर्मित कर सकता हूँ। इसलिये हम प्रथम आधारभूत सिद्धान्तों को संघटक सिद्धान्त कह सकते हैं।

पर उन सिद्धान्तों की बात बिलकुल भिन्न है जिनका लक्ष्य अवभासों के अस्तित्व को प्रागनुभवात्मकतया नियमों के अधीन करना है। ऐसा इसलिये है क्योंकि सत्ता का निर्माण नहीं किया जा सकता, अतएव यह सिद्धान्त केवल सत्ता के संबंधों के प्रति लागू हो सकते हैं, और नियामक सिद्धान्तों के अतिरिक्त और कुछ प्रदान नहीं कर सकते। इसलिये यहाँ न तो स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों की बात सोची जा सकती है और न पूर्वावधारणों की, प्रत्युत यदि कोई प्रत्यक्ष किसी अन्य (यद्यपि अनिर्धारित या अनिश्चित) प्रत्यक्ष के साथ कालगत संबंध में प्रदत्त होता है, तो प्रागनुभवात्मकतया यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकेगा कि वह दूसरा प्रत्यक्ष कौन सा है और उसका परिमाण क्या है, प्रत्युत यह कहा जा सकेगा कि वह अपने अस्तित्व में काल के अमुक प्रकार से इसके साथ अनिवार्यतया संबद्ध है। दर्शनशास्त्र में सादृश्य जिस आशय को सूचित करते हैं वह उससे कुछ नितान्त भिन्न है, जिसको वे गणित में सूचित करते हैं। इस दूसरे विज्ञान में वे ऐसे गुर या सूत्र होते हैं जो दो परिमाणगत संबंधों की समानता को अभिव्यक्त करते हैं, और सर्वदा संघटक होते हैं, जिससे यदि प्रस्थापना के तीन अंग दिये हुए हों, तो चौथा भी वैसे ही दिया हुआ होता है, अर्थात् निर्मित किया जा सकता है। परन्तु दर्शनशास्त्र में सादृश्य दो परिमाणगत संबंधों की समानता नहीं प्रत्युत गुणगत संबन्धों की समानता है, जहाँ दिये हुए तीन अंगों से मैं केवल चौथे अंग के संबन्ध को, न कि स्वयं चौथे अंग को जान सकता हूँ और प्रागनुभवात्मकतया दे सकता हूँ, इससे मुझे एक नियम मिल जाता है जिससे अनुभव में चतुर्थ अंग को खोजा जा सकता है, और एक चिह्न मिल जाता है जिसकी सहायता से उसको पहचाना जा सकता है। अतएव अनुभव का सादृश्य एक नियममात्र होता है जिसके अनुसार प्रत्यक्षों से अनुभव की एकता उद्भूत हो सकती है (परन्तु जो हमको यह नहीं बतलाता कि सामान्यतः दृष्ट सहज प्रत्यक्ष के रूप में प्रत्यक्ष स्वयं किस प्रकार प्रादुर्भूत होता है), एवं (अवभासों के) विषयों के मूलभूत सिद्धान्त के रूप यह संविधायक नहीं है, प्रत्युत केवल नियामक के रूप में लागू हो सकता है। यही बात सामान्यतः आनुभविक विचार के मूलतः स्वीकृत आधार तत्वों के संबंध में भी लागू होगी, जिनका वास्ता एक साथ केवल सहज बोध (अर्थात् अवभासों के आकार), प्रत्यक्ष (अर्थात् उनके उपादान) और अनुभव (अर्थात् इन प्रत्यक्षों के संबंध) के संश्लेषण से है; अर्थात् यह भी नियामक सिद्धान्त है, एवं गणित के सिद्धान्तों से, जो कि संविधायक है, निश्चय ही सुनिश्चितता के आधार पर

भिन्न नहीं है—क्योंकि प्रागनुभवात्मक निश्चितता तो दोनों में ही प्रतिष्ठित रहती है—प्रत्युत साक्ष्य के प्रकार में एक दूसरे से भिन्न हैं अर्थात् गणित के सहज बोध के तत्वों (परिणामतः औपपत्तिक तत्वों) के लक्षण की दृष्टि से, जो इस विद्या की विशेषता है, यह दोनों भिन्न हैं।

परन्तु जो बात समस्त सांश्लेषिक सिद्धान्तों के विषय में कही जा चुकी है, और यहाँ पर सब से पूर्व कही जानी चाहिये, यह है, कि उपमानों में मात्र जो आशय (अर्थ) और प्रामाणिकता है, उसको यह बोधवृत्ति के लोकतीत व्यवहार (—व्यापार) के सिद्धान्त के रूप में नहीं, प्रत्युत केवल उस (बोधवृत्ति) के आनुभविक व्यवहार के सिद्धान्त रूप में धारण किये रहते हैं; अतएव वे केवल इसी रूप में उपपन्न या प्रतिष्ठित भी किये जा सकते हैं, और परिणामतः अवभासों को केवल प्रकारों के अन्तर्गत ही अधिगृहीत नहीं किया जाना चाहिये, प्रत्युत मात्र आकारों के अन्तर्गत अधिगृहीत किया जाना चाहिये। क्योंकि, यदि वे विषय जिनके साथ इन सिद्धान्तों का संबंध होना है, स्वतः वस्तुएँ होते, तो उनके विषय में कुछ भी अनुभव से पूर्व सांश्लेषिकतया जानना बिलकुल असंभव होता। पर वे अवभासों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, जिनका पूर्ण ज्ञान, जिसको आगे बढ़ानामात्र ही अन्ततोगत्वा प्रागनुभवात्मक सिद्धान्त तत्व का व्यापार होना चाहिये, हमारा उनका केवल अनुभवमात्र है, परिणामतः इन सिद्धान्तों का लक्ष्य, अवभासों के संश्लेषण में आनुभविक ज्ञान की एकता की शर्त होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, पर इस प्रकार की एकता का विचार केवल बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों के कल्पित आकारों में ही हो सकता है, जबकि प्रकार सामान्यतः एक संश्लेषण के रूप में उस एकता के व्यापार को, बिना किसी ऐन्द्रिक शर्त की बाधा के अपने में धारण किये रहता है। इस प्रकार इन सिद्धान्तों के द्वारा हमको अवभासों को, केवल एक सादृश्य या उपमान के अनुसार, संबोधों की तार्किक और सर्वगत एकता के साथ संयोजित करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, जिससे कि हम स्वयं सिद्धान्त में तो वास्तव में प्रकार का ही उपयोग करते हैं, परन्तु क्रियात्मक व्यवहार में (अवभासों के प्रति इसको प्रयोग में लाते समय) इसके नियोजन की कुञ्जी के रूप में हम इसके स्थान पर इसके कल्पित आकार (=सीमा) को आदिष्ट कर देते हैं, अथवा यों कहिए कि उस (प्रथम) के गुर के नाम से, उसकी नियामक (=संकोचक) शर्त के रूप में इसको प्रकार के पास स्थापित कर देते हैं।

क

प्रथम सादृश्य

द्रव्य के स्थायित्व का सिद्धान्त

अवभासों के सब परिवर्तनों में द्रव्य स्थायी रहता है, और सृष्टि में उसकी मात्रा न तो बढ़ती है और न घटती है।

उपपत्ति

सब अवभासों की सत्ता काल में है, जिसमें आधारभूमि के रूप में सहजबोध के रूप में, सहास्तित्व अथवा अनुक्रमिकतामात्र प्रत्युपस्थापित किये जा सकते हैं। इस प्रकार जिस काल में अवभासों के परिवर्तन घटित होते हुए सोचे जाते हैं, वह स्थायी बना रहता है और बदलता नहीं है; क्योंकि काल वह तत्व है जिसमें और केवल जिसके निर्धारण के रूप में ही अनुक्रमिकता और सहास्तित्व को प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है। अब जहाँ तक काल की बात है, वह स्वयं कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। परिणामतः प्रत्यक्ष के विषयों में अर्थात् अवभासों में ही वह आधारभूमि उपलब्ध होनी चाहिये, जो सामान्यतः काल को प्रत्युपस्थापित करती है, और जिसमें समस्त परिवर्तन अथवा सहास्तित्व, अवभासों के उसके साथ संबंध के द्वारा, अवधारण में, प्रत्यक्षीकृत होने चाहिये। परन्तु उस सब की, जो कि यथार्थ है, आधारभूमि, अर्थात् उस सब की आधारभूमि जिसका संबंध वस्तुओं की सत्ता से है, द्रव्य सत्तत्व है, जिसमें वह सब जो सत्ता से संबंध रखता है, अवच्छेदन के रूप में विचारा जा सकता है। परिणामतः वह स्थायी तत्व केवल जिसके संबंध में अवभासों के समस्त कालगत संबंध निर्धारित किये जा सकते हैं, अवभास के जगत में द्रव्य है अर्थात् अवभास में सत्ता है, जो सब परिवर्तनों की आधारभूमि के रूप में सदा एकरूप ज्यों का त्यों बना रहता है। और क्योंकि यह अपने अस्तित्व में बदल नहीं सकता, इसलिये सृष्टि में इसकी मात्रा न बढ़ ही सकती है और न घट ही सकती है।

अवभासों के विविध रूप का हमारा अवधारण सर्वदा अनुक्रमिक होता है और इसीलिये नित्य परिवर्तनशील होता है। अतएव हम केवल उसी के द्वारा इस बात

का निर्धारण तब तक नहीं कर सकते कि आया अनुभव के विषय के रूप में यह विविध रूप सहास्तित्व वाला है या अनुक्रमिक है, जब तक कि उसकी आधारभूमि में कोई ऐसी वस्तु स्थित न हो जो सर्वकालिक हो, अर्थात् जो शाश्वत और स्थायी हो, जिसके, परिवर्तन और सहास्तितत्व काल के उतने ऐसे प्रकारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं जिनमें स्थायी तत्व की सत्ता रहती है। इस प्रकार केवल स्थायी तत्व में कालगत संबंध संभव हैं, क्योंकि समकालिकता और अनुक्रमिकता, केवल यही दो संबंध तो काल में पाये जाते हैं, अर्थात् शाश्वत तत्व स्वयं काल की दृष्ट प्रत्युपस्थापना की आधारभूमि है, केवल जिसमें काल का समस्त निर्धारण संभव है। अवभासों के समस्त अस्तित्व के समस्त परिवर्तन के तथा समस्त सहचारित्व के शाश्वत परस्पर संबद्ध तत्व के रूप में स्थायित्व सामान्यत: काल को अभिव्यक्त करता है। क्योंकि परिवर्तन स्वयं काल को प्रभावित नहीं करता, प्रत्युत केवल काल में स्थित अवभासों को ही प्रभावित करता है। और न सहावस्थान ही काल का कोई प्रकार है, क्योंकि काल के तो कोई भी समकालिक नहीं होते, वे तो सब के परस्पर अनुक्रमिक होते हैं। यदि हम अनुक्रमिकता को स्वयं काल के साथ संबद्ध करें, तो हम को एक और दूसरे काल का विचार करना पड़ेगा, जिसमें यह पौर्वापर्य संभव हो सके। काल-श्रृंखला के विभिन्न भागों में स्थिति के स्थायी तत्व के द्वारा ही उस परिमाण को प्राप्त कर सकती है जिसको कालकला कहा जाता है। क्योंकि मात्र अनुक्रमिकता में तो सत्ता नित्य विलीन और पुनरुत्थित होती रहती है, और उसको कभी भी स्वल्पतम परिमाण तक प्राप्त नहीं होता। अतएव बिना स्थायी तत्व के कालगत संबंधी भी नहीं हो सकता। अब काल का स्वत: प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; इसलिये अवभासों में जो स्थायी तत्व है वही काल के समस्त निर्धारणों की आधारभूमि है, और इसी प्रकार परिणामत: प्रत्यक्षों की समस्त सांश्लेषिक एकता की संभावना की, अर्थात् अनुभव की भी शर्त है; और इस स्थायी तत्व के संबंध में काल के अन्तर्गत समस्त सत्ता और परिवर्तन केवल उसकी सत्ता के प्रकार रूप में देखे जा सकते हैं, जो लगातार बना रहता है और स्थायी है। इसलिये सब अवभासों में स्थायी तत्व स्वयं विषय है (अर्थात् अवभास के रूप में); परन्तु दूसरी ओर जो बदलता रहता है, अथवा बदल सकता है, उस प्रकार से संबंध रखता है जिसके अनुसार पदार्थ या पदार्थसमूह सत्तावान् (रहते) हैं, अतएव उनके निर्धारण (=अच्छेदन) से संबंध रखता है।

मैं देखता हूँ कि सब युगों में न केवल दार्शनिकों ने, प्रत्युत सामान्य बोधवृत्ति ने (=सामान्य सूझबूझ वाले व्यक्तियों ने) भी इस स्थायी तत्व को अवभासों के सब परिवर्तनों की आधारभूत पृष्ठभूमि माना है, और इसको सदासर्वदा सन्देह से मुक्त

स्वीकार किया है। सामान्य बोध और दार्शनिक में कोई अन्तर है, तो यही है कि केवल दार्शनिक ने इस संबंध में अपने आपको अधिक निश्चितता के साथ व्यक्त किया है। उसका कहना है कि जगत् के समस्त परिवर्तनों में द्रव्य नित्य बना रहता है, और केवल उपाधियों में परिवर्तन हुआ करता है। परन्तु इस ऐसी स्पष्ट सांश्लेषिक प्रस्थापना की उपपत्ति की चेष्टा तक भी तो मैं कहीं भी नहीं पा रहा हूँ। सच तो यह है कि इसको विरलतया वह स्थान दिया जाता है जो इसका समुपयुक्त स्थान है—इसको तो उन प्राकृतिक नियमों के शीर्ष पर स्थान दिया जाना चाहिये जो शुद्ध और पूर्णतया प्रागनुभवात्मक हैं। यथार्थ में तो यह कथन कि 'द्रव्य स्थायी है' पुनरुक्त कथन है। क्योंकि मात्र यह स्थायी तत्व हमारे लिये आधारभूत हेतु है कि हम अवभासों के लिये द्रव्य के प्रकार का क्यों प्रयोग करते हैं। और पहले तो यह सिद्ध किया जाना चाहिये था कि सब अवभासों में कुछ स्थायी तत्व रहता है, एवं क्षणिक या परिवर्तनशील उसकी सत्ता के निर्धारण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु क्योंकि इस प्रकार की उपपत्ति निर्युक्तिकतया, अर्थात् संबोधों से उपनीत नहीं हो सकती, इसलिये कि इसका वास्ता एक प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक प्रस्थापना से है, और क्योंकि कभी यह विचार भी नहीं किया कि इस प्रकार की प्रस्थापनाएँ संभव अनुभव के संबंध में ही प्रामाणिक होते हैं, अतएव अनुभव की संभावना के निगमन के द्वारा ही उपपन्न हो सकते हैं, इसलिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि यद्यपि उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वदा अनुभव के आधार में निहित माना जाता है [क्योंकि दृष्ट (=आनुभविक) ज्ञान में इसकी आवश्यकता का अनुभव किया जाता है]; तथापि यह आज तक कभी उपपन्न सिद्ध नहीं किया गया है।

एक दार्शनिक से प्रश्न किया गया—"धुएँ का वज़न क्या होता है?" उसने उत्तर दिया—"जितनी लकड़ी जली है उसके वज़न में से बची हुई राख के वज़न को घटा दो, तो तुमको धुएँ का वज़न मिल जाएगा।" इस प्रकार उसने यह तथ्य निर्विवाद रूप में मान लिया कि आग तक में उपादान विलय को प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत केवल उसके आकार को परिवर्तन का भागी बनना पड़ता है। इसी प्रकार यह प्रस्थापना, कि 'असत् से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता', भी स्थायित्व के सिद्धान्त का ही केवल दूसरा परिणाम है, अथवा इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उचित होगा कि अवभासों में असली विषय के सदा बने रहने वाले अस्तित्व के सिद्धान्त का दूसरा रूप है। क्योंकि यदि अवभासों में उसको, जिसको द्रव्य या उपादान का नाम दिया जाता है, समस्त कालगत निर्धारणों का असली मूलाधार होना है, तो इससे अवश्यमेव यह निष्कर्ष निकलेगा कि समस्त सत्ता, चाहे वह भूतकाल की हो, चाहे भविष्य की, केवल उसमें और उसके

द्वारा निर्धारित हो सकती है। अतएव हम किसी अवभास को पदार्थ का नाम केवल इस हेतु दे सकते हैं, क्योंकि हम इसकी सत्ता को सर्वकालिक पूर्वतः मानते हैं, जिस भाव को "स्थायित्व" शब्द के द्वारा ठीक प्रकार से प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह शब्द मुख्यतया भावी काल को सूचित करता है। परन्तु क्योंकि लगातार बने रहने की आन्तरिक अनिवार्यता, भूतकाल में नित्य रही सत्ता की अनिवार्यता के साथ अवि-भाज्य रूप में बँधी हुई है, अतएव यह पद (स्थायित्व का सिद्धान्त) भी रहने दिया जा सकता है। 'असत् से असत् की उत्पत्ति होती है', 'असत् में कुछ भी लौटने की संभा-वना नहीं है', यह दो प्रस्थापनाएँ ऐसी थीं जिनको प्राचीन लोग सर्वदा एक साथ अवि-भाज्यरूपेण संबद्ध रखते थे, परन्तु जो आजकल ग़लती से कभी कभी पृथक् कर दिया जाता है, क्योंकि यह ख्याल किया जाता है कि वे स्वरूपतः सत् वस्तुओं के प्रति लागू होते हैं, और इनमें से प्रथम इस संसार की (उपादान तक के संबंध में) परम कारण पर निर्भरता के विरुद्ध जाएगा। पर यह आशंका तो अनावश्यक है, क्योंकि हमको यहाँ अनुभव के क्षेत्र में अवभासों का (=के संबंध में) प्रतिपादन करना है, और यदि हम इस बात को स्वीकार होने देंगे कि नवीन वस्तुएँ, अर्थात् नवीन उपादान उत्पन्न हो सकते हैं, तो अनुभव की एकता कदापि संभव नहीं होगी। क्योंकि तब तो हम उसको खो बैठेंगे, जो अकेला काल की एकता को प्रत्युपस्थापित कर सकता है—अर्थात् आधार-भूमि की एकता (है) मात्र जिसमें समस्त परिवर्तन को सर्वगत एकता की प्राप्ति होती है। यह स्थायित्व (=शाश्वतता) उस प्रकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसके अनुसार हम अवभासों के क्षेत्र में वस्तुओं की सत्ता को अपने प्रति प्रत्युपस्थापित किया करते हैं।

किसी भी द्रव्य के निर्धारण, जो उसके सत्तावान होने के विशिष्ट प्रकारों के अति-रिक्त और कुछ नहीं हैं, उपाधियाँ कहलाते हैं। उपाधियाँ सर्वदा वास्तविक होती हैं, क्योंकि उनका वास्ता पदार्थ की सत्ता से होता है (निषेध स्वयं केवल ऐसे निर्धारण होते हैं जो पदार्थ में किसी तत्व के न होने को,—असत्ता को प्रकट करते हैं)। जब इस यथार्थ को पदार्थ में कोई विशिष्ट सत्ता प्रदान की जाती है (जैसे उदाहरण के लिये भौतिक उपादान की उपाधि के रूप में 'गति' को प्रदान की जाती है), तो इस सत्ता को अन्तर्वृत्ति या समवाय कहा जाता है, जिससे इसको पदार्थ की सत्ता से पृथक् प्रकट किया जा सके, जो (पदार्थ की सत्ता स्वयं) अवस्थिति कहलाती है। पर यहाँ इतनी सी अड़चन है कि ऐसा करने से बहुत सी अस्पष्टताएँ उठ खड़ी होती हैं, और इसलिये यदि उपाधि को केवल वह प्रकार कहा जाए जिसके अनुसार किसी पदार्थ की सत्ता को विधिरूपेण निर्धारित किया जाता है, तो अधिक यथार्थ और सही होगा। परन्तु

क्योंकि हमारी बोधवृत्ति के यौक्तिक विनियोग की शर्तों के कारण, पदार्थ के नित्य बने रहने पर भी उस (पदार्थ) की सत्ता में जो परिवर्तित हो सकता है उसको उससे पृथक् सा कर देना और इस परिवर्तनशील तत्व का वास्तव में स्थायी और मूलभूत तत्व के संबंध में विचार करना अपरिहार्य है, अतएव इस बोध प्रकार को संबंध के प्रकारों में स्थान देना पड़ता है, पर ऐसा इसको स्वयं अपने में संबंध अन्तर्विष्ट किये रहने की अपेक्षा, संबंध की शर्त अधिक होने के कारण करना पड़ता है।

परिवर्तन के संबोध का सम्यक् बोध भी इस स्थायित्व की स्वीकृति के ऊपर आधारित है। उद्‌भव और विलय के विकार रूपान्तर नहीं हैं, जो उद्‌भूत या विलीन होता है। विकार सत्ता का एक प्रकार है जो एक ही पदार्थ की सत्ता के अन्य प्रकार के पश्चात् आता है। अतएव वह सब जो परिवर्तित या विकारग्रस्त होता है, बना रहता है, बस केवल उसकी अवस्था बदला करती है। क्योंकि इस परिवर्तन का वास्ता केवल अवच्छेदनों से है, जो विलीन हो सकते हैं या उद्‌भूत हो सकते हैं। अतएव हम किञ्चित् विरोधाभासयुक्त कथन का आश्रय लेकर कह सकते हैं कि केवल स्थायी द्रव्य ही परिवर्तित, रूपान्तरित होता है, और क्षणिक को कोई रूपान्तर नहीं सहना पड़ता, प्रत्युत परिवर्तनमात्र सहना पड़ता है, क्योंकि कुछ निर्धारण समाप्त हो जाते हैं और दूसरे आरंभ हो जाते हैं।

अतएव रूपान्तर का प्रत्यक्षीकरण केवल द्रव्य में हो सकता है, और ऐसा उद्‌भव और विलय जो केवल स्थायी तत्व के निर्धारण से कोई संबंध नहीं रखता कदापि भी कोई संभव प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि यह स्थायी तत्व ही ऐसा है जो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने की और असत् से सत् को प्राप्त होने की प्रत्युपस्थापना को संभव बनाता है; तथा यह संक्रमण, जो स्थायी है उसके बदलते हुए निर्धारणों के रूप में ही दृष्ट रूप (आनुभविकतया) में जाने जा सकते हैं। यदि हम यह मानें कि कोई वस्तु बिलकुल निरपेक्ष भाव से नये सिरे से आरंभ होती है, तो काल का कोई ऐसा क्षण होना चाहिये जिसमें उसकी सत्ता नहीं थी। पर इस क्षण को हम यदि उस वस्तु के साथ संबद्ध नहीं करेंगे जो पहले से विद्यमान थी, तो और किस वस्तु से करेंगे? क्योंकि (उस नवीन आरंभ होने वाली वस्तु से पूर्व का) रिक्त काल तो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है; पर यदि इस उद्‌भव को उन वस्तुओं के साथ जोड़ा जाए जो पहले से विद्यमान थीं और जो इस उद्‌भव के समय तक विद्यमान बनी रहती हैं, तब तो यह उद्‌भव पूर्वगामी उन वस्तुओं में जो स्थायी है, उसका एक निर्धारणमात्र होगा। यही बात विलय के संबंध में भी लागू होती है, क्योंकि यह किसी ऐसे समय की आनु-

भविक प्रत्युपस्थापना को मान कर चलता है जिसमें किसी अवभास की सत्ता आगे विद्यमान नहीं रहती।

अवभासों में द्रव्य समस्त कालगत निर्धारणों की आधारभूमियाँ हैं। यदि इनमें से कुछ पदार्थ उद्भूत हो सकें और अन्य कुछ विलीन हो सकें तो समय की आनुभविक एकता का एक प्रतिबन्ध दूर हो जाएगा, और तब अवभासों का संबंध दो कालों से होगा, एवं सत्ता दो समानान्तर धाराओं में प्रवाहित होगी जो एक विसंगत बात है। क्योंकि काल तो केवल एक है जिसके भीतर सब समय सहभाव में नहीं परस्पर पौर्वापर्य-क्रम में स्थापित किये जाने चाहिये।

इस प्रकार स्थायित्व एक ऐसी अनिवार्य शर्त है कि केवल जिसके अधीन अवभास समूह किसी संभव अनुभव वस्तुओं अथवा विषयों के रूप में निर्धार्य होती हैं। इस अनिवार्य स्थायित्व की अनुभवाश्रित कसौटी के विषय में जो परिणामतः अवभासों की वास्तविक पदार्थ की भी कसौटी होगी जो विचार प्रतिपादन करना आवश्यक होगा, उसको हम आगे यथावसर प्रस्तुत करेंगे।

ख

द्वितीय सादृश्य (—उपमान)

कार्य-कारण-भाव के नियम के अनुसार कालगत अनुक्रमिकता का सिद्धान्त

समस्त रूपान्तर कार्य कारण संबंध के नियमानुसार घटित होते हैं।

उपपत्ति

(पूर्वगामी सिद्धान्त ने यह सिद्ध कर दिया कि कालगत अनुक्रमिकता के समस्त अवभास केवल रूपान्तरमात्र हैं, अर्थात् नित्य बने रहने वाले पदार्थ के निर्धारणों के अनुक्रमिक सद्भाव हैं; और इसीलिये पदार्थ के असद्भाव के पश्चात् आने वाला उसका सद्भाव, अथवा सद्भाव के पश्चात् आने वाला असद्भाव—अथवा दूसर शब्दों में स्वयं पदार्थ का उद्भव अथवा विलय असंभव है। इसी बात को इस प्रकार भी प्रकट किया जा सकता है—'अवभासों का समस्त परिवर्तन केवल रूपान्तरमात्र है'; क्योंकि पदार्थ का उद्भव और विलय उसके रूपान्तर नहीं हैं, ऐसा इस कारण है कि रूपान्तर का संबोध तो दो विरोधी निर्धारणाओं से युक्त एक ही विषय की सत्ता को मान कर चलता है अतएव वह उसको स्थायी मान कर प्रवृत्त होता है।—इस आरंभिक उद्बोधक के पश्चात् अब उपपत्ति आरंभ होती है।)

मुझे यह प्रत्यक्ष दिखलाई देता है कि अवभास एक दूसरे के पश्चात् क्रमशः आते हैं--अर्थात् वस्तुओं की अवस्था एक समय ऐसी होती है, जिसकी विरोधी अवस्था इसके पूर्व समय में थी। इस प्रकार मैं वास्तव में कालगत दो प्रत्यक्षों को संबद्ध कर रहा हूँ। अब यह जो संबंध है, यह कोई इन्द्रिय या सहजोपलब्धिमात्र का कार्य नहीं है, प्रत्युत यहाँ यह कल्पना की संश्लेषणात्मक वृत्ति का फल है, जो आन्तर इन्द्रिय को काल के संबंध में निर्धारित करती है। परन्तु कल्पना इन दो अवस्थाओं को दो प्रकार से संयोजित कर सकती है, जिससे या तो एक या दूसरी समय क्रम में पहले आ सके; क्योंकि समय तो स्वयं प्रत्यक्ष देखा नहीं जाता, अतएव किसी विषय में क्या पहले आता है और क्या पीछे यह तो काल के संबंध में अनुभवात्मकतया निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसलिये मैं तो यही जानता हूँ कि मेरी कल्पना शक्ति एक अवस्था को पहले और दूसरी को उसके बाद स्थापित करती है; यह नहीं जानता कि विषय में एक अवस्था दूसरी की पूर्वगामिनी है; दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि केवल प्रत्यक्ष के द्वारा तो अनुक्रमिक अवभासों का विषयगत संबंध पूर्णतया अनिर्णीत रहता है। इस संबंध को निर्धारित रूप में जानने के लिये दोनों अवस्थाओं के संबंध का ऐसे प्रकार से विचार किया जाना चाहिये कि जिससे यह अपरिहार्यतया निर्धारित हो सके कि उन में किस को पहले रखा जाए, और किस को बाद को; तथा उनको इसके विपरीत क्रम में न रखा जा सके। परन्तु जो संबोध अपने साथ सांश्लेषिक एकता की अनिवार्यता को धारण किये रहता है, केवल बोधवृत्ति का शुद्ध संबोध हो सकता है, जो प्रत्यक्ष में निवास नहीं करता, एवं जो प्रस्तुत प्रकरण में कार्य कारण भाव का संबोध है, जिसमें कारण कार्य को अपने अनिवार्य परिणाम के रूप में कालक्रम में निर्धारित करता है। ऐसे परिणाम के रूप में नहीं जो केवल कल्पना में घटित हो सकता है (अथवा जो बिलकुल भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता)। अतएव, यह जो हम अवभासों के अनुक्रम को, एवं तदनुसार समस्त रूपान्तरों को कार्य कारण भाव के अधीन कर देते हैं, इसी के द्वारा स्वयं अनुभव, अर्थात् अवभासों का आनुभविक ज्ञान संभव होता है, एवं परिणामतः अनुभव के विषय के रूप में स्वयं अवभास भी (इस) नियम के अनुसार ही संभव होते हैं।

अवभास के विविधरूपों का अवधारण सर्वदा अनुक्रमिक होता है। भागों की प्रत्युपस्थापनाएँ एक एक करके आती हैं। वे विषय में भी क्रमशः आती हैं या नहीं यह दूसरी ही विचारणीय बात है, जो प्रथम कथन में अन्तर्विष्ट नहीं है। प्रत्येक वस्तु को प्रत्येक प्रत्युपस्थापना तक को, जहाँ तक कि किसी को उसका चेत (ज्ञान) होता है, विषय कहा जा सकता है; पर इस शब्द का आशय अवभासों के संबंध में (उस समय)

क्या होना चाहिये, जहाँ तक कि वे प्रत्युपस्थापनाओं के रूप में विषय जैसे नहीं माने जाते, प्रत्युत जहाँ तक वे किसी विषय को सूचित भर करते हैं, यह गहरे अनुसंधान का विषय है। ये अवभास जहाँ तक कि वे केवल प्रत्युपस्थापना होने के कारण चेतना के विषय होते हैं, वहाँ तक वे उनके अवधारणों से, अर्थात् कल्पना शक्ति के संश्लेषण में उनके ग्रहण से बिलकुल भी पृथक् नहीं होते, अतएव यह कहा जाना चाहिये कि अवभासों में विविधरूप सर्वदा मन में अनुक्रमशः उत्पन्न होता है। यदि अवभास स्वरूपतः वस्तु होते, तो क्योंकि हमारा वास्ता तो केवल अपनी प्रत्युपस्थापनाओं से रहता है, अतएव हम प्रत्युपस्थापनाओं के अनुक्रम से इस बात का निश्चय कभी नहीं कर पाते कि उनका विविधरूप विषय में किस प्रकार से संबद्ध है। वस्तुएँ अपने स्वरूप में, (जिन प्रत्युपस्थापनाओं से वे हम पर प्रभाव डालती हैं, उनसे पृथक्) कैसी हो सकती हैं, यह विषय हमारे ज्ञान के क्षेत्र से बिलकुल बाहर की बात है। पर, यद्यपि अवभास स्वयं स्वरूपतः वस्तुएँ नहीं हैं, और तिस पर भी केवल यही वह तत्व हैं जो हमको ज्ञान के लिये प्रदत्त हो सकती हैं, तथापि, जबकि अवभासों के इस विविधरूप का प्रत्युपस्थापन अवधारण में सर्वदा अनुक्रमिक होता है, यह प्रदर्शित करना मेरा कर्त्तव्य है कि स्वयं अवभासों में जो विविधरूप होते हैं, उनमें कालगत किस प्रकार संयोजन या संबंध पाया जाता है। उदाहरण के लिये, मेरे सामने जो मकान खड़ा हुआ है उसके अवभासगत विविधरूप का अवधारण अनुक्रमिक है। अब यह प्रश्न होता है कि क्या इस मकान का विविधरूप स्वयं अपने आप में भी अनुक्रमिक है ?—पर यह ऐसी बात है जिसको कोई भी नहीं मानना चाहेगा। परन्तु ज्योंही मैं किसी विषय के संबोध को उसके लोकोत्तर आशय की ओर उठाता हूँ, मुझे यह प्रतीत होने लगता है कि मकान स्वरूपतः सत् वस्तु नहीं है प्रत्युत मात्र एक ऐसा अवभास अर्थात् प्रत्युपस्थापना है जिसका लोकोत्तर विषय अज्ञात है; तो फिर इस प्रश्न से मेरा आशय क्या है कि स्वयं अवभास में (जो स्वयं स्वरूपतः सद्वस्तु नहीं है) विविधरूप किस प्रकार संबद्ध होता है? जो तत्व अनुक्रमिक अवधारण में निहित रहता है, उसको यहाँ प्रत्युपस्थापना माना गया है, परन्तु अवभास जो कि मुझे उपलब्ध है, वह इस बात के होते हुए भी कि वह इन प्रत्युपस्थापनाओं की प्रतिमूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उनका विषय माना जाता है, जिसके साथ, अवधारणाओं की प्रत्युपस्थापना से व्युत्पादित मेरे संबोध को संगत होना पड़ता है। क्योंकि ज्ञान की विषय के साथ संगति ही सत्य है, यह शीघ्र ही सूझ पड़ता है कि यहाँ आनुभविक सत्य की औपचारिक शर्तों के संबंध में जिज्ञासा हो सकती है, तथा अवबोध की प्रत्युपस्थापनाओं के विपरीत अवभास को उनसे बिलकुल पृथक् विषय के रूप में केवल तभी प्रत्युपस्थापित किया जा सकता

है, जब वह किसी ऐसे नियम के अधीन स्थित हो, जो इसे प्रत्येक अन्य अवबोध से पृथक् करता है और विविधरूप के संयोजन को अनिवार्य कर देता है। अवभास में वह तत्व जो अपने में अवबोध के इस अनिवार्य नियम की शर्त को अन्तर्विष्ट रखता है, विषय है।

अब हम अपने कार्य की ओर बढ़ें। यह तथ्य कि कोई घटना घटित होती है, अर्थात् काई वस्तु या कोई अवस्था जो पहले सत्ता में नहीं थी, घटित होती है, तब तक दृष्टि-गोचर प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, जब तक उसके पूर्ववर्ती कोई ऐसा अवभास न हो जिसमें यह अवस्था स्वयं अन्तर्विष्ट नहीं थी; क्योंकि कोई ऐसी घटना जो रिक्त समय का अनुसरण करती है, अर्थात् एक ऐसा उद्‌भव जिसके पूर्व किन्हीं वस्तुओं की कोई अवस्था न हो, स्वयं रिक्त समय के समान अनवबोध्य है। अतएव प्रत्येक घटना का अवबोध एक ऐसा प्रत्यक्ष है जो किसी दूसरे प्रत्यक्ष के पश्चात् आता है। परन्तु क्योंकि यह बात अवबोध के सभी संश्लेषणों के संबंध में इसी प्रकार अवस्थित हुआ करती है, जैसा कि मैं ऊपर मकान के अवभास के उदाहरण द्वारा प्रदर्शित कर चुका हूँ, अतएव एक घटना का अवबोध अभी दूसरी घटना के अवबोध से पृथक् नहीं हुआ है। पर मैं यह भी देखता हूँ कि यदि किसी घटना को अपने में अन्तर्विष्ट रखने वाले अवभास में, पूर्वगामी प्रत्यक्ष की अवस्था को 'अ' और पश्चाद्‌गामी को 'ब' नाम दूं, तो 'ब' का अवबोध केवल 'अ' का अनुसरण करते हुए हो सकता है, 'अ' का प्रत्यक्ष 'ब' के पश्चात् नहीं हो सकता, प्रत्युत केवल पूर्वगामी हो सकता है। उदाहरण के लिये, मैं एक जहाज को धारा के प्रवाह की ओर जाते हुए देखता हूँ। मेरा नदी की धारा में नीचे उसकी स्थिति का प्रत्यक्ष, उसकी नदी की धारा में ऊपर की स्थिति के प्रत्यक्ष के पश्चात् आता है, और यह असंभव है कि इस अवभास के अवबोध में जहाज पहले धारा में नीचे देखा जाए और तत्पश्चात् ऊपर। वह क्रम जिसके अनुसार अवबोध में प्रत्यक्ष एक दूसरे का अनुसरण करते हैं, वह इस उदाहरण में सुनिर्धारित है और अवबोध इसी क्रम के साथ बँधा हुआ है। पूर्वगामी मकान के उदाहरण में मेरे प्रत्यक्ष छत के अवबोध से आरंभ होकर उसकी आधारभूमि के साथ समाप्त हो सकते थे, अथवा नीचे से आरम्भ होकर ऊपर समाप्त हो सकते थे; और इसी प्रकार दृष्ट सहजबोध के विविधरूप को दाहिने से बाईं ओर को अवधृत कर सकता अथवा बाईं ओर से दाहिनी ओर को। इन प्रत्यक्षों की शृंखला में ऐसा कोई सुनिर्धारित क्रम नहीं था जो इस बात को अपरिहार्य बना देता कि, विविध रूप को अनुभवात्मकतया आबद्ध करने के लिये मुझे अवधारण में कहाँ से आरंभ करना चाहिये। पर जो घटनाएँ घटित होती हैं, उनके प्रत्यक्ष के संबंध में सर्वदा यह नियम मिलता है, और यह उस क्रम को

जिसके अनुसार इस अवभास के अवधारण में प्रत्यक्ष परस्पर पूर्वापर क्रम से एक दूसरे का अनुसरण करते हैं, अनिवार्य बना देता है।

अपने इस प्रसंग में मुझे इसीलिये अवधारण के विषयिगत अनुक्रम को अवभासों के विषयगत अनुक्रम से व्युत्पादित करना पड़ेगा, क्योंकि अन्यथा तो क्रम पूर्णतया निर्धारित रहता है और किसी भी अवभास को अन्य अवभास से विलग नहीं करता। परन्तु क्योंकि विषयिगत अनुक्रम स्वतः पूर्णतया यादृच्छिक होता है, अतएव यह उस प्रकार के संबंध में कुछ भी सिद्ध नहीं करता जिसके अनुसार विविधरूप विषय में संयोजित रहता है। अतएव विषयगत अनुक्रम अवभास के विविधरूप के उस क्रम में संनिहित होगा जिसके अनुसार किसी नियम की समनुरूपता में, जो घटित होता है उसका अवधारण उसके पूर्वगामी दूसरे के अवधारण के पश्चात् आता है। केवल इसी के द्वारा मैं, अवभासों के विषय में भी, (न केवल अपने अवधारण के विषय में ही) औचित्य के साथ कह सकूँगा कि उसमें एक अनुक्रम मिलता है, जिसका आशय यही है कि मैं अवधारण को इस अनुक्रम को छोड़ अन्य किसी प्रकार से व्यवस्थित नहीं कर सकता।

अतएव ऐसे नियम के अनुसार, किसी घटना के पूर्व जो आता है उसमें किसी नियम को ऐसी शर्त अवश्य संनिहित होनी चाहिये जिसके पश्चात् यह घटना सर्वदा और अनिवार्यतया घटित होती है; पर इसके विपरीत मैं घटना से पीछे की ओर लौट कर नहीं जा सकता, और जो पूर्वगामी है उसको (अवधारण के द्वारा) निर्धारित नहीं कर सकता। क्योंकि अवभास बाद को आने वाले कालविन्दु की ओर से पूर्वगामी कालविन्दु की ओर कदापि नहीं जाता, यद्यपि वह किसी पूर्वगामी कालविन्दु के साथ संबद्ध तो अवश्य ही होता है; दूसरी ओर किसी एक दिये हुए समय से उस निर्धारित समय की ओर जो उसके बाद आता है आगे बढ़ना अनिवार्य है। इसलिए, क्योंकि निश्चय कोई चीज़ ऐसी है जो बाद को आती है, मुझे अवश्य ही उसको किसी ऐसी अन्य वस्तु से संबद्ध करना पड़ेगा जो उसकी पूर्वगामी है, और जिसके पश्चात् यह एक नियम के अनुसार अर्थात् अनिवार्यतया घटित होती है, अतएव प्रतिबन्धित (= अवस्थित रूप) में घटना किसी शर्त के बारे में सुनिश्चित साक्ष्य प्रदान करती है, किन्तु यही शर्त उस घटना को निर्धारित करती है।

अच्छा मान लीजिए कि किसी घटना के पूर्वगामी (ऐसा) कुछ नहीं जिसके बाद इसको नियम के अनुसार अवश्यमेव घटित होना है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष का समस्त अनुक्रम केवलमात्र अवधारण में ही होगा, अर्थात् वह विषयिगतमात्र होगा, पर इसके द्वारा कदापि यह निश्चित नहीं हो सकेगा कि वास्तव में पूर्वगामी प्रत्यक्ष

कौन से हैं और पश्चाद्गामी कौन से हैं। इस प्रकार से तो हम को केवल प्रत्युपस्थापनाओं का खिलवाड़मात्र उपलब्ध होगा जो स्वतः किसी विषय की ओर संकेत नहीं करेगा, अर्थात् हमारे प्रत्यक्षों के द्वारा, कालिक संबंध की दृष्टि से एक अवभास को दूसरे से बिलकुल भी पृथक् नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि हमारे अवधारण में तो प्रत्यक्ष सर्वदा एकमेवाद्वितीय ही रहेगा, और इसलिये अवभास कोई ऐसा तत्व नहीं होगा जो उसको इस प्रकार नियंत्रित कर सके कि जिससे एक विशिष्ट पौर्वापर्य वैषयिकतया अनिवार्य बन जाए। इसलिये मैं यह नहीं कह सकूँगा कि अवभास के क्षेत्र में दो अवस्थाएँ एक दूसरे के पश्चात् आती हैं प्रत्युत केवल यही कह सकूँगा कि एक अवधारण दूसरे के पश्चात् आता है। परन्तु यह तो बिलकुल विषयिगत तथ्य है, और किसी विषय का निर्धारण नहीं करता, अतएव किसी भी विषय का [यहाँ तक अवभास (के क्षेत्र) गत विषय का] ज्ञान रूप नहीं माना जा सकता।

अतएव यदि हम यह अनुभव करते हैं कि कुछ वस्तु घटित होती है, तो ऐसा अनुभव करने के साथ ही साथ हम यह पहले से कल्पना करते हैं कि कोई ऐसी अन्य वस्तु उसकी पूर्ववर्ती होती है जिसके पश्चात् वह वस्तु एक नियम के अनुसार घटित होती है। क्योंकि इसके बिना मैं विषय के संबंध में यह नहीं कह सकूँगा कि वह (किसी का) अनुसरण करता है, इस का कारण यह है कि मेरे अवधारण में केवल अनुक्रम-मात्र (यदि वह किसी पूर्वगामी वस्तु के संबंध में नियम के द्वारा निर्धारित न हो) विषय में किसी अनुक्रम को ठीक नहीं ठहराता। अतएव यह सर्वदा किसी (एक ऐसे) नियम की दृष्टि से ही घटित होता है, जिस के अनुसार अवभास अपने अनुक्रम में, अर्थात् जैसे वे घटित हैं, पूर्ववर्ती अवस्था से नियंत्रित (= निर्धारित) होते हैं, कि मैं अपने अवधारण के आत्मगत संश्लेषण को विषयगत बना (सक) ता हूँ, और केवल-मात्र इसी पूर्वभावना के अधीन ही किसी घटना का अनुभव भी संभव हुआ करता है।

निस्सन्देह ऐसा लगता है कि मानों यह उन सब विचारों का पूर्णतया विरोधी है जो सर्वदा से हमारी बोधवृत्ति की कार्यपद्धति के संबंध में माने जाते रहे हैं; जिनके अनुसार हम पहले पहल केवल ऐसी घटनाओं के निरीक्षण और तुलना के द्वारा जो पूर्वगामी अवभासों के पश्चात् एक से ढंग से बार-बार घटित हुआ करती हैं, उस नियम का आविष्कार करने में समर्थ होते हैं जिसके अनुसार कुछ घटनाएँ कुछ अन्य अवभासों के पश्चात् सर्वदा आया करती हैं, और इस प्रकार से हम सर्वप्रथम कारण के संबोध को अपने लिये निर्माण करने योग्य होते हैं। ऐसे आधार पर निर्मित यह संबोध केवल अनुभवाश्रित होगा, एवं जिस नियम को यह उपलब्ध कराता है—'जो कुछ भी घटित होता है उसका कारण हुआ करता है'—वह भी उतना ही संभाव्य होगा जितना

कि वह अनुभव होता है जिसके ऊपर वह आश्रित है उसकी व्यापकता और अनिवार्यता ऐसी अवस्था में केवल आरोपितमात्र होंगी, और उनमें कोई सच्ची सर्वगत प्रामाणिकता नहीं होगी, क्योंकि उनका आधार प्रागनुभवात्मक नहीं है प्रत्युत वे दृष्ट सामान्यनुमान पर आश्रित हैं। पर इस नियम की भी स्थिति वैसी ही है जैसी कि अन्य शुद्ध प्रागनुभवात्मक प्रत्युपस्थापनाओं की—उदाहरणार्थ देश और काल की—है, जिनको हम स्पष्ट संबोधों के रूप में अनुभव से केवल इसलिये निकाल सकते हैं क्योंकि हमने उनको अनुभव में संस्थापित किया था, और केवल इन्हीं के द्वारा अनुभव को सर्वप्रथम प्राप्त किया था। निश्चय ही इस घटनाओं की शृंखला का नियंत्रण करने वाले (कारण के संबोध के रूप में) नियम की इस प्रत्युपस्थापना की यौक्तिक स्पष्टता केवल तभी संभव हो सकती है जब कि हम अनुभव में इसका उपयोग कर चुकते हैं। किन्तु फिर भी कालगत अवभासों की सांश्लेषिक एकता की शर्त के रूप में इस नियम का अंगीकार करना स्वयं अनुभव का आधार रहा है, एवं इसीलिये प्रागनुभवात्मकतया इसका पूर्ववर्ती रहा है।

तब इसके पश्चात् प्रस्तुत प्रसंग के संबंध में हमको यह दिखलाना आवश्यक हो जाता है कि जब तक मूलाधार में कोई ऐसा नियम निहित न हो जो हमको प्रत्यक्षों के अन्य किसी क्रम की अपेक्षा इसी क्रम को दृष्टिगत रखने के लिये बाध्य करता हो तब तक हम अनुभव में भी अनुघटन को (अर्थात् पहले से असत् वस्तु या घटना के घटने को) विषय के कारण घटित हुआ कदापि नहीं मानते; इतना नहीं, वास्तव में यह उपर्युक्त बाध्यता ही विषय में अनुक्रम की प्रत्युपस्थापना आरंभ में संभव बनाती है।

प्रत्युपस्थापनाएँ हमारे अपने भीतर रहती हैं और हम उनके विषय में चेतनायुक्त हो सकते हैं। परन्तु यह चेतना चाहे कितनी ही दूर तक विस्तृत क्यों न हो, और चाहे कितनी ही ठीक ठीक नपी तुली और सूक्ष्म समयनिष्ठ क्यों न हो पर तो भी यह सदा प्रत्युपस्थापना ही रहती है, अर्थात् काल के किसी एक या दूसरे संबंध में हमारे मानस के आन्तरिक निर्धारण ही रहते हैं। तो फिर यह कैसे घटित होता है कि हम इन प्रत्युपस्थापनाओं के साथ विषय को जोड़ देते हैं, अथवा रूपान्तरों के रूप में उनकी विषयिगत वास्तविकता के अतिरिक्त हम उन पर एक रहस्यमयी बाह्यविषयगत यथार्थता लागू करते हैं? वैषयिक अर्थ (जिस को विषय कहना इष्ट है उसकी) दूसरी प्रत्युपस्थापना के संबंध में संनिहित नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी अवस्था में पुनः नया प्रश्न उपस्थित होगा कि "यह दूसरी प्रत्युपस्थापना मानसिक अवस्था के नियंत्रण के रूप में जो आन्तरिक आशय रखती है उसके अतिरिक्त बाह्य वैषयिक अर्थ को प्राप्त करके अपने से बाहर किस प्रकार पहुँच जाती है?" यदि हम इस बात

का अनुसंधान करना चाहें कि "किसी विषय के साथ संबंध" हमारी प्रत्युपस्थापनाओं को कौन सा नवीन स्वरूप प्रदान करता है, और वे उसके द्वारा कौन सी गरिमा को प्राप्त करती हैं, तो हमको पता चलता है कि वह इसके आगे और कुछ नहीं करता कि प्रत्युपस्थापनाओं के संबंधन को एक विशिष्ट प्रकार के अनुसार अनिवार्य बना दे और उन को एक नियम के अधीन कर दे, और विलोमतः क्योंकि हमारी प्रत्युपस्थापनाओं के कालविषयक संबंधों में एक विशिष्ट क्रम अनिवार्य होता है अतएव केवल इसीलिये उनको विषयगत आशय की उपलब्धि हुआ करती है।

अवभासों के संश्लेषण में प्रत्युपस्थापनाओं का विविधरूप सर्वदा परस्पर अनुक्रमिक होता है। पर इसके द्वारा कोई भी विषय प्रत्युपस्थापित नहीं होगा; क्योंकि इस अनुक्रम से, जो कि सब अवधारणाओं में समान रूप से पाया जाता है, कोई भी वस्तु दूसरी से पृथक् नहीं होगी। परन्तु ज्योंही मैं देखता हूँ कि इस अनुक्रम में पूर्वगामी अवस्था के साथ संबंध निहित है, जिस के उपरान्त एक नियम के अनुसार प्रत्युपस्थापना उसका अनुसरण करती है, त्योंही मैं एक घटना को अथवा कुछ ऐसी वस्तु को जो घटित होती है प्रत्युपस्थापित करता हूँ, अर्थात् मुझे एक ऐसे विषयका ज्ञान होता है जिसको मुझे समय के अन्तर्गत एक विशिष्ट निर्दिष्ट स्थान देना पड़ता है जो पूर्वगामी अवस्था के पश्चात् किसी अन्य प्रकार का नहीं हो सकता। अतएव जब मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि कुछ बात घटित होती है, तो प्रथमतः तो इस प्रत्युपस्थापना में यह बात अन्तर्विष्ट रहती है कि कुछ बात इसके पूर्ववर्ती थी, क्योंकि जो पूर्ववर्ती है उसी के संबंध में ही तो अवभास अपने कालसंबंध को प्राप्त करता है, अर्थात् उस पूर्ववर्ती के पश्चात् विद्यमान होने की अवस्था को प्राप्त करता है जब कि यह स्वयं नहीं था। परन्तु इस कालसंबंध में वह अपना यह सुनिश्चित स्थान केवल उसी सीमा तक प्राप्त कर सकता जिस सीमा तक पूर्वावस्था में ऐसी कुछ बात को पूर्वस्थित माना जाए जिसके होने पर यह सर्वदा घटित होता, अर्थात् एक नियम के अनुसार अनुसरण करता हुआ माना जाए; जिस से यह परिणाम निकलता है कि प्रथम तो मैं घटनावलि को उलट नहीं सकता, जो पीछे घटित होती है उस घटना को उसकी पूर्ववर्ती घटना के पहले नहीं रख सकता, और दूसरे कि यदि पूर्वगामी अवस्था उपस्थित की जाए तो तन्नियंत्रित घटना अनिवार्यतया और आवश्यकतया उसके पश्चात् घटित होती ही है। इस से जो निष्कर्ष निकला वह यह है कि हमारी प्रत्युपस्थापनाओं में एक क्रम-व्यवस्था पाई जाती है जिस में वर्त्तमान (जहाँ तक कि वह अपने प्रस्तुत रूप को प्राप्त हुआ है) किसी ऐसी पूर्वगामी अवस्था का निर्देश देता है जो दी हुई घटना की सहबन्धिनी है; यद्यपि यह सहबन्धिनी अवस्था अवश्य ही अनिर्धारित है, फिर भी यह अवस्था दी हुई

घटना के साथ उसको अपने परिणाम के रूप में निर्धारित करने के संबंध में स्थित होती है, और उस घटना को काल-शृंखला में अनिवार्यतया अपने साथ संबद्ध करती है।

तो अब यदि यह हमारी संवेदनशीलता का आवश्यक नियम, और इसीलिये हमारे समस्त प्रत्यक्षों की औपचारिक शर्त है कि पूर्वगामी काल पश्चात् आने वाले काल को अनिवार्यतया निर्धारित करता है (क्योंकि मैं बिना पूर्वगामी काल में गुजरे हुए आगामी काल की ओर नहीं बढ़ सकता) ; अतएव काल-शृंखला की दृष्ट प्रत्युपस्थापनाओं का भी यही एक अपरिहार्य नियम है कि भूत काल के अवभास पश्चात् आने वाले काल की समस्त सत्ताओं का निर्धारण करते हैं, एवं घटनाओं के रूप में यह पीछे आने वाली सत्ताएँ तब तक घटित नहीं हो सकतीं जब तक कि वे (पूर्वगामी अवभास) इनका काल में निर्धारण न करें, अर्थात् एक नियम के अनुसार उनका निर्धारण न करें, क्योंकि केवल अवभासों में ही हम इस कालगत समन्वय के सातत्य को अनुभव के रूप में अवधारित कर सकते हैं।

समस्त अनुभव और उसकी संभावना के लिए बोधवृत्ति अपेक्षित है, और उसके निमित्त जो पहला काम यह करती है वह यह नहीं है कि यह विषयों की प्रत्युपस्थापना को स्पष्ट बनाती है, प्रत्युत यह है कि वह किसी विषय की सामान्यतया प्रत्युपस्थापना को संभव बनाती है। यह इस प्रकार घटित होता है कि बोधवृत्ति कालक्रम को अवभासों और उनकी सत्ता में उपनीत कर देती है, क्योंकि परिणाम रूप में उन में से प्रत्येक को पूर्वगामी अवभास के संबंध में ऐसा स्थान प्रदान करती है जो प्रागनुभवात्मकतया काल में निर्धारित (=नियंत्रित) होता है, जिसके बिना वे उस काल के साथ भी समन्वित नहीं होंगी जो प्रागनुभवात्मक प्रकार से अपने सब भागों के स्थान को निर्धारित करता है। स्थान का यह निर्धारण निरपेक्ष्य काल के प्रति अवभासों के संबंध से व्युत्पादित नहीं हो सकता (क्योंकि निरपेक्ष्य काल तो प्रत्यक्ष का विषय होता नहीं), प्रत्युत इसके विपरीत, अवभासों को ही परस्पर काल में अपना स्थान निर्धारित करना चाहिये और कालक्रम में उन स्थानों को अनिवार्य बनाना चाहिये, अर्थात् जो बाद को आता है अथवा घटित होता है, उसको उस तत्व के पश्चात् ,एक सर्वव्यापी नियम के अनुसार घटित होना चाहिये जो (तत्व) पूर्वगामी अवस्था में अन्तर्विष्ट है, जिससे कि इस प्रकार अवभासों की एक शृंखला उत्पन्न होती है जो बोधवृत्ति के द्वारा संभव प्रत्यक्षों की शृंखला में सतत संबंध के वैसे ही क्रम को उत्पन्न करता और अनिवार्य बनाता है, जैसा कि आन्तरिक उपलब्धि के उस आकार में, जिसमें कि सब प्रत्यक्षों को अपना स्थान अवश्यमेव मिलता है, प्रागनुभवात्मकतया उपलब्ध होता है।

अतएव यह तथ्य कि कुछ घटित है एक प्रत्यक्ष है जिसका संबंध किसी संभव

अनुभव से है जो तब वास्तविक हो जाता है जब मैं अवभास को काल में अपनी स्थिति में निर्धारित हुआ मानता हूँ और इसलिये एक ऐसे विषय के रूप में मानता हूँ जो एक नियम के अनुसार सर्वदा प्रत्यक्षों के संबंध में पाया जा सकता है। पर यह किसी वस्तु को समय के अनुक्रम के अनुसार निर्धारित करने का नियम इस प्रकार है कि वह शर्त जिसके अनुसार कोई घटना बिना बदल के अवश्य ही घटित होती है उस में पाई जाती है जो उस घटना का पूर्ववर्ती है। इस प्रकार पर्याप्त कारण का सिद्धान्त संभव अनुभव का आधार है, अर्थात् काल के अनुक्रम में उनके संबंध की दृष्टि से अवभासों के वैषयिक ज्ञान का आधार है।

परंतु इस सिद्धान्त की उपपत्ति निम्नलिखित विचारों पर आश्रित है। समस्त आनुभविक ज्ञान में कल्पना शक्ति के द्वारा विविधरूप का संश्लेषण पाया जाता है, जो सर्वदा अनुक्रमिक होता है, अर्थात् ऐसा होता है कि उसमें प्रत्युपस्थापनाएँ परस्पर एक दूसरे के पश्चात् आती हैं। परन्तु यह पौर्वापर्य किसी प्रकार अपने अनुक्रम में ऐसा निर्धारित नहीं होता कि क्या पहले आएगा और क्या बाद को आएगा, और अनुक्रमिक प्रत्युपस्थापनाओं की शृंखला को जैसे आगे की ओर बढ़ते हुए वैसे ही पीछे की ओर लौटते हुए ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु यदि यह संश्लेषण (किसी दिये हुए अवभास के विविधरूप की) अवधारणा का संश्लेषण है, तब तो अनुक्रम विषय में निर्धारित है, अथवा अधिक ठीक कहें तो कहना चाहिये कि (यह) अनुक्रम अनुक्रमिक संश्लेषण का अनुक्रम जो किसी विषय को निर्धारित करता है जिसके अनुसार कोई वस्तु अवश्यमेव पूर्ववर्ती होनी चाहिये, और जब इस (पूर्ववर्ती वस्तु) की स्थिति को स्वीकार कर लिया गया तो अन्य दूसरी वस्तु उसके पश्चात् अवश्य आनी चाहिये। अतएव यदि मेरे प्रत्यक्ष में किसी घटना का ज्ञान अन्तर्विष्ट होना है, अर्थात् किसी वास्तव में घटित होने वाले तथ्य का ज्ञान अन्तर्विष्ट होना है, तो उसको आनुभविक विभावना होना चाहिये, जिस में यह विचारा गया हो कि उत्तरक्रम निर्धारित है, अर्थात् वह कालक्रम में दूसरे अवभास की पूर्वसत्ता की कल्पना करता है जिसके पश्चात् वह नियमानुसार अनिवार्यतया घटित होती है। अन्यथा, यदि मैं पूर्वांग (पूर्वगामी) को स्थापित करूँ और तदुपरान्त उत्तरांग अनिवार्यतया घटित न हो तो मुझको अनुक्रम को केवल अपनी कल्पना का आत्मगत खिलवाड़ मानना पड़ेगा, और यदि मैं इस पर भी उसको वैषयिक रूप में प्रत्युपस्थापित करूँ तो मुझे उसको केवल स्वप्न का नाम देना पड़ेगा। इस प्रकार (संभव प्रत्यक्ष के रूप में) अवभासों का संबंध जिसके अनुसार पश्चाद्गामी घटना (जो घटित होती है) अपने अस्तित्व के संबंध में काल के अन्तर्गत पूर्ववर्ती किसी तथ्य के द्वारा नियम के अनुसार अनिवार्य-

तया नियंत्रित होती है, अतएव दूसरे शब्दों में कारण के साथ कार्य का संबंध (ही) प्रत्यक्षों की शृंखला में हमारी दृष्ट विभावनाओं की वैषयिक प्रामाणिकता की, और इसीलिये उनकी आनुभविक सत्यता की शर्त है, और इसीलिये अनुभव की भी शर्त है। अतएव अवभासों के अनुक्रम में कार्य कारण संबंध अनुभव के सब विषयों के प्रसंग भी, जहाँ तक वे पौर्वापर्यक्रम की शर्त के अधीन हैं, प्रामाणिक है, क्योंकि वह स्वयं इस प्रकार के अनुभव की संभावना का आधार है।

पर अब यहाँ एक चिन्तनीय कठिनाई उपस्थित होती है जिसको दूर किया जाना चाहिये। अवभासों में कार्य कारण संबंध हमारे गुर में केवल उनके पौर्वापर्यक्रम तक सीमित है, जबकि व्यवहार में यह प्रतीत होता है कि वह उनके सहास्तित्व के प्रसंग में भी लागू होता है, तथा कारण और कार्य समकालिक हो सकते हैं। उदाहरण के लिये कमरे में गर्मी है, जो बाहर खुली हवा में नहीं मिलेगी। मैं चारों ओर इसके कारण को खोजने के लिये देखता हूँ और एक गर्म किए हुए चूल्हे को देख पाता हूँ। अब यहाँ यह चूल्हा कारण के रूप में अपने कार्य, कमरे की गर्मी, के साथ समकालिक है; इस प्रकार यहाँ कारण और कार्य के बीच में कालगत पौर्वापय का संबंध नहीं है, प्रत्युत वे सम-कालिक हैं और तब भी सिद्धान्त प्रामाणिकतया लागू हो रहा है। प्रकृति में प्रभा-वोत्पादक कारणों की बहुत बड़ी संख्या अपने कार्यों के साथ समकालिक हुआ करती है, एवं उत्तरांग का (अर्थात् कार्य का) काल में कुछ पीछे आना केवल इस हेतु होता है कि कारण अपने समस्त कार्य को एक क्षण में ही प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु जिस क्षण में कार्य अस्तित्व में आता है, उस क्षण में वह अपने कारण के कारणत्व के साथ नित्य ही समकालिक होता है क्योंकि यदि कारण केवल एक क्षण पहले सत्ताशून्य हो जाता तो कारण कदापि भी उत्पन्न न हुआ होता। [यहाँ इस बात का ध्यान अवश्य भले प्रकार रखना चाहिये कि यहाँ हमको काल के अनुक्रम का न कि उस के व्यतीत होने से वास्ता रखना (या सामना करना) है।] संबन्ध तब भी रहता है जब कि समय बिलकुल भी व्यतीत नहीं हुआ होता। कारण की कारणता और उसके फौरन ही उत्पन्न होने वाले कार्य के मध्य में व्यतीत होने वाला समय शून्यता को प्राप्त होने वाला हो सकता है, और इस प्रकार वे समकालिक हो सकते हैं; परन्तु तो भी एक का दूसरे के साथ संबंध, काल के अन्तर्गत सर्वदा ही निर्धार्य रहा करता है। जब कि मैं एक ऐसी गेंद (या गोले) को, जो कि अपनी दाब से एक भरे हुए गद्दे पर एक गढ़हा बनाती है, कारण रूप मानूं तो कारण कार्य के साथ समकालिक होगा। पर तो भी मैं दोनों के गत्यात्मक संयोग के कालगत संबंध के कारण उन दोनों को पृथक् करता हूँ। क्योंकि जब मैं गेंद को गद्दे पर रखता हूँ, तब पहले के सपाट धरातल पर गढ़हा उत्पन्न

हो जाता है; पर यदि गद्दे में पहले से ही (किसी कारण से जो मुझे मालूम नहीं) गढ़हा हो, तो उसके पश्चात् शीशे की गेंद का प्रादुर्भाव नहीं होता।

इस प्रकार कारण के कार्य से पूर्ववर्ती कारणत्व के साथ संबन्ध की दृष्टि से कार्य की एकमात्र आनुभविक कसौटी निश्चयमेव कालगत अनुक्रमिकता ही है। गिलास जल के क्षैतिज धरातल के ऊपर उठने का कारण है, यद्यपि दोनों ही अवभास समकालिक हैं। क्योंकि ज्यों ही मैं किसी बड़े बरतन से गिलास में पानी निकालता हूँ तत्काल ही कुछ बात घटित होती है, अर्थात् उस समय तक जो जल के धरातल की क्षैतिज स्थिति थी उसके बदले में जल का धरातल गिलास न्युब्ज स्थिति धारण कर लेता है।

यह कारणता हमको व्यापार के संबोध की ओर ले जाती है, व्यापार बल के संबोध की ओर बल का संबोध द्रव्य के संबोध की ओर ले जाता है। क्योंकि अपनी मीमांसात्मक योजना को, जिसका वास्ता एकमात्र प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक ज्ञान के उद्गमों से है, विश्लेषण के साथ उलझाना नहीं चाहता, जिस का उद्देश्य केवल संबोधों को स्पष्ट करना (न कि विस्तृत करना) होता है, अतएव मैं उन संबोधों के सार्वदिशीक विवरण को शुद्ध बुद्धि के भावी संस्थान के लिये छोड़े दे रहा हूँ; यद्यपि इस प्रकार का विश्लेषण पहले ही पर्याप्त मात्रा में अब तक की इस प्रकार की पाठ्यपुस्तकों में पाया जाता है। परन्तु द्रव्य की सत्ता की आनुभविक कसौटी को, जहाँ तक कि द्रव्य अपने को अवभास के स्थायित्व द्वारा नहीं, प्रत्युत अपेक्षाकृत अधिक अच्छे और सरल प्रकार से व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त करता है, मैं अछूता नहीं छोड़ सकता।

जहाँ कार्य (=व्यापार) होता है, और इसीलिये जहाँ सक्रियता और शक्ति होती हैं, वहीं द्रव्य भी होता है, और केवल द्रव्य में ही अवभासों के इस सफल उद्गम के आश्रयस्थल की खोज की जानी चाहिये। कहने को तो यह बिलकुल ठीक कहा गया है, परन्तु पर जब यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है कि द्रव्य से क्या तात्पर्य समझा जाए, और ऐसा करने में अनवस्था दोष से बचने की भी सावधानी बरती जाती है, तो उत्तर खोज निकालना उतना सरल नहीं मालूम पड़ता। व्यापार से प्रत्यक्षतया तत्काल व्यापारवान् के स्थायित्व के निष्कर्ष पर कैसे पहुँचा जाएगा, जो (स्थायित्व), अवभास के रूप में द्रव्य का एक अत्यन्त और सारभूत और विशिष्ट जानने का चिह्न है? परन्तु हमारे पूर्ववर्णित विवेचन के अनुसार इस प्रश्न का हल ऐसी कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करता, यद्यपि सामान्य प्रकार से (जो कि संबोधों का केवल वैश्लेषिकतया विचार करता है) यह प्रश्न पूर्णतया असमाधान योग्य रहेगा। व्यापार कारणता के विषय के साथ उसके कार्य के संबंध को द्योतित करता है। अब क्योंकि प्रत्येक कार्य (=परिणाम) उससे संघटित हुआ करता है जो घटित होता है, अतएव परिवर्तन-

शील से निर्मित होता है जो काल को उसके अनुक्रम के लक्षण में द्योतित करता है, अतः उसका चरम विषय, समस्त परिवर्तनशील वस्तुओं के अधिष्ठान के रूप में, स्थायी अर्थात् द्रव्य है। कारण यह है कि कारणता के सिद्धान्त के अनुसार अवभासों के समस्त परिवर्तनों का प्रथम आधार सर्वदा कार्य (=व्यापार) ही होते हैं, अतएव वे किसी ऐसे विषय में नहीं पाए जा सकते जो स्वयं बदला करता है, क्योंकि ऐसी दशा में अन्य व्यापार और एक और दूसरा विषय परिवर्तन को निर्धारित करने के लिये अपेक्षित होगा। इस कारण किसी विषय के द्रव्यत्व को स्थापित करने के लिये व्यापार एक पर्याप्त आनुभविक कसौटी है, और इसके लिये मुझे प्रत्यक्षों की तुलना के द्वारा उसके स्थायित्व की खोज में जाना आवश्यक नहीं है, जिससे इस प्रकार से उस परिपूर्णता को भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, जो संबोध की विशालता और कठोर सर्वव्यापकता के लिये आवश्यक है। यह तथ्य कि समस्त उद्भव और विलय की कारणता स्वयमेव (अवभासों के क्षेत्र में) उद्भूत और विलीन नहीं हो सकती, एक ऐसा सुनिश्चित निष्कर्ष है जो सत्ता में आनुभविक अनिवार्यता और स्थायित्व के संबोध की ओर और इसीलिये अवभास के रूप में द्रव्य के संबोध की ओर ले जाने वाला है।

जब कोई बात घटित होती है, तो केवल उद्भवमात्र का तथ्य, बिना इस बात पर दृष्टिपात किये कि क्या घटित हुआ है, स्वतः अन्वेषण का विषय है। किसी अवस्था का असत् से बदल कर विद्यमान अवस्था के प्राप्त होना, [यह मान लेने पर भी कि इस अवस्था ने घटित होने पर अवभास (के क्षेत्र) में कोई विशेषता प्रदर्शित नहीं की] स्वयं अपने आप अनुसंधान की अपेक्षा करता है। जैसा कि प्रथम सादृश्य में प्रदर्शित किया गया था यह उद्भव द्रव्य से (जो उद्भूत नहीं होता) वास्ता नहीं रखता, प्रत्युत उसकी अवस्था से वास्ता रखता है। अतएव यह केवल रूपान्तरमात्र है, असत् से उद्भव नहीं है। यदि असत् से होने वाले उद्भव को विदेशी कारण का कार्य मानें, तो उसको सृष्टि कहना पड़ेगा, जिसको अवभासों के मध्य में घटना के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसकी संभावनामात्र अनुभव की एकता को उन्मूलित कर देगी। यद्यपि, यदि मैं समस्त वस्तुओं को अवभासों के रूप में न देख कर स्वतः सत्तावान् वस्तुओं के रूप में देखूं, और बोधवृत्तिमात्र के विषयों के रूप में देखूं, तो उनके द्रव्य होने पर भी वे अपनी सत्ता की दृष्टि से विजातीय कारण पर अवलंबित माने जा सकते हैं, पर तब तो हमारे शब्दों का आशय बिलकुल भिन्न हो जाएगा, और वह अनुभव के संभव विषय के रूप में अवभासों के प्रति लागू नहीं होगा।

सामान्यतः कोई वस्तु किसी प्रकार रूपान्तरित हो सकती है; यह कैसे संभव है कि किसी दिये हुए क्षण में एक अवस्था के उपरान्त दूसरे क्षण उसके नितान्त विपरीत

दूसरी अवस्था उपस्थित हो सकती है --इस विषय का प्रागनुभवात्मकतया हमको लेशमात्र भी भान या संबोध प्राप्त नहीं है। इसके लिये वास्तविक शक्तियों का ज्ञान अपेक्षित है, जो केवल अनुभव के द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। जैसे उदाहरण के लिये गतिशील वेगों का ज्ञान अथवा दूसरे शब्दों में उसी बात को कहें तो, कतिपय अनुक्रमिक अवभासों का ज्ञान जो (गतिरूप में) ऐसे वेगों (या शक्तियों) को द्योतित करते हैं, परन्तु तो भी प्रत्येक रूपान्तर का आकार, यह प्रतिबन्ध या शर्त जिसके अधीन अन्य अवस्था के उद्भव के रूप में ही यह घटित हो सकता है, और इसलिये स्वयं अवस्थाओं का पूर्वापर क्रम इन सब बातों का (फिर चाहे रूपान्तर का अन्तर्विष्ट विषय, अथवा परिवर्तित हुई अवस्था कुछ भी क्यों न हो) कारणता के सिद्धान्त के और काल के प्रतिबन्धों के अनुसार, विचार प्रागनुभवात्मकतया किया जा सकता है। [कां.]

जब कोई द्रव्य एक अवस्था 'क' से दूसरी अवस्था 'ख' को प्राप्त होता है, तो दूसरे का कालविन्दु प्रथम के कालविन्दु से पृथक् होता है और उसके पश्चात् आता है। इसी प्रकार अवभासों के क्षेत्र में वास्तविकता के रूप में दूसरी अवस्था भी, प्रथम अवस्था से (जिसमें इसकी सत्ता नहीं थी) इतनी पृथक् है जितनी शून्य से 'ख'; अर्थात् यदि अवस्था 'ख' अवस्था 'क' से केवल परिमाण में ही भिन्न क्यों न हो, फिर भी उद्भव (ख—क) होगा जो पूर्व अवस्था में नहीं था, जिसकी दृष्टि से यह शून्य (०) के बराबर है।

अतएव प्रश्न यह उठता है कि कोई वस्तु किसी एक अवस्था में जो 'क' के बराबर है और दूसरी अवस्था में जो 'ख' के बराबर है किस प्रकार बदल जाती है। दो पलों के मध्य में सर्वदा समय होता है, तथा दो पलों की किन्हीं दो अवस्थाओं के मध्य में सर्वदा ऐसा अन्तर हुआ करता है जिसका परिमाण होता है (क्योंकि अवभासों के समस्त अंश स्वयं परिमाण होते हैं)। अतएव एक अवस्था से दूसरी अवस्था में होने वाला समस्त संक्रमण (या रूपान्तर) ऐसे समय में होता है जो दो पलों (या क्षणों) के मध्य में अन्तर्विष्ट है, जिनमें से प्रथम (क्षण) उस अवस्था को निर्धारित करता है जिससे वस्तु उद्भूत होती है, और दूसरा उस (अवस्था) को निर्धारित करता है जिसमें वह बदल जाती है। इस प्रकार दोनों पल (या क्षण) किसी परिवर्तन के काल की सीमाएँ

कां. यह बात भले प्रकार समझ ली जानी चाहिये कि मैं सामान्यरूपेण किन्हीं निश्चित संबंधों के परिवर्तन की बात नहीं कह रहा हूँ प्रत्युत अवस्था के परिवर्तन की कह रहा हूँ। इसलिये जब कोई पिंड एक समान गति से चलता रहता है तो वह अपनी (गति की) अवस्था को बिलकुल नहीं बदलता ; यह (= अवस्था परिवर्तन) तो तभी होता है जब उसकी गति बढ़ती या घटती है।

हैं, अतएव दोनों अवस्थाओं की मध्यवर्तिनी अवस्था की सीमाएँ हैं, और इस रूप में वे समस्त परिवर्तन के अंशभाक् हैं। प्रत्येक परिवर्त्तन का कोई कारण होता है जो, जितने समय समय में परिवर्त्तन होता है उस सब समय में अपनी कारणता को व्यक्त करता है। इसलिये यह कारण परिवर्तन को एकदम उत्पन्न नहीं कर देता, (अर्थात् एकबारगी या एक क्षण में ही उत्पन्न नहीं कर देता) प्रत्युत ऐसा कुछ समय में करता है, जिससे, जैसे समय प्रारंभिक क्षण 'क' से उसकी पूर्णता के क्षण 'ख' तक बढ़ता है वैसे ही वास्तविकता (ख–क) का परिमाण उस सब लघुतर मात्राओं में होता हुआ बढ़ता जाता है जो प्रथम और चरम के मध्य में अन्तर्विष्ट हैं। इस प्रकार समस्त परिवर्तन केवल कारणता के सतत व्यापार के द्वारा ही संभव है, जो (व्यापार) जहाँ तक वह एकरूप है एक क्षण कहलाता है। परिवर्तन इन क्षणों से संघटित नहीं होता, प्रत्युत उनके द्वारा अपने परिणाम के रूप में उत्पन्न किया जाता है।

यही समस्त परिवर्तन के सातत्य का नियम है, जिसका मूलाधार यह है कि काल और कालगत अवभास दोनों ही लघुतम संभव खंडों से संघटित नहीं होते किन्तु फिर भी किसी भी वस्तु की अवस्था अपने परिवर्तन (के सिलसिले) में तत्वांशों के रूप में इन सब खंडों में गुज़रती हुई दूसरी अवस्था तक पहुँचा करती है। अवभास के क्षेत्र में वास्तविक का कोई अन्तर ऐसा नहीं है जो सब से छोटा हो, यह स्थिति ठीक वैसी है जैसी कि काल के परिमाण की है, जहाँ कि कालों के परिमाण में कोई काल ऐसा नहीं है जो सब से छोटा हो; और इसके अनुसार वास्तविकता की नयी अवस्था प्रथम से, जिसमें यह वास्तविकता नहीं थी, आगे बढ़ती है और उन सब अनन्त अवस्थाओं में होकर गुज़रती है जिनका एक दूसरे का परस्पर अन्तर शून्य और 'क' के अन्तर से अपेक्षाकत न्यून है।

हमको इस बात से कोई वास्ता नहीं कि यह सिद्धान्त प्रकृति के अनुसंधान में क्या उपयोगिता रखता है। परन्तु, एक ऐसा सिद्धान्त जो हमारे प्रकृति संबंधी ज्ञान को बढ़ाता प्रतीत होता है, किस प्रकार पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया संभव हो सकता है, यह बात ऐसी है जो हमारे द्वारा परीक्षण की अत्यधिक अपेक्षा करती है, फिर चाहे प्रत्यक्ष निरीक्षण ही इस बात को सिद्ध क्यों न कर दे कि यह सिद्धान्त सत्य और सही है और चाहे इसीलिये यह प्रश्न कि यह कैसे संभव है, अनावश्यक ही क्यों न मान लिया जाए। क्योंकि शुद्ध बुद्धि के द्वारा हमारे ज्ञान का विस्तार करने के लिये तो न जाने कितने निराधार धृष्टतापूर्ण दावे पेश किये जाते हैं कि इस बात को एक सर्वव्यापी नियम मान लेना चाहिये कि इस प्रकार का धृष्टतापूर्ण दावा स्वतः सर्वदा अविश्वसनीयता का हेतु माना जाना चाहिये, तथा तलस्पर्शी (=मूलंकष) निगमन के द्वारा प्रदत्त

साक्ष्य के बिना हमको ऐसे दावों पर न तो विश्वास ही करना चाहिय और न उनको मानकर चलना चाहिये, चाहे उनकी अयौक्तिक सम्मति पर आश्रित उपपत्ति कितनी ही स्पष्ट क्यों न हो।

आनुभविक ज्ञान की समस्त वृद्धि, और प्रत्यक्ष की प्रत्येक प्रगति (चाहे उन के विषय कुछ भी क्यों न हों अर्थात् चाहे अवभास अथवा शुद्ध अन्तर्बोध) अन्तरिन्द्रिय के निर्धारण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, अर्थात् काल के अन्तर्गत प्रगति है। काल के अन्तर्गत यह प्रगति, प्रत्येक वस्तु को नियंत्रित करती है, पर स्वतः अपने आप और अन्य किसी के द्वारा नियंत्रित नहीं होती। अर्थात् इसके भाग केवल काल के अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं और वह भी केवल काल के संश्लेषण के द्वारा उपलब्ध होते हैं; पर वे संश्लेषण के पूर्व प्राप्त नहीं होते। इसीलिये प्रत्यक्ष में प्रत्येक ऐसा कुछ रूपान्तर को प्राप्त होने वाला संक्रमण जो कालक्रम में बाद को आता है इस प्रत्यक्ष के प्रजनन के द्वारा काल का निर्धारण है, और क्योंकि यह काल अपने समस्त भागों में सर्वदा ही एक परिमाण होता है अतएव इसी प्रकार वह (संक्रमण) शून्य से लेकर उसकी निर्धारित मात्रा तक एक ऐसे परिमाण के रूप में प्रत्यक्ष का प्रोत्पादन है, जिसके समस्त अंशों में से कोई भी अल्पतम नहीं होता। इससे परिवर्तन के नियम को उसके आकार की दृष्टि से जानने की संभावना प्रकट होती है। ऐसा करने में हम केवल अपनी अवधारणा का ही पूर्वानुमान करते हैं, जिसकी औपचारिक शर्त अवश्यमेव प्रागनुभवात्मकतया ज्ञात होने के योग्य होनी चाहिये, क्योंकि वह हम में समस्त प्राप्त (= उपलब्ध) अवभास से पूर्व ही निवास करती है।

अतएव जिस प्रकार काल में विद्यमान वस्तु या तत्व की तदनुगामी की और सतत प्रगति की संभावना की इन्द्रियग्राह्य प्रागनुभवात्मक शर्त अन्तर्विष्ट रहती है, उसी प्रकार बोधवृत्ति, स्वोपलब्धि की एकता के द्वारा, इस काल के अन्तर्गत, कारणों और कार्यों की शृंखला के माध्यम से (जिनमें पूववर्ती अर्थात् कारण अपरिहार्यतया अपने को अनुवर्ती अर्थात् कार्यों की सत्ता की ओर ले जाने वाले हैं, और इस प्रकार कालगत संबंधों के आनुभविक ज्ञान को सर्वदा और सर्वव्यापक रूप से प्रामाणिक और तदनुसार वैषयिकतया प्रामाणिक बना देने वाले हैं) अवभासों के लिये समस्त स्थितियों के सतत निर्धारण की संभावना की प्रागनुभवात्मक शर्त होती है

ग

तृतीय सादृश्य

पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया, अथवा सामुदायिकता के नियमानुसार सहास्तित्व का सिद्धान्त

समस्त द्रव्य, जहाँ तक वे देश में एक साथ (युगपत्) प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं पूर्ण पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की अवस्था में स्थित होते हैं।

उपपत्ति

वस्तुएँ सहास्तित्व वाली तब होती हैं जब दृष्ट आन्तरोपलब्धि में उनके प्रत्यक्ष परस्पर पर्याय-क्रम से एक दूसरे के पश्चात् आते हैं, जो बात, जैसा कि द्वितीय सिद्धान्त की उपपत्ति में दिखलाया जा चुका है, अवभासों के कालानुक्रम में घटित नहीं हो सकती। इस प्रकार मैं अपनी प्रत्यक्ष की वृत्ति का पहले चन्द्रमा की ओर और उसके उपरान्त धरती की ओर, अथवा इसके विपरीत पहले धरती की ओर और तब चन्द्रमा की ओर नियोजित कर सकता हूँ, और क्योंकि इन विषयों के प्रत्यक्ष पर्याय-क्रम से परस्पर एक दूसरे का अनुसरण कर सकते हैं, इस कारण मैं कहता हूँ वे सहास्तित्ववान् हैं। तो सहास्तित्व विविध रूप की एक और अभिन्न काल में सत्ता को कहते हैं। पर स्वयं काल को देखा नहीं जा सकता, जिससे, केवल इस कारण कि कुछ वस्तुएँ एक ही काल में स्थापित हैं, यह निष्कर्ष निकाल लिया जाए कि उनके प्रत्यक्ष पर्याय-क्रम एक दूसरे का अनुसरण कर सकते हैं। अवधारण में कल्पना के संश्लेषण से तो केवल यही प्रकट होगा कि एक प्रत्यक्ष विषयी में है जब कि दूसरा नहीं है, और जब दूसरा विषयी में है तो पहला उसमें नहीं है, पर यह प्रकट नहीं होगा कि विषय सहास्तित्ववान् हैं, अर्थात् यह प्रकट नहीं होगा कि यदि एक विद्यमान हो तो दूसरा भी उसी समय विद्यमान होगा, और उनका इस प्रकार सहवर्ती होना आवश्यक है, जिससे प्रत्यक्ष पर्याय क्रम से एक दूसरे का अनुसरण कर सकें। परिणामतः, यह कहने के लिये कि प्रत्यक्ष परस्पर पर्याय-क्रम विषय में आधारित है और इस कथन के द्वारा सहास्तित्व को वैषयिक रूप में प्रत्युपस्थापित करने के लिये उन वस्तुओं के निर्धारणों के पारस्परिक पर्याय-क्रम का शुद्ध संबोध अपेक्षित है, जो एक दूसरे के बाहर स्थित रहते हुए सहवर्ती हैं। पर ऐसे द्रव्यों का सम्बन्ध, जिनमें से एक में अन्तर्विष्ट निर्धारणों का आधार दूसरे में संनिहित हो, प्रभाव का संबंध होता है; और जब प्रत्येक द्रव्य पर्यायक्रम से दूसरे में अन्तर्विष्ट निर्धारणों का आधार अपने में अन्तर्विष्ट रखता है, तो यह संबंध सामाजिकता

का या पारस्परिक पर्यायक्रम का (=क्रिया-प्रतिक्रिया) संबंध होता है। इस प्रकार द्रव्यों का देशगत सहास्तित्व उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया को माने बिना अनुभव में अन्य प्रकार से नहीं जाना जा सकता, इसलिये अनुभव के विषय के रूप में स्वयं वस्तुओं की संभावना की शर्त भी यही है।

जहाँ तक वस्तुएँ एक अभिन्न काल में सत्ता रखती हैं, वे सहवर्ती हुआ करती हैं। पर यह किस प्रकार जाना जाता है कि वे एक अभिन्न काल में स्थित हैं? ऐसा तब जाना जाता है, जब कि किसी विविध रूप के अवधारण के संश्लेषण का क्रम अविशिष्ट होता है अर्थात् जब कि वह क् से आरंभ होकर ख्, ग्, घ् में होता हुआ ङ् की ओर या ङ् से आरंभ हो घ्, ग्, ख् में होता हुआ क् की ओर जा सकता है। क्योंकि यदि वे काल-क्रम में, उस क्रम से एक दूसरे के पश्चात् आते जो क् से आरंभ होता है और ङ् में समाप्त होता है, तब तो यह असंभव होता कि हम प्रत्यक्ष में अवधारण को ङ् से आरंभ करें और पीछे लौट कर क् की ओर बढ़ें क्योंकि क् बीते हुए काल से संबद्ध है और इस प्रकार अब फिर आगे प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता।

अच्छा अब मान लीजिए कि अवभासों के रूप में द्रव्यों के किसी विविध रूप में से प्रत्येक द्रव्य पूर्णतया पृथक् कर लिया गया है, अर्थात् उनमें से कोई भी दूसरे पर क्रिया नहीं करता और न बदले में किसी पारस्परिक प्रतिक्रिया को ही ग्रहण करता है, तो ऐसी अवस्था में मेरा कहना है कि उनका सहास्तित्व किसी संभव प्रत्यक्ष का विषय नहीं होगा और उनमें से किसी एक का अस्तित्व, आनुभविक संश्लेषण के किसी भी पथ के द्वारा दूसरे के अस्तित्व की ओर ले जाने वाला नहीं होगा। क्योंकि यदि तुम यह विचार करो कि वे एक दूसरे से पूर्णतया रिक्त प्रदेश के द्वारा पृथक् किये हुए हैं, तो जो प्रत्यक्ष काल के अन्तर्गत एक से दूसरे की ओर जाएगा तो वह निश्चय ही एक दूसरे आगे आने वाले प्रत्यक्ष के द्वारा दूसरे पदार्थ (या द्रव्य) के अस्तित्व को नियंत्रित करेगा, पर वह इस बात को स्पष्टतया निश्चित नहीं कर सकेगा कि आया यह दूसरा द्रव्य वैषयिकतया प्रथम का अनुगमन करता है अथवा कहीं उसके साथ सहवर्ती तो नहीं है।

अतएव क् और ख् के केवल अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तु अवश्य होनी चाहिये जिसके द्वारा क्, ख् के लिये काल के अन्तर्गत उसके स्थान को नियंत्रित करता है और दूसरी से 'ख्' 'क' के लिये उसका स्थान काल में नियंत्रित करता है, क्योंकि केवल इसी शर्त पर यह द्रव्य आनुभविक प्रकार से सहवर्ती रूप में प्रत्युपस्थापित किये जा सकते हैं। और दूसरे के लिये काल के अन्तर्गत उसका स्थान वही निर्धारित कर सकता है जो दूसरे का अथवा उसके निर्धारणों का कारण हो। अतएव प्रत्येक द्रव्य

में (क्योंकि वह अपने निर्धारणों की दृष्टि से ही अनुगामी—अर्थात् कार्य—हो सकता है) स्वत: दूसरे द्रव्य के किन्हीं निर्धारणों की कारणता अन्तर्विष्ट अवश्य होनी चाहिये और इसके साथ-ही-साथ दूसरे द्रव्य की (अर्थात् दूसरे द्रव्य में स्थित) कारणता के कार्य भी अन्तर्विष्ट होने चाहिये, अर्थात्, यदि उनका सहास्तित्व किसी संभव अनुभव में जाना जाने वाला हो, तो उन द्रव्यों को प्रत्यक्षतया या परोक्षतया गत्यात्मक सामुदायिकता में अवस्थित होना चाहिये। अब, जहाँ तक अनुभव के विषयों का संबंध है, ऐसी प्रत्येक वस्तु अनिवार्यतया आवश्यक होगी जिसके बिना स्वयं इन विषयों का अनुभव ही संभव है। अतएव यह अनिवार्यतया आवश्यक है कि अवभास के क्षेत्र में सभी द्रव्य, जहाँ तक उनकी सत्ता है, पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की परिपूर्ण सामुदायिकता में स्थित होने चाहिये ।

जर्मन भाषा में "सामुदायिकता" शब्द दो अर्थों वाला है, और यह समुदाय (कॉम्युनियो) अर्थ को तो सूचित करता ही है, पर गति शील सामुदायिक वृत्ति (कॉमैंकियुम्) को भी सूचित कर सकता है। हम यहाँ इसक प्रयोग दूसरे अर्थ में, गत्यात्मक सामुदायिक वृत्ति को सूचित करने वाले अर्थ में कर रहे हैं, जिसके बिना स्थानीय समुदाय (कॉम्युनियो स्पाटी) तक कदापि भी अनभुवतात्मकतया नहीं जाना जा सकता। हमारे अनुभवों से यह बात बड़ी सरलता के साथ देखी जा सकती है कि केवल देश के सब भागों (में वर्त्तमान) सतत प्रभाव ही हमारी इन्द्रियों को एक विषय से दूसरे की ओर ले जा सकते हैं; वह प्रकाश जो हमारी आँखों और ज्योतिष्पिडों के बीच में खेलता रहता है, हमारे और उनके बीच में एक मध्यस्थ सामाजिक वृत्ति का निर्माण करता है और उसके द्वारा यह प्रदर्शित करता है कि उनमें परस्पर सहास्तित्व है; सर्वदिग्व्यापी भौतिक तत्व के हमारे लिये हमारी स्थिति के प्रत्यक्ष को संभव बनाए बिना, हम किसी स्थान (में अपनी स्थिति) को नहीं बदल सकते (इस परिवर्तन का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते); और भौतिक द्रव्य के यह भाग केवल अपने पारस्परिक प्रभावों के द्वारा अपने समकालिक अस्तित्व को, तथा उसके द्वारा दूरतम पदार्थों तक के साथ (चाहे परोक्षतया ही क्यों न हो) अपने सहास्तित्व को स्थापित कर सकते हैं। संहतता के बिना देश के अन्तर्गत प्रत्येक अवभास का प्रत्यक्ष प्रयेत्क दूसरे से पृथक् कटा फटा रहता है, और आनुभविक प्रत्युपस्थापनाओं की शृंखला अर्थात् अनुभव को प्रत्येक नवीन विषय के साथ नये सिरे से आरंभ होना पड़ेगा, जिसका पूर्ववर्ती प्रत्युपस्थापना से लेशमात्र संबंध नहीं होगा और उसके साथ यह किसी कालगत-संबंध में आबद्ध नहीं होगी। शून्य (रिक्त) देश के अस्तित्व को मैं इस युक्ति के द्वार बिलकुल भी निराकृत नहीं करना चाहता; क्योंकि यह सर्वदा वहाँ हो सकता है जहाँ प्रत्यक्ष बिलकुल नहीं पहुँच

पाते, और इसलिये जहाँ सहास्तित्व का कोई आनुभविक ज्ञान नहीं (होता) है; पर इस प्रकार का देश हमारे लिए समस्त संभव अनुभवों में से किसी का भी विषय नहीं हो सकता।

स्पष्टीकरण के लिये निम्नलिखित बातें सहायक हो सकती हैं। हमारे मनस् में समस्त अवभास, एक संभव अनुभव में अन्तर्विष्ट होने के हेतु, आत्मप्रत्यक्ष की संहतता में स्थित होने चाहिये, और जहाँ तक विषय परस्पर एक दूसरे के संयोग में सहवर्ती रूप में प्रत्युपस्थापित होने हैं, उनको एक समय में अन्तर्गत अपने स्थल को पारस्परिकतया निर्धारित करना चाहिये, और उसके द्वारा एक अवयवी का निर्माण करना चाहिये। यदि इस विषयिगत संहतता को वैषयिक आधार पर स्थित होना है, अथवा द्रव्य के रूप में अवभासों के साथ संबंधित (अथवा अवभासों के प्रति लागू होना है), तो एक के प्रत्यक्ष को आधाररूप बन कर दूसरे के प्रत्यक्ष को संभव बनाना चाहिये और विलोमतः भी ऐसा ही होना चाहिये, जिससे कि वह अनुक्रम जो अववारण रूप वाले प्रत्यक्षों में सर्वदा पाया जाता है विषयहेतुक न माना जा सके, तथा जिससे इसके विपरीत यह विषय सहवर्ती रूप में प्रत्युपस्थापित किये जा सकें। पर यह द्रव्यों का पारस्परिक प्रभाव है (अक्षरशः, परस्पर एक दूसरे के भीतर प्रवाहित होना है) अथवा वास्तविक सामाजिक वृत्ति है, अतएव जिसके बिना सहास्तित्व का आनुभविक संबंध अनुभव में घटित नहीं हो सकता। इस सामुदायिक वृत्ति के द्वारा अवभास, जहाँ तक कि वे एक दूसरे के वहिःस्थित होते भी परस्पर संबंध में स्थित रहते हैं, एक संमिश्रण का निर्माण करते हैं और इस प्रकार के संमिश्रण अनेकों विभिन्न प्रकारों से संभव हैं। अतएव जिन तीन गत्यात्मक संबंधों से अन्य सब संबंधों का उद्भव होता है, वे हैं अन्तःसमवाय, परिणाम और संमिश्रित संस्थान।

* * *

तो, बस यह तीन अनुभव के उपमान हैं। वे अवभासों की सत्ता के निर्धारण के (इस निर्धारण के समस्त तीन प्रकारों के अनुसार) सिद्धान्तों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं, परिमाण के रूप में (अर्थात् अस्तित्व के परिमाण या काल मात्रा के रूप में) स्वयं काल के साथ संबंध; अनुक्रमिक शृङ्खला के रूप में काल के (पौर्वापर) अन्तर्गत संबंध; और अन्ततः समस्त युगपत् अस्तित्व के योग-फल के रूप में काल के अन्तर्गत (समकालिक) संबंध। काल-निर्धारण की यह एकता पूर्णतया गत्यात्मक है, अर्थात् काल को ऐसा नहीं माना जाता जिसके अन्तर्गत अनुभव प्रत्येक अस्तित्व के लिये उसके स्थल को निर्धारित करता है, जो असंभव है, क्योंकि निरपेक्ष काल तो कोई प्रत्यक्ष का विषय होता नहीं, जिसके साथ अवभासों

को संहत किया जा सके। प्रत्युत बोधवृत्ति का नियम, केवल जिसके द्वारा,जहाँ तक काल के संबंध का प्रसंग है, अवभासों का अस्तित्व सांश्लेषिक एकता प्राप्त कर सकता है, ही काल के अन्तर्गत प्रत्येक अवभास के लिये उसके स्थल को निर्धारित करता है, और इसीलिये उसको प्रागनुभवात्मकतया एवं प्रत्येक काल में प्रामाणिकतया निर्धारित करता है।

प्रकृतितः (आनुभविक बोधवृत्ति में) तो हम अवभासों के संयोजन को उनके अस्तित्व की दृष्टि से अनिवार्य नियमों अर्थात् कानूनों के अनुसार समझते हैं। इस प्रकार , कुछ नियम, और सो भी प्रागनुभवात्मक नियम, ऐसे हैं जो प्रथम प्रकृति को संभव बनाते हैं; आनुभविक नियम (सत्तावान्) हो सकते हैं और केवल अनुभव के द्वारा , और वास्तव में उन आद्यमौलिक सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप आविष्कृत हो सकते हैं, जिनके द्वारा स्वयं अनुभव संभव होता है। अतएव हमारे उपमान वास्तव में कुछ घाताङ्कों के अधीन समस्त अवभासों के संयोजन में जगत की एकता को चित्रित करते हैं, जो आत्मप्रत्यक्ष की एकता के साथ काल के संबंध को (जहाँ तक कि काल समग्र अस्तित्व को अपने में समवधारित करता है) छोड़ कर और कुछ भी अभिव्यक्त नहीं करते। यह एकता केवल नियमों के अनुसार संश्लेषण से ही संभव (=घटित) हो सकती है। इसलिये सब उपमानों को मिला कर एक साथ यह कहना है कि सब अवभास एक ही जगत में निवास करते हैं, और उनको एक ही प्रकृति में अवश्यमेव विलीन रहना भी चाहिये, क्योंकि बिना इस प्रागनुभवात्मक एकता के न तो अनुभव की कोई एकता संभव होगी, और न इसी कारण अनुभव में किसी विषय का निर्धारण संभव होगा।

जहाँ तक उस उपपत्ति के प्रकार का संबंध है और उसके विलक्षण स्वरूप का संबंध है, जिसके प्रकार का उपयोग हमने इन प्रकृति के अनुभवातीत नियमों के विषय में किया है, उनके संबंध में एक ध्यान देने योग्य बात बतलाना आवश्यक है जो ऐसी प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाओं को , जो बौद्धिक होने के साथ ही साथ सांश्लेषिक भी हों, सिद्ध करने के अन्य प्रत्येक प्रयत्न में अनुसरण करने योग्य नियम को प्रदान करने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि हमने इन उपमानों को अयौक्तिकतया सिद्ध करने क उद्योग किया होता, अर्थात् यदि हमने संबोधों के सहारे ही यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया होता, कि जो कुछ भी सत्तावान् है वह उसी में सम्प्राप्त हो सकता है जो स्थायी है; प्रत्येक घटना पूर्ववर्ती अवस्था में कुछ ऐसी वस्तु की सत्ता की प्राक्-कल्पना करती है, जिसके उपरान्त वह एक नियम के अनुसार घटित होती है; और अन्तिम बात यह कि उस विविधरूपात्मक संघात में जो कि सहवर्ती है, अवस्थाएँ किसी

नियम के अनुसार पारस्परिक संबंध में सहास्तित्व में स्थित रहती हैं और इसलिये परस्पर सामुदायिकता में स्थित रहती हैं, तो हमारा सारा प्रयास बिलकुल बेकार हुआ होता। क्योंकि किसी विषय और उसकी सत्ता से किसी दूसरे विषय के अस्तित्व अथवा उसके अस्तित्व के प्रकार पर केवल उस वस्तु के संबोधमात्र से नहीं पहुँचा जा सकता, चाहे किसी भी प्रकार से उनके अंगों का विश्लेषण क्यों न किया जाए। तो फिर हमारे लिये क्या उपाय बच रहा ? जो बच रहा वह है एक ऐसे ज्ञान के रूप में अनुभव का संभवपर होना, जिसमें समस्त विषय, यदि उनकी प्रत्युपस्थापना की हमारे प्रति कोई वैषयिक यथार्थता होनी है, अन्ततः हमको उपलब्ध होने के योग्य होने ही चाहिये। बस इस तीसरे माध्यम में जिसका सारभूत आकार समस्त अवभासों की स्वोपलब्धि की सांश्लेषिक एकता में संनिहित है, हमने अवभासों के क्षेत्र में समस्त अस्तित्व के लिये परिपूर्ण और अनिवार्य कालनियंत्रण की प्रागनुभवात्मक शर्तों को पा लिया है, जिसके बिना समय का आनुभविक निर्धारण तक असंभव होगा और इस (ही) में हमने प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक एकता के नियमों को भी पा लिया है जिसके द्वारा हम अनुभव पूर्वज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धति के अभाव में तथा इस भ्रांत धारणा के कारण कि वे सांश्लेषिक प्रस्थापनाएँ जिनको बोधवृत्ति का आनुभविक विनियोग अपने सिद्धान्तों के रूप में संस्तुत करता है, अयौक्तिकतया सिद्ध की जा सकती हैं, पर्याप्त हेतु के सिद्धान्त की उपपत्ति प्राप्त करने की बारबार चेष्टा की जा चुकी है यद्यपि वह सर्वदा में व्यर्थ सिद्ध हुई है। जहाँ तक शेष दोनों उपमानों का संबंध है किसी ने उनके विषय में विचार तक नहीं किया है, यद्यपि उनका उपयोग चुपचाप सर्वदा ही किया जाता है, क्योंकि चिन्तन के प्रकारों का पथप्रदर्शक सूत्र, जो एकमात्र ऐसा है कि संबोधों और सिद्धान्तों दोनों के संबंध में एक समान भाव से बोधवृत्ति में प्रत्येक रिक्ति उद्घाटित और दृष्टव्य बना देता है अब तक अनुपलब्ध रहा है। कां.

कां. विश्वावयवी की एकता, जिसमें समस्त अवभासों को संबद्ध किया जाता है, स्पष्ट ही उन सब द्रव्यों की, (जो कि सहवर्ती हैं) सामाजिकता के चुपचाप माने हुए सिद्धांत का परिणाममात्र है; क्योंकि यदि वे एक दूसरे से पृथक् होते तो वे अवयव के रूप में अवयवी को घटित नहीं करते, और यदि उनका संबंध (विविधरूप की पारस्परिक क्रिया) उनकी सहवर्तिता के कारण पूर्वतः ही अनिवार्य न होता, तो हम परवर्ती संबंध के आधार पर (जो कि आदर्श संबंध है) पूर्वगामी का (जो कि वास्तविक संबंध है) अनुमान न कर सकते। तथापि समुपयुक्त संदर्भ में यह प्रदर्शित कर दिया है कि सामाजिकता वास्तव में सहवर्तिता के आनुभविक ज्ञान की संभावना का आधार है, और ठीक प्रकार से देखा जाए तो अनुमान केवल इस आनुभविक ज्ञान को शर्त मान कर सामाजिकता का अनुमान है।

४

आनुभविक विचार के आधार तत्व

१. वह, जो अनुभव की औपचारिक शर्तों के साथ (अर्थात् आन्तर्प्रत्यक्ष और संबोध की शर्तों के साथ) मेल खाता है, संभव होता है।

२. वह, जो अनुभव की भौतिक शर्तों के साथ (अर्थात् संवेदन के साथ) आबद्ध है, वास्तविक होता है।

३. वह, जो वास्तविक के साथ अपने संयोग में, अनुभव की सर्वव्यापी शर्तों के अनुसार निर्धारित होता है, अनिवार्य है।

स्पष्टीकरण

प्रकारता की कोटियों में यह विलक्षणता पाई जाती है कि किसी पदार्थ को निर्धारित करने में वे उस संबोध को जिसके साथ वे विधेय के रूप में सम्पृक्त होती हैं, लेशमात्र भी विस्तार प्रदान नहीं करतीं, प्रत्युत वे केवल बोधवृत्ति के साथ संबोध के संबंध को ही प्रकट करती हैं। जब कि किसी वस्तु का संबोध बिलकुल पूर्ण भी होता है, मैं तब भी यह प्रश्न कर सकता हूँ, कि यह विषय क्या केवल संभवमात्र है अथवा वास्तविक भी है, अथवा यदि वास्तविक है तो क्या बिलकुल अनिवार्य भी है? इसके द्वारा स्वयं विषय में कोई और अधिक निर्धारणाओं को नहीं विचारा जाएगा, प्रत्युत प्रश्न केवल इतना है कि अपनी (सब निर्धारणाओं के साथ विषय) बोधवृत्ति और उसके आनुभविक विनियोग के साथ, आनुभविक विभावना के साथ, एवं (अनुभव में उसके प्रयोग में) बुद्धि के साथ किस प्रकार संबद्ध है?

ठीक इस कारण भी प्रकारता के सिद्धान्त संभावना, वास्तविकता और अनिवार्यता के संबंधों के उनके आनुभविक विनियोग में स्पष्टीकरणों से अधिक और कुछ नहीं हैं; इसके साथ ही साथ वे सब प्रकारों को उनके केवल आनुभविक विनियोग तक सीमित कर देते हैं और उनके अनुभवातीत विनियोग के लिये अनुमोदन अथवा अनुज्ञा प्रदान नहीं करते। क्योंकि यदि उनका आशय अवश्यमेव केवल यौक्तिक आशय न हो, और उसको विचार के आकार वैश्लेषिकतया अभिव्यक्त न करना पड़ता हो प्रत्युत उनका वास्ता वस्तुओं की संभावना, वास्तविकता अथवा अनिवार्यता से हो, तो उनको संभव अनुभव और उसकी सांश्लेषिक एकता से, केवल जिसमें अनुभव के विषय उपलब्ध हो सकते हैं, अवश्य वास्ता रखना पड़ेगा।

अतएव वस्तुओं की संभावना का आधारभूत विचार इस बात की अपेक्षा करता

है कि उनका संबोध सामान्य अनुभव की औपचारिक शर्तों के साथ अविरुद्ध हो। पर यह, अर्थात् सामान्यतः अनुभव का वैषयिक रूप समस्त संश्लेषण को, जो कि विषयों के ज्ञान के लिये अपेक्षित होता है, अपन में अन्तर्विष्ट रखता है। कोई संबोध जिसमें कोई संश्लेषण अन्तर्विष्ट हो तब रीता और किसी भी विषय से असंबद्ध माना जाना चाहिये, जब यह संश्लेषण या तो अनुभव से व्युत्पादित हुए रूप में अनुभव से संबद्ध न हो, जिस विकल्प में यह आनुभविक संबोध होगा, अथवा एक ऐसी शर्त होने के कारण अनुभव से संबद्ध न हो, जिसके ऊपर सामान्यतः अनुभव अपने औपचारिक पक्ष पर आश्रित रहता है, जिस प्रसंग में यह एक शुद्ध संबोध होगा जो फिर भी अनुभव से संबद्ध है, क्योंकि उसका विषय केवल अनुभव में ही उपलब्ध हो सकता है। इसका कारण यह है कि किसी ऐसे विषय की संभावना का लक्षण, जिसका विचार एक सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक संबोध के द्वारा किया जाता है, यदि उस संश्लेषण से व्युत्पादित नहीं किया जाएगा जो विषयों के आनुभविक ज्ञान के आकार को घटित करता है, तो और कहाँ से किया जाएगा ? इस प्रकार के संबोध में कोई विरोध नहीं होना चाहिये-- यह बात एक यौक्तिक न्यायसंगत शर्त है; परन्तु यह बात उस संबोध की वैषयिक यथार्थता को सिद्ध करने के लिये, अर्थात् उस संबोध द्वारा जैसे विषय का विचार किया जाता है, उस विषय की संभावना का निर्धारण करने के लिये, किसी भी प्रकार पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार एक ऐसी आकृति के संबोध में, जो दो सरल रेखाओं के मध्य में घिरी हुई हो कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दो सरल रेखाओं के तथा उनके परस्पर मिलने के संबोधों में किसी आकृति का निषेध नहीं है; प्रत्युत (ऐसी आकृति की) असंभवता स्वतः संबोध पर निर्भर नहीं है, किन्तु वह ऐसी ही आकृति को देश के अन्तर्गत निर्माण करने से उत्पन्न होती है, अर्थात् देश और उसके निर्धारण की शर्तों से उत्पन्न होती है, परन्तु इनकी फिर अपनी वैषयिक वास्तविकता है, अर्थात् यह संभव वस्तुओं के प्रति लागू होती हैं, क्योंकि यह स्वयं अपने में अनुभव के आकार को सामान्यतः धारण किए रहते हैं।

अब हम इस संभावना के आधारभूत विचार की दूर तक पहुँचने वाली उपयोगिता और प्रभाव को आँखों के सामने प्रस्तुत करेंगे। यदि मैं अपने प्रति किसी ऐसी वस्तु को प्रत्युपस्थापित करता हूँ जो स्थायी है, जिससे कि इसमें वह प्रत्येक वस्तु जो परिवर्तित होती केवल इसकी अवस्था से संबंध रखती है, तो मैं केवलमात्र ऐसे संबोध से यह कदापि नहीं जान सकता कि इस प्रकार की कोई वस्तु संभव है। अथवा यदि मैं अपने प्रति किसी ऐसी वस्तु को प्रत्युपस्थापित करता हूँ जिसको इस प्रकार घटित करना होगा कि यदि उसको प्रस्थापित किया जाए तो उसके पश्चात् कोई अन्य वस्तु

बिना अदलबदल के अनिवार्यतया उसका अनुसरण करेगी, तो यह बात निश्चयमेव इस प्रकार बिना विरोध के विचारी जा सकती है, परन्तु इस विचार के द्वारा यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि आया यह विशेष लक्षण कारणता के रूप में किसी संभव वस्तु में उपलब्ध होगा या नहीं। अन्ततः मैं अपने प्रति ऐसी विभिन्न वस्तुएँ (द्रव्य) प्रत्युपस्थापित कर सकता हूँ, जो इस प्रकार घटित हैं कि उनमें से एक की अवस्था अपने साथ दूसरे की अवस्था में कोई परिणाम लिये रहती है और यह बात पारस्परिकतया लागू होती है; परन्तु, क्या इस प्रकार का कोई संबंध किसी संभव वस्तु से संबद्ध होता है, इस का निर्धारण मैं इन संबोधों से, जिनमें केवल यादृच्छिक संश्लेषण अन्तर्विष्ट रहते हैं, कदापि नहीं कर सकता। केवल इस तथ्य के द्वारा कि यह संबोध प्रत्येक अनुभव में प्रत्यक्षों के संबोधों को प्रागनुभवात्मकतया अभिव्यक्त करते हैं, उनकी वैषयिक वास्तविकता अर्थात् उनकी अनुभवातीत सत्यता को जाना जाता है, और तिस पर भी जाना जाता है अनुभव से स्वतंत्ररूप से, यद्यपि सामान्यतः अनुभव के आकार के संबंध और उस सांश्लेषिक एकता के संबंध से स्वतंत्र रूप से नहीं केवल जिस में विषय आनुभविकतया जाने जाते हैं।

परन्तु यदि द्रव्यों से, शक्तियों से, पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं से, उस सामग्री से जो कि अनुभव हमको प्रदान करता है, नितान्त नवीन संबोधों को बनाने का प्रयत्न किया जाए (जब कि स्वयं अनुभव ने उनके संयोजन का कोई उदाहरण प्रस्तुत न किया हो) तो यह कोरी कल्पना में संलग्न होना होगा, जिस कल्पना की संभावना की अपनी कोई कसौटी बिलकुल नहीं होती, क्योंकि न तो इसके लिये अनुभव को अध्यापिका के रूप में स्वीकार किया गया है और न इन संबोधों को उस (अनुभव) से उधार लिया गया है। इस प्रकार के कल्पित संबोध संभवता के लक्षण को, प्रकारों की भाँति, उन शर्तों के रूप में जिन पर समस्त अनुभव निर्भर करता है, प्रागनुभवात्मकतया प्राप्त नहीं कर सकते, प्रत्युत ऐसे संबोधों के रूप में जो स्वयं अनुभव के द्वारा प्रदान किये गये हैं केवल पश्चानुभवात्मकतया ही प्राप्त कर सकते हैं, और इस लिये उनकी संभावना या तो पश्चानुभवात्मकतया अथवा आनुभविकतया जानी जानी चाहिये अथवा बिलकुल भी नहीं जानी जा सकती। एक ऐसा पदार्थ जो, प्रदेश में तो स्थायी रूप से विद्यमान हो, परन्तु उसको पूरित न करता हो (जो उस भौतिक पदार्थ और विचारवान् सत्ता के मध्यवर्ती अस्तित्व जैसा है जिसको कुछ लोग प्रस्तुत करना चाहेंगे), अथवा भविष्य को अपरोक्षतया पहले से ही जान लेने की विशिष्ट मौलिक शक्ति, (जो उसका केवल अनुमान लगाने की शक्ति भर नहीं है, अथवा अन्ततः अन्य मनुष्यों के साथ चाहे वह कितनी ही दूर क्यों न हो, विचारों के आदान-प्रदान

की अवस्था में स्थित होने की शक्ति—यह ऐसे संबोध हैं जिनकी संभावना नितान्त निराधार है, क्योंकि वे अनुभव और उसके ज्ञात नियमों पर आधारित नहीं हैं, और इन आधारों के बिना वह विचारों के यादृच्छिक संयोगमात्र हैं, जो सचमुच ही विरोध से भले ही मुक्त हों, विषयगत यथार्थता का दावा नहीं कर सकते; और इसीलिये ऐसे विषय की संभावना का भी दावा नहीं कर सकते, जैसे विषय को यहाँ विचारा जा रहा है। जहाँ तक वास्तविका का संबंध है, यह बिलकुल स्वतः स्पष्ट है कि बिना अनुभव से सहायता लिये, उसके विषय में मूर्त्तरूप में विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वास्तविकता तो अनुभव की सामग्री के रूप में केवल संवेदन से वास्ता रख सकती है, संबंध के उस आकार से नहीं जिसके साथ, आवश्यकता हो तो, काल्पनिक निर्माण से खिलवाड़ किया जा सकता है।

पर मैं ऐसी सब चीज़ों को, जिनकी संभावना अनुभव में केवल उनकी यथार्थता से ही व्युत्पादित हो सकती है, अलग छोड़े देता हूँ, और यहाँ प्रागनुभवात्मक संबोध के द्वारा केवल वस्तुओं की संभावना का विचार करता हूँ, जिससे मैं दृढ़तापूर्वक यह मानता हूँ कि उनकी संभावना केवल ऐसे संबोधों से अपने ही द्वारा स्थापित नहीं की जा सकती प्रत्युत कभी भी केवल तब स्थापित हो सकती है जब कि संबोधों को सामान्यतः अनुभव की औपचारिक और वैषयिक शर्तों के रूप में माना जाए।

सचमुच ही लगता तो ऐसा है कि मानों किसी त्रिभुज की संभावना स्वयं उसके संबोध से स्वतः ही मानी जा सकती है (जो संबोध निश्चयमेव अनुभव से स्वतंत्र है), क्योंकि हम यथार्थ में उसको पूर्णतया प्रागनुभवात्मक रूप से किसी विषय को प्रदान कर सकते हैं, यानी उसको बना सकते हैं । परन्तु क्योंकि यह तो किसी विषय का आकारमात्र है, अतएव यह सब कुछ होने पर सर्वदा केवल कल्पना की उपज रहेगा, जिसके विषय की संभावना फिर सन्देहास्पद ही रहेगी, क्योंकि उसके लिये कुछ और अधिक अपेक्षित होगा ; अर्थात् ऐसी आकृति का विचार उन शर्तों को छोड़ कर जिन के ऊपर अनुभव के समस्त विषय आश्रित रहते हैं अन्य किन्हीं शर्तों पर न किया जाए। अब यह कि, देश बाह्य अनुभव की औपचारिक प्रागनुभवात्मक शर्त है, और यह कि ,जिस निर्मायी संश्लेषण के द्वारा हम कल्पना में एक त्रिभुज का निर्माण करते हैं वह ठीक वही है जिसका प्रयोग हम किसी अवभास के अवधारण में, अपने लिये उसका एक आनुभविक संबोध बनाने में किया करते हैं—यही वह बातें हैं जो इस प्रकार की वस्तु की संभावना की प्रत्युपस्थापना को इस (के) संबोध के साथ जोड़ती हैं। इसी प्रकार, सतत परिमाणों की संभावना, और उन्हीं की क्या वास्तव में परिमाण सामान्य की संभावना, क्योंकि उनके संबोध सब के सब सांश्लेषिक होते हैं, केवल स्वयं

संबोधों से ही सर्वप्रथम कदापि स्पष्ट नहीं होती, प्रत्युत तब होती है जब व सामान्यतः अनुभव सामान्य में विषयों के निर्धारण की औपचारिक शर्तों के रूप में माने जाते हैं; और इन संबोधों के समनुरूप विषयों को यदि उस अनुभव में, जिसके द्वारा विषय हमको प्रदत्त होते हैं, नहीं खोजा जाएगा तो अन्यत्र कहाँ खोजा जाएगा ? यद्यपि हम अनुभव के पूर्व ही उन औपचारिक शर्तों के संबंध में, जिन के अधीन कोई वस्तु अनुभव के अन्तर्गत विषयरूप में निर्धारित होती है, वस्तुओं की संभावना को जान और लक्षित कर सकते हैं और इस प्रकार ऐसा पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया कर सकते हैं, परन्तु फिर भी ऐसा होना केवल अनुभव के संबंध में और उसकी सीमाओं के भीतर ही संभव है।

वस्तुओं की यथार्थता के ज्ञान से वास्ता रखने वाला आधारभूत तत्व, उस विषय के प्रत्यक्ष को (और इसीलिये उस संवेदन को जिसके विषय में हम सचेत होते हैं) जिसके अस्तित्व को जानना अभीष्ट है, तत्काल अपेक्षित नहीं करता; परन्तु तथापि वह उन अनुभव के उपमानों के अनुसार (जो किसी भी अनुभव सामान्य में समस्त वास्तविक संयोजनों का विनिश्चय करते हैं) किसी यथार्थ प्रत्यक्ष के साथ विषय के संयोजन की अपेक्षा अवश्य करता है।

किसी वस्तु के संबोधमात्र में उसके अस्तित्व का कोई भी लक्षण नहीं मिल सकता। क्योंकि, चाहे यह संबोध अपने में इतना परिपूर्ण हो कि उसमें, किसी वस्तु का उसके समस्त आन्तरिक निर्धारणों के साथ विचार करने के लिये जो कुछ भी आवश्यक हो, उसका लेशमात्र भी अभाव न हो, तथापि सत्ता को इन सब बातों से कुछ नहीं करना है, उसे तो केवल इस प्रश्न से वास्ता है कि क्या इस प्रकार की वस्तु हमको उपलब्ध है कि यदि आवश्यक हो तो उसका प्रत्यक्ष उसके संबोध का पूर्वगामी हो सके। इसका कारण यह है कि यह बात कि संबोध प्रत्यक्ष का पूर्वगामी है संबोध की संभावनामात्र को सूचित करती है। किन्तु प्रत्यक्ष जो कि संबोध की आन्तरिक सामग्री को प्रदान करता है, यथार्थता का एकमात्र लक्षण है। परन्तु किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष के पूर्व उसके अस्तित्व को जाना जा सकता है, और परिणामतः अपेक्षात्मकतया प्रागनुभवात्मक ढंग से जाना जा सकता है, बशर्ते कि वह केवल कुछ प्रत्यक्षों के साथ, उनके आनुभविक संयोजन के सिद्धान्तों (= उपमानों) के अनुसार, आबद्ध हो। क्योंकि वस्तु की सत्ता के किसी संभव अनुभव में इस प्रकार हमारे प्रत्यक्षों के साथ आबद्ध होने से, हम, संभव प्रत्यक्षों की माला में एवं उपमानों के पथप्रदर्शन में अपने यथार्थ प्रत्यक्ष से प्रकृत वस्तु की ओर संक्रमण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार लौहचूर्ण के आकृष्ट कणों के प्रत्यक्ष से हम समस्त पिण्डों में व्याप्त चुम्बकीय

भौतिक तत्व का ज्ञान प्राप्त करते हैं, यद्यपि हमारी इन्द्रियों की संघटना के अनुसार इस द्रव्य का प्रत्यक्ष असंभव है। क्योंकि यदि हमारी इन्द्रियाँ अधिक सूक्ष्मग्राहिणी होतीं तो हम सामान्यतः, संवेदनशीलता के नियमों के अनुसार, तथा अपने प्रत्यक्षों के संदर्भ में, किसी प्रत्यक्ष में स्वयं इसके अपरोक्ष आनुभविक साक्षात्कार से भी टकरा ही जाते ; हमारी इन्द्रियों की स्थूलता तो सामान्यतः संभव अनुभव के आकार को किसी प्रकार लेशमात्र भी निर्धारित नहीं करती। तो इस प्रकार वस्तुओं के अस्तित्व का हमारा ज्ञान केवल वहीं तक पहुँचता है जहाँ तक कि प्रत्यक्ष और आनुभविक नियमों के अनुसार प्रत्यक्ष का विस्तार विस्तृत हो सकता है। यदि हम अनुभव से ही शुरुआत न करें, अथवा अवभासों की आनुभविक संयोजना के नियमों के अनुसार आगे न बढ़ें तो हमारा किसी वस्तु के अस्तित्व के विषय में ऊहापोह करना या जाँच-पड़ताल करना व्यर्थ का दिखावामात्र होगा। सत्ता के अस्तित्व को परोक्षतया सिद्ध करने वाले इन नियमों के विरुद्ध अध्यात्मवाद या विषयाभाववाद एक प्रबल आपत्ति खड़ी करता है, जिसका निराकरण (=खंडन) करने का यही उपयुक्त स्थान है।

अध्यात्मवाद या विषयाभाववाद का निराकरण

अध्यात्मवाद--भौतिक विषयाभवावाद--वह दार्शनिक सिद्धान्त है जो हमारे बाहर अन्तराल या अवकाश में स्थित विषयों के अस्तित्व को या तो सन्दिग्ध और अनुपपाद्य कहता है, अथवा वितथ और असंभव। इन में से प्रथम देकार्त का संशयवादी अध्यात्मवाद है जो यह मानता है कि केवल एक ही आनुभविक कथन ऐसा है जो निःसंदिग्धरूपेण निश्चित है और यह है कि, "मैं हूँ" ; दूसरा अध्यात्मवाद बर्क्ले का अयौक्तिक विषयाभाववाद है, जो यह मानता है कि देश (या अवकाश) उन सब वस्तुओं के सहित जिनकी यह अपृथक्करणीय शर्त है, कुछ ऐसी वस्तु है जो स्वयं असंभव है; और इसलिये वह देश के अन्तर्गत स्थित वस्तुओं को भी काल्पनिक सत्तामात्र मानता है। यदि देश को एक ऐसा विशेष लक्षण माना जाए जिसको वस्तुओं का (अपने वास्तविक रूप में) भागधेय अवश्यमेव होना है तब तो अयौक्तिक अध्यात्मवाद अपरिहार्य है, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में तो देश या अन्तराल उन सब के साथ जिनके लिये यह शर्त रूप है, अवस्तु सिद्ध होता है। परन्तु इस प्रकार के अध्यात्मवाद की नींव को तो हमारे द्वारा अनुभवातीत संवेदना ज्ञान वाले खंड में ध्वस्त किया जा चुका है। संशयवादी अध्यात्मवाद, जो इस प्रकार का कोई दावा या कथन नहीं करता, प्रत्युत जो केवल, अपरोक्षानुभव के द्वारा हमारे अपने अस्तित्व को छोड़ अन्य

किसी सत्ता को सिद्ध करने की अक्षमता को स्वीकार करता है, और जहाँ तक कि पर्याप्त प्रमाण के न मिलने तक किसी निश्चित विभावना को आदिष्ट नहीं करता, विवेक-परायण है और परिपूर्ण एवं दार्शनिक प्रकार के चिन्तन का अनुसरण करने वाला है। इसलिये अपेक्षित उपपत्ति को यह सिद्ध करना चाहिये कि हमको बाह्य वस्तुओं की कल्पनामात्र नहीं, अनुभव भी (प्राप्त) है, और यह ऐसी बात है जो, तब तक अन्य किसी प्रकार घटित नहीं हो सकती जब तक यह सिद्ध न किया जा सके कि हमारा स्वयं आन्तरिक अनुभव भी, जो देकार्त के लिये सन्देहरहित है, केवल बाह्यानुभव की पूर्व स्वीकृत मान्यता के अधीन ही संभव है।

प्रतिज्ञा

सरल किन्तु अनुभव द्वारा निर्धारित, मेरे अपने अस्तित्व की चेतना अवकाश में बाह्य पदार्थों में अस्तित्व को प्रमाणित करती है।

उपपत्ति

काल के अन्तर्गत निर्धारित अपनी सत्ता के विषय में मैं चेतन हूँ। काल का समस्त निर्धारण प्रत्यक्ष में किसी स्थायी वस्तु की पूर्वमान्यता को सूचित करता है। पर यह स्थायी वस्तु स्वयं मेरे भीतर कुछ वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि काल में मेरा अस्तित्व भी पहले-पहल इस स्थायी तत्व के द्वारा ही निर्धारित हो सकता है। इस प्रकार इस स्थायी तत्व का प्रत्यक्ष केवल मेरे बाहर किसी वस्तु के द्वारा संभव है न कि किसी मेरे बाहर वस्तु की प्रत्युपस्थापनामात्र से। परिणामतः काल के अन्तर्गत मेरे अस्तित्व का निर्धारण केवल यथार्थ वस्तुओं के अस्तित्व के द्वारा संभव है, जिनका मैं अपने बाहर प्रत्यक्ष दर्शन करता हूँ। अब काल के अन्तर्गत चेतना, इस कालनिर्धारण की संभावना चेतना के साथ अनिवार्यतया साथ-साथ आबद्ध है। इस प्रकार यह काल-निर्धारण की शर्त के रूप में मेरे बाहर की वस्तुओं की सत्ता के साथ भी अनिवार्यतया संबद्ध है, अर्थात् मेरी सत्ता की चेतना साथ ही साथ अपरोक्षतया मेरे बाहर दूसरी वस्तुओं की सत्ता की चेतना भी है।

टिप्पणी १. उपर्युक्त उपपत्ति में यह देखा जाएगा कि जो दाव अध्यात्मवाद चलता है, वह अपेक्षाकृत अधिक औचित्य के साथ उसी पर पलट दिया गया है। इसने यह माना था कि एकमात्र अपरोक्षानुभव आन्तरिक अनुभव है और उससे केवल बाह्यवस्तुओं का अनुमान किया जा सकता है, पर जैसा कि सर्वदा होता है, जब कि दिये हुए कार्य से सुनिश्चित कारण का अनुमान लगाया जाता है, यह अनुमान अविश्वसनीय हुआ करता है, क्योंकि प्रत्युपस्थापनाओं का वह कारण जिसको बाह्य-

वस्तुओं के सिर पर स्यात् झूठमूठ डालते हैं हमारे भीतर ही मिल सकता है। पर उपर्युक्त उपपत्ति यह दिखलाती है कि बाह्य अनुभव वास्तव में अपरोक्षानुभव है[कां.] और केवल इसी के द्वारा, निश्चयमेव वह हमारे अपने अस्तित्व की चेतना तो नहीं, प्रत्युत तो भी उसका काल में निर्धारण, अर्थात् आन्तरिक अनुभव संभव होता है। यह सच है कि यह प्रत्युपस्थापना कि "मैं हूँ" जो उस चेतना को अभिव्यक्त करती है जो सब विचारों की सहचर बन सकती है, अपने में अपरोक्षतया किसी विषयी के अस्तित्व को अन्तर्विष्ट रखती है, परन्तु फिर भी यह उस विषयी का कोई ज्ञान अपने में सन्निहित नहीं रखती और इसीलिये कोई आनुभविक ज्ञान अर्थात् अनुभव भी नहीं रखती ; क्योंकि इसके लिये, किसी सत्तावान् वस्तु के विचार के अतिरिक्त प्रत्यक्ष दर्शन की और यहाँ पर आन्तरिक प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यकता पड़ती है, जिसके संबंध में अर्थात् काल के संबंध में विषयी निर्धारित होना चाहिये, जिसके लिये बाह्य विषय पूर्णतया अपेक्षित होते हैं, इसलिये यह परिणाम (निष्कर्ष) निकलता है कि आन्तरिक अनुभव स्वयं केवल परोक्षतया एवं केवल बाह्यानुभव के द्वारा ही संभव है।

टिप्पणी २. इस प्रतिज्ञा के साथ, काल के निर्धारण में, अनुभव के अन्तर्गत हमारी ज्ञानवृत्ति का समस्त विनियोग पूर्णतया समन्वित है। देश के अन्तर्गत स्थायी तत्व के संबंध में बाह्य संबंधों के पतिवर्तन (अर्थात् गति––उदाहरणार्थ पृथ्वी पर के पदार्थों की तुलना में सूर्य की गति) के माध्यम या ज़रिये के अतिरिक्त न केवल हम समय के किसी निर्धारण को प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होते हैं, प्रत्युत प्रत्यक्ष दर्शन के रूप में भौतिक तत्व को छोड़ कर हमारे पास कोई ऐसी स्थायी वस्तु नहीं है जिस पर हम द्रव्य के संबोध को आधारित कर सकें, और यह स्थायित्व भी बाह्यानुभव से रचित नहीं है, प्रत्युत यह समस्त कालिक निर्धारणों की अनिवार्य शर्त के रूप में

कां. पूर्वगामी प्रतिज्ञा में बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को सत्ता प्राक्कल्पित नहीं की गई है प्रत्युत सिद्ध की गई है, फिर चाहे यह चेतना संभावना हमारे द्वारा समझी गई हो या न समझी गई हो। इसकी संभावना के संबंध में प्रश्न यह होगा कि आया क्या हमको आन्तरिक इन्द्रिय ही प्राप्त है, बाह्येन्द्रिय नहीं प्रत्युत केवल बाह्य कल्पना-मात्र प्राप्त है । परन्तु यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु की इस रूप में कल्पना मात्र तक करने के लिये कि वह बाह्यस्थित है अर्थात् आन्तरप्रत्यक्ष में उसको इन्द्रिय के लिये उपस्थित करने के लिये हमको पूर्वतः ही बाह्येन्द्रिय प्राप्त होनी चाहिये, और उसके द्वारा बाह्यानुभव ग्रहणशीलतामात्र को, प्रत्येक कल्पना-वृत्ति की लक्षणरूप स्वयंस्फूर्तिता से तत्काल (या अपरोक्षतया) अवश्यमेव पृथक् कर देना चाहिये। क्योंकि यदि हम बाह्येन्द्रिय की भी कल्पना करेंगे तो अनुभव की वह वृत्ति जो कि कल्पना वृत्ति के द्वारा निर्धारित की जानी है स्वयं निराकृत हो जाएगी।

प्रागनुभवात्मकतया पूर्वतः कल्पित है, और इसलिये बाह्य वस्तुओं की सत्ता के द्वारा हमारे अपने अस्तित्व के निर्धारण के संबंध में अन्तरिन्द्रिय के निर्धारण के रूप में भी पूर्वतः कल्पित है। यह जो "मैं" प्रत्युपस्थापना है इसमें मेरी अपने आपे की चेतना कोई प्रत्यक्षानुभव नहीं है, प्रत्युत यह तो विचार करते हुए विषयी की स्वतःस्फूर्तिता की केवल बौद्धिक प्रत्युपस्थापना है। अतएव इस "मैं" में प्रत्यक्षानुभव का (ऐसा) लेशमात्र भी विधेयांश नहीं है जो स्थायी तत्व के रूप में, अन्तरिन्द्रिय में, उसी प्रकार से, काल के निर्धारण के लिये प्रतिसंबंधी के रूप में काम दे सके, जिस प्रकार, उदाहरण के लिये हमारे भौतिक तत्व के आनुभविक प्रत्यक्ष दर्शन में अप्रवेश्यता काम देती है।

टिप्पणी ३. इस तथ्य से, कि हमारे अपने आपे की किसी निर्धारित चेतना की संभावना के लिये बाह्य वस्तुओं की सत्ता अपेक्षित है, यह परिणाम नहीं निकलता कि बाह्य वस्तुओं की प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव संबंधी प्रत्युपस्थापना में उन वस्तुओं की सत्ता अन्तर्निविष्ट रहती है, क्योंकि उनकी प्रत्युपस्थापना तो भले प्रकार केवलमात्र कल्पना की प्रसूति भी हो सकती है (जैसे कि स्वप्न और छल में हुआ करता है); परन्तु वह केवल पूर्ववर्त्ती बाह्य विषयों के प्रत्यक्षों की पुनरुत्पादना के द्वारा ही घटित होती है, जो (प्रत्यक्ष), जैसा दिखलाया जा चुका है, केवल बाह्यविषयों की वास्तविकता के द्वारा ही संभव हैं। वहाँ जो कुछ सिद्ध करने का उद्योग किया गया है वह तो यह है कि सामान्यरूपेण आन्तरिक अनुभव केवल सामान्यरूपेण बाह्यानुभव के द्वारा संभव है। यह या वह तथागृहीत अनुभव केवल काल्पनिकमात्र नहीं है, इसका विनिश्चय उसके विशिष्ट निर्धारणों के अनुसार तथा समस्त यथार्थ अनुभव की कसौटियों के साथ उसकी सर्वांगसमता के द्वारा किया जाना चाहिये।

* * *

अन्त में, जहाँ तक तीसरे आधार तत्व का संबंध है, इसका वास्ता अस्तित्व के अन्तर्गत भौतिक अनिवार्यता से है, तथा संबोधों के संबंध के अन्तर्गत औपचारिक एवं यौक्तिक अनिवार्यता से नहीं है। क्योंकि किसी भी ऐन्द्रिक विषय का अस्तित्व पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया नहीं जाना जा सकता, प्रत्युत किसी अन्य पूर्वतः प्रदत्त अस्तित्व की अपेक्षा से केवल तुलनात्मकतया प्रागनुभवात्मक प्रकार से जाना जा सकता है; ऐसा होने पर भी तब ऐसे ही अस्तित्व तक पहुँचा जा सकता है जो कहीं न कहीं उस अनुभव के सन्दर्भ में अन्तर्विष्ट होना चाहिये, दिया हुआ प्रत्यक्ष जिसका एक भाग है, अतएव अस्तित्व की अनिवार्यता संबोधों से कदापि नहीं जानी जा सकती, प्रत्युत सर्वदा केवल उस (वस्तु) के साथ संबंध से जानी जा सकती है, जिसका प्रत्यक्ष, अनुभव के सर्वव्यापी नियमों के अनुसार होता है। परन्तु कार्य कारण भाव के नियमों

के अनुसार दिये हुए कारणों के कार्यों के अस्तित्व को छोड़ कर और कोई ऐसा अस्तित्व नहीं है जो अन्य दिये हुए अवभासों की शर्त के अधीन अनिवार्य रूप जाना जा सके। इसलिये, जिसका हम अनिवार्य रूप होना जान सकते हैं वह वस्तुओं (द्रव्यों) का अस्तित्व नहीं प्रत्युत केवल उनकी अवस्थाओं का अस्तित्व है, और वह भी निश्चय ही हम अन्य अवस्थाओं से जान सकते हैं, जो कारणता के आनुभविक नियमों के अनुसार प्रत्यक्ष में प्रदत्त होती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनिवार्यतया की कसौटी एकमात्र संभव अनुभव के नियम में निवास करती है, जो नियम यह है कि प्रत्येक वस्तु जो घटित होती है वह अवभास के क्षेत्र में अपने कारण के द्वारा प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित होती है। इस प्रकार से हम प्रकृति में उन्हीं कार्यों की अनिवार्यता को जानते हैं, जिन के कारण हमको दिये हुए (उपलब्ध) हैं, और अनिवार्यता (= अवश्यंभाविता) का लक्षण या चिह्न अस्तित्व में संभव अनुभव के क्षेत्र के आगे विस्तृत नहीं है और इस क्षेत्र में भी द्रव्य के रूप में वस्तुओं के अस्तित्व के प्रति लागू नहीं होता, क्योंकि द्रव्य कदापि भी आनुभविक कार्यों के रूप में, अर्थात् किसी घटित और उत्पन्न होने वाली वस्तु के रूप में नहीं देखे जा सकते। अतएव अनिवार्यता का वास्ता कार्य कारण भाव के गत्यात्मक नियम के अनुसार अवभासों के संबंधों से तथा इस नियम पर आधारित, एक दी हुई सत्ता (कारण) से दूसरी सत्ता (कार्य) का प्रागनुभवात्मक अनुमान करने की संभावना से है। वह सब जो घटित होता है औपकाल्पनिकतया अनिवार्य है, यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो दुनिया में परिवर्तन को नियम के अधीन कर देता है, अर्थात् अनिवार्य सत्ता के नियम के आधीन कर देता है, जिसके बिना प्रकृति जैसी वस्तु की नाममात्र को भी स्थिति नहीं होगी। इसलिये यह जो प्रस्थापना है कि 'अन्ध आकस्मिकता के द्वारा कुछ भी घटित नहीं होता' प्रकृति का प्रागनुभवात्मक नियम है। इसी प्रकार का नियम यह भी है कि प्रकृति में कोई अनिवार्यता अन्धी नहीं प्रत्युत अवस्थित है अतएव बोधगम्य अनिवार्यता है। यह दोनों नियम ऐसे हैं जिनके द्वारा परिवर्तन का खेल वस्तुओं के स्वरूप के (अर्थात् अवभासों के रूप में वस्तुओं के स्व रूप के अधीन कर दिया जाता है, अथवा जो दूसरे शब्दों में यही बात है, बोधवृत्ति की एकता के अधीन कर दिया जाता है, केवल जिसके अन्तर्गत वह एक अनुभव से संबद्ध हो सकता है, अर्थात् अवभासों की सांश्लेषिक एकता से संबद्ध हो सकता है। यह दोनों सिद्धान्त गत्यात्मक सिद्धान्तों की कोटि से संबद्ध हैं। इनमें प्रथम तो जो अनुभव के उपमानों में एक है, वास्तव में कारणता के सिद्धान्त का परिणाम है। दूसरे का संबन्ध प्रकारता के सिद्धान्त से है, जो कारणिक निर्धारण के साथ अनिवार्यता के संबोध को (पर जो स्वयं बोधवृत्ति के नियम के आधीन स्थित है)

जोड़ता है। सातत्य का सिद्धान्त अवभासों की शृंखला में मण्डूकप्लुति अर्थात् परिवर्तनों का निषेध करता है, परन्तु देश के अन्तर्गत समस्त आनुभविक प्रत्यक्षदर्शनों की राशि में, दो अवभासों के मध्य में किसी रिक्तता अथवा खाई का भी निषेध करता है। क्योंकि इस प्रस्थापना को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है कि अनुभव में ऐसी कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं हो सकती जो रिक्त सिद्ध हो अथवा जो रिक्तता को आनुभविक संश्लेषण के एक अंश के रूप में स्वीकार करती हो। क्योंकि जहाँ तक उस शून्य का प्रश्न है जो संभव अनुभव-क्षेत्र के परे अवस्थित हुआ ख्याल किया जा सकता है, अर्थात् संसार से परे स्थित विचार किया जा सकता है, तो यह तो केवल बोधवृत्ति के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आता नहीं, इस कारण कि बोधवृत्ति तो केवल उन्हीं प्रश्नों पर निर्णय देती है जिनका वास्ता आनुभविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए दिये हुए अवभासों के उपयोग से होता है। शून्य तो उस आदर्श बुद्धि के लिये समस्या है जो किसी संभव अनुभव के परे जाती है और उस क्षेत्र के संबंध में निर्णय करना चाहती है जो संभव अनुभव के चतुर्दिक स्थित है और इसको सीमित करता है, अतएव यह ऐसी समस्या है, जिसका विचार अनुभवातीत आन्वीक्षिकी में किया जाएगा। यह चार प्रस्थापनाएँ (१. 'दुनिया में रिक्तता नहीं है', २. 'मण्डूकप्लुति नहीं है', ३. 'आकस्मिक संयोग नहीं है' और ४. 'भाग्य नहीं है') ऐसी हैं कि अनुभवातीत उद्गम वाले अन्य सिद्धान्तों के अनुसार, हम इनको सरलता से इनके उपयुक्त क्रमानुसार प्रदर्शित कर सकते हैं अर्थात् बोध प्रकारों के क्रम के अनुसार प्रदर्शित कर सकते हैं, और प्रत्येक के लिये उसका समुचित स्थान निर्दिष्ट कर सकते हैं, परन्तु अब तक अभ्यस्त हुआ ऐसा स्वयं कर लेगा, अथवा ऐसा करने के लिये मार्गदर्शक सिद्धान्त का स्वयं आविष्कार कर लेगा। यह चारों प्रत्युपस्थापनाएँ इस बात पर पूर्णतया एकमत हैं कि आनुभविक संश्लेषण में किसी ऐसी बात की अनुज्ञा नहीं देतीं जो बोधवृत्ति और समस्त अवभासों के सतत संयोजन के लिये घातक या हानिकारक हो, अर्थात् बोधवृत्ति के संबोधों की एकता को मिटाने या हानि पहुँचाने वाली हो। क्योंकि केवलमात्र बोधवृत्ति में ही तो अनुभव की वह एकता संभव है, जिसमें समस्त प्रत्यक्षों को अपना स्थान मिलना चाहिये।

क्या संभावना का क्षेत्र उस क्षेत्र से अधिक बड़ा है जिसमें समस्त यथार्थता अन्तर्विष्ट है, और फिर क्या यथार्थता का क्षेत्र उसके समस्त योगफल से बड़ा है जो अनिवार्यतया आवश्यक है, यह इस प्रकार के प्रश्न शिष्ट प्रकार के प्रश्न हैं और इनका समाधान निश्चय ही सांश्लेषिक है, परन्तु तो भी यह केवल बुद्धि के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। क्योंकि वे लगभग यह कहना चाहते हैं कि आया अवभासों के रूप में

समस्त वस्तुएँ मिलकर एकाकी अनुभव के समाहार और संदर्भ से संबंध रखती हैं, प्रत्येक प्रत्यक्ष जिसका एक अंश होता है एवं जो इसलिये अन्य किन्हीं अवभासों से संबद्ध नहीं हो सकता, अथवा मेरे प्रत्यक्ष (अपने सामान्य संयोजन में) एक से अधिक संभव अनुभवों से संबद्ध हो सकते हैं। इन्द्रियसंवेद्यता तथा उसी के समान आत्मप्रत्यक्ष की विषयिगत एवं औपचारिक शर्तों के अनुसार बोधवृत्ति प्रागनुभवात्मक तथा अनुभव के लिये प्रायेण ऐसे नियम निर्दिष्ट करती है जो केवल अनुभव को संभव बनाते हैं। देश और काल के अतिरिक्त प्रत्यक्षदर्शन के अन्य आकारों, इसी प्रकार विचारों के यौक्तिक आकारों, अथवा संबोधों के द्वारा ज्ञान के आकारों के अतिरिक्त बोधवृत्ति के अन्य आकारों को, चाहे वे संभव भी हों, हम अपने प्रति किसी उपाय से संबोध्य एवं अनिवार्य नहीं बना सकते; पर यदि हम ऐसा कर भी सकें तो भी वे अनुभव से, (जो कि केवलमात्र ज्ञान का वह प्रकार जिससे हमको विषयों की उपलब्धि होती है) संबद्ध नहीं हो सकते। जो प्रत्यक्ष हमारे समग्र संभव अनुभव से संबद्ध हैं उनसे भिन्न प्रत्यक्ष, अतएव भौतिक तत्व का एक बिलकुल ही दूसरा क्षेत्र भी अपनी सत्ता रखता है या नहीं, इस बात का निर्णय बोधवृत्ति नहीं कर सकती; इसका उचित व्यापार तो उपलब्ध का समन्वय है। और फिर, हम अपने जिन रूढ़ अनुमानों के द्वारा संभावना के एक महान् राज्य-क्षेत्र को उन्मुक्त कर देते हैं, जिस का वह जो कि वास्तविक (= अर्थात् अनुभव के समस्त विषय) है एक स्वल्प भागमात्र है, उनकी दरिद्रता तो स्पष्टतया प्रत्यक्ष है। सब यथार्थ वस्तुएँ संभव हैं; इस प्रस्थापना से, रूपरान्तरीकरण के यौक्तिक (=तार्किक) नियमों के अनुसार, स्वाभाविकतया जो परिणाम निकलता है वह यह मात्र विशेष प्रस्थापना है कि, कुछ संभव यथार्थ होता है, और इसका यह आशय प्रतीत होता है कि ऐसा बहुत कुछ संभव है कि जो यथार्थ नहीं है। सचमुच ही ऐसी प्रतीति होती है कि मानो संभव की संख्या को वास्तविक की संख्या से सीधे बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि वास्तविक की संघटना के लिये संभव में कुछ जोड़ना आवश्यक होगा। परन्तु संभव के साथ इस कुछ जोड़ने की बात को मैं नहीं जानता (=मानता), क्योंकि संभव के साथ संभव के अतिरिक्त जो और कुछ जोड़ना पड़ेगा, वह अ-संभव होगा। (परन्तु संभव को यथार्थ बनाने के लिये) अनुभव की औपचारिक शर्तों के साथ ऐकमत्य के अतिरिक्त मेरी बोधवृत्ति के साथ जो जोड़ा जाना चाहिये वह केवल एक संबंध है, अर्थात् उसका किसी प्रत्यक्ष के साथ संयोजन है; परन्तु अनुभव के नियमों के अनुसार प्रत्यक्ष के साथ जो कुछ भी जोड़ा जाता है वह यथार्थ होता है, यद्यपि वह अपरोक्षतया दिखलाई भी न पड़ रहा हो। और यह बात, कि जो कुछ प्रत्यक्ष में उपलब्ध है, उसके साथ पूर्ण संयोजन में स्थित एक अवभासों की दूसरी मालिका

संभव है और परिणामतः एक से अधिक सर्वग्राही अनुभव संभव है, जो कुछ प्रत्यक्ष में दिया है उससे अनुमित नहीं हो सकती; और जो कुछ अनुभव में दिया हुआ है, उससे स्वाधीन रह कर इस तरह का अनुमान निकालने की संभावना तो और भी कम है, क्योंकि बिना (भौतिक) उपादान के कुछ भी विचार नहीं किया जा सकता। जो बात केवल उन प्रतिबन्धों के अधीन संभव है जो स्वयंसंभव हैं, यह बात सर्वतोभावेन संभव नहीं है। पर जब यह जानना चाहा जाएगा कि क्या वस्तुओं की संभावना अनुभव की पहुँच के आगे तक है, तब इसी प्रकार की निरपेक्ष संभावना का प्रश्न उपस्थित होगा।

मैंने इन प्रश्नों का उल्लेख मात्रकेवल इसलिए किया है कि सामान्यतया जो बातें बोधवृत्ति के संबोध के अन्तर्गत उसके अंगरूप में उससे संबद्ध हैं, उनमें से कोई भी छूट न जाए। पर सच तो यह है कि निरपेक्ष संभावना (जो सर्वतोभावेन प्रामाणिक हो) केवलमात्र बोधवृत्ति का संबोध ही नहीं है, और किसी भी उपाय से आनुभविक विनियोग (या व्यापार) में नहीं आ सकती; प्रत्युत वह तो केवल बुद्धि से संबंध रखती है जो बोधवृत्ति के समस्त संभव विनियोग के पार पहुँचने वाली है। इसलिये हमको अपने को कतिपय केवल आलोचनात्मक अभिकथनों से सन्तुष्ट करना पड़ा है अन्यथा जब तक कि इस प्रसंग के आगे प्रतिपादन का समुपयुक्त स्थल आए तब तक यह प्रसंग अन्धकार में छोड़ना पड़ता।

इस चतुर्थ खण्ड को और इसके साथ ही साथ शुद्ध बोधवृत्ति के समस्त आधारभूत सिद्धान्तों के संस्थान को समाप्त करने के पूर्व मुझे इस बात का हेतु बतलाना आवश्यक है कि मैं ने प्रकारता के सिद्धान्तों को आधारतत्व क्यों कहा है। मैं इस पद को यहाँ उस अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहता, जिसको कुछ नवीन दार्शनिक लेखकों ने इसके गणितशास्त्र (जिससे इसका यथार्थ में सम्बन्ध है) के अर्थ के विपरीत इसको प्रदान कर दिया है। वह अर्थ यह है कि आधारतत्व के रूप में उपग्रहण का आशय किसी प्रस्थापना को औचित्य-प्रतिपादन अथवा उपपत्ति के बिना अपरोक्षतया निश्चित माना जाए; क्योंकि यदि, हम सांश्लेषिक प्रस्थापनाओं के विषय में चाहे वह कितने भी स्पष्ट क्यों न प्रतीत होते हों, यह स्वीकार कर लें कि वह बिना निगमन के अपने दावे के साक्ष्य के आधार पर, प्रतिबन्ध रहित प्रामाणिकता से समन्वित हो सकती हैं, तो समझ लेना चाहिये कि बोधवृत्ति की समस्त समालोचना नष्ट हो गई, और क्योंकि धृष्टतापूर्ण अभियोगों (मिथ्याभियोगों) की कोई कमी नहीं है, जिनको सामान्य विश्वास (जो परन्तु श्रद्धा के योग्य नहीं है) भी अस्वीकार नहीं करता, अतएव हमारी बोधवृत्ति प्रत्येक कल्पना के आक्रमण के लिए अनावृत हो जाएगी, उसमें ऐसी क्षमता

नहीं रह जाएगी कि वह उन दावों का अनुमोदन न करे जो यद्यपि अनौचित्यपूर्ण हैं तथापि उसी विश्वास के स्वर में यथार्थ स्वयंसिद्ध (सिद्धान्तों) के रूप में स्वीकृत किये जाने की माँग करते हैं। अतएव जब भी किसी वस्तु के संबोध के साथ कोई प्रागनुभवात्मक निर्धारणा सांश्लेषिकतया जोड़ी जाए, तो ऐसी प्रस्थापना के लिये यह अनिवार्य है कि यदि उपपत्ति नहीं तो कम से कम उसके औचित्य का निगमन तो अवश्य उपस्थित किया जाए।

परन्तु प्रकारता के आधारभूत वैषयिकतया सांश्लेषिक नहीं होते, क्योंकि संभावना, यथार्थता और अनिवार्यता के विधेय जिसके लिये विधान किये जाते हैं उसके संबोध को विषय की प्रत्युपस्थापना में, कुछ जोड़ कर, लेशमात्र भी नहीं बढ़ाते। परन्तु फिर भी क्योंकि वे सांश्लेषिक ही होते हैं, अतएव वे विषयिगततया ही ऐसे होते हैं, अर्थात् किसी वस्तु (यथार्थ सत्ता) के संबोध के साथ जिसके विषय में अन्यथा वे कुछ भी नहीं कहते, वे ज्ञान की शक्ति को जोड़ देते हैं, जिसमें से संबोध उत्पन्न होता है और जिसमें उसका स्थान होता है, जिससे यदि वह (संबोध) अनुभव के औपचारिक प्रतिबन्धों के साथ संबद्ध होता है और केवल बोधवृत्ति के अन्तर्गत होता है, तो उसका विषय संभव कहा जाता है। यदि वह प्रत्यक्ष संवेदना के साथ संबद्ध होता है और उसी के द्वारा बोधवृत्ति के माध्यम से निर्धारित होता है, तो विषय यथार्थ होता है; यदि वह संबोधों के अनुसार प्रत्यक्षों के समन्वित संदर्भ से निर्धारित होता है, तो विषय अनिवार्य कहलाता है। इस प्रकार प्रकारता के सिद्धान्त किसी संबोध के विषय में, ज्ञान शक्ति के व्यापार के अतिरिक्त, जिससे उसकी उत्पत्ति होती है, और कुछ भी नहीं कहते। अब गणित में आधारतत्व वह क्रियात्मक प्रस्थापना कही जाती है, जिसमें उस संश्लेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता जिसके द्वारा हम पहले पहल अपने को किसी विषय को प्रदान करते हैं और उसके संबोध को उत्पन्न करते हैं— जैसे उदाहरण के लिए किसी दी हुई रेखा के साथ किसी दिये हुए विन्दु से एक दिये हुए तल पर एक वृत्त बनाना, और इस प्रकार की प्रस्थापना इस कारण सिद्ध (= उपपन्न) नहीं की जा सकती, क्योंकि जिस प्रक्रिया की यह माँग करता है वह ठीक वहीं है जिसके द्वारा हम पहले पहल इस प्रकार की आकृति में संबोध का उत्पादन करते हैं। बस ठीक इसी औचित्य के अधिकार के साथ हम प्रकारता के सिद्धान्तों का भी आधारतत्व के रूप में उपग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि हमारे वस्तुओं के संबोध में सामान्यतः वृद्धि [कां.] नहीं करते, प्रत्युत केवल उस प्रकार को प्रदर्शित करते हैं जिससे यह

कां. किसी वस्तु की यथार्थता के द्वारा मैं निश्चयमेव उसकी संभावना से अधिक प्रस्तुत

सामान्यतः ज्ञानशक्ति से संबद्ध होता है ।

आधारभूत सिद्धान्तों के संस्थान के विषय में सामान्य टिप्पणी

यह बात बहुत अधिक ध्यान देने योग्य है कि किसी वस्तु की संभावना को हम केवल बौद्धिक प्रकार से ही ग्रहण नहीं कर सकते, प्रत्युत बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध को विषयगत वास्तविकता को प्रदर्शित करने के लिये हमको सर्वदा प्रत्यक्ष दर्शन (प्रत्यक्षानुभव) उपलब्ध होना चाहिये। उदाहरण के लिये संबंध के बौद्धिक प्रकार को ले लिया जाए। यह बातें केवल संबोधों से ग्रहण नहीं की जा सकतीं कि (१) कोई वस्तु किस प्रकार केवल विषयी के रूप स्थित हो सकती है, और अन्य वस्तुओं के मात्र निर्धारण के रूप में स्थित नहीं हो सकती, अर्थात् कोई वस्तु किस प्रकार द्रव्य हो सकती है; अथवा (२) यह क्योंकर होता है कि क्योंकि कोई वस्तु है, कुछ अन्य वस्तु होनी चाहिये, अतएव कोई वस्तु कारण किस प्रकार हो सकती है, अथवा (३) जब कई एक वस्तुओं की सत्ता होती है तो यह कैसे होता है कि क्योंकि उनमें से एक के होने से दूसरी वस्तुओं के संबंध में कुछ परिणाम घटित होता है और प्रतिपर्यायक्रम से भी ऐसा होता है, और इस प्रकार पदार्थों का समुदाय किस प्रकार घटित हो सकता है। शेष बौद्धिक प्रकारों के संबंध में भी यही बात लागू होती है; उदाहरण के लिये कोई वस्तु किस प्रकार कई वस्तुओं के मिलित समूह के बराबर हो सकती है, अर्थात् मात्रा हो सकती है, इत्यादि। जब तक प्रत्यक्षानुभव का अभाव रहता है तब तक यह पता नहीं चलता कि क्या बौद्धिक प्रकारों के द्वारा कोई विषय विचारा जाता है और क्या कहीं कोई विषय सचमुच ही उनके अनुरूप हो भी सकता है या नहीं; और इस प्रकार यह बात पुष्ट हो जाती है कि बौद्धिक प्रकार स्वयं अपने आप ज्ञान नहीं है प्रत्युत प्रदत्त प्रत्यक्षानुभवों से ज्ञान का निर्माण करने के लिये केवल विचार के आकारमात्र हैं। इसी कारण यह भी ज्ञात होता है कि बौद्धिक प्रकारों मात्र से कोई सांश्लेषिक प्रस्थापना नहीं बनाई जा सकती। उदाहरण के लिये, "समग्र सत्ता में पदार्थ होता है, अर्थात् कुछ ऐसी वस्तु होती है जो केवल उद्देश्य के रूप में स्थित रह सकती है पर केवल विधेय रूप में नहीं रह सकती", अथवा "प्रत्येक वस्तु मात्रा है", इत्यादि प्रस्थापनाओं को लीजिए जिनमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो हमको उपलब्ध संबोध के परे जाने और

करता हूँ, परन्तु वस्तु में प्रस्तुत नहीं करता; क्योंकि वह अपनी यथार्थता में उससे अधिक कुछ भी धारण नहीं कर सकती जो कि उसकी समग्र सभावना में अन्तर्विष्ट है। पर जब कि संभावना केवल बोधवृत्ति के (आनुभविक विनियोग के) संबंध में वस्तु की स्थिति है, यथार्थता इसके साथ ही साथ उसका प्रत्यक्ष के साथ संबंध है।

किसी दूसरे को उसके साथ जोड़ने में सहायता दे सके। इसी लिये किसी सांश्लेषिक प्रस्थापना को बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों से सिद्ध करने का प्रयत्न भी कभी सफल नहीं हुआ है, जैसे उदाहरण के लिये यह प्रस्थापना, कि प्रत्येक वस्तु का, जो संभाव्यतः सत्तावान् होती है, कोई कारण होता है। इस बात को सिद्ध-करने से आगे नहीं जाया जा सकता कि इस संबंध के बिना हम संभाव्य के अस्तित्व को बिलकुल भी ग्रहण नहीं कर सकते, अर्थात् प्रागनुभवात्मकतया बोधवृत्ति के द्वारा ऐसी वस्तु की सत्ता को नहीं जान सकते; पर जिससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह स्वयं वस्तुओं की संभावना की एक शर्त भी है। इसलिये यदि हमारी कार्यकारण सिद्धान्त की उपपत्ति पर पुनः दृष्टिपात किया जाएगा (जो सिद्धान्त यह है कि ऐसी प्रत्येक बात जो घटित होती हैं, अर्थात् प्रत्येक घटना, एक कारण को पूर्वकल्पित मानती है), तो यह निश्चित पता चलेगा कि हम इसको केवल संभव अनुभव के विषयों के संबंध में ही सिद्ध कर सके थे, और ऐसा भी उसको अनुभव की संभावना के सिद्धान्त के रूप में, और इसी लिये आनुभविक प्रत्यक्ष दर्शन में प्रदत्त किसी विषय के ज्ञान के संबंध में सिद्ध कर सके थे, परन्तु केवलमात्र संबोधों से नहीं कर सके थे। फिर भी यह प्रस्थापना कि प्रत्येक संभाव्य वस्तु का कोई कारण अवश्य होना चाहिये, सब किसी को केवल संबोधों से ही स्पष्ट है, इस बात का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता; पर ऐसी दशा में संभाव्य का संबोध अपने में प्रकारता के बौद्धिक प्रकार को (ऐसी वस्तु के रूप में जिसका असद्भाव विचारा जा सकता है) अन्तर्विष्ट किये हुए नहीं अवधृत हो रहा होता है, प्रत्युत संबंध के बौद्धिक प्रकार को (किसी ऐसी वस्तु के रूप में जो केवल अन्य किसी वस्तु के परिणामस्वरूप ही स्थित हो सकती है) अन्तर्विष्ट किये होता है और तब यह निश्चयमेव अभिन्न प्रस्थापन होती है कि—वह जो केवल परिणाम-रूप होता है उसका कोई कारण होता है। सच तो यह है कि जब हमारे लिये संभाव्य सत्ता का उदाहरण देना पड़ता है तब हमको सर्वदा रूपान्तर पर आश्रित होना पड़ता है, न कि केवल विरुद्ध के विचार की संभावना पर। [कां.] पर रूपान्तरीकरण एक

कां. हम भौतिक तत्व के अनस्तित्व का विचार बड़ी सरलता से कर सकते हैं, तथापि प्राचीन लोगों ने इससे उसकी संभाव्यता का निष्कर्ष नहीं निकाला। किसी वस्तु की एक दी हुई अवस्था के सद्भाव से असद्भाव में परिवर्त्तन तक से (जिसमें समस्त रूपान्तरीकरण निहित है) उसके विरोधी की वास्तविकता के आधार पर उस अवस्था की संभाव्यता सिद्ध नहीं होती, उदाहरण के लिये किसी पिण्ड की 'स्थिति' जो उसकी गति के पश्चात् (आती) प्राप्त होती है, स्थिति की अवस्था के विरुद्ध होने वाली गति की संभाव्यता को सिद्ध नहीं करती।

घटना है जो स्वरूपतः किसी कारण के द्वारा संभव होती है और इसलिये जिसका असद्भाव स्वतः सम्भव है, एवं इस प्रकार संभाव्यता को यूँ जाना जाता है कि वह कुछ ऐसी चीज़ है जो किसी कारण के कार्यरूप में ही सत्तावती हो सकती है, इसलिय यदि किसी वस्तु को संभाव्य माना जाए तो यह कहना कि उसका कोई कारण है यह एक विश्लेषणात्मक प्रस्थापना होगी ।

परन्तु यह और भी अधिक ध्यान देने योग्य तथ्य है कि बौद्धिक प्रकारों के अनुसार वस्तुओं की संभावना को समझने और इस प्रकार इन (प्रकारों) की वैषयिक यथार्थता को प्रदर्शित करने के लिये हमको केवल प्रत्यक्षानुभव की ही आवश्यकता नहीं, प्रत्युत सर्वथा बाह्य प्रत्यक्षानुभव की आवश्यकता होती है । उदाहरण के लिये जब हम संबंध के शुद्ध संबोध को लेते हैं, तो हम प्रथम तो यह देख पाते हैं कि द्रव्य के समनुरूप प्रत्यक्षानुभव किसी स्थायी वस्तु को पाने के लिये, और उसके द्वारा इस संबोध की वास्तविकता को प्रदर्शित करने के लिये, हमको देश या अवकाश के अन्तर्गत भौतिक उपादान के प्रत्यक्षानुभव की आवश्यकता होती है ; क्योंकि केवल देश ही स्थायी रूप निर्धारित हुआ है, परन्तु काल, एवं इसलिए और जो कुछ भी अन्तरिन्द्रिय के अन्तर्गत है, निरन्तर प्रवाह में है । दूसरे, परिवर्त्तन को कार्यकारणता के संबोध के समनुरूप प्रत्यक्षानुभव के रूप में प्रदर्शित करने के लिये हमको, उदाहरण के लिये, देश के अन्तर्गत परिवर्त्तन के रूप में गति को लेना चाहिये ; हाँ, केवल इसके द्वारा ही हम अपने लिये परिवर्त्तन के प्रत्यक्षानुभव को प्राप्त कर सकते हैं, जिसकी संभावना को शुद्ध बोधवृत्ति के द्वारा कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता (या कोई शुद्ध बोधवृत्ति ग्रहण नहीं कर सकती) । परिवर्त्तन एक अभिन्न वस्तु के अस्तित्व में ऐसे विरोधी निर्धारणों का समेकन है, जो परस्पर व्याघाती हैं । यह तथ्य, कि यह कैसे संभव है कि एक अभिन्न वस्तु की एक अवस्था से उसकी विरोधी अवस्था उसके उपरान्त उसका अनुसरण करे, बिना उदाहरण के न केवल बुद्धि से ग्रहण नहीं किया जा सकता, प्रत्युत वास्तव में प्रत्यक्षदर्शन के बिना बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य भी नहीं है और यह प्रत्यक्षानुभव (जो अपेक्षित है) देश के अन्तर्गत एक विन्दु की गति का प्रत्यक्षानुभव है, जिसकी विभिन्न स्थानों में (विरोधी निर्धारणाओं के परिणामस्वरूप) सत्ता ही

क्योंकि यह विरोधी दूसरे का केवल यौक्तिक विरोधी है वास्तविक विरोधी नहीं है । उसकी गति की संभाव्यता को सिद्ध करने के लिये यह सिद्ध करना पड़ेगा कि पूर्व क्षण में गति के बदले उस पिण्ड के लिये तब स्थिति में होना संभव था न कि वह बाद को स्थिति में आई क्योंकि इस दशा में तो दोनों विरोधी परस्पर पूर्णतया एक दूसरे के साथ संगत हैं ।

पहले पहल हमको परिवर्त्तन का प्रत्यक्षदर्शी बनाती है; क्योंकि इसलिए कि हम आगे चल कर आन्तरिक परिवर्त्तनों को भी विचारक्षम बना सकें, हमको (अन्तरिन्द्रिय के आकार) काल को आकृत्यात्मकतया एक रेखा के रूप में प्रत्युपस्थापित करना चाहिये, और आन्तरिक परिवर्त्तन को इस रेखा (गति) को खींच कर प्रत्युपस्थापित करना चाहिये, और इस प्रकार बाह्य प्रत्यक्षानुभव के द्वारा विभिन्न विविध अवस्थाओं में अपनी अनुक्रमिक सत्ता को अवधारण योग्य बनाना चाहिये; जिसका असली हेतु यह है कि परिवर्त्तन के रूप में प्रत्यक्ष किये जाने के लिए सभी परिवर्त्तन प्रत्यक्षानुभव में कुछ स्थायी तत्व की पूर्वकल्पना करते हैं, परन्तु आन्तरिक इन्द्रिय में कोई स्थायी प्रत्यक्षानुभव नहीं मिलता। —अन्ततः, सामाजिकता का बौद्धिक प्रकार उसकी संभावना की दृष्टि से केवल बुद्धि के द्वारा अवधृत नहीं हो सकता; और इसलिये संबोध इसकी वैषयिक यथार्थता प्रत्यक्षानुभव के बिना, और वह भी निश्चय ही देशगत बाह्य प्रत्यक्षानुभव के बिना प्रतीत नहीं हो सकती। क्योंकि इस प्रकार की संभावना का विचार कैसे हो सकता है कि कई एक पदार्थ ऐसे हों, जिनमें से एक की सत्ता के प्रति (कार्यरूप में) कुछ परिणाम पारस्परिकतया निकल सकता हो, और इस प्रकार क्योंकि एक में कुछ चीज़ है इसलिये दूसरों में भी कुछ ऐसी वस्तु होनी चाहिये जो केवल इन दूसरों की सत्ता के कारण समझी नहीं जा सकती? क्योंकि समुदाय के लिये यही तो अपेक्षित है; ऐसी वस्तुओं के मध्य में, जिनमें से प्रत्येक अपनी सत्ता के निर्वाह में दूसरी वस्तुओं से पूर्णतया पृथक् रहती है, सामुदायिकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिये लाइब्नित्स् को, जब कि उसने केवल बोधवृत्ति के द्वारा विचारित, जगत् के पदार्थों के लिये एक सामाजिकता का विधान किया, मध्यस्थता के लिये ईश्वर का उपयोग करना पड़ा; क्योंकि केवल उनकी सत्ता से तो उसको इसका होना न्यायोचिततया अचिन्त्य प्रतीत हुआ। परन्तु यदि हम पदार्थों को अपने प्रति देश में, और इसलिये बाह्य प्रत्यक्षानुभव में प्रत्युपस्थापित करें, तो हम (अवभासों के रूप में पदार्थों) की सामुदायिकता की संभावना को भले प्रकार अवधारण के योग्य बना सकते हैं। क्योंकि इस (प्रत्याक्षानुभव में) पहले से ही अपने में क्रिया और प्रतिक्रिया के वास्तविक संबंधों की संभावना की शर्तों के रूप में प्रागनुभवात्मक संबंध अन्तर्विष्ट रहते हैं और इसी लिए सामाजिकता की संभावना भी रहती है। इसी प्रकार यह बात सरलता से प्रदर्शित की जा सकती है कि परिमाण के रूप में वस्तुओं की संभावना और इसी लिये परिमाण के बौद्धिक प्रकार की विषयगत यथार्थता भी केवल बाह्य प्रत्यक्षानुभव में प्रदर्शित की जा सकती है, और केवल बाह्य प्रत्यक्षानुभव की मध्यस्थता के द्वारा ही यह अन्तरिन्द्रिय के

प्रति भी लागू हो सकती है। किन्तु विस्तार-दोष को वर्जित करने के लिये मुझे इसके उदाहरणों को पाठकों के चिन्तन के लिये छोड़ देना चाहिये।

यह समस्त टिप्पणी, न केवल हमारे पूर्वोक्त आदर्शवाद के खण्डन की पुष्टि के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है, प्रत्युत इससे भी कहीं महत्त्वपूर्ण है उस अवसर के लिये जब केवल अन्तश्चेतना के द्वारा आत्मज्ञान की और बाह्य आनुभविक प्रत्यक्ष की सहायता के बिना हमारे स्वरूप के निर्धारण की चर्चा होगी——क्योंकि यह इस प्रकार के ज्ञान की संभावना के आधारों को प्रदर्शित करने वाली है।

अतएव इस समग्र खंड का अन्तिम निचोड़ यह है——शुद्ध बोधवृत्ति के समस्त सिद्धान्त अनुभव की संभावना के प्रागनुभवात्मक सिद्धान्तों से अधिक और कुछ नहीं हैं, और सब प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक प्रस्थापनाएँ अपने को अनुभव से संबद्ध करती हैं, सच तो यह है कि उनकी संभावना ही इसी संबंध पर निर्भर है।

विभावना का अनुभवातीत-वाद

(सिद्धान्तों की वैश्लेषिकी)

तृतीय अध्याय

समस्त विषयों के दृग्गोचर और बुद्धिगोचर भेद के आधार का विचार

अब हम न केवल शुद्ध बोधवृत्ति के प्रदेश की पूरी यात्रा कर चुके हैं और उसके प्रत्येक भाग की सावधानी से पड़ताल कर चुके हैं, प्रत्युत इसको नाप भी चुके हैं और इसमें स्थित प्रत्येक वस्तु के लिये उसका समुचित स्थान तक निर्धारित कर चुके हैं। पर यह क्षेत्र एक द्वीप है और स्वयं प्रकृति के द्वारा अपरिवर्त्तनीय सीमाओं में आबद्ध किया हुआ है। यह सत्य का देश है (कैसा मोहक नाम है यह सत्य !) जो चारों ओर विस्तीर्ण और तूफ़ानी समुद्र से घिरा हुआ है जो भ्रान्तियों का असली निवासस्थान है, जहाँ अनेकों कुहरराशियाँ और शीघ्रता से घुलते-तिरते तुषार-शैल नवीन भूखंड के आभास से यात्रियों को धोखे में डालते हैं और इस प्रकार साहसी यात्री को निरन्तर रिक्त आशाओं से ठगते हुए उसको ऐसे उद्योगों में फँसाते हैं कि जिनको न तो वह कभी छोड़ सकता है और न कभी समाप्ति तक पहुँचा सकता है। परन्तु इस समुद्र के समस्त विस्तार को पूर्णतया देखने के लिये और इस बात का आश्वासन प्राप्त करने के लिये कि इस प्रकार की आशा का कोई आधार है या नहीं समुद्री यात्रा पर चल देने के पूर्व यह उपयोगी होगा कि पहले हम जिस देश को छोड़ कर यात्रा पर जाने को हैं, उसके नकशे पर ही एक नज़र डाल लें और सब से पहले यह प्रश्न पूछ लें कि क्या हम बहरहाल जो कुछ इस देश में है, उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकते, अथवा यदि अन्यत्र कहीं भी हमको अपने लिये निवासस्थान बनाने के लिये और भूमि न मिले, तो क्या हमको अपरिहार्यतया इससे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये ? दूसरे यह मालूम कर लें कि इस देश पर भी हमारा स्वामित्व किस अधिकारपत्र के अनुसार है, और हम क्या अपने अधिकार को विरोधी दावों से सुरक्षित मानते हैं ? यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर वैश्लेषिकी के मध्य में हम पर्याप्त प्रकार से दे चुके हैं, फिर भी उसके समाधानों का संक्षिप्त पुनःकथन समस्त युक्तियों के तत्वों को एक विन्दु पर एकत्रित करके हमारे दृढ़ विश्वास को बल प्रदान करने में सहायक हो सकता है।

हम देख चुके हैं कि वह प्रत्येक वस्तु जिसको बोधवृत्ति अनुभव से उधार लिये बिना, अपने आप में से व्युत्पादित करती है, उसके पास केवल अनुभव में उपयोग में आने को छोड़ कर अन्य किसी प्रयोजन के लिये नहीं रहती। शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्तों में, चाहे तो वे (जैसे गणित के सिद्धान्त होते हैं) प्रागनुभवात्मकतया संघटनाक्षम हों, अथवा चाहे (जैसे गतिशास्त्र के सिद्धान्त होते हैं) वे केवल विनियामक हों, संभव अनुभव के मानों शुद्ध आकार के अतिरिक्त और कुछ भी अन्तर्विष्ट नहीं होता; क्योंकि अनुभव अपनी एकता को केवल उस सांश्लेषिक एकता से प्राप्त करता है, जिसको बोधवृत्ति, आत्मोपलब्धि के साथ उसके संबंध में कल्पनाशक्ति के संश्लेषण को मूलतया एवं अपने आप प्रदान करती है; तथा जिस सांश्लेषिक एकता के साथ संभव अनुभव की आधारभूत दी हुई सामग्री के रूप में अवभासों को प्रागनुभवात्मकतया संबंध में और संविद् (या ऐकमत्य) में स्थित होना चाहिये। परन्तु यद्यपि बोधवृत्ति के ये नियम केवल प्रागनुभवात्मकतया ही सत्य नहीं हैं, किन्तु सच तो यह है, कि जहाँ तक वे अपने में अनुभव की उस संभवता के आधार को अन्तर्विष्ट रखते हैं जो उस ज्ञान का मण्डलस्वरूप है जिसमें हमको विषयों की उपलब्धि होती है, वहाँ तक वे समस्त सत्य के उद्गम हैं (अर्थात् हमारे ज्ञान और विषयों के परस्पर समन्वय के उद्गम हैं)। (किन्तु) ऐसा होने पर भी हमको, जो सत्य है केवल उसी की व्याख्या किया जाना भर सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत जिसका जानना अभीष्ट है उसकी व्याख्या भी चाहिये। इसलिये यदि इस आलोचनात्मक अनुसंधान से हम उसकी अपेक्षा कुछ भी अधिक नहीं सीखते जिसका हम बोधवृत्ति के आनुभविक उपयोगमात्र में, इस प्रकार की सूक्ष्म अनुसन्धित्सा के बिना भी स्वयं अभ्यास कर ही लेते, तो ऐसा प्रतीत होगा कि अनुसंधान से जो लाभ होता है, वह इस पर हुए (समय और श्रम के) व्यय और तैयारी के अनुरूप नहीं है। इसका उत्तर निश्चय ही यह दिया जा सकता है कि हमारे ज्ञान को अधिक विस्तृत करने के संबंध में कोई भी जिज्ञासावृत्ति उतनी अधिक हानिकारक नहीं होती, जितनी वह जो किसी शोध में प्रवेश करने के पूर्व ही, सर्वदा उस शोध की उपयोगिता को पहले से जानना चाहती है और उस समय से भी पहले जानना चाहती है जबकि इस उपयोगिता के संबंध में अल्पतम संबोध (= या धारणा) न बनायी जा सकी हो चाहे वह हमारी आँखों के सामने ही स्थित क्यों न हो। किन्तु फिर भी एक लाभ ऐसा है जो कठिनतम और अनिच्छुकतम शिक्षार्थी के लिये भी इस प्रकार के अनुभवातीत अनुसंधान को बोधगम्य और साथ ही साथ रुचिकर बना सकता है, और जो लाभ यह है कि यद्यपि, बोधवृत्ति केवल अपने आनुभविक विनियोग में व्याप्त रहते हुए तथा अपने निजी ज्ञान के उद्गम के

विषय में चिन्तन न करते हुए निश्चय ही बहुत अच्छी तरह सफलता के पथ पर चल सकती है पर एक कार्य को वह बिलकुल प्रतिपादित नहीं कर सकती, और वह कार्य है अपने विनियोग की सीमा (या मर्यादा) को निर्धारित करना और यह जानना कि उसके समस्त मण्डल के भीतर और बाहर क्या क्या अवस्थित हो सकता है। इसके लिए उन गहरे अनुसंधानों की अपेक्षा है जिनको हमने प्रवृत्त किया है। यदि यह बोधवृत्ति अपने आनुभविक विनियोग में इस बात का विवेक नहीं कर सकती कि कुछ निश्चित प्रश्न इसके अपने क्षितिज के अन्तर्गत स्थित हैं याँ नहीं, तब तो जब कभी, जैसा कि होना अनिवार्य है यह लगातार अपने गोचरक्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन करेगी, तथा अपने को मूर्खता और प्रवञ्चना में पथभ्रष्ट कर बैठेगी तभी यह अपने दावों और वित्तधारण के विषय में कदापि सुरक्षित अनुभव नहीं कर सकेगी, प्रत्युत उसको बहुत से नीचा दिखाने वाले (—निकारात्मक) भूलसुधारों के लिये प्रस्तुत रहना पड़ेगा।

यह प्रस्थापना, कि बोधवृत्ति अपन समस्त प्रागनुभवात्मक सिद्धान्तों का, और उन्हीं का क्यों अपने समस्त संबोधों का अनुभवात्मक उपयोग छोड़ कर अन्य कोई उपयोग नहीं कर सकती, अनुभवातीत प्रकार से तो कदापि कर ही नहीं सकती, एक ऐसी प्रस्थापना है कि यदि यह पूर्णतया भले प्रकार जानी जा सके तो अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणामों की ओर ले जाती है। किसी भी सिद्धान्त में किसी संबोध का अनुभवातीत विनियोग उसका "वस्तुओं के प्रति सामान्यतः और स्वरूपतः" लागू होना है, किन्तु अनुभवात्मक विनियोग तब होता है जब कि वह केवल अवभासों के प्रति अर्थात् किसी संभव अनुभव के विषयों के प्रति लागू होता है। इन दोनों विनियोगों में से केवल दूसरा ही सर्वथा घटित हो सकता है यह बात निम्नलिखित युक्तियों से स्पष्ट हो जाएगी। प्रत्येक संबोध से प्रथमतः विचार से संबोध के सामान्य आकार की माँग की जाती है, और द्वितीयतः उसको कोई ऐसा विषय प्रदान करने की संभावना की अपेक्षा की जाती है जिसके प्रति वह लागू हो सके। इस प्रकार के विषय के बिना उसका कोई अर्थ ही नहीं होता, और वह अन्तर्विष्ट विषय की दृष्टि से पूर्णतया रिक्त होता है, चाहे फिर उसमें वह तार्किक वृत्ति तब भी निहित हो जिसके द्वारा किसी भी दी हुई सामग्री से संबोध का निर्माण किया जा सकता है। अब जहाँ तक विषयों का प्रश्न है वे प्रत्यक्ष दर्शन को छोड़ अन्य किसी प्रकार से संबोध के लिये प्रदान नहीं किये जा सकते, और यद्यपि कोई शुद्ध प्रत्यक्ष दर्शन "विषय के पूर्व प्रागनुभवात्मकतया संभव भी है, तो भी यह प्रत्यक्ष दर्शन स्वयं अपने विषय को और इसी लिये वैषयिक प्रामाणिकता को केवल उस अनुभवात्मक प्रत्यक्ष दर्शन के द्वारा ही सम्प्राप्त

कर सकता है जिसका वह स्वयं आकारमात्र है। अतएव समस्त संबोध और उनके साथ सब सिद्धान्त भी, यहाँ तक कि वे भी जो प्रागनुभवात्मकतया संभव हैं, फिर भी अनुभवात्मक प्रत्यक्ष दर्शन से ही संबंध रखते हैं, अर्थात् संभव अनुभव की दी ही सामग्री से ही संबद्ध होते हैं। इस संबंध के बिना उनको लेशमात्र भी वैषयिक प्रामाणिकता प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत अपनी प्रत्युपस्थापनाओं की दृष्टि से या तो कल्पनाशक्ति के अथवा बोधवृत्ति के खिलवाड़मात्र होते हैं। उदाहरण के लिये, केवल गणित के संबोधों को ही, और सो भी पहले पहल उनके शुद्ध प्रत्यक्ष दर्शन में लिया जाए। देश में तीन विभा या आयाम होते हैं, दो विन्दुओं के मध्य में केवल एक ही सरल रेखा हो सकती है, इत्यादि। यद्यपि यह सब सिद्धान्त, और उस विषय की प्रत्युपस्थापना जिसके साथ यह विद्या अपने को व्यापृत करती है, मानस में पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया जन्मग्रहण करते हैं, तथापि यदि हम सर्वदा उनके अर्थ को अवभासों में उपस्थित करने में समर्थ न हों तो वे कुछ भी अर्थ सूचित न कर सकेंगे। इसी हेतु एक सर्वथा पृथक्कृत (=ऐन्द्रिक तत्वों से वियुक्त) संबोध को इन्द्रियसंवेद्य बनाने की माँग की जाती है; यह माँग कि उसके समनुरूप विषय प्रत्यक्ष दर्शन में उपस्थित हो, क्योंकि इसके बिना, जैसा कि कहा जाता है), संबोध बिना अर्थ के, अर्थात् बिना अभिप्राय रह जाएगा। गणित विद्या इस माँग को आकृति के बनाने के द्वारा पूरा करती है, यह आकृति (यद्यपि निश्चय ही प्रागनुभवात्मकतया सम्प्राप्त हुई है) तथापि इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित अवभास ही है। उसी विद्या में परिमाण का संबोध अपने टिकने का ठिकाना और अपना इन्द्रिय ग्राह्य अर्थ संख्या में खोज लेता है, संख्या अपना आधार अँगुलियों में, संख्यायंत्र की गोलियों में अथवा उन बिकारी और बिन्दियों में खोज लेती है जो कि नेत्रों के समक्ष स्थापित किये जा सकते हैं। संबोध तो सर्वदा ही प्रागनुभवात्मकतया उत्पादित तत्व बना रहता है, और उसके साथ ही साथ जो सांश्लेषिक सिद्धान्त अथवा गुर ऐसे संबोधों से व्युत्पादित होते हैं वे भी ऐसे ही होते हैं; परन्तु स्वयं उनका विनियोग तथा उनके आपाततः माने हुए तथाकथित विषयों के साथ उनका संबंध अन्ततः अनुभव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं खोजा जा सकता, (एवं) जिस (अनुभव) की संभावना की औपचारिक शर्तें उनमें प्रागनुभवात्मकतया) अन्तर्विष्ट रहती हैं।

किन्तु सब बौद्धिक प्रकारों तथा उनसे व्युत्पादित सिद्धान्तों के संबंध में भी यही स्थिति है, यह तथ्य निम्नलिखित विचार से प्रकट होता है—यह तो एक तथ्य है कि हम तत्काल ही इन्द्रिय-संवेद्यता की शर्तों की ओर अवरोहण किये बिना और इसलिये अवभासों के आकार की ओर उतरे बिना इनमें से किसी की भी परिभाषा यथार्थतया नहीं कर सकते, अर्थात् उनके विषय की संभावना को बोधगम्य नहीं बना सकते

—अतएव उनको उनके केवलमात्र विषय के रूप में अवभासों के आकार की सीमा में मर्यादित कर देना चाहिये; क्योंकि यदि इस शर्त को हटा दिया जाए तो सारा अर्थ अर्थात् विषय के साथ संबंध ही विगलित हो जाता है, और किसी भी उदाहरण द्वारा यह बात अपने लिये अवधारण योग्य नहीं हो पाती कि ऐसे संबोध से किस प्रकार की वस्तु का अर्थ समझा जाए।

परिमाण का संबोध सामान्यतः यह कहने के अतिरिक्त कदापि स्पष्ट नहीं किया जा सकता कि वह किसी वस्तु का वह निर्धारण है जिसके द्वारा यह विचार किया जा सकता है कि किसी वस्तु में इकाई कितनी बार अन्तर्विष्ट है। परन्तु यह "कितनी-बार" अनुक्रमिक आवृत्ति पर और इस हेतु काल तथा काल में सजातीय के संश्लेषण पर आधारित है। वा यथार्थता को, अभाव के प्रतिकूल, केवल तब स्पष्ट किया जा सकता है जब कि काल को (समस्त सत् के समाहार के रूप में) भरा हुआ रीता ख्याल किया जाए। यदि मैं स्थायित्व को (जो एक सर्वकालिक सत्ता है) छोड़ दूँ, तो एक उद्देश्य की तर्कशास्त्रसंबंधी उस प्रस्थापना को छोड़ कर, मेरे पदार्थ के संबोध में कुछ भी शेष नहीं रहेगा, जिस (प्रत्युपस्थापना) को अनुभव करने का प्रयत्न मैं अपने प्रति कुछ ऐसी वस्तु को प्रत्युपस्थापित करके करता हूँ जो केवल उद्देश्य के रूप में (बिना किसी वस्तु का विधेय हुए) ही रह सकती है। परन्तु न केवल मैं किन्हीं ऐसे प्रतिबन्धों को ही नहीं जानता कि जिनके अधीन यह विशिष्ट यौक्तिक सुविधा किसी वस्तु से संबंध रख सकती है; इसके साथ ही साथ इसी प्रकार इसका कोई अधिक उपयोग करना भी नहीं जानता और न इससे लेशमात्र निष्कर्ष प्राप्त करना ही जानता हूँ, क्योंकि इस संबोध के उपयोग के लिये इससे कोई विषय निर्धारित नहीं होता, और इसलिये यह ज्ञात नहीं होता कि इस प्रकार के संबोध का कोई अर्थ भी होता है या नहीं। यदि मैं कारण के संबोध में से उस काल को अलग निकाल दूँ जिसमें कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु का एक नियम के अनुसार अनुसरण करती है, तो मुझे शुद्ध बौद्धिक प्रकार में इससे आगे और कुछ नहीं मिलेगा कि कोई वस्तु ऐसी है जिससे किसी दूसरी की सत्ता का निष्कर्ष निकाला जा सकता है, और इससे न केवल कारण और कार्य को ही एक दूसरे से पृथक् करना नहीं बन सकेगा, प्रत्युत क्योंकि इस प्रकार का निष्कर्ष निकालने की शक्ति ऐसी शर्तों की माँग करती है जिनके विषय में मैं कुछ भी नहीं जानता, अतएव यह संबोध इस प्रकार के किसी निर्धारण से युक्त नहीं होगा कि वह किसी विषय के प्रति कैसे लागू होता है। यह तथाकथित सिद्धान्त कि 'प्रत्येक आकस्मिक घटना का कोई कारण होता है', अपने को निश्चय ही बड़े ठाठबाट के साथ प्रस्तुत करता है, मानों वह अपनी ही बहुमूल्यता में आत्मतृप्त हो। परन्तु मैं पूछता हूँ कि आकस्मिक से तुम्हारा

क्या आशय है ? उत्तर मिलता है : "हम इससे वह समझते हैं जिसका अन्-अस्तित्व संभव है।" तो मैं खुशी से यह जानना चाहूँगा कि यदि तुम अवभासों की शृंखला में एक अनुक्रम को प्रत्युपस्थापित नहीं करोगे और किसी ऐसे सत् को प्रत्युपस्थापित नहीं करोगे जो अन्-अस्तित्व का अनुसरण करता है अथवा इसके उलटे क्रम को अर्थात् परिवर्त्तन को प्रत्युपस्थापित नहीं करोगे, तो इसके अन्-अस्तित्व की संभावना को कैसे निर्धारित कर सकते हो, क्योंकि यह कहना कि किसी वस्तु का अन्-अस्तित्व स्वयं अपना ही प्रत्याख्यान नहीं करता यह स्वयं यौक्तिक प्रतिबन्ध (शर्त) के प्रति एक लंगड़ा प्रत्यावेदन है, जो यद्यपि संबोध के लिये तो निश्चय ही आवश्यक है, परन्तु वास्तविक संभावना के लिये पर्याप्त होने से बहुत दूर है। मैं विचारमात्र में प्रत्येक सत्तावान् पदार्थ को, आत्म-व्याघात के बिना, विनष्ट कर सकता हूँ, परन्तु इससे मैं अस्तित्व में उनकी विषयगत संभाव्यता का, अर्थात् इस बात का कि उनका अनस्तित्व संभव है, अनुमान नहीं कर सकता। जहाँ तक सामुदायिकता के बौद्धिक प्रकार का संबंध है, यह अन्दाज़ लगाना सहज है कि जैसे पदार्थ और कारणता के शुद्ध बौद्धिक प्रकार किसी विषय को निर्धारित करने वाली व्याख्या को अंगीकार नहीं करते, उसी प्रकार या द्रव्यों के पारस्परिक संबंध में भी पारस्परिक कारणता का कोई ऐसा स्पष्टीकरण संभव नहीं है। जहाँ तक संभावना, अस्तित्व और अनिवार्यता की व्याख्या का संबंध है, तो जहाँ तक उनकी परिभाषा को शुद्ध बोधवृत्ति से निर्मित करना अभीष्ट माना गया है, वहाँ तक अद्यावधि कोई भी स्पष्ट पुनरुक्ति के अतिरिक्त अन्य प्रकार से उनकी व्याख्या नहीं कर सका है। क्योंकि संबोध की यौक्तिक संभावना (जिससे संबोध स्वयं अपना प्रतिवाद न करे) को वस्तुओं की लोकातीत या अनुभवातीत संभावना (विषय के संबोध के समनुरूप होने) के स्थान पर स्थापित करना केवल अविवेकियों को ही वंचित और संतुष्ट कर सकता है।[कां.]

इससे निर्विवाद रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध अनुभवातीत विनियोग के काम के तो कदापि नहीं हो सकते, प्रत्युत सर्वदा आनुभविक

कां. एक शब्द में चाहें तो कह सकते हैं कि यदि समस्त ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष दर्शन (केवल प्रत्यक्ष दर्शन जो हमको उपलब्ध है) दूर कर दिया जाता है तो इन संबोधों में से एक भी अपनी वास्तविक संभावना को प्रदर्शित करने के लिये अपने आपको सत्यापादित नहीं कर सकता, और तब केवल यौक्तिक संभावनामात्र (अर्थात् संबोध या विचार संभाव्य) अवशिष्ट रहती है; पर प्रश्न ऐसी संभावना का नहीं है, वह तो यह है कि क्या संबोध का संबंध किसी विषय से है और इसलिये उसका कुछ अर्थ है अथवा नहीं।

व्यापार के उपयोग में आ सकते हैं, और शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्त किसी संभाव्य अनुभव की सर्वव्यापी शर्तों के अनुसार केवल ऐन्द्रिय विषयों के संबंध में लागू हो सकते हैं, परन्तु सामान्यतः वस्तुओं के प्रति, जिस प्रकार से हमको उनका प्रत्याक्षानुभव होता है उसपर दृष्टिपात किये बिना, कदापि लागू नहीं हो सकते।

इसके अनुसार अनुभवातीत वैश्लेषिकी का यह महत्त्वपूर्ण परिणाम है कि प्रागनुभवात्मकतया बोधवृत्ति सामान्यतः संभाव्य अनुभव के आकार का पूर्वबोध कराने से अधिक और कुछ नहीं कर सकती, और क्योंकि वह जो कि अवभास नहीं है अनुभव का विषय नहीं हो सकता, अतः यह (बोधवृत्ति) इन्द्रियसंवेद्यता की उन सीमाओं का कदापि अतिक्रमण नहीं कर सकती केवल जिनकी मर्यादा के भीतर हमको विषयों की उपलब्धि हो सकती है। उसके आधारभूत सिद्धान्त अवभासों के विवरण के लिये नियममात्र हैं, तथा तत्वविद्या को जो बड़े दर्प के साथ सुव्यवस्थित सैद्धान्तिक आकार में सामान्यतः वस्तुओं का सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक ज्ञान प्रदान करने का (जैसे कि उदाहरणार्थ कार्यकारणभाव सिद्धान्त है), दावा करती है इस गर्वपूर्ण नाम के स्थान पर केवल शुद्ध बोधवृत्ति की वैश्लेषिकी का विनम्र नाम धारण कर लेना चाहिये।

विचार वह व्यापार है जो किसी दिये हुए प्रत्यक्षानुभव का संबंध किसी विषय के साथ जोड़ता है। यदि इस प्रत्यक्षानुभव का प्रकार किसी भी ढंग से दिया हुआ न हो तो विषय अनुभवातीतमात्र होता है और तब बोधवृत्ति के संबोध का उपयोग अलौकिक उपयोग के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता अर्थात् सामान्यतः विविधरूप के विचार की एकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इस प्रकार किसी शुद्ध बौद्धिक प्रकार के द्वारा जिसमें से प्रत्येक इन्द्रियग्राह्य प्रत्यक्षानुभव के प्रत्येक प्रतिबन्ध का अपकर्षण किया जा चुका है, (एवं) (जो इन्द्रियग्राह्य प्रत्यक्षानुभव ही वह अनुभव है जो हमारे लिये संभव है), कोई भी विषय निर्धारित नहीं किया जा सकता, प्रत्युत ऐसी दशा में यह (बौद्धिक प्रकार) विभिन्न रीतियों के अनुसार सामान्यरूपेण किसी विषय के विचारमात्र को अभिव्यक्त करता है। अब, किसी भी संबोध के विनियोग में विभावना का व्यापार निहित रहता है, जिसके द्वारा संबोध के अन्तर्गत किसी विषय को अधिगृहीत किया जाता है, और इसीलिये कम से कम उस औपचारिक प्रतिबन्ध को अधिगृहीत किया जाता है जिसके अधीन कोई वस्तु प्रत्यक्षानुभव में प्रदत्त हो सकती है। यदि विभावना का यह प्रतिबन्ध अनुपस्थित हो [जो आकारकल्पना (स्कीमा) कहलाता है] तो सब अधिग्रहण असंभव हो जाता है; क्योंकि ऐसी अवस्था में ऐसा कुछ भी प्रदत्त (उपलब्ध) नहीं होता जो संबोध के अन्तर्गत अधिगृहीत किया जा सके।

अतएव बौद्धिक प्रकारों का केवलमात्र अनुभवातीत नियोजन वास्तव में कोई नियोजन नहीं है और उसका कोई निर्धारित विषय नहीं होता, और तो क्या ऐसा भी कोई विषय नहीं होता जो केवल आकारमात्र की दृष्टि तक से निर्धारित करने योग्य हो। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शुद्ध बौद्धिक प्रकार प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक सिद्धान्त के लिये पर्याप्त नहीं होता, तथा शुद्ध बोधवृत्ति के आधारभूत सिद्धान्त केवल आनुभविक विनियोग के काम के तो होते हैं, अनुभवातीत नियोजन के काम के कदापि नहीं होते, एवं संभाव्य अनुभव के क्षेत्र (गोचर) के बाहर कोई भी प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक सिद्धान्त उपलब्ध नहीं हो सकते।

अतएव अपने विचारों की अवस्था को इस प्रकार अभिव्यक्त करना उपदेष्टव्य हो सकता है; —इन्द्रियसंवेद्यता के औपचारिक प्रतिबन्धों से रहित शुद्ध बौद्धिक प्रकार केवल अनुभवातीत आशय से समन्वित होते हैं, किन्तु वे किसी लोकातीत नियोजन के काम के नहीं होते, क्योंकि ऐसा विनियोजन स्वतः इस कारण असंभव है कि उसमें किसी विभावना में विनियुक्त होने के समस्त प्रतिबन्धों का अभाव रहता है, अर्थात् इन संबोधों के अधीन (=अन्तर्गत) किसी दर्शनयोग्य विषय को अधिगृहीत करने की औपचारिक प्रतिबन्धों का अभाव रहता है। तब तो, क्योंकि, केवल बौद्धिक प्रकार-मात्र के रूप में, उनका नियोजन अनुभवगत प्रकार से किया नहीं जाना चाहिये, और अनुभवातीत प्रकार से उनका नियोजन हो नहीं सकता, और यदि उनको समस्त इन्द्रिय-संवेद्यता से बिलकुल पृथक् कर दिया जाए तो वे किसी प्रकार से विनियोजित नहीं हो सकते; अर्थात् वे किसी भी इन्द्रियगोचर पदार्थ के प्रति प्रयुक्त नहीं हो सकते; वे सामान्यतः सभी विषयों के संबंध में बोधवृत्ति के विनियोग के शुद्ध आकार हैं, दूसरे शब्दों में वे विचार के शुद्ध आकार हैं; तथापि उनमें इस योग्यता का अभाव है कि केवल उनके द्वारा किसी विषय का विचार या निर्धारण किया जा सके।

पर इस प्रस्तुत विषय की जड़ में ऐसा भ्रम निहित है जिससे बचना बड़ा कठिन है। जहाँ तक बौद्धिक प्रकारों के मूलाधार का संबंध है वह प्रत्यक्षानुभव के आकारों, देश और काल के समान इन्द्रिय-संवेद्यता पर आधारित नहीं हैं; और इसी लिये वे इन्द्रियों के विषयों से परे दूर तक पहुँचने वाले विनियोग की अनुज्ञा प्रदान करते हैं। पर फिर अपनी बारी में वे विचार के आकारों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, जो प्रत्यक्षानुभव में दिये हुए विविधरूप को प्रागनुभवात्मकतया एक चेतना में एकत्रित करने वाली यौक्तिक मात्र वृत्ति अपने में अन्तर्विष्ट रखते हैं, और यदि उनसे हमारे लिये केवलमात्र संभव प्रत्यक्षानुभव को पृथक् कर दिया जाए तो वे शुद्ध इन्द्रियग्राह्य आकारों की भी अपेक्षा कम अर्थ को धारण कर सकते हैं, जिन (आकारों) के द्वारा

कम से कम कोई विषय तो प्रदत्त होता ही है जब कि, इसके विपरीत, विविधरूप को संयोजित करने का कोई प्रकार——वह प्रकार जो हमारी बोधवृत्ति की अपनी विशेषता है——जब तक वह प्रत्यक्षानुभव सम्प्राप्त न हो केवल जिसमें विविधरूप प्रदत्त हुआ हो सकता है, स्वयमेव कुछ भी अर्थ सूचित नहीं करता। इसके साथ ही साथ यदि हम किन्हीं विषयों को अवभास या इन्द्रियसंवेद्य सत्ताओं का नाम दें, तब क्योंकि हम उनके प्रत्यक्षानुभव करने के प्रकार को उनके अपने निजी विशिष्ट स्वभाव से भिन्न प्रदर्शित करते हैं, अतएव इस प्रभेद में यह बात स्वयं उपलक्षित है कि हम इन द्वितीय कोटि की वस्तुओं को, उनके अपने निजी स्वभाव के विचार से (यद्यपि हम उनका प्रत्यक्षानुभव इस प्रकार नहीं करते) अथवा कुछ अन्य संभाव्य वस्तुओं को भी, जो हमारी इन्द्रियों के विषय बिलकुल नहीं हैं, पर जो विषय रूप में केवल बोधवृत्ति द्वारा विचारित होते हैं (मानों वे उन पूर्वगामी वस्तुओं के विरोधी हों) बुद्धिगम्य सत्ताओं का नाम प्रदान करें। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या हमारे बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध इन बुद्धिग्राह्य तत्वों के संबंध में कोई अर्थ नहीं रखते हैं और इसलिये क्या वे उनको जानने का प्रकार (या उपाय) नहीं हो सकते हैं?

पर आरंभ में ही हमारा सामना एक ऐसी द्व्यर्थक संदिग्धता से होता है जो महान् भ्रान्ति का कारण बन सकती है। जब बोधवृत्ति किसी विषय एक विशिष्ट संबंध में होने पर केवल दृग्दृश्य का नाम देती है, तब वह उसी समय उस संबंध से बिलकुल अलग किसी विषय की स्वरूपतः स्वतंत्र प्रत्युपस्थापना भी निर्मित करती है, और इस कारण स्वयं अपने आपको भी ऐसा प्रत्युपस्थापित करने लगती है कि मुझमें इस प्रकार के (स्वरूपतः सत्) विषयों के संबोधों को बनाने की क्षमता है, और क्योंकि बोधवृत्ति बौद्धिक प्रकारों के अतिरिक्त अन्य संबोधों को उत्पन्न नहीं करती, अतएव वह यह भी मान लेती है कि विषय अन्तिम आशय में कम से कम अपने निजी स्वरूप में बोध-वृत्ति इन शुद्ध संबोधों के द्वारा विचारित होना ही चाहिये, और इस प्रकार बुद्धिगम्य सत्ता के पूर्णतया अनिर्धारित संबोध को अर्थात् हमारी इन्द्रियसंवेद्यता के बाहर सामान्य-तया किसी वस्तु के संबोध को, पथ-भ्रष्ट होकर किसी ऐसी सत्ता का निर्धारित संबोध मानने लगती है जो अपने आपको बोधवृत्ति के द्वारा किसी पूर्णतया शुद्ध बुद्धिगम्य प्रकार से जानने देता है।

यदि बुद्धिगम्य वस्तु से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु से उस सीमा तक हो जहाँ तक वह हमारे इन्द्रियसंवेद्य प्रत्यक्षानुभव का विषय नहीं है, अतएव जिसको हम अपने प्रत्यक्षानुभव से अपकृष्ट करते हैं, तब तो यह 'नूमैनॉन्' शब्द का ऋणात्मक या निषेधा-त्मक अर्थ होगा। परन्तु यदि इस शब्द का आशय हम अतीन्द्रिय अपरोक्षज्ञान का

विषय समझें तो ऐसा समझने के द्वारा हम अनुभव के विशिष्ट प्रकार की पूर्वकल्पना करते हैं अर्थात् बौद्धिक अपरोक्षानुभव की पूर्वकल्पना करते हैं जो हमारे अपरोक्षानुभव का प्रकार नहीं है, एवं जिसकी संभावना तक हम अववृत नहीं कर सकते, और ऐसा ही, यदि ऐसा संभव हो तो, बुद्धिग्राह्य तत्व का विधिरूप आशय होगा।

इन्द्रियसंवेद्यता का सिद्धान्त इसी प्रकार निषेधात्मक अर्थ में बुद्धिमात्र ग्राह्य (तत्व) का सिद्धान्त भी है, अर्थात् उन वस्तुओं का सिद्धान्त है जिनको बोधवृत्ति के हमारे इस प्रत्यक्षानुभव के प्रकार के संबंध के बिना, अतएव केवल अवभासमात्र के रूप में नहीं प्रत्युत स्वरूपतः सत् वस्तुओं के रूप में विचारना चाहिये; इसके साथ ही साथ बोधवृत्ति को यह भी भली भाँति ज्ञात रहता है कि वस्तुओं पर इस प्रकार दृष्टिपात करने में, प्रत्यक्षानुभव के प्रकार से पृथक् ढंग से उनका विचार करने में वह बौद्धिक प्रकारों का कोई उपयोग नहीं कर सकती, क्योंकि ये बौद्धिक प्रकार तो देश और काल के अन्तर्गत प्रत्यक्षानुभव की एकता के संबंध में ही कुछ अर्थ (माने या आशय) रखते हैं, और इस एकता को भी वे सामान्य प्रागनुभवात्मक संयोजी संबोधों के द्वारा, केवल देश और काल की मनोगतता (या मानसिकता) के हेतु ही निर्धारित कर सकते हैं। जहाँ यह समयगत (या कालगत) एकता उपलभ्य नहीं होती, (और इसी लिये बुद्धिग्राह्य वस्तु (या तत्व) के संबंध में भी वहाँ ही बौद्धिक प्रकारों का समस्त विनियोग ही क्यों सारा आशय भी ठप्प हो जाता है; क्योंकि वस्तुओं की वह संभावना तक जो बौद्धिक प्रकारों के समनुरूप होनी चाहिये, ऐसी स्थिति में विचारक्षम नहीं रहती; जिसके विषय में मैं (केवल उस बात की ओर संकेत करना चाहूँगा जो मैंने पूर्ववर्ती अध्याय के परिशिष्ट रूप में दी हुई सामान्य टिप्पणी के प्रारंभिक वाक्यों में कही है। किसी वस्तु की संभावना उसके संबोध की आत्मविरोध शून्यतामात्र से नहीं, प्रत्युत इस तथ्य के द्वारा सिद्ध होती है कि उस संबोध का प्रतिसंवादी प्रत्यक्षानुभव पाया जाता है। इसलिये यदि हम बौद्धिक प्रकारों को ऐसे विषयों के प्रति प्रयुक्त करने का प्रयत्न करें जो अवभास रूप नहीं माने जाते, तो हमको इन्द्रियग्राह्य प्रत्यक्षानुभव के अतिरिक्त अन्य किसी प्रत्यक्षानुभव को आधारभूत सिद्धान्त के रूप में मानना पड़ेगा और तब इस प्रकार विषय विधिरूप अर्थ में बुद्धिग्राह्य वस्तु होगा। तथापि क्योंकि इस प्रकार का, अर्थात् बौद्धिक प्रकार का अपरोक्षानुभव हमारी ज्ञानशक्ति के बिलकुल बाहर की वस्तु है, इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धिक प्रकारों का विनियोग अनुभव के विषयों की सीमा से आगे किसी प्रकार नहीं पहुँच सकता; निस्सन्देह सचमुच ही इन्द्रियग्राह्य सत्ताओं की प्रतिसंवादी बुद्धिग्राह्य सत्ताएँ (होती) हैं, तथा ऐसी बुद्धिग्राह्य सत्ताएँ भी हो सकती हैं, जिनके साथ हमारी ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव

की शक्ति कोई संबंध नहीं रखती; पर हमारी बोधवृत्ति के संबोध, हमारे ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव के लिये केवल विचार के आकार होने के कारण उनके प्रति लेशमात्र भी लागू नहीं हो सकते। अतः जो हमारे द्वारा बुद्धिग्राह्य कहा जाता है, उसे ऐसा निषेधात्मक अर्थ में ही समझा जाना चाहिये।

यदि मैं अनुभवात्मक ज्ञान से (बौद्धिक प्रकारों के द्वारा) समस्त विचार को हटा कर दूर कर दूँ, तो किसी विषय का ज्ञान अविशिष्ट नहीं रह जाएगा; क्योंकि प्रत्यक्षानुभवमात्र से किञ्चिन्मात्र वस्तु का भी विचार नहीं किया जा (सक) ता, और यह तो तथ्य है कि यह इन्द्रियसंवेद्यता का विकार मेरे भीतर है, यह स्वतः इस प्रकार की प्रत्युपस्थापना के किसी विषय के साथ संबंध के रूप तक नहीं पहुँचता। पर यदि मैं समग्र प्रत्यक्षानुभव को छोड़ दूँ तो भी विचार का आकार बच रहता है—अर्थात् किसी संभाव्य प्रत्यक्षानुभव के विविधरूप के लिये विषय को निर्धारित करने का प्रकार शेष रह जाता है। अतएव बौद्धिक प्रकार ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव से अधिक आगे बढ़ जाते हैं क्योंकि वे उस विशिष्ट प्रकार का (इन्द्रियसंवेद्यता का), जिसमें विषय प्रदत्त हो सकते हैं, विचार किये बिना विषयों का सामान्यतया विचार करते हैं। परन्तु इसके द्वारा वे विषयों के बृहत्तर मण्डल को निर्धारित नहीं करते, क्योंकि हम यह मान कर नहीं चल सकते कि ऐन्द्रिय अपरोक्षानुभव से भिन्न अन्य प्रकार के अनुभव की संभावना की पूर्वकल्पना किये बिना इस प्रकार विषय प्रदत्त (या उपलब्ध) हो सकते हैं; और इस प्रकार के अनुभव की पूर्वकल्पना करने के लिये हमारे पास कोई औचित्य नहीं है। मैं उस संबोध को सविकल्प-शक्य कहता हूँ जिसमें कोई आत्मविरोध नहीं होता, और जो दिये संबोधों की सीमा के रूप में अन्य ज्ञानों के साथ संबद्ध भी होता है, पर जिसकी वैषयिक वास्तविकता किसी भी प्रकार से नहीं जानी जा सकती। बुद्धिग्राह्य वस्तु का संबोध—अर्थात् ऐसी वस्तु का संबोध जो ऐन्द्रिय विषय के रूप बिलकुल भी नहीं, प्रत्युत जो स्वरूपतः सत् वस्तु के रूप में केवल एक बोधवृत्ति द्वारा विचार किये जाने को है—बिलकुल भी आत्मविरोध से युक्त नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियसंवेद्यता के विषय में यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता कि यही एकमात्र प्रत्यक्षानुभव संभाव्य प्रकार है। और इसके आगे, ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव को स्वरूपतः वस्तुओं तक बढ़ जाने से रोकने, और इस प्रकार ऐन्द्रिय ज्ञान की वैषयिक प्रामाणिकता को सीमित (=मर्यादित) करने के लिये बुद्धिग्राह्य वस्तु (या तत्व) का संबोध आवश्यक है; क्योंकि शेष वस्तुएँ जिनके प्रति ऐन्द्रिय ज्ञान लागू नहीं होता, इसलिये बुद्धिग्राह्य कही जाती हैं कि जिससे यह दिखलाया जा सके कि ऐन्द्रिय ज्ञान अपना गोचर ऐसी प्रत्येक वस्तु तक विस्तीर्ण नहीं कर सकता जिसका विचार बोधवृत्ति

करती है। पर यह सब कुछ होते हुए भी अन्त तक इस प्रकार की बुद्धिग्राह्य वस्तु की संभावना बिलकुल अवधार्य नहीं है, तथा अवभासों के क्षेत्र के बाहर जो गोचर है वह हमारे लिये रीता है, अर्थात् हमको एक ऐसी बोधवृत्ति प्राप्त है जो सविकल्प-शक्यतया (ऐन्द्रियानुभव के क्षेत्र के) परे तक विस्तीर्ण है, पर हमको कोई प्रत्यक्षा-नुभव तो क्या, वास्तव में संभाव्य अनुभव का संबोध तक प्राप्त नहीं है, जिसके द्वारा ऐन्द्रिय संवेद्यता के क्षेत्र के बाहर के विषय हमको उपलब्ध हो सकें तथा बोधवृत्ति का उस क्षेत्र के बाहर दृढ़तापूर्वक (दावे के साथ) विनियोग हो सके। इस प्रकार बुद्धिग्राह्य वस्तु का संबोध सीमा बाँधने वाला संबोध है जो इन्द्रियसंवेद्यता के दावे को मर्यादित करने के लिये है और इसलिये जिसका उपयोग केवल निषेधात्मक है। पर इसके साथ ही साथ यह कोई स्वच्छन्द या मनमाना आविष्कार नहीं है, प्रत्युत इन्द्रियसंवेद्यता की सीमा के साथ समाबद्ध है, यद्यपि यह इन्द्रियसंवेद्यता के क्षेत्र से बाहर किसी विधिरूप तथ्य का कथन नहीं कर सकता।

अतएव विषयों का इन्द्रियगोचर और बुद्धिगोचर वर्गों में, और दुनिया इन्द्रिय-जगत् तथा बुद्धिग्राह्य जगत् में विभाजन किसी विधिरूप (पॉज़ीटिव) अर्थ में पूर्णतया अस्वीकार्य है,यद्यपि संबोधों का इन्द्रियगोचर और बुद्धिगोचर वर्गों में पृथक्क-रण निश्चयमेव वैध है; क्योंकि द्वितीय कोटि के संबोधों के लिये किसी विषय का निर्धा-रण नहीं किया जा सकता और इसलिये उनके वैषयिकतया प्रामाणिक होने का दावा भी नहीं किया जा सकता। यदि इन्द्रियों को छोड़ दिया जाए, तो इस बात को चिन्तन योग्य कैसे बनाया जाएगा कि हमारे बौद्धिक प्रकार (जो बुद्धिगोचर तत्वों के लिये मात्र अवशिष्ट संबोध होंगे) इसपर भी कुछ अर्थ द्योतित करते रहेंगे, क्योंकि उनके किसी विषय से संबंध रखने के लिये विचार की एकतामात्र की अपेक्षा कुछ अधिक, अर्थात् उसके अतिरिक्त कोई संभाव्य प्रत्यक्षानुभव दिया हुआ होना चाहिये जिसके प्रति वे लागू हो सकें ? फिर भी यदि बुद्धिगोचर (या बुद्धिग्राह्य) के संबोध को केवल सविकल्पशक्य अर्थ में ग्रहण किया जाए तो उपर्युक्त सब कुछ होते हुए भी वह न केवल स्वीकार्य रहता है, प्रत्युत इन्द्रियगोचरता की मर्यादा बाँधने वाला संबोध होने के कारण वह अनिवार्य भी है। पर ऐसी अवस्था में बुद्धिग्राह्य वस्तु हमारी बोधवृत्ति के लिए विशेष प्रकार का विषय अर्थात् बुद्धिग्राह्य विषय नहीं होता; इसलिये कि जिस (प्रकार की) बुद्धि से वह संबद्ध हो सकता है वह स्वयं एक समस्या है अर्थात् वह ऐसी (अनोखी) बुद्धि है जो अपने विषय को वैचारिकतया बौद्धिक प्रकारों द्वारा नहीं प्रत्युत अनिन्द्रितानुभव में अपरोक्षतया जानती है और जिसकी संभावना की लेशमात्र प्रत्युपस्थापना भी हम अपने लिये नहीं कर सकते। हमारी बोधवृत्ति

इस (बुद्धिग्राह्य तत्व) के द्वारा एक नकारात्मक विस्तार को प्राप्त करती है, अर्थात् बोधवृत्ति इन्द्रिय संवेद्यता से सीमित नहीं होती, प्रत्युत इसके विपरीत वह स्वयं स्वरूपतः सत् वस्तुओं के लिये (उन वस्तुओं के लिये जो अवभास रूप नहीं मानी जातीं) बुद्धि-ग्राह्य का प्रयोग करके इन्द्रिय-संवेद्यता को सीमित या मर्यादित कर देती है। पर ऐसा करने में वह स्वयं अपन आप के लिये भी, यह मानते हुए कि वह इन इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं को किसी बौद्धिक प्रकार के द्वारा नहीं जान सकती और इसलिये उसे उनको किसी अज्ञात यत्किञ्चित् वस्तु के नाम से विचार करना पड़ेगा, सीमा बाँधती है।

तथापि आधुनिकों की रचनाओं में "इन्द्रियग्राह्य जगत्" और "बुद्धिग्राह्य जगत्" पदों को एसे अर्थ में प्रत्युक्त हुआ पाता हूँ, जो प्राचीनों के अर्थ से नितान्त पृथक् है—ऐसे अर्थ में जिसमें सचमुच ही कठिनाई तो नहीं होती, पर इसके साथ ही साथ रीते शब्दों के खिलवाड़ के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं आता। इस शब्द व्यवहार के अनुसार कुछ लोगों ने अवभासों की समष्टि को, जहां तक उनका प्रत्यक्षानुभव होता है, इन्द्रियजगत् का, पर जहाँ तक बोधवृत्ति के नियमों के अनुसार उनके संयोजन (या संबंधन) का विचार किया जाता है (इसको) बुद्धिग्राह्य जगत् का नाम देना उचित समझा है। निरीक्षणात्मक नक्षत्रविद्या जो कि केवल तारकित आकाश के अवलोकन की शिक्षा देती है प्रथम प्रकार का, तथा इसके दूसरी ओर चिन्तनात्मक नक्षत्रविद्या, या तो कोपरनिकुस के संस्थान के अनुसार, अथवा न्यूटन के आकर्षण के नियम के अनुसार आदिष्ट होने पर दूसरे प्रकार का, अर्थात् बुद्धिग्राह्य जगत् का प्रत्युपस्थापन प्रस्तुत करेगी। पर शब्दों की इस प्रकार की तोड़-मरोड़ केवल व्यर्थ का वितण्डावाद है जो एक कठिन प्रश्न को, उसके अर्थ को अपनी सुविधा के अनुसार नीचा करके टालने का प्रयत्न करता है। बोधवृत्ति और बुद्धि (या विवेक) का उपयोग, सचमुच ही अवभासों के संबंध में हुआ ही करता है, पर प्रश्न तो यह उठता है कि आया, तब भी इनका कोई उपयोग होगा जब कि विषय इन्द्रियगोचर पदार्थ (फैनोमेना) न हो, बुद्धिगोचर हो, और जब कोई विषय केवल बुद्धिग्राह्य रूप में विचार किया जाता है, अर्थात् केवल बोधवृत्ति को प्रदान किया हुआ, इन्द्रियों को प्रदान किया हुआ नहीं, विचार किया जाता है तो विषय को इसी दूसरे रूप में ग्रहण किया जाता है। अतएव प्रश्न यह है कि क्या बोधवृत्ति के अनुभवगत विनियोग के बाहर (विश्व की संघटना की न्यूटन द्वारा प्रत्युपस्थापना में बोधवृत्ति के विनियोग के भी बाहर) भी उस (बोधवृत्ति) का कोई अनुभवातीत ऐसा विनियोग संभव है जिसका वास्ता विषय रूप बुद्धिग्राह्य वस्तु (तत्व) से हो, और इस प्रश्न का हमने नकारात्मक उत्तर दिया है।

इसलिये जब हम यह कहते हैं कि इन्द्रियाँ विषयों को उनके अवभासित होने वाले रूप में प्रत्युपस्थापित करती हैं, पर बोधवृत्ति विषयों को उस रूप में प्रत्युपस्थापित करती है जैसे वे हैं तो यह अन्तिम कथन किसी अनुभवातीत अर्थ में नहीं प्रत्युत आनुभविक आशय में ही ग्रहण किया जाना चाहिये, अर्थात् इसका यह अर्थ लगाया जाना चाहिये कि विषयों को अनुभव के विषयों के रूप में यानी पूर्णतया परस्पर संबद्ध-संदृब्ध अवभासों के रूप में प्रत्युपस्थापित किया जाना चाहिये, उस रूप में नहीं जो किसी संभाव्य अनुभव के संबंध से और इसी लिये सामान्यतः किसी इन्द्रिय के संबंध से पृथक् शुद्ध बोधवृत्ति के विषय के रूप में उसका स्वरूप हो सकता है। क्योंकि शुद्ध बोधवृत्ति के ऐसे विषय हमको सदैव अज्ञात रहेंगे, यह तक भी तो हमको अज्ञात रहेगा कि इस प्रकार का अनुभवातीत अथवा (असाधारण) ज्ञान किन्हीं भी परिस्थितियों में संभव है या नहीं—कम से कम तब तक तो होगा जब तक कि यह वैसा ज्ञान है जैसा कि हमारे सामान्य बौद्धिक प्रकारों के अधीन हुआ करता है। बोधवृत्ति और इन्द्रिय-संवेद्यता यह दोनों परस्पर संपृक्त होकर ही हमारे लिये विषयों का निर्धारण कर सकती हैं। जब हम उनको एक दूसरी से पृथक् कर देते हैं तब या तो संबोधरहित प्रत्यक्षानुभव हमको प्राप्त होता है और या प्रत्यक्षानुभव-रहित संबोध,—दोनों ही अवस्थाओं में ऐसी प्रत्युपस्थापनाएँ प्राप्त होती हैं जिनको हम किसी भी सुनिर्धारित विषय से संबद्ध नहीं कर सकते।

यदि समस्त स्पष्टीकरणों के पश्चात् भी कोई व्यक्ति बौद्धिक प्रकारों के अनुभवातीत विनियोग का त्याग करने में हिचकिचाहट प्रकट करता है, तो उसको उनसे कोई सांश्लेषिक प्रस्थापना प्राप्त करने का उद्योग करके देख लेना चाहिये। क्योंकि वैश्लेषिक प्रस्थापना तो बोधवृत्ति को बिलकुल भी आगे नहीं बढ़ाती, और क्योंकि इसका वास्ता केवल उस वस्तु से है जो पहले से ही संबोध में विचार ली गई है, अतएव यह इस बात को अनिर्णीत ही छोड़ देती है कि इस संबोध में स्वतः अपने आप में विषयों के साथ कोई संबंध है या नहीं, अथवा यह सामान्यरूपेण केवल विचार की एकता को ही सूचित करता है (जब कि उस प्रकार से जिसमें विषय प्रदत्त या उपलब्ध हो सकते हैं पूर्ण अपकर्षण कर लिया गया हो), अपने वैश्लेषिक विनियोग में बोधवृत्ति के लिये इतना ही जानना पर्याप्त है कि संबोध में क्या अन्तर्विष्ट है, पर उस विषय के संबंध में जिसके प्रति यह संबोध लागू हो सकता है उसके विषय में बोधवृत्ति उदासीन रहती है। अतएव उसको किसी सांश्लेषिक एवं तथाकथित (तथा मानित) प्रस्थापना को लेकर इस प्रकार का उद्यम करना चाहिये, उदाहरणार्थ उसको इस प्रकार की प्रस्थापनाएँ लेकर चलना चाहिये; "प्रत्येक वस्तु जो सत्तावान है वह द्रव्य के रूप में अथवा

उसमें स्वतः निविष्ट निर्धारण के रूप में सत्तावान् है", "प्रत्येक संभाव्य वस्तु जो सत्तावान् है किसी अन्य वस्तु के अर्थात् उसके कारण के कार्य के रूप में सत्तावान् है,' इत्यादि इत्यादि। अब मैं पूछता हूँ कि जब संबोध, सभाव्य अनुभव के साथ अपने संबंध में लागू नहीं होते प्रत्युत स्वरूपतः सत् वस्तुओं के प्रति लागू होते हैं तो बोधवृत्ति इन सांश्लेषिक प्रस्थापनाओं को कहाँ से प्राप्त कर सकती है? यहाँ पर वह तीसरी यत्किञ्चित वस्तु कहाँ है जो सांश्लेषिक प्रस्थापना के लिये इसलिये सर्वदा अपेक्षित होती है कि इसकी मध्यस्थता के द्वारा वे संबोध जो कोई भी यौक्तिक (= वैश्लेषिक) सादृश्य नहीं रखते परस्पर संयोजित हो सकें? (अतएव) वह अपनी प्रस्थापना को कदाप सिद्ध नहीं कर सकेगा, इतना ही नहीं इससे भी अधिक बात यह है कि बोधवृत्ति के आनुभविक विनियोग के अभ्याह्वान के बिना, और ऐसा करके शुद्ध और अनैन्द्रिय-विभावना से पूर्णतया हट बिना किसी इस प्रकार के दावे की संभावना भी प्रदर्शित नहीं की जा सकती। इस प्रकार शुद्ध और केवलमात्र बुद्धिग्राह्य विषयों का संबोध उन सब मूल सिद्धान्तों से पूर्णतया रिक्त है जो उसके उपयोग को संभव बना सकते हैं, क्योंकि किसी ऐसे प्रकार का विचार नहीं किया जा सकता जिससे (या में) यह बुद्धिग्राह्य विषय प्रदत्त हो सकते हैं, और शक्यसंभाव्य विचार जो उनके लिये एक स्थान खुला छोड़ देता है, वह एक रिक्त प्रदेश के समान अपने गें उन सिद्धान्तों के मण्डल या क्षेत्र के परे ज्ञान के अन्य विषयों की धारण या प्रदर्शित किये बिना अनुभव के सिद्धान्तों की सीमा या मर्यादा बाँधने भर का काम देता है।

परिशिष्ट

बोधवृत्ति के अनुभवगत विनियोग तथा अनुभवातीत विनियोग के संकर से उत्पन्न चिन्तन के संबोधों की द्व्यर्थकता

चिन्तन स्वतः विषयों से, उनसे सीधे संबोधों को प्राप्त करने के लिये कोई वास्ता नहीं रखता, प्रत्युत हमारे मानस की वह अवस्था है जिसमें हम पहले पहल अपने को उन विषयिगत प्रतिबन्धों को आविष्कृत करने के लिये प्रस्तुत करते हैं जिनके अधीन हम संबोधों तक पहुँच सकते हैं। यह हमारे ज्ञान के विविध स्रोतों के साथ दी हुई प्रत्युपस्थापनाओं के संबंध की चेतना है, मात्र जिसके द्वारा ज्ञान के स्रोतों का पारस्परिक संबंध ठीक प्रकार से निर्धारित हो सकता है। हमारी प्रत्युपस्थापनाओं के आगे आने वाले समस्त प्रतिपादन के पूर्व सर्वप्रथम पूछने का प्रश्न यह है कि हमारी प्रत्युपस्थापनाएँ कौन सी ज्ञानवृत्ति में परस्पर संयोजित हुआ करती हैं? क्या वह बोधवृत्ति है अथवा इन्द्रियाँ हैं जिनके द्वारा वे संयोजित की जाती अथवा परस्पर तुलना की जाती हैं? अनेकों विभावनाएँ प्रथा के कारण स्वीकार कर ली जाती हैं अथवा मानसिक झुकाव के द्वारा ग्रथित कर ली जाती हैं; परन्तु क्योंकि उसके पूर्व कोई चिन्तन नहीं किया जाता, अथवा कम से कम विभावना के पश्चात् भी कोई समालोचनात्मक चिन्तन नहीं किया जाता, अतएव बस यों ही मान लिया जाता है कि उसका उद्गम बोधवृत्ति में है। सब विभावनाओं के लिये परीक्षण अर्थात् उनके सत्य के आधार के प्रति हमारे ध्यान को प्रेरित करने की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि यदि वे अपरोक्षतया निश्चित होती हैं, (उदाहरण के लिये, जैसे यह विभावना है कि दो विन्दुओं के मध्य में केवल एक ही सरल रेखा हो सकती है) तो उनके सत्य के प्रतिपादन के लिये उस चिह्न से निकटतर और कोई चिह्न सूचित नहीं किया जा सकता जिसको वे स्वतः अभिव्यक्त करती हैं। फिर भी सब विभावनाओं, (इतना ही क्यों) सब तुलनाओं तक के लिये चिन्तन की अर्थात् उस ज्ञानवृत्ति के विवेक की आवश्यकता है जिसके साथ दिये हुए संबोधों का संबंध है। उस व्यापार को जिसके द्वारा मैं सामान्य भावेन प्रत्युपस्थापनाओं की तुलना को उस ज्ञानवृत्ति के समक्ष रखता हूँ जिससे वे संबद्ध हैं, तथा जिसके द्वारा मैं यह भेद निर्धारित कर सकता हूँ कि वे जो परस्पर तुलना

किये जाने को हैं तो वह शुद्ध बोधवृत्ति से संवद्ध हैं अथवा ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव से, मैं अनुभवातीत चिन्तन नाम देता हूँ। परन्तु वे सम्बन्ध जिनमें संबोध किसी मानसिक अवस्था में परस्पर संबद्ध हो सकते हैं, अभेद और भेद, संविद् और विरोध, आन्तर और वाह्य एवं अन्ततः निर्धार्य और निर्धारिणा के संबंध हैं। संबंध का ठीक ठीक निर्धारण इस प्रश्न के निर्णय पर निर्भर करता है कि संबोध ज्ञान की किस शक्ति या वृत्ति में विषयिगततया परस्पर संबद्ध हैं--इन्द्रियसंवेद्यता की वृत्ति में या बोधवृत्ति में। क्योंकि ज्ञानशक्तियों का विभेद उस प्रकार में जिसमें हमको संबोधों का विचार करना है बड़ा अन्तर उत्पन्न कर देता है।

किसी वैषयिक विभावना की रचना के पूर्व हम सर्वव्यापी विभावना के निमित्त संबोधों में (एक संबोध के अधीन अनेक प्रत्युपस्थापनाओं में) अभेद को, विशेष विभावना के निमित्त भेद को, सकारात्मक विभावना के निमित्त संविदा को, नकारात्मक विभावना के निमित्त विरोध इत्यादि को, पाने के लिए उन संबोधों की परस्पर तुलना किया करते हैं। इस हेतु, ऐसा प्रतीत होता है कि हमको इन उपर्युक्त संबोधों को तुलनासंबंधी संबोध कहना चाहिये। परन्तु क्योंकि, अब प्रश्न संबोधों के यौक्तिक आकार के संबंध न हो कर उनके अन्तर्विष्ट विषय के संबंध में होता है, अर्थात् जब प्रश्न यह होता है कि वस्तुएँ स्वयं अभिन्न या भिन्न हैं, अविरोधी हैं या विरोधी हैं, इत्यादि, तब वस्तुएँ हमारी ज्ञानशक्ति के साथ दुहरा संबंध रख सकती हैं अर्थात् इन्द्रिय संवेद्यता के और बोधवृत्ति के साथ संबंध रख सकती हैं, और फिर क्योंकि जिस स्थान में वे संबंध रखती हैं उसी पर वह प्रकार निर्भर होता है जिस प्रकार में परस्पर संबद्ध होती हैं, अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुभवातीत चिन्तन अर्थात् दी हुई प्रत्युपस्थापनाओं का एक या दूसरे ज्ञान-प्रकार के साथ संबंधमात्र ही उनके पारस्परिक संबंध को निर्धारित कर सकता है, और जहाँ तक यह निर्णय करने का प्रश्न है कि कोई वस्तुएँ अभिन्न हैं या भिन्न, अविरोधी हैं या विरोधी, इत्यादि, तो यह तो स्वयं संबोधों से उनकी तुलनामात्र के द्वारा एकदम स्थापित नहीं किया जा सकता, प्रत्युत यह तो अनुभवातीत चिन्तन के माध्यम से केवल उस ज्ञान के प्रकार की विशिष्टता के द्वारा, जिससे वे संबद्ध हैं, स्थापित किया जा सकता है। इसलिये यह भी निश्चय कहा जा सकता है कि यौक्तिक चिन्तन एक तुलनामात्र है, क्योंकि उस ज्ञानशक्ति का जिससे दी हुई प्रत्युपस्थापनाएँ संबंध रखती हैं उसमें से पूर्ण अपहार कर लिया जाता है, और इसलिये उन (प्रत्युपस्थापनाओं) को, जहाँ तक मानस में उनके स्थान का संबंध है, एक समान माना जाना चाहिये, पर अतीन्द्रिय चिन्तन, जिसका वास्ता स्वयं विषयों से होता है, अपने भीतर प्रत्युपस्थापनाओं की

पारस्परिक वैषयिक तुलना की संभावना के मूलाधार को अन्तर्विष्ट रखता है, और इसलिये पूर्वोक्त चिन्तन के प्रकार अत्यधिक भिन्न हैं, क्योंकि वह ज्ञानशक्ति जिससे वे संबद्ध हैं एक और अभिन्न नहीं है। यह अनुभवातीत विचारणा या चिन्तन एक ऐसा कर्त्तव्य है जिससे कोई व्यक्ति, यदि वह वस्तुओं के संबंध में कुछ प्रागनुभवात्मक विभावना बनाना चाहता हो, मुक्ति पाने का दावा नहीं कर सकता। अब हम इसी कर्त्तव्य को हाथ लगाएँगे, और ऐसा करने से, बोधवृत्ति के उचित व्यापार के निर्धारण पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

१. अभिन्नता और भेद। यदि कोई विषय हमारे प्रति अनेकों बार उपस्थित किया जाए, पर प्रत्येक बार उन्हीं प्रत्युपस्थापनाओं (गुणवाचकों, मात्रावाचकों) के साथ, तब यदि उसको शुद्ध बोधवृत्ति का विषय माना जाए, तो वह सर्वदा एकमेवाद्वितीय ही रहता है, बहुत सी नहीं, प्रत्युत केवल एकमात्र वस्तु रहता है। परन्तु यदि वह अवभास हो, तो संबोधों की तुलना का कोई महत्त्व नहीं होता, प्रत्युत चाहे वे सब संबोधों की दृष्टि से कितने ही अधिक अभिन्न भी क्यों न हों, तो भी एक ही समय पर इन अवभासों के स्थानों की विभिन्नता इन विषयों की संख्यासंबंधी विभिन्नता का अर्थात् (ऐन्द्रिय) विषयों की विभिन्नता का पर्याप्ततर हेतु है। इस प्रकार पानी की दो बूँदों में से (गुण और मात्रा के) आन्तरिक भेद में से पूर्णरूपेण अपकर्षण किया जा सकता है, और तब भी इतनी सी बात कि वे दोनों एक ही समय पर दो विभिन्न स्थानों में देखे गये उन दोनों को संख्या की दृष्टि से भिन्न मानने के लिये पर्याप्त है। लाइब्निट्स् ने अवभासों को स्वरूपतः सत् वस्तुओं के रूप में माना, अतएव बोधगम्य वस्तुओं के अर्थात् शुद्ध बोधवृत्ति के विषयों के रूप में माना (यद्यपि उनकी प्रत्युपस्थापनाओं की उलझन के कारण उनको भी इन्द्रियगोचर या दृग्दृश्य का ही नाम दिया) और इस प्रसंग में उसका असंप्रभेद्यों (अविवेच्यों) की अभिन्नता का सिद्धान्त निश्चय ही विवाद योग्य नहीं है। परन्तु क्योंकि वे इन्द्रियसंवेद्यता के विषय हैं, और क्योंकि उनके संबंध में बोधवृत्ति का विनियोग शुद्ध नहीं प्रत्युत केवल आनुभविक है, अतएव अनेकता और संख्यागत विभिन्नता तो पहले से ही स्वयं देश के द्वारा बाह्यविभासों की शर्तों के रूप में हमको प्रदान कर दी जाती हैं। क्योंकि देश का एक खंड, दूसरे खंड के पूर्णतया कितना ही सदृश् और बराबर क्यों न हो, तो भी होता उसके बाहर ही है और इसी हेतु एक अन्य खंड होता है और जब पहले खंड के साथ जोड़ा जाता है, तो वृहत्तर देश का निर्माण करता है। यही बात उन सब वस्तुओं के संबंध में लागू होगी जो एक ही समय में विभिन्न दैशिक स्थितियों में स्थित होती हैं, फिर चाहे वे अन्यथा कितनी ही सदृश और समान क्यों न हो।

२. संविदा (ऐकमत्य) और विरोध । यदि वास्तविकता केवल शुद्ध बोधवृत्ति के द्वारा प्रत्युपस्थापित की जाए, तो वास्तविकताओं में कोई विरोध नहीं सोचा जा सकता, अर्थात् इस प्रकार का कोई संबंध नहीं सोचा जा सकता, कि यदि वे एक ही विषय में संबद्ध हों तो वे एक दूसरे के परिणामों को उच्छिन्न कर दें और ३ – ३ = ० के आकार को ग्रहण कर लें। इसके विपरीत, अवभास में वास्तविक तत्व निश्चयमेव परस्पर विरोधक्षम हो सकता है, और एक ही विषय में एकत्रित होने पर, एक दूसरे के परिणाम को पूर्णतया या अंशतः नष्ट कर सकता है जैसे कि एक ही सरल रेखा में गतिशील दो वेगों के प्रसंग में होता है, जहाँ तक कि वे किसी विन्दु को या तो विरोधी दिशाओं में खींचते हैं अथवा धकेलते हैं, अथवा जैसे कि पीड़ा को प्रतिसंतुलित करने वाले सुख के प्रसंग में होता है ।

३. आन्तरिक और बाह्य । शुद्ध बोधवृत्ति के विषय में केवल वही आन्तरिक होता है जो (जहाँ तक उसके अस्तित्व का संबंध है) स्वयं अपने से भिन्न किसी वस्तु से लेशमात्र भी संबंध नहीं रखता । इसके विपरीत देश के अन्तर्गत स्थित दृग्दृश्य या इन्द्रियगोचर वस्तु की आन्तरिक निर्धारणाएँ संबंधों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होतीं, और स्वयं भी पूर्णतया निरे संबोधों की मूर्ति भर होती है । देश में स्थित द्रव्य को हम केवल उन शक्तियों के द्वारा जानते हैं जो देश में यत्रतत्र सक्रिय रहती हैं और जो या तो अन्य पदार्थों को अपनी ओर खींचती हैं अथवा उनको उस स्थान में प्रवेश करने से रोकती हैं । इनके अतिरिक्त, द्रव्य के उस संबोध को, जो देश के अन्तर्गत अवभासित होता है और जिसको हम भौतिक द्रव्य कहते हैं, घटित करने वाली अन्य विशिष्टताओं को हम नहीं जानते । इसके विपरीत, शुद्ध बोधवृत्ति के विषय के रूप में प्रत्येक द्रव्य में आन्तरिक निर्धारणाएँ और शक्तियाँ होनी चाहिये जिनका वास्ता उसकी आन्तरिक यथार्थता से है । परन्तु उन आन्तरिक उपाधियों को छोड़ कर जिनको मेरा अन्तःकरण मेरे प्रति प्रस्तुत करता है, अर्थात् वह जो या तो स्वयं 'विचार' है या उसके सदृश है, मैं और कौन सी अन्य उपाधियों का विचार कर सकता हूँ ? इसी लिये तो लाइब्नित्स् ने (क्योंकि उसने द्रव्यों को बुद्धिगोचर के रूप में माना) द्रव्यों से ऐसी प्रत्येक वस्तु को जो कि बाह्य संबंध को सूचित करने वाली थी, अतएव अंगसंस्थान तक को, विचार द्वारा दूर करके, उन सब को ही, यहाँ तक कि भौतिक-द्रव्य के संघटक तत्वों तक को भी प्रत्युपस्थापना की शक्ति से समन्वित अविमिश्र विषयिओं के रूप में प्रत्युपस्थापित किया—एक शब्द में कहें तो उनको एक तन्मात्र-तत्व माना ।

४. भौतिक द्रव्य और आकार । यह दोनों संबोध बोधवृत्ति के विनियोग से

इतने अधिक अवियोज्यतया संबद्ध हैं कि वे अन्य सब चिन्तन में अधिनिहित हैं। इनमें भौतिक द्रव्य सामान्यभावेन निर्धार्य को सूचित करता है, आकार उसके निर्धारण को सूचित करता है (दोनों ही अनुभवातीत अर्थ में ऐसा करते हैं क्योंकि जो कुछ दिया हुआ है उसके सब भेदों और जिनसे उस दिये हुए का निर्धारण होता है, उन सब प्रकारों का अपहार कर दिया जाता है)। नैय्यायिकों ने विगत काल में सामान्य को भौतिकद्रव्य नाम दिया था और विशिष्ट अन्तर को आकार नाम दिया था। किसी भी विभावना में दिये हुए संबोधों को यौक्तिक द्रव्य [अर्थात् विभावना के लिये (भौतिक) द्रव्य] और (संयोजक के द्वारा) उनके संबंध को विभावना का आकार कहा जा सकता है। प्रत्येक भूत में उसके संघटक तत्व भूतद्रव्य होते हैं, और वह प्रकार जिसमें कि वह एक वस्तु में संयोजित होते हैं, उसका सारभूत आकार होता है। और भी जहाँ तक सामान्यतोभावेन सब वस्तुओं का संबंध है अपरिसीमित यथार्थसत्ता समस्त संभवता का भौतिकद्रव्य मानी जाती थी, किन्तु उसी की सीमा निषेध उस आकार के रूप में मानी जाती थी जिसके द्वारा एक वस्तु दूसरी वस्तु से लोकातीत संबोधों के अनुसार पृथक् की जाती है। बोधवृत्ति को, किसी भी वस्तु को सुनिश्चित प्रकार से निर्धारित करने के लिये, इस बात की अपेक्षा रहती है कि आरंभ में कुछ वस्तु कम से कम संबोध (-रूप) में दी हुई हो। परिणामतः शुद्ध बोधवृत्ति के संबोध में भौतिक-द्रव्य आकार का पूर्ववर्ती है, और लाइब्नित्स् ने इसी कारण प्रारम्भ में वस्तुओं तथा उनके भीतर प्रत्युपस्थापना की शक्ति को इसलिये माना कि जिससे तत्पश्चात् इसके आधार पर उनका बाह्य संबंध और उनकी अवस्थाओं की (अर्थात् उनकी प्रत्युप-स्थापनाओं की) सामाजिकता की नींव रखी जा सके। इस प्रकार देश और काल— वह (देश) द्रव्यों के संबंध के द्वारा, और वह (काल) उनकी निर्धारणाओं के पार-स्परिक संयोजन के द्वारा—इस प्रकार, इस दृष्टिकोण के अनुसार आधारभूत कारणों और परिणामों के रूप में संभव हो गये। यदि शुद्ध बोधवृत्ति अव्यवहिततया विषयों की ओर प्रेरित की जा सके, और यदि देश और काल स्वरूपतः सत् वस्तुओं के निर्धा-रण हों तो वास्तव में ऐसा ही होना भी चाहिये ही। परन्तु यदि वे केवलमात्र इन्द्रिय-जनित अनुभव हों जिनमें हम सब विषयों को केवल अवभासों के रूपमें निर्धारित करते हैं तो (इन्द्रियसंवेद्यता की विषयिगत विशिष्टता के रूप में) अनुभव का आकार समस्त भौतिकद्रव्य (संवेदनों) का पूर्ववर्ती है, इसी लिये देश और काल सब अवभासों और अनुभव की सब दी हुई सामग्री के पूर्वगामी हैं, और वास्तव में इसको सब से अधिक प्रारंभ में संभव बनाते हैं। परन्तु बुद्धिवादी दार्शनिक इस बात को सहन नहीं कर सका कि आकार वस्तुओं का पूर्वगामी हो और उनकी संभावना को निर्धारित करे—

और यह आलोचना इस मान्यता के आधार पर पूर्णतया ठीक है कि हम वस्तुओं का वैसा ही अनुभव करते हैं जैसी वे होती हैं, यद्यपि कुछ अस्पष्ट और उलझी सी प्रत्युपस्थापना में अनुभव करते हैं। पर क्योंकि ऐन्द्रियानुभव बिलकुल एक ऐसी विशिष्ट विषयिगत शर्त है, जो प्रागनुभवात्मकतया समस्त प्रत्यक्ष की नींव में स्थित रहती है, और जिसका आकार मौलिक (या आदिम) है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आकार स्वतः दिया हुआ होता है, और भौतिक द्रव्य (अथवा स्वतः वे वस्तुएँ जो अवभासित होती हैं) मूलाधार-रूप होने से (जैसा कि केवल संबोधों के अनुसार विभावित करना पड़ेगा) इतनी दूर होता है कि स्वयं उसकी (भौतिक द्रव्य की) संभावना एक औपचारिक (=आकारिक) अनुभव (देश और काल) पूर्वतः प्रदत्त कल्पित करती है।

चिन्तन के संबोधों की द्व्यर्थकता पर टिप्पणी

जो स्थान हम किसी संबोध के लिये नियत करते हैं, उसको मुझे या तो इन्द्रिय-संवेद्यता में अथवा शुद्ध बोधवृत्ति में, जो उसका लोकातीत स्थान है, कहने दिया जाए। यदि ऐसा हो तो उस स्थान का निर्णय करना जिसका प्रत्येक संबोध से उसके उपयोग की भिन्नता के अनुसार संबंध है, और समस्त संबोधों के लिये इन स्थानों को निर्धारित करने के लिए निदेश यह दोनों बातें लोकातीत विषय होंगी ; प्रत्येक प्रसंग में संबोध किस ज्ञानशक्ति (या ज्ञानवृत्ति) से संबंध रखते हैं इसके विवेक के द्वारा यह सिद्धान्त शुद्ध बोधवृत्ति की प्रच्छन्न चालबाज़ियों तथा उनसे उद्भूत भ्रान्तियों से जड़मूल से ही रक्षा करेगा। ऐसे प्रत्येक संबोध को, प्रत्येक शीर्षक को जिनके अन्तर्गत बहुत से ज्ञान-प्रसंग आते हैं यौक्तिक स्थाननिर्देशन कहा जा सकता है। अरिस्तू के यौक्तिक प्रकरण इसी आधार पर आश्रित हैं जिनका उपयोग शिक्षक और वक्ता विचार के निर्दिष्ट शीर्षकों के अन्तर्गत उन बातों को ढूँढ निकालने के लिये (जो प्रस्तुत विषय के लिये उपयुक्ततम हों), और तदुपरान्त पूर्णता के आभास के साथ उसके विषय में तर्क करने अथवा शब्दाडम्बरपूर्ण वाक्कौशल दिखलाने के लिये किया करते हैं।

इसके विपरीत लोकातीत प्रकरण समस्त तुलनाओं और व्यवच्छेदनों के उपर्युक्त चार शीर्षकों के अतिरिक्त अपने में और कुछ भी अन्तर्विष्ट नहीं रखता (तथा) जो शीर्षक बौद्धिक प्रकारों से इस बात में भिन्न है कि वे किसी विषय को उस तत्व (परिमाण, वास्तविकता आदि) के अनुसार जो उसके संबोध को घटित करता है, प्रत्युपस्थापित नहीं करते, प्रत्युत, प्रत्युपस्थापनाओं की तुलना को जो वस्तुओं के संबोध की पूर्वगामिनी है उसकी परिपूर्ण बहुविधता के साथ वर्णन करने के काम आते हैं। पर यह

तुलना सब से पहले चिन्तन की अर्थात् उस स्थान के निर्धारण की अपेक्षा रखती है जिससे उन वस्तुओं की प्रत्युपस्थापनाएँ संबंध रखती हैं जिनकी तुलना की जानी है कि वे शुद्ध बोधवृत्ति के द्वारा विचारित हैं अथवा इन्द्रियसंवेद्यता के द्वारा इन्द्रिय-गोचर (दृग्दृश्य) पदार्थों के रूप में दी गई हैं।

संबोधों की यौक्तिक तुलना तो बिना इस बात की चिन्ता किये हो सकती है कि उनके विषयों का संबंध किस ज्ञानवृत्ति से है--आया वे बोधवृत्ति के लिये बुद्धि-ग्राह्य वस्तुएँ हैं अथवा इन्द्रियसंवेद्यता के लिये दृष्टिगोचर हैं। परन्तु यदि इन संबोधों के साथ हम विषयों की ओर बढ़ना चाहें तो इसके लिये सबसे पहले लोकातीत चिन्तन आवश्यक होगा, जिससे यह निश्चय किया जा सके कि वे किस ज्ञानशक्ति के लिये --शुद्ध बोधवृत्ति के लिये अथवा इन्द्रियसंवेदनशीलता के लिये--विषय रूप हैं। इस चिन्तन के बिना मैं इन संबोधों का बड़ा ही अनिश्चित उपयोग कर सकता हूँ और ऐसा करने से ऐसी तथाकथित सांश्लेषिक प्रस्थापनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं जिनको आलोचनात्मक बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती और जो केवल अनुभवातीत द्व्यर्थकता पर, अर्थात् शुद्धबुद्धि के विषय के, अवभास के साथ मिथ्याग्रहण पर आधारित हैं।

इस प्रकार के लोकातीत प्रकरण (या प्रसंग) के अभाव में और इसी लिये चिन्तन के संबोधों की द्व्यर्थकता के धोखे में पड़ कर सुविख्यात दार्शनिक लाइब्नित्स् ने एक बौद्धिक-विश्व-संस्थान का भवन उत्थापित किया अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उसका यह विश्वास था कि सब विषयों की केवल बोधवृत्ति के और उसके विचार के पृथक्कृत औपचारिक संबोधों के साथ तुलना करने से वस्तुओं के आन्तरिक स्वरूप को जाना जा सकता है। हमारी चिन्तन के संबोधों की यह तालिका हमको एक ऐसी अप्रत्याशित सुविधा प्रदान करती है कि जिससे उसके दर्शनशास्त्र की सर्वांगीण विशेषताएँ, और साथ ही साथ इस विलक्षण विचार पद्धति का (जो कि भ्रान्त-धारणा के अतिरिक्त और किसी बात पर आश्रित नहीं है) अग्रणी मूलाधार हमारे नेत्रों के समक्ष स्थापित किया जा सकता है। उसने सब वस्तुओं की केवल संबोधों के द्वारा ही परस्पर तुलना की, और जैसा स्वाभाविक ही था, उसने देखा कि उन भेदों के अतिरिक्त और कोई अन्य भेद नहीं था, केवलमात्र जिनके द्वारा बोधवृत्ति अपने शुद्ध संबोधों को एक दूसरे से व्यवच्छिन्न किया करती है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव की शर्तों को जो अपने साथ अपने भेदों को लिए हुए चलती हैं उसने मौलिक नहीं माना; क्योंकि इन्द्रियों की संवेदनशीलता उसकी दृष्टि में प्रत्युपस्थापना का एक अस्तव्यस्त प्रकारमात्र थी न कि प्रत्युपस्थापनाओं का विशिष्ट उद्गम; अवभास उसके विचार में स्वरूपतः सत् वस्तु की ही प्रत्युपस्थापना थी, यद्यपि यह प्रत्युपस्थापना अपने

यौक्तिक आकार में बोधवृत्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञान से भिन्न थी, क्योंकि विश्लेषण के अपने प्रायिक अभाव के कारण वह (अवभास) अपने साथ सहचारिणी उपस्थापनाओं का एक ऐसा निश्चित सम्मिश्रण वस्तु के संबोध में लाया करता है, जिसको बोधवृत्ति उससे अलग करना जानती है। एक शब्द में, लाइब्नित्स् ने अवभासों का उसी प्रकार बौद्धिकीकरण कर दिया जिस प्रकार लॉक् ने नूगौनी (यदि मुझे इस पद के प्रयोग की अनुज्ञा दी जाए) नामक दर्शनपद्धति के अनुसार बोधवृत्ति के समस्त संबोधों का ऐन्द्रीकरण कर दिया, अर्थात् उनकी इस प्रकार व्याख्या कर दी कि वे आनुभविक तत्व अथवा चिन्तन के पृथक्कृत (अपाकृष्ट) संबोधों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। बोधवृत्ति और इन्द्रिग्राह्यता में प्रत्युपस्थापनाओं के दो नितान्त पृथक् उद्गमों को खोजने के स्थान पर (जो दोनों केवल अपने संयोग से वस्तुओं के विषय में वैषयिकतया प्रामाणिक विभावना प्रदान कर सकती हैं), इन दोनों महान् पुरुषों में से प्रत्येक उपर्युक्त दोनों वृत्तियों में से केवल एक को ही चिपटा रहा, और यह मानता रहा कि यह ही स्वरूपतः सत् वस्तुओं के साथ अपरोक्षतया संबद्ध है, और दूसरी वृत्ति प्रथम वृत्ति की प्रत्युपस्थापनाओं को अस्तव्यस्त अथवा व्यवस्थित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करती।

इसलिये लाइब्नित्स् ने ऐन्द्रिय विषयों की केवल बोधवृत्ति की दृष्टि से, उनको सामान्यतोभावेन वस्तुएँ मान कर, पारस्परिक तुलना की। उसने उनकी उस सीमा तक तुलना की जहाँ तक वे बोधवृत्ति द्वारा अभिन्न अथवा भिन्न निर्णय किये जाते हैं। और क्योंकि उसके समक्ष केवल उनके संबोध ही थे, परन्तु प्रत्यक्षानुभव में उनका स्थान (केवल जिसमें विषय दिये हुए हो सकते हैं) उसके समक्ष नहीं था, और क्योंकि उसने इन संबोधों के अनुभवातीत स्थान को (कि विषय की गणना अवभासों में की जानी चाहिये अथवा स्वरूपतः सत् वस्तुओं में) विचार के क्षेत्र से बिलकुल बाहर छोड़ दिया था, अतएव इसका परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था कि वह अपने अव्यवच्छेद्यों की अभिन्नता के आधारभूत सिद्धान्त को, जो कि सामान्यतः वस्तुओं के संबोधों के संबंध में ही प्रामाणिक है, इन्द्रियगोचर विषयों (मुण्डुस फइनौमेनान्) को भी व्याप्त करने के लिये विस्तीर्णतर बना दे, और यह विश्वास करे कि ऐसा करने में उसने हमारे प्रकृति-संबंधी ज्ञान का अनल्प विस्तार किया है। यह सत्य है कि यदि मैं एक जल के विन्दु को उसकी समस्त आन्तरिक निर्धारणाओं के अनुसार, स्वरूपतः सत् वस्तु के रूप में जानता हूँ, अतएव, यदि किसी एक विन्दु का समग्र संबोध किसी भी अन्य के संबोध से अभिन्न है तो मैं यह नहीं मान सकता कि कोई विन्दु दूसरे से भिन्न है। परन्तु यदि वह विन्दु देशगत अवभास हो तो उसका स्थान न केवल बोध-

वृत्ति में (संबोधों के मध्य में) होगा अपितु इन्द्रियगोचर बाह्य प्रत्यक्षानुभव (देश के मध्य) में भी होगा, और फिर भौतिक स्थल भी होंगे जो वस्तु की आन्तरिक निर्धारणाओं की दृष्टि से पूर्णतया तटस्थ हैं, और एक स्थान = ब एक ऐसी वस्तु को जो कि स्थान = अ में स्थित एक दूसरी वस्तु के पूर्णतया सदृश और बराबर है, ठीक इतनी सरलता से धारण कर सकता है जितनी सरलता से उस समय जब कि वे आन्तरिकतया बहुत अधिक भिन्न होतीं। बिना किन्हीं अतिरिक्त प्रतिबन्धों के स्थानों का भेद ही विषयों की अनेकता और पृथक्ता को, अवभासों के रूप में न केवल संभाव्य अपितु अनिवार्य भी बना देता है। इसलिये वह लाइब्नित्स् का प्राकृतिक नियम जैसा प्रतीत होने वाला नियम प्रकृति का कोई नियम नहीं है। यह तो बस संबोधोंमात्र के द्वारा वस्तुओं की तुलना करने के लिये वैश्लेषिक नियममात्र है।

२ यह आधारभूत सिद्धान्त कि वास्तविकताएँ (केवल दावों के रूप में) कदापि एक दूसरे का विरोध नहीं करतीं, संबोधों के संबंध की दृष्टि से एक पूर्णतया सत्य प्रस्थापना है, परन्तु यह न तो प्रकृति के संबंध में ही लेशमात्र आशय सूचित करता है और न किसी स्वरूपतः सत् वस्तु के विषय में ही (जिसके विषय में हमको कोई संबोध प्राप्त नहीं होता)। क्योंकि वास्तविक संघर्ष ऐसे सब स्थानों पर घटित होता है जहाँ अ – ब = ० होता है, अर्थात् जहाँ एक वास्तविक सत्ता दूसरी के साथ एक ही विषय में संबद्ध होती है पर एक दूसरी के प्रभाव को मिटा देती हैं, जिसको प्रकृति के भीतर घटित होने वाली समस्त बाधाएँ और प्रतिघात लगातार आँखों के समक्ष प्रस्तुत करते रहते हैं, तथा इसके साथ ही साथ, जो शक्तियों पर निर्भर होने के कारण वास्तविक दृष्टिगोचर विषय कहलाने चाहिये। साधारण गतिशक्ति गणितशास्त्र सचमुच ही इस संघर्ष की आनुभविक शर्त को एक प्रागनुभवात्मक नियम में हमको प्रदान कर सकता है, क्योंकि वह शक्तियों की दिशाओं में जो विरोध है उसका विचार करता है, और जो एक ऐसी शर्त है जिसके विषय में वास्तविकता का लोकातीत संबोध कुछ भी नहीं जानता। यद्यपि श्रीमान् लाइब्नित्स् महोदय ने इस उपर्युक्त प्रस्थापना को सचमुच ही नये सिद्धान्त के रूप में धूमधाम के साथ विज्ञापित नहीं किया, तथापि उन्होंने इसका उपयोग नये दावों के लिये अवश्य किया और उनके उत्तरानुयायियों ने तो इसको प्रकट रूप में अपने लाइब्नित्स्-वौल्फ़-दर्शन-संस्थान में सम्मिलित कर लिया। उदाहरण के लिये इस सिद्धान्त के अनुसार सब बुराइयाँ स्रष्टभूतों की सीमाओं के परिणामों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में वे निषेध या अभाव हैं, क्योंकि निषेध तो वास्तविकता से संघर्ष करते हैं (पर यह बात सचमुच जहाँ तक वस्तुओं के सामान्यतः संबोधों का संबंध है वहाँ तक ठीक है, किंतु

अवभास रूप में वस्तुओं के संबंध में ऐसा नहीं है)। इसी प्रकार उसके अनुयायी समस्त वास्तविकता को विना संघर्ष की चिन्ता के एक सत्ता में एकीभूत कर देने को न केवल संभव अपितु स्वाभाविक भी ख्याल करते हैं, क्योंकि वे जिस एकमात्र संघर्ष के अतिरिक्त किसी संघर्ष को स्वीकार नहीं करते वह व्याघात है (जिसके द्वारा किसी वस्तु का संबोध स्वतः मिटा दिया जाता है), परन्तु वे पारस्परिक विध्वंस के संघर्ष को नहीं जानते, जिसमें एक वास्तविक कारण दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देता है, और जो एक संघर्ष जिसको हम केवल उन शर्तों के रूप में ही अपने प्रति प्रत्युपस्थापित कर सकते हैं जो हमको इन्द्रिय संवेदनशीलता में ही प्रस्तुत की जाती हैं।

३. लाइब्नित्स् के मूर्तकवादी दर्शन का उसके आन्तर और बाह्य के भेद को केवल बोधवृत्ति के संबंध में प्रत्युपस्थापित करने के प्रकार को छोड़ कर अन्य कोई आधार लेशमात्र भी नहीं है। द्रव्यों का सामान्यरूपेण कुछ न कुछ आन्तरिक स्वभाव अवश्यमेव होना चाहिये, जो इसलिये समस्त बाह्य संबंधों से और परिणामतः समाहार से भी युक्त होता है। अतएव जो स्वरूपतः सत् वस्तुओं में आन्तरिक है उसका आधार अमिश्रित है। परन्तु किसी द्रव्य की अवस्था में जो आन्तरिक तत्व है, वह स्थान, आकृति, सम्पर्क अथवा गति में स्थित नहीं हो सकता (यह निर्धारणाएँ तो सब की सब बाह्य संबंध ही हैं) और इसलिये हम पदार्थों या द्रव्यों के लिये उस अवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई आन्तरिक अवस्था निर्दिष्ट नहीं कर सकते, जिसके द्वारा हम स्वयं अपनी इन्द्रिय को व्यच्छिन्न या निर्धारित करते हैं और जो दूसरे शब्दों में प्रत्युपस्थापनाओं की अवस्था है। इस प्रकार से वह मूर्तक बन कर तैयार हुए, जिनको समस्त सृष्टि के आधारभूत उपादान का काम देना था, पर जिनमें उस शक्ति के अतिरिक्त और कोई सक्रिय शक्ति नहीं है जो प्रत्युपस्थापना में संस्थित है तथा जिसके द्वारा वे वास्तव में अपने ही में सक्रिय हो सकते हैं।

इसी कारण से उसके द्रव्यों की संभाव्य पारस्परिक सामुदायिकता के सिद्धान्त को पूर्वतः स्थापित सामञ्जस्य (=अविरोध) होना पड़ा, और (वह) भौतिक प्रभाव नहीं हो सका। तब तो, क्योंकि सब कुछ आन्तरिकमात्र है, अर्थात् अपनी ही प्रत्युपस्थापनाओं से वास्ता रखता है, एक द्रव्य की प्रत्युपस्थापनाओं की अवस्था दूसरे द्रव्य की प्रत्युपस्थापनाओं की दशा के साथ किसी प्रभावशाली संबंध में अवस्थित नहीं हो सकती; प्रत्युत यावन्मात्र समस्त द्रव्यों को निर्धारित करने, तथा उनकी अवस्थाओं को समनुरूप बनाने के लिये सबको सम्मिलित रूप से प्रभावित करने वाले किसी एक तीसरे कारण का होना अनिवार्य हो पड़ा जो प्रत्येक व्यष्टिगत प्रसंग में ऐसा किसी यदाकदा होने वाले विशिष्ट अन्तराय (या हस्तक्षेप) के द्वारा

नहीं करता, प्रत्युत सब द्रव्यों या पदार्थों के लिये प्रामाणिक कारण के भाव की एकता के द्वारा ऐसा करता है तथा जिस (एकता) में सब के सब को अपनी सत्ता और स्थायित्व की और परिणामतः सर्वव्यापी नियमों के अनुसार अपनी पारस्परिक समनुरूपता की भी उपलब्धि होती है।

४. लाइब्नित्स् का देशकाल संबंधी सुविख्यात सिद्धान्त जिसमें उसने इन्द्रिय-संवेदनशीलता के इन आकारों का बौद्धिकीकरण कर दिया, इसी लोकातीत (या अनुभवातीत) चिन्तन की मायिक प्रवञ्चना से प्रादुर्भूत हुआ। यदि मैं केवल बोधवृत्ति के द्वारा वस्तुओं के बाह्य संबंधों को अपने प्रति प्रत्युपस्थापित करना चाहूँ, तो ऐसा उनके पारस्परिक कर्म के संबोध के द्वारा ही किया जा सकता है; और यदि मैं एक और अभिन्न वस्तु की दो अवस्थाओं को एक दूसरी से संयोजित करना चाहूँ तो ऐसा केवल हेतुओं और परिणामों के क्रम में ही घटित हो सकता है। अतएव लाइब्नित्स् ने देश को द्रव्यों (या पदार्थों) के समुदाय में एक निश्चित क्रम के रूप में विचार किया, तथा काल को उनकी अवस्थाओं के गत्यात्मक परिणाम के रूप में। जो कुछ (विशेषता) देश और काल अपनी निजी विशेषता के रूप में और वस्तुओं से पृथक् स्वाधीनतया धारण किये हुए प्रतीत हुए, उसको उसने उनके संबोधों के संभ्रम के कारण हुआ माना, जिस (संभ्रम) के कारण वह जो कि गत्यात्मक संबंधों का आकारमात्र है ऐसे विशिष्ट प्रत्यक्षानुभव के रूप में माना जाता है जो आत्मोपजीवी एवं स्वयं वस्तुओं से प्राग्भावी है। इस प्रकार (उसके लिए) देश और काल स्वरूपतः सत् वस्तुओं (द्रव्यों और उनकी अवस्थाओं) के संयोजन (या संबंध) का बुद्धिगम्य आकार थे। परन्तु वस्तुएँ बुद्धिगम्य द्रव्य थीं। इसके साथ ही साथ उसने बौद्धिकीकृत संबोधों को इन्द्रियगोचर तत्वों के विषय में भी प्रामाणिक माना, क्योंकि उसने इन्द्रियसंवेदनशीलता को प्रत्यक्षानुभव के प्रकार के रूप में स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत सभी कुछ को, यहाँ तक कि विषयों की आनुभविक प्रत्युपस्थापनाओं को भी उसने बोधवृत्ति में ही खोजा, तथा इन्द्रियों के लिये बोधवृत्ति की प्रत्युपस्थापनाओं को विभ्रान्त और विद्रूप कर डालने के घृणित कार्य को छोड़ कर और कुछ भी नहीं रहने दिया।

परन्तु यदि हम शुद्ध बोधवृत्ति के द्वारा स्वरूपतः सत् वस्तुओं के विषय में सांश्लेषिकतया कुछ कह सकते (जो यद्यपि असंभव है), तो वह अवभासों के प्रति लागू न हो सकता, जो स्वरूपतः सत् वस्तुओं को प्रत्युपथापित नहीं करते। अतएव ऐसी अवस्था में मुझे अपने संबोधों की अनुभवातीत चिन्तन में केवल सर्वदा इन्द्रियसंवेद्यता की शर्तों के अधीन तुलना करनी पड़ेगी, और इसी लिये देश और काल स्वरूपतः सत्

वस्तु की निर्धारणाएँ नहीं प्रत्युत अवभासों की निर्धारणाएँ होंगी; स्वरूपतः सत् वस्तुएँ क्या हो सकती हैं यह मैं नहीं जानता, और न उनको जानने की मुझे आवश्यकता ही है, क्योंकि मेरे समक्ष तो कोई वस्तु अवभास-रूप के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में कभी भी नहीं आ सकती।

चिन्तन के अवशिष्ट संबोधों के प्रति भी मैं इसी प्रक्रिया का अनुसरण करता हूँ। भौतिक पदार्थ इन्द्रिय-गोचर द्रव्य है। जो कुछ भौतिक तत्व से आन्तरिकतया संबद्ध है, उसको मैं उस देश के सब भागों में खोजता हूँ जिसको वह पूरित किये हुए है, और उन सब परिणामों में खोजता हूँ जिनको यह प्रवर्तित करता है और जो सचमुच केवल सर्वदा बाह्येन्द्रियों के (द्वारा प्रत्यक्षीकृत) अवभासमात्र हो सकते हैं। अतएव मुझको ऐसी कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती जो निरपेक्षतया आन्तरिक हो किन्तु वही प्राप्त होती है जो केवल अपेक्षाकृत आन्तरिक है और फिर जो स्वयं बाह्य संबंधों से संघटित हुई है। बस, शुद्ध बोधवृत्ति के अनुसार भौतिक तत्व का निरपेक्ष्य आन्तरिक स्वरूप तो मात्र एक मन की वहक भर है; क्योंकि भौतिक द्रव्य कदापि शुद्ध बोधवृत्ति का विषय नहीं है, किन्तु वह अनुभवातीत विषय जो उस अवभास का मूलाधिष्ठान हो सकता है जिसको हम भौतिक द्रव्य कहते हैं एक कुछ ऐसी वस्तुमात्र है जिसको यदि कोई हमको बता भी सके तो भी हम यह न समझ सकें कि वह क्या है। क्योंकि हम उस (वस्तु) के अतिरिक्त, जो कि अपने साथ प्रत्यक्षानुभव में कुछ ऐसी चीज़ लिये हो जो हमारे शब्दों के समनुरूप हो, और कुछ भी नहीं समझ सकते। यदि इन शिकायतों से कि "हम वस्तुओं की भीतरी दशा को बिलकुल नहीं देख सकते" यह तात्पर्य हो कि हम उन वस्तुओं को जो कि हमको अवभासित होती हैं उनके स्वकीय आन्तरिक रूप में शुद्ध बोधवृत्ति के द्वारा विचार नहीं सकते, तो यह शिकायतें पूर्णतया अवैध और अयुक्तियुक्त हैं; क्योंकि वे यह चाहती हैं कि वस्तुओं को बिना इन्द्रियों के जान लिया और परिणामतः देख लिया जा सके, और इसलिये हमको ज्ञान की ऐसी वृत्ति या शक्ति प्राप्त होनी चाहिये जो मानवीय ज्ञानवृत्ति से नितान्त भिन्न हो और सो भी न केवल मात्रा में अपितु प्रत्यक्षानुभव और प्रकार में भी सचमुच भिन्न होनी चाहिये; इस प्रकार हमको मानव नहीं प्रत्युत सत्त्व (या भूतसत्त्व) होना चाहिये जिनके विषय में हम यह नहीं कह सकते कि आया वह संभव भी हैं या नहीं, और यह और भी बहुत कम कह सकते हैं कि वे किस प्रकार संघटित होते हैं। अवभासों का निरीक्षण और विश्लेषण प्रकृति के अन्तर में प्रवेश करता है और यह नहीं जाना जा सकता कि यह (ज्ञान) कालांतर में कितनी दूर तक विस्तृत हो जाएगा। परन्तु वे लोकातीत प्रश्न जो कि प्रकृति के भी परे पहुँचते हैं उनका उत्तर तो हम इस सब ज्ञान के होते

हुए तब भी कदापि नहीं दे सकेंगे जब कि समस्त प्रकृति हमारे प्रति अनावृत हो जाए-गी, क्योंकि यह (भी) तो हमारा भागधेय नहीं है कि हम अपने ही चित्त का आन्तरिक अवेक्षण इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी अनुभव के द्वारा कर सकें। क्योंकि चित्त में ही तो हमारी संवेदनशीलता के मूलोद्गम का रहस्य संनिहित है। इस ऐन्द्रिय-संवेदन-शीलता के साथ विषयों का संबंध, तथा इस वैषयिक एकता का अनुभवातीत मूलाधार क्या हो सकता है, यह ऐसी बातें हैं जो निस्सन्देह इतनी गहरी छिपी हुई हैं कि हम जो कि अपने आपको भी अन्ततः अन्तरिन्द्रिय के द्वारा जानते हैं, अतएव अवभास के रूप में जानते हैं, एक ऐसे अनुपयुक्त औज़ार को अपने अनुसंधान के लिये प्रयुक्त करके सर्वदा और पुनः अवभासों के अतिरिक्त और कुछ नहीं पा सकते, यद्यपि उसके अनिन्द्रिय मूल कारण का अनुसंधान करने के लिये हम सहर्ष उत्कण्ठित हैं।

केवल चिन्तन के व्यापारों पर आश्रित निर्णयों की इस मीमांसा को अतिशय उपयोगी बना देने वाली बात यह है कि यह उन विषयों से संबंध रखने वाले सब निर्णयों की निरर्थकता को स्पष्टतया अभिव्यक्त कर देती है जो (विषय) केवलमात्र बोधवृत्ति में ही परस्पर तुलना किये जाते हैं और इसके साथ ही यह उस बात को पुष्ट भी करती है जिसकी छाप हम इतनी प्रबलता के साथ डालना चाहते हैं कि यद्यपि शुद्ध बोधवृत्ति के विषयों के मध्य में अवभास स्वरूपतः सत् वस्तुओं के रूप में सम्मिलित नहीं है तथापि तो भी वे ही ऐसे विषय या पदार्थ हैं जिनके संबंध में हमारा ज्ञान वैष-यिक यथार्थता से समन्वित हो सकता है, अर्थात् जिसके संबंध में संबोधों के समनुरूप प्रत्यक्षानुभव भी रहता है।

जब हम केवल यौक्तिकतया चिन्तन करते हैं, तब हम केवल अपने संबोधों की परस्पर एक दूसरे के साथ बोधवृत्ति के अन्तर्गत यह जानने के लिये तुलना किया करते हैं कि क्या दोनों की अन्तर्विष्ट सामग्री एक समान है, क्या वे परस्पर विरोधी हैं या नहीं, क्या कोई बात संबोध में अन्तर्विष्ट अथवा उसमें जोड़ दी गई है, और दोनों संबोधों में से कौन सा संबोध दिया हुआ है और कौन सा ऐसा है जो दिये हुए के प्रति विचारने के प्रकार का काम देगा। परन्तु यदि मैं इन संबोधों को (अनुभवातीत) अर्थ में सामान्यतोभावेन किसी विषय के प्रति लागू करूँ, बिना इस बात का निर्धारण किये कि बह विषय ऐन्द्रियानुभव का विषय है अथवा बौद्धिकानुभव का तो विषय के भाव-मात्र से ही तत्काल इन संबोधों से बाहर न जाने देने के लिये सीमाएँ प्रकट हो जाती हैं जो उनके समस्त आनुभविक उपयोग को (अस्तव्यस्त या निषिद्ध) कर देती हैं, और इसी तथ्य के द्वारा यह सिद्ध कर देती हैं कि किसी विषय की सामान्यतः किसी

वस्तु के रूप में प्रत्युपस्थापना न स्यात् केवल अपर्याप्त है, प्रत्युत स्वय इन्द्रियग्राह्य निर्धारणा के बिना, और आनुभविक प्रतिबन्धों से मुक्त रूप में तो यह आत्मविरोधी (भी) है; अतएव या तो सब विषयों से उसी प्रकार अपकर्षण कर लिया जाए (अर्थात् विषयों का विचार ही न किया जाए) जैसा कि तर्कशास्त्र में होता है, या यदि किसी विषय को ग्रहण किया जाए, तो उसका विचार अवश्य ही इन्द्रियगोचर प्रत्यक्षानुभव की शर्तों के अधीन किया जाना चाहिये; परिणामतः बुद्धिग्राह्य (विषय) एक बिलकुल विलक्षण प्रकार के अनुभव की माँग करेगा, जो हमको प्राप्त नहीं है, और उसके अभाव में वह हमारे लिये कुछ भी नहीं होगा, जब कि दूसरी ओर अवभास भी स्वरूपतः सत् विषय नहीं हो सकते। क्योंकि जब मैं अपने लिये वस्तुओं का सामान्यरूपेण विचार करता हूँ तो निश्चय ही बाह्य संबंधों का भेद स्वयं उन वस्तुओं के (आन्तरिक) भेद को घटित नहीं कर सकता, प्रत्युत वह इस भेद को पूर्वतः सत् प्रकल्पित करता है, और यदि दो वस्तुओं में से एक का संबोध आन्तरिकतया दूसरी के संबोध से बिलकुल भी भिन्न नहीं है, तब तो मैं एक और अभिन्न वस्तु को ही पृथक् पृथक् संबंधों में प्रस्थापित कर रहा हूँ। फिर इसके भी आगे यह बात है, कि किसी एक सत् मात्र के दूसरे के साथ जोड़ने से विधिरूप सत्ता की वृद्धि ही होगी, उसमें से कुछ भी निकाला या उठाया नहीं जाएगा ; इसलिये वस्तुओं के अन्तर्गत जो यथार्थ या वास्तविक है वह स्वयं अपना विरोध नहीं कर सकता—इत्यादि इत्यादि।

*　　　*　　　*　　　*

जैसा कि हम दिखला चुके हैं, चिन्तन के संबोधों ने एक निश्चित भ्रान्त व्याख्या के कारण बोधवृत्ति के विनियोग पर एक ऐसा प्रभाव डाला है कि जिसने समस्त दार्शनिकों में से एक अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि दार्शनिक (अर्थात् लाइब्नित्स्) को भी एक तथाकथित बौद्धिक दर्शनशास्त्र को अंगीकार करने के लिये बहका दिया, जो (दर्शनशास्त्र) अपने विषयों को बिना किसी ऐन्द्रिय सहायता (या हस्तक्षेप) के निर्धारित करने का बीड़ा उठाता है। इस कारण इन संबोधों की द्व्यर्थकता में जो कुछ प्रवञ्चनात्मक है उसके कारण का उद्घाटन, (जो इन वितथ सिद्धान्तों का जनक है) बोधवृत्ति की सीमाओं को निर्धारित और सुरक्षित करने की विश्वसनीय पद्धति के रूप में अत्यन्त उपयोगी है।

यह निश्चयमेव कहा जाना चाहिये कि जो कुछ सर्वव्यापकतया किसी संबोध के साथ अविरोधी अथवा विरोधी होता है वह उन सब विशेषों के साथ भी संवादी अथवा विसंवादी होता है जो उस संबोध में अन्तर्विष्ट होते हैं (सर्वव्यापी संवादिता और विसंवादिता का सिद्धान्त), पर इस यौक्तिक सिद्धान्त को इस प्रकार बदलना, कि इसका आशय यह हो जाए कि जो किसी सर्वव्यापी संबोध में अन्तर्विष्ट नहीं है

वह उसके अन्तर्गत आने वाले विशेष संबाधों में भी नहीं होगी, बिलकुल बेतुकी बात है, क्योंकि ये संबोध विशेष संबोध भी इसी लिये ही हैं कि अपने में सामान्य संबोध में विचारित विशेषताओं की अपेक्षा अधिक विशेषताएँ धारण किये हुए हैं। और फिर भी इसी दूसरे सिद्धान्त के आधार पर लाइब्नित्स् का समस्त बौद्धिक दर्शन-शास्त्र निर्मित हुआ खड़ा है; और इसी कारण इसी सिद्धान्त के साथ, बोधवृत्ति के विनियोग की उन सब द्व्यर्थकताओं के सहित जो उससे उत्पन्न होती हैं वह धराशायी भी हो जाता है।

लाइब्नित्स् का अविज्ञेयों के अभेद का सिद्धान्त वास्तव में इस पूर्वाभ्युगत कल्पना पर आधारित है कि यदि कोई विशेष भेद सामान्यतया किसी वस्तु के संबोध में नहीं पाया जाता तो वह वस्तुओं में भी स्वयम् नहीं पाया जाएगा, परिणामतः वे सब वस्तुएँ जो अपने संबोधों में (गुण या मात्रा में) एक दूसरे से अव्यवच्छेद्य हैं, पूर्णतया अभिन्न होती हैं। परन्तु क्योंकि सामान्यतः वस्तु के संबोधमात्र में हम उसके अनुभव की अनेकों परमावश्यक प्रतिबन्धों का अपकर्षण करते हैं, अतएव एक अनोखी पूर्वमान्यता के कारण अपकर्षित शर्तों के विषय में यह मान लिया जाता है कि अन्ततः जैसे उनकी सम्प्राप्ति ही नहीं हुई, एवं जो कुछ उस वस्तु के संबोध में अन्तर्विष्ट होता है उससे अधिक वस्तु के लिये और कुछ भी स्वीकार नहीं किया जाता।

एक घनफुट प्रदेश का संबोध, चाहे मैं कहीं और कितनी भी बार उसका विचार करूँ अपने स्वरूप में पूर्णतया एकमेवाद्वितीय ही रहता है। पर दो घनफीट फिर भी देश के अन्तर्गत केवल अपने स्थल के भेदमात्र के द्वारा व्यवच्छिन्न हो जाते हैं; यह (स्थान) प्रत्यक्षानुभव की शर्तें हैं जिनमें इस संबोध का विषय दिया होता है; तथापि वे संबोध से नहीं, प्रत्युत सामग्र्येण इन्द्रियसंवेद्यता से संबंध रखती हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु के संबोध में कोई संघर्ष नहीं होता, जब तक कोई नकारात्मक कथन सकारात्मक कथन के साथ न जोड़ दिया जाए; केवल सकारात्मक संबोध परस्पर जुड़ जाने पर भी एक दूसरे का विलोप नहीं करते। पर ऐन्द्रियानुभव में, जिसमें वास्त-विकता (उदाहरण के लिये, गति) दी हुई है, ऐसे प्रतिबन्ध (जैसे कि विरोधी दिशाएँ) उपलब्ध होती हैं जो कि गति के संबोध में से सामान्यतः अपकृष्ट कर दी गई थीं, जो विरोध को (भले ही वह सचमुच यौक्तिक न हो) संभव कर देते हैं, अर्थात् जो पूर्णतया सकारात्मक (संबोधों) से एक शून्य को = ० बना सकते हैं; और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि, क्योंकि वास्तविकता के संबोधों में कोई संघर्ष या विरोध

उपलब्ध नहीं होता है अतएव समस्त वास्तविकता में अपने आप में कोई विरोध नहीं है।[कां.]

केवल संबोधों के अनुसार, जिसको आन्तरिक (रूप या तत्व) कहते हैं वह सब संबंधों या बाहरी निर्धारणों का अधिष्ठान है। इसलिये यदि मैं प्रत्यक्षानुभव की शर्तों से अपकर्षण कर लूँ (अर्थात् उनकी ओर ध्यान न दूँ), और अपने को केवल किसी वस्तु सामान्य के संबोध में ही सीमित कर लूँ तो इस प्रकार मैं समस्त बाहरी संबोधों से भी अपकर्षण कर सकता हूँ, और ऐसा हो जाने पर भी तो किसी एक ऐसी वस्तु का संबोध अवशिष्ट अवश्य रह जाएगा जो किसी संबंध के आशय को नहीं प्रत्युत आन्तरिक निर्धारणाओं को सूचित करता है। इससे ऐसा परिणाम निकलता प्रतीत होता है कि प्रत्येक वस्तु में कुछ ऐसा तत्व रहता है जो निरपेक्ष भाव से आन्तरिक है, जो समस्त बाहरी निर्धारणाओं का पूर्ववर्ती है, क्योंकि वही तो उनको सब से प्रथम संभवपर बनाता है, और परिणामतः यह अधिष्ठान, जिसमें कि अब और कोई बाहरी संबंध बिलकुल नहीं रह गये हैं, बिलकुल सरल सिद्ध होता है; (क्योंकि मूर्त अथवा सविग्रह वस्तुएँ सर्वदा ही संबंध—कम से कम अपने उन भागों के संबंध जो एक दूसरे से बाहरी हैं—मात्र होती हैं), और क्योंकि हम अपनी अन्तरिन्द्रिय के द्वारा (प्रदत्त) निर्धारणाओं के अतिरिक्त अन्य किन्हीं निरपेक्ष्य आन्तरिक निर्धारणाओं को नहीं जानते, अतएव यह अधिष्ठान केवल सादा सरल नहीं होता, प्रत्युत (हमारी अन्तरिन्द्रिय के सादृश्य के अनुसार) प्रत्युपस्थापनाओं के द्वारा निर्धारित भी होता है, अर्थात् सभी वस्तुएँ भूतैकतन्मात्र—प्रत्युपस्थापनाओं से समन्वित सरल (अविमिश्रित) सत्ताएँ होती हैं। यदि किसी वस्तु सामान्य के संबोध के परे ऐसी और कोई शर्तें न होतीं केवल जिनके अधीन बाह्य प्रत्यक्षानुभव के विषय हमको प्रदत्त हो सकते हैं—वह शर्तें जिनसे वास्तव में शुद्ध संबोध ने अपकर्षण किया है, तो यह सभी दावे उचित

कां. यदि यहाँ प्रायिक छलछिद्र से काम लिया जाए और कहा जाए कि बुद्धिग्राह्य वास्तविकताओं में पारस्परिक विरोध नहीं हो सकता, तो ऐसी अवस्था में यह कर्तव्य हो जाएगा कि एक ऐसी शुद्ध और ऐन्द्रियानुभव से युक्त याथार्थता का उदाहरण प्रस्तुत किया जाए जिससे यह समझा जाए कि आया इस प्रकार का संबोध सामान्यतया किसी वस्तु को प्रत्युपस्थापित करता है या नहीं। परन्तु अनुभव को छोड़ और कहीं से उदाहरण को ग्रहण किया नहीं सकता तथा अनुभव इन्द्रियगोचर वस्तु के अतिरिक्त और कुछ भी प्रदान नहीं कर सकता, और इसलिये इस प्रस्थान का इससे आगे और कुछ नहीं होता कि जिस सबोध में केवल अस्तिवचन होता है उसमें नकार (= नास्तिवचन) नहीं होता और यह एक ऐसी प्रस्थापना है जिसके विषय में हमको कभी संदेह नहीं था।

हो जाते । इसके विपरीत ऐसा प्रतीत होता है कि देश के अन्तर्गत कोई भी स्थायी अवभास (अप्रवेश्य विस्तार) ऐसी किसी वस्तु के बिना जो निरपेक्षभाव से आन्तरिक हो अपने में केवल संबंध ही संबंध धारण किये रह सकता है और तिसपर भी समस्त बाह्य प्रत्यक्ष का प्रथम अधिष्ठान हो सकता है । केवल संबोधों के द्वारा मैं, सचमुच, बिना किसी ऐसी वस्तु का विचार किये हुए जो आन्तरिक हो उस वस्तु का विचार नहीं कर सकता जो बाह्य है, और ऐसा इसलिये क्योंकि संबंध के संबोध ऐसी वस्तुओं की पूर्वकल्पना को मान कर चलते हैं, जो एकान्तिकतया दी हुई हैं और उनके बिना यह (संबोध) संभव ही नहीं होते हैं । परन्तु प्रत्यक्षानुभव में कुछ ऐसी वस्तु अन्तर्विष्ट होती है जो किसी वस्तु सामान्य के संबोधमात्र में बिल्कुल भी नहीं पाई जाती, और यह उस अधिष्ठान को प्रदान करती है जो केवल संबोधों के द्वारा बिलकुल भी नहीं जाना जा सकता, अर्थात् एक देश को (प्रदान करती है) जो उन सब वस्तुओं के सहित जो उसमें अन्तर्विष्ट हैं एकमात्र संबंधों से घटित होता है जो औपचारिक अथवा स्यात् वास्तविक भी हो सकते हैं, और (क्योंकि) बिना एक ऐकान्तिकतया आन्तरिक तत्व के, कोई (भी वस्तु) कदापि केवल संबोधों से प्रत्युपस्थापित नहीं की जा सकती, इसलिये मैं नहीं कह सकता कि स्वयं उन वस्तुओं में भी जो कि इन संबोधों के अन्तर्गत ग्रहण की जाती हैं, और उनके प्रत्यक्षानुभवों में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका आधार किसी नितान्त आंतरिक वस्तु में न हो । क्योंकि यदि हम प्रत्यक्षानुभव की समस्त शर्तों से अपकर्षण कर लें, तो सचमुच ही संबोध में आन्तरिक सामान्य और उसके पारस्परिक संबंधों (केवल जिनके द्वारा बाह्य संभव होता है) के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रह जाता है । पर इस प्रकार की अनिवार्यता जो केवल अपकर्षण के आधार पर स्थित है, वस्तुओं के प्रसंग में उत्पन्न नहीं होती, जहाँ तक कि वे प्रत्यक्षानुभव में ऐसी निर्धारणाओं के सहित दी हुई होती हैं जो किसी आन्तरिक वस्तु को आधार रूप में लिये बिना केवल संबंधमात्रों को प्रकट करती है, क्योंकि वे स्वरूपतः सत् वस्तुएँ नहीं प्रत्युत अवभासमात्र हैं । हम भौतिकतत्व के संबंध में जो कुछ भी जानते हैं वह केवल संबंध भर हैं (जिनको हम उसकी भीतरी निर्धारणाएँ कहते हैं वे भी सापेक्षिकतया भीतरी होती हैं) परन्तु इन संबंधों में से कुछ स्वाश्रित और स्थायी होते हैं, और इनके द्वारा हम को सुनिर्धारित विषय प्रदान किया जाता है । यह जो बात है कि जब मैं इन संबंधों से अपकर्षण करता हूँ, तो मेरे लिए विचार करने को आगे कुछ भी नहीं रह जाता, सो यह बात अवभास रूप में किसी वस्तु के संबोध की संभावना को निराकृत नहीं करती, और न अपकृष्ट रूप (भावमात्र रूप) में किसी विषय के संबोध को ही वास्तव में निराकृत करती है । परन्तु यह एक ऐसे विषय

की संभावना का निराकरण अवश्य करती है जो केवल संबोधों के द्वारा निर्धार्य है, अर्थात् जो केवल बुद्धिगम्य है। निश्चय ही यह बात सुनने में चौंका देने वाली मालूम देगी कि किसी वस्तु को केवल संबंधों से संघटित मानना पड़े (या माना जाए), परन्तु इस प्रकार की वस्तु मात्र अवभास (–रूप) भी है और शुद्ध बौद्धिक प्रकारों से उसका विचार नहीं किया जा सकता ; स्वयं यह जिस वस्तु से संघटित होती है वह यत्किंचित सामान्य का इन्द्रियों के साथ संबंधमात्र है । इसी तरह, जब संबोधों से ही आरंभ किया जाता है, तो वस्तुओं के संबंधों को अपकर्षण में (भावमात्र में) किसी एक वस्तु को अन्य में निर्धारणों का कारण माने बिना, अन्य किसी प्रकार से विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमारी बोधवृत्ति संबंधों का विचार इसी प्रकार से किया करती है। परन्तु क्योंकि ऐसी अवस्था में हम समस्त प्रत्यक्षानुभव की अवहेलना करते हैं, अतएव हमसे वह पूरे का पूरा प्रकार खो जाता है, जिससे विविधरूप अपने संघटक अवयवों के पारस्परिक स्थानों का नियंत्रण करता है, जो दूसरे शब्दों में इन्द्रियों की संवेदनशीलता का आकार (दिक् या देश) है, परन्तु जो फिर भी समस्त आनुभविक कार्यकारणभाव का पूर्वगामी है ।

यदि शुद्ध बुद्धिगम्य विषयों से हम ऐसी वस्तु समझें, जो संवेदनशीलता की किसी भी आकार कल्पना के बिना, शुद्ध बौद्धिक प्रकारों से विचारी जाती हैं, तो ऐसे विषय असंभव हैं । क्योंकि हमारी बोधवृत्ति के समस्त संबोधों के वैषयिक विनियोग की शर्त तो केवल हमारे ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव का प्रकारमात्र है, जिसके द्वारा हमको विषय प्रदान किये जाते हैं, और यदि हम इन विषयों से अपकर्षण कर लें तो संबोधों का किसी विषय से संबंध नहीं रहता । इतना ही नहीं, यदि ऐन्द्रिय प्रकार से भिन्न अन्य किसी प्रत्यक्षानुभव के प्रकार को स्वीकार करना चाहा जाए, तो भी हमारे विचार की वृत्तियाँ उसके संबंध में कुछ भी अर्थ नहीं रखेंगी । यदि इससे हमारा आशय अनैन्द्रिय-प्रत्यक्षानुभव के विषयों से हो, जिनके संबंध में हमारे बौद्धिक प्रकार सचमुच ही प्रामाणिक नहीं हैं, और जिनके विषय में हम इसीलिये किसी प्रकार का ज्ञान (न प्रत्यक्षानुभव और न संबोध) कभी प्राप्त नहीं कर सकते, अतः केवल इस नकारात्मक अर्थ में बुद्धिग्राह्य तत्व को निश्चयमेव मान लिया जाना चाहिये ; क्योंकि यह तो ऐसा कहने से भिन्न और कुछ नहीं है कि हमारा प्रत्यक्षानुभव का प्रकार सब वस्तुओं तक नहीं प्रत्युत केवल हमारी इन्द्रियों के विषयों तक ही पहुँचता है, परिणामतः उसकी वैषयिक प्रामाणिकता सीमित है और इसलिये किसी अन्य प्रकार प्रत्यक्षानुभव और इस प्रकार उसके विषयस्वरूप वस्तुओं के लिये स्थान बच रहता है । पर ऐसी अवस्था में किसी बुद्धिग्राह्य विषय का संबोध अनिश्चित रहता है, अर्थात् वह

एक ऐसी वस्तु का प्रत्युपस्थापन होता है कि जिसके विषय में हम न तो यह कह सकते हैं कि वह संभव है और न यह कि वह असंभव है; क्योंकि हम अपने ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव के प्रकार के अतिरिक्त अन्य किसी अनुभव प्रकार को बिलकुल नहीं जानते, और बौद्धिक प्रकारों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के संबोधों को नहीं जानते, और इन दोनों में से एक भी अनैन्द्रिय विषयों के लिये समुपयुक्त नहीं है । इसलिये हम अपने विचार विषयों के क्षेत्र को अपनी इन्द्रियसंवेदनशीलता की शर्तों के, परे सकारात्मकता नहीं बढ़ा सकते, और अवभासों से परे शुद्ध विचार के विषयों अर्थात् बुद्धिग्राह्यविषयों को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसे विषयों का कोई निर्देश्य अर्थ नहीं होता । क्योंकि बौद्धिक प्रकारों के संबंध में यह मान लिया जाना चाहिये कि वे स्वयं अपने आप में स्वरूपतः सत् वस्तुओं के ज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं हैं और ऐन्द्रियसंवेद्यता के दिये हुए उपादानों के बिना बोधवृत्ति की एकता के मात्र विषयिगत आकार रह जाएँगे, जिनका कोई विषय नहीं होगा । विचार स्वयं स्वतः इन्द्रियों की उपज नहीं है और इसी सीमा तक उनसे मर्यादित (या सीमित) भी नहीं हैं पर इससे इसलिये तत्काल ही यह निष्कर्ष भी नहीं निकलता कि इन्द्रियसंवेद्यता की सहायता के बिना इसका अपना कोई शुद्ध विनियोग है, क्योंकि ऐसी दशा में तो इसके लिये कोई विषय नहीं रह जाता । बुद्धिग्राह्य तत्व को भी ऐसा विषय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह तो किसी विषय के ऐसे अनिश्चित (या सन्दिग्ध) संबोध को सूचित करती है जो किसी ऐसे प्रत्यक्षानुभव और बोधवृत्ति के लिये उपयुक्त हैं जो हमारे प्रत्यक्षानुभव और बोधवृत्ति से बिलकुल भिन्न हैं और इसलिये जो स्वयं एक समस्या हैं । इसलिये बुद्धिगोचर तत्व का संबोध किसी विषय का संबोध नहीं है प्रयुत हमारी ऐन्द्रिय संवेदनशीलता की मर्यादा के साथ अपरिहार्यतया बँधी हुई एक समस्या है और जो समस्या यह है कि कहीं ऐसे विषयों का अस्तित्व तो नहीं है जो हमारे जैसे प्रत्यक्षानुभव से पूर्णतया असंबद्ध हों; यह प्रश्न ऐसा है कि जिसका उत्तर अनिर्णीत प्रकार से ही यों दिया जा सकता है कि क्योंकि ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव निर्विशेष भाव से समस्त विषयों तक नहीं पहुँचता, अतएव (अवशिष्ट) अधिक और अन्य विषयों के लिये स्थान बच रहता है । इसलिये निरपेक्ष भाव से उनका अपलाप नहीं किया जा सकता, परन्तु, क्योंकि उनके सुनिर्धारित संबोध का अभाव है, उनके विषय में यह भी साधिकार नहीं कहा जा सकता कि वे हमारी बोधवृत्ति के विषयरूप हैं ।

अतएव बोधवृत्ति ऐन्द्रिय संवेदनशीलता की सीमा बाँध देती है, पर ऐसा करते में अपने क्षेत्र का विस्तार नहीं करती, और ऐन्द्रिय संवेदनशीलता को यह चेतावनी देने के द्वारा कि उसको स्वरूपतः सत् वस्तुओं तक पहुँचने का दावा नहीं करना चाहिये,

प्रत्युत केवल अवभासों तक ही पहुँचना चाहिये, यह अपने आप स्वयं स्वरूपतः विषय का विचार तो करती है, परन्तु केवल अनुभवातीत विषय के रूप में, जो अवभासों का कारण होता है (पर इसलिये स्वयं अवभास नहीं होता), और जो न तो मात्रा के रूप में, न यथार्थता के रूप में और न द्रव्य इत्यादि के रूप में विचारा जा सकता है (क्योंकि यह संबोध सर्वदा ऐन्द्रिय-संवेद्य आकारों की अपेक्षा करते हैं, जिनमें वे किसी विषय को निर्धारित करते हैं), इसलिये जिसके विषय में यह पूर्णतया अज्ञात रहेगा कि उसकी प्राप्ति हमें अपने भीतर होगी अथवा बाहर, और वह ऐन्द्रिय संवेदनशीलता के रुक जाने पर तत्काल दूर हो जाएगा या जब हम उस (ऐन्द्रिय संवेदनशीलता) को दूर कर दें तो भी अवशिष्ट बचा रहेगा। यदि हम इस विषय को इसलिये बुद्धिगोचर कहना चाहें, क्योंकि इसकी प्रत्युपस्थापना इन्द्रियसंवेद्य नहीं है तो हमको ऐसा करने की स्वाधीनता है। परन्तु क्योंकि हम इसके प्रति अपनी बोधवृत्ति के किसी भी संबोध को लागू नहीं कर सकते, अतएव यह प्रत्युस्थापना हमारे लिये रिक्त रहती है, और हमारे इन्द्रियग्राह्य ज्ञान की सीमा को चिन्हित करने के अतिरिक्त लेशमात्र भी और किसी काम नहीं आती, और इस सीमा के परे ऐसा प्रदेश छोड़ देती है जिसको हम न तो अनुभव से पूरित कर सकते हैं और न शुद्ध बोधवृत्ति के द्वारा।

इस शुद्ध बोधवृत्ति की मीमांसा तो इस प्रकार हमको उन क्षेत्रों के परे, जो इसके समक्ष अवभासों के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं, विषयों के एक नये क्षेत्र के निर्माण की अनुज्ञा नहीं देती और बुद्धिगोचर जगत् में प्रवेश करना तो रहा बहुत अधिक उसके संबोध तक की प्रकल्पना नहीं करने देती। यह भ्रान्ति, जो स्पष्टतम प्रकार से इस परिणाम तक पहुँचा देती है तथा जो पूर्णतया क्षन्तव्य हो सकती है पर जिसके औचित्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता, इस बात में निहित है कि बोधवृत्ति का विनियोग, उसके उद्देश्य के विपरीत, लोकातीत (या अनुभवातीत) बना दिया जाता है, और विषयों को अर्थात् संभाव्य प्रत्यक्षानुभवों को संबोधों के समनुरूप बनाने का प्रयत्न किया जाता है, न कि संबोधों को संभाव्य प्रत्यक्षानुभवों के, केवल जिनके ऊपर उनकी विषयगत प्रामाणिकता आश्रित है। और फिर इस भ्रान्ति का कारण यह है कि स्वात्मप्रत्यक्ष और उसके साथ विचार प्रस्थापनाओं की समस्त सुनिर्धारित व्यवस्था के पूर्व आता है। परिणामतः हम यत्किञ्चित् सामान्य का विचार करते हैं, और जब कि एक ओर इसको इन्द्रिय संवेद्यतया निर्धारित करते हैं, दूसरी ओर इसके इस प्रकार से अनुभव करने की पद्धति से भावमात्र में रूप प्रत्युपस्थापित सार्विक (सर्वव्यापी) विषय को पृथक् करते हैं; और अब हमारे पास विषय को केवल विचार के द्वारा निर्धारित करने का प्रकार बच रहता है जो अन्तर्विष्ट

विषय से रिक्त केवलमात्र यौक्तिक आकार है, परन्तु जो तिसपर भी हमको स्वरूपतः सत् विषय (बुद्धिगम्य विषय) के प्रत्यक्षानुभव (जो हमारी इन्द्रियों तक सीमित है) से स्वतंत्र अस्तित्व का प्रकार प्रतीत होता है।

* * *

लोकातीत वैश्लेषिकी से विदा लेने के पहले हमको कुछ थोड़ी बातें और जोड़नी चाहिये जो स्वयं तो विशेष महत्त्व की बातें नहीं है, परन्तु फिर जो दर्शन-संस्थान की पूर्णता के लिये अपेक्षित हैं। जिस सर्वोच्च संबोध के साथ लोकातीत दर्शनशास्त्र को आरंभ करने की प्रथा है, वह उसका संभव और असंभव में सामान्य विभाजन है। परन्तु क्योंकि समस्त विभाजन विभाज्य संबोध को पूर्वतः मानकर चलता है, अतः उपर्युक्त संबोध से भी उच्चतर संबोध अपेक्षित होता है, और यह एक विषय सामान्य का (अनिश्चिततया स्वीकृत) संबोध होता है, जिसके विषय में यह निर्णय नहीं हुआ होता कि वह यत्किञ्चित सत् है अथवा कुछ भी नहीं है। क्योंकि बौद्धिक प्रकार ही केवल ऐसे संबोध हैं जो विषयों के साथ सामान्यतः संबद्ध हैं अतएव विषयों का इस प्रकार का पृथक्करण, कि वह कुछ सत् वस्तु है या कुछ भी नहीं है, बौद्धिक प्रकारों की क्रमव्यवस्था और मार्ग दर्शन के अनुसार चलेगा।

१. सब, अनेक और एक के संबोधों का विरोधी वह संबोध जो सब को उच्छिन्न या विलुप्त कर देता है "कुछ नहीं" का संबोध है। इस प्रकार किसी संबोध का विषय जिसके समनुरूप कोई भी निर्देश्य प्रत्यक्षानुभव नहीं होता "कुछ भी नहीं" के बराबर होता है, अर्थात् यह बुद्धिगम्य तत्व के समान, विषयरहित संबोध होता है, जिसकी गणना संभावनाओं के मध्य में नहीं की जा सकती, यद्यपि इसी कारण से उनको असंभव भी घोषित नहीं किया जा सकता (वे तो "ऐन्स् राटियोनिस्" विचारगम्य सत्ता हैं); अथवा (वे कुछ ऐसी) नवीन मौलिक शक्तियों के समान हैं जिनका विचार तो विसंवादिता के बिना किया जाता है, परन्तु यह विचार अनुभव से गृहीत किसी उदाहरण के बिना ही किया जाता है, अतएव जिनकी गणना संभवों की कोटि में नहीं होनी चाहिये।

२. यथार्थता "कुछ" है, निषेध "कुछ नहीं है," अर्थात किसी विषय के अभाव का संबोध, जैसे छाया, शैत्य।

३. द्रव्य (=पदार्थ) के बिना अनुभव का आकारमात्र स्वतः कोई विषय नहीं होता, किन्तु (अवभास के रूप में) किसी विषय का औपचारिक प्रतिबन्धमात्र होता है, जैसे शुद्ध देश और शुद्ध काल। ये अनुभव के आकार के रूप कुछ हैं, पर स्वतः वैसे विषय नहीं जिनका अनुभव किया जाता है।

४. किसी संबोध का विषय जो स्वयं अपना विरोधी (=विसंवादी है) "कुछ नहीं" (असत्) है, क्योंकि "कुछ नहीं" संबोध असंभव है, (अथवा संबोध "कुछ नहीं" है—असंभव है) जैसे दो भुजाओं वाली आयताकृति।

इसलिये "कुछ नहीं" के संबोध के विभाजन की तालिका इस प्रकार प्रस्तुत करनी होगी (रहा "कुछ" का विभाजन जो इसका संवादी है इससे स्वतः अनुमित हो जाता है)।

"कुछ नहीं"

१.

विषय के बिना रीते संबोध के रूप में

२.	३.
किसी संबोध के रीते विषय के रूप में	विषयशून्य रीते अनुभव के रूप में

४

संबोधशून्य रीते विषय के रूप में

यह दीख पड़ता है कि विचारगम्य वस्तु (सं०१) निषेध जन्य अभाव (सं० ४) से इस बात में भिन्न है कि उसकी (स०१) की गणना संभावनाओं की कोटि में नहीं की जा सकेगी, क्योंकि यह बिल्कुल कल्पनाप्रसूति (यद्यपि अविसंवादी) है, पर संख्या ४ तो इसलिये संभावना की विरोधी है कि संबोध स्वयं अपने को स्वविसंवादिता द्वारा विलुप्त कर देता है। तथापि दोनों ही रिक्त संबोध हैं। इसके विपरीत "अभाव-रूप कुछ नहीं" (सं०२) और "कल्पनाजन्य सत्ता" (सं० ३) संबंधों के लिये रिक्त तत्वोपन्यास हैं। यदि इन्द्रियों को प्रकाश न दिया गया होता, तो किसी अन्धकार को; और यदि विस्तारयुक्त सत्ताओं का प्रत्यक्ष न हुआ होता, तो देश (दिक्) को प्रत्युपस्थापित न किया जा सकता। जैसे निषेध वैसे ही अनुभव का शुद्ध आकार किसी वास्तविक (तत्व) के बिना विषय नहीं हो सकते।

अनुभवातीत तर्कशास्त्र

द्वितीय खण्ड

अनुभवातीत आन्वीक्षिकी

विषय-प्रवेश

१.

अनुभवातीत माया (मायिकावभास)

हम ऊपर पहले ही आन्वीक्षिकी को सामान्यरूपेण मायिक अवभास के तर्कशास्त्र का नाम दे चुके हैं। इसका आशय यह नहीं है कि वह संभाविता-संबंधी विद्या है; क्योंकि संभाविता तो सत्य ही है, (अन्तर केवल इतना है कि) वह अपर्याप्त आधार पर जाना हुआ सत्य है तथा जिसका ज्ञान, इस प्रकार यद्यपि सदोष भले हो किन्तु इसी कारण प्रतारणापूर्ण नहीं है; इस हेतु इस प्रकार की विद्या को तर्कशास्त्र के वैश्लेषिकी वाले खण्ड से पृथक् नहीं किया जाना चाहिये। अवभास और माया (=मायिकावभास) को तो और भी कम औचित्य के साथ अभिन्न माना जा सकता है। क्योंकि सत्य या माया, विषय में (जहाँ तक वह अनुभव किया जाता है) नहीं होती, प्रत्युत (जहाँ तक उसका विचार किया जाता है) उस विषय से संबंध रखने-वाली विभावना में होती है। इसलिये यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन्द्रियाँ गलती नहीं करतीं—परन्तु ऐसा इसलिये नहीं होता कि वे सर्वदा निर्दोष निर्णय करती हैं, प्रत्युत इसलिये कि वे निर्णय करती ही नहीं। इसलिये सत्य और तदनुसार भ्रान्ति, एवं परिणामतः भ्रान्ति की ओर ले जाने के कारण मायिकावभास तक (ये) सब के सब केवल विभावना में अर्थात् केवल विषय के साथ हमारी बोध-वृत्ति के संबंध में ही पाये जाते हैं। किसी ऐसे ज्ञान में, जो कि बोधवृत्ति के नियमों का पूर्णतया अनुसरण करता है, कोई भ्रान्ति (या गलती) नहीं होती। इन्द्रियों की प्रत्युप-स्थापनाओं में भी—क्योंकि उनमें कोई विभावना नहीं होती—कोई गलती नहीं होती। प्रकृति की कोई भी शक्ति स्वतः अपने पथ से भ्रष्ट नहीं हो सकती। इस-लिये न तो बोधवृत्ति ही स्वतः (अन्य कारण के प्रभाव के बिना) और न इन्द्रियाँ ही

(अपने आप) गलती किया करती हैं; प्रथम (अर्थात् बोधवृत्ति) तो इसलिये गलती नहीं करती, क्योंकि यदि यह केवल अपने नियमों के अनुसार कार्य करती है तो परिणाम (अर्थात् विभावना) अवश्यमेव इन नियमों के अनुसार होगा ही। पर बोधवृत्ति के नियमों की अनुरूपता में ही समस्त सत्य का औपचारिक तत्व स्थित रहता है। इन्द्रियों में किसी प्रकार की भी विभावना (न सच्ची, न झूठी) नहीं रहती। क्योंकि ज्ञान के इन दोनों स्रोतों—इन्द्रिय और बोधवृत्ति—के अतिरिक्त हमारे पास ज्ञान का कोई अन्य स्रोत नहीं अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि––भ्रान्ति इन्द्रियसंवेद्यता के बोधवृत्ति पर पड़ने वाले केवल अनिरीक्षित प्रभाव के द्वारा घटित होती है जिसके द्वारा ऐसा हो पड़ता है कि विभावना के विषयिगत हेतु विषयगत हेतुओं के साथ एकत्र सम्मिलित हो जाते हैं, और इन (विषयगत हेतुओं) को अपने निर्धारित मार्ग से विचलित (भ्रष्ट) कर देते हैं, [कां.] ठीक उसी प्रकार जैसे कि कोई गतिशील मूर्तपदार्थ स्वतः अपने आप को सर्वदा एक सीधी रेखा में एक ही दिशा में चालू रखेगा, परन्तु यदि किसी अन्य दिशा की ओर गतिशील दूसरी शक्ति से प्रभावित हो तो वक्र रेखा में चल पड़ेगा। बोधवृत्ति के विशिष्ट व्यापार को उस शक्ति (या वेग) से पृथक् करने के लिये जो उसके साथ सम्मिश्रित हो गया है, यह आवश्यक है कि भ्रान्त विभावना को दो शक्तियों (या वेगों) के मध्यवर्ती करण के रूप में देखा जाए, जो दो वेग उस विभावना को उन विभिन्न दिशाओं में निर्धारित करते जो मानों एक कोण को घेरती हैं, और इस मिश्रित कार्य को बोधवृत्ति और ऐन्द्रिय संवेद्यता के अविमिश्रित कार्यों में विघटित कर दिया जाए, जो प्रकिया शुद्ध प्रागनुभवात्मक विभावना के प्रसंग में अनुभवातीत चिन्तन के द्वारा अनुष्ठित होना चाहिये, जिसके द्वारा (जैसा कि पहले ही दिखलाया जा चुका है) प्रत्येक प्रत्युपस्थापना के लिये समुपयुक्त ज्ञानवृत्ति में उसका स्थान निर्दिष्ट कर दिया जाता है, और जिसके द्वारा, इसी प्रकार, एक के दूसरे के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव को भी विस्पष्ट कर दिया जाता है।

यहाँ हमारा कार्य आनुभविक उस मायिकावभास (उदाहरण के लिये, दृष्टि-भ्रम) का विवेचन करना नहीं है जो बोधवृत्ति के अन्यथा शुद्ध नियमों के आनुभविक

कां. जब ऐन्द्रिय संवेद्यता एक ऐसे विषय के रूप में बोधवृत्ति के अधीन कर दी जाती है, जिसके ऊपर बोधवृत्ति अपनी वृत्ति को प्रयुक्त करती है तो वह (संवेद्यता) ज्ञान के यथार्थ प्रकार (= प्रमा) का स्रोत बन जाती है। परन्तु वही संवेद्यता जब बोधवृत्ति के व्यापार को प्रभावित करने लगती है; और उसके विभावना के कार्य को निर्धारित करने लगती है तो भ्रांति का आधारभूत हेतु हो जाती है।

विनियोग में घटित होता है, और जिसके द्वारा विभावना-शक्ति कल्पना के प्रभाव से पथभ्रष्ट कर दी जाती है, प्रत्युत यहाँ हमारा वास्ता केवल अनुभवातीत भ्रम से है जो उन मौलिक सिद्धान्तों पर डालता है, जो अनुभव के क्षेत्र में उपयोग किये जाने के लिये कथमपि उद्दिष्ट नहीं थे, क्योंकि यदि उनका ऐसा उद्देश्य होता तो ऐसी अवस्था में हमको उनकी शुद्धता की कसौटी प्राप्त होती, पर इसके विपरीत, आलोचना की समस्त चेतावनियों को तिरस्कृत करके, यह भ्रम हमको बहका कर बौद्धिक प्रकारों के अनुभवगत विनियोग के बिलकुल परले पार ले जाता है तथा शुद्ध बोधवृत्ति का मात्र प्रवञ्चनापूर्ण प्रविस्तार हमको टालता रहता है। जिन सिद्धान्तों का विनियोग पूर्णतया संभाव्य अनुभव की परिधि के भीतर सीमित है उनको हम अन्तर्व्यापी नाम देंगे, किन्तु उन सिद्धान्तों को, जो कि इन सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले हैं परगामी कहेंगे। इन (पारगामी) सिद्धान्तों से मैं बौद्धिक प्रकारों के उपयोग अथवा दुरुपयोग का आशय नहीं ले रहा हूँ, जो कि विभावनावृत्ति की उस समय की गलती है जब कि वह समुपयुक्ततया आलोचना के द्वारा नियंत्रित नहीं होती, तथा जो उस क्षेत्र की सीमाओं का पर्याप्त ध्यान रखती है केवल जिनके भीतर शुद्ध बोधवृत्ति को खुलकर खेलने की छूट है; प्रत्युत मेरा मतलब सचमुच के सिद्धान्तों से है, जो हमको इन सब सीमाबन्धनों (हदबन्दियों) को उच्छिन्न कर देने तथा एक पूर्णतया नवीन प्रदेश पर जो किसी प्रकार के सीमा चिह्नों को नहीं मानता, बलात् अधिकार ग्रहण कर लेने के लिये भड़काते हैं। इसलिये पारगामी और पारगत एक अभिन्न वस्तु नहीं हैं। शुद्ध बोधवृत्ति के वे सिद्धान्त जिनको हमने ऊपर प्रस्तुत किया है केवल अनुभवगत उपयोग के काम के हैं, अनुभवातीत उपयोग के अर्थात् अनुभव की सीमा के परे पहुँचने वाले उपयोग के काम के नहीं। परन्तु वह सिद्धान्त जो इन सीमाओं को दूर कर देता है, या नहीं तो हमको उनका सचमुच उल्लंघन करने का आदेश देता है पारगत सिद्धान्त कहलाता है। यदि हमारी आलोचना इन तथाकथित सिद्धान्तों में छिपे हुए भ्रम को उद्घाटित करने में सफल हो सके तो वे सिद्धान्त जो केवल आनुभविक उपयोग के काम के हैं, अन्य सिद्धान्तों के विपरीत, शुद्ध बुद्धि के अनुभवान्तर्व्यापी सिद्धान्त कहे जा सकते हैं।

तर्कशास्त्रीय भ्रम जो बुद्धि के आकार के अनुकरणमात्र से घटित होता है (जो औपचारिक हेत्वाभासों का भ्रम है) पूर्णतया तर्कशास्त्र के नियम के प्रति सावधानी के अभाव से उत्पन्न होता है। अतएव ज्योंही ध्यान उपर्युक्त स्थिति के प्रति जागा, भ्रम अन्तर्धान हुआ। पर इसके विपरीत अनुभवातीत भ्रम तो, जब कि उसको उद्घाटित कर दिया जाता है और अनुभवातीत आलोचना के द्वारा उसकी अप्र-

माणिकता स्पष्टतया प्रदर्शित कर दी जाती है, तब उसक पश्चात् भी बाधित नहीं होता। (उदाहरण के लिये, इस प्रस्थापना के भ्रम को ले सकते हैं कि संसार का कालगत आरंभ होना ही चाहिये।) इसका कारण यह है कि हमारी बुद्धि (जो कि विषयितया मानवीय ज्ञान की शक्ति या वृत्ति मानी जाती है) के उपयोग के लिये मूलभूत नियम और सूत्र हैं, जो पूर्णतया विषयगत सिद्धान्तों की सी सूरत वाले हैं, और जिसके द्वारा यह घटित होता है कि हमारे संबोधों के किसी संबंध की विषयिगत अनिवार्यता बोधवृत्ति के लिये सुविधाजनक स्वरूपतः सत् वस्तुओं के निर्धारण के लिये वैषयिक अनिवार्यता के रूप में ग्रहण कर ली जाती है। यह एक ऐसा भ्रम है जिसको निवारण करने की उसी प्रकार संभावना नहीं है जिस प्रकार समुद्र को तट की अपेक्षा मध्य में अधिक ऊँचा दिखलाई पड़ने के भ्रम को निवारण करने की संभावना नहीं है, क्योंकि हम उसको वहाँ उच्चतर प्रकाशकिरणों के माध्यम से देखते हैं; अथवा (और भी अच्छा उदाहरण लीजिए) जिस प्रकार ज्योतिर्विद् के लिये उदय होते हुए चन्द्र के अपेक्षाकृत अधिक बड़ा दिखलाई पड़ने के भ्रम को निवारण करना संभव नहीं है, यद्यपि वह इस मायिकावभास से धोखा नहीं खाता है।

अतएव अनुभवातीत आन्वीक्षिकी अपने को पारंगत विभावना के भ्रम का भण्डाफोड़ करके संतुष्ट मानेगी, और साथ ही साथ इस बात की भी सावधानी बरतेगी कि वह धोखा न दे सके; यह भ्रम, यौक्तिक भ्रम के समान, अन्तर्धान हो जाए और वास्तव में भ्रमरूप में प्रतीत होना बन्द हो जाए इतना करने की स्थिति में यह (अनुभवातीत आन्वीक्षिकी) कदापि नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि यहाँ हमारा वास्ता एक ऐसे भ्रम से है जो प्राकृतिक है और अपरिहार्य है, विषयिगत सिद्धान्तों पर आश्रित है, तथा उनको वैषयिकरूप में हमारे ऊपर लादता है; इसके स्थान पर तार्किक आन्वीक्षिकी को प्रवञ्चनापूर्ण निष्कर्षों का भण्डाफोड़ करने में केवल सिद्धान्तों के अनुसरण में जो गलती होती है उससे काम पड़ता है, अथवा ऐसे अनुमानों के कृत्रिमतया उत्पादित अनुकरणों के भ्रम से काम पड़ता है। अतएव एक स्वाभाविक तथा अपरिहार्य शुद्ध बुद्धि संबंधी आन्वीक्षिकी की सत्ता है—जो ऐसी नहीं है कि जिसमें कोई फूहड़ व्यक्ति ज्ञान के अभाव के कारण अपने को फँसा सके, अथवा जिसको किसी चतुर वावदूक (सोफ़िस्ट) ने विचारवान् लोगों को भ्रान्त करने के लिये कृत्रिमतया आविष्कृत कर लिया है, प्रत्युत ऐसा भ्रम है जो मानव बुद्धि के साथ अवियोज्यतया आबद्ध है, तथा जो, हमारे द्वारा उसकी वंचकता का भण्डाफोड़ हो जाने के पश्चात् भी, बुद्धि के साथ चालबाज़ियाँ चलने और उसको लगातार

क्षणिक पथच्युति में ठेलने से विरत नहीं होता, अतएव जिसको वारंवार दूर करना आवश्यक होता है ।

२.

शुद्ध बुद्धि का अनुभवातीत भ्रम के अधिष्ठान के रूप में निरूपण

क

बुद्धि सामान्य का निरूपण

हमारा समस्त ज्ञान इन्द्रियों से आरंभ होता है, वहाँ से बोधवृत्ति की ओर प्रवृत्त होता है और बुद्धि में पर्यवसित हो जाता है, जिसकी अपेक्षा, प्रत्यक्षानुभव के उपादान को परिष्कृत करने वाला एवं तदुपरान्त उसको विचार की उच्चतम एकता के अधीन करने वाला, उच्चतर तत्व हमारे अन्दर अन्य कोई भी प्राप्त नहीं है । क्योंकि अब मुझे इस सर्वोच्च ज्ञानवृत्ति की व्याख्या करनी है, अतः मैं अपने को कठिनता में पड़ा हुआ पा रहा हूँ । बोधवृत्ति के समान ही, बुद्धि का भी एक केवल-मात्र औपचारिक, अर्थात् यौक्तिक उपयोग हुआ करता है जिसमें यह ज्ञान के अन्त-र्विष्ट विषय की ओर कुछ ध्यान नहीं देता, परन्तु इसका एक वास्तविक उपयोग भी होता है, क्योंकि स्वयं इसमें ही कुछ विशिष्ट संबोधों और सिद्धान्तों का मूलस्रोत विद्यमान है, जिन (संबोधों और सिद्धान्तों) को इसने न तो इन्द्रियों से उधार लिया है और न बोधवृत्ति से । इन दोनों में से प्रथम वृत्ति तो तार्किकों द्वारा अब से बहुत काल पूर्व ही (अव्यवहित अनुमानों—कौंसेक्वेन्टीइस् इम्मेडियाटिस् से पृथक्) व्यवहित अनुमान निष्पन्न करने वाली शक्ति के रूप में परिभाषित (या निर्धारित) की जा चुकी है; परन्तु इस परिभाषा से दूसरी वृत्ति (जो स्वतः संबोधों को जन्म देती है) का स्वरूप लक्षित नहीं होता । परन्तु अब क्योंकि यहाँ पर यौक्तिक बुद्धि और अनुभवातीत बुद्धि के रूप में बुद्धि का विभाजन प्रस्तुत है, अतएव इस ज्ञानोद्-गम का एक ऐसा उच्चतर संबोध खोज निकालना आवश्यक हो गया जो इन दोनों संबोधों को अपने में अनुजीवी के रूप में समाविष्ट रख सकता हो; तथापि बोधवृत्ति के संबोधों के सादृश्य के अनुसार हम यह आशा कर सकते हैं कि तार्किक संबोध हमको अनुभवातीत संबोध की कुंजी और प्रथम वर्णित (यौक्तिक संबोध) के कार्यों की तालिका बुद्धि के संबोध का वंशवृक्ष तत्काल प्रदान कर देंगे ।

अनुभवातीत तर्कशास्त्र के प्रथम खंड में हमने नियमों की वृत्ति के रूप में बोध-वृत्ति के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर दिया; अब यहाँ हम बुद्धि को सिद्धान्तों की वृत्ति का नाम देकर उसको बोधवृत्ति से पृथक् करेंगे ।

'सिद्धान्त' शब्द द्वयर्थक है, और सामान्यतया यह ऐसे किसी भी ज्ञान को सूचित करता है जो सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त हो सकता है, तथापि जो स्वतः और अपने उद्गम की दृष्टि से कोई सिद्धान्त नहीं है। प्रत्येक सर्वव्यापिनी प्रस्थापना, चाहे वह उद्गमन के द्वारा अुभव से व्युत्पादित हुई क्यों न हो बौद्धिकानुमान वाक्य में व्याप्त्य-वयव (मुख्यावयव) के रूप में काम दे सकती है; पर इसी लिये वह सिद्धान्त नहीं हो जाती। गणित की स्वयंसिद्धियाँ (उदाहरणार्थ जैसे, दो विन्दुओं के मध्य में केवल एक सरल रेखा ही हो सकती है) तो प्रागनुभवात्मक सर्वव्यापक ज्ञान तक हैं, और इसलिये उन प्रसंगों की दृष्टि से जो उनके अधीन परिगणित होते हैं, औचित्यपूर्वक सिद्धान्त कहे जा सकते हैं। परन्तु इसी कारण मैं यह नहीं कह सकता कि मैं सरल रेखा की इस विशिष्टता को सामान्यतः और स्वरूपतः स्वयं सिद्धान्त से अवधृत करता हूँ, प्रत्युत इसको तो मैं शुद्ध प्रत्यक्षानुभव में ग्रहण करता हूँ।

अतएव सिद्धान्त से प्राप्त ज्ञान मैं उस ज्ञान को कहूँगा जिसमें मैं विशेष को सामान्य में संबोध के द्वारा जानता हूँ। इस प्रकार प्रत्येक अनुमान-वाक्य सिद्धान्त से ज्ञान को अनुमित करने का प्रकार है। क्योंकि व्याप्त्यावयव सर्वदा एक संबोध को प्रदान करता है जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु, जो कि किसी शर्त (प्रतिबन्ध) की अधी-नता के समान, संबोध के अधीन परिगणित होती है, वह सिद्धान्त के अनुसार संबोध से ज्ञात होती है। अब क्योंकि अनुमान-वाक्य में कोई सर्वव्यापी ज्ञान व्याप्त्यावयव के रूप में काम दें सकता है और क्योंकि बोधवृत्ति हम को इस प्रकार की प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाएँ प्रदान करती है, अतएव तब तो वे भी उनके संभाव्य उपयोग की दृष्टि से "सिद्धान्त" कही जा सकती हैं।

परन्तु यदि हम उनका स्वयं अपने आप में उनके मूलोद्गम के संबंध की दृष्टि से विचार करें तो प्रतीत होगा कि शुद्ध बुद्धि की ये आधारभूत प्रस्थापनाएँ संबोधों पर आधारित ज्ञान बिलकुल नहीं हो सकतीं। क्योंकि यदि हमको (गणित) में शुद्ध प्रत्यक्षानुभव का एवं संभाव्य अनुभव सामान्य के प्रतिबन्धों का अवलम्ब प्राप्त न हो, तो वे प्रागनुभवात्मकतया संभव भी नहीं होंगी। 'प्रत्येक वस्तु जो घटित होती है उसका कारण हुआ करता है'—इस तथ्य का अनुमान घटना घटित होने के संबोधमात्र से नहीं लगाया जा सकता; इसके विपरीत यह कार्यकारण-भाव का सिद्धान्त हमको यह दिखलाता है कि हम, जो कुछ घटित होता है उसके संबंध में किस प्रकार कोई सुनिर्धा-रित अनुभवात्मक संबोध प्राप्त कर सकते हैं।

अतएव बोधवृत्ति संबोधों में से ही संश्लेषणात्मक ज्ञान बिलकुल प्रदान नहीं कर सकती और वास्तव में यही ऐसा ज्ञान है जिसको मैं निरपेक्ष भाव से सिद्धान्त का नाम

देता हूँ; जब कि समस्त सार्विक प्रस्थापनाओं को सामान्यतः सापेक्षिक सिद्धान्त कहा जा सकता है।

यह एक बड़ी पुरानी अभिलाषा है, जो, कभी किसी समय (कौन जानता है कितनी देर से) स्यात् पूर्ण हो जाए—कि बहुसंख्यक नागरिक नियमों के स्थान पर उनके आधारभूत सिद्धान्तों का पता लग जाए, क्योंकि इन्हीं सिद्धान्तों में उस रहस्य को पाने की आशा निहित है जिसको हम विधान-रचना का सरलीकरण कहते हैं। परन्तु यहाँ पर तो नियम हमारी स्वतंत्रता पर इस शर्त (प्रतिबन्ध) पर आरोपित मर्यादाएँ भर हैं कि जिनके अधीन स्वतंत्रता अपने आप पूर्णतया संगत हो सके; अतएव वह कुछ एक ऐसी दिशा में प्रेरित होते हैं जो हमारा अपना निजी कार्य है, और जिसके, इन संबोधों के माध्यम से, हम स्वयं कारण हो सकते हैं। परन्तु स्वरूपतः सत् विषय, वस्तुओं का अपना स्वरूप किस प्रकार सिद्धान्तों के अधीन स्थित होते हैं और किस प्रकार केवलमात्र संबोधों के अनुसार निर्धारित होंगे, यह जानने का प्रयत्न एक ऐसी माँग है जो यदि बिलकुल असंभव नहीं तो कम से कम बुद्धि-विरोधी अवश्य है। पर यह बात चाहे जैसी हो (क्योंकि इस विषय में अनुसंधान करने का कार्य अभी हमारे सामने है), पर इतना तो स्पष्ट है ही, कि सिद्धान्तों से प्राप्त ज्ञान उस ज्ञान से जो मात्र बोधवृत्ति से प्राप्त ज्ञान है, कुछ बिलकुल ही भिन्न वस्तु होता है। यह दूसरे प्रकार का (बोधवृत्ति से प्राप्त) ज्ञान, सचमुच किसी सिद्धान्त के रूप में अन्य ज्ञान का पूर्वगामी हो सकता है, परन्तु अपने निजी स्वरूप में, जहाँ तक यह सांश्लेषिक है, केवलमात्र विचार पर ही आश्रित नहीं होता, और न अपने भीतर संबोधों से प्राप्त किसी सर्वव्यापी (तत्व) को अन्तर्विष्ट रखता है।

बोधवृत्ति को एक ऐसी शक्ति माना जा सकता है जो नियमों के माध्यम से अवभासों की एकता को प्राप्त कराने वाली है, और बुद्धि को ऐसी शक्ति माना जा सकता है जो सिद्धान्तों की अधीनता में बोधवृत्ति के नियमों की एकता को प्राप्त कराती है। इसलिये बुद्धि अपने आपको अनुभव के प्रति अथवा किसी विषय के प्रति सीधे प्रत्यक्षतया प्रवृत्त नहीं करती, प्रत्युत, बोधवृत्ति के अनेकविध ज्ञान को संबोधों के द्वारा वह प्रागनुभवात्मक एकता प्रदान करने के लिये बोधवृत्ति के प्रति प्रवृत्त करती है, जिस एकता को बुद्धि की एकता कहा जा सकता है और जो बोधवृत्ति के द्वारा दितसम्पा एकता से नितान्त भिन्न प्रकार की एकता है।

यह उस सीमा तक बुद्धिवृत्ति का सर्वव्यापी संबोध है जिस सीमा तक इसको उदाहरणों की परिपूर्ण अनुपस्थिति में स्पष्ट करना संभव हुआ है, (तथा जिसके उदाहरण आगे पुस्तक के शेष भाग में दिये जाएँगे)।

ख

बुद्धि का यौक्तिक (तर्कगत) उपयोग

जो कुछ प्रत्यक्षतया जाना जाता है तथा जिसका मात्र अनुमान किया जाता है, इन दोनों के मध्य में सामान्यतया भेद किया जाता है। एक आकृति जो तीन सरल रेखाओं के घिरी हुई है उसमें तीन कोण होते हैं, यह तथ्य ऐसा है जो प्रत्यक्षतया जाना जाता है, परन्तु यह तथ्य कि यह तीनों कोण मिल कर दो समकोण के बराबर हैं, अनुमान भर किया जाता है। क्योंकि हमको लगातार अनुमान का उपयोग करना पड़ता है' इसलिये अन्ततः हम उसके पूर्णतया अभ्यस्त हो जाते हैं और फिर हम इस उपर्युक्त भेद को अन्त में ध्यान में भी नहीं रखते, और प्रायः, जैसा कि तथाकथित इन्द्रियभ्रम में हुआ करता है, हम, जो वास्तव में अनुमान किया होता है, उसको अपरोक्षतया प्रत्यक्षीकृत जैसा मान लेते हैं। प्रत्येक अनुमान संवाक्य में एक ऐसी प्रस्थापना होती है जो आधार-स्थानीय होती है, और एक दूसरी निष्कर्ष होती है जो प्रथम से निष्पादित होती है, और अन्त में अनुमान, जिसके अनुसार द्वितीय का सत्य अवियोज्यतया प्रथम के सत्य के साथ आबद्ध होता है। यदि अनुमित विभावना प्रथम विभावना में पहले से ही कुछ इस प्रकार अन्तर्विष्ट हो कि वह उससे तृतीय प्रत्युपस्थापना की मध्यस्थता के बिना ही व्युत्पादित हो सकती हो तो ऐसा अनुमान अव्यवहित अनुमान कहलाता है; मैं इसको बोधवृत्ति का अनुमान कहना अधिक पसन्द करूँगा। परन्तु यदि उस ज्ञान के अतिरिक्त जो कि आधारभूत ज्ञान है, निष्कर्ष को निष्पादित करने के लिये एक और भी दूसरी विभावना आवश्यक हो तो अनुमान को बौद्धिक कहा जाता है। "सब मनुष्य मरणशील हैं" इस प्रस्थापना में निम्नलिखित प्रस्थापनाएँ तो पहले से ही अन्तर्विष्ट हैं कि "कुछ मनुष्य मरणशील हैं" "कुछ मरणशील सत्ताएँ मनुष्य हैं", "कोई ऐसी सत्ता जो मरणशील नहीं है मनुष्य नहीं है"—अतएव ये उपर्युक्त विभावना के अव्यवहित अनुमान हैं। पर इसके विपरीत यह प्रस्थापना कि सब विज्ञ व्यक्ति मरणशील होते हैं आधारभूत विभावना में अन्तर्विष्ट नहीं है (क्योंकि विज्ञ व्यक्ति का संबोध उसमें नाममात्र भी अन्तर्विष्ट नहीं है) और उसमें यह दूसरी विभावना के माध्यम के द्वारा ही अनुमित हो सकता है।

प्रत्येक अनुमान-संवाक्य में प्रथम मैं बोधवृत्ति के द्वारा एक नियम (व्याप्त्यवयव, गुर्वयव) का विचार करता हूँ। दूसरे, मैं किसी ज्ञान को विभावना शक्ति के माध्यम से उपर्युक्त नियम के अधीन उपगृहीत कर लेता हूँ (यह गौणावयव या पक्षावयव है)। अन्त में, मैं अपने ज्ञान को नियम के विधेय के द्वारा निर्धारित करता हूँ (निगमन या

निष्कर्ष), अतएव उसको बुद्धि के द्वारा प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित करता हूँ। इसलिये वह संबंध जिसको गुर्ववयव नियम के रूप में किसी ज्ञान तथा उसकी शर्त के बीच में प्रत्युपस्थापित करता है,बौद्धिकानुमान-संवाक्य के विभिन्न प्रकारों का कारण होता है। अतः सब सामान्य विभावनाओं के समान यह अनुसंवाक्य भी बस तीन प्रकार के होते हैं, वे एक दूसरे से उसी प्रकार के अनुसार भिन्न होते हैं,जिस प्रकार से बोधवृत्ति में ज्ञान के संबंध कोअभिव्यक्त किया करते हैं,अर्थात् वे या तो केवल स्पष्ट संवाक्य होते हैं या सोपाधिक संवाक्य होते हैं, अथवा वैकल्पिक संवाक्य होते हैं।

यदि जैसा कि बहुत बार हुआ करता है, निष्कर्ष (या अनुमान) को विभावना के रूप में,यह देखने के लिये प्रस्तुत किया जाए कि कहीं वह पहले से दी हुई ऐसी विभावनाओं से तो निगमित नहीं होता जिनके द्वारा एक बिलकुल ही दूसरे विषय का विचार किया जाता है,तो मैं इस निष्कर्ष के संकथन को बोधवृत्ति में यह जानने के लिये खोजता हूँ कि वह कहीं किसी सर्वव्यापी नियम के अनुसार किन्हीं निश्चित प्रतिबन्धों के अधीन अवस्थित तो नहीं मिलता है। यदि मुझे कोई ऐसी शर्त मिल जाती है, और यदि अनुमान का विषय दी हुई शर्त के अधीन अपने को उपगृहीत होने देता है,तब तो वह निष्कर्ष उस नियम का ही अनुसरण करता है,जो ज्ञान के अन्य विषयों के लिये भी प्रामाणिक है। इससे ऐसा दीख पड़ता है कि अनुमान में बुद्धि बोधवृत्ति के द्वारा उपलब्ध ज्ञान की बहुरूपता को सिद्धान्तों की अल्पतम संख्या में (सर्वव्यापी शर्तों में) परिवर्तित कर देने का उद्योग करती है और ऐसा करके वह इसमें सर्वोच्च एकता को उत्पन्न करने की चेष्टा करती है।

ग

बुद्धि का शुद्ध विनियोग

क्या बुद्धि को पृथक् किया जा सकता है,और क्या तब वह उन संबोधों और विभावनाओं का स्वतंत्र उद्गम है जो केवल उसी में से उद्भूत होती हैं तथा जिनके माध्यम से वह विषयों से संबद्ध होती है? अथवा यह कोई एक बिलकुल नीची श्रेणी की वृत्ति है,जो दिये हुए ज्ञानों पर यौक्तिक कहे जाने वाले आकार को आरोपित करने के काम आती है,जिसके द्वारा बोधवृत्ति से प्राप्त ज्ञान केवल परस्पर व्यवस्थित होते हैं,तथा निम्न कोटि के नियम उच्च नियमों की अधीनता में व्यवस्थित हुआ करते हैं (उच्च नियमों से तात्पर्य उन नियमों से है जिनकी शर्त अपने क्षेत्र में निम्नकोटि के नियमों की शर्त को अपने में सन्निविष्ट किये रहती है), और ऐसा वहाँ तक हुआ करता है जहाँ तक ऐसा तुलना की प्रक्रिया से होना संभव है? यह वह प्रश्न है जिसके साथ हम अब अपने को

अल्पकाल के लिये व्यापृत करते हैं। सच तो यह है कि नियमों की अनेकता और सिद्धांतों की एकता, बोधवृत्ति को स्वतः अपने में ही पूर्णतया समन्वित करने के निमित्त, बुद्धि की ही माँग है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि बोधवृत्ति प्रत्यक्षानुभवों की बहुविधता को संबोधों के अधीन कर देती है और इस प्रकार बहुविधता को सुसंबद्ध बना डालती है। पर इस प्रकार का सिद्धान्त विषयों के लिये कोई नियम नियत नहीं करता, तथा विषयों को स्वरूपतः जानने अथवा निर्धारित करने की संभावना के सामान्य आधारभूत हेतु को भी अपने में अन्तर्विष्ट नहीं रखता है, प्रत्युत यह तो केवल हमारी बोधवृत्ति के वस्तुभण्डार के संबोधों की तुलना के द्वारा उनको यथासंभव घटा कर अल्पतम संख्या में परिणत करके गृह का सुप्रबंध करने के लिये एक विषयिगत नियममात्र है; परन्तु इसके आधार पर स्वयं विषयों से ऐसे ऐकमत्य की माँग नहीं की जा सकती जो बोधवृत्ति की सुखसुविधा और क्षेत्रविस्तार के लिये सहायक हो, और उस सूत्र के लिये किसी वैषयिक प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया जा सके। एक शब्द में प्रश्न यह है कि क्या बुद्धि अपने आप में ही स्वरूपतः—अर्थात् क्या शुद्ध बुद्धि, प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक सिद्धान्तों और नियमों को धारण किये होती है, और यदि ऐसा है, तो यह सिद्धान्त क्या हैं ?

अनुमान संवाक्य में बुद्धि की औपचारिक और यौक्तिक प्रक्रिया हमको उस आधारभूत हेतु के संबंध में पर्याप्त नेतृत्व (=पथप्रदर्शन) प्रदान करती है जिसके ऊपर शुद्ध बुद्धि का अनुभवातीत सिद्धान्त (=तत्व) अपने सांश्लेषिक ज्ञान में आश्रित होगा।

प्रथम तो अनुमान-संवाक्य में बुद्धि प्रत्यक्षानुभवों के साथ, उनको नियमों के अधिकार क्षेत्र के भीतर लाने के लिये (जैसे कि बोधवृत्ति अपने संबोधों से वास्ता रखती है) कोई वास्ता नहीं रखती प्रत्युत संबोधों और विभावनाओं से वास्ता रखती है। इसलिये यदि शुद्ध बुद्धि विषयों से कोई वास्ता रखती भी है तो भी यह उनके और प्रत्यक्षानुभवों के साथ कोई अव्यवहित संबंध नहीं रखती, प्रत्युत केवल बोधवृत्ति और उसकी विभावनाओं के साथ वास्ता रखती है, जो अपने को इन्द्रियों और उनके प्रत्यक्षानुभवों के साथ उनके विषयों को निर्धारित करने के लिये व्यापृत किया करती हैं। अतएव बुद्धि की एकता किसी संभाव्य अनुभव की एकता नहीं है, प्रत्युत इस एकता से, जो कि बोधवृत्ति की एकता है, सारतः भिन्न है। 'प्रत्येक बात जो घटित होती है, उसका कोई कारण होता है'—यह सिद्धान्त बुद्धि के द्वारा जाना और नियत किया हुआ सिद्धान्त नहीं है। यह सिद्धान्त अनुभव की एकता को संभव बनाता है, और बुद्धि से कुछ भी उधार नहीं लेता, बुद्धि संभाव्य अनुभव के साथ इस संबंध के अतिरिक्त

केवल संबोधों भर से इस प्रकार की कोई सांश्लेषिक एकता आदिष्ट नहीं कर सकती थी।

दूसरी बात यह है कि बुद्धि अपने तार्किक विनियोग में अपनी विभावना (निष्कर्ष) की सर्वव्यापी शर्त को खोज निकालने का प्रयत्न करती है, और अनुमान-संवाक्य स्वयं एक ऐसी विभावना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जो उसकी शर्त को सर्वव्यापी नियम (व्याप्त्यवयव = मेजरप्रीमिस्) के भीतर उपगृहीत करने से निष्पन्न होती है। अब, क्योंकि यह नियम स्वयमेव पुनः बुद्धि के उसी प्रयोग का विषय बनता है, और इसलिये (पूर्वानुमान संवाक्य = प्रोसिल्लोजिज़्म के द्वारा) जब तक संभव हो शर्त की भी शर्त की खोज की जानी चाहिये, अतएव यह सुस्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि (यौक्तिक विनियोग में) बुद्धि सामान्य का विशिष्ट आधारभूत सिद्धान्त है, बोधवृत्ति के अवस्थित ज्ञान के लिये उस अनवस्थित को खोज निकालना जिसके द्वारा उसकी एकता पूर्णता को प्राप्त हो सके।

परन्तु यह यौक्तिक सूत्र यह माने बिना अन्य किसी प्रकार से शुद्ध बुद्धि का सिद्धान्त नहीं बन सकता, कि यदि अवस्थित दिया हुआ हो तो उसके साथ ही साथ अवस्थाओं की एक समग्र शृंखला भी, जिसमें अवस्थाएँ या शर्तें यथाक्रम एक दूसरे के अधीन व्यवस्थित हैं, और इसलिये जो स्वयं अनवस्थित है, दी हुई होगी, अर्थात् विषय और उसके संबंध में अन्तर्विष्ट होगी।

किन्तु शुद्ध बुद्धि का इस प्रकार का सिद्धान्त स्पष्टतया ही सांश्लेषिक है, क्योंकि स्थित निश्चय ही वैश्लेषिकतया कुछ शर्तों के साथ तो संबद्ध होता है; परन्तु अनवस्थित के साथ नहीं होता। इस सिद्धान्त से कई एक अन्य सांश्लेषिक प्रस्थापनाएँ भी उत्पन्न होंगी (अथवा उत्पन्न होनी चाहिये, जिनके विषय में शुद्ध बोधवृत्ति—क्योंकि इसका वास्ता किसी संभाव्य अनुभव के विषयों के साथ होता है, जिनके ज्ञान और संश्लेषण सर्वदा अवस्थित होते हैं)—कुछ नहीं जानती। यदि अनवस्थित तत्व की स्थिति को वास्तव में मान लिया जाए, तो उसका विचार उन सब निर्धारणों के संबंध में विशेष प्रकार से करना पड़ता है जो इसको प्रत्येक अवस्थित सत्ता से पृथक् करते हैं, और इस प्रकार वे अवश्यमेव अनेक प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाओं के लिये सामग्री प्रदान करेंगे।

परन्तु इस शुद्ध बुद्धि के सर्वोच्च सिद्धान्त से उत्पन्न होने वाले आधारभूत सिद्धान्त समस्त अवभासों के संबंध में पारगत सिद्धान्त होंगे, अर्थात् इस प्रकार के सिद्धान्त का समुचित अनुभवगत विनियोग कदापि नहीं हो सकता। अतएव यह बोधवृत्ति के (उन) सब आधारमूत सिद्धान्तों से पूर्णतया भिन्न होगा (जिनका विनियोग पूर्णतया अन्तर्व्यापी होगा, क्योंकि वे केवल अनुभव की संभावना को अपने प्रकृत-विषय

के रूप में रखते हैं)। वह जो आधारभूत सिद्धान्त है कि शर्तों का प्रतिबन्धों की मालिका (चाहे तो अवभासों के संश्लेषण में, अथवा चाहे वस्तु सामान्यों के विषय में विचार करने में हो) अनवस्थित तक पहुँचती है, यह वैषयिक औचित्य से समन्वित है अथवा नहीं ? बोधवृत्ति के आनुभविक विनियोग के संबंध में इस सिद्धान्त के अनुमान क्या निकलते हैं ? अथवा क्या कोई ऐसा वैषयिकतया प्रामाणिक बौद्धिक सिद्धान्त है ही नहीं, प्रत्युत केवल निरंतर उच्च से उच्चतर प्रतिबन्धों की ओर आरोहरण के-द्वारा पूर्णता की ओर अग्रसर होने और उसके द्वारा हमारे ज्ञान में यथासंभव अधिक-तम बौद्धिक एकता को लाने के लिये एक यौक्तिक उपदेशमात्र है ? अथवा, मैं कहता हूँ कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि मिथ्याबोध के कारण बुद्धि की यह अपेक्षा (या आव-श्यकता) शुद्ध बुद्धि का अनुभवातीत सिद्धान्त मानी जाकर विवेचित हो गई है, और कहीं स्वयं विषयों में शर्तों की शृंखला की इस प्रकार की असीम परिपूर्णता को आधार-भूत तत्व के रूप में स्थापित करने में हमने अत्यधिक शीघ्रता तो नहीं की है ? ऐसी अवस्था में और भी कौन कौन से अन्य मिथ्याबोध और व्यामोह उस अनुमान-संवाक्यों में छिपकर घुस बैठे होंगे, जिसका व्यास्यवयव (जो आधारतत्व की अपेक्षा स्यात् उपग्रहण अधिक है) शुद्ध बुद्धि से ग्रहण किया गया है, तया जो अनुभव से चल कर उसकी शर्तों की ओर आरोहरण करते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देना ही अनुभवातीत आन्वीक्षिकी में हमारा कार्य होगा, इस आन्वीक्षिकी को मानवीय बुद्धि में गहरे छिपे स्थल में निहित उद्गमों से हम विकसित करने का उद्योग करेंगे। हम इसको दो विशाल खण्डों में विभक्त करेंगे जिनमें से प्रथम में शुद्ध बुद्धि के पारगामी संबोधों का विवेचन होगा, तथा दूसरे में स्वयं उसके पारगामी आन्वीक्ष्यात्मक अनुमान-संवाक्यों का।

लोकातीत आन्वीक्षिकी

प्रथम पुस्तक

शुद्ध बुद्धि के संबोध

शुद्ध बुद्धि से व्युत्पादित संबोधों की संभावना के संबंध में चाहे किसी भी प्रकार की परिस्थिति क्यों न हो, परन्तु इतना निश्चित है कि वे केवल चिन्तन से उपलब्ध होने वाले नहीं, प्रत्युत अनुमान से प्राप्त होने वाले संबोध हैं। बोधवृत्ति के संबोध भी प्रागनुभवात्मकतया अनुभव से पूर्व ही एवं अनुभव के निमित्त विचारित हुआ करते हैं; परन्तु उनमें अवभासों के संबंध में, जहाँ तक कि यह अवभास अनिवार्यतया किसी संभाव्य अनुभवात्मक चेतना से संबंध रखते हैं, चिन्तन की एकता के अतिरिक्त और कुछ भी अन्तर्विष्ट नहीं होता। केवल उन्हीं के द्वारा किसी विषय का ज्ञान और निर्धारण होना संभव है। अतएव वे ही पहले पहल अनुमान के लिये सामग्री प्रदान करते हैं, और विषयों के कोई भी प्रागनुभवात्मक संबोध उनके पूर्वगामी नहीं होते, जिनसे उनको अनुमित किया जा सकता हो। इसके विपरीत उनकी विषयगत यथार्थता केवल इस बात पर आधारित है कि क्योंकि वे समस्त अनुभव के बौद्धिक आकार के संघटक हैं, अतएव अनुभव में उनके व्यापार को प्रदर्शित करना सर्वदा ही संभव होना चाहिये।

किन्तु, "बौद्धिक संबोध" यह नाम ही इस बात की प्रारंभिक सूचना है कि वह अपने को अनुभव की सीमा के भीतर सीमित रखना नहीं चाहेगा, क्योंकि उसका ऐसे ज्ञान से संबंध है, जिस ज्ञान का कोई भी आनुभविक ज्ञान (स्यात् समस्त संभाव्य ज्ञान भी, अथवा उसका आनुभविक संश्लेषण) एक खंडमात्र होता है, तथा जिस तक, कोई भी वास्तविक अनुभव, (यद्यपि संबद्ध उसी के साथ है), पूर्णतया कभी भी पहुँचने में समर्थ नहीं हुआ है। बुद्धि के संबोध प्रत्यक्षों के अवधारण में काम आते हैं जैसे कि बोधवृत्ति के संबोध उनको समझने में काम देते हैं। जब बुद्धि के संबोध अनवस्थित को अन्तर्विष्ट करते हैं, तो वे किसी ऐसी वस्तु से वास्ता रखते हैं, समस्त अनुभव जिसके अधीन होता है, परन्तु जो स्वयं कभी अनुभव का विषय नहीं होता;—जिस वस्तु की ओर बुद्धि अनुभव से निष्पादित अपने अनुमानों में से (हमको) ले जाती है, और जिसके अनुसार वह अपने आनुभविक विनियोग की मात्रा का मूल्यांकन और माप

करती है, परन्तु जो स्वयं कदापि भी आनुभविक संश्लेषण का घटकांग नहीं होती। परन्तु तो भी यदि इस प्रकार के संबोध विषयगत प्रामाणिकता से युक्त हों, तो वे 'सम्यक् प्रकार से अनुमित संबोध' कहला सकते हैं; परन्तु जहाँ वह ऐसे नहीं हैं, जहाँ वे कम से कम चोरी छिपे के दिखावे के अनुमान के द्वारा प्राप्त किये गये हैं, वे 'वितथ-बौद्धिक संबोध' कहे जा सकते हैं। परन्तु क्योंकि यह बात तो शुद्ध बुद्धि के आन्वीक्षिक्यात्मक अनुमानों के अध्याय में ही सब से पहले स्थापित की जा सकती है, अतएव यहाँ हम इसका विचार नहीं कर सकते; प्रत्युत यहाँ प्रारंभिकतया, जैसे कि हमने शुद्ध बोध-वृत्ति के संबोधों को बौद्धिक प्रकार का नाम दिया था, शुद्ध बुद्धि के संबोधों को एक नया नाम प्रदान करेंगे और उनको अनुभवातीत (या लोकातीत) भाव (अथवा विचार) कहेंगे, पर अब हम इस नामकरण की व्याख्या और इसके औचित्य का प्रतिपादन करेंगे।

लोकातीत आन्वीक्षिकी की प्रथम पुस्तक

प्रथम खण्ड

विचार सामान्य का विवरण

हमारी भाषाओं की महती समृद्धि के होते हुए भी, विचारवान् मस्तिष्क प्रायः अपने को ऐसे अभिव्यञ्जक शब्दों के संबंध में, जो उसके संबोधों के लिये समुपयुक्त हों, बड़ी कठिनाई में फँसा हुआ पाता है, और उनके अभाव के कारण वह अपने को न तो दूसरों के प्रति बोधगम्य बना सकता है और न अपने प्रति। नवीन शब्दों को गढ़ना, भाषा के क्षेत्र में कानून बनाने के अधिकार का दावा करना है जो विरले ही सफल होता है, और इसी लिये ऐसे दुःसाहसपूर्ण उपाय को आज़माने के पहले, पुरातन और वैदुष्यपूर्ण भाषा में यह खोज करके देख लेना उचित होगा कि कहीं उसमें संबोध और उसके लिये समुपयुक्त अभिव्यञ्जक शब्द पहले से ही तो विद्यमान नहीं हैं; और यदि किसी शब्द का पुरातन उपयोग उसके प्रवर्त्तकों की असावधानी के कारण कुछ अनिश्चित भी हो चुका हो तो (चाहे यह भले ही सन्दिग्ध हो कि यह शब्द प्राचीन काल में ठीक इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ था) अपने को दुर्बोध बना डाल कर, अपने उद्देश्य को ही केवल उसके द्वारा नष्ट कर देने की अपेक्षा यह फिर भी कहीं अधिक अच्छा है कि उस शब्द के विशिष्टतया निजी अर्थ का अनुसरण किया जाए।

इस कारण, यदि किसी निश्चित संबोध के लिये केवल एक अकेला ऐसा शब्द मिलता हो जो पहले से ही स्वीकृत अर्थ में उस संबोध के लिये पर्याप्तरूपेण उपयुक्त हो, तो क्योंकि, इस संबोध को अन्य संबोधों से स्पष्टतया पृथक् रखना अत्यन्त महत्त्व-

पूर्ण है, यह उपदेष्टव्य बात है कि उस शब्द का अपव्यय न किया जाए अथवा उसका उपयोग विविधता के ही लिये (या) दूसरे शब्द के स्थान पर उसके पर्यायवाची के रूप में न किया जाए,प्रत्युत उसके अपने निजी विशिष्ट अर्थ को सावधानी से सुरक्षित रहने दिया जाए; क्योंकि, नहीं तो ऐसा हो जाना अत्यन्त आसान है कि उस शब्द के एक विशिष्ट अर्थ में ध्यान को आकृष्ट करना बन्द कर देने और अत्यन्त विभिन्न अर्थ वाले अन्य शब्दों के ढेर में खो जाने के पश्चात् वह विचार भी खो जाया करता है जिसको केवल वही शब्द सुरक्षित रख सकता था।

प्लातौन् ने इडे शब्द का प्रयोग इस प्रकार से किया है कि उससे भले प्रकार प्रतीत होता है कि उसके लिये इस शब्द का अर्थ कुछ ऐसा था जो न केवल कभी भी इन्द्रियों से उधार लिया हुआ नहीं था प्रत्युत जो बोधवृत्ति के उन संबोधों से भी अत्यन्त दूरातिशायी था, (जिनके साथ अरिस्तू ने अपने को व्यापृत किया था) क्योंकि अनुभव में उससे मेल खाने वाली बात कदापि भी उपलब्ध नहीं होती है। उसके लिये इडेन् स्वयं वस्तुओं के आद्यचित्र हैं, न कि बौद्धिक प्रकारों के समान, संभाव्य अनुभव की कुंजियाँ। उसके मतानुसार वे सर्वोच्च बुद्धि के स्रोत से प्रवाहित हुए हैं, और उस उद्गम से वे मानव बुद्धि का भागधेय बने हैं, पर जो मानव बुद्धि अब अपनी आदिम अवस्था में नहीं मिलती, प्रत्युत जिसको बड़े परिश्रम के साथ, स्मृति के द्वारा (जो दर्शनशास्त्र कहलाती है) उन अब अत्यन्त अस्पष्ट इडेन् को पुनः स्मरण द्वारा उपलब्ध करना पड़ता है। मैं यहाँ उस अर्थ का निर्णय करने के लिये (जिसको इस सम्मान्य दार्शनिक ने इस शब्द के आबद्ध किया था) किसी साहित्यिक अनुसंधान में नहीं पड़ना चाहता। मैं केवल इतना ही कहूँगा कि यह कोई असामान्य (या अनहोनी) घटना नहीं है कि सामान्य वार्त्तालाप में भी और लिखित रचनाओं में भी, उन विचारों की, जिन्हें किसी ग्रन्थकार ने अपने विषय के संबंध में प्रकट किया है, तुलना के द्वारा हम उस लेखक को उससे भी अधिक अच्छे प्रकार से समझ पाते हैं जैसा कि उसने स्वयं अपने को समझा है, क्योंकि उसने अपने संबोधों को पर्याप्तरूपेण सुनिर्धारित नहीं किया है अतएव कभी कभी अपने आशय के विरुद्ध कथन एवं विचार तक भी किया है।

प्लातौन् इस बात को भली भाँति जानता था कि हमारी ज्ञानशक्ति केवल अवभासों के (उनको अनुभव के रूप में पढ़ सकने के लिये) सांश्लेषिक एकता के अनुसार हिज्जे करने की अपेक्षा कहीं उच्चतर आवश्यकता का अनुभव करती है, और (वह यह भी जानता था) कि हमारी बुद्धि स्वाभाविकतया अपने को उड़ान भर कर ऐसे ज्ञानों तक पहुँचा देती है, जो अनुभव से बहुत परे की वस्तुएँ हैं एवं ऐसा कोई विषय जिसको अनुभव प्रदान कर सकता है, उन (ज्ञानों) के समनुरूप नहीं हो सकता, परन्तु

फिर भी जो अपनी वास्तविकता रखते हैं और किसी प्रकार केवल मस्तिष्क की रचना-मात्र नहीं हैं।

प्लातौन् ने अपने इडेन् को मुख्यतया जो व्यावहारिक है[कां] उस सब में पाया अर्थात् उसमें पाया जो स्वाधीनता पर आश्रित हैं तथा जो (स्वाधीनता) स्वतः उन ज्ञानों पर आश्रित है जो बुद्धि के अपने विशिष्ट उत्पादन हैं। जो सदाचार के संबोध को अनुभव से व्युत्पादित करना चाहेगा, और जो उसको जो कि अधिक से अधिक अपूर्ण प्रकार की व्याख्या के लिये उदाहरणमात्र दे सकता है उसको ज्ञान के उद्गम का आदर्श मानदण्ड बनाना चाहेगा, जैसा कि बहुतों ने वास्तव में किया है, वह तो सदाचार को काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहने वाली ऐसी द्वयर्थक असंभव विसंगति बना देगा जिससे किन्हीं नियमों का निर्माण संभव नहीं होगा। इसके विपरीत, जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति देख सकेगा कि यदि कोई व्यक्ति हमारे समक्ष सदाचार के आदर्श उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाएगा तो वह सच्चा मौलिक आदर्श जिसके साथ हम इस तथाकथित आदर्श की तुलना करेंगे तथा केवल जिससे हम उसका मूल्यांकन करेंगे वह मात्र हमारे अपने मस्तिष्क में ही मिलेगा। यही मौलिक (आद्य आदर्श) सदाचार का इडे (आइडिया) है, जिसके संबंध में समस्त संभाव्य अनुभव के विषय निश्चय ही उदाहरण का काम दे सकते हैं (जो इस बात का प्रमाण है कि बुद्धि का संबोध जो माँग करता है वह एक निश्चित मात्रा तक व्यावहारिक बात है), परन्तु आद्यचित्र का काम नहीं दे सकते। सदाचार के शुद्ध भाव में जो तत्व अन्तर्विष्ट है उसके लिये उपयुक्त प्रकार से कोई भी मनुष्य कभी कार्य नहीं करेगा यह युक्ति इस बात को बिलकुल भी सिद्ध नहीं करती कि इस विचार में कुछ मिथ्या कल्पना निहित है। क्योंकि सदाचार संबंधी सारवत्ता और निःसारता के विषय जो विभावना संभव है वह इसी भाव के द्वारा संभव हैं; अतएव सदाचार संबंधी पूर्णता के समीप पहुँचने की प्रत्येक चेष्टा के लिये यह अनिवार्य बुनियाद का काम देता है, फिर चाहे मानव स्वभाव की वे बाधायें,

---

कां. उसने वास्तव में अपने संबोध को परिकल्पित ज्ञान की परिधि तक विस्तृत कर दिया, बशर्ते कि वह शुद्ध ज्ञान हो एवं पूर्णता प्रागनुभवात्मकतया प्रदत्त हो; इसके अतिरिक्त उसने गणित को भी उसी के पेट में ले लिया, यद्यपि इस विज्ञान का विषय संभाव्य अनुभव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता; इस संबंध में मैं उसके विचार का अनुसरण नहीं कर सका, इसी के समान उसके इन भावों के रहस्यात्मक निगमन अथवा उन अतिरञ्जनाओं को ही समझ सका जिसके द्वारा उसने उनको मानों स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान कर दिया, यद्यपि, जैसा स्वीकार किया जाना चाहिये, जिस उदात्त भाषा का उसने इस क्षेत्र उपयोग किया है, एक ऐसी मृदुल व्याख्या के लिये भी उपयुक्त है जो वस्तुओं के स्वरूप से मेल खाती है।

जिनकी मात्रा के लिये कोई निर्धार्य सीमा नहीं है, इस पूर्णता को प्राप्त करने से कितनी ही दूर क्यों न रोके रहें।

प्लातौन् का प्रजातंत्र राज्य तो एक कल्पित विस्मयकारक स्वप्निल परिपूर्णता के उदाहरण स्वरूप, जिसका स्थान निठल्ले विचारक के मस्तिष्क में ही हो सकता है, लोकोक्ति सा बन गया है; और ब्रुकर ने, प्लातौन के इस दावे की कि कोई शासक यदि वह भावों या विचारों में कोई भाग नहीं रखता, कभी भले प्रकार शासन नहीं कर सकता, हँसी उड़ाई है। इस विचार को अव्यावहारिकता के विषादपूर्ण एवं हानिकारक बहाने के कारण अकिञ्चित्कर मान कर त्याग देने की अपेक्षा अधिक अच्छा यह होगा कि हम इसका अधिक अनुसंधान करें, और (जहाँ उस श्रेष्ठ पुरुष ने हमको असहाय छोड़ दिया है) हम इसको नवीन उद्योग से प्रकाश में स्थापित करें। एक ऐसी व्यवस्था जो ऐसे नियमों के अनुसार अधिकतम मानव स्वाधीनता की व्यवस्था है, जिनके द्वारा प्रत्येक की स्वाधीनता अन्य सब की स्वाधीनता के साथ सम्यक् भाव से समन्वित घटित की जाती है (अधिकतम सुख की नहीं, क्योंकि वह तो स्वयं पहले ही इसका अनुसरण करेगी), कम से कम एक अनिवार्य भाव है, जो कि न केवल किसी व्यवस्था के आरंभिक प्रारूप में आधारभूत तत्व के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिये प्रत्युत सभी नियमों की भी बुनियाद के रूप ग्रहण किया जाना चाहिये, तथा जिस संबंध में आरंभ से ही विद्यमान उन बाधाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाना चाहिये जो स्यात् उतनी मानव स्वभाव से अनिवार्यतया उत्पन्न नहीं होती हैं जितनी अधिक नियम निर्माण के कार्य में शुद्ध भावों के प्रति उपेक्षा बरतने से उत्पन्न होती हैं। क्योंकि, तथाकथित प्रतिकूल अनुभव के नाम पर जनसाधारण की दुहाई देने की अपेक्षा अधिक हानिकारक और किसी दार्शनिक के लिये अशोभन कुछ भी नहीं हो सकता, सच तो यह है कि यदि उचित समय पर भावों (या विचारों) के अनुसार उन संस्थाओं को स्थापित कर दिया गया होता, और यदि सद्भाव (या विचार) उन कच्चे संबोधों के द्वारा विस्थापित न कर दिये गये होते, जिन्होंने, इस कारण कि वे अनुभव से व्युत्पादित हुए हैं, समस्त नेक इरादों को नष्टभ्रष्ट कर दिया है, तो ऐसे अनुभव की सत्ता ही नहीं होती। नियम निर्माण और शासनकार्य जितने ही अधिक उपर्युक्त भाव या विचार के साथ सामञ्जस्य को प्राप्त होते जाएँगे, दण्ड उतना ही विरल होता जाएगा, और इसलिये यह दावा करना (जैसा कि प्लातौन् ने किया है) बिलकुल बुद्धिसंगत है कि परिपूर्णता को प्राप्त शासन व्यवस्था में दण्ड जैसी कोई वस्तु आवश्यक नहीं होगी। अब यद्यपि परिपूर्ण शासन व्यवस्था कभी भी अस्तित्व को चाहे प्राप्त न हो सके, तो भी वह विचार जो, मानव की नियम बनाने वाली संघटनाओं को अधिकतम संभाव्यपूर्णता के निकट

से निकटतर लाने के लिये, इस सूत्र को आदर्शचित्र के रूप में प्रस्तुत करता है, बिलकुल सही विचार है। क्योंकि, वह कौन सी सब से ऊँची कोटि हो सकती है जिसपर मानव जाति को ठहर जाना पड़ेगा (या ठहर जाना चाहिये), और इसी प्रकार वह खाई कितनी बड़ी होगी जो किसी आदर्श विचार और उसकी कार्यान्विति के बीच में फिर भी रहनी ही चाहिये, यह ऐसे प्रश्न हैं कि जिनका निर्धारण न कोई कर सकता है और न किसी को करना ही चाहिये, और इसका हेतु यह है कि यह प्रसंग स्वाधीनता का है और वह स्वाधीनता ही है, जो प्रत्येक निर्दिष्ट सीमा (या मर्यादा) को पार कर सकती है।

परन्तु प्लातौन् (जो इस प्रकार की दृष्टि रखता है) केवल वहीं नहीं है जहाँ मानवीय बुद्धि सच्ची कारणता को प्रदर्शित करती है, एवं जहाँ विचार (कर्मों और विषयों के) सक्रिय कारण होते हैं, अर्थात् ऐसा केवल सदाचार के क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत स्वयं प्रकृति के प्रसंग में भी (= संबंध में भी) यही बात है कि प्लातौन् विचारों से ही मूलोत्पत्ति की स्पष्ट उपपत्ति को ठीक प्रकार देख (पा)ता है। कोई भी पौदा, कोई भी प्राणी, सृष्टि की क्रमपूर्ण व्यवस्था (और इसी लिये संभवतया समस्त प्राकृतिक व्यवस्था) स्पष्टतया यह प्रदर्शित करते हैं कि वे सब विचार के अनुसार ही संभव हैं; और यद्यपि कोई भी एक अकेला सृष्ट भूत, अपने व्यक्तिगत अस्तित्व के प्रतिबन्धों में, अपनी जाति के पूर्णतम (तत्व) के भाव के साथ समनुरूप नहीं होता (अर्थात् उतना ही थोड़ा उसके समान होता है जितना कि कोई मनुष्य मानवता के आदर्श के समान, फिर भी जिस आदर्श को वह अपने कार्यों के आदर्शचित्र के रूप में अपनी आत्मा में वहन करता है) फिर भी यह भाव चरम बोधवृत्ति में एक एक व्यक्तिशः और अपरिवर्त्तनीयतया, पूर्णरूपेण निर्धारित हो जाते हैं, और यही वस्तुओं के मौलिक कारण हैं, तथापि यावन्मात्र वस्तुएँ, विश्व के रूप में परस्पर संबद्ध होने पर ही—अनन्य अकेले रूप में—भाव के लिये पूर्णतया पर्याप्त हो सकती हैं। यदि प्लातौन् की अभिव्यञ्जना शैली से अतिरञ्जना को अलग कर दिया जाए, तो इस दार्शनिक की, भौतिकी विश्व-व्यवस्था पर अनुकृत्यात्मक चिन्तन से हट कर, उद्देश्यानुसार उसकी वास्तु-रचना कौशलपूर्ण सुव्यवस्था करने, अर्थात् भावों के अनुसार व्यवस्था करने के लिये आध्यात्मिक शक्ति आरोहण एक ऐसा साहसपूर्ण उद्यम है जो समादर और अनुकरण के योग्य है। परन्तु जिस प्रसंग में उसकी शिक्षा अपनी नितान्त विशिष्टता प्रदर्शित करती है उसका संबंध सदाचार, विधान-निर्माण और धर्म के सिद्धान्तों से है, जहाँ कि भाव ही स्वयं अनुभव को (प्रस्तुत प्रसंग में हित या कल्याण के अनुभव को) सबसे प्रथम संभव बनाते हैं, यद्यपि अनुभव में उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति कदापि नहीं हो सकती।

पर इस विशिष्टता को जो मान्यता प्राप्त नहीं हुई उसका कारण यह है कि इसका परीक्षण (या विभावन) उन्हीं अनुभवाश्रित नियमों के द्वारा किया जाता है, सिद्धान्त के रूप में जिनकी प्रामाणिकता को स्वयं इसने ही विनष्ट कर दिया है। क्योंकि प्रकृति के प्रसंग में तो अनुभव ही हमको नियम हस्तगत कराता है और सत्य का उद्गम होता है; परन्तु सदाचार के नियमों के संबंध में (खेद की बात है) अनुभव भ्रान्तियों की जननी है; और यह बात तो अत्यन्त गर्हणीय है कि जो मुझे करना चाहिये उसके संबंध के नियमों को जो किया जाता है, उससे व्युत्पादित किया जाए अथवा उसके द्वारा सीमित किया जाए।

इन सब विचारों के स्थान पर, जिनका समुचित अनुसंधान वास्तव में दर्शनशास्त्र को उसकी विलक्षण गरिमा प्रदान करता है, हमको इस समय अपने को एक ऐसे कार्य में लगाना है जो इतना कान्तिमान तो नहीं है किन्तु जो किसी प्रकार भी कम उपयोगी नहीं है, अर्थात् उस धरती को सदाचार संबंधी भव्य-भवन के निर्माण के लिये समतल और पर्याप्त रूपेण सुरक्षित बना देना है जो इस समय उन सब व्यर्थ धरातलान्तर्गत प्रक्रियाओं से छलनी के समान खोखली हो चुकी है जिनको बुद्धि ने छिपे हुए कोश को पाने के लिए विश्वासपूर्वक किन्तु व्यर्थ ही अनुष्ठित किया था, तथा जिन्होंने भवन-निर्माण कार्य को असुरक्षित बना दिया है। हमारा वर्तमान कर्त्तव्य शुद्ध बुद्धि के लोकातीत विनियोग, उसके सिद्धान्तों और भावों का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करना है जिससे कि उसके प्रभाव और मूल्य का उचित निर्धारण और अंदाज किया जा सके। तथापि इस प्रारंभिक विषय-प्रवेश को छोड़ने के पूर्व, जो लोग दर्शन-शास्त्र से हार्दिक स्नेह करते हैं (जो जितना सामान्यतया उपलब्ध होता है उससे अधिक कहा जाता है), उनसे मैं प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे इन उपर्युक्त और आगे आने वाले विचारों से आश्वस्त हुआ अनुभव करें तो वे इस शब्द इडे (विचार) को उसके मौलिक अर्थ में अपनी रक्षा में ले लें, जिससे कहीं यह भी उन्हीं शब्दों में न खो जाए जो सामान्य रूपेण सभी और किसी भी प्रकार की प्रत्युपस्थापनाओं को असावधानी के साथ सूचित करते हैं एवं जिससे विज्ञान को बड़ी हानि पहुँचती है। प्रत्येक प्रकार की प्रत्युपस्थापना को सम्यक् प्रकार से सूचित करने के लिये नामों की कोई कमी नहीं है कि जिस कारण इस प्रकार किसी दूसरे शब्द के क्षेत्र पर आक्रमण किये बिना काम न चल सकता हो। उनकी क्रमिक शृंखलाबद्ध व्यवस्था इस प्रकार है। जाति या प्रजाति सामान्य प्रत्युपस्थापना है। इससे निचले स्थान पर है चेतना सहित प्रत्युपस्थापना। वह प्रत्यक्ष जिसका संबंध विषयीमात्र के साथ उसकी अवस्था के विकार के रूप में होता है उसको संवेदन कहते हैं, और वैषयिक प्रत्यक्ष ज्ञान है।

यह या तो प्रत्यक्षानुभव होता है अथवा संबोध । इनमें से प्रथम अपरोक्षतया विषय से संवद्ध होता है और व्यष्टि-रूप होता है, दूसरा उससे किसी चिन्ह के द्वारा परीक्षतया संबद्ध होता है, जो बहुत सी वस्तुओं में सामान्यरूपेण उपलब्ध हो सकता है। संबोध भी या तो अनुभवाश्रित होता है अथवा शुद्ध, और शुद्ध संबोध भी, जहाँ तक उसका उद्गम बोधवृत्ति में (इन्द्रियसंवेद्यता के शुद्ध बिंब में नहीं) होता है, नोटियो (-भावमात्र) कहलाता है। भावमात्रों से निर्मित संबोध, जो कि अनुभव की संभावना का अतिक्रमण करता है इडे अथवा बुद्धि का संबोध होता है। जिस किसी ने अपने को इन भेदों से परिचित बना लिया है, उसके लिये लाल रंग की प्रत्युपस्थापना को भाव नाम से अभिहित हुआ सुनना असह्य होगा। इसको तो बोधवृत्ति का संबोध या भावमात्र भी नहीं कहा जाना चाहिये।

अनुभवातीत आन्वीक्षिकी की प्रथम पुस्तक

द्वितीय खण्ड

अनुभवातीत भाव

अनुभवातीत वैश्लेषिकी ने हमें बताया कि हमारे ज्ञान का यौक्तिक आकार-मात्र किस प्रकार अपने अन्दर (उन) मौलिक शुद्ध प्रागनुभवात्मक संबोधों को अन्तर्विष्ट रख सकता है, जो समग्र अनुभव के पूर्व ही विषयों को प्रत्युपस्थापित करते हैं अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जो उस सांश्लेषिक एकता को सूचित करते हैं केवलमात्र जो विषयों के अनुभवात्मक ज्ञान को संभवपर बनाती है। विभावना के आकार ने (प्रत्यक्षानुभवों के संश्लेषण के संबोध में रूपान्तरित किये जाने पर) बौद्धिक प्रकारों को उत्पन्न किया जो अनुभव में बोधवृत्ति के समस्त विनियोग का संचालन करती हैं। इसी प्रकार हम यह आशा कर सकते हैं कि अनुमान-संवाक्य का आकार, यदि उसको बौद्धिक प्रकारों के निर्देशन के अनुसार, प्रत्यक्षानुभवों की सांश्लेषिक एकता के प्रति प्रयुक्त किया जाए, तो वह विशिष्ट प्रागनुभवात्मक संबोधों के मूलोद्गम को अपने में धारण करेगा जिनको हम बुद्धि-संबोध अथवा अनुभवातीत भाव कह सकते हैं, तथा जो सिद्धान्तों के अनुसार इस बात का निर्धारण करेंगे कि समूचे राशिभूत अनुभव के प्रति बोधवृत्ति का विनियोग किस प्रकार किया जाए।

अपने अनुमानों में बुद्धि का कार्य ज्ञान की उस सर्वव्यापकता से संघटित होता है जिसको यह संबोधों के अनुसार उत्पन्न करता है तथा अनुमान-संवाक्य स्वयं एक ऐसी विभावना है जो अपनी शर्तों के समग्र आयाम में 'प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित होती है। "काइयुस् मरणधर्मा है" इस प्रस्थापना को, अनुभव से, केवल बोधवृत्ति के द्वारा, वास्तव में व्युत्पादित किया जा सकता है। परन्तु मैं एक ऐसे संबोध की खोज करता हूँ जो उस शर्त को अन्तर्विष्ट रखता है जिसके अधीन इस विभावना का विधेय (जो कथन किया जाए उसके लिये सामान्य कथन) दिया हुआ हो (जो प्रस्तुत प्रसंग में मनुष्य का संबोध है) और पूर्ण आयाम में गृहीत इस शर्त (सब मनुष्य मरणधर्मा हैं) के अधीन विधेय का उग्रहरण कर लेने के पश्चात् उसके अनु-

सार मैं अपने विषय के ज्ञान को निर्धारित करता हूँ (कि काइयुस् मरणधर्मा है)।

इसके अनुसार हम अनुमान-संवाक्य के निष्कर्ष में विधेय को (पहले मुख्य कथन या व्याप्ति में उसको किसी दी हुई शर्त के अधीन उसके पूर्ण आयाम में विचार कर चुकने के उपरान्त) एक विशिष्ट विषय तक परिमित कर देते हैं। इस प्रकार की शर्त के साथ आयाम की यह पूर्ण मात्रा सर्वव्यापिता कहलाती है। प्रत्यक्षानुभवों के संश्लेषण में इसके समनुरूप प्रतिबन्धों का सामग्र्य या साकल्य है। अतएव बुद्धि का अनुभवातीत संबोध, किसी दी हुई अवस्थित सत्ता के लिये शर्तों के साकल्य के अतिरिक्त अन्य और कुछ भी नहीं है। अब क्योंकि केवलमात्र अनवस्थित ही शर्तों के साकल्य को संभव बनाता है, और इसके प्रतिकूल दूसरी ओर प्रतिबन्धों का साकल्य स्वयं सर्वदा अनवस्थित होता है, अतएव सामान्यरूपेण बुद्धि के शुद्ध संबोध की व्याख्या अनवस्थित के संबोध के द्वारा (जहाँ तक कि वह अवस्थितों के संश्लेषण के मूलाधार को अपने में अन्तर्विष्ट किये रहता है) की जा सकती है।

बोधवृत्ति बौद्धिक प्रकारों के द्वारा संबंध के जितने प्रकारों को अपने प्रति प्रत्युपस्थापित करती है बुद्धि के शुद्ध संबोधों की संख्या भी उतनी ही होगी, इसलिये हमको प्रथम किसी उद्देश्य में स्पष्ट निरपेक्ष संश्लेषण के अनवस्थित (तत्व) को खोजना है, दूसरे किसी श्रेणी (अथवा शृंखला) के अवयवों के सौपाधिक (या औपकाल्पनिक) संश्लेषण के अनवस्थित को खोजना है और तीसरे किसी संस्थान के भागों के वैकल्पिक संश्लेषण के अनवस्थित तत्व को खोजना है और तीसरे किसी संस्थान के भागों के वैकल्पिक संश्लेषण के अनवस्थित तत्व को खोजना है।

इस प्रकार अनुमान-संवाक्यों की संख्या भी ठीक उतनी है, और जिनमें से प्रत्येक पूर्व-संवाक्य के द्वारा अनवस्थित की ओर गतिमान हुआ करता है; प्रथम ऐसे उद्देश्य की ओर जो कभी विधेय नहीं होता, दूसरे उस पूर्वकल्पना की ओर जो अन्य कोई पूर्वकल्पना नहीं करती, और तीसरे किसी संबोध के विभाजन के भागों के ऐसे समूह की ओर जो विभाजन को पूर्ण करने के लिये आगे किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार—प्रतिबन्धों के संश्लेषण में साकल्य के—बुद्धि के शुद्ध संबोध कम से कम हमारे लिये, जहाँ संभव हो, बोधवृत्ति की एकता को अवस्थित पर्यन्त विस्तृत करने के कार्य का निर्देश करने के लिये अनिवार्य हैं, तथा मानवीय बुद्धि के स्वरूप में आधारित हैं; तथापि यह अनुभवातीत संबोध वास्तविक स्थिति में समुचित समनुरूप विनियोग के काम के न हों, और इसलिये बोधवृत्ति का इस प्रकार से निदेशन करने (कि उपयोग अधिकतम विस्तीर्ण हो जाने पर भी उसके साथ ही स्वयं अपने साथ पूर्णतया संवादी बना रहे) के अतिरिक्त उसकी उपयोगिता और कुछ भी हो।

परन्तु जब हम यहाँ शर्तों के समग्र समूह और अनवस्थित, दोनों की चर्चा बुद्धि के सब संबोधों के एक समान शीर्षक के रूप में, करते हैं तो हम पुनः एक ऐसे शब्द से टकराते हैं कि जिसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता, परन्तु इसके साथ ही साथ जिसको दीर्घकालीन दुरुपयोग के हेतु उसके साथ लगी हुई द्वयर्थकता के कारण, हम सुरक्षितता की भावना के साथ प्रयुक्त भी नहीं कर सकते। 'निरपेक्ष' उन थोड़े से शब्दों में से है जो अपने मौलिक अर्थ में एक ऐसे संबोध के लिये उपयुक्त थे जिसके लिये उसी भाषा का कोई अन्य शब्द, बाद को ठीक उपयुक्त नहीं होता, और जिसकी हानि, अथवा दूसरे शब्दों में उसके प्रयोग की अस्थिरता अपने साथ संबोध की हानि को भी घसीट लाएगी; जो (संबोध), क्योंकि बुद्धि उसके साथ अत्यधिक कार्य-संलग्न रहती है, बिना समस्त अनुभवातीत परीक्षणों को नुकसान पहुँचाए त्यागा नहीं जा सकता। इस समय यह शब्द 'निरपेक्ष' बहुधा केवल इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिये प्रयुक्त होता है कि कोई बात किसी वस्तु के अपने स्वरूप के संबंध में, अतएव उसके आन्तरिक स्वरूप के प्रति लागू होती है। इस अर्थ में "निरपेक्षतया संभव" का आशय उस वस्तु से होगा जो अपने आप में संभव है, जो वास्तव में किसी विषय के संबंध में कही जा सकने वाली कम से कम (या अल्पतम) बात है। इसके विपरीत दूसरी ओर यदा-कदा वही शब्द इस बात को भी सूचित करने के लिये प्रयुक्त होता है कि कोई वस्तु सब संबंधों में प्रामाणिक है (जैसे उदाहरण के लिये पूर्णतया निरंकुश शासन), और इस अर्थ में पूर्णतया संभव का आशय उसको सूचित करना होगा जो सब दृष्टियों में सब संबंधों में संभव है, जो पुनः ऐसी अधिक से अधिक बात है जिसको मैं किसी वस्तु की संभावना के विषय में कह सकता हूँ। बहुधा यह दोनों अर्थ एक साथ मिले हुए प्राप्त होते हैं। जैसे उदाहरण के लिये, जो आन्तरिकतया असंभव होता है, वह सब संबंधों में भी असंभव होता है, अतएव पूर्णतया असंभव होता है। परन्तु अधिकांश प्रसंगों में वे एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न होते हैं, और मैं किसी प्रकार यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकता कि क्योंकि कोई वस्तु स्वतः अपने आप में संभव है, इस हेतु वह सब संबंधों में भी संभव होगी, और इस कारण पूर्णतया संभव होगी। हाँ, यह सच है कि, जैसा मैं आगे चल कर दिखलाऊँगा ऐकान्तिक अपरिहार्यता, किसी भी प्रकार से सर्वदा आन्तरिक अपरिहार्यता पर निर्भर नहीं है, और इसी कारण उसके साथ समानार्थक नहीं मनी जानी चाहिये। जिसका प्रतिपक्ष आन्तरिकतया असंभव है, तो यह प्रतिपक्ष सभी दृष्टियों से असंभव होगा, और इसलिये वह वस्तु स्वयं पूर्णतया अनिवार्य है; परन्तु मैं इस युक्ति को पलट कर यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकता कि जो वस्तु ऐकान्तिकतया अनिवार्य है, उसका

प्रतिपक्ष आन्तरिकतया असंभव होगा, अर्थात् किसी वस्तु की निरपेक्ष अनिवार्यता उसकी आन्तरिक अनिवार्यता है; क्योंकि यह आन्तरिक अनिवार्यता कुछ निश्चित प्रसंगों में एक रिक्त निरर्थक शब्दमात्र होती है जिसके साथ हम किसी संबोध को नाममात्र भी नहीं जोड़ सकते; जबकि इसके विपरीत किसी वस्तु के (प्रत्येक संभव वस्तु के साथ) सब संबंधों में अनिवार्यता का संबोध अपने साथ कतिपय बिलकुल विशिष्ट निर्धाराओं को लिये रहता है। क्योंकि विचारणापूर्ण विज्ञान के क्षेत्र में किसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संबोध को हानि दार्शनिक के लिये उदासीनता का विषय नहीं हो सकती, अतएव मेरा विश्वास है कि जिस शब्द पर संबोध अवलंबित है उसको स्थिर करना और सावधानी के साथ उसकी रक्षा करना भी उसी प्रकार उसके लिये उदासीनता का विषय नहीं हो सकता।

तो मैं तो इस निरपेक्ष शब्द को इस विस्तृततर अर्थ में प्रयुक्त करूँगा, और इसको उसके विरोध में रखूँगा जो केवल तुलनात्मकतया अथवा किसी विशेष दृष्टि से प्रामाणिक है; क्योंकि यह अन्तिम वस्तु तो प्रतिबन्धों से मर्यादित है, किन्तु निरपेक्ष किसी भी परिसीमन से मुक्त है।

अब जहाँ तक कि बुद्धि के अनुभवातीत संबोध का संबंध है, यह सर्वदा केवलमात्र प्रतिबन्धों के संश्लेषण में निरपेक्ष समस्तता की ओर निदेशित हुआ करता है, और जो कुछ अत्यन्त अर्थात् सब संबंधों में, अनवस्थित है उसको छोड़ कर कभी अन्यत्र समाप्त नहीं होता। क्योंकि शुद्ध बुद्धि तो सब कुछ बोधवृत्ति के ऊपर छोड़ देती है, जो स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव के अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा कि कल्पना में उनके संश्लेषण के साथ निकट संबंध स्थापित करती है। बुद्धि तो बोधवृत्ति के संबोधों के विनियोग में निरपेक्ष समग्रतामात्र से वास्ता रखती है, तथा उस सांश्लेषिक एकता को जो कि बौद्धिक प्रकारों के अन्तर्गत विचार की जाती है, पूर्णतया अनवस्थित तक वहन कर ले जाने की चेष्टा करती है। इस अवभासों की एकता को बुद्धि की एकता उसी प्रकार कहा जा सकता है जिस प्रकार उस एकता को जो बौद्धिक प्रकार द्वारा अभिव्यक्त होती है बोधवृत्ति की एकता कहा जा सकता है। इस प्रकार बुद्धि अपने को एकमात्र बोधवृत्ति के विनियोग के साथ व्यापृत करती है; पर निश्चय ही यह ऐसा उस सीमा तक नहीं करती, जिस सीमा तक उस (बोधवृत्ति) में संभाव्य अनुभव का मूलाधार हेतु अन्तर्विष्ट होता है (क्योंकि प्रतिबन्धों या शर्तों की निरपेक्ष समग्रता का संबोध किसी अनुभव के प्रति इस कारण लागू नहीं होता कि कोई भी अनुभव अनवस्थित नहीं होता), प्रत्युत केवल बोधवृत्ति के लिये एक ऐसी विशिष्ट एकता के निदेश (अथवा दिशा), का विधान

करने के लिये ऐसा करती जिसका कोई संबोध स्वयं उसके पास नहीं होता, और व्यापृत अपने को कुछ एक ऐसे ढंग से करती है कि जिस बोधवृत्ति के प्रत्येक विषय-संबंधी कर्म एक ऐकान्तिक अवयवी में एकीभूत हो जाएँ। अतएव बुद्धि के शुद्ध संबोधों का विषयगत विनियोग सर्वदा ही पारगामी होता है, जबकि बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों का विनियोग उनकी प्रकृति के अनुसार, और इस कारण क्योंकि वे (सीमित रूप में) केवल संभाव्य अनुभव के प्रति लागू होते हैं, अदनुभवान्त व्यापी होना चाहिये।

'भाव' (इडे) शब्द से मैं बुद्धि के एक ऐसे संबोध का आशय समझता हूँ जिसके समनुरूप ऐन्द्रिय अनुभव कोई विषय नहीं दिया जा सकता। अतएव, सम्प्रति विचाराधीन हमारे बुद्धि के शुद्ध संबोध अनुभवातीत भाव होते हैं। वे शुद्ध बुद्धि के संबोध हैं; क्योंकि वे समस्त अनुभवजन्य ज्ञान को प्रतिबन्धों की निरपेक्ष समग्रता के द्वारा निर्धारित हुआ देखते हैं। वे स्वच्छन्दतया निर्मित नहीं होते, प्रत्युत स्वयं बुद्धि के स्वभाव द्वारा आरोपित किए हुए होते हैं, और इसी लिये वे बोधवृत्ति के समस्त विनियोग के साथ अनिवार्यतया संबद्ध होते हैं। और अन्ततः वे अतिशायी होते हैं एवं अनुभव की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं जिसमें इस प्रकार कभी ऐसा कोई भाव उपलब्ध नहीं हो सकेगा, जो अनुभवातीत भाव के लिये समुपयुक्त हो। यदि किसी 'भाव' का नामोल्लेख किया जाता है, तो (शुद्ध बोधवृत्ति के विषय के रूप में) इसके विषय के लिये बहुत अधिक कहा जाता है, परन्तु जहाँ तक विषयी के साथ इसके संबंध का प्रसंग है (अर्थात् आनुभविक प्रतिबन्धों के अधीन उसकी वास्तविकता का संबंध है) उसी कारण से बहुत कम कहा जाता है, क्योंकि किसी अधिकतम के संबोध के रूप में यह समनुरूपतया वास्तविक मूर्त में कदापि भी प्रदत्त नहीं हो सकता। अब क्योंकि बुद्धि के केवलमात्र चिन्तनात्मक विनियोग यह दूसरी बात (अर्थात् आनुभविक प्रतिबन्धों के अधीन भाव की यथार्थता का निर्धारण करना ही) वास्तव में हमारा समग्र उद्देश्य होता है, और (क्योंकि) किसी संबोध के निकट पहुँचना (जो वास्तविकता में कदापि हो नहीं सकता), संबोध के बिलकुल न होने के बराबर है, इसलिये ऐसे संबोध के विषय में कहा जाता है—'यह केवल भावमात्र है'। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समस्त अवभासों का निरपेक्ष सकलावयवी केवल भावमात्र है, और क्योंकि हम इसको बिम्ब में कदापि प्रत्युपस्थापित नहीं कर सकते अतएव यह एक ऐसी समस्या है जिसका कोई समाधान नहीं है। पर, क्योंकि दूसरी ओर, बोधवृत्ति के व्यावहारिक विनियोग में हमारा एकमात्र वास्ता नियमों के अनुसार व्यवहार से रहता है, इसलिये व्यावहारिक बुद्धि का भाव या विचार सर्वदा वास्त-

विक रूप में, यद्यपि केवल भागशः, दिया जा सकता है। सच तो यह है कि यह बुद्धि के समस्त व्यावहारिक विनियोग की अपरिहार्य शर्त है। इसका व्यापार सर्वदा सीमित और त्रुटिपूर्ण होता है, परन्तु वह निर्धारण योग्य सीमाओं के भीतर सीमित नहीं होता, इसलिये वह सर्वदा एक आत्यनिक परिपूर्णता के संबोध के प्रभाव के अधीन रहता है। अतएव व्यावहारिक भाव या विचार सर्वदा अत्यधिक मात्रा में फलवान् होता है, और व्यावहारिक कार्यों के सम्बन्ध में अपरिहार्यतया आवश्यक होता है। इसमें शुद्ध बुद्धि कारणता से युक्त हो जाती है जिससे वह उसको जो उसके संबोध में अन्तर्विष्ट है, उत्पादित करने में समर्थ होती है, इसलिये इस व्यावहारिक बुद्धिमत्ता के लिये तिरस्कारपूर्व से यह नहीं कहा जा सकता है कि यह तो एक भावमात्र है, पर दूसरी ओर, ठीक इसी लिये कि यह समस्त उद्देश्यों की अनिवार्य एकता का भाव है, इसलिए समस्त व्यवहारों के लिये इसको एक मौलिक एवं कम से कम नियमों को मर्यादित करने वाली शर्त के रूप में काम देना चाहिये।

अब यद्यपि बुद्धि के अनुभवातीत संबोधों के विषय में हम को ठीक अवश्यमेव यह कहना चाहिये कि वे केवल भावमात्र हैं; तथापि इससे हम उनको किसी प्रकार भी निरर्थक अथवा शून्य नहीं मानेंगे। क्योंकि यदि उनके द्वारा कोई विषय निर्धारित न भी किया जा सकता हो तो भी वे एक आधारभूत और अनिरीक्षित ढंग से बोधवृत्ति के लिये उसके विस्तारित और संगत विनियोग के सिद्धान्त के रूप में काम आ सकते हैं; बोधवृत्ति इसके द्वारा किसी विषय का उससे अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं करती जितना कि अपने निजी संबोधों से कर लेती, पर वह इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये इनसे अधिक अच्छा और अधिक व्यापक मार्ग दर्शन (या नेतृत्व) प्राप्त करती है। यह तो कहने की भी आवश्यकता नहीं है कि बुद्धि के संबोध स्यात् प्रकृति के संबोधों से व्यावहारिक संबोधों की ओर संक्रमण को संभव बना दें और इस प्रकार से स्वयं आचार संबंधी भावों को, उनको बुद्धि के चिन्तनात्मक ज्ञान के सम्पर्क में लाकर, सहारा दे सकते हैं। इन सब बातों के स्पष्टीकरण के लिये हमको आगे प्रतीक्षा करनी करनी चाहिये।

पर अपने उद्देश्य (या लक्ष्य) के अनुसार हम यहाँ व्यावहारिक भावों को एक ओर रख देते हैं, और इसलिये बुद्धि का ही उसके चिन्तनात्मक (अथवा विचारात्मक) विनियोग में अथवा अपने को इसकी अपेक्षा और भी अधिक सीमित करके केवल उसके अनुभवातीत विनियोग में विचार रकरते हैं। यहाँ पर अब हमको उसी मार्ग पर चलना चाहिये जो हमने ऊपर बौद्धिक प्रकारों के निगमन के प्रसंग में ग्रहण किया था; अर्थात् हमको बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान के यौक्तिक आकार का विचार करना

चाहिये और यह देखना चाहिये कि क्या कुछ बुद्धि भी तो कहीं इसके द्वारा संबोधों का एक उद्गम नहीं हो सकती, जो हमको स्वरूपत: विषयों को वैसे रूप में देखने योग्य बना दे जैसे रूप में वे बुद्धि के किसी न किसी कार्य के संबंध में अनुभव के पूर्व निर्धारित होते हैं।

ज्ञान के किसी निश्चित यौक्तिक आकार की शक्ति के रूप में विचार किये जाने पर, बुद्धि अनुमान करने की, अर्थात् (संभाव्य विभावना की शर्त को किसी दी हुई विभाविभाना के अधीन उपगृहीत करके) व्यवहिततया विभावन करने की शक्ति है। दी हुई विभावना सर्वव्यापी नियम होता है। एक दूसरी संभाव्य विभावना की शर्त को नियम की शर्त के अधीन उपगृहीत करना पक्षावयव है। वह वास्तविक विभावना, जो उपगृहीत प्रसंग में नियम के कथन की घोषणा करती है अनुमानावयव होती है। नियम, किसी निश्चित शर्त की अधीनता में किसी सर्वव्यापी (तत्व) का कथन करता है और नियम की शर्त एक वास्तविक प्रसंग में पूरी हुई उपलब्ध होती है। इसलिये जो बात उस शर्त के अधीन सर्वव्यापी रुप से प्रमाणित कही गई है वही बात वास्तविक प्रसंग में भी, जिसमें वह शर्त निहित होती है, प्रमाणित हुई मानी जानी चाहिये। अतएव यह सरलता से देखा जा सकका है कि बुद्धि ज्ञान को बोधवृत्ति के उन कार्यों के द्वारा प्राप्त करती है जो प्रतिबन्धों की शृंखला को संस्थापित करते हैं। यदि मैं इस प्रस्थापना पर कि "सब मूर्त-पदार्थ परिवर्तनीय होते हैं" अपेक्षाकृत अधिक दूरवर्ती ज्ञान से आरंभ करके ही पहुँचूं (जिसमें मूर्त पदार्थ का संबोध तो विद्यमान न हो फिर भी जिसमें उस संबोध के प्रतिबंध अवश्य विद्यमान हों), अर्थात् इस ज्ञान से पहुँचूं कि "प्रत्येक संघात परिवर्तनीय होते हैं; तब यदि इस प्रस्थापना से मैं एक ऐसी स्थापना की ओर अग्रसर होऊँ, जो अपेक्षाकृत कम दूर है तथा जो इससे पूर्व वर्णित प्रस्थापना की शर्त के अधीनस्थ है, अर्थात् इस प्रस्थापना की ओर चलूँ कि "पदार्थ मूर्त संघात होते हैं"; और यदि इससे मैं अन्ततः केवल तीसरी प्रस्थापना के पास जा पहुँचूं, जो अपेक्षाकृत अधिक दूर के ज्ञान (परिवर्तनीय) को उस ज्ञान से जोड़ती है जो यथार्थ में मेरे समक्ष है, और इस प्रकार यह निर्णय करूँ कि, 'मूर्त पदार्थ परिवर्त्तनीय होते हैं"—तो इस प्रक्रिया से मैं प्रतिबन्धों की एक शृंखला के द्वारा ज्ञान को प्राप्त हुआ हूँ। प्रत्येक शृंखला या माला जिसका व्याख्या तक तत्व (सीधे स्पष्ट निरपेक्ष प्रकार से अथवा सोपाधिक प्रकार से) दिया हुआ है, चालू रखी जा सकती है; इसलिये बुद्धि का यही व्यापार संवावय मालात्मक चिन्तन अर्थात् राटियोकिनाटियो पौली सिल्लोगिस्टिका की ओर ले जाता है, जो ऐसे अनुमानों की शृंखला है जो प्रतिबन्धों—शर्तों की ओर अथवा अवस्थितों की

दिशा में अपरिच्छिन्न दूरी तक लम्बायमान की जा सकती है।

पर शीघ्र ही इस बात का पता चल जाएगा कि प्रतिबन्धों या शर्तों की ओर जाने वाली संवाक्यामाला (अथवा शृंखला) अर्थात् किसी दिये हुए ज्ञान के हेतुओं अथवा शर्तों की ओर के अनुमित ज्ञान की शृंखला, दूसरे शब्दों में, संवाक्यों की आरोही माला की शृंखला के साथ बुद्धि की वृत्ति का संबंध, अवरोही माला की शृंखला के साथ उसके संबंध से भिन्न होना चाहिये, जो (अवरोही माला की शृंखला) बुद्धि का उत्तर-संवाक्यों के द्वारा अवस्थित की दिशा में आगे बढ़ना है। इसका कारण यह है कि क्योंकि प्रथम प्रसंग में ज्ञान (निष्कर्ष) केवल अवस्थित रूप में दिया होता है, अतएव इस (निष्कर्ष) पर बुद्धि द्वारा, इस मान्यता के आधार पर ही पहुँचा जा सकता है (अन्यथा किसी प्रकार नहीं) कि प्रतिबन्धों की ओर की शृंखलाओं के समस्त अवयव दिये हुए हैं (अर्थात् अवयवों की शृंखला में परिपूर्णता है) क्योंकि केवल इसी मान्यता के आधार पर हमारे समक्ष प्रस्तुत विभावना प्रागनुभवात्मकतया संभव; जबकि अवस्थित की ओर अथवा परिणाम की दृष्टि से, केवल एक वर्द्धमान (या विकासोन्मुख) माला का न कि पूर्णता प्राप्त रूप में पूर्वकल्पित अथवा दी हुई शृंखला का विचार किया जा सकता है, अतएव ऐसे पुरःसरण का विचार किया जा सकता है जो शक्यमात्र है। इसलिये यदि कोई ज्ञान अवस्थित माना जाता है तो बुद्धि आरोही रेखा में जो प्रतिबन्धों की शृंखला है उनको पूर्णता को प्राप्त हुई और अपनी समग्रता में दी हुई मानने के लिये विवश हो जाती है। परन्तु यदि वही ज्ञान साथ ही साथ किन्हीं अन्य ज्ञानों की शर्त के रूप में माना जाता है जो (अन्य ज्ञान) स्वयं परस्पर एक अवरोही रेखा में परिणामों की शृंखला को घटित करते हैं तो बुद्धि इस विषय में बिलकुल उदासीन हो सकती है कि यह पुरःसरण कितनी दूरी तक अंशतः पश्चानुभवात्मकतया विस्तीर्ण है और शृंखला की समग्रता लेशमात्र संभव भी है या नहीं; क्योंकि अपने समक्ष स्थित निर्णय के लिये इसको इस प्रकार की शृंखला की आवश्यकता नहीं होती, इसलिये यह निष्कर्ष तो पहले ही अपने आधारभूत हेतुओं के द्वारा अंशतः प्रागनुभवात्मकतया पर्याप्तरूपेण सुनिश्चित और सुरक्षित होता है। अब ऐसा होना संभव है कि या तो शर्तों की ओर अवयवों की मालिका में प्रथमावयव हो जो उसके सर्वोच्च प्रतिबन्ध (या शर्त) के रूप में हो, अथवा इसका प्रथमावयव न हो और इसलिये यह अंशतः प्रागनुभवात्मकतया सीमारहित हो; पर जैसा कुछ भी क्यों न हो उसमें शर्तों की समग्रता अवश्यमेव अन्तर्विष्ट होनी चाहिये, चाहे हम उसको अवधृत करने में कभी भी सफल न हों; और यदि उस अवस्थित को (जो कि उससे निष्पन्न होने वाला परिणाम माना जाता है) सत्य गिना (या स्वीकृत

किया) जाना है तो समग्र शृंखला को अप्रतिबन्धतया (या बिला शर्त) सत्य होना होना चाहिये। यह बुद्धि की एक माँग है जो उसके ज्ञान को प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित और अनिवार्य घोषित करती है और ऐसा या तो वह ज्ञान स्वयं आप में होता है (तो ऐसी अवस्था में उसको हेतुओं की आवश्यकता नहीं होती) अथवा यदि वह व्युत्पादित होता है, तो हेतुओं की एक ऐसी शृंखला के अंग के रूप में होता है, जो शृंखला स्वतः बिला शर्त सत्य होती है।

अनुभवातीत आन्वीक्षिकी की प्रथम पुस्तक

तृतीय खण्ड

अनुभवातीत भावों का संस्थान

यहाँ हमारा वास्ता तार्किक आन्वीक्षिकी से नहीं है, जो ज्ञान के समस्त अन्तर्विष्ट विषय का कुछ भी विचार नहीं करती, और केवल अनुमान-संवाक्य के आकार में छिपे हुए हेत्वाभासों को ही उद्घाटित किया करती है, प्रत्युत अनुभवातीत आन्वीक्षिकी से है, जिसमें, पूर्णतया प्रागनुभवात्मक प्रकार से, शुद्ध बुद्धि से उद्भूत होने वाले कुछ निश्चित ज्ञानों तथा कुछ निश्चित अनुमित संबोधों का (जिनका विषय कदापि भी अनुभव द्वारा प्रदान किया हुआ नहीं हो सकता, अतएव जो समग्रतया शुद्ध बोधवृत्ति के क्षत्र के बाहर स्थित है) मूलोद्गम अवश्यमेव अन्तर्विष्ट होना चाहिये। अनुमान-संवाक्य तथा विभावनाओं में हमारे ज्ञान के अनुभवातीत और तार्किक विनियोग में जो स्वाभाविक संबंध होना चाहिये उससे हमने मालूम कर लिया है कि तीन प्रकार के अनुमानों के (जिनसे सिद्धान्तों के द्वारा बुद्धि ज्ञान तक पहुँच सकती है) समनुरूप केवल तीन प्रकार के आन्वीक्षिक्यात्मक अनुमान-संवाक्य हो सकते हैं, और इन सबमें बुद्धि का कार्य अवस्थित संश्लेषण से (जिस तक बोध वृत्ति सर्वदा सीमित रहती है) अनवस्थित संश्लेषण की ओर आरोहण करना है, जिस तक बोधवृत्ति कदापि नहीं पहुँच सकती।

हमारी सब प्रत्युपस्थापनाओं में जो संबंध सर्वव्यापकतया पाये जाते हैं, वे या तो अवभासों के अथवा विचार सामान्य के विषय के रूप में विषयी के साथ संबद्ध होते हैं, या विषयों के साथ संबद्ध हैं। यदि इस उपविभाजन को मुख्य विभाजन के साथ जोड़ दिया जाए, तो प्रत्युपस्थापनाओं का सब संबंध, जिसका हम कोई संबोध या भावनिर्माण कर सकते हैं, त्रिविध प्राप्त होता है--(१) विषयी के साथ संबंध; (२) अवभासों में विषय के बहुविध रूप के साथ संबंध (३) सब वस्तु सामान्य के साथ संबंध।

समस्त शुद्ध संबोध सामान्य तया प्रत्युपस्थापनाओं की सांश्लेषिक एकता के साथ वास्ता रखते हैं, परन्तु शुद्ध बुद्धि के संबोधों (= अनुभवातीत भावों) का

वास्ता सामान्यतः समस्त प्रतिवन्धों की अनवस्थित सांश्लेषिक एकता के साथ होता है परिणामतः सब अनुभवातीत भाव तीन वर्गों में क्रमबद्ध किये जा सकते हैं—प्रथम जिसमें विचार करने वाले विषयी की निरपेक्ष एकता अन्तर्विष्ट है; द्वितीय जिसमें अवभासों के प्रतिवन्धों की शृंखला की निरपेक्ष एकता और तृतीय जिसमें सामान्यतः विचार के सब विषयों के प्रतिवन्ध की निरपेक्ष एकता अन्तर्विष्ट रहती है।

विचार करने वाला विषयी मनोविज्ञान का विषय है, समस्त अवभासों का समग्र योग (संसार) सृष्टि-विद्या का विषय है, और वह वस्तु जो उस सबकी (जो विचार किया जा सकता है) संभावना की सर्वोच्च शर्त को अपने में अन्तर्विष्ट रखती है (जो सब सत्ताओं की सत्ता है), देवविद्या का विषय है। इस प्रकार शुद्ध बुद्धि आत्मा के अनुभवातीत सिद्धान्त के लिये विचार विश्व की अनुभवातीत विद्या के लिये विचार और अन्ततः ईश्वर के अनुभवातीत ज्ञान के लिये विचार प्रदान करती है। बोधवृत्ति के द्वारा तो, यदि वह बुद्धि के सर्वोच्च तार्किक विनियोग के, अर्थात् उसके एक विषय (अवभास) से लेकर समस्त अन्य विषयों तक—किसी भी संभाव्य आनुभविक संश्लेषण के दूरतम खंडों तक, समस्त संभव निष्कर्षों के साथ संबद्ध हो जाए, इनमें से किसी अथवा दूसरी विद्या की केवल रूपरेखा भी प्रस्तुत नहीं की जा सकती—प्रत्युत इनमें से प्रत्येक केवल शुद्ध बुद्धि की ही बिल्कुल शुद्ध और असली उपज या समस्या है।

समस्त अनुभवातीत भावों के इन तीन शीर्षकों से बुद्धि के किस प्रकार के शुद्ध संबोध अवधृत होते हैं, यह बात आगे आने वाले अध्याय में पूर्णतया स्पष्ट कर दी जाएगी। वे बौद्धिक प्रकारों के सूत्रों का अनुसरण करते हैं। क्योंकि शुद्ध बुद्धि का संबंध सीधा विषयों से नहीं होता प्रत्युत बोधवृत्ति के द्वारा निर्मित विषयों के संबोधों के साथ हुआ करता है। इसी प्रकार यह भी बात पूर्ण व्याख्या में ही स्पष्ट हो पाएगी कि बुद्धि किस प्रकार एकमात्र उसी वृत्ति के सांश्लेषिक विनियोग के द्वारा, जिसका उपयोग वह निरुपाधिक अनुमान-संवाक्यों में करती है, क्रमशः अनिवार्यतया विमर्शकारी (या विचारक) विषयी की ऐकान्तिक एकता के संबोध को प्राप्त हो जाती है; किस प्रकार औपाधिक अनुमान-संवाक्यों में प्रयुक्त यौक्तिक पद्धति दिये हुए प्रतिबन्धों की शृंखला के मध्य में पूर्णतया अनवस्थित (तत्व) के भाव की ओर ले जाती है, और अन्ततः किस प्रकार वैकल्पिक के आकारमात्र को अपने में बुद्धि के सर्वोच्च संबोध—सत्ताओं की सत्ता के संबोध को—जो कि आपाततः पूर्णतया विरोधाभासात्मक प्रतीत होता है—संनिहित रखना पड़ता है।

जिस प्रकार का वैषयिक निगमन हम बौद्धिक प्रकारों के संबंध प्रस्तुत कर सके थे उस प्रकार का कोई वैषयिक निगमन इन अनुभवातीत भावों के संबंध में संभव नहीं है। वे केवल भावमात्र हैं और इसी कारण वे किसी (ऐसे) विषय से संबंध नहीं रखते जो उनके साथ (अनुभव में) मेल खाने वाले हों। किन्तु हम अपनी बुद्धि के स्वरूप से उनके एक विषयिगत व्युत्पादन का उपक्रम कर सकते हैं और प्रस्तुत अध्याय में इसी को प्रदान किया गया है।

यह सरलता से देखा जा सकता है कि शुद्ध बुद्धि, प्रतिबन्धों की ओर संश्लेषण की ऐकान्तिक समग्रता [चाहे वह अन्तर्वृत्ति-संबंधी हो, अथवा निर्भरता-संबंधी हो, या संमति-(अथवा संगमन-) संबंधी] के अतिरिक्त अन्य कोई लक्ष्य नहीं रखती, तथा अवस्थित की ओर ऐकान्तिक पूर्णता से कोई वास्ता नहीं रखती। क्योंकि प्रतिबन्धों की समस्त शृंखला की पूर्वकल्पना के लिये एवं उसको बोधवृत्ति के प्रति प्रागनुभवात्मकतया उपस्थित करने के लिये इनमें से केवल पहली बात ही अपेक्षित है। पर यदि हमको एक बार एक पूर्ण प्रतिबन्ध प्रदान कर दिया जाए तो फिर शृंखला के सांतत्य (लगातार चालू रहने) के लिये बुद्धि के संबोध की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि तब तो प्रतिबन्ध से लेकर अवस्थित तक प्रत्येक अगला कदम स्वयं बोधवृत्ति के द्वारा प्रवृत्त किया जाता है। इस प्रकार से अनुभवातीत भाव, प्रतिबन्धों की श्रेणी में अनवस्थित तक अर्थात् सिद्धान्तों तक पहुँचने में केवल आरोहण में काम आते हैं। परन्तु जहाँ तक अवस्थित तक अवरोहण का संबंध है, निश्चय ही बोधवृत्ति के नियमों का एक ऐसा अत्यन्त विशाल और विस्तीर्ण यौक्तिक उपयोग है जिसको हमारी बुद्धि काम में लाया करती है, परन्तु अनुभवातीत विनियोग किसी भी प्रकार का नहीं है, और यदि हम इस प्रकार के संश्लेषण की निरपेक्ष समग्रता का कोई विचार बनाएँ, जैसा कि उदाहरण के लिये विश्व में होने वाले समस्त भावी परिवर्तनों की समस्त श्रेणी का विचार है, तो यह मनःप्रसूती होगी जो यादृच्छिकतया सोची-विचारी गई होगी, बुद्धि की अपरिहार्य प्राक्कल्पना (या पूर्व कल्पना) नहीं होगी। क्योंकि अवस्थित की संभावना उसके प्रतिबन्धों की समग्रता की तो प्राक्कल्पना करती है, पर उसके परिणामों की नहीं करती। परिणामतः इस प्रकार का कोई संबोध अनुभवातीत भावों में से कोई भाव नहीं होता, और हमारा वास्ता यहाँ ऐसे ही अनुभवातीत भावों से है।

अन्त में, ऐसा भी सूझ पड़ता है कि स्वयं अनुभवातीत भावों में स्वयमेव एक विशिष्ट संयोजन और एकता स्पष्ट भासते हैं और उनके माध्यम से शुद्ध बुद्धि अपने समस्त ज्ञानों को एक व्यवस्थित संस्थान में आबद्ध कर देती है। अपने स्वयं के ज्ञान

से संसार के ज्ञान की और उसके माध्यम से आद्य सत्ता की ओर बढ़ना इतना स्वाभाविक प्रसरण है कि यह संवाक्य के अवयवों से निगमन की ओर जाने वाले बुद्धि के यौक्तिक प्रसरण के सदृश् प्रतीत होता है।[कां.] अब यहाँ पर एक वैसा ही वास्तविक (किन्तु) छिपा हुआ संबंध तो विद्यमान नहीं है जैसा कि यौक्तिक एवं अनुभवातीत पद्धतियों के मध्य में विद्यमान है, यह भी उन प्रश्नों में से एक है जिनके उत्तर को इस अनुसंधान के परिणाम की प्रतीक्षा करनी होगी। हमने प्रारंभिक प्रकार से अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लिया है, क्योंकि बुद्धि के अनुभवातीत संबंधों को, जो पूर्वतः अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्त-चिन्तन में अन्य संबोधों के साथ मिश्रित थे एवं बोधवृत्ति के संबोधों तक से भी एक बार भले प्रकार पृथक् नहीं किये गये थे, हम इस द्विधाजनक स्थिति से मुक्त करने, उनके मूलोद्गम का निर्धारण करने, तथा इसके साथ ही साथ उनकी ठीक संख्या स्थिर करने (जिसमें बिलकुल वृद्धि नहीं की जा सकती) उनको सुव्यवस्थित संबंध उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं जिससे शुद्ध बुद्धि के लिये एक विशिष्ट क्षेत्र चिह्नित समावृत किया जा चुका है।

अनुभवातीत आन्वीक्षिकी

द्वितीय पुस्तक

शुद्ध बुद्धि का आन्वीक्ष्यात्मक विधि व्यवहार

यद्यपि बुद्धि के मौलिक नियमों के अनुसार विशुद्ध अनुभवातीत भाव बुद्धि की अपरिहार्य उपज है, तथापि यह कहा जा सकता है कि उसका विषय कुछ ऐसी वस्तु

कां. अपने निजी विशिष्ट अनुसंधान के विषय में रूप में पराविद्या के तीन ही मुख्य भाव हैं—ईश्वर, स्वाधीनता और अमरता—जो इस प्रकार परस्पर संबद्ध हैं कि द्वितीय संबोध प्रथम के साथ मिल कर अनुमान रूप में तीसरे के प्रति उपनीत होता है। अन्य बातें जिनका यह विद्या इनके अतिरिक्त प्रतिपादन करती है, इन भावों तक पहुँचने और इनकी वास्तविकता को सिद्ध करने के उपाय रूप में काम आती हैं। यह विद्या इन भावों की अपेक्षा प्राकृतिक विद्वानों के लिये नहीं, प्रत्युत प्रकृति से पार जाने के लिये करती है। इन भावों के संबंध में प्राप्त हुई अन्तर्दृष्टि धर्मशास्त्र (= देवविद्या) और आचारशास्त्र तथा तथा इन दोनों के सम्मिलन के द्वारा धर्म को भी और इसके साथ ही साथ हमारी सत्ता के उच्चतम उद्देश्यों को पूर्णतया एवं एकान्ततया चिन्तनात्मक बुद्धि की वृत्ति पर निर्भर बना देगी। भावों को एक सुव्यवस्थित प्रत्युपस्थापना में सांश्लेषिक रूप में उपरिनिर्दिष्ट क्रम सर्वाधिक समपयुक्त होगा; परन्तु इसके पूर्वगामी अपरिहार्य अनुसंधान कार्य में इसका विपरीत क्रम-वैश्लेषिक क्रम ही हमारी महती योजना को पूर्ण करने के उद्देश्य के लिये अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यह हमको अनुभव में जो

है जिसका संबोध किसी को प्राप्त नहीं है। क्योंकि किसी ऐसे विषय के संबंध में जो बुद्धि की माँग के लिये समुपयुक्त हो यथार्थ में कोई बोधवृत्ति का संबोध अर्थात् इस प्रकार का कोई संबोध संभव नहीं है जो किसी संभाव्य अनुभव में प्रदर्शित और अनुभूत किया जा सके। तथापि यदि यह कहा जाए कि हम किसी भाव के समनुरूप विषय का कोई ज्ञान नहीं रख सकते यद्यपि शक्यतावाची (या वैकल्पिक) संबोध रख सकते हैं, तो यह बात अधिक अच्छे प्रकार से व्यक्त हो जाएगी और इसमें बोधभ्रम का भी भय अपेक्षाकृत कम रहेगा।

कम से कम बुद्धि के शुद्ध संबोधों की अनुभवातीत (विषयिगत) वास्तविकता इस बात पर निर्भर करती है कि हम इन भावों के पास एक अपरिहार्य अनुमान-संवाक्य के द्वारा लाये गये हैं। इसलिये इस प्रकार के अनुमान-संवाक्य होंगे, जिनमें आनुभविक अवयव नहीं होंगे, तथा जिनके माध्यम से कुछ ऐसी बात से जिसको हम जानते हैं ऐसी अन्य बातों के विषय में अनुमान निकालेंगे जिसका कोई संबोध हमको प्राप्त नहीं है, तथापि एक अपरिहार्य भ्रम के कारण जिसको हम वैषयिक यथार्थता प्रदान करते हैं। अपने परिणाम की दृष्टि से तो इस प्रकार के अनुमान-संवाक्यों को बौद्धिक संवाक्य की अपेक्षा वितथ-बौद्धिक-संवाक्य नाम देना अधिक उपयुक्त होगा, यद्यपि अपने मूलोद्गम के कारण वे प्रथम नाम को धारण कर सकते हैं, क्योंकि वे न तो कल्पना-प्रसूत हैं और न यादृच्छिकतया उपजे हैं, प्रत्युत स्वयं बुद्धि के स्वाभाव से समुत्थित हुए हैं। यह मानवीय कूटतर्काभास नहीं है प्रत्युत स्वयं शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न हुए हैं, जिनसे महान् से महान् बुद्धिमान अपने को मुक्त नहीं कर सकते, तथा महान् उद्योग के उपरान्त स्यात् वह भ्रान्ति से अपने को बचा लें परन्तु उस प्रातिभासिक छल से, जो उसकी निरन्तर हँसी उड़ाता और उसको व्यथित करता है, वह अपना पिण्ड कभी नहीं छुड़ा सकते।

इन आन्वीक्षिक (या द्वन्द्वात्मक) अनुमान-संवाक्यों के उतने ही प्रकार हैं जितने के भाव जिनमें यह संवाक्य पर्यवसित होते हैं। प्रथम प्रकार के संवाक्य में विषयी के अनुभवातीत संबोध से जिसमें विविधरूप वाली कुछ भी वस्तु नहीं होती, मैं स्वयं इस विषय की आत्यन्तिक एकता का अनुमान करता हूँ, तथापि इस प्रकार भी मैं उसका कोई संबोध नहीं रखता। इस द्वन्द्वात्मक अनुमान को मैं अनुभवातीत

कुछ अव्यवहिततया प्राप्त है उससे आरंभ करने योग्य बना देता है, जिससे हम आत्मा के सिद्धान्त से आगे बढ़ते हुए, संसार के सिद्धान्त को प्राप्त होते हैं और उससे ईश्वर के ज्ञान तक पहुँच जाते हैं।

तर्काभास नाम दूँगा। दूसरे प्रकार का वितथ-बौद्धिक अनुमान किसी दिये हुए अवभास सामान्य के निमित्त प्रतिबन्धों की माला की निरपेक्ष समग्रता के अनुभवातीत संबोध को लक्ष्य बनाता है, तथा इस तथ्य से, कि इस शृंखला की अनवस्थित सांश्लेषिक एकता का मेरा संबोध एक ओर (से विचार किये जाने पर) सर्वदा आत्मविरोधी है, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि इसके विरोधी प्रकार की एकता सही है, यद्यपि उसका भी कोई संबोध मेरे पास नहीं है। इन द्वन्द्वात्मक अनुमानों में बुद्धि की स्थिति को मैं शुद्ध बुद्धि का विधिविरोध कहूँगा। अन्ततः तीसरे प्रकार के वितथ-बौद्धिक अनुमान के अनुसार, शर्तों की उस समग्रता से, जिसके अधीन विषयों का (जहाँ तक कि वे मुझे दिये हुए हो सकते हैं) सामान्यतः विचार करना आवश्यक है, मैं वस्तु सामान्य की संभावना की समस्त प्रतिबन्धों की निरपेक्ष सांश्लेषिक एकता का, अर्थात् उन वस्तुओं से. जिनको मैं नहीं जानता, केवल उनके अनुभवातीत संबोध के द्वारा सत्ताओं की सत्ता का अनुमान करता हूँ, जिसको मैं किसी अनुभवातीत संबोध के द्वारा और भी कम जानता हूँ तथा जिसकी अनवस्थिति अनिवार्यता का मैं कोई भी संबोध नहीं बना सकता। इस द्वन्द्वात्मक अनुमान-संवाक्य को मैं शुद्ध बुद्धि के आदर्श का नाम दूँगा।

अनुभवातीत आन्वीक्षिकी की द्वितीय पुस्तक

प्रथम अध्याय

शुद्ध बुद्धि के तर्काभास

यौक्तिक तर्काभास ऐसा अनुमान-संवाक्य होता है जो आकार की दृष्टि से हेत्वाभास युक्त होता है, फिर चाहे उसका अन्तर्विष्ट विषय कुछ भी क्यों न हो। परन्तु अनुभवातीत तर्काभास वह होता है जिसमें औपचारिकतया वितथ अनुमान करने के लिये अनुभवातीत आधारभूत हेतु रहता है। इस प्रकार से, ऐसे वितथानुमान का मूलाधार मानवीय बुद्धि में ही रहा करता है, तथा ऐसी भ्रान्ति को जन्म देता है, जो यद्यपि अपरिहार्य तो होती है तथापि ऐसी नहीं होती कि जिसको हल न किया जा सके।

अब हमको एक संबोध ऐसा मिलता है जो पहले प्रस्तुत की गई अनुभवातीत संबोधों की सामान्य सूची में सम्मिलित नहीं किया गया था, परन्तु फिर भी जिसको, उस सूची को बिना लेशमात्र परिवर्त्तन किये अथवा त्रुटिपूर्ण घोषित किये, उसी में सम्मिलित गिना जाना चाहिये। यह संबोध, अथवा, यदि अधिक अच्छा लगे तो, विभावना है, "मैं विचारता हूँ।" यह बात सरलता से समझ में आ जाती है कि यह संबोध सामान्यतया सब संबोधों का वाहन है, और इसी लिये अनुभवातीत संबोधों का भी वाहन है, तथा इसी लिये यह सर्वदा उनके अवधारण करने में उनके साथ ही अवधृत

हो जाता है, और इसी से स्वयं भी अनुभवातीत है; परन्तु इसका कोई विशेष नाम नहीं हो सकता क्योंकि यह केवल समस्त विचारों को उनके चेतना से संबंधित रूप में प्रस्तुत करने के काम आता है। इसके साथ ही साथ, चाहे यह आनुभविक संमिश्रण से कितना ही अछूता क्यों न हो (इन्द्रियों की छाप से कितना ही मुक्त क्यों न हो), तो भी हमारी प्रत्युपस्थापना शक्ति के द्वारा हमको दो प्रकार के विषयों में भेद करने में सहायक होता है। विचार करने वाले के रूप में, मैं अन्तःकरण (भीतरी इन्द्रिय) का विषय हूँ और 'आत्मा' कहलाता हूँ। वह जो बाह्य इन्द्रियों का विषय है, शरीर कहलाता है। इसलिये यह शब्द "मैं" विचार करने वाली सत्ता के रूप में उस मनोविज्ञान के विषय को सूचित करता है, जिसको युक्तियुक्त आत्मविद्या कहा जा सकता है बशर्ते कि मैं आत्मा से उससे आगे (या अधिक) और कुछ न जानना चाहूँ, जो अनुभव से (जो मेरे स्वरूप को अधिक निकटता के साथ एवं मूर्त रूप में निर्धारित करता है) पूर्णतया मुक्त रह कर इस संबोध "मैं" से, जहाँ तक कि यह विचार में उपस्थित रहता है, अनुमित हो सकता है।

युक्तियुक्त आत्मविद्या वास्तव में एक इसी प्रकार का उपक्रम है; क्योंकि यदि इस विद्या में,, मेरे विचार का अल्पतम आनुभविक तत्व, मेरी आन्तरिक अवस्था का कोई विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार के साथ मिश्रित हो गया तो यह युक्तियुक्त विद्या नहीं प्रत्युत आत्मा-संबंधी आनुभविक सिद्धान्तमात्र रह जाएगा। इस प्रकार हमारे सामने एक ऐसा तथाकथित विज्ञान है जो एक अकेली प्रस्थापना "मैं विचारता हूँ" पर निर्मित है, एवं जिसकी साधारता या निराधारता का हम पूर्ण औचित्य के साथ तथा अनुभवातीत दर्शनशास्त्र के स्वरूप के अनुसार अनुसंधान कर सकते हैं। इस पर यह आपत्ति नहीं उठाई जानी चाहिये, कि यह प्रस्थापना जो कि आत्मा के प्रत्यक्ष को अभिव्यक्त करती है, आन्तरिक प्रत्यक्ष को अपने में अन्तर्विष्ट रखती है, अतएव जो युक्तियुक्त आत्मवाद इसके ऊपर निर्मित होगा कदापि शुद्ध नहीं होगा, प्रत्युत उतनी ही मात्रा में (जितनी मात्रा में उसमें प्रत्यक्ष का अंश है) वह अनुभवात्मक सिद्धान्त पर आधारित होगा। क्योंकि यह आन्तरिक प्रत्यक्ष इस आत्मप्रत्यक्षमात्र के अतिरिक्त और अधिक कुछ नहीं है कि "मैं विचारता हूँ" जिससे अनुभवातीत संबोध तक संभव होते हैं, जिनमें यह कहा जाता है "मैं द्रव्य का विचार करता हूँ", "मैं कारण का विचार करता हूँ" इत्यादि। क्योंकि सामान्य रूप में आन्तरिक प्रत्यक्ष और उसकी संभावना, अथवा प्रत्यक्ष सामान्य और उसका अन्य प्रत्यक्ष से संबंध (जिसमें कोई विशेष विभेद अथवा निर्धारणा न दी हुई हो) को आनुभविक ज्ञान नहीं प्रत्युत आनुभविक (तत्व) सामान्य का ज्ञान माना जाना चाहिये, एवं प्रत्येक अनुभव की

संभावना के अनुसंधान के साथ इसको गिना जाना चाहिये, जो निश्चय ही एक अनुभवातीत अनुसंधान है। प्रत्यक्ष का छोटे से छोटा विषय (उदाहरणार्थ सुख अथवा दुःख), जो यदि आत्मचेतना की प्रत्युपस्थापना के साथ सामान्यतः जोड़ दिया जाए, तो वह युक्तियुक्त मनोविज्ञान को अनुभवात्मक मनोविज्ञान में बदल देगा।

अतएव युक्तयुक्त आत्मविद्या का एकमात्र पाठ है "मैं विचारता हूँ" जिसमें से उसको अपनी समस्त बुद्धिमत्ता का विकास करना है। यह तो सरलता से दीख पड़ता है कि यदि इस विचार को किसी विषय के साथ (मेरी अपनी आत्मा के साथ) संबंध किया जाता है, तो इसमें उस विषय के अनुभवातीत विधेयों के अतिरिक्त और कुछ भी अन्तर्विष्ट नहीं होना चाहिये; क्योंकि न्यूनतम आनुभविक विधेय इस विद्या की विशुद्धता एवं समस्त अनुभव से इसकी स्वतंत्रता को विध्वस्त कर देगा।

अतएव यहाँ हमको केवल बौद्धिक प्रकारों के ही अनुसंधान सूत्र का अनुसरण करना है, बस केवल इतना अन्तर है कि यहाँ सर्वप्रथम दी हुई वस्तु है, वह वस्तु जो एक विचार करने वाली सत्ता के रूप में "मैं" है, इसलिये हम निश्चयमेव बौद्धिक प्रकारों के उपर्युक्त क्रम को, जैसा कि वह उनकी तालिका में प्रत्युपस्थापित है, परिवर्तित नहीं करेंगे, किन्तु फिर भी यहाँ पर पदार्थ के बौद्धिक प्रकार से, (जिसके द्वारा कोई भी वस्तु अपने स्वरूप में प्रत्युपस्थापित की जाती है) आरंभ करेंगे, और इस प्रकार तदुपरान्त समस्त मालिका में विपरीत क्रम से आगे बढ़ेंगे। इसके अनुसार युक्तियुक्त आत्मविद्या का अधिकृत विषय, जिससे उसमें अन्तर्विष्ट यावन्मात्र (उपादान) व्युत्पादित होने हैं निम्नलिखित है—

१

आत्मा द्रव्य है

२

गुण की दृष्टि से, वह सादा (अमिश्रित असंहत) है

३

उन विभिन्न कालों की दृष्टि से (जिनमें इसकी सत्ता रहती है, यह संख्या में एक है, अनेक नहीं है

४

देशगत संभाव्य विषयों के साथ इसका संबंध है[कां.]

शुद्ध आत्मविद्या के समस्त संबोध इन्हीं तत्वों से केवल संयोजन के द्वारा, अन्य

कां. पाठक जो इन उक्तियों से, इनकी अनुभवातीत गूढ़ता में, इनके मनोवैज्ञानिक आशय को, और इस बात को समझने में, कि आत्मा यह अन्तिम विशेषण अस्तित्व के बौद्धिक प्रकार

तत्वों को न्यूनतम मात्रा में भी ग्रहण किये बिना, (अथवा अन्य तत्वों के न्यूनतम मिश्रण के बिना) समुत्थित होते हैं। यह द्रव्य, केवल आन्तरिक इन्द्रिय के विषय के रूप में, अभौतिकता का संबोध प्रदान करता है; सादे अमिश्रित द्रव्य के रूप में अविकार्यता का; बौद्धिक द्रव्य के रूप में इसका तादात्म्य व्यक्तित्व का; यह तीनों खंड एक साथ मिल कर आध्यात्मिकता का संबोध करते हैं; देशगत विषयों के साथ इसका संबंध मूर्त पदार्थों के साथ इसके समागम प्रदान करता है; इसलिये वह विचार करने वाले द्रव्य को भौतिक तत्व में जीवन के मूलबीज के रूप में अर्थात् आत्मा और जीवधारिता के मूलाधार के रूप में प्रत्युपस्थापित करता है; यही आध्यात्मिकता के द्वारा मर्यादित होकर अमरता का संबोध प्रदान करता है।

इन संबोधों के संबंध में अनुभवातीत आत्मविद्या के—जो कि भ्रान्तिवश शुद्ध बुद्धि का विज्ञान मान ली गई है—चार तर्काभास हमारी विचार करने वाली सत्ता के स्वरूप के संबंध में हैं। परन्तु इस विद्या के मूलाधार के रूप में हम केवल सरल और अपने आप में बिलकुल रीती प्रत्युपस्थापना "मैं" के अतिरिक्त और कुछ भी स्थापित नहीं कर सकते, जिसके विषय में इतना भी नहीं कहा जा सकता कि यह कोई संबोध है प्रत्युत केवल इतना कहा जा सकता है कि यह एक ऐसी चेतना है जो समस्त संबोधों के साथ रहती है। इस मैं (अहम्) अथवा वह (सः) अथवा वह (तत्) (जड़ वस्तु) (जो विचार करता है) के द्वारा विचारों के अनुभवातीत उद्देश्य (या विषयी) के अतिरिक्त (जो कि अज्ञात तत्व क्ष के बराबर है) और कुछ भी प्रत्युपस्थापित नहीं होता, जो केवल विचारों के द्वारा, जो उसके विधेय हैं, जाना जाता है, और इनसे पृथक्, जिसका हम कोई भी लेशमात्र संबोध नहीं रखते, परन्तु केवल एक सनातन घेरे में चक्कर काटते रह सकते हैं, क्योंकि उसके संबंध में कोई विभावना बनाने के लिये हमको सर्वदा उसको प्रत्युपस्थापना को पहले से काम में लाना पड़ता है। यह ऐसी असुविधा है जिससे हम बच नहीं सकते क्योंकि चेतना स्वयं अपने आपमें ऐसी प्रत्युपस्थापना नहीं है जो किसी विशिष्ट विषय को दूसरों से पृथक् करती हो,

---

से क्यों संबद्ध है, उतनी सरलता का अनुभव न करता हो, इन पारिभाषिक शब्दों को ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग में पर्याप्तरूपेण स्पष्टीकृत और न्यायानुमोदित हुआ पाएगा। इसके अतिरिक्त मुझे उन लैटिन शब्दों के लिये भी क्षमा याचना करनी है जो सुरुचि के विरुद्ध अपने समानार्थक जर्मन शब्दों के स्थान पर ग्रन्थ के इस खण्ड में और समस्त ग्रन्थ में अन्तर्भुक्त हो गये हैं, पर इस विषय में दोषमार्जन का हेतु मेरे पास नहीं है कि मैंने अयथातथ्य और अल्पप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग के द्वारा विद्यार्थियों की कठिनाइयाँ बढ़ाने की अपेक्षा भाषा की चारुता की कुछ मात्रा में बलि देना अधिक अच्छा समझा।

प्रत्युत प्रत्युस्थापना सामान्य का उस सीमा तक आकार है जहाँ तक उसको ज्ञान कहा जाना है, क्योंकि उसी के (अर्थात् ज्ञान के) विषय में ही मैं यह कह सकता हूँ कि मैं उसके द्वारा किसी वस्तु का विचार कर रहा हूँ ।

परन्तु आरंभ से ही यह बात अनोखी सी दिखलाई पड़ेगी कि वह प्रतिबन्ध (या शर्त केवल जिसके अधीन मैं सामान्यतया विचार करता हूँ, एवं जो इस हेतु विषयी रूप में केवलमात्र मेरी ही एक निजी विशिष्टता है, वह उसी प्रकार से ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के विषय में प्रामाणिक हो जो विचार करता है,तथा एक आनुभविक जैसी प्रतीत होने वाली प्रस्थापना पर हम एक स्वयंसिद्ध और सर्वव्यापी विभावना को आधारित करने की धृष्टता कर सकते हैं, अर्थात् यह कह सकते हैं कि जो भी विचार करता है ऐसे प्रकार से संघटित होना चाहिये, जैसा आत्मचेतना की वाणी उसको मुझे बतलाती है। इसका कारण यह है कि हम वस्तुओं के प्रति उन सब गुणों का प्रागनुभवात्मकतया एवं अनिवार्यतया अवश्यमेव निर्देशन कर देते हैं जो उन शर्तों को संघटित करते हैं, केवल जिनके अधीन हम उनका विचार करते हैं। अब मैं किसी विचार करने वाली सत्ता की न्यूनतम प्रत्युपस्थापना भी किसी बाह्य अनुभव के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत केवल आत्मचेतना के द्वारा ही प्राप्त कर सकता हूँ । इसलिये इस प्रकार के विषय, मेरी इस चेतना के अन्य वस्तुओं में स्थानान्तरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, जो केवल इसी प्रकार विचार करने वाली सत्ताओं के रूप में प्रत्युपस्थापित किये जाते हैं। परन्तु यहाँ पर, "मैं विचारता हूँ" यह प्रस्थापना केवल संभाव्यतावाची प्रस्थापना के रूप में ग्रहण की गई है, उस सीमा तक नहीं जहाँ तक यह एक सत्तावान् के (दे कार्त के चिन्तन करता हूँ, अतः मैं हूँ) प्रत्यक्ष को अपने में अन्तर्विष्ट किये हो, प्रत्युत केवल उसकी संभावना की दृष्टि से यह देखने के लिये ग्रहण की गई है कि ऐसी सादी अविमिश्रित प्रस्थापना से इसके विषयी के प्रति (चाहे वह विषयी वास्तव में सत्तावान् हो अथवा न हो) लागू होने योग्य कौन से धर्म निष्पादित हो सकते हैं।

यदि शुद्ध बुद्धि के द्वारा प्राप्त हमारा विचार करने वाली सत्ता सामान्य का ज्ञान 'मैं विचार करता हूँ' से कुछ अधिक पर आधारित होता, और यदि इसी प्रकार हमने अपने विचारों की क्रीड़ा से संबद्ध निरीक्षणों,तथा इन विचारों से व्युत्पादित होने वाले विचारवान् आत्मा के प्राकृतिक नियमों से भी सहायता ली होती , तो एक आनुभविक मनोविज्ञान की उत्पत्ति हुई होती, जो आन्तरिक इन्द्रिय की एक प्रकार की अंगव्यापारविद्या होती, जो स्यात् उस (आन्तरिक इन्द्रिय) के अवभासों को स्पष्ट करने में तो समर्थ होती परन्तु उन धर्मों को उद्घाटित करने में जो संभाव्य अनुभव से कुछ भी संबंध नहीं रखते (जैसे अविमिश्रित का गुण) तथा विचारवान

सत्ता सामान्य के स्वरूप के संबंध में किसी स्वयंसिद्ध ज्ञान को उपजाने में कदापि समर्थ न होती ; इसलिये यह विवेकाश्रित आत्मविद्या न होती।

क्योंकि (सम्भाव्य अर्थ में गृहीत) यह प्रस्थापना कि "मैं विचारता हूँ", बोध-वृत्ति की (निःशेषतया) प्रत्येक विभावना को अपने में अन्तर्विष्ट रखती है, और प्रत्येक बौद्धिक प्रकार के साथ उसके वाहन के रूप में रहती है, अतएव यह अवश्य ही स्पष्ट होना चाहिये कि इससे प्राप्त किये हुए अनुमानों में बोधवृत्ति का केवल अनुभवातीत उपयोग ही अन्तर्विष्ट हो सकता है, जो अनुभव के समस्त मिश्रण को अस्वीकार कर देता है, तथा उसके विषय में ऊपर जो कुछ हम दिखला चुके हैं, उसके पश्चात् उसकी पद्धति के विषय में कोई अधिक अनुकूल पूर्वधारणा नहीं बना सकते। इसलिये हम इसका शुद्ध मनोविज्ञान (या आत्मविद्या) की समस्त स्थितियों में एक आलोचनात्मक दृष्टि से अनुसरण करेंगे।

द्रव्य वह है जिसकी प्रत्युपस्थापना हमारी विभावनाओं का निरपेक्ष उद्देश्य होता है और इसलिये किसी अन्य वस्तु की निर्धारणा के रूप में काम नहीं दे सकता।

मैं, विचार करनेवाली सत्ता के रूप में अपनी समस्त संभव विभावनाओं का निरपेक्ष उद्देश्य हूँ तथा मेरे अपने स्वरूप की यह प्रत्युपस्थापना किसी अन्य वस्तु के विधेय के रूप में प्रयुक्त नहीं हो सकती।

अतः मैं विचार करने वाली सत्ता के रूप में (आत्म रूप में) द्रव्य हूँ।

शुद्ध मनोविज्ञान के प्रथम तर्काभास की अलोचना

अनुभवातीत तर्कशास्त्र के विश्लेषणात्मक खंड में हम दिखला चुके हैं कि शुद्ध बौद्धिक प्रकार (और उनके मध्य में द्रव्य का बौद्धिक प्रकार भी) स्वतः अपने आपमें (वहाँ) कोई भी वैषयिक अर्थ नहीं रखते, संक्षिप्तता के हेतु हम इस परीक्षण को अखण्डित सातत्य के साथ चालू रहने देंगे।

आरंभ में ही, निम्नलिखित सामान्य आलोकन इस प्रकार की युक्तियों के प्रति हमारी अवधानता को अधिक तीक्ष्ण बना देंगे। मैं किसी विषय को केवल इसी से नहीं जानता कि मैं विचार करता हूँ, प्रत्युत किसी दिए हुए प्रत्यक्षानुभव को उस चेतना की एकता की दृष्टि से, (जिसमें सब विचार अपनी सत्ता रखते हैं) निर्धारित करने से ही मैं किसी विषय को जान सकता हूँ। अतएव मैं अपने को, केवल अपने विषय में विचारने वाला होने की चेतनामात्र से नहीं जानता, प्रत्युत केवल तभी जानता हूँ जब मैं विचार की वृत्ति की दृष्टि से निर्धारित स्वयं अपने आपके प्रत्य-क्षानुभव के विषय में चेतना रखता हूँ। विचार में स्वचेतना के समस्त प्रकार स्वतः विषयों के संबोध (बौद्धिक प्रकार, या कोटियाँ) नहीं होते, प्रत्युत केवल वृत्तियाँ-

मात्र होते हैं जो विचार को ज्ञातव्य विषय प्रदान नहीं करते और इसलिये स्वयं मुझे भी विषयरूप में प्रदान नहीं करते। निर्धारक आत्मा की चेतना विषय नहीं होती प्रत्युत केवल निर्धार्य (आत्मा) की चेतना विषय होती है, अर्थात् (जहाँ तक इसका विविधरूप, विचार में आत्मप्रत्यक्ष की एकता के सर्वव्यापी प्रतिबन्ध शर्त के अनुसार संबद्ध किया जा सकता है वहाँ तक) मेरे आन्तरिक प्रत्यक्षानुभव की चेतना विषय होती है।

(१) प्रत्येक विभावना में केवल मैं उस संबंध को सर्वदा निर्धारित करने वाला उद्देश्य हूँ जो विभावना को संघटित करता है। किन्तु यह तथ्य कि वह "मैं" जो मैं विचार करता है, सर्वदा एक उद्देश्य और कुछ ऐसी वस्तु माना जा सकता है जो विचार से केवल विधेय के रूप में संबद्ध नहीं होता, एक स्वयंसिद्ध और अभिन्न प्रस्थापना है, यह स्वीकार किया जाना चाहिये; पर इसका यह आशय नहीं है कि विषय के रूप में "मैं" मेरे लिये आत्मनिर्भर सत्ता अथवा द्रव्य है। यह दूसरा कथन प्रथम की सीमा से बहुत आगे निकल जाता है, उपपत्ति के लिये ऐसी सामग्री की मांग करता है जो विचार में नहीं मिलती, और स्यात् (जहाँ तक मैं विचार करने वाले आत्मा पर इसी रूप में दृष्टि रखता हूँ) जो कुछ सामग्री उसमें सर्वदा मिल सकेगी उससे यह (याचित सामग्री) अधिक है।

(२) यह तथ्य कि आत्मप्रत्यक्ष का 'मैं', और परिणामतः प्रत्येक विचारगत "मैं" एक है जो उद्देश्यों की अनेकता में विघटित नहीं किया जा सकता, और इसलिये यौक्तिकतया सरल अमिश्रित विषयी को सूचित करता है, एक ऐसी बात है जो विचार के संबोध में पूर्वतः सन्निविष्ट है, अतएव विश्लेषणात्मक प्रस्थापना है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि विचार करने वाला "मैं" अमिश्रित सरल द्रव्य है, जो सांश्लेषिक प्रस्थापना होगा। द्रव्य का संबोध सर्वदा ऐसे प्रत्यक्षानुभवों से संबद्ध हुआ करता है जो मुझमें इन्द्रियग्राह्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते, और जो इसलिये बोधवृत्ति के क्षेत्र और उसके विचार से बिलकुल बाहर रहते हैं, पर जिसके अपने निजी विषय में यह कहा जाएगा, जब यह कहा जाएगा कि विचार में "अहं (मैं)" सादा अमिश्रित होता है। वास्तव में यह आश्चर्य की बात होगी कि जो अन्य प्रसंगों में निर्धारित करने में उतने अधिक परिश्रम की अपेक्षा करता है—अर्थात् यह निर्धारित करने में कि जो सब कुछ प्रत्यक्षानुभवों में प्रस्तुत किया गया है उसमें द्रव्य क्या है, और फिर इसके आगे यह निर्धारित करने में कि क्या यह द्रव्य (उदाहरणार्थ, भौतिक पदार्थ के भागों में) अमिश्रित है, अत्यधिक परिश्रम की माँग करता है—वही यहाँ इस प्रकार मेरे प्रति सब प्रत्युपस्थापनाओं से हीनतम प्रत्युपस्थापना

में, दैवी प्रकाशन के समान सीधा प्रदर्शित हो जाए ।

(३) यह प्रस्थापना, कि उस समस्त नानात्व में (जिसकी मुझे चेतना है) मैं अपने साथ अभिन्न हूँ, इसी प्रकार स्वयं संबोधों में भी उपलक्षित रहती है, अतएव यह एक वैश्लेषिक प्रस्थापना है; परन्तु विषयी की यह अभिन्नता, जिसके विषय में मैं अपनी सब प्रत्युपस्थापनाओं से चेतनावान् हो सकता हूँ, उद्देश्य विषयी के किसी ऐसे प्रत्यक्षानुभव से वास्ता नहीं रखता, जिसके द्वारा यह विषय के रूप में प्रदान किया जाता है, और इसलिये यह पुरुष (व्यक्ति) की अभिन्नता को भी सूचित नहीं कर सकता, जिसके द्वारा, विचार करने वाली सत्ता के रूप में, (अवस्थाओं के समस्त परिवर्त्तनों के मध्य में) उसके अपने द्रव्य की अभिन्नता की चेतना समझी जाती है, जिसको सिद्ध करने के लिये, केवलमात्र "मैं विचार करता हूँ" इस प्रस्थापना का विश्लेषण ही पर्याप्त नहीं होगा, प्रत्युत उसके लिये तो दिये हुए प्रत्यक्षानुभव पर आधारित विभिन्न सांश्लेषिक विभावनाएँ अपेक्षित होंगी ।

(४) यह जो अपने निजी अस्तित्व को मैं, एक विचार करने वाली सत्ता के रूप में, अपने से बाहर की वस्तुओं से (जिनमें मेरा शरीर भी है) पृथक् करता हूँ, यह भी इसी प्रकार से एक विश्लेषणात्मक प्रस्थापना है; क्योंकि अन्य वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको मैं अपने से अलग समझता हूँ । परन्तु यह मेरी अपनी आत्मा की चेतना मुझ-से बाहर की वस्तुओं के बिना, (जिनके द्वारा प्रत्युपस्थापनाएँ मुझे प्रदान की जाती हैं) संभव भी होगी या नहीं, और इसलिये क्या मैं केवल विचार करने वाली सत्ता के रूप में (अर्थात् मानवाकार में विद्यमान रहे बिना) अस्तित्व रख सकता हूँ, इन बातों को मैं इसके द्वारा बिलकुल नहीं जान सकता ।

इस प्रकार विचार में सामान्यरूपेण मेरी आत्मा की चेतना का विश्लेषण, विषय के रूप में मेरी आत्मा के ज्ञान के संबंध में कुछ भी प्रकाश प्रदान नहीं करता । विचार सामान्य के तर्कशास्त्रीय विवरण को भ्रान्तिवश विषय का पराविद्यासंबंधी निर्धारण मान लिया गया है ।

यदि प्रागनुभवात्मकतया इस बात को सिद्ध करने की संभावना होती कि सब विचार करने वाली सत्ताएँ अपने आप में अमिश्रित सरल द्रव्य हैं, और परिणामतः (जैसा उपपत्ति से इसी प्रकार निष्कर्ष निकलता है) व्यक्तित्व उनसे अवियोज्य है, तथा वे, समस्त भौतिक तत्व से पृथक् अपने अस्तित्व के विषय, में चेतनासमन्वित हैं, तो यह सचमुच ही हमारी समग्र मीमांसा के मार्ग में एक बड़ा भारी रोड़ा होता या इससे भी बढ़कर एक अनुत्तरणीय बाधा होती । क्योंकि इस प्रकार से तो हमने ऐन्द्रिय जगत् से परे पदार्पण कर दिया होता, हम अतीन्द्रिय तत्व के क्षेत्र में प्रविष्ट

हो गये होते; और अब इस क्षेत्र में और भी आगे वढ़ते जाने अथवा बस जाने के हमारे अधिकार का कोई भी विरोध न कर सकता, और जैसे-जैसे प्रत्येक के प्रति उसका भाग्यनक्षत्र अनुकूल होता जाता तो उस क्षेत्र पर अधिकार करने के विषय में भी ऐसा ही होता । यह प्रस्थापना, कि प्रत्येक विचार करने वाली सत्ता, स्वरूपतः, एक अमिश्रित सरल द्रव्य है, एक सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक प्रस्थापना है, क्योंकि प्रथम तो वह अपने आधारभूत संबोध का अतिक्रमण करता है और विचारणा सामान्य के साथ अस्तित्व के प्रकार को जोड़ देता है, और दूसरे वह इस संबोध के साथ राक्ट-रोमे विधेय (अमिश्रितता) को जोड़ देता है, जो किसी भी अनुभव में दिया हुआ नहीं हो सकता । इस प्रकार सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाएँ न केवल (जैसा कि हमारा दावा है) संभाव्य अनुभव के विषयों के संबंध में, और वास्तव में इस अनुभव की संभावना के सिद्धान्त के रूप में ही व्यवहार्य और स्वीकार्य हैं, प्रत्युत वे वस्तु सामान्य और स्वरूपतः सत् वस्तुओं के प्रति भी लागू होती हैं—यह एक ऐसा परिणाम है जो हमारी समस्त मीमांसा को समाप्त कर देगा, और हमको पुरातन पद्धति को स्वीकार करने के लिये विवश कर देगा । पर यदि अधिक निकट से देखा जाए तो भय इतना अधिक गंभीर नहीं प्रतीत होगा ।

युक्तियुक्त मनोविज्ञान की प्रक्रिया में एक तर्काभास है, जो निम्नलिखित अनुमान संवाक्य से अभिव्यक्त किया जा सकता है—

जिसका विचार, उद्देश्य या विषयी के रूप के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नहीं किया जा सकता, वह विषयी के रूप को छोड़, अन्य प्रकार से सत्तावान् नहीं हो सकता; और इसलिये वह द्रव्य है ।

अब, एक विचार करने वाली सत्ता, केवल ऐसे ही रूप में मानी जाने पर, विषयी के अतिरिक्त अन्य रूप में नहीं विचारी जा सकती ।

अतएव उसकी सत्ता भी केवल ऐसे ही है, अर्थात् द्रव्यरूप में है ।

व्याप्ति वाक्य में एक ऐसी सत्ता की बात कही गई है जिसका विचार सामान्यतया प्रत्येक संबंध या दृष्टि से किया जा सकता है, अतएव उस दृष्टि से किया जा सकता है जैसे वह प्रत्यक्षानुभव दी हुई हो सकती है । पर उपनय में उसी सत्ता की चर्चा केवल वहीं तक करते हैं, जहाँ तक यह अपने को केवल विचार के और चेतना की एकता के संबंध में विषयी (या उद्देश्य) मानता है, परन्तु इसी प्रकार उस प्रत्यक्षानुभव के संबंध में नहीं मानता, जिसके द्वारा वह विचार को एक विषय के रूप प्रदान किया

जाता है। इस प्रकार यह अनुमान हेत्वाभासपूर्ण ढंग से सम्प्राप्त हुआ है। [कां.]

यह तथ्य, कि इस सुप्रसिद्ध युक्ति को तर्काभास के रूप में विघटित करना पूर्णतया समुचित है, उस समय बिलकुल स्पष्ट प्रतीत हो जाएगा जब कि उन बातों को पुनः स्मरण किया जाएगा जो बातें सिद्धान्तों की सुव्यवस्थित प्रत्युपस्थापनाओं की सामान्य टिप्पणी तथा बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय तत्व के खण्ड में कही गई थीं, क्योंकि वहाँ यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि किसी ऐसी वस्तु का संबोध जो स्वतः उद्देश्य के रूप में सत्तावान् हो सकती है, पर केवल विधेय के रूप में नहीं हो सकती, अपने साथ किसी भी वैषयिक वास्तविकता को वहन नहीं करती, अर्थात् यह नहीं जाना जा सकता कि किसी ऐसे विषय की सत्ता, जिसके प्रति यह संबोध लागू हो सकता हो, है या नहीं—जहाँ तक इस प्रकार के अस्तित्व की संभावना का प्रश्न है, इसके निर्णय का कोई साधन नहीं है—परिणामतः वह (संबोध) हमको लेशमात्र भी ज्ञान प्रदान नहीं करता। यदि इस प्रकार 'द्रव्य' शब्द से आशय ऐसे विषय से हो जो कि दिया हुआ हो सकता है, और यदि उसको ज्ञान हो (बन) जाना है, तो किसी भी संबोध की वैषयिक यथार्थता की अपरिहार्य शर्त के रूप में, उसको स्थायी प्रत्यक्षानुभव के ऊपर आश्रित हुआ होना चाहिये, केवलमात्र जिसके द्वारा विषय प्रदत्त हुआ होता है। अब, आन्तरिक अनुभव में तो हम कुछ भी लेशमात्र स्थायी नहीं रखते, क्योंकि

कां. अनुमान के दोनों अवयवों (व्याप्ति और उपनय) में "विचार" शब्द नितान्त पृथक् अर्थों में ग्रहण किया गया है; व्याप्ति में विषय सामान्य के साथ संबद्ध रूप में (इसलिये ऐसे विषय के साथ संबद्ध रूप में जैसा कि वह प्रत्यक्षानुभव में दिया हुआ हो सकता है) ग्रहण किया गया है; तथा उपनय में इसको केवल उस रूप में ग्रहण किया गया है जो आत्मचेतना के संबंध में घटित होता है, जिस अर्थ में किसी भी विषय का विचार लेशमात्र भी नहीं किया जा रहा है, प्रत्युत (विचार के आकार के रूप में) केवल आत्मचेतना के साथ विषयी के संबंधमात्र का विचार किया जा रहा है। पहले अवयव में वस्तुओं की चर्चा की गई है जो वस्तुएँ विषयी (या उद्देश्य) के रूप को छोड़ अन्य रूप में विचारी ही नहीं जा सकतीं; पर दूसरे अवयव में वस्तुओं की नहीं प्रत्युत (सब विषयों की ओर से ध्यान हटा लेने के कारण) विचारों की चर्चा की गई है, जिसमें अहम् (मैं) सर्वदा चेतना के उद्देश्य (या विषयी) के रूप में काम देता है; इसलिये निष्कर्ष रूप में यह अनुमान नहीं निकल सकता कि विषयी (या उद्देश्य) के रूप को छोड़ कर मैं अन्यथा सत्तावान् ही नहीं हो सकता, प्रत्युत केवल इतना अनुमान निकल सकता है कि "अपनी सत्ता का विचार करने में मैं अपने को उस विभावना (कर्त्ता या उद्देश्य) के रूप को छोड़ (जो विभावना) उस अपनी सत्ता के विचार में संन्निहित है, अन्य किसी रूप में प्रयुक्त नहीं कर सकता" परन्तु यह एक अभिन्न प्रस्थापना है, जो मेरे अस्तित्व के प्रकार के संबंध में कुछ भी प्रकट नहीं करता।

मैं (या अहम्) तो केवल मेरे विचारमात्र की चेतना है, इसलिये यदि हम केवलमात्र विचार के साथ चिपटे रहते हैं, तो हम, द्रव्य के संबोध को अर्थात् आत्मनिर्भर विषयी के संबोध को विचार करने वाली सत्ता के रूप में आत्मा के प्रति लागू कर सकने लिये अनिवार्य शर्त से वंचित रहते हैं। इस प्रकार इस संबोध की वैषयिक यथार्थता के साथ उसके साथ आवद्ध द्रव्य की अमिश्रित सरलता भी पूर्णतया अन्तर्धान हो जाती है, तथा यह विचार सामान्य के अन्तर्गत आत्मचेतना की मौलिक और गुणात्मक एकता में पूर्णतया परिणत हो जाती है और इस बात की बाबत कि विषयी मिश्रित है या अमिश्रित, हम पूर्णतया अज्ञान में रहते हैं।

आत्मा के द्रव्यत्व या स्थायित्व के संबन्ध में मैण्डैल्सोन् की उपपत्ति का खण्डन

इस तीक्ष्ण दृष्टि वाले दार्शनिक ने शीघ्र इस तथ्य को ताड़ लिया कि वह प्रायिक युक्ति जिसके द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि आत्मा (यदि यह मान लिया जाए कि वह अमिश्रित सरल सत्ता है) विघटन के द्वारा समाप्त नहीं हो सकता, अपने उद्देश्य अर्थात् उस आत्मा के अनिवार्य सातत्य को सिद्ध करने के लिये अपर्याप्त थी क्योंकि उसकी सत्ता की समाप्ति अन्तर्धान मात्र होने से भी तो मानी जा सकती है। इसमें अपनी "फएदो" नामक रचना में इस क्षणभंगुरता के विषय में, (जो कि सच्चा सत्ता-नाश होता) यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आत्मा इस प्रकार विनाश का पात्र नहीं है, ऐसा उसने इस प्रदर्शन के द्वारा कि कोई असंहत सरल सत्ता समाप्त हो ही नहीं सकती, क्योंकि जब आत्मा घट नहीं सकता, अतः क्रमशः अपनी सत्ता के कुछ अंश को खो नहीं सकती जिससे शनैः शनैः शून्य में परिवर्तित हो जाए (इसलिये कि उसमें भागों के न होने के कारण अनेकता भी नहीं है), अतएव उन दो क्षणों के मध्य में जिनमें से एक में उसकी सत्ता हो तथा दूसरे में जिसमें उसकी सत्ता न रहे कोई समय उपलब्ध नहीं हो सकता—जो एक असंभव बात है। किन्तु उसने इस बात का विचार नहीं किया कि यदि हम आत्मा का अमिश्रित सरल रूप मान भी लें, अर्थात् यह स्वीकार भी कर लें कि उसमें उसके ऐसे घटकों का नानात्व नहीं है जो एक दूसरे से बाहरी हों, और इसी लिये उसमें विस्तार की भी मात्रा नहीं है, तो भी तो उसके पक्ष में उसी प्रकार जिस प्रकार कि अन्य सत्तावानों के पक्ष में होता है, सघनता की मात्रा का तो प्रतिवाद नहीं किया जा सकता, अर्थात् उसकी समस्त शक्तियों के संबंध में वास्तविक की मात्रा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, नहीं इतना ही नहीं, उस सबके संबंध में भी जो उसके

अस्तित्व को निर्मित करता है, यही बात लागू होती है और वास्तविकता की यह मात्रा अनन्त बहुत सी अल्पतर मात्राओं में घटती जा सकती है और इस प्रकल्पित द्रव्य (अर्थात् वह वस्तु जिसका स्थायित्व अभी सिद्ध नहीं हुआ है) निश्चयमेव विघटन के कारण नहीं, प्रत्युत उसकी शक्ति की धीमी धीमी हानि के कारण, अतएव यदि मुझे एक नये शब्द का प्रयोग करने दिया जाए तो प्रविलम्बितक्षय के द्वारा शून्य में परिवर्तित हो सकता है। क्योंकि स्वयं चेतना तक में मात्रा क्रम होता है, जो सर्वदा घटती जा सकती है,[का.] परिणामतः यही बात स्वयं अपने आपे के विषय में चेतनावान् होने की शक्ति या वृत्ति के विषय में भी लागू होनी चाहिये और इसी प्रकार सब अन्य अवशिष्ट शक्तियों (या वृत्तियों) के विषय में भी ––इस प्रकार आत्मा का स्थायित्व आन्तरिक इन्द्रिय के विषय में, रूप में, अनुपपन्न ही रहती है, इतना ही यह अनुपपाद्य तक रहती है, यद्यपि (व्यक्ति के) जीवन में इसका स्थायित्व स्वतः स्पष्ट है क्योंकि (मानव के रूप में) विचार करने वाली सत्ता स्वयं भी इसी प्रकार लिये बाह्येन्द्रियों का विषय होती है; पर यह स्थिति उस युक्तिवादी मनोविज्ञानवेत्ता के लिए पर्याप्तरूपेण सन्तोषप्रद नहीं है जो केवल-मात्र संबोधों के सहारे इस आत्मा के मृत्यु पश्चात् भी निरपेक्ष अमरत्व को सिद्ध का बीड़ा उठाए हुए है।[कां.१]

कां. जैसा कि तार्किक लोग कहते हैं, स्पष्टता किसी प्रत्युपस्थापना की चेतना नहीं है; क्योंकि चेतना की एक अमुक निश्चत मात्रा तो, चाहे वह स्मृति के लिये भले ही पर्याप्त न हो, बहुत सी अस्पष्ट या धुँधली प्रत्युपस्थापनाओं तक में उपलब्ध होनी चाहिये, इस कारण कि समस्त चेतना के अभाव में धुँधली प्रत्युपस्थापनाओं के विभिन्न संयोगों में कोई अन्तर नहीं कर सकेंगे, जो कि हम अब भी बहुत से संबोधों के लक्षण के संबंध में करने में समर्थ हैं, (जैसे कि न्याय और साम्य के विषय में अथवा जैसा तब होता है जब कोई संगीतज्ञ आशु प्रभाव उत्पन्न करने के लिये एकाधिक स्वरों को एक साथ छेड़ देता है)। प्रत्युत कोई प्रत्युपस्थापना तब स्पष्ट होती है जब कि चेतना अन्य प्रत्युपस्थापनाओं से इस प्रत्युपस्थापना के भेद की चेतना के लिये पर्याप्त न हो, तो भी प्रत्युपस्थापना को अस्पष्ट ही कहा जाएगा। अतएव चेतना की मात्राओं की बहुलता अनन्त है जो घटते घटते उसके अन्तर्धान होने तक पहुँचती हैं।

कां. १. वे विचारक, जो किसी नवीन संभावना को स्थापित करने में, यह ख्याल किया करते हैं कि यदि उन्होंने (दूसरों को) यह चुनौती दे दी कि उनकी पूर्वकल्पित धारणाओं में कोई विसंवादिता नहीं दिखलाई जा सकती, तो उन्होंने पर्याप्त कार्य कर डाला। ऐसा उन लोगों का विश्वास है जो विचार की संभावना का—जिसका उदाहरण उनको के मानव जीवन अनुभवगत प्रत्यक्षानुभव से उपलब्ध होता है,—इस जीवन की समाप्ति के पश्चात भी बना रहना मानते हैं। दूसरी संभावनाओं के द्वारा जो लेशमात्र भी अधिक साहसपूर्ण नहीं है, महान् असमंजस में डाले

अब यदि हम अपनी उपर्युक्त प्रस्थापनाओं को सांश्लेषिक संबंध में ग्रहण करें--ऐसे रूप में ग्रहण करें कि वे कि सबके लिये प्रामाणिक हों, जिस रूप में सचमुच ही वे

जा सकते हैं इसी प्रकार की एक संभावना है किसी सरल अमिश्रित द्रव्य का अनेक द्रव्यों में बट जाना और इससे विपरीत दूसरी ओर अनेक द्रव्यों का मिल कर एक सरल अमिश्रित द्रव्य बन जाना। क्योंकि, यद्यपि विभाज्यता संमिश्रित की पूर्वकल्पना पर आश्रित है तो भी यह द्रव्यों के संमिश्रित (तत्व) की ही अनिवार्य माँग नहीं करती प्रत्युत एकमेवाद्वितीय द्रव्य की (नाना प्रकार की शक्तियों की) मात्रा की माँग अपेक्षा करती है। अब जैसे, आत्मा की समस्त शक्तियों और वृत्तियों, और आत्मा की ही क्यों चेतना तक की शक्तियों को घट कर आधी रही हुई विचार किया जा सकता है, परन्तु द्रव्य तिस पर भी बच रहता है। वैसे ही बिना किसा विसंवादिता के इस निर्वाण को प्राप्त हुए आधे को भी, आत्मा के भीतर नहीं अपितु, उससे बाहर सुरक्षित बचा हुआ प्रत्युपस्थापित किया जा सकता है । और; क्योंकि आत्मा में जो कुछ वास्तविक है और मात्रा रखता है, उसका समस्त अस्तित्व ही, जिसमें लेशमात्र भी कमी नहीं है, दो समान भागों में आधा-आधा बट गया है, तब ऐसा होने पर एक पृथक् द्रव्य उत्पन्न हो जाएगा। क्योंकि वह बहुत्व जो कि विभक्त हो गया है पहले से ही था, परन्तु द्रव्य के बहुत्व के रूप में नहीं, प्रत्युत उस (द्रव्य में) स्थित अस्तित्व की मात्रा के रूप में प्रत्येक वास्तविकता के बहुत्व के रूप में स्थित था, तथा द्रव्य की एकता तो केवल अस्तित्व का एक प्रकारमात्र थी जो इस विभाजन के द्वारा वृति की अनेकता में परिवर्तित हो गई है। इसी प्रकार कई एक सरल अमिश्रित द्रव्य घुलमिल कर एक द्रव्य के रूप में परिणित हो सकते हैं, जिससे केवल द्रव्यों की अनेकता के अतिरिक्त और कुछ भी विनष्ट नहीं होगा, क्योंकि एक ही द्रव्य में उतनी वास्तविकता की मात्रा अन्तर्विष्ट होगी जितनी पूर्ववर्ती सब द्रव्य में एक साथ मिल कर थी; स्यात् उन सरल अमिश्रित द्रव्यों को, जो हमको वह अवभास प्रदान करते हैं जिसको हम भौतिक तत्व नाम देते हैं (पर वे ऐसा सचमुच ही पारस्परिक यांत्रिक अथवा रासायनिक प्रभाव के द्वारा नहीं, प्रत्युत किसी ऐसे प्रभाव के द्वारा जो हमको अज्ञात है, (एवं) प्रथम वर्णित प्रभाव जिसका अवभासमात्र होगा) हम सघनमात्रा रूप जनक की आत्मा के इस प्रकार के गत्यात्मक विभाजन के द्वारा मानों शिशु आत्माओं को उत्पन्न करते हुए कल्पना कर सकते हैं, और यह भी कि वे अपनी (इस प्रजनन कार्य से उत्पन्न हुई) हानि को उसी प्रकार के नवीन उपादान के सम्मिश्रण द्वारा पूरा कर लेते हैं। मैं इस प्रकार की व्यर्थ की मग़ज़मारी का लेशमात्र भी मूल्य या प्रामाण्य स्वीकार नहीं करता, और हमारी वैश्लेषिकी में वर्णित उपर्युक सिद्धान्तों ने भी इस बात को भली भाँति हृदयंगम करा दिया है कि बौद्धिक प्रकारों का (उदाहरण स्वरूप, द्रव्य के बौद्धिक प्रकार का आनुभविक उपयोग के अतिरिक्त अन्य कोई उपयोग न किया जाए। पर यदि बुद्धिवादी विचार की शक्तिमात्र में से (बिना किसी स्थायी प्रत्यक्षानुभव के जिसके द्वारा कोई विषय प्रदान किया जा सकता है) एक आत्मनिर्भर सत्ता का निर्माण करने का पर्याप्त साहस रखने वाला है, और ऐसा भी केवल इसलिये कि क्योंकि विचार में आत्मप्रत्यक्ष की एकता उसको अपनी ऐसी व्याख्या करने की आज्ञा

यौक्तिक मनोविज्ञान में ग्रहण की जानी चाहिये, और तब संबंध के बौद्धिक प्रकार से, इस प्रस्थापना के साथ कि "समस्त विचार करने वाली सत्ताएँ स्वरूपतः द्रव्य हैं," (समस्त) प्रस्थापनाओं की श्रृंखला में पीछे की ओर तब तक चलें, जब तक कि मंडल पूर्ण हो जाए, तब हम अन्त में उनके अस्तित्व पर आ पहुँचते हैं, जिसके विषय में वे इस संस्थान में, बाह्य वस्तुओं से स्वतंत्र रहते हुए, न केवल चेतनावान् होते हैं, प्रत्युत (स्थायित्व के संबंध में, जो कि द्रव्य के लक्षण के साथ अनिवार्यतया संबद्ध है) उसको स्वयं अपने आप ही निर्धारित भी कर सकते हैं। परन्तु इससे यह परिणाम निकलता है कि इस यौक्तिक विचार संस्थान में विज्ञानवाद (या कम से कम) संभाव्यतावादी विज्ञानवाद अनिवार्यतया आवश्यक है, क्योंकि यदि किसी के अपने देशगत अस्तित्व को निर्धारित करने के लिये बाह्य वस्तुओं की सत्ता लेशमात्र भी अपेक्षित नहीं है तो उनकी सता की मान्यता (कल्पना) एक निर्निमित्त कल्पना है जिसकी कोई भी उपपत्ति कदापि भी नहीं दी जा सकती।

इसके दूसरी ओर, यदि, वैश्लेषिकतया चलें और "मैं विचार करता हूँ" इस प्रस्थापना से आरंभ करके (जो प्रस्थापना के रूप में किसी अस्तित्व को दिये हुए रूप में धारण करता है और इसी लिये प्रकारता के बौद्धिक प्रकार को धारण किये है), उसके अन्तर्विषय को निश्चित करने तथा इस प्रकार यह खोज लगाने के लिये कि क्या यह "मैं" उस अन्तर्विषयमात्र के द्वारा अपने अस्तित्व को निर्धारित करता है, और करता है तो कैसे करता है, इसका विश्लेषण करते हुए, आगे बढ़ें, तो यौक्तिक आत्मविद्या की प्रस्थापनाएँ विचारशील सत्ता सामान्य के संबोध के साथ आरंभ नहीं होंगी प्रत्युत वास्तविकता के साथ आरंभ होंगी तथा जिस प्रकार से इस वास्तविकता का विचार किया जाता है उस प्रकार से (उससे प्रत्येक आनुभविक तत्व को अलग कर देने के उपरान्त उस बात के संबंध में अनुमान करना चाहिये जिसका संबंध विचारशील सत्ता सामान्य से है, जैसा आगे आने वाली तालिका में दिखलाया गया है।

१ मैं विचार करता हूँ

२ विषयी के रूप में ३ अनिश्चित विषयी के रूप में

४ अपने विचार की प्रत्येक अवस्था में एकमेवाद्वितीय विषयी के रूप में

नहीं देती जो वह किसी मिश्रित सत्ता से उत्पन्न हुई है, बजाय इस बात को सरलता से स्वीकार करने के, जैसा करना उसके लिये अधिक अच्छा होता, कि उसके विचार करने वाली प्रकृति की संभावना की व्याख्या करना शक्य नहीं है, तो फिर भौतिकवादी को भी अनुभव की उतनी ही पूर्ण स्वाधीनता के साथ, उसी प्रकार के साहसिक कार्य करने का अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए कि जिस औपचारिक एकता का आधार उसके विरोधी ने लिया था, उसको बनाए रखते हुए, उसके विरोधी परिणाम पर पहुँचने के उसके सिद्धान्त का उपयोग करे?

क्योंकि यहाँ दूसरी स्थापना में यह निश्चित नहीं किया गया है, क्या मैं केवल एक उद्देश्य के ही रूप में सत्तावान हो सकता हूँ और विचारा जा सकता हूँ, और अन्य किसी सत्ता के विधेय के भी रूप में नहीं; और यहाँ उद्देश्य का संबोध केवलमात्र न्यायशास्त्र के प्रसंग में ग्रहण किया गया है, और यह बात अनिर्धारित ही रह गयी है कि हम इससे द्रव्य का आशय समझें या न समझें। परन्तु तीसरी प्रस्थापना में आत्म-प्रत्यक्ष की आत्यन्तिक एकता, अमिश्रित सरल अहम् (मैं), जिसके प्रति प्रत्युपस्थापना में समस्त संयोजन अथवा वियोजन जो कि विचार को संघटित करता है संबद्ध होता है, अपना निजी महत्व रखती है, यद्यपि मैंने अब तक विषयी (अथवा उद्देश्य) की संघटना अथवा उसके टिकाउपन के विषय में कुछ भी निर्धारित नहीं किया है। आत्म-प्रत्यक्ष तो कुछ एक यथार्थ (वस्तु या तत्व) है और इसकी सरलता (अनिश्चितता) (अमिश्रितता) तो इसकी संभाव्यता में ही निहित है। किन्तु, देश के अन्तर्गत ऐसी कुछ भी यथार्थ वस्तु नहीं है जो सरल (अमिश्रित) हो; क्योंकि विन्दु (जो कि देश के अन्तर्गत केवलमात्र सरल या अमिश्रित तत्व हैं) तो सीमाएँ भर हैं, किन्तु स्वयं स्वतः कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं जो अंशों के द्वारा देश (या अवकाश) को संघटित करने के काम आ सके। इस प्रकार इससे, केवल विचार करने वाले विषयी (या उद्देश्य के रूप में मेरी आत्मा की संघटना की भौतिकवाद के आधार पर स्पष्टीकरण की असंभवता का निष्कर्ष निकलता है। परन्तु क्योंकि प्रथम प्रस्थापना में मेरी सत्ता दी हुई मान ली गई है, —क्योंकि यह (प्रस्थापना) यह नहीं कहती कि प्रत्येक विचार करने वाला सत्तावान है, (जो कथन उसकी निरपेक्ष अनिवार्यता का दावा करना होता और उसके विषय में अतिशयी कथन होता), प्रत्युत यह तो केवल इतना कहता है "मैं विचार करता हुआ विद्यमान हूँ"—अतः यह एक स्वयं आनुभविक प्रस्थापना है तथा यह केवल काल के अन्तर्गत मेरी प्रत्युपस्थापना के संबंध में ही मेरी सत्ता की निर्धारणा को अपने अन्तर्विष्ट रख सकती है। परन्तु क्योंकि इस उद्देश्य के लिये मुझे पुनः किसी स्थायी वस्तु की अपेक्षा होती है, जो, जहाँ तक मैं विचार करता हूँ, आन्तरिक प्रत्यक्षानुभव में मुझको नाममात्र को भी उपलब्ध नहीं होती, (अतएव) इस सरल अमिश्रित आत्मचेतना के द्वारा यह निर्धारण करना, कि मैं किस प्रकार सत्तावान् हूँ—द्रव्य रूप में अथवा उपाधि रूप में—नितान्त असंभव है। इस प्रकार, यदि भौतिकवाद मेरी सत्ता की व्याख्या करने के लिये अयोग्य सिद्ध हो जाता है तो अध्यात्मवाद भी इस कार्य के लिये समानरूप से अपर्याप्त ठहरता है, अतएव निष्कर्ष यह निकला कि चाहे कोई भी प्रकार क्यों न हो, हम किसी भी प्रकार से, जहाँ तक हमारी आत्मा के पृथक् अस्तित्व सामान्य की संभावना का प्रश्न है उसकी संघ-

टना के संबंध में हम कुछ भी नहीं जान सकते ।

और फिर सचमुच ही चेतना की एकता के द्वारा–जिसको हम केवल एक कारण जानते हैं क्योंकि अनुभव की संभावना के लिये अनिवार्य होने के हेतु हम इसका उपयोग किये बिना रह ही नहीं सकते–अनुभव से परे (इस जीवन में अपने अस्तित्व से परे) पहुँच जाना, तथा आनुभविक (किन्तु प्रत्येक प्रकार के प्रत्यक्षानुभव के संबंध में अनिर्धारित) प्रस्थापना "मैं विचार करता हूँ" के द्वारा अपने ज्ञान को सामान्यतया समस्त विचार करने वाली सत्ताओं की प्रकृति (=स्वभाव) तक विस्तृत कर देना, कैसे संभव हो सकता है ?

अतएव सिद्धान्त के रूप में यौक्तिक मनोविज्ञान का अस्तित्व नहीं है जो हमारे आत्मज्ञान में कुछ वृद्धि का योग करता हो, प्रत्युत इसका अस्तित्व केवल एक अनुशासन के रूप में है, जो इस क्षेत्र में चिन्तनात्मक बुद्धि के लिये (ऐसी) अनतिक्रमणीय सीमा नियत करता है कि जिससे एक ओर हम अपने को आत्मशून्य भौतिकवाद के अंक में न डाल दें, दूसरी ओर हमारे लिये जो इस जीवन में आधारशून्य है ऐसे अध्यात्मवाद में हम अपने को इधर उधर भटकते हुए खो न बैठें, प्रत्युत (सिद्धान्त प्रदान करने की)अपेक्षा हमको यह ध्यान दिलाता है कि इस वर्त्तमान जीवन की सीमा के परे जाने वाले जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर देने के संबंध में हमारी बुद्धि की अस्वीकृति को हम उसके ऐसे सुझाव के रूप में मानें जो हमारे आत्मज्ञान को निष्फल अमर्याद चिन्तन को सफल व्यावहारिक विनियोग की दिशा में मोड़ने का संकेत करता है, जो यद्यपि सर्वदा अनुभव के विषयों की ही ओर निर्देशित होता है तथापि वह अपने सिद्धान्तों (या तत्वों) को उच्चतर उद्‌गम से व्युत्पादित करता है, तथा कार्य पद्धति को इस प्रकार से निर्धारित करता है कि मानों हमारा भाग्य अनुभव की सीमा के परे अनन्त दूरी तक अतएव इस जीवन के परे बहुत दूर तक पहुँचता है ।

इस सबसे यह स्पष्ट है कि यौक्तिक मनोविज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिये एक भ्रान्ति का ऋणी है । चेतना की एकता, जो बौद्धिक प्रकारों के मूल में निहित है यहाँ भ्रान्तिवश विषयी का विषय रूप में प्रत्यक्षानुभव मान ली जाती है और तब उसके प्रति द्रव्य का बौद्धिक प्रकार उसके प्रति लागू किया जाता है । पर यह एकता तो केवल विचारगत एकता है, केवल जिस अकेली के द्वारा कोई विषय प्रदान नहीं किया जाता, और इसलिये जिसके प्रति द्रव्य का बौद्धिक प्रकार (जो सर्वदा किसी दिये हुए प्रत्यक्षानुभव को पूर्वकल्पित करता है) लागू नहीं हो सकता । परिणामतः यह विषयी जाना नहीं जा सकता । इस प्रकार बौद्धिक प्रकारों का विषयी उनका विचार करने से, बौद्धिक प्रकारों के विषय के रूप अपने आपका संबोध प्राप्त नहीं कर सकता,

क्योंकि उनका विचार करने के निमित्त इसकी शुद्ध चेतना, जिसका स्पष्टीकरण अभीष्ट है, पूर्वतः आधार रूप में स्वीकार करनी पड़ेगी। इसी प्रकार वह विषयी जिसमें काल की प्रत्युपस्थापना का मौलिक आधार है, उसके द्वारा काल में स्वयं अपनी सत्ता को निर्धारित नहीं कर सकता, और यदि यह बात नहीं हो सकती, तो (विचार करने वाली सत्ता सामान्य के रूप में) बौद्धिक प्रकारों के द्वारा आत्मा के निर्धारण कार्य भी उसी प्रकार घटित नहीं हो सकता। का.

इस प्रकार वह ज्ञान, जो संभाव्य अनुभव की सीमा के परे जाने वाला तथा मानव के सर्वोच्च हितों से संबंध रखने वाला है, जहाँ तक कि वह चिन्तनात्मक दर्शनशास्त्र

का. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'मैं विचार करता हूँ" यह एक आनुभविक प्रस्थापना है और अपने भीतर एक दूसरी प्रस्थापना ("मैं सत्तावान् हूँ") को धारण किए है। पर मैं यह नहीं कह सकता कि "प्रत्येक वस्तु जो विचार करती है, सत्तवान् है" क्योंकि ऐसी स्थिति में विचार का गुण (या लक्षण) ऐसी सब सत्ताओं को जो इससे युक्त हैं अनिवार्य बना देगा। इसलिये मेरा अस्तित्व "मैं विचार करता हूँ" इस प्रस्थापना से निकले अनुमान रूप में नहीं माना जा सकता, जैसा कि द कार्तेसियुस् ने निकालना चाहा है (क्योंकि ऐसी अवस्था में इस व्याप्ति वाक्य को कि "वह प्रत्येक वस्तु जो विचार करती है सत्तावान् होती है" उपर्युक्त प्रस्थापना का पूर्ववर्ती होना होगा) प्रत्युत उक्त प्रस्थापना से अभिन्न है। यह प्रस्थापना एक अनवच्छिन्न आनुभविक अपरोक्ष दर्शन को अभिव्यक्त करता है अर्थात प्रत्यक्ष को प्रकट करता है (अतएव यह भी सिद्ध करता है कि संवेदन जो स्वरूपतः इन्द्रिय संवेद्यता से संबद्ध है इस अस्तित्ववादी प्रस्थापना के मूल में स्थित है), परन्तु "मैं विचार करता हूँ" यह प्रस्थापना उस अनुभव की पूर्वगामिनि है जो काल की दृष्टि से बौद्धिक प्रकार के द्वारा प्रत्यक्ष के विषय को निर्धारित करने के लिये अपेक्षित होता है; और यहाँ (निर्दिष्ट) अस्तित्व बौद्धिक प्रकार नहीं है जो स्वरूपतः किसी अनिर्धारित दिये हुए विषय के प्रति नहीं प्रत्युत केवल ऐसे के प्रति जिसका संबोध प्राप्त है तथा जिसके विषय में यह जिज्ञासा होती है कि वह संबोध के बाहर सत्ता रखता है या नहीं, संबंध रखती है। यहाँ एक अनिर्धारित प्रत्यक्ष से केवल कुछ यथार्थ दी हुई वस्तु से तात्पर्य है, जो यथार्थ में सामान्यतः विचार के प्रति दी हुई होती है और अतएव न तो अवभास के ही रूप में और न स्वरूपतः सत् वस्तु के रूप में होती है, प्रत्युत कुछ ऐसी वस्तु होती है जो वस्तुतः सत्तावान् है तथा "मैं विचार करता हूँ" इस प्रस्थापना को आनुभविक प्रस्थापना में ऐसे ही रूप में सूचित होती है। क्योंकि यह बात ध्यान देने की है कि जब "मैं विचार करता हूँ" इसे प्रस्थापना कहा है, तो उससे मेरा आशय यह कहने का नहीं रहा कि इस प्रस्थापना को मैं एक आनुभविक प्रत्युपस्थापना मानता हूँ प्रत्युत यह तो कहीं अधिक बौद्धिक प्रत्युपस्थापना है क्योंकि यह विचार सामान्य से संबद्ध है। इसके दूसरी ओर, किसी आनुभविक प्रत्युपस्थापना के विचार के लिये उपादान प्रस्तुत किये बिना, "मैं विचार करता हूँ" यह क्रिया ही वास्तव में घटित नहीं होगी; और आनुभविक (तत्व) तो केवल शुद्ध बौद्धिक शक्ति के प्रवर्त्तन अथवा विनियोग की शर्त भर है।

के द्वारा उपलब्ध कराया जाना था, निराश प्रतीक्षा में विलय को प्राप्त हो जाता है; तथापि इस प्रकार हमारी आलोचना की कठोरता ने, अनुभव के किसी विषय के संबंध में किसी ऐसी वस्तु को जो अनुभव की सीमा से परे स्थित है, अयौक्तिकतया यूँ ही निर्धारित करने की असंभवता को सिद्ध करके बुद्धि की उसी के हित में कोई कम महत्त्वपूर्ण सेवा नहीं की है। क्योंकि ऐसा करके इसने बुद्धि को समस्त संभाव्य विरोधी कथनों से सुरक्षित कर दिया है। यह बात निम्नलिखित दो उपायों में से किसी एक उपाय के बिना सिद्ध नहीं हो सकती। या तो अपनी प्रत्युपस्थापना को स्वयंसिद्ध-तया उत्पन्न किया जाए, और यदि यह उद्योग सफल न हो, तो इस अक्षमता के स्रोतों को खोज निकाला जाए, और यदि वे हमारी बुद्धि की अपरिहार्य सीमाओं में निहित हों, तो वे प्रत्येक विरोधी को अयौक्तिक कथनों के समस्त दावों के संबंध में त्याग के इसी एक नियम के समक्ष नतमस्तक होने के लिये अवश्य ही विवश कर देंगे।

तथापि इस सबसे, बुद्धि के व्यावहारिक विनियोग के सिद्धान्तों के अनुसार (जो उसके चिन्तनात्मक विनियोग के साथ निकटतया आबद्ध है) भावी जीवन की स्वीकृति के संबंध में ही नहीं, उसकी अनिवार्यता के संबंध में भी लेशमात्र हानि नहीं होती, क्योंकि केवल चिन्तनात्मक उपपत्ति कभी भी मानव की सामान्य बुद्धि पर प्रभाव डालने में समर्थ नहीं हो सकी है। यह (चिन्तनात्मक उपपत्ति) कुछ ऐसी एक बाल की नोक पर खड़ी है कि विभिन्न चिन्तनप्रस्थान भी इसको तभी तक गिरने से बचा सकते हैं जब तक कि वह इसको लट्टू की तरह सतत घूमता रख सकें और उनकी अपनी नज़रों में भी यह इस प्रकार कोई ऐसा स्थायी आधार प्रदान नहीं करती जिसके ऊपर कुछ निर्माण हो सके। जो उपपत्तियाँ दुनियाँ के लिये उपयोगी हैं, वे इन अयौक्तिक दम्भपूर्ण दावों के छोड़ देने और बुद्धि को उसके उचित क्षेत्र में प्रस्थापित कर देने से अपने मूल्य को अन्यून बनाए रहती हैं तथा स्पष्टता और अनलंकृत विश्वासोत्पादकता में बढ़ जाती हैं; क्योंकि तब बुद्धि अपने असली क्षेत्र में अर्थात् लक्ष्यों के कोटिक्रम में, जो साथ ही साथ प्रकृति का भी क्रम है, स्थापित हो जाती है; और क्योंकि यह बुद्धि साथ ही साथ अपने आप में ही व्यावहारिक वृत्ति (या शक्ति) भी है, अतएव यह प्राकृतिक शर्तों के बन्धनों से बँधी हुई नहीं है, एवं इसके लिये लक्ष्यों के कोटिक्रम को और उनके साथ ही हमारी सत्ता को अनुभव और जीवन की मर्यादाओं के परे विस्तीर्णतर कर देना न्यायानुमोदित है। इस जगत् में प्राणवान् सत्ताओं की प्रकृति के सादृश्य के अनु-सार, जिसमें बुद्धि को इस तथ्य को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई भी करण (=इन्द्रिय), कोई भी वृत्ति (या शक्ति), कोई भी आवेग ऐसा नहीं मिलता, जो तनिक भी बेकार अथवा अपने उद्दिष्ट उपयोग के निमित्त निरनु-

पाती हो अतएव निरुद्देश्य हो, प्रत्युत प्रत्येक वस्तु जीवन में अपने भागधेय के लिये विलकुल समुपयुक्त है, मनुष्य को ही जो एकमात्र ऐसा प्राणी है जो इन लक्ष्यों के कोटिक्रम के अन्तिम लक्ष्य को अपने में धारण कर सकता है, ऐसा प्राणी मानना पड़ेगा, जो इस सिद्धान्त का अपवाद है। क्योंकि उस (=मनुष्य) के प्राकृतिक वरदान—न केवल उसके बुद्धिवैभव एवं उनका उपयोग करने की प्रेरणाएँ प्रत्युत सर्वोपरि उसके अन्तर में सदाचार का नियम—उस समस्त उपयोगिता और सुविधा से जिनको वह उनसे इस जीवन में उत्पादित कर सकता है, इतना अधिक परे दूरगामी है कि वह उसके कारण सत्संकल्प की चेतनामात्र की सब सुविधापूर्ण परिणामों से, यहाँ तक कि मरणोपरान्त ख्याति छायारूप पुरस्कार से भी पृथक् सर्वोच्च मूल्यवान् वस्तु मानना सीख जाता है, और इसी कारण वह एक आन्तरिक पुकार के अनुभव के परिणामस्वरूप इस जगत् में अपने आचरण के द्वारा एवं इसकी बहुत सी सुविधाओं के परित्याग के द्वारा अपने को एक ऐसे उच्चतर जगत् का नागरिक बनने का उपयुक्त अधिकारी बनाता है जो उसके विचार में ही स्थित है। यह प्रबल तथा कभी भी खण्डित न होने वाली उपपत्ति जो हमारे निरन्तर बढ़ने वाले सार्वत्रिक सोद्देश्यता के ज्ञान से (जिसको हम उन सब वस्तुओं में पाते हैं जिनको हम अपने चारों ओर देखते हैं) सृष्टि की विपुलता के समनुध्यान से, और इसी लिये हमारे ज्ञान के संभाव्य विस्तार की एक निश्चित असीमितता की चेतना से भी तथा उसी के समान अनुरूप उद्योग से समन्वित एवं परिपोषित है, यह सब तब भी (जब कि हमको केवलमात्र अपने सैद्धान्तिक ज्ञान के सारे अपने अस्तित्व के सातत्य को समझ पा सकता अवश्यमेव त्यागना पड़ेगा) हमारे लिये बच रहेगा।

मनोविज्ञान के तर्काभास के संबंध में अन्तिम निष्कर्ष

यौक्तिक मनोविज्ञान में जो द्वन्द्वात्मक मिथ्यावभास है, वह बुद्धि के एक भाव (एक शुद्ध प्रज्ञा के भाव) और विचार करने वाली सत्ता सामान्य के पूर्णतया अनिर्धारित संबोध के परस्पर संकर से उत्पन्न हुए मिथ्यावबोध पर आश्रित है। मैं स्वयं किसी संभव अनुभव के स्थान पर विचार करता हूँ और साथ ही साथ वास्तविक अनुभव से पूर्णतया संबंध-विच्छेद कर लेता हूँ, और इससे यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि मैं अनुभव और आनुभविक प्रतिबन्धों से पृथक् या मुक्त रह कर भी अपने अस्तित्व के संबंध में चेतनावान् हो सकता हूँ। परिणामतः मैं, अपने आनुभविकतया निर्धारित अस्तित्व के संभाव्य अपकर्षण, और अपने विचार करने वाले आतमा के संभाव्य पृथक् अस्तित्व की कल्पित चेतना में परस्पर गड़बड़झाला कर रहा हूँ और यह विश्वास कर ले रहा

हूँ कि मुझमें जो द्रव्यात्मक है मैं उसको अनुभवातीत विषयी के रूप में जानता हूँ, जब कि वह वस्तु (या तत्व) जिसको मैं (वास्तव में) विचार में रखता हूँ, वह केवल-मात्र चेतना की एकता है जिसके ऊपर, ज्ञान के केवल आकार के रूप में, समस्त निर्धारण आधारित होते हैं।

आत्मा और शरीर की संगति (अथवा साहचर्य) की व्याख्या के कार्य का संबंध वास्तव में उस मनोविज्ञान से नहीं जिसका हम यहाँ प्रतिपादन कर रहे हैं, क्योंकि इसका उद्देश्य तो आत्मा के व्यक्तित्व को इस संगति से पृथक् (मृत्यु के पश्चात् भी) सिद्ध करना है, और इसलिये यह सच्चे अर्थ में पारगामी है, यद्यपि यह अपने को अनु-भव के विषय के साथ व्यापृत करती अवश्य है, पर केवल उतनी दूर तक जितनी दूर तक वह अनुभव का विषय नहीं रहता। तथापि हमारी शिक्षा के अनुसार इस प्रश्न का भी पर्याप्त उत्तर दिया जा सकता है। जैसा कि सुविदित है इस कार्य की कठिनाई आन्तरिक इन्द्रिय के विषय (=आत्मा) तथा बाह्येन्द्रियों के विषयों की मानी या कल्पित इतरजातीयता में संनिहित है, क्योंकि उनके प्रत्यक्षानुभव की औपचारिक शर्त के लिये प्रथम केवल काल पर तथा दूसरा (समय के साथ) देश पर भी अवल-म्बित है। पर यदि यह विचार किया जाए कि (उपर्युक्त) दोनों प्रकार के विषय इस प्रकार एक दूसरे से आन्तरिकतया विभिन्न नहीं हैं, प्रत्युत उसी सीमा तक भिन्न हैं जहाँ एक दूसरे को बाह्यतः प्रतीत होता है तथा जो (तत्व) स्वरूपतः सत् वस्तु के रूप में भौतिक तत्व के अवभास के मूल में स्थित है स्यात् वह इतनी विविध जातीय न हो, तो इस प्रकार यह कठिनाई विलीन हो जाती है। और तब इसके अतिरिक्त और कोई कठिनाई शेष नहीं रहती, कि सामान्येन द्रव्यों की संगति (या साहचर्य) किस प्रकार संभव है। इस कठिनाई को हल करना मनोविज्ञान के क्षेत्र के बिलकुल बाहर की बात है, तथा आधारभूत शक्तियों तथा वृत्तियों के संबंध में वैश्लेषिकी में जो कुछ कहा जा चुका है, उसके पश्चात् पाठक सरलता से यह निर्णय कर लेगा कि बिना किसी सन्देह के यह समस्त मानवीय ज्ञान के भी क्षेत्र से बाहर की बात है।

सामान्य टिप्पणी

यौक्तिक मनोविज्ञान से सृष्टिविज्ञान की ओर संक्रमण

यह प्रस्थापना कि "मैं विचार करता हूँ" अथवा "मैं विचार करता हुआ सत्ता-वान हूँ" एक आनुभविक प्रस्थापना है। किन्तु इस प्रकार की प्रस्थापना आनुभविक प्रत्यक्षदर्शन पर आधारित होती है और परिणामतः अवभास के रूप विचारित विषय (अर्थात् आत्मा) पर भी (आश्रित होती है), तब तो ऐसा लगता है कि मानो हमारे

दार्शनिक विचार के अनुसार आत्मा विचार में स्वयं पूर्णतया अवभास के रूप में बदल जाती है, और इस प्रकार हमारी चेतना, शुद्ध मायिकावभास के रूप में वास्तव में किसी भी सत्ता का निर्देश नहीं करती (अथवा शून्य में विलीन हो जाती है)।

केवल अपने रूप में ग्रहण किये जाने पर विचारणा एक यौक्तिक वृत्तिमात्र है, और इसी लिये किसी केवल संभाव्य प्रत्यक्ष दर्शन के नानात्व के संयोजन की शुद्ध स्वयं स्फूर्तितामात्र है, तथा वह चेतना के विषयी (उद्देश्य) को अवभास के रूप में, केवल इस पर्याप्त कारण से, प्रदर्शित नहीं करता कि विचार प्रत्यक्षदर्शन के प्रकार का, चाहे वह इन्द्रियग्राह्य हो अथवा बौद्धिक, लेशमात्र भी ध्यान नहीं करता। इसके द्वारा मैं अपने को न तो मैं जैसा हूँ वैसा प्रत्युपस्थापित करता हूँ, और न वैसा जैसा कि मैं अपने आपको प्रतीत होता हूँ । प्रत्युत मैं अपने आपका उसी प्रकार विचार करता हूँ जिस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन के ढंग को ध्यान देते हुए, मैं अन्य किसी भी विषय का सामान्यतः विचार किया करता हूँ। यदि मैं यहाँ अपने को विचारों के विषयी (या उद्देश्य) के रूप में प्रत्युपस्थापित करूँ अथवा विचार के आधार के रूप में भी प्रत्युपस्थापित करूँ, तो यह प्रत्युपस्थापना के प्रकार द्रव्य अथवा कारण के बौद्धिक प्रकार को सूचित नहीं करते, क्योंकि यह हमारे ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव के प्रति पहले से प्रयुक्त हुए रूप में विचार (= विभावना) की वृत्तियाँ हैं, जो (प्रत्यक्षानुभव), यदि मैं अपने को जानना चाहूँ तो अनिवार्यतया अपेक्षित होता है। परन्तु यदि इसके विपरीत मैं अपने आपके विषय में केवल विचार करने वाले के रूप में चेतनावान् होना चाहूँ, तब क्योंकि मैंने इस बात को एक ओर उठा कर रख दिया है कि स्वयं मेरा आत्मा प्रत्यक्षानुभव में किस प्रकार दिया हुआ है, अतएव आत्मा मेरे लिये अवभासमात्र, (वह अहं जो विचार करता है) हो सकता है, परन्तु जहाँ तक मैं विचार करता हूँ वहाँ तक यह केवल अवभास नहीं होता। (केवल विचारमात्र में जो मेरी अपने आपकी चेतना है उसमें तो मैं स्वयं सत्ता हूँ, यद्यपि इसके द्वारा मेरे अपने आप में से विचार के लिये कुछ भी नहीं दिया हुआ है।)

"मैं विचार करता हूँ" यह प्रस्थापना, जहाँ तक इसका अर्थ मैं विचार करता हुआ (सत्तावान्) हूँ होता है, केवलमात्र यौक्तिक वृत्ति नहीं है, प्रत्युत ऐसी अवस्था में यह विषयी या उद्देश्य को (जो एक साथ ही विषय भी है) उसकी सत्ता के संबंध में निर्धारित या परिच्छिन्न करता है, और आन्तरिक इन्द्रिय के बिना घटित नहीं हो सकता जिसका प्रत्यक्षानुभव विषय को सर्वदा स्वतः स्वतंत्र सत्तावाली वस्तु के रूप में नहीं प्रत्युत अवभास के रूप में प्रदान करता है । इसलिये यहाँ केवल विचार की स्वयंस्फूर्तितामात्र नहीं है प्रत्युत प्रत्यक्षानुभव की ग्रहणशीलता, (अर्थात् स्वयं अपने

आनुभविक अपरोक्षबोध के प्रति प्रयुक्त स्वयं मेरे का विचार) भी (विद्यमान) है। तो अब विचार करने वाले आत्मा को न केवल अहं (मैं) के द्वारा अपने को स्वरूपतः सत् विषय के रूप में पृथक् करने के लिये, प्रत्युत उसके अस्तित्व के प्रकार को परिच्छिन्न करने अर्थात् अपने को अतीन्द्रिय बुद्धिगम्य तत्व के रूप में जानने के लिये भी, द्रव्य, कारण इत्यादि के बौद्धिक प्रकारों के प्रति अपनी यौक्तिक वृत्तियों के विनियोग की शर्तों को, इस (आनुभविक प्रत्यक्षबोध या प्रत्यक्षदर्शन) में खोजना पड़ेगा, पर यह असंभव है क्योंकि आन्तरिक आनुभविक प्रत्यक्षानुभव ऐन्द्रिय होता है, तथा केवल अवभासों की सामग्री प्रदान करता है (उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं), जो शुद्ध चेतना के विषय को उसके पृथक् अस्तित्व के ज्ञान के लिये कुछ भी साज-सज्जा नहीं देती प्रत्युत केवल अनुभव के उपयोग के काम आ सकती है।

परन्तु मान लीजिए कि आगे चल कर भविष्य में, अनुभव में नहीं प्रत्युत कुछ निश्चित (न केवल यौक्तिक या तार्किक नियमों में प्रत्युत) प्रागनुभवात्मकतया स्थापित हुए, हमारे अस्तित्व से वास्ता रखने वाले, बुद्धि के शुद्ध विनियोग के नियमों में हम, अपने आपको अपने निजी अस्तित्व के संबंध में पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया नियम-विधान करते हुए मानने का और इस अस्तित्व को परिच्छिन्न या निर्धारित करते हुए मानने का कारण खोज सकें तो इससे एक ऐसी स्वयंस्फूर्तिता उद्घाटित होगी, जिसके द्वारा हमारी वास्तविकता, अपने लिये आनुभविक प्रत्यक्षदर्शन की शर्तों की माँग किये बिना ही निर्धार्य होगी, और तब हम देखेंगे कि हमारी सत्ता की चेतना में कुछ ऐसी प्रागनुभवात्मक वस्तु अन्तर्विष्ट है जो हमारे केवल ऐन्द्रिय प्रकार से पूर्णतया निर्धार्य (= परिच्छेद्य) अस्तित्व को एक बुद्धिगम्य (निश्चयमेव केवल विचारित) जगत् से संबद्ध किसी आन्तरिक शक्ति (= वृत्ति) की दृष्टि से निर्धारित करन के काम आ सकती है।

परन्तु यह सब यौक्तिक मनोविज्ञान की समस्त चेष्टाओं को प्रगति प्रदान करने में लेशमात्र भी उपयोगी नहीं होगा। क्योंकि यद्यपि उस आश्चर्यजनक शक्ति के द्वारा, जो मेरे प्रति सब से पहले सदाचार संबंधी नियम की चेतना से अपावृत की जाती है, मुझको सचमुच ही अपने अस्तित्व को निर्धारित करने के लिये एक ऐसा सिद्धान्त या तत्व प्राप्त हो जाना चाहिये जो विशुद्ध बौद्धिक तत्व है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि यह निर्धारण किन विधेयों के द्वारा होगा ? वे विधेय उनसे भिन्न और कुछ नहीं हो सकते जो मुझको ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव के द्वारा प्रदान किए हुए होने चाहिये, और इस प्रकार मैं पुनः अपने को यौक्तिक मनोविज्ञान की दृष्टि से पूर्ववत् स्थिति में पाता हूँ, अर्थात् मैं अब भी अपनी बोधवृत्ति के संबोधों (द्रव्य, कारण, इत्यादि) को अर्थ

प्रदान करने के लिये (जिनके द्वारा ही मैं अपनी आत्मा का ज्ञान उपलब्ध कर सकता हूँ) एन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव की अपेक्षा रखता हूँ; तथा यह प्रत्यक्षानुभव मुझे कदापि भी अनुभव के क्षेत्र के बाहर प्रगति करने में सहायक नहीं हो सकता। तथापि, व्यावहारिक उपयोग की दृष्टि से जो सर्वदा ही अनुभव के विषयों की दिशा में निर्दिष्ट होती है, मुझे इन संबोधों को, उनके सैद्धान्तिकतया विनियुक्त सादृश्यात्मक अर्थ के अनुसार, स्वाधीनता और स्वाधीनता से समन्वित विषयी के प्रति लागू करने का समुचित अधिकार होना चाहिये, फिर भी ऐसा करने में मुझे इन संबोधों से केवलमात्र उद्देश्य और विधेय, एवं हेतु तथा परिणाम के यौक्तिक व्यापार भर समझना चाहिये, जिसके अनुसार व्यापार अथवा परिणाम उन (सदाचार संबंधी) नियमों के अनुसार ऐसे ढंग से निर्धारित होते हैं कि वे प्रकृति के नियमों के साथ साथ, द्रव्य और कारण के बौद्धिक प्रकारों के अनुसार स्पष्ट किये जा सकते हैं, यद्यपि उनका उद्गम स्थान एक नितान्त भिन्न प्रकार का सिद्धान्त होता है। इन सब बातों का उद्देश्य उस मिथ्याबोध का निवारण करना है, जिसका, अवभास के रूप में हमारा यह आत्मानुभूति का सिद्धान्त सरलता से शिकार हो सकता है; (इसी उद्देश्य से यह सब कुछ कहना पड़ा है)। आगामी विवेचन में इन सब बातों के उपयोग का अवसर प्राप्त होगा।

अनुभवातीत आन्वीक्षिकी

द्वितीय पुस्तक

द्वितीय अध्याय

शुद्ध बुद्धि के विरोध

हमने अपने ग्रंथ के इस खंड की भूमिका में यह स्पष्ट दिखला दिया था कि शुद्ध बुद्धि का समस्त मायिक अवभास आन्वीक्षिक्यात्मक अनुमानों पर आश्रित है जिनकी रूपरेखा तर्कशास्त्र अनुमानवाक्य के तीन औपचारिक प्रकारों में ठीक उसी प्रकार प्रदान करता है, जिस प्रकार अपनी यौक्तिक रूप-रेखा को समस्त विभावनाएँ चार वृत्तियों में उपलब्ध करती हैं । इन मिथ्या-बौद्धिक अनुमानवाक्यों का प्रथम प्रकार, उन केवली अनुमानवाक्यों की अनुरूपता में, (जिनका व्याप्त्यवयव किसी विधेय के उद्देश्य के साथ संबंध को कथन करने वाला कोई सिद्धान्त होता है), सामान्यतः (विषयी अथवा आत्मा की) समस्त प्रत्युपस्थापनाओं के विषयिगत प्रतिबन्धों की अप्रतिबद्ध एकता का प्रतिपादन करता है। अतएव आन्वीक्षिक्यात्मक युक्तियों का द्वितीय प्रकार, सोपाधिक अनुमानवाक्य के सादृश्य के अनुसार अवभास के क्षेत्र में वैषयिक प्रतिबन्धों की अप्रतिबद्ध एकता को अपने अन्तर्विष्ट विषय के रूप में ग्रहण करेगा, जबकि तीसरा प्रकार, जिसका प्रतिपादन अगले खण्ड में किया जाएगा, सामान्यतः विषयों की संभावना की वैषयिक शर्तों की अप्रतिबद्ध एकता को अपने विषय के रूप में रखता है ।

परन्तु यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि अनुभवातीत तर्काभास ने हमारे विचार के विषयी के भाव के संबंध में केवलमात्र एकपक्षीय मायिकावभास उत्पन्न किया था, और विरोधी कथन के समर्थन के लिये बुद्धि के संबोधों में से लेशमात्र अवभास भी उपलब्ध नहीं हो सकता । सारी सुविधाएँ तो प्राणवाद के ही पक्ष में हैं, यद्यपि यह (तर्काभास) उस पैत्रिक दोष को, जिसके कारण हमारी मीमांसा की अग्निपरीक्षा में पड़ने पर, अनुकूल मायिक अवभास के रहते हुए भी, भाप बन कर उड़ जाता है, अस्वीकार नहीं कर सकता ।

जब हम बुद्धि को अवभासों के विषयगत संश्लेषण के प्रति प्रयुक्त करते हैं तब

एक पूर्णतया भिन्न अवस्था उपस्थित होती है, जहाँ वह अपने अप्रतिबद्ध एकता के सिद्धान्त को निश्चयमेव बहुत कुछ दिखावे के साथ स्थापित करने का प्रयत्न करती है, परन्तु शीघ्र ही ऐसी विसंवादिताओं में फँस जाती है कि वह इस सृष्टिविद्या के क्षेत्र में अपनी इन माँगों से बाज़ आने के लिये विवश हो जाती है।

यहाँ पर मानव बुद्धि का नवीन इन्द्रियगोचर दृश्य (या अवभास) प्रदर्शित होता है, यानी एक पूर्णतया स्वाभाविक विरोध प्रदर्शित होता है जिसके संबंध में किसी सूक्ष्म चिन्तन और कौशलपूर्ण जाल बिछाने की आवश्यकता नहीं प्रत्युत जिसमें बुद्धि स्वयं और अनिवार्यतया पतित हो जाती है (या स्वयमेव गिर पड़ती है)। निस्सन्देह इसके द्वारा बुद्धि किसी ऐसे काल्पनिक विश्वास की निद्रा से (अवश्य) बच जाती है जिसको केवलमात्र एक पक्षीय मायिकावभास जन्म देता है, परन्तु जो इसके साथ ही साथ इसको या तो अपने को एक संशयपूर्ण नैराश्य में छोड़ देने अथवा एक ऐसे हठपूर्ण दृष्टिकोण को ग्रहण करने के लिये ललचाता है, जो अयौक्तिकतया कुछ दावों को मान लेता है तथा उनके पक्ष में ऐसा अकड़ दुराग्रह करने लगता है तथा बिना आधार के ही विरोधी के पक्ष की युक्तियों को सुनने और उनके प्रति न्याय करने को प्रस्तुत नहीं होता। उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में से प्रत्येक स्वस्थ दर्शनशास्त्र की मृत्यु है, यद्यपि इनमें प्रथम को शुद्ध बुद्धि की सुमृत्यु कह सकते हैं।

विरोध और कलह के उन दृश्यों को दिखलाने के पूर्व (जिनको शुद्ध बुद्धि के नियमों का यह विरोध उत्पन्न करता है) हम अपनी उस विचार पद्धति को स्पष्ट करने के लिये तथा उसके औचित्य का प्रतिपादन करने के लिये, जिसको हम अपने विषय के विवेचन में काम में लाएँगे, कुछ बातें कह देना चाहते हैं (या उचित समझते है)। मैं समस्त अनुभवातीत भावों को, जहाँ तक कि वे अवभासों के संश्लेषण में निरपेक्ष समग्रता से संबंध रखते हैं विश्व संबोध, कुछ तो इस अप्रतिवद्ध समग्रता के कारण कहता हूँ, जिसपर विश्व भर का संबोध (जो स्वयं भी एक भावमात्र है) आधारित है और कुछ इसलिये कि वे केवलमात्र अवभासों के संश्लेषण, अतएव केवल अनुभवात्मक संश्लेषण से वास्ता रखते हैं जब कि, दूसरी ओर, सामान्यतः समस्त संभाव्य वस्तुओं की शर्तों के संश्लेषण में (उपलब्ध) आत्यन्तिक समग्रता शुद्ध बुद्धि के एक ऐसे आदर्श को जन्म देता है जो जगत् के संबोध से बिलकुल पृथक् है, यद्यपि यह उसके साथ संबंध में स्थित अवश्य है। इसलिये, जिस प्रकार शुद्ध बुद्धि के तर्काभासों ने आन्वीक्षिक्यात्मक (अथवा द्वन्द्वात्मक) मनोविज्ञान की नींव डाली थी, उसी प्रकार शुद्ध बुद्धि का विरोध हमारे नेत्रों के समक्ष एक छद्म (या व्यपदिष्ट) शुद्ध यौक्तिक सृष्टिविज्ञान के अनुभवातीत सिद्धान्तों को प्रदर्शित करेगा—उसको

प्रामाणिक बतलाने तथा अंगीकार्य सिद्ध करने के लिये नहीं—प्रत्युत जैसा कि बुद्धि के विरोध के नाम से ही प्रकट है यह दिखलाने के लिये ऐसा करेगा कि यह विज्ञान एक ऐसे भाव के रूप में जो केवल अपनी चौंधा देने वाली किन्तु वितथ भ्रान्ति के रूप में प्रदर्शित हो सकता है, जिसका अवभासों के साथ किसी प्रकार मेल नहीं बैठाया जाता ।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

प्रथम खंड

सृष्टि-विज्ञान के भावों की क्रम-व्यवस्था

अब इन भावों (या विचारों) को किसी सिद्धान्त के अनुसार सुव्यवस्थित यथातथ्य के साथ गिन सकने के लिये हमको प्रथम तो यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि शुद्ध और अनुभवातीत संबोध केवल बोधवृत्ति से ही उत्पन्न हो सकते हैं, तथा बुद्धि वास्तव में किसी भी संबोध को जन्म नहीं देती, प्रत्युत, संभवतया, वह केवलमात्र बोधवृत्ति के संबोधों को संभाव्य अनुभव की अपरिहार्य मर्यादाओं से मुक्त कर देती है और इस प्रकार उसको आनुभविक की सीमाओं के परे, किन्तु तिसपर भी उससे संयोग बनाए रखते हुए, व्यापकतर बनाने का उद्योग करती है । यह इस कारण घटित होता है कि किसी दिये हुए प्रतिबद्ध के लिये बुद्धिनिरपेक्ष समग्रता को, प्रतिबन्धों की ओर अपेक्षित करती है (जिसके अधीन बोधवृत्ति संश्लेषणात्मक एकता के समस्त अवभासों को कर देती है) । और इस प्रकार बौद्धिक प्रकार को अनुभवातीत भाव या विचार बना डालती है । और ऐसा इसलिये करती है कि आनुभविक संश्लेषण को अप्रतिबद्ध (या अनवस्थित) तक पहुँचाने के द्वारा ही यह उसको आत्यन्तिक पूर्णता प्रदान कर सकती है (जो अनुभव में कदापि उपलब्ध नहीं हो सकती प्रत्युत केवल भावमात्र में ही मिल सकती है) । बुद्धि यह माँग इस सिद्धान्त के अनुसार करती है कि 'यदि प्रतिबद्ध दिया हुआ है तो समस्त प्रतिबन्धों का एकत्रित समूह और उसके परिणामस्वरूप परम निरपेक्ष अप्रतिबद्ध (केवल जिसके द्वारा प्रतिबद्ध संभव हो सका है) भी दिया ही हुआ है ।' इस प्रकार अनुभवातीत भाव प्रथमतः वास्तव में अप्रतिबद्ध तक पहुँचने के लिये विस्तारित बौद्धिक प्रकारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं और वे बौद्धिक प्रकारों के शीर्षकों के अनुसार व्यवस्थित एक तालिका में क्रमानुसार प्रदर्शित किए जा सकते हैं । दूसरी यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस विनियोग के लिये सभी बौद्धिक प्रकार समुपयुक्त नहीं हैं, प्रत्युत केवल वही बौद्धिक

प्रकार समुपयुक्त हैं जिनमें संश्लेषण शर्तों की एक ऐसी माला संघटित करता है जो एक दूसरे के अधीन होती हैं (समकक्ष नहीं होतीं) तथा जो प्रतिबद्ध को उत्पन्न करने वाली होती है। बुद्धि के द्वारा आत्यन्तिक समग्रता की अपेक्षा उसी सीमा तक की जाती है जहाँ तक कि उत्क्रान्तिशील (आरोहणशील) शृंखला किसी दिये हुए प्रतिबद्ध से संबंध रखती है। इसलिये इसकी माँग उस समय नहीं होती जब कि परिणामों की अवरोहणशील पंक्ति की अथवा इन परिणामों के समन्वित प्रतिबन्धों के समूह की चर्चा होती है। क्योंकि दिये हुए प्रतिबद्ध के संबंध में तो प्रतिबन्ध पहले से ही स्वीकृत होते हैं, और इसके साथ ही साथ दिये हुए माने जाते हैं । दूसरी ओर, क्योंकि परिणाम अपने प्रतिबन्धों को संभव नहीं बनाते, प्रत्युत इस अपेक्षा उनको पूर्वतः स्वीकृत करके चलते हैं, अतः परिणामों की ओर बढ़ने (अथवा दिये हुए प्रतिबन्धों की ओर, प्रतिबद्ध की ओर अवरोहण) में इस बात की ओर उपेक्षा की जा सकती है कि घटनामाला अवसित होती है अथवा नहीं, और उनकी समग्रता बुद्धि की अनिवार्य माँग नहीं है।

इस प्रकार हम किसी एक दिये हुए क्षण तक पूर्णतया व्यतीत हुए समय को अनिवार्यतया दिया हुआ विचार किया करते हैं (चाहे वह समय हमारे द्वारा भले ही निर्धार्य न हो)। परन्तु जहाँ तक भविष्य का संबंध है, क्योंकि वह हमारे वर्त्तमान तक पहुँचने की शर्त नहीं है, अतएव इसके अवधारण करने के निमित्त इसमें भेद नहीं पड़ता कि हम भविष्य का विचार किस प्रकार से करें; चाहे उसको कहीं समाप्त हुआ समझें अथवा अनन्तकाल तक प्रवहमान मानें। उदाहरण के लिये मान लीजिए कि च्, छ्, ज् एक शृंखला है, जिसमें छ् , च् के संबंध में प्रतिबद्ध और उसके साथ ही ज् के संबंध में प्रतिबन्ध के रूप में दिया हुआ है, और इस शृंखला को एक ओर प्रतिबद्ध छ् से (च, घ, ग) की ओर आरोहण करने दीजिए और इसके साथ ही साथ दूसरी ओर प्रतिबन्ध छ् से प्रतिबद्ध ज् से (ट् ठ् ड्) की ओर अवरोहरण करने दीजिये, तब ऐसी अवस्था में मुझे छ् को दिया हुआ मानने के लिये प्रथम शृंखला को पूर्वतः अभ्युपगत मानना पड़ेगा, तथा बुद्धि के अनुसार, उसकी (प्रतिबन्धों की समग्रता की) माँग को दृष्टि में रखते हुए छ् इस प्रथम शृंखला के माध्यम से ही संभव है; परन्तु उसकी संभावना पीछे आने वाली शृंखला ज्, ट्, ठ्, ड् के ऊपर आश्रित नहीं है; अतएव यह पीछे आनेवाली शृंखला 'दी हुई' नहीं, प्रत्युत दिये जाने योग्य मानी जा सकती है।

मैं किसी शृंखला के उस संश्लेषण को, जो प्रतिबन्धों की ओर से आरंभ होता है और उस प्रतिबन्ध में से होकर जो कि दिये हुए अवभास के निकटतम है अधिक

दूरवर्ती प्रतिबन्धों की ओर जाता है, प्रतीपगामी संश्लेषण, एवं उसको जो प्रतिबद्ध की ओर, प्रथम समीपतम परिणाम से अधिक दूरवर्ती परिणामों की ओर बढता जाता है पुरोगामी संश्लेषण नाम देना चाहता हूँ। इनमें से प्रथम पूर्ववर्ती कारण की दिशा में तथा दूसरा पश्चाद्वर्ती परिणाम या कार्य की दिशा में गमन करता है। अतएव सृष्टि-विद्या संबंधी भाव या विचार अपने को प्रतीपगामी संश्लेषण की समग्रता से व्यापृत करते हैं और पूर्ववर्ती कारण की दिशा में जाते हैं, पश्चाद्वर्ती कार्य की दिशा में नहीं। यह परिणाम कब घटित होंगे यह शुद्ध बुद्धि के लिये अनियत समस्या है अनिवार्य समस्या नहीं है, क्योंकि जो कुछ अवभास में दिया हुआ है उसके पूर्णावधारण के लिये हम आधारभूत हेतुओं की अपेक्षा (माँग) करते हैं, परिणामों की नहीं।

बौद्धिक प्रकारों की तालिका के अनुसार मूलभावों की तालिका को विन्यस्त करने के लिये हम सर्वप्रथम अपने समस्त प्रत्यक्षानुभवों की दो मौलिक प्रमात्राओं—काल और देश—को लेते हैं। काल स्वयं अपने आप में ही एक श्रृंखला है (और समस्त श्रृंखलाओं की औपचारिक शर्त है), एवं इसलिये इसमें, किसी दिये हुए वर्त्तमान की दृष्टि से, पूर्वगामी कारण प्रतिबन्धों के रूप में (अर्थात् भूत) पश्चाद्वर्ती परिणामों (अर्थात् भविष्य) से प्रागनुभवात्मकतया पृथक् किये जा सकते हैं। परिणामतः किसी भी दिये प्रतिबद्ध के प्रतिबन्धों की श्रृंखला की निरपेक्ष (या आत्यन्तिक) समग्रता का भाव केवल समस्त अतीत काल से ही संबन्ध रखता है। बुद्धि के भाव के अनुसार, दिये हुए क्षण के प्रतिबन्ध के रूप में, समस्त भूत काल अनिवार्यतया दिया हुआ विचार किया जाता है। परन्तु जहाँ तक देश का संबंध है, उसमें स्वरूपतः प्रगति और प्रतीपगति का कोई भेद नहीं है; क्योंकि उसके खण्ड सहास्तित्ववान् हैं, अतएव वह एक खण्डसमूह को तो संघटित करता है परन्तु श्रृंखला को संघटित नहीं करता। भूतकाल के संबंध में मैं वर्त्तमान कालविन्दु को केवलमात्र प्रतिबद्ध मान सकता हूँ, उसके प्रतिबन्ध के रूप में कदापि नहीं मान सकता, क्योंकि वर्त्तमान क्षण सर्वप्रथम बीते हुए समय के द्वारा ही (अथवा और अधिक उपयुक्ततया पूर्वगामी समय के बीत जाने पर ही) उत्पन्न होता है। परन्तु क्योंकि देश के खण्ड परस्पर समकक्षतया व्यवस्थित होते हैं, उत्तराधर क्रम में व्यवस्थित नहीं होते अतएव उसका कोई भी खण्ड दूसरे की संभावना का प्रतिबन्ध (या शर्त) नहीं होता, अतएव देश काल के समान, श्रृंखला (या माला) को संघटित नहीं करता। तथापि, देश के खण्डों के नानात्व का संश्लेषण, जिसके द्वारा हम उस (=देश) को अवधृत करते हैं, अनुक्रमिक होता है, कालक्रम में घटित होता है और उसमें काल-श्रृंखला होती है। और क्योंकि समूहित देश (खंडों) की इस श्रृंखला में (जैसे एक रूड् में फ़ीट) किसी दिए हुए देश

के साथ जोड़े हुए देश सर्वदा पूर्ववर्ती देशों की सीमा के प्रतिबन्ध होते हैं, अतएव किसी देश के माप को किसी दिये हुए प्रतिबद्ध की शर्तों की शृंखला का संश्लेषण माना जाना चाहिये, बस अन्तर केवल इतना है कि प्रतिबन्धों का पक्ष स्वयं प्रतिबद्ध के पक्ष से भिन्न नहीं है, जिससे परिणामस्वरूप प्रगति और प्रतीपगति देश के अन्तर्गत एक ही प्रतीत होंगी। तथापि क्योंकि देश के अन्तर्गत एक खण्ड दूसरे के द्वारा दिया नहीं जाता प्रत्युत सीमितमात्र किया जाता है, अतएव हमको प्रत्येक सीमित प्रदेश को, जिस सीमा तक वह सीमित है, प्रतिबद्ध भी मानना चाहिये, और ऐसा इसलिये मानना चाहिये क्योंकि यह एक दूसरे प्रदेश को अपनी सीमा के प्रतिबन्ध के रूप में पूर्वतः मान कर चलता है और इसी प्रकार अन्यत्र भी मानना चाहिये। इसलिये परिसीमन की दृष्टि प्रदेश में पुरोगमन एक प्रतीपगमन भी है, तथा प्रतिबन्धों की शृंखला में संश्लेषण की ऐकान्तिक समग्रता का अनुभवातीत भाव देश के संबंध में भी लागू होता है, और मैं प्रदेश में अवभास की ऐकान्तिक समग्रता के विषय में भी उतने औचित्य के साथ प्रश्न कर सकता हूँ जिस प्रकार विगत काल के प्रसंग में। परन्तु क्या इस प्रश्न का उत्तर कभी भी संभव है, इस बात का निर्धारण आगे चल कर भविष्य में किया जाएगा।

दूसरे, देश के अन्तर्गत यथार्थता अर्थात् भौतिक तत्व एक प्रतिबद्ध (तत्व) है जिसके खण्ड उसकी आन्तरिक शर्तें हैं, तथा इन खण्डों के खण्ड उसकी दूरस्थ शर्तें हैं, अतएव हमको यहाँ प्रतीपगामी संश्लेषण की उपलब्धि होती है जिसकी आत्यन्तिक समग्रता की माँग बुद्धि के द्वारा की जाती है, परन्तु यह उसकी पूर्णता को पहुँचे हुए विभाजन के अतिरिक्त और किसी प्रकार से घटित नहीं हो सकता, जिस (विभाजन) के परिणामस्वरूप भौतिक तत्व की वास्तविकता या तो शून्य में या ऐसे (तत्व) में परिणत हो जाता है जो भौतिक तत्व लेशमात्र भी नहीं है अर्थात् सरल अमिश्रित तत्व में परिणत हो जाता है। फलतः यहाँ भी प्रतिबन्धों की एक मालिका एवं अप्रतिबद्ध की ओर प्रगति उपलब्ध होती है।

तीसरे, जहाँ तक अवभासों के मध्य में वास्तविक संबंध के बौद्धिक प्रकारों का प्रसंग है, द्रव्य (या पदार्थ) का बौद्धिक प्रकार अपनी उपाधियों सहित अनुभवातीत भाव होने के लिये समुपयुक्त नहीं है, अर्थात् उसके संबंध में, प्रतीपगति से प्रतिबंधों की ओर जा सकने का कोई आधारभूत हेतु नहीं पाता। (जहाँ तक उपाधियाँ एक ही द्रव्य में अन्तःस्थित रहती हैं) परस्पर समकक्षता के भाव को प्राप्त होती तथा (पौर्वापर्य क्रम की) शृंखला को संघटित नहीं करतीं। परन्तु द्रव्य या पदार्थ के संबंध में भी वे वास्तव में उसकी अधीन की अवस्था को प्राप्त नहीं होतीं, प्रत्युत वे द्रव्य के ही अस्तित्व

का एक प्रकार होती हैं। इसपर भी यहाँ (इस बौद्धिक प्रकार में) जो अनुभवातीत बुद्धि का, विचार या भाव प्रतीत हो सकता है वह (द्रव्य) सारवान् का भाव है। परन्तु क्योंकि इसका आशय विषय सामान्य के संबोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, जो तभी तक वर्तमान रहता है जब तक उसमें समस्त विधेयों से विनिर्युक्त केवल अनुभवातीत विषयी का विचार किया जाता है, जब कि यहाँ अवभासों की शृंखला में स्थित अप्रतिबद्ध की चरचा चल रही है, अतः यह स्पष्ट है कि सारवान् उस शृंखला का कोई भी अंग नहीं हो सकता। समाज (अथवा संगति) में स्थित द्रव्यों के संबंध में भी यही बात लागू होती है, जो केवलमात्र समूह होते हैं, और उनमें ऐसी वस्तु कुछ नहीं होती जो शृंखला के लिये आधार स्वरूप हो, क्योंकि अपनी संभावना की शर्तों के रूप में वे परस्पर एक दूसरे की अधीनता की स्थिति में स्थित नहीं होते, जैसा कि उन प्रदेशों के विषय में कहा जा सकता है जिनकी सीमाएँ स्वतः अपने आप कभी निर्धारित नहीं की जा सकतीं, प्रत्युत सर्वदा किसी दूसरे प्रदेश द्वारा निर्धारित की जाती हैं। इस प्रकार अब केवल कारणभाव का बौद्धिक प्रकार बच रहता है, जो किसी दिये हुए कार्य के कारणों की शृंखला प्रस्तुत करता है, जिसमें हम प्रतिबद्ध कार्य की ओर से प्रतिबन्धों के रूप में कारण की ओर आरोहण कर इस प्रकार बुद्धि के प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं।

चौथी बात यह है कि संभव, वास्तविक और अनिवार्य के संबोध, केवल उस सीमा को छोड़ कर किसी शृंखला या श्रेणी की ओर नहीं ले जाते, जिसमें सत्ता के अन्तर्गत आकस्मिक को सर्वदा प्रतिबद्ध माना जाना चाहिये, एवं बोधवृत्ति के नियमों के अनुसार किसी ऐसे प्रतिबन्ध या शर्त की ओर संकेत करता हुआ माना जाना चाहिये जिसके अधीन वह अनिवार्य है, तथा यह दूसरा (प्रतिबन्ध) एक उच्चतर प्रतिबन्ध की ओर, तब तक जब तक केवल शृंखला या श्रेणी की समग्रता में ही बुद्धि अन्ततः अप्रतिबद्ध अनिवार्यता को प्राप्त नहीं कर लेती।

इस प्रकार जब हम उन बौद्धिक प्रकारों की छँटनी करते हैं जो नानात्व के संश्लेषण में अनिवार्यतया श्रेणी या शृंखला की ओर ले जाते हैं तो हम देखते हैं कि बौद्धिक प्रकारों के चार शीर्षकों के समनुरूप विश्वविज्ञान से संबंध रखने वाले भाव चार से अधिक नहीं हैं।

१

समस्त अवभासों के दिये हुए अवयवी की संघटना की आत्यन्तिक पूर्णता

२

अवभास में किसी दिये हुए अवयवी के विभाजन में आत्यन्तिक पूर्णता

३

किसी अवभास के आरम्भण में आत्यन्तिक पूर्णता

४

अवभास में परिवर्तनशील के अस्तित्व की निर्भरता के संबंध में आत्यन्तिक पूर्णता

इस सम्बन्ध में सब से प्रथम ध्यान देने की बात यह है कि आत्यन्तिक समग्रता का भाव अवभासों के स्पष्टीकरण के अतिरिक्त और किसी से वास्ता नहीं रखता, इसलिये उसका वस्तु सामान्य की समग्रता के संबंध में बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध से भी उसका कोई वास्ता नहीं होता। अतएव यहाँ पर अवभास दिये हुए माने जाते हैं; और बुद्धि उनकी संभावना के प्रतिबन्धों की (जहाँ तक वे एक श्रेणी या शृंखला का निर्माण करते हैं) आत्यन्तिक पूर्णता की माँग करती है, फलतः वह एकान्ततः (अर्थात् प्रत्येक दृष्टि से) पूर्ण संश्लेषण की माँग करती है जिसके द्वारा बोधवृत्ति के नियमों के अनुसार अवभास का स्पष्ट प्रदर्शन किया जा सके।

दूसरी बात यह है कि इस प्रतिबन्धों के श्रेणीबद्ध. प्रतीपगति से चालू रखे गये संश्लेषण में बुद्धि जिस तत्व को खोजती है, वह केवलमात्र अप्रतिबद्ध (तत्व या वस्तु) है, मानों वह पूर्वावियवों की शृंखला में ऐसी पूर्णता की खोज कर रही हो जो सब मिल कर अन्य पूर्वावियवों के प्रागभ्युगम की आवश्यकता न रहने दें। यह अप्रतिबद्ध तत्व सर्वदा श्रेणी की आत्यन्तिक पूर्णता के कल्पना में प्रत्युपस्थापित रूप में अन्तर्विष्ट रहता है। परन्तु यह एकान्ततः परिपूर्ण संश्लेषण भी तो फिर एक भावमात्र ही है; क्योंकि (अनुसंधान आरंभ करने पर) पूर्वतः कम से कम यह नहीं जाना जा सकता कि अवभासों के सम्बन्ध में इस प्रकार का संश्लेषण संभव भी है या नहीं। यदि प्रत्येक वस्तु को केवल बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों के द्वारा, ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव के प्रतिबन्धों के बिना प्रत्युस्थापित किया जाता है, तो तत्काल यह कहा जा सकता है कि किसी दिए हुए प्रतिबद्ध (तत्व) के लिये परस्पर अधीनता के क्रम में व्यवस्थित प्रतिबन्धों की समस्त मालिका भी उसी प्रकार दी हुई होगी; क्योंकि वह इसी के द्वारा ही तो दिया हुआ होता है। परन्तु जब अवभासों का प्रसंग प्रस्तुत होता है तो जिस प्रकार से प्रतिबन्ध दिये हुए होते हैं उसके कारण एक विशेष सीमा उपस्थित हो जाती है, अर्थात् प्रत्यक्षानुभव के अनुक्रमिक संश्लेषण के कारण ऐसा होता है—और यह संश्लेषण भी ऐसा होता है जिसको प्रतीपगमन के द्वारा पूर्ण करना होता है। यह पूर्णता इन्द्रियों द्वारा संभव है या नहीं, यह अभी भी एक समस्या ही रह जाता है। किन्तु इस पूर्णता

का भाव निस्सन्देह, उसके साथ पर्याप्त आनुभविक संबोधों को जोड़ने की संभावना अथवा असंभवता पर दृष्टि रखते हुए, बुद्धि में ही संनिहित रहता है। इसलिये, क्योंकि अप्रतिबद्ध अनिवार्यतया अवभासों के क्षेत्र में स्थित नानात्व के प्रतीपगामी संश्लेषण की आत्यन्तिक समग्रता में अन्तर्विष्ट रहता है, (उस संश्लेषण की, जो कि उन बौद्धिक प्रकारों के पथप्रदर्शन में प्रतिपादित होता है जो अवभास को किसी दिये हुए प्रतिबद्ध के प्रति प्रतिबन्धों की मालिका के रूप में प्रत्युपस्थापित करते हैं)––यद्यपि यह बात अब भी अज्ञात और अनिश्चित छोड़ दी जाती है कि यह समग्रता संभव है अथवा नहीं और संभव है तो किस प्रकार संभव है—बुद्धि अपने ही मार्ग का अनुसरण करती है, और (अपनी यात्रा) समग्रता के भाव से आरंभ करती है, यद्यपि इसका चरम लक्ष्य वास्तव में अप्रतिबद्ध तत्व है, चाहे तो वह समस्त श्रेणी से संबद्ध हो अथवा उसके एक अंशमात्र से।

यह अप्रतिबद्ध, या तो समस्त श्रेणी या मालिका में स्थित माना जा सकता है, जिसमें समस्त अंग बिना किसी अपवाद के प्रतिबद्ध होते हैं, तथा उनका समस्त अंगी (या अवयवी) ही स्वयं ऐकान्तिकतया अप्रतिबद्ध (निरुपाधिक) होता है,—और ऐसी अवस्था प्रतीतगति अनन्त कहलाती है; अथवा ऐकान्तिकतया अप्रतिबद्ध (निरु-पाधिक) श्रेणी का एक खण्ड (या भाग) मात्र होता है, जिसके अन्य अंग अधीनस्थ होते हैं, परन्तु जो स्वयं अन्य किसी प्रतिबन्ध के अधीन नहीं होता।[कां.] प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार प्रागनुभवात्मक पक्ष में श्रेणी आरंभ रहित अर्थात् अनन्त होती है, और साथ ही साथ पूर्णतया दी हुई होती है, जिसमें प्रतीपगति कदापि पूरी नहीं होती और केवल संभाव्यतः ही उसको अनन्त कहा जा सकता है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार शृंखला का एक प्रथम अंग होता है जो अतीत काल की दृष्टि से विश्व का आरंभ कह-लाता है; देश की दृष्टि से विश्व की सीमा कहलाता है, किसी दिये हुए सीमित अवयवी की दृष्टि से सरल कहलाता है, कारणों की दृष्टि से चरम आत्मक्रिया (स्वातंत्र्य)

कां. किसी दिये हुए प्रतिबद्ध तक के प्रतिबन्धों की श्रेणी की आत्यन्तिक समग्रता स्वयं सर्वदा ही अप्रतिबद्ध (निरुपाधिक) होती है, क्योंकि उसके बाहर और कोई प्रतिबन्ध नहीं होते जिनकी दृष्टि से यह प्रतिबद्ध हो सके। पर इस प्रकार श्रेणी की आत्यन्तिक समग्रता केवल एक भाव ही होती है, अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा कि सविकल्प (या शक्यतावाची) संबोध होती है, जिसकी संभावना को उस प्रकार की दृष्टि से खोज करना पड़ेगा जिस प्रकार से अप्रतिबद्ध, अर्थात् वास्तव में वह अनुभवातीत भाव जिससे हमारा वास्ता है उसमें अन्त-र्निविष्ट है।

कहलाती है, परिवर्तनशील वस्तुओं की सत्ता की दृष्टि से आत्यन्तिक स्वाभाविक अनिवार्यता कहलाता है।

हमारे पास विश्व और प्रकृति दो शब्द ऐसे हैं जो कभी कभी एक दूसरे का स्थान ग्रहण करते रहते हैं। इसमें प्रथम समस्त अवभासों के गणितीय योगफल को तथा उनके संश्लेषण की समग्रता को महान् और अल्प में, अर्थात् अंगसंयोजन अथवा विभाजन के द्वारा एक समान भाव से सूचित करता है। यह एकमेवाद्वितीय जगत् ही तब प्रकृति[कां.] कहलाता है जब कि यह गत्यात्मक अंगी के रूप में देखा जाता है, और उस समय इसको परिमाण के रूप में निर्धारित करने लिये देश अथवा काल में उसके समूहन से नहीं प्रत्युत अवभासों की सत्ता में स्थित एकता से वास्ता रक्खा जाता है। इस प्रसंग में जो घटित होता है उसके प्रतिबन्ध (या शर्त) को "कारण" नाम दिया जाता है, और अवभासों (के क्षेत्र) में कारण की अप्रतिबद्ध कारणता स्वातंत्र्य कहलाती है, जब कि इसके विपरीत प्रतिबद्ध कारणता संकुचित अर्थ में प्राकृतिक कारण कहलाती है। अस्तित्व सामान्य में प्रतिबद्ध संभाव्य (या आकस्मिक) कहलाता है एवं अप्रतिबद्ध अनिवार्य कहलाता है। अवभासों की अप्रतिबद्ध अनिवार्यता प्राकृतिक अनिवार्यता कही जा सकती है।

जिन भावों के साथ हम इस समय व्यापृत हैं, उन भावों को हमने सृष्टि-संबंधी भाव नाम दिया है, ऐसा, कुछ तो इस कारण से होता है क्योंकि, जगत् या सृष्टि शब्द से समस्त अवभासों के योगफल का अर्थ समझा जाता है और हमारे भाव भी अवभासों के अन्तर्गत केवल अप्रतिबद्ध की ओर ही निर्दिष्ट होते हैं, और कुछ इसलिये भी क्योंकि अनुभवातीत अर्थ में जगत् शब्द समस्त सत्तावान् वस्तुओं की आत्यन्तिक समग्रता को द्योतित करता है, और हम अपने ध्यान को एकमात्र संश्लेषण की पूर्णता की ओर प्रेरित किया करते हैं (यद्यपि यह उसकी शर्तों की ओर प्रतीपगमन के द्वारा ही वास्तव में उपलब्ध हो सकती है)। इस विचार की दृष्टि से कि यह भाव या विचार सब के

कां. प्रकृति (या कुदरत) वैशेषणिक अर्थ में ग्रहण किये जाने पर किसी वस्तु के (आन्तरिक कारणता के सिद्धान्त या तत्व के अनुसार उत्पन्न हुए) निर्धारणों के संयोजनों को सूचित करता है। इसके विपरीत मुख्यद्रव्यार्थ में ग्रहण किये जाने पर, प्रकृति का अर्थ उस सीमा तक अवभासों का योगफल होता है, जहाँ तक कि वे कारणता के आन्तरिक सिद्धान्त या तत्व के बल पर सर्वव्यापी पारस्परिक संयोग में स्थित होते हैं। प्रथम आशय के अनुसार हम द्रव पदार्थ की प्रकृति, अग्नि की प्रकृति इत्यादि शब्दों का व्यवहार किया करते हैं और प्रकृति शब्द का वैशेषणिक या गौण अर्थ में उपयोग करते हैं: इसके विपरीत जब प्रकृति की वस्तुओं की चर्चा किया करते हैं तो हमारे विचार में एक स्थायी पूर्णाङ्गावयवी होता है।

सब पारगामी हैं, और यद्यपि वे निश्चय ही अपने विषय अर्थात् अवभासों को प्रकार की दृष्टि से अतिक्रमण नहीं करते, प्रत्युत केवलमात्र ऐन्द्रिय जगत् से वास्ता रखते हैं (अतीन्द्रिय से नहीं), तथापि वे संश्लेषण को ऐसी मात्रा तक खींच कर ले जाते हैं जो समस्त अनुभव का अतिक्रमण करने वाली है, तिस पर भी वे मेरी सम्मति के अनुसार सब के सब पूर्ण औचित्य के साथ विश्वसंबोध (या जगत्-संबोध) कहे जा सकते हैं। पर, गणितात्मकतया अप्रतिबद्ध और गत्यात्मकतया अप्रतिबद्ध (जो प्रतीपगति के लक्ष्य हैं) के भेद की दृष्टि से मैं प्रथम दो संबोधों को संकुचित अर्थ में (पिण्ड और ब्रह्माण्ड, महान् और अल्प के संबंध में) जगत्-संबोध, तथा अन्य दो को प्रकृति के पारगामी संबोध कह सकता हूँ। इस भेद का अभी तत्काल कोई विशेष महत्त्व नहीं है परन्तु आगे चल कर वे अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाएँगे।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

द्वितीय खण्ड

शुद्ध बुद्धि का वैषम्य

यदि किसी अयुक्त्याश्रित सिद्धान्त-राशि को पक्षस्थिति कहा जाए, तो मैं विपक्षस्थिति अथवा वैषम्य से विरोधी पक्ष के दावों का आशय नहीं समझता, प्रत्युत अयुक्त्याश्रित प्रतीत होने वाले ज्ञान के विविध प्रकारों के विग्रह (कलह) का आशय समझता हूँ, जिनमें से किसी एक को दूसरे की अपेक्षा बढ़कर होने का अनुमोदन नहीं दिया जा सकता। अतएव यह वैषम्य एकपक्षीय दावों से कुछ भी वास्ता नहीं रखता, प्रत्युत यह केवल बुद्धि के ज्ञानों का पारस्परिक कलहों की दृष्टि से एवं इन कलहों के कारणों का अध्ययन करता है। अनुभवातीत वैषम्य-विचार शुद्ध बुद्धि के (आन्तरिक) विरोध उसके कारणों और परिणामों के संबंध में अनुसंधान है। यदि हम बुद्धि का विनियोग केवल बोधवृत्ति के सिद्धान्तों को अनुभव के विषयों के प्रयुक्त करने के लिये न करें, प्रत्युत उसको अनुभव की सीमा के परे तक विस्तृत करने का साहस करें, तो मृषायौक्तिक प्रस्थापनाओं की उत्पत्ति होती है, जो न तो अनुभव से अपनी सम्पुष्टि की आशा कर सकते हैं और न उन्हें खण्डन का भय होता है। और इनमें से प्रत्येक न केवल अपने आप में आत्मविसंवादिता से मुक्त होता है, प्रत्युत स्वयं बुद्धि के स्वरूप में अपनी अनिवार्यता की शर्तों को भी प्राप्त करता है। बस कठिनाई यह है कि दुर्भाग्यवश विरोधी प्रस्थापना भी इन्हीं के समान अपने दावे के पक्ष में प्रामाणिक और अनिवार्य हेतु अपनी ओर से प्रस्तुत कर सकती है।

अतएव शुद्ध बुद्धि की इस प्रकार की आन्वीक्षिकी में जो प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न

होते हैं निम्नलिखित हैं—(१) शुद्ध बुद्धि किन प्रस्थापनाओं में अनिवार्यतया (आन्तरिक) विरोध का विषय बनती है ? (२) इस (आन्तरिक) विरोध के कारण क्या हैं ? (३) क्या इस विसंवादिता के होते हुए भी बुद्धि निश्चयात्मिकता को पहुँचने का मार्ग प्राप्त कर सकती है और यदि पा सकती है तो कैसे पा सकती है ?

इसलिये शुद्ध बुद्धि के आन्वीक्षिक्यात्मक सिद्धान्त को अपने आपको समस्त मृषायौक्तिक स्थापनाओं से पृथक् करने के लिये प्रथम तो अपने में यह विशेषता रखनी चाहिये कि इसको किसी ऐसे स्वच्छन्द प्रश्न से संबंध नहीं रखना चाहिये जो किसी विशिष्ट मनचाहे उद्देश्य के लिये उठाया गया हो, प्रत्युत ऐसे प्रश्न से वास्ता रखना चाहिये जिससे मानवीय बुद्धि को अपनी प्रगति में अनिवार्यतया निबटना पड़ता है। और दूसरे यह कि, अपने विरोधी के साथ इसमें केवल कोई ऐसा कृत्रिम मायिकावभास संनिहित नहीं होना चाहिये जो विवृत होते ही विलीन हो जाने वाला हो, प्रत्युत एक स्वाभाविक और अपरिहार्य मायिकावभास होना चाहिये जो (जब कि अब उसके द्वारा कोई ठगा तो नहीं जाता तथापि फिर भी) सदा भटकाया करता है, हालाँकि धोखा नहीं दे सकता, और इस प्रकार निश्चय ही अहानिकर तो बनाया जा सकता है, पर निर्मूल कदापि नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार का आन्वीक्षिक्यात्मक सिद्धान्त अनुभवात्मक संबोधों में बोधवृत्ति की एकता से संबंध नहीं रखता परन्तु केवल भावों में बुद्धि की एकता से संबंध रखता है, जिसकी शर्तें (क्योंकि नियमों के अनुसार संश्लेषण होने के नाते इसको बोधवृत्ति के अनुरूप एवं इसके साथ ही साथ उसकी (संश्लेषण) की आत्यन्तिक एकता होने के कारण बुद्धि के अनुरूप होना चाहिये)—ऐसी है कि यदि यह (एकता) बुद्धि की एकता के लिये समुपयुक्त हो, तो यह बोधवृत्ति के लिये अत्यधिक बड़ी होगी, और यदि यह बोधवृत्ति के लिये समुचित हो तो बुद्धि के लिये बहुत छोटी होगी; अतएव चाहे हम कुछ भी यत्न क्यों न करें विरोध अवश्य उत्पन्न होकर रहेगा।

यह मृषाबौद्धिक (या मृषायौक्तिक) दावे, इस प्रकार एक ऐसे आन्वीक्षिक्यात्मक युद्ध क्षेत्र को उद्घाटित करते हैं जिसमें वह पक्ष जिसको आक्रमण आरंभ करने की आज्ञा मिल जाती है, सर्वदा विजय प्राप्त किया करता है; तथा वह पक्ष जो रक्षात्मक कारवाई करने के लिये विवश हो जाता है, सर्वदा पराजित होता है। इसलिये शूरवीर योद्धा, चाहे भलाई के पक्ष में लड़ रहे हों, चाहें बुराई के, यदि वे केवल इस बात की सावधानी बरतें कि अन्तिम आक्रमण करने का अधिकार हथिया लें और अपने विरोधी की ओर से किसी नये आक्रमण का सामना उनको न करना पड़े, तो वे निश्चयमेव विजय-माल को प्राप्त करने में सर्वदा सफल हो सकेंगे। यह बात आसानी से समझी

जा सकती है कि यह समरस्थल सर्वदा योद्धाओं के द्वारा प्रविष्ट होता रहा है और उभय पक्षों के द्वारा अनेकों विजयें प्राप्त की जा चुकी हैं, परन्तु अन्तिम निर्णायक जीत सर्वदा भलाई के पक्ष के योद्धा को युद्ध क्षेत्र का स्वामी रहने देती है, क्योंकि उसके विरोधी को आगे अस्त्र धारण करने का निषेध कर दिया जाता है। युद्ध के निष्पक्ष मध्यस्थों के रूप में हमको इस बात को बिलकुल एक ओर उठा कर रख देना चाहिये कि जिस हेतु योद्धा लोग युद्ध कर रहे हैं वह भलाई का पक्ष है अथवा बुराई का; प्रत्युत पहले उनको अपने विग्रह को स्वयं अपने आप समाप्त कर लेने देना चाहिये। जब वे एक दूसरे को हानि पहुँचाने की अपेक्षा थका अधिक चुकें, तो बहुत कुछ संभव है कि अपने झगड़े की निरर्थकता स्वयं देख लें और नेक मित्रों के रूप में एक दूसरे से विदा ले लें।

दावों की लड़ाई को देखने अथवा उत्तेजित करने की यह पद्धति, जिसका उद्देश्य अन्ततः किसी एक या दूसरे पक्ष के अनुकूल निर्णय करना नहीं है, प्रत्युत यह खोज करना है कि स्यात् कहीं कलह का विषय केवल भ्रान्तावभास तो नहीं है जिसको पकड़ सकने के लिये प्रत्येक पक्ष व्यर्थ की चेष्टा कर रहा है, तथा जिसके प्राप्त होने पर भी दोनों पक्षों में से किसी के हाथ कुछ भी नहीं आएगा, इस पद्धति को, मैं कहता हूँ, सांशयिक पद्धति कहा जा सकता है। यह संशयवाद से, जो प्राविधिक तथा वैज्ञानिक अज्ञानता का सिद्धान्त है, एवं जो समस्त ज्ञान की बुनियाद को ही खोद डालने की चेष्टा करता है, जिससे कि कहीं भी कुछ भी, यथासंभव, विश्वस-नीयता और सुरक्षितता (या स्थिरता) अवशिष्ट न रह जाए। इसके विपरीत सांशयिक पद्धति का लक्ष्य निश्चितता है, क्योंकि वह इस प्रकार के दोनों ओर से ईमानदारी और समझदारी के साथ चलाये गये विवाद में मिथ्यावबोध के विन्दु को उद्‌घाटित करने का प्रयन करती है जिससे वह उन चतुर बुद्धिमान विधानकारों के समान अपने लिये शिक्षा ग्रहण कर सके जो न्यायाधीशों के द्वारा अभियोगों के निर्णय में अनुभव की हुई उलझनों से अपने कानूनों की त्रुटियों और अपर्याप्त सुनि-र्धारिताओं के संबंध में शिक्षा प्राप्त करते हैं। जो विरोध अपने को नियमों के प्रयोग में आविष्कृत करता है, वह हमारी सीमित बुद्धिमत्ता में विधि- निर्माण की सर्वोत्तम कसौटी है कि यह बुद्धि को, जो निगूढ चिन्तन अपनी भूलों के विषय में आसानी से चेतनावाली नहीं होती, अपने आधारभूत सिद्धान्तों के निर्धारक अवयवों के संबंध सें सावधान बना देता है।

पर यह सांशयिक पद्धति अनुभवातीत दर्शनशास्त्र के संबंध में ही सारवान् है; अनुसंधान के अन्य सब क्षेत्रों में इसके बिना काम चल सकता है, गणित में इसका

उपयोग बेतुका होगा, क्योंकि गणित में कोई असत्य कथन छिपाए और अदृश्य नहीं बनाए जा सकते, इस कारण कि इसकी उपपत्ति सर्वदा ही शुद्ध प्रत्यक्षानुभव के पथप्रदर्शन के अधीन और ऐसे संश्लेषण के द्वारा प्रवर्तित होती है जो नित्य स्पष्ट होता है । प्रयोगात्मक दर्शन में दुबिधा के कारण उत्पन्न हुआ विलम्ब वास्तव में उपयोगी हो सकता है; तथापि ऐसी कोई मिथ्या धारणा संभव नहीं है जो आसानी से दूर न की जा सके, तथा विवाद को निबटाने के अन्तिम उपाय, चाहे जल्दी से उपलब्ध हों चाहे देर से, अन्ततः अनुभव में ही निहित पाये जाएँगे । आचारदर्शन भी अपने सब के सब आधारभूत सिद्धान्तों को उनके व्यावहारिक परिणामों के सहित वास्त-विकता में प्रदर्शित कर सकता है, अथवा कम से कम संभाव्य अनुभव में प्रदर्शित कर सकता है, और इससे निगूढ़ अपकर्षण के कारण उत्पन्न मिथ्यावबोध से बचा जा सकता है इसके विपरीत हैं । अनुभवातीत दावे, जो समस्त संभाव्य अनुभव के क्षेत्र के परे जो है उसमें भी अन्तर्दृष्टि रखने का दम भरते हैं, पर न तो वे अपने अपकृष्ट संश्लेषण को किसी अपरोक्षानुभूति में प्रागनुभवात्मकतया कभी उत्पादित कर सकते हैं और न इस प्रकार संघटित होते हैं कि उनकी गलतियाँ या त्रुटियाँ अनुभव की सहायता से खोज कर निकाल ली जा सकें । फलतः अनुभवातीत बुद्धि उसके विरोधी कथनों के समन्वय की चेष्टा के अतिरिक्त अन्य किसी कसौटी पर कसे जाने योग्य नहीं है, पर इस कसौटी के उपयोग के पूर्व उसके विवादों को स्वतंत्र और निर्बाध छूट देनी चाहिये, और हम अब इसी की व्यवस्था करना चाहते हैं । [कां.]

कां. (आन्तरिक) विरोधों का वर्णन उपर्युल्लिखित अनुभवातीत भावों के क्रमानुसार ही आगे प्रस्तुत किया जाता है ।

शुद्ध बुद्धि का (आन्तरिक) विरोध

अनुभावोंभवातीत का प्रथम विरोध

पक्ष

दुनिया का आरंभ काल के अन्तर्गत होता है और देश की दृष्टि से भी यह सीमा में आबद्ध है।

उपपत्ति

यदि हम यह मानें कि दुनिया का आरंभ काल में नहीं हुआ, तो प्रत्येक दिये हुए क्षण तक अनन्त काल व्यतीत हुआ है ऐसा मानना पड़ेगा, और यह भी मानना पड़ेगा कि वस्तुओं की अनुक्रमिक अवस्थाओं की असंख्य मालिकाएँ व्यतीत हो चुकी हैं। पर किसी मालिका या श्रृंखला की अनन्तता इस तत्व में निहित है कि वह अनुक्रमिक संश्लेषणों में कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार अतीत जगत् की एक अनन्त श्रृंखला असंभव है, और इसलिये जगत् का आरंभ उसकी सत्ता की एक अनिवार्य शर्त (या प्रतिबन्ध) है; यही वह बात है जो सर्वप्रथम सिद्ध करनी थी।

दूसरी बात के संबंध में भी पुनः उसके विपरीत तथ्य को मान लिया जाए; कि दुनिया सहास्तित्व वाली वस्तुओं का एक अनन्त दिया हुआ अवयवी है

विपक्ष

दुनिया का आदि नहीं है और न देश की दृष्टि से इसकी कोई सीमा है, प्रत्युत यह काल और देश दोनों की ही दृष्टि से अनन्त (भूवा) है।

उपपत्ति

क्योंकि मान लिया जाए, कि उसका आरंभ है तो, क्योंकि आरंभ एक ऐसी सत्ता है जिसके पूर्ववर्ती ऐसा काल होता है जिसमें वस्तु नहीं होती, इसलिये एक ऐसा पूर्ववर्ती समय रहा होगा जब कि दुनिया नहीं थी, अर्थात् एक रिक्त समय रहा होगा। पर (अब) रीते समय में किसी भी वस्तु का उद्‌भव संभव नहीं है, क्योंकि ऐसे समय का कोई भी भाग उसके अन्य भाग की अपेक्षा, अनस्तित्व की अपेक्षा अस्तित्व की विशेषक शर्त को अपने में नहीं रखता (चाहे तो यह माना जाए कि कोई वस्तु स्वतः उद्‌भूत होती है अथवा यह माना जाए कि वह किसी अन्य कारण से)। फलतः यद्यपि संसार में वस्तुओं की अनेकों श्रृंखलाएँ निश्चयमेव आरंभ हो सकती हैं, परन्तु स्वयं जगत् का कोई आरंभ नहीं हो सकता इसलिये वह अतीत काल के संबंध में

परन्तु हम किसी मात्रा के परिमाण का, जो किसी प्रत्यक्षानुभव के अन्तर्गत एक निश्चित [कां.] सीमा के अन्तर्गत दिया हुआ न हो, उसके भागों के संश्लेषण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से विचार नहीं कर सकते, और ऐसी मात्रा की समग्रता का, केवल पूर्णता को पहुँचे हुए संश्लेषण अथवा इकाई को बार बार अपने साथ जोड़े बिना विचार नहीं कर सकते। [कां.] इसलिये, जो जगत् पूर्णावयवी समस्त देश को आपूरित करता है, उसको समझने के लिये अनन्त जगत् के भागों के अनुक्रमिक संश्लेषण को पूर्ण हुआ मानना पड़ेगा ; अर्थात् , समस्त सहास्तित्व-अनन्त है।

जहाँ तक द्वितीय बात का संबंध है, आइए हम सबसे प्रथम विपरीत तथ्य को मान कर चलें, अर्थात् यह मान कर चलें कि संसार देश के अन्तर्गत सीमित है और फलतः एक ऐसे रीते देश के भीतर इसका अस्तित्व है जो असीम है। इसलिये हमको न केवल देश के अन्तर्गत वस्तुओं का संबंध मिलेगा, प्रत्युत देश के साथ भी वस्तुओं का संबंध प्राप्त होगा। परन्तु अब क्योंकि संसार एक ऐसा निरपेक्ष अवयवी है जिसके परे प्रत्यक्षानुभव का कोई विषय नहीं है, अतएव कोई ऐसा प्रतिसंबंधी नहीं है जिसके साथ संसार संबंध में स्थित हो, अतः संसार का रीते प्रदेश के साथ जो संबंध होगा वह इसका किसी भी विषय के साथ संबंध नहीं होगा। इस प्रकार का संबंध और परिणामस्वरूप रीते देश (या अवकाश) के द्वारा संसार का परिसीमन दोनों ही अवस्तु (या कुछ नहीं) हैं; अतः देश की दृष्टि से जगत् बिलकुल भी सीमित नहीं है ; अर्थात् विस्तार के संबंध में वह अनन्त है। [कां.]

कां. हम किसी अपरिच्छिन्न मात्रा को उसके पूर्णावयवी रूप में तब देख सकते हैं यदि वह सीमाओं के भीतर सन्निविष्टि हो, जिससे हमको उसकी समग्रता को, माप करके अर्थात् उसके भागों के अनुक्रमिक संश्लेषण के द्वारा, निर्मित न करना पड़े क्योंकि सीमाएँ आगे की सभी वस्तुओं को काट कर, स्वयं उसको पूर्णता को निर्धारित करती हैं।

कां. इस प्रसंग में समग्रता का संबोध उसके भागों के पूर्णता तक पहुँचे हुए संश्लेषण की प्रत्युस्थापना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; क्योंकि हम समस्त के प्रत्यक्षानुभव से तो संबोध को निकाल नहीं सकते (कारण कि ऐसा प्रस्तुत प्रसंग में असंभव है), इसलिये हम इसको केवल कम से कम, भावमात्र में अनन्त की पूर्णता को पहुँचे हुए इसके भागों के संश्लेषण के द्वारा ही विचार (या कल्पना कर) सकते हैं।

कां. देश बाह्य प्रत्यक्षानुभव (औपचारिक प्रत्यक्षानुभव) का आकारमात्र है, परन्तु कोई ऐसा वस्तविक विषय नहीं है जो बाहर से अनुभव किया जा सकता हो। यह देश, उन समस्त वस्तुओं के पूर्ववर्ती के रूप में, जो उसको परिच्छिन्न (आपूरित या सीमित) करती है, अथवा यह कहना अधिक अच्छा

वान् वस्तुओं की गणना की प्रक्रिया में अनन्त काल को व्यतीत हुआ मानना पड़ेगा ; जो असंभव है । अतएव वास्तविक वस्तुओं का अनन्त समूह दिया हुआ पूर्णांग अवयवी नहीं माना जा सकता है और न (इसीलिये) एक ही समय दिया हुआ माना जा सकता है । फलतः जहाँ देश के अन्तर्गत विस्तार का प्रश्न है, संसार अनन्त नहीं है, प्रत्युत सीमाओं में परिसीमित है, यह वह दूसरी बात है जिसको सिद्ध करना था ।

होगा कि जो उसके आकार के अनुसार कोई दृष्टानुभव प्रदान करती हैं, परमावकाश के नाम से, उस सीमा तक बाह्यावभासों की संभावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिस सीमा तक वे स्वयं सत्ता रखते हैं अथवा दिये हुये अवभासों के साथ जोड़े जा सकते हैं । इसलिये दृष्टानुभव अवभासों और अवकाश का (प्रत्यक्ष और रिक्तानुभव का) संघात नहीं है । संश्लेषण के अन्तर्गत इनमें से एक दूसरे का प्रतिसंबंधी नहीं है प्रत्युत वे एक ही दृष्टानुभव में उस प्रत्यक्षानुभव के भौतिक तत्व एव आकार के रूप में परस्पर आबद्ध रहते हैं । यदि हम इन दो अंशों में से एक को दूसरे के बाहर पृथक् रखना चाहें (अवकाश को समस्त अवभासों से बाहर रखना चाहें) तो बाह्यप्रत्यक्षानुभव के समस्त प्रकारों के रीते निर्धारण उत्पन्न होते हैं । जो फिर भी संभाव्य प्रत्यक्ष नहीं हैं । उदाहरण के लिये अनन्त रिक्त देश (अवकाश) के साथ जगत् की गति (या स्थिति) के संबंध का निर्धारण एक ऐसा निर्धारण है जो कदापि प्रत्यक्ष नहीं किया सकता, अतएव यह (भी) केवलमात्र विचारगत वस्तु का विधेय मात्र है ।

प्रथम विरोध के संबंध में विचार

१

पक्ष के संबंध में

मैंने इन परस्पर विवादपूर्ण विरोधी युक्तियों को प्रस्तुत करते हुए प्रवंचना-पूर्ण हेत्वाभासों को प्रदर्शित नहीं किया है, (अर्थात् जैसा कहा जाता है) वकील की पद्धति का अनुसरण नहीं किया है, जो अपने विरोधी की असावधानी से लाभ उठाने के लिये उसको मिथ्या समझे हुए विधान के प्रति सहर्ष प्रत्याह्वान (या अपील) करने देता है, जिससे वह अपने निजी अवैध दावों को उपर्युक्त नियम के खण्डन के आधार पर स्थापित कर सके। उपर्युक्त उपपत्तियों में से प्रत्येक उपपत्ति प्रकृत विषय के स्वरूप से ही निष्पन्न हुई है, एवं उभयपक्षों के अयौक्तिक तार्किकों के वितथ-निष्कर्षों द्वारा प्रस्तुत लाभ को एक ओर उठा कर रख दिया गया है, (अर्थात् उनसे कोई अनुचित लाभ नहीं उठाया गया है)।

मैंने पक्ष को भी, अयुक्तिवादियों की भाँति किसी दिये हुए परिमाण की अनन्तता को त्रुटिपूर्ण संबोध से आरंभ करके, आपाततः दिखाने भर के लिये सिद्ध कर दिया होता। (मैंने यह तर्क उपस्थित किया होता कि) वह परिमाण अनन्त होता है जिसे बड़ा और परिमाण (अर्थात् उसमें दी हुई इकाइयों की संख्या से अधिक परिमाण) संभव न हो। परन्तु कोई भी अनेकता महत्तम नहीं

२

विपक्ष संबंध में

दी हुई विश्व श्रृंखला और जगद्वयवी की अनन्तता की उपपत्ति इस तथ्य पर आश्रित है कि, इसके विरोधी तथ्य को मानने पर एक रीता (शून्य) काल और रीता (शून्य) देश या अवकाश जगत् की सीमाओं का निर्माण करेंगे। यह बात मुझे अज्ञात नहीं है कि इस परिणाम के परिहार टालने के लिये चेष्टा की गई है और यह दावा किया गया है देश और काल के अन्तर्गत जगत् की सीमा (या मर्यादा) बिलकुल संभव है, और सो भी जगत् के पूर्व एक निरपेक्ष काल, अथवा वास्तविक जगत् के परे तक विस्तीर्ण निरपक्ष देश को मानने की अपेक्षा (जो असंभव है) संभव है। इस मत के उत्तर-भाग से, जिस रूप में यह लाब्नित्स के अनुयायियों द्वारा माना जाता है, मैं भली भाँति सन्तुष्ट हूँ। देश केवल बाह्य प्रत्यक्षानुभव का आकारमात्र है किन्तु कोई वास्तविक विषय नहीं है जो बाह्यतः देखा जा सकता है; और यह अवभासों का प्रतिसंबंधी भी नहीं है, प्रत्युत अवभासों का आकार है। इस प्रकार देश (या अवकाश) अपने आप में कोई ऐसी निरपेक्ष वस्तु नहीं माना जा सकता जो वस्तुओं की सत्ता को निर्धारित करने वाला हो, क्योंकि वह कोई विषय नहीं है, प्रत्युत केवलमात्र संभाव्य विषयों

हो सकती क्योंकि एक या अधिक इकाइयाँ तो सदा ही उसके साथ जोड़ी जा सकती हैं। इसलिये कोई दिया हुआ अपरिमित परिमाण, और तदनुसार (अतीत शृंखलाओं की दृष्टि से अथवा विस्तार की दृष्टि से) अपरिमित जगत् भी असंभव है; वह इस प्रकार उभय दृष्टियों से परिमित होना चाहिये। मैंने अपने उपपत्ति को इस प्रकार प्रवृत्त किया होता, परन्तु यह संबोध, उससे मेल न खाता जो आशय अपरिमित अवयवी से समझा जाता है। यह इस बात को प्रत्युपस्थापित नहीं करता कि यह कितना बड़ा है, फलतः उसका संबोध भी किसी अधिकतम का संबोध नहीं होता, प्रत्युत इसके द्वारा केवल किसी ऐसी यथेच्छ स्वीकृत इकाई के साथ इसके संबंध का विचार किया जाता है, जिसकी दृष्टि से यह किसी भी संख्या से अधिक बड़ा है। इस चुनी हुई इकाई के अपेक्षाकृत बड़े अथवा छोटे होने के अनुसार अपरिमित अपेक्षाकृत बड़ा अथवा छोटा होगा; पर क्योंकि अपरिअमितता (या अनन्तता) इस दी हुई इकाई के साथ संबंध पर आश्रित है सर्वदा एक ही रहेगी, यद्यपि, यह सच है कि समस्तावयवी का निरपेक्ष परिमाण इसके द्वारा बिलकुल भी नहीं जाना जा सकता; पर इस विषय-चर्चा की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

अनन्तता का सच्चा अनुभवातीत संबोध तो यह है कि किसी मात्रा को का आकार भर होता है। इसलिये अवभास रूप में वस्तुएँ भले ही देश को निर्धारित करती हैं, अर्थात् इसके परिमाण और संबंध के समस्त संभव विधेयों में से इस बात का निर्णय (या निर्धारण) वस्तुएँ ही करती हैं इनमें से यह या वह वास्तविकता से संबंध रखेगा ; पर इस विपरीत, दूसरी ओर देश (या अवकाश) कुछ एक ऐसे तत्व के रूप में जो आत्माश्रित (अपने ऊपर निर्भर), है किसी वास्तविक वस्तु को उसके परिणाम अथवा आकृति की दृष्टि से निर्धारित नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं अपने आप में कुछ भी वास्तविक वस्तु नहीं इसलिये यद्यपि देश चाहे वह भरा हुआ हो (अथवा खाली हो) [कां.] अवभासों के द्वारा सीमित हो सकता है, किन्तु अवभास अपने से बाहर के रीते देश (अथवा अवकाश) से सीमित नहीं हो सकते। इसी प्रकार यह बात समय (काल) के संबंध में भी लागू होती है। परन्तु इस

कां. यह बात सरलता से देखी जा सकती है कि यहाँ जो बात कहना अभीष्ट है वह यह है कि रीता अवकाश (या देश) जहाँ तक अवभासों से सीमित होता है, अर्थात् जगत् के अन्तर्गत विद्यमान देश, वहाँ तक वह कम से कम अनुभवातीत सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान नहीं करता, अतएव इसके संबंध में इसको स्वीकार किया जा सकता है, यद्यपि इससे उसकी संभावना का तत्काल दावा नहीं किया जा सकता।

नापने में इकाइयों का अनुक्रमिक संश्लेषण कदापि भी पूरा नहीं हो सकता ।[कां.] इससे यह निष्कर्ष पूर्ण निश्चितता के साथ अनुमित होता है कि एक दिये हुए (वर्तमान) क्षण तक पहुँचने वाली वास्तविक अनुक्रमिक अवस्थाओं की अनन्तता व्यतीत नहीं हो सकती है, अतः जगत् का आरंभ अवश्य ही होना चाहिये ।

पक्ष के द्वितीय भाग की दृष्टि से अनन्त किंतु फिर भी व्यतीत हो चुकी शृंखला संबंधी कठिनाई दूर हो जाती है, क्योंकि विस्तार की दृष्टि से अनन्त जगत् का नानात्व समकालतया दिया हुआ होता है। परन्तु इस प्रकार के समूह की समग्रता का विचार करने के लिये (क्योंकि हम उन सीमाओं की दुहाई नहीं दे सकते, जो प्रत्यक्षानुभव में उस समग्रता को स्वतः संघटित करती हैं) हमको अपने संबोध का ब्यौरा देना चाहिये, जो इस प्रसंग में पूर्वावयवी की ओर से भागों के निर्द्धारित समूह की ओर नहीं जाता प्रत्युत जिसको भागों के अनुक्रमिक संश्लेषण द्वारा सम्पूर्ण अवयवी की संभावना को प्रदर्शित (या निरूपित) करना होता है। पर अब क्योंकि इस संश्लेषण को एक कभी पूरी न होने

कां. अतएव यह मात्रा (दी हुई इकाइयों की) इतनी बड़ी बहुलता को धारण किये रहती है जो किसी भी संख्या से अधिक बड़ी होती है; और यह गणित नें 'अपरिमित' का संबोध है।

सब को मान लेने पर भी, साथ ही साथ यह भी निर्विवाद है कि यदि दुनिया की देशगत अथवा कालगत सीमा को स्वीकार करना है तो इन दो अवस्तुओं को—जगत् के बाहर रिक्त देश को तथा जगत् के पूर्व रिक्त काल को स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

क्योंकि जहाँ तक उस उपाय का संबंध है जिसके द्वारा इस (अनिष्ट) परिणाम के परिहार का प्रयत्न किया जाता है (कि यदि जगत् की कालगत और देशगत् सीमाएँ हों तो एक अनन्त रिक्तता को, वास्तविक वस्तुओं की सत्ता को परिमाण की दृष्टि से निर्धारित करना चाहिये) तो वह प्रच्छन्न प्रकार से इसमें निहित होगा कि इन्द्रिय ग्राह्य जगत् स्थान पर किसी अज्ञात बुद्धिग्राह्य जगत् का विचार किया जाए, और प्रथम आरंभ (जो एक ऐसी सत्ता है जिसका पूर्वगामी असत्ता का काल है) के स्थान पर एक सत्ता सामान्य का विचार किया जाए, जो अन्य किसी भी प्रकार की शर्त की पूर्व कल्पना को नहीं मानती, और विस्तार की सीमाओं के स्थान पर जगद्यवयवी की मर्यादाओं का विचार किया जाए—और इस प्रकार काल और देश से छुटकारा पाया जाए । परन्तु यहाँ तो प्रसंग केवल (इन्द्रियग्राह्य) अवभासात्मक जगत् का है, और उसकी राशि (या परिमाण) का है और इसलिये इन्द्रिय संवेद्यता की

वाली श्रृंखला निर्मित करनी पड़ती है, अतएव समग्रता का विचार न तो उसके पूर्व किया जा सकता है और न उसके द्वारा। क्योंकि इस प्रस्तुत प्रसंग में समग्रता का संबोध स्वयं भागों के पूर्णता को पहुँचे हुए संश्लेषण की प्रत्युपस्थापना है, और यह पूर्णता और तदनुसार स्वयं संबोध भी दोनों ही असंभव हैं।

उपर्युक्त शर्तों में अपकर्षण, उस जगत् की सारभूत को नष्ट किये बिना, नहीं किया जा सकता। यदि इन्द्रियग्राह्य जगत् सीमित है तो यह अवश्य ही अनन्त शून्य (या रिक्तताओं) में स्थित होना चाहिये। यदि उस शून्य को और परिणामतः अवभासों की संभावना प्रागनुभवात्मक प्रतिबन्ध के रूप में देश सामान्य को त्याग दिया जाए तो समस्त इन्द्रिय ग्राह्य जगत् ही विलीन हो जाता है। हमारी समस्या में हमको जो वस्तु दी हुई है वह तो यही (जंगत्) है। बुद्धिग्राह्य जगत् एक जगत् सामान्य के ऐसे सर्वगत संबोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसमें उसके प्रत्यक्षानुभव को समस्त शर्तों से अपकर्षण कर लिया जाता है और इसलिये संबंध, कोई भी संश्लेषणात्मक प्रस्थापना, सकारात्मक अथवा नकारात्मक, बिलकुल भी संभव नहीं है।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

अनुभवातीत भावों का द्वितीय विरोध

पक्ष

संसार में प्रत्येक संहत (मिश्रित) पदार्थ अमिश्रित भागों से संगठित होता है, एवं असंहत अथवा असंहत के योग से मिल कर बने हुए संहत पदार्थ के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु का कहीं भी अस्तित्व नहीं है।

उपपत्ति

क्योंकि, मान लीजिए, संहत पदार्थ असंहत भागों (या खंडों) से संघटित नहीं होते; तो यदि विचार में समस्त संहनन को हटा दिया जाए, तो कोई भी संहत भाग नहीं रहेगा, और (क्योंकि कोई असंहत भाग दिया हुआ नहीं है) असंहत (भाग) भी नहीं होगा, अर्थात् कुछ भी नहीं बचेगा, फलतः कोई पदार्थ दिया हुआ नहीं होगा। इसलिये या तो सम्भवतः विचार में समस्त संहनन को हटाना नहीं हो सकता, अथवा इसके हटा देने के पश्चात् कोई ऐसी वस्तु अवश्यमेव बच रहनी चाहिये जो बिना समग्र संहनन के अस्तित्व रखने वाली है अर्थात् असंहत (अविमिश्रित) है। प्रथम विकल्प के प्रसंग में संहत स्वयं पदार्थों

विपक्ष

संसार में कोई भी संहत (मिश्रित वस्तु असंहत खंडों से संघटित नहीं होती, और संसार में असंहत (अमिश्रित) वस्तु का कहीं अस्तित्व नहीं है।

उपपत्ति

मान लीजिए कि (पदार्थ के रूप में) कोई संहत वस्तु असंहत भागों से संघटित होती है। क्योंकि सब बाह्य संबंध और इसलिये द्रव्यों या पदार्थों) का सब सहंनन केवल देश के अन्तर्गत संभाव्य है, अतएव देश उतने ही भागों से घटित होना चाहिये जितने भाग उसको घेरने वाले संहत (पदार्थ) में हैं। पर देश असंहत (अमिश्रित) भागों से नहीं प्रत्युत देशों से ही संघटित होता है। इसलिये संहत के प्रत्येक भाग को अवश्य ही किसी देश को घेरना चाहिये। परन्तु सभी संघातों के निरतिशय आद्य भाग असंहत (अमिश्रित) होते हैं। अतः कोई भी असंहत किसी देश को (छेकता) घेरता है यह निष्कर्ष निकलता है। अब,

(या द्रव्यों) से संघटित नहीं होंगे (क्योंकि उनके संबंध में संहनन पदार्थों का एक यादृच्छिक संबंधमात्र है, जो पदार्थ स्थायी या शाश्वत सत्ताओं के रूप में उसके बिना बने रहने चाहिये)। पर अब जबकि यह हमारी पूर्व कल्पना का विरोध करता है, अतएव केवल दूसरा विकल्प शेष बचता है कि संसार में पदार्थों का संघात असंहत खंडों से निर्मित (या संघटित) होता है

इससे अव्यवहिततया यह परिणाम निकलता है कि संसार में समस्त वस्तुएँ असंहत सत्ताएँ हैं, उनका संहनन केवल-मात्र इनकी एक बाह्य अवस्था भर है, तथा यद्यपि हम इन मौलिक तत्वों को इस संहनन की अवस्था में से पूर्णतया पृथक् करके छाँट नहीं सकते, तथापि बुद्धि को उनको समस्त संहनन के प्रारं-भिक विषयों के रूप में और इसीलिये संहनन की पूर्ववर्ती असंहत सत्ताओं के रूप में विचार करना ही पड़ता है।

क्योंकि प्रत्येक ऐसी यथार्थ वस्तु जो देश को घेरती है, अपने में परस्पर एक दूसरे बाह्य घटकों के नानात्व को अन्तर्विष्ट रखती है और इसलिये संहत होती है; और क्योंकि एक यथार्थ संहत निश्चय ही उपाधियों से निर्मित नहीं होता (क्योंकि पदार्थ के बिना उपाधियाँ एक दूसरे के बाहर स्थित नहीं हो सकतीं) अतएव पदार्थों से संघटित होता है, फलतः यह निष्कर्ष निकला : असंहत पदार्थों का संघात होगा जो (तथ्य) अपना स्वयं खण्डन करने वाला है।

विपक्ष की दूसरी प्रस्थापना को कि जगत् में असंहत तत्व जैसी कोई वस्तु कहीं नहीं है, यहाँ केवल इतना आशय व्यक्त करना है कि नितान्त असंहत की सत्ता को किसी भी बाह्य हो अथवा आन्तरिक अनुभव या प्रत्यक्ष से स्थापित नहीं किया जा सकता और इसलिये नितान्त असंहत एक भाव (या विचार-मात्र है, जिसकी वैषयिक यथार्थता किसी संभाव्य अनुभव में प्रदर्शित नहीं की जा सकती, इसलिये जो अवभासों की व्याख्या में उपयोग और विषय से रहित है। क्योंकि यदि हम यह मान लें कि अनुभव में इस अनुभवातीत भाव का विषय पाया जा सकता है, तो किसी विषय के दृष्ट प्रत्यक्षानुभव को ऐसे रूप में ज्ञात होना होगा कि जो अपने में किसी नानात्व को एक दूसरे से बाहर (और) पास पास और एकता में आबद्ध अन्त-

विष्ट नहीं रखता। पर क्योंकि इस प्रकार के किसी नानात्व की अ-चेतना से किसी विषय के प्रत्येक प्रकार के प्रत्यक्षानुभव की पूर्ण असंभवता का अनुमान नहीं निकाला जा सकता, पर यह अन्तिम बात आत्यन्तिक सरलता (अमिश्रितता) को स्थापित करने के लिये अनिवार्य है, अतः यह परिणाम निकलता है कि इस प्रकार की सरलता किसी भी प्रत्यक्ष से अनुमित नहीं हो सकती। क्योंकि, इसलिये, अत्यन्त सरल विषय के **रूप में** कोई वस्तु किसी संभाव्य अनुभव में कदापि भी दी हुई नहीं हो सकती, और क्योंकि ऐन्द्रयिक जगत् समस्त संभाव्य अनुभव की एकत्रित राशि का रूप माना जाना चाहिये, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें कहीं भी कोई अविमिश्रित सरल तत्व उपलब्ध नहीं होता।

विपक्ष की यह दूसरी प्रस्थापना प्रथम की अपेक्षा अधिक दूर तक जाती है जिसने सरल को केवल संहत प्रत्यक्षानुभव से निर्वासित किया था, जबकि यह दूसरी प्रस्थापना उसको समग्र प्रकृति से ही बहिष्कृत कर देती है; इसलिये इस (दूसरी) प्रस्थापना को किसी बाह्य प्रत्यक्षानुभव के (अर्थात् संहत के) संबोध से सिद्ध कर सकना संभव नहीं हुआ प्रत्युत संभाव्य अनुभव सामान्य के संबंध से सिद्ध करना संभव हुआ है।

द्वितीय विरोध के संबंध में विचार

जब मैं किसी ऐसे (पूर्ण) अवयवी की बात करता हूँ जो अनिवार्यतया सरल (अमिश्रित) भागों से मिल कर घटित हुआ होता है तो मैं इस शब्द से केवल एक ऐसे पादार्थिक अवयवी का अर्थ समझता हूँ जो संहत के सच्चे अर्थ में 'संगत' है, अर्थात् जो नानात्व की ऐसी सोपाधिक एकता है जो (कम से कम विचार में) पृथक् रूप में दी हुई होने पर एक पारस्परिक संयोजन में स्थापित की जाती है और इसलिये एक इकाई को घटित करती है। देश (या अवकाश) को वास्तव में संघात नहीं प्रत्युत सर्वयोग या विश्व (टोटुम्) कहा जाना चाहिये, क्योंकि इसके भाग केवल पूर्णावयवी में संभव हैं न कि पूर्णावयवी अंगों के द्वारा संभव हैं। इसको सर्वथा एक आदर्श (या भावगत) संघात कहा जा सकता है किन्तु वास्तविक संघात नहीं। परन्तु यह तो केवल बाल की खाल खींचना है। क्योंकि देश (या अवकाश) द्रव्यों से निर्मित संघात नहीं है (और तो और वास्तविक उपाधियों से बना हुआ संघात भी नहीं है) इसलिये यदि मैं उसमें से संहतत्व को निकाल लेता हूँ तो कुछ भी शेष नहीं रहता, यहाँ तक विन्दु-मात्र भी शेष नहीं रहता; क्योंकि यह (विन्दु) भी तो केवल देश की (अतएव संघात की भी) सीमा के रूप में ही संभाव्य है। इसलिये देश और काल सरल (अमि-

भौतिक तत्व की अनन्त विभाज्यता के सिद्धान्त के विरुद्ध (जिसकी उपपत्ति का आधार केवल गणितीय है) जीवतन्मात्रवादियों के द्वारा आपत्तियाँ उठाई गई हैं, जो (आपत्तियाँ) अपने को पहले से ही इसलिये संदेहास्पद बना डालती हैं कि वे गणित की स्पष्टतम उपपत्तियों का भी देश की संघटना के संबंध में अन्तर्दृष्टि के ऊपर आधारित होना [उस सीमा तक जहाँ तक कि वह यथार्थ में समस्त भौतिक तत्व की संभावना का औपचारिक प्रतिबन्ध (या शर्त) है] स्वीकार नहीं करतीं, प्रत्युत वे तो उनको केवलमात्र अपकृष्ट किन्तु यादृच्छिक संबोधों से निकाले हुए अनुमान के रूप में मानती हैं जो यथार्थ वस्तुओं के संबंध में लागू नहीं हो सकते। यह ठीक ऐसा है कि जैसे मानो प्रत्यक्षानुभव के उस प्रकार की अपेक्षा (जो देश के आद्य प्रत्यक्षानुभव में दिया हुआ है) एक दूसरे ही प्रकार की कल्पना करना भी केवलमात्र संभव हो और मानो इसकी प्रागनुभवात्मक निर्धारणाएँ साथ ही साथ ऐसी प्रत्येक वस्तु के प्रति लागू नहीं होंगी जो केवल इस कारण संभव है कि वह देश (या अवकाश) को आपूरित किये हुए है; (पर) ऐसा कैसे संभव हो सकता है। यदि उनकी बात को सुना जाए, तो गणित के विन्दु के (जो सरल अमिश्रित तो है किन्तु देश का खंड

श्रित, एकरस) भागों से संघटित नहीं होते। जिसका संबंध केवलमात्र किसी पदार्थ की अवस्था है, चाहे उसमें परिमाण भी हो (जैसे, उदाहरण के लिये, परिवर्तन) वह सरल (अमिश्रित) तत्व से संघटित नहीं होता, अर्थात् परिवर्तन की एक निश्चित मात्रा बहुत से सरल (अमिश्रित) परिवर्तनों की वृद्धि (या योग) से घटित नहीं होती। हमारा संघात सरल का अनुमान केवल आत्मनिर्भर वस्तुओं के संबंध में ही लागू होता है। पर (वस्तु की) अवस्था की उपाधियाँ आत्मनिर्भर नहीं होतीं। इस प्रकार सारतः संघात के घटक के रूप में सरल की उपपत्ति को यदि बहुत दूर कर विस्तृत किया जाए और बिना किसी भेदभाव के सभी संघातों के प्रति उसको लागू किया जाए तो वह सरलता से विपन्न हो सकती है जैसा कि पहले बहुधा हो चुका है।

और फिर मैं यहाँ जो सरल की चर्चा कर रहा हूँ, वहीं तक कर रहा हूँ जहाँ तक कि वह अनिवार्यतया संघात में दिया हुआ है, जो (संघात) अपने संघटकों के रूप में सरल (असंहत तत्वों में) विश्लेषित हो सकता है। (लाइब्नित्स् के प्रयोग के अनुसार) मोनस् शब्द का असली केवल ऐसे सरल (असंहत) के साथ संबद्ध होना चाहिये जो अपरोक्षतया असंहत पदार्थ के रूप में (जैसे उदाहरणार्थ आत्म-चेतना में) दिया नहीं प्रत्युत उसकी सीमा है) अतिरिक्त हमको एक भौतिक विन्दु की कल्पना करनी पड़ेगी जो निश्चय ही सरल भी है पर जिसमें यह विलक्षणता भी है कि वह देश के भाग के रूप में अपने सञ्चयन के द्वारा स्वयं देश को पूरित कर सकता है। इस विसंगति के अनेकों सुविदित सामान्य और स्पष्ट खण्डनों की यहाँ पुनरावृत्ति किये बिना क्योंकि गणित के सुप्रतिष्ठित साक्ष्य को केवल कूट तार्किक संबोधों के द्वारा युक्ति विरुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न नितान्त निरर्थक है—मैं केवल इतना कहता हूँ कि दर्शनशास्त्र जो यहाँ गणित के साथ चालबाज़ी करता है तो वह इस कारण ऐसा करता है कि वह यह भूल जाता है कि इस प्रस्तुत विवेचन में हमारा वास्ता केवल अवभासों और उनके प्रतिबन्ध से (शर्त से) है। यहाँ पर बोधवृत्ति के द्वारा निर्मित संहत के शुद्ध संबोध के लिये सरल (असंहत) के संबोध को खोज कर पा लेना भर पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत संहत (भौतिक तत्व) के प्रत्यक्षानुभव के निमित्त सरल (असंहत तत्व) के प्रत्यक्षानुभव को पाना (आवश्यक) है; और यह इन्द्रिय संवेद्यता के नियमों के अनुसार, और इसीलिये इन्द्रियों के विषयों में भी बिलकुल असंभव है। इसलिये यद्यपि ऐसा हो सकता है कि जब द्रव्यों से संघटित कोई अवयवी, जो कि केवल शुद्ध बोध बोध वृत्ति

होता है, न कि संघात के घटक के साथ संवद्ध होना चाहिये, जो (घटक) शब्द से अधिक अच्छे प्रकार से अभिहित होता है। और क्योंकि मैं असंहत (पदार्थों के अस्तित्व) को केवल संघातों के घटक तत्वों के रूप में सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा हूँ अतएव मैं द्वितीय विरोध के पक्ष को अनुभवातीत परमाणुवाद का नाम दे सकता हूँ। परन्तु क्योंकि यह शब्द सुदीर्घ काल से मूर्त अवभासों की व्याख्या के एक विशिष्ट प्रकार को सूचित करने के लिये उपयोग में आने लगा है, और इसलिये आनुभविक संबोधों की पूर्वावधारणा की भी अपेक्षा करता है, अतएव इसको असंहत एककवाद का आन्वीक्षिक्यात्मक सिद्धान्त कहना अधिक अच्छा होगा।

के द्वारा विचारा जाता है, तो उसके विषय में यह बात लागू हुआ करती है कि हमको उसके समग्र संहनन के पूर्व असंहत (सरल) की अपेक्षा होती है; परन्तु यही बात सर्वपादार्थिक अवभास के प्रसंग में लागू नहीं होती, जो देशगत प्रत्यक्षानुभव के रूप में अपने साथ इस विलक्षणता को धारण किये रहता है कि इसका कोई भाग सरल नहीं होता, क्योंकि देश का कोई भाग सरल नहीं होता। इसी बीच में असंहत एककतत्ववादी भी इस कठिनाई से निकल सकने के लिये पर्याप्त तीक्ष्ण बुद्धि प्रदर्शित करते रहे हैं, उन्होंने ऐसा करने के लिये देश (या अवकाश) को वाह्य प्रत्यक्षानुभव के विषयों या (मूर्त पदार्थों) की संभावना के प्रतिबन्ध के रूप में स्वीकार नहीं किया प्रत्युत उन्होंने इन (मूर्त पदार्थों) को एवं पदार्थों के गत्यात्मक संबंधों को देश की संभावना की शर्त के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु शरीरों या मूर्त तत्वों का संबोध तो हमको अवभासों के रूप में ही उपलब्ध होता है, और इस रूप में वे सब बाह्य अवभासों की संभावना की शर्त के रूप में देश को अनिवार्यतया पूर्वतः कल्पित करके चलते हैं, अतः यह बहानेबाजी बेकार है क्योंकि इससे पूर्व अनुभवातीत संवेदनशास्त्र में इसका पर्याप्तरूपेण खंडन भी किया जा चुका है। यदि मूर्त पदार्थ स्वतंत्र सत्ता वाली वस्तुएँ होतीं तो

असंहत एककतत्ववादी लोगों की उपपत्ति वास्तव में सप्रमाण होती ।

दूसरे आन्वीक्षिक्यात्मक दावे की विशेषता यह है कि इसके प्रतिकूल एक ऐसा अयौक्तिक दावा पाया जाता है जो सब के सब मिथ्यायौक्तिक दावों के मध्य में एकमात्र ऐसा दावा है जो आनुभविक विषय में उस (वस्तु) की वास्तविकता को स्पष्टरूपेण सिद्ध करने का कार्य अंगीकार करता है जिसको हमने ऊपर केवल अनुभवातीत भावों से संबद्ध गिना था; अर्थात् (किसी) द्रव्य की आत्यन्तिक सरलता (असंहतता या एकरसता)– मेरा संकेत इस दावे की ओर है कि अन्तरिन्द्रिय का विषय, अहं जो अन्तःकरण में विचार किया करता है एक आत्यन्तिकतया सरल असंहत द्रव्य है । इस प्रश्न के विवाद में विना प्रवेश किये (क्योंकि इसके विषय में ऊपर पूर्णतया विचार किया जा चुका है) मुझे बस इतना कहना है कि यदि (जैसा कि केवलमात्र अहं की प्रत्युपस्थापना के विषय में घटित होता है) किसी वस्तु का केवल विषय के रूप में विचार किया जाए और उसके साथ में उसके प्रत्यक्षानुभव की कोई सांश्लेषिक निर्धारणा न जोड़ी जाए, तो ऐसी प्रत्युपस्थापना में किसी भी नानात्व और संहतत्व का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त, क्योंकि जिन विधेयों के द्वारा मैं इस

विषय का विचार करता हूँ वह केवल अन्तरिन्द्रिय का प्रत्यक्षानुभव है, इसलिये उसमें कुछ भी ऐसी बात नहीं पाई जा सकती, जो परस्पर एक दूसरे से बाह्य पृथक् (तत्वों) के नानात्व को और इसीलिये यथार्थ संहतत्व को प्रदर्शित करती हो। अतएव, आत्मचेतना के स्वभाव से यह निष्कर्ष निकलता है कि क्योंकि वह विषयी जो विचार किया करता है इसके साथ ही साथ स्वयं अपना ही विषय भी होता है, इसलिये वह अपने को विभक्त नहीं कर सकता (यद्यपि वह अपने में निहित निर्धारणाओं को विभक्त कर सकता है); क्योंकि स्वतः अपने आपे की दृष्टि से प्रत्येक विषय निरपेक्ष इकाई होता है। तथापि जब यह विषयी बाह्य दृष्टि से प्रत्यक्षानुभव के विषय के रूप में देखा जाता है तो प्रायेण अपने को यह अपने अवभास में कुछ न कुछ संहतत्व प्रदर्शित करता ही है। और यदि यह जानना अभीष्ट हो कि उसमें ऐसे तत्वों का जो एक दूसरे से बाह्य और पृथक् है, नानात्व है या नहीं तो इसको सर्वदा इसी प्रकार से देखा जाना चाहिये।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

अनुभवातीत भावों का तृतीय विरोध

पक्ष	विपक्ष
प्रकृति के नियमों के अनुसार कारण-भावमात्र ही एकमात्र ऐसा कारणभाव नहीं है जिससे संसार के समस्त अवभास	स्वाधीनता जैसी कोई वस्तु नहीं है; प्रत्युत संसार में सब कुछ एकमात्र प्रकृति के नियमों के अनुसार घटित होता है।

व्युत्पादित हो सकते हों। इन अवभासों के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये यह मानना आवश्यक है कि एक स्वाधीनतात्मक कारणभाव भी है।

उपपत्ति

मान लीजिए प्रकृति के नियमों के अनुसार चलने वाले कारणभाव के अतिरिक्त और कोई कारणभाव है; ऐसी स्थिति में प्रत्येक घटित होने वाली बात एक पूर्वगामी अवस्था की पूर्वकल्पना उपस्थित करती है, जिसके होने पर यह एक नियम के अनुसार अनिवार्यतया घटित होती है। परन्तु अब पूर्वगामी अवस्था स्वयं कुछ एक ऐसी वस्तु होनी चाहिये जो (पहले नहीं थी और कालक्रम में प्रादुर्भूत होकर) घटित हुई है, क्योंकि यदि यह सर्वदा सत्तावान् होती, तो इसका परिणाम भी सत्तावान् होता, न कि अभी-अभी प्रथम बार उत्पन्न हुआ होता। अतएव कारण की कारणता, जिसके द्वारा कोई बात (वस्तु) घटित होती है स्वयमेव एक घटना है, जो प्रकृति के नियम के अनुसार पुनः एक पूर्ववर्ती अवस्था और उसकी कारणता की पूर्वकल्पना को उपस्थित करती है और यह भी अपने से पूर्वतरवर्ती अवस्था की पूर्वकल्पना को उपस्थित करती है और इसी प्रकार आगे भी। इस प्रकार यदि सब कुछ केवलमात्र प्रकृति के नियमों के अनुसार घटित होता है तो सर्वदा केवल सापेक्ष आरंभमात्र हो सकता है, किन्तु

उपपत्ति

मान लो कि अनुभवातीत अर्थ में स्वाधीनता है जो एक विशेष प्रकार का कारणभाव है जिसके अनुसार दुनिया में घटनाएँ घटित हुई हो सकती हैं, अर्थात् मान लो किसी अवस्था को और तदनुसार परिणाम-शृंखला को पूर्णतया नये सिरे से आरंभ की शक्ति विद्यमान है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि न केवल परिणाम-शृंखला का इस स्वयंस्फूर्तिता में नितान्त नये सिरे से आरम्भ होगा, प्रत्युत शृंखला के उत्पादन के लिये इस स्वयंस्फूर्तिता की निर्धारणा का अर्थात् कारणता का भी आत्यन्तिक प्रथमारंभ ही होगा, परिणामतः कोई ऐसी पूर्ववर्ती वस्तु नहीं हो सकती, जिसके द्वारा यह घटित होने वाला व्यापार स्थायी नियमों के द्वारा निर्धारित होता हो। परन्तु प्रत्येक व्यापार का आरंभ एक ऐसी अवस्था की पूर्व कल्पना को प्रस्तुत करता है जिसमें कारण उस क्षण तक सक्रिय नहीं होता, और व्यापार (या कार्य) की गत्यात्मकता का प्रथम आरंभ एक ऐसी अवस्था की पूर्वकल्पना उपस्थित करता है जो इस कारण की पूर्वगामिनी अवस्था से कोई कार्यकारण संबंध नहीं रखती, अर्थात् किसी भी

प्रथमारंभ कदापि नहीं हो सकता और इसलिये जो कारण एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं उनकी ओर से श्रृंखला-परिपूर्णता कदापि नहीं हो सकती । परन्तु प्रकृति का नियम यह है कि पर्याप्तरूपेण प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित कारण के बिना कुछ भी घटित नहीं होता । अतएव यह प्रस्थापना कि समस्त कार्य-कारणभाव केवल प्रकृति के नियमों के अनुसार ही संभव है, यदि अपने अमर्यादित सामान्य भाव में ग्रहण की जाए तो आत्मविसंवादी सिद्ध होती है, अतएव इसको ही एकमात्र कार्य-कारणभाव का प्रकार नहीं माना जा सकता ।

इसलिए हमको एक अन्य प्रकार के कार्य-कारणभाव को स्वीकार करना पड़ता है जिसके द्वारा कुछ ऐसी वस्तु घटित होती है जिसका कारण अपने पूर्वगामी एक अन्य कारण के द्वारा अनिवार्य नियमों के अनुसार निर्धारित नहीं होता अर्थात् कारणों की एक निरपेक्ष स्वयंस्फूर्तिता को स्वीकार करना पड़ता है, जिससे अवभासों की एक माला जो कि प्रकृति के नियमों के अनुसार प्रवृत्त होती है अपने को प्रारंभ करती है अतः एक अनुभवातीत स्वाधीनता को (स्वीकार करना पड़ता है) जिसके बिना स्वयं प्रकृति के प्रक्रम में कारण की ओर अवभासों की माला कदापि पूर्ण नहीं हो सकती ।

प्रकार उसका अनुगमन नहीं करती । इस प्रकार अनुभवातीत स्वाधीनता कार्य-कारणभाव के नियम के विरुद्ध सिद्ध होती है और सक्रिय (प्रभावोत्पादक) कारणों की अनुक्रमिक अवस्थाओं के ऐसे सन्निबंधन को प्रत्युपस्थापित करती है जिसके अनुसार अनुभव की कोई भी एकता संभव नहीं है (जो) एकता इस प्रकार किसी भी अनुभव में उपलब्ध नहीं होती, अतएव जो एक रिक्त विचारगत सत्तामात्र है ।

अतएव प्रकृति को छोड़ अन्य कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसमें हमको विश्व संबंधी घटनाओं के संबंध और क्रम की खोज करनी चाहिये । प्रकृति के नियमों पर निर्भर न होना निश्चय ही परवशता से मुक्ति है पर समस्त नियमों के पथ-प्रदर्शन से भी तो मुक्ति है । क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि जगत्‌चर्या में उपलब्ध कार्य-कारणभाव में प्रकृति के नियमों के स्थान पर स्वतंत्रता के नियम प्रविष्ट हो जाते हैं और उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं, क्योंकि यदि यह (स्वतंत्रता) नियमों के अनुसार निर्धारित हो तो वह स्वतंत्रता नहीं प्रत्युत प्रकृति को छोड़ और कुछ नहीं होगी । इसलिये प्रकृति और अनुभवातीत स्वतंत्रता एक दूसरे से नियमानुसारिता और नियम रहितता के समान भिन्न हैं, इनमें से प्रथम (प्रकृति) निश्चय ही बोधवृत्ति के ऊपर, घटनाओं के उद्‌गम को कारणमालिका

में उच्च से उच्चतर स्थान में खोजने की कठिनता को आरोपित करती हैं, क्योंकि उनकी कारणता सर्वदा ही प्रतिबन्धित हुआ करती है, पर इस कठिनाई के बदले में वह नियमानुसारिणी अनुभव की पूर्ण एकता की आशा बँधाती है, जबकि दूसरी स्वाधीनता की माया निश्चय ही जिज्ञासमाना बोधवृत्ति को कारणों की शृंखला में विश्राम (या विराम) की प्रतिज्ञा प्रदान करती है और उसको अप्रतिबद्ध कारणता की ओर ले जाती है जो स्वयं (बिना किसी पूर्व कारण की प्रेरणा के) अपना व्यापार आरंभ कर देती है, पर यह कारण स्वयं अंधी है और उस पथप्रदर्शक सूत्र को नष्ट कर देती है केवल जिसके आधार पर ही एक पूर्णतया सुसंगत अनुभव संभव है।

तृतीय विरोध के संबंध में विचार

पक्ष के संबंध में

स्वाधीनता का अनुभवातीत भाव (या विचार) इस नाम के सम्पूर्ण आध्यात्मिक संबोध को निश्चय ही दूर से भी संघटित नहीं करता, (जो अधिकांश में आनुभविक संबोध है) प्रत्युत अध्यारोपणीयता के वास्तविक आधार के रूप में केवल व्यापार की स्वयंस्फूर्तिता के संबोध को संघटित करता है परन्तु यही वास्तव में दर्शन-शास्त्र में ठोकर लगने का रोड़ा है; क्योंकि किसी इस प्रकार की अनवस्थित

विपक्ष के संबंध में

सर्वशक्तिमती प्रकृति के पक्ष (अनुभवातीत प्रकृति शक्तिवाद) का समर्थक स्वाधीनता के सिद्धान्त के विरोध में अपनी स्थिति की रक्षा उस सिद्धान्त के वितथ-निकर्षों के समक्ष निम्न प्रकार की युक्तियों से करेगा। यदि तुम दुनियाँ में किसी वस्तु का गणितात्मकतया समय की दृष्टि से प्रथम होना स्वीकार नहीं करते तो कार्य-कारणभाव की दृष्टि से भी ऐसी किसी वस्तु को खोजने की आवश्यकता नहीं है जो गत्यात्मकतया प्रथम

(या अप्रतिबन्धित) कारणता को स्वीकार करने के मार्ग में अनुल्लंघनीय कठिनाइयाँ मिलती हैं। इसलिए इच्छा शक्ति की स्वाधीनता के प्रश्न के संबंध में जिस तत्व ने चिन्तनात्मक बुद्धि को सर्वदा इतना अधिक आकुल किये रखा है वह वास्तव में अनुभवातीत का तत्व है, और इसका वास्ता केवलमात्र इस बात से है कि हमको किसी ऐसी शक्ति को स्वीकार करना चाहिये जो अनुक्रमिक वस्तुओं अथवा अवस्थाओं की माला को स्वतः आरंभ करने वाली है। प्रस्तुत प्रसंग में इस प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की शक्ति कैसे संभव है, क्योंकि प्रकृति के नियमों के अनुसार कारणता के संबंध में भी तो हमको प्रागनुभवात्मकतया यह जान कर सन्तुष्ट ही होना पड़ता है कि इस प्रकार की कारणता की पूर्वतः कल्पना करके ही चलना पड़ता है, यद्यपि हम इस संभावना को, किसी एक सत्ता के द्वारा दूसरी सत्ता किस प्रकार निर्धारित हो सकती है, किसी भी प्रकार से नहीं समझ सकते और इसलिए हमको केवल अनुभव के पथप्रदर्शन पर निर्भर रहना चाहिये। स्वाधीनता से अवभासों की मालिका के इस प्रथम आरंभ की अनिवार्यता को हमने वास्तव में वहीं तक प्रदर्शित किया है जहाँ तक वह संसार के आद्यारंभ को बोधगम्य बनाने के लिये अपेक्षित है, क्योंकि इसके पश्- हो। दुनियाँ के निरपेक्ष आद्यारम्भ की अवस्था का एवं इसीलिये सतत प्रवहवान अवभासों की परम्परा के आत्यन्तिक आरम्भ का आविष्कार करने के लिये, तथा असीम प्रकृति की मर्यादाओं को स्थापित करने की अपनी कल्पना के लिये विश्राम विन्दु प्राप्त करने के लिये तुमसे किसने कहा ? क्योंकि संसार में द्रव्य तो नित्य रहते ही हैं,—कम से कम अनुभव की एकता ऐसी पूर्वकल्पना को आवश्यक बनाती है—अतएव यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि उनकी अवस्थाओं का परिवर्तन अर्थात् उनके रूपान्तर की मालिका भी सर्वदा रही है और इसीलिए कोई भी प्रथमारंभ—चाहे गणितीय हो चाहे गत्यात्मक—खोज नहीं पाया जा सकता। इस प्रकार के एक अनन्त व्युत्पादन की संभावना बिना एक ऐसे अवयव, जिसके प्रति शेष सब कुछ केवल अनुक्रममात्र है, सचमुच ही, उसकी संभावना की दृष्टि से बुद्धिगम्य नहीं बनाई जा सकती। पर यदि इसी कारण से तुम प्रकृति की इस पहेली को तिरस्कृत करना चाहते हो, तो तुमको अपने को ऐसी अनेकों आधारभूत सांश्लेषिक विशेषताओं और शक्तियों को तिरष्कृत करने (त्यागने) के लिये विवश हुआ पाओगे जो उपर्युक्त (तथ्य) के समान ही कम समझ में आने के योग्य हैं, यहाँ तक कि परिवर्तन सामान्य की संभावना तक भी आपत्तिजनक हो

चात् आने वाली सब अवस्थाएँ तो विशुद्ध रूप से प्रकृति के नियमों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती हुई मानी जा सकती हैं। पर क्योंकि इससे काल में किसी घटना-शृंखला को स्वतः आरंभ करने की शक्ति सिद्ध हो जाती है (यद्यपि समझी नहीं जाती) अतएव हमको अब यह भी अनुज्ञा प्राप्त होती है कि हम संसार के स्थिति-काल में (दुनियाँ के दौरान में) अपनी कारणता से स्वतः आरंभ होने वाली विभिन्न कार्य-मालाओं को स्वीकार कर लें और उनके पदार्थों (या द्रव्यों) में स्वतंत्रता से कार्य (या व्यापार) करने की शक्ति मान लें। तथा इस मिथ्यावधारणा के कारण (कि दुनियाँ में घटित होने वाले अनुक्रमिक शृंखला का आद्यारंभ तो केवल सापेक्षिक हो ही हो सकता है, क्योंकि दुनिया में सर्वदा कोई अन्य अवस्था उसकी पूर्ववर्तिनी हुआ करती है, अतः दुनिया के स्थिति-काल में किसी भी घटना मालिका का निरपेक्ष आद्यारंभ संभव नहीं है), हमको अपने को इस उपर्युक्त निष्कर्ष को निका-लने से नहीं रोकना चाहिये। क्योंकि हम यहाँ जिस निरपेक्ष आद्यारंभ की बात कर रहे हैं वह कालगत आरंभ नहीं प्रत्युत वह कार्य-कारणभाव के अनुसार आरंभ है। (उदाहरण के लिये) यदि मैं इसी क्षण पूर्ण स्वाधीनता के साथ कुर्सी पर से उठ बैठूँ (और ऐसा करने में जाएगी। क्योंकि यदि तुमको अनुभव से इस बात का निश्चित पता नहीं चल जाता है कि परिवर्तन वास्तविक है, तो तुम प्रागनुभवात्मकतया तो इस बात का कदापि चिन्तन न कर पाते कि सत् और असत् का यह ऐसा अविराम पर्याय-क्रम कैसे संभाव्य हो सकता है।

यदि संसार में परिवर्तनों के आरंभ को चालू करने के लिये स्वाधीनता की अनुभवातीत शक्ति को मान भी लिया जाए, तो ऐसी शक्ति सर्वथा संसार के वाहर की हो सकेगी। यद्यपि कोई भी ऐसी मान्यता कि समस्त संभाव्य प्रत्यक्षा-नुभवों के परे किसी ऐसे विषय की सत्ता है जो किसी संभाव्य प्रत्यक्ष में दिया हुआ नहीं हो सकता, एक अत्यन्त साहसी मान्यता है। परन्तु, स्वतः जगत् में पदार्थों (या द्रव्यों) में ऐसी शक्ति का होना मानना कदापि अनुज्ञाप्त नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जाए तो उस दशा में, अवभासों को परस्पर उन व्यापक नियमों के अनुसार (जिनको प्रकृति कहा जाता है) अनिवार्यतया निर्धारित करने वाला संयोजन (या संबंध) तथा उसके साथ ही साथ आनु-भाविक सत्य की वह कसौटी भी जो अनु-भव को स्वप्न से पृथक् करती है, (यह दोनों ही) अधिकांश में पूर्णतया अन्त-र्हित हो जाएँगे। क्योंकि इस प्रकार की स्वतंत्रता की नियमरहित शक्ति या वृत्ति के साथ ही साथ (क्रमव्यवस्थित

प्राकृतिक कारणों से अनिवार्यतया प्रेरित न किया गया होऊँ) तो इस घटना से एक नई (घटना) शृंखला का, अपने अनन्त स्वाभाविक परिणामों के साथ नितान्त नूतन आरंभ होगा, हालाँकि समय की दृष्टि से यह घटना एक पूर्व-गामिनी शृंखला का चालू सिलसिला भर है। क्योंकि मेरा यह संकल्प और व्यापार विशुद्ध प्राकृतिक परिणामों के अनुक्रम का अंगमात्र नहीं है, और न केवलमात्र उनका चालू सिलसिला ही है, प्रत्युत, जहाँ तक इस घटना का संबंध है निर्धारण करने वाले स्वाभाविक कारण इसके पूर्व ही पूर्णतया स्तब्ध हो जाते हैं, एवं यद्यपि यह घटना उनकी अनुगामिनी तो निश्चयमेव है पर उनका परिणाम नहीं है और इसलिये (समय की दृष्टि से तो निश्चय नहीं) परन्तु कार्य-कारणभाव के संबंध की दृष्टि से अवभासों की मालिका का एक नितान्त नवीन आद्यारंभ कही जा सकती है।

प्राकृतिक कारणों की शृंखला में स्वतंत्रता से उत्पन्न आद्यारंभ की दुहाई देने की जो बुद्धि की माँग का कार्य है, वह तब बहुत भले प्रकार सम्पुष्ट हो जाती है जबकि हम यह देखते हैं कि (एपीकुरस् के दर्शन प्रस्थान को अप-वाद रूप छोड़ कर) अन्य समस्त प्राचीन दार्शनिकों ने अपने आपको, विश्व की गति की व्याख्या करने में, एक प्रथम चालक को स्वीकार करने के लिये, अर्थात् संस्थान के रूप में) प्रकृति का तो विचार भी मुश्किल से ही किया जा सकता है, कारण कि प्रकृति के नियम स्वतंत्रता के होते रहेंगे, और अवभासों की क्रीड़ा जो केवल प्रकृति के अनुसार नियमानुसारिणी और एकरूपिणी है अस्त-व्यस्त और असमन्वित हो जाएगी।

स्वतंत्रतया क्रियाशील कारण को (जिसने स्वतः सर्व प्रथम इन अवस्थाओं की श्रृंखला को प्रारंभ किया) स्वीकार करने के लिये, विवश अनुभव किया। क्योंकि उन्होंने केवलमात्र प्रकृति के सहारे ही आद्यारंभ को बुद्धिगम्य बनाने की चेष्टा नहीं की।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

अनुभवातीत भावों का चतुर्थ विरोध

पक्ष

इस संसार से (या तो इसके अंश अथवा इसके कारण के रूप में) एक ऐसी सत्ता (ऐसे सत्) का संबंध है जो नितान्त अनिवार्य है।

उपपत्ति

समग्र अवभासों की संयुक्त राशि के रूप में इन्द्रियग्राह्य जगत् अपने में परिवर्तनों की श्रृंखला को अन्तर्विष्ट रखता है। क्योंकि इसके विना तो, इन्द्रियग्राह्य जगत् की संभावना के प्रतिबन्ध के रूप में स्वयं समय सन्तान की प्रत्युस्थापना भी हमको प्रदत्त (या उपलब्ध) नहीं होगी।[कां.] पर प्रत्येक परि-

कां. परिवर्तनों की संभावना की औपचारिक शर्त के रूप में, समय वैषयिकतया सचमुच ही उनका पूर्ववर्ती होता है; केवल विपयिगततया और याथार्थ चेतना में, अन्य किसी भी प्रत्युपस्थापना के समान समय की भी प्रत्युपस्थापना केवलमात्र प्रत्यक्ष के हेतु होती है।

विपक्ष

इस संसार में नितान्त अनिवार्य सत्ता (सत्) का कहीं भी अस्तित्व नहीं है और न उसके कारण के रूप में इससे बाहर ही उसका अस्तित्व है।

उपपत्ति

मान लीजिए कि या तो यह जगत् स्वयं, अथवा इसके अन्तर्गत कोई अनिवार्य सत्ता (या सत्) है। यहाँ दो संभावनाएँ हैं :—(१) ऐसी दशा में परिवर्तनों की माला में या तो कोई ऐसा आरंभ होगा जो अप्रतिवद्ध-भावेन अनिवार्य है और जो इसी हेतु अकारण है (और यह ऐसी बात है जो काल के अन्तर्गत समस्त अवभासों की निर्धारणा के गत्यात्मक नियम का विरोध करती है) अथवा (२) श्रृंखला स्वयमेव ही समस्त आरंभ से रहित होगी, और यद्यपि वह अपने प्रत्येक भाग में संभाव्य (या आकस्मिक) और प्रतिबद्ध होगी, तथापि सामग्र्येण

वर्तन अपनी शर्त के अधीन हुआ करता है, जो कालक्रम की दृष्टि से उसकी पूर्वगामिनी होती है और उस परिवर्तन को अनिवार्य बना देती है। (अब) प्रत्येक अवस्थित (या प्रतिबद्ध) जो कि दिया हुआ होता है, अपने अस्तित्व की दृष्टि से, प्रतिबन्धों की ऐसी परिपूर्ण माला को पूर्वकल्पित करता है जो उस नितान्त अप्रतिबद्ध तक पहुँचती है, जो अकेले नितान्त अनिवार्य होता है। इस प्रकार यदि उसके परिणामस्वरूप परिवर्तन की सत्ता हो तो किसी (या कुछ) नितान्त अनिवार्य की सत्ता भी अवश्य ही होनी चाहिये। पर यह नितान्त अनिवार्य स्वयं इन्द्रियग्राह्य जगत् से संबंध रखता है। क्योंकि यदि यह इस (जगत्) से बाहर स्थित होता तो इसमें स्थित परिवर्तनों की श्रृंखला अपने आरंभ को एक ऐसे अनिवार्य कारण से व्युत्पादित करेगी जो (कारण) स्वयं अपने आप इन्द्रियग्राह्य जगत् से कोई संबंध नहीं रखता होगा। पर यह बात तो स्पष्ट ही असंभव है। ऐसा इसलिये है क्योंकि कालगत घटना परम्परा का आरंभ केवल उसी के द्वारा निर्धारित किया जा सकता है जो कालक्रम में उसका पूर्वगामी हो, अतः परिवर्तनों की श्रृंखला के आरंभ का सर्वोच्च प्रतिबन्ध उस समय के अन्तर्गत होना चाहिये जबकि श्रृंखला की सत्ता नहीं थी, (क्योंकि आरंभ ऐसी सत्ता है जिसके पूर्ववर्ती ऐसा नितान्त अनिवार्य और अप्रतिबद्ध होगी, जो एक स्वतोव्याघाती स्थिति है, क्योंकि यदि किसी समूह का प्रत्येक भाग अलग-अलग स्वयं अनिवार्य सत्ता वाला न हो तो उस समस्त समूह की सत्ता भी अनिवार्य नहीं हो सकती।

इसके विपरीत यदि यह मानिए कि जगत् का एक नितान्त अनिवार्य कारण जगत् के बाहर है, तो जगत् में परिवर्तनों के कारणों की श्रृंखला के सर्वोच्च अंग के रूप में इसको परिवर्तन के कारण और उनकी श्रृंखला को आरंभ करना चाहिये।[कां.] पर अब कार्य को अवश्य ही व्यापार को आरंभ करना ही पड़ेगा और इसलिये इसकी कारणता काल के अन्तर्गत होगी, और इसी कारण अवभासों की एकत्र संयुक्त राशि से अर्थात् संसार से संबंध रखेगी, परिणामतः यह कारण जगत् के बाहर नहीं होगा, (यह ऐसी बात है) जो हमारी पूर्वकल्पना के विरुद्ध है। इसलिये कोई भी नितान्त अनिवार्य सत्ता न तो जगत् के भीतर है

कां. 'आरभ करना' शब्द दो अर्थों में ग्रहण किया जाता है। प्रथम अर्थ कर्तृत्वपरक है, (और वह तब होता है) जब कारण अपने कार्य के रूप में अवस्थाओं की परम्परा को प्रवृत्त करता है। दूसरा अर्थ अधिकृतत्वपरक है (और यह तब होता है) जब कारणता स्वयं कारण कार्य आरंभ कर देती है। यहाँ पर मेरा विवेचन प्रथम की ओर से दूसरे की दिशा में प्रवृत्त हुआ है।

समय होता है जिसमें आरंभ होने वाली वस्तु नहीं हुआ करती है।) इस प्रकार परिवर्तनों के अनिवार्य कारण की कारणता, और इसी लिये स्वयं कारण भी, काल से संबद्ध होनी चाहिये एवं इसी हेतु अवभासों से संबद्ध होनी चाहिये (जिनमें केवलमात्र उनके आकार के रूप में समय संभव होता है), परिणामतः (इस प्रकार की कारणता) उन सब अवभासों की समस्त एकत्रित राशि से, पृथक् करके (जिससे ऐन्द्रिय जगत् संघटित होता है), विचारी नहीं जा सकती। इसलिये स्वयं संसार में ही कोई नितान्त अनिवार्य वस्तु अन्तर्विष्ट है, (फिर चाहे वह या तो यह सारी विश्व-शृंखला हो अथवा उसका कोई एक भाग हो)।

और न बाहर (जो उसके साथ कारणता से आबद्ध हो)।

चतुर्थ विरोध के संबंध में विचार

पक्ष

किसी अनिवार्य सत् का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये मुझे यहाँ विश्व की रचना संबंधी युक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी युक्ति का उपयोग नहीं करना चाहिये, जो युक्ति अवभासों में से प्रतिबद्ध की ओर से उठकर संबोध में स्थित अप्रतिबद्ध की ओर आरोहण करती है जो शृंखला के आत्यन्तिक समग्रता के अनिवार्य प्रतिबंध के रूप में माना जाता है। परम सत् के भावमात्र से इसकी उपपत्ति की खोज करना बुद्धि के एक दूसरे सिद्धान्त

विपक्ष

यदि यह ख्याल किया जाए कि अवभासों की परम्परा में आरोहण करते हुए एक नितान्त अनिवार्य सर्वोच्च कारण की सत्ता के विरोध में कठिनाइयाँ मिलती हैं तो ऐसी (या इस) को भी वस्तु सामान्य की अनिवार्य सत्ता के संबोध-मात्र पर आश्रित नहीं होना चाहिए (अथवा–संबोधमात्र से व्युत्पादित नहीं होना चाहिये), और इसलिये सत्त्व-विद्या संबंधी नहीं होना चाहिये, प्रत्युत उसका (उनका) वास्ता अवभासों की

से संबंध रखता है, और उसका प्रतिपादन पृथक् रूप से करना आवश्यक होगा।

शुद्ध विश्व रचना-संबंधी उपपत्ति अनिवार्य सत् के अस्तित्व को इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से उपपादित नहीं कर सकती कि वह इसके साथ ही साथ इस बात को अनिर्णीत छोड़ दे कि वह सत् स्वयं यह जगत् है अथवा इससे पृथक् कोई वस्तु है। क्योंकि, इस दूसरी बात का पता लगाने के लिये ऐसे सिद्धान्तों की अपेक्षा होगी जो अब और आगे विश्व रचना संबंधी नहीं हैं, एवं अवभासों की शृंखला में प्रवृत्त (या चालू) नहीं रहते, प्रत्युत हमको यहाँ यादृच्छिक सत् (या सत्ता) या सामान्य के संबोधों को (जहाँ तक वे बोधवृत्ति के विषयोंमात्र के रूप में विचार किये जाते हैं) तथा एक ऐसे सिद्धान्त को प्रयुक्त करना पड़ेगा जिसके अनुसार हम उनको केवल संबोधों के द्वारा अनिवार्य सत् (या सत्ता) के साथ संयोजित कर सकें, (पर यह सब ऐसी बातें हैं) जो अनुभवातीत दर्शन से संबंध रखती हैं, जिसका विवेचन करने का अभी यह उपयुक्त अवसर नहीं है।

पर यदि कारणता (या कार्य-कारण भाव) के नियमों के अनुसार अवभासों की शृंखला और तदन्तर्गत परावर्त्तन को अपना मूलाधार मानकर अपनी उपपत्ति को विश्वरचना की दृष्टि से शृंखला के कार्य-कारण संबंध से होना चाहिये, जिसके लिये एक ऐसे प्रतिबंध या शर्त को मानना पड़ता है जो स्वयं अप्रतिबद्ध है, इसलिये वह (कठिनाई) विश्व रचना संबंधी होनी चाहिये और आनुभविक नियमों पर निर्भर होनी चाहिये। अर्थात् यह दिखलाया जाना चाहिये कि (ऐन्द्रिय जगत् में) कारणों की परम्परा में आरोहण का पर्यवसान कदापि भी आनुभविकतया अप्रतिबद्ध प्रतिबन्ध में नहीं हो सकता, तथा संसार की अवस्थाओं के परिवर्तन से प्रदर्शित उनकी यादृच्छिकता से निष्पन्न विश्व-रचना संबंधी युक्ति ऐसे कारण को मानने के विरुद्ध पर्यवसित होती है जो प्रथम एवं घटना-परम्परा नितान्त आद्यारंभक हो।

पर इस विरोध में एक अनोखा व्यतिरेक प्रकट होता है कि उपपत्ति के उसी आधार से जिससे पक्ष में एक आद्य मौलिक सत् तत्व का अस्तित्व अनुमित हुआ था, विपक्ष में उसका अनस्तित्व उतनी ही कठोरता के साथ अनुमित होता है। पहले यह कहा गया था कि किसी अनिवार्य सत् तत्व की सत्ता है क्योंकि समस्त अतीत काल समग्र प्रतिबन्धों की शृंखला (या परम्परा) को और इसके साथ ही साथ अप्रतिबद्ध (अनिवार्य) को भी अवगत (या अवधृत) किये रहता है। अब यह कहा जा रहा है कि किसी अनिवार्य सत्

आरंभ करें तो फिर आगे चल कर युक्ति के इस पद्धति से एकाएक हटकर किसी ऐसी पद्धति को स्वीकार नहीं कर सकते जो एक अंग के रूप में शृंखला से संबद्ध न हो। क्योंकि शर्त के रूप में मानी गई कोई भी वस्तु ठीक उसी प्रकार (या दृष्टि) से देखी जानी चाहिये जिस दृष्टि से उस शृंखला में प्रतिबद्ध के साथ प्रतिबन्ध के संबंध को देखा था जो सतत प्रगति के द्वारा सर्वोच्च प्रतिबन्ध की ओर ले जाने वाली थी। अब यदि यह संबंध इन्द्रिय-ग्राह्य है, और बोधवृत्ति के संभाव्य आनुभविक विनियोग से संबंध रखता है, तो सर्वोच्च शर्त अथवा कारण परावृत्ति को केवल इन्द्रिय संवेद्यता के नियमों के अनुसार ही समाप्ति को पहुँचा सकता है और इसलिये उसी सीमा तक समाप्ति को पहुँचा सकता है, जहाँ तक वह स्वयं कालशृंखला से संबद्ध है; अतः अनिवार्य सत् (-तत्व) विश्वरचना की शृंखला का सर्वोच्च अवयव माना जाना चाहिये।

यह सब कुछ होते हुए भी कुछ दार्शनिकों ने इस प्रकार की छलाँग भरने की स्वतंत्रता अंगीकार की है। संसार में परिवर्तनों के होने से उनकी अनुभवात्मक यादृच्छिकता (या संभाव्यता) का अनुमान कर लिया गया है, अर्थात् आनुभविकतया विनिश्चायक कारणों पर उनकी निर्भरता का अनुमान कर लिया गया है, और इस प्रकार उन्होंने आनु- की सत्ता नहीं है और सो भी ठीक उसी कारण से कि समस्त अतीत काल समग्र प्रतिवन्धों की शृंखला को अवगत (या अवधृत) किये रहता है (जो प्रतिबन्ध सामग्रयेण स्वयं भी प्रतिबद्ध होते हैं)। इसका स्पष्टीकरण यह है। प्रथम युक्ति काल के अन्तर्गत परस्पर एक दूसरे को निर्धारित करने वाले प्रतिबन्धों की परम्परा की चरम समग्रतामात्र पर ही दृष्टि रखती है और इसलिये जो अप्रतिबद्ध और अवनिवार्य है उसको संप्राप्त कर लेती है। इसके विपरीत दूसरी युक्ति उन सब वस्तुओं की संभाव्यता (या यादृच्छिकता) को ध्यान में रखती है जो कालगत शृंखला में निर्धारित हैं (क्योंकि प्रत्येक वस्तु या पूर्ववर्ती ऐसा समय होता है जिसमें स्वयं प्रतिबन्ध पुनः प्रतिबद्ध के रूप में निर्धारित हुआ ही करता है) और ऐसी अवस्था में समस्त अप्रतिबद्ध वस्तुएँ तथा समस्त निरपेक्ष अनिवार्यता विलीन हो जाती हैं। तथापि दोनों ही अवस्थाओं में युक्ति का प्रकार साधारण मानव बुद्धि के पूर्णतया अनुकूल है, जो (बुद्धि) अपने विषय को दो विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने पर स्वतः आन्तरिक कलह का शिकार हो जाती है। महाशय मैराँ ने दो प्रसिद्ध ज्योतिर्विदों के विवाद को जो दृष्टिकोण के चुनाव के संबंध में इसी प्रकार की कठिनाई के कारण उठ खड़ा हुआ था, इतनी पर्याप्त महत्वपूर्ण घटना

भविक प्रतिबन्धों (शर्तों) की एक आरोहिणी शृंखला को उपलब्ध कर लिया है, और यहाँ तक सब कुछ ठीक ही था। परन्तु क्योंकि इस प्रकार की शृंखला में कोई प्रथम आरंभ अथवा सर्वोच्च अवयव नहीं पाया जा सका अतः आनुभविक संभाव्यता के संबोध को सहसा छोड़ दिया गया और शुद्ध बौद्धिक प्रकार को ग्रहण कर लिया गया, जिसने तब एक केवल बुद्धिगम्य शृंखला को उत्पन्न किया, जिसकी पूर्णता परम अनिवार्य कारण की सत्ता के ऊपर निर्भर थी, जो कारण (क्योंकि वह किसी ऐन्द्रिय प्रतिबन्ध के साथ बँधा हुआ नहीं था) अपनी कारणता को स्वयं आरंभ करने की कालिक शर्त से भी मुक्त हो गया। परन्तु जैसा की आगे के विवेचन से अनुमानित होगा, यह पद्धति पूर्णतया अवैध है।

बौद्धिक प्रकार के शुद्ध अर्थ में संभाव्य उसको कहा जा सकता है जिसका विसंवादी प्रतिपक्ष संभव है। अब, आनुभविक संभाव्यता से उस बौद्धिक संभाव्यता का अनुमान नहीं निकाला जा सकता। जो कुछ बदलता है उसका विरोधी––(अर्थात् उसकी अवस्था का विरोधी)––किसी अन्य समय यथार्थ होता है, इसलिये संभाव्य भी होता है, परन्तु यह पूर्ववर्ती अवस्था का विसंवादी प्रतिपक्ष नहीं है, वैसा होने के लिये तो यह अपेक्षित होता कि जिस समय पूर्व-

समझा कि उनको उसके विषय में एक पृथक् ग्रंथ लिखना उचित प्रतीत हुआ। उनमें से एक की युक्ति यह थी कि चन्द्रमा अपनी धुरी पर घूमता है, क्योंकि वह पृथ्वी की ओर सर्वदा अपने एक ही पक्ष को मोड़ कर प्रदर्शित करता है; दूसरे का तर्क यह था कि चन्द्रमा अपनी धुरी पर नहीं घूमता, क्योंकि वह सर्वदा पृथ्वी की ओर अपना एक ही रुख़ किये रहता है। दोनों ही अनुमान ठीक थे, परन्तु दोनों ही उस दृष्टिकोण के अनुसार ठीक थे जिससे कि चन्द्रमा की गति का निरीक्षण करना पसन्द किया गया था।

गामिनी अवस्था विद्यमान थी उस समय उसके स्थान पर उसकी विरोधिनी अवस्था का होना भी शक्य होता, (तथा यह ऐसी बात है) जो परिवर्तन से कदापि अनुमित नहीं हो सकती । एक पिण्ड जो गति में क के बराबर था स्थिति में अ-क (क-नहीं क) के बराबर हो जाता है । इस तथ्य से कि क अवस्था के उपरान्त उसके विरुद्ध अवस्था उत्पन्न होती है यह निष्कर्ष बिलकुल नहीं निकाला जा सकता कि क की विसंवादिनी विरोधिनी अवस्था संभव है अतएव क संभाव्य (या यादृच्छिकी) अवस्था है; क्योंकि यह स्थापित करने के लिये तो यह सिद्ध करना अपेक्षित होगा कि जिस समय में गति थी उसके स्थान उसी समय स्थिति हो सकती थी । पर वास्तव में हम इसके आगे और कुछ नहीं जानते कि (गति के) पश्चात् के समय में स्थिति यथार्थ थी और इसीलिये संभाव्य भी थी । परन्तु एक समय पर गति और एक दूसरे समय पर स्थिति परस्पर विसंवादी प्रतिपक्ष नहीं हैं । इसलिये विरोधी निर्धारणों का अनुक्रम, अर्थात् परिवर्तन शुद्ध बोध वृत्ति के संबोधों के अनुसार किसी भी प्रकार संभाव्यता को सिद्ध नहीं करता और इसीलिये शुद्ध बोधवृत्ति के संबोधों के अनुसार अनिवार्य सत् (सत्ता) के अस्तित्व की ओर ले नहीं जा सकता । परिवर्तन केवल अनुभवात्मक संभाव्यता को सिद्ध कर

सकता है, अर्थात् यह सिद्ध कर सकता है कि नवीन अवस्था, कारणता के नियम के अनुसार बिना ऐसे कारण के जो पूर्ववर्ती काल से संबंध रखता है, स्वतः अस्तित्व में नहीं आ सकती थी। यह कारण (यदि इसको नितान्त अनिवार्य भी माना जाए) इस प्रकार होना चाहिये कि वह काल के अन्तर्गत मिल सके, और अवभासों की शृंखला से संबद्ध हो।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

तृतीय खंड

इन विरोधों में बुद्धि का अनुराग

अब विश्वरचना संबंधी भावों की आन्वीक्षिक्यात्मक क्रीड़ा पूर्णतया हमारे सामने है, जो (विचार या भाव) ऐसे हैं कि वे इस बात की लेशमात्र भी आज्ञा नहीं देते कि उनके सर्वांगसम कोई विषय किसी संभाव्य अनुभव में दिया हुआ हो। इतना ही नहीं, वे तो बुद्धि को अपने को भी सामान्य अनुभव के नियमों के अनुसार एक समान रूप से विचारने नहीं देते, तथापि यह भाव यों ही मनमाने ढंग के कल्पित विचार नहीं हैं, प्रत्युत जब कभी भी बुद्धि उसको समस्त प्रतिबन्धों से स्वतंत्र करना चाहती है जो अनुभव के नियमों के अनुसार केवल प्रतिबद्ध के रूप में ही निर्धारित किया जा सकता है और उसको उसकी अप्रतिबद्ध समग्रता में अवधृत करना चाहती है, तो वह (बुद्धि) अनुभवात्मक संश्लेषण निरन्तर सतत प्रगति में अनिवार्यतया उनकी ओर आनीत हुआ करती है। यह वितथ-विवेचनात्मक कथन (या दावे) बुद्धि की चार पूर्णतया स्वाभाविक और अनिवार्य समस्याओं का समाधान करने के लिये इतने (या अनेक) प्रयत्न हैं, जो हैं भी बस इतनी ही—न इनसे अधिक और न कम, क्योंकि सांश्लेषिक अधिष्ठापनाओं की वे शृंखलाएँ, जो आनुभविक संश्लेषण को प्रागनुभवात्मकतया सीमित करती हैं, भी इससे अधिक या कम नहीं हैं।

अपने अधिकार (या शासन) क्षेत्र को अनुभव की समस्त सीमाओं के परे तक विस्तृत करने में तत्पर, बुद्धि के भड़कीले दर्पपूर्ण अभियोगों को केवल ऐसे शुष्क सूत्रों में प्रत्युपस्थापित किया है, जो केवल उसके वैध दावों के आधारभूत हेतुओं को अपने निहित रखते हैं, और जैसा कि किसी अनुभवातीत दर्शन के लिये समुपयुक्त है, उनको समस्त आनुभविक वस्त्रावरणों से विमुक्त कर दिया गया है, यद्यपि बुद्धि के दर्पपूर्ण दावों की पूरी शान इनके सम्पर्क में ही प्रदर्शित हो सकती थी। परन्तु बुद्धि के व्यवहार के इस प्रयोग और बर्द्धमान विस्तार में, (जिसमें कि वह अनुभवों के क्षेत्र से आरंभ करता है, और शनैः शनैः उन उच्च भावों तक उड़ान भरता है,) दर्शनशास्त्र एक ऐसे गौरव को प्रदर्शित करता है, कि यदि वह अपने अभियोग को स्थापित भर

कर सकता, तो यह सब अन्य मानव विद्याओं को बहुत दूर पीछे छोड़ जाता, क्योंकि यह उन परम प्रयोजनों के संबंध में हमारी सर्वोच्च प्रत्याशाओं के लिये (सुरक्षित) आधार-भूमि प्रदान की प्रतिज्ञा करता है, जिनका अन्ततोगत्वा बुद्धि की निखिल चेष्टाओं का समनुवर्तन करना होगा। क्या जगत् का कोई आरंभ, और देश के भीतर इसके विस्तार की कोई सीमा है; क्या कहीं, और क्या स्यात् मेरे विचार करने वाले आत्मा में अविभाज्य और अविनाशी एकता (का निवास) है, अथवा विभाज्य और क्षणिक के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है; क्या मैं अपने कार्यों में स्वतंत्र हूँ अथवा अन्य सत्ताओं के समान प्रकृति और भाग्य की डोरी के द्वारा मेरा नेतृत्व किया जाता है; और, अन्त में, क्या जगत् का कोई परम कारण है, अथवा प्राकृत वस्तुएँ और उनकी क्रमव्यवस्था ही वह चरम विषय हैं जिन तक हम अपने समस्त चिन्तन-मनन में पहुँच सकते हैं, पर जिनका अतिक्रमण नहीं कर सकते, यह ऐसे प्रश्न हैं जिनके सफल समाधान के साथ गणितवेत्ता सहर्ष अपने समग्र विज्ञान का विनिमय कर लेगा; क्योंकि गणित विज्ञान उसको मानवता के सर्वोच्च तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य के संबंध में कोई संतोष प्रदान नहीं कर सकता। गणित मानव बुद्धि का अभिमान है, परन्तु इसका निजी गौरव तथा मूल्य तक इसी बात पर निर्भर है कि वह बुद्धि का, प्रकृति के क्रम और नियम के सहित उसके महान् और लघु पदार्थों का एक समान ज्ञान प्राप्त करने में नेतृत्व करता है, और इसी प्रकार उस (प्रकृति) की गतिशील शक्तियों की आश्चर्यकरी एकता के क्षेत्र में भी उसका नेतृत्व करता है और अन्तर्दृष्टि की उस कोटि तक पहुँचता है जहाँ तक केवल सामान्य अनुभव की नींव पर (ज्ञान का भवन) निर्माण करने वाला दर्शन-शास्त्र कदापि पहुँचने की आशा नहीं कर सकता, और इस प्रकार समस्त अनुभव के परे तक विस्तृत बुद्धि के व्यापार (या विनियोग) को अवसर और प्रोत्साहन प्रदान करता है, तथा इसके साथ ही साथ व्यापृत दर्शनशास्त्र को अपने अनुसंधानों का सम्पोषण करने के लिये—जहाँ तक उनकी संघटना इसकी अनुज्ञा देती है—समुपयुक्त प्रत्यक्षानुभावों द्वारा अत्यन्त उत्तम उपादान प्रदान करता है।

चिन्तनात्मक दर्शन के दुर्भाग्य से (किन्तु मानव के व्यावहारिक भागधेय के सौभाग्य से), बुद्धि अपनी सबसे महान प्रत्याशाओं के मध्य में युक्तियों और प्रतियुक्तियों की भीड़ से ऐसा घिरा पाती है कि उसको अपने सम्मान और सुरक्षा दोनों की भावनाओं के कारण एक समान रूप से पीछे लौट पड़ना और इस द्वन्द्व को केवल दिखावटी लड़ाई मान कर तटस्थता से देखना व्यवहार्य नहीं रहता, और क्योंकि वह स्वयं इस झगड़े में बहुत अभिरुचि रखती है अतएव शान्ति स्थापित करने की अनुज्ञा देना उसके लिये स्पष्टतया और भी कम संभव है; ऐसी परिस्थिति में इसके अतिरिक्त और कोई चारा

नहीं रहता कि वह इसकी बात पर विचार करे कि कहीं इस झगड़े का उद्गम, (जिसके कारण बुद्धि स्वयं अपने ही विरुद्ध बट गई है) केवल किसी भ्रान्ति का ऋणी तो नहीं है। इस प्रकार का विवेचन होने पर संभवतया दोनों पक्षों को अपने दर्पपूर्ण दावों को त्यागना पड़ेगा, परन्तु ऐसा हो (जा) ने से बोधवृत्ति और इन्द्रियों के ऊपर बुद्धि का स्थायी और शान्तिपूर्ण शासन स्थापित (या आरंभ) हो जाएगा।

सम्प्रति तो हम इस मूलस्पर्शी अनुसंधान को स्थगित करेंगे जिससे कि यह विचार कर सकें कि यदि हमारे लिये किसी पक्ष को ग्रहण करना आवश्यक हो जाए तो हम सहर्ष कौन से पक्ष की ओर से प्रहार करेंगे। क्योंकि इस प्रस्तुत प्रसंग में हम सत्य की यौक्तिक कसौटी का विमर्श तो करते नहीं प्रत्युत केवल अपने स्वार्थ का विचार करते हैं अतः यद्यपि इस प्रकार का अनुसंधान दोनों पक्षों के विवादग्रस्त न्यायोचित अधिकारों के संबंध में कुछ भी निर्धारित नहीं कर सकेगा, तथापि उसमें यह सुविधा अवश्य है कि यह हमको यह समझने की क्षमता प्रदान करता है कि इस विग्रह में भाग लेने वालों ने, इस विषय में बिना किसी उच्चतर अन्तर्दृष्टि रखते हुए, किस कारण से एक पक्ष की ओर से, अन्य पक्ष की अपेक्षा, सहर्ष प्रहार करना स्वीकार किया है। इस के साथ ही यह अनुसंधान और कई एक आनुषंगिक बातोंको स्पष्ट कर देगा, जैसे कि एक पक्ष का उद्वेगपूर्ण उत्साह तथा दूसरे पक्ष का शान्त ठंडा दृढ़ आश्वस्ताभाव—तथा एक पक्ष को संसार का हर्षपूर्ण अनुमोदन तथा दूसरे पक्ष को उसका असन्धेय दुराग्रह क्यों प्राप्त हुआ है।

पर एक बात ऐसी है जो इस प्रारम्भिक अनुसंधान में उस सही दृष्टिकोण को निश्चित करने वाली है, केवल जिसके आधार पर यह अनुसंधान समुपयुक्त पूर्णता (तलस्पर्शिता) के साथ सम्पादित हो सकता है, और यह है दोनों पक्षों की प्रवृत्ति (प्रारंभ) के मूल में निहित सिद्धान्तों की तुलना। विपक्ष के दावों में विचार की पद्धति में पूर्ण एकरूपता तथा सिद्धान्तसूत्रों की पूर्ण एकता—अर्थात् न केवल जगत् के भीतर के अवभासों के स्पष्टीकरण में प्रत्युत स्वयं विश्व के अनुभवातीत भावों के समाधान में प्रयुक्त होने वाला शुद्ध अनुभववाद का सिद्धान्त—दृष्टिगोचर होती है। दूसरी ओर पक्ष के दावे, अवभासों की शृंखला के भीतर प्रयुक्त व्याख्या के आनुभविक प्रकार के अतिरिक्त बोधगम्य आरंभों की पूर्व-कल्पना पर आधारित है, और इस सीमा तक सिद्धान्त-सूत्र अविमिश्रित (—सरल) नहीं है। पर मैं इसको, इसके साररूप एवं विशिष्ट लक्षण के कारण, शुद्ध बुद्धि का निर्विचारवाद नाम दूँगा।

इस निर्विचारवाद अर्थात् पक्ष की ओर विश्वरचना संबंधी भावों के निर्धारण में निम्नलिखित तथ्य दिखलाई देते हैं—

प्रथम,एक विशिष्ट प्रकार का व्यावहारिक स्वार्थ या हित,जिसमें प्रत्येक ठीक समझ वाला मनुष्य, यदि वह अपने सच्चे स्वार्थ को जानता है, हार्दिकतया हिस्सा बटाता है । जगत् का आरंभ है, मेरा विचार करने वाला आत्मा सरल अविमिश्रित और इसी लिये अविनाशी प्रकृति है, इसके साथ ही साथ यह अपने संकल्पित कार्यों में स्वतंत्र तथा प्रकृति की विवशता से ऊपर उठा हुआ है, और अन्तिम बात यह कि वस्तुओं की समस्त क्रम व्यवस्था, जो जगत् को संघटित करती है, एक आद्य सत्तत्व से समुद्गत है, जिस सत्तत्व से प्रत्येक वस्तु अपनी एकता एवं सोद्देश्य संबंध को व्युत्पादित करती है––यह सब तत्व आचार और धर्म की इतनी आधारशिलाएँ हैं । विपक्ष हमसे इन समस्त सहारों को छीन लेता है अथवा कम से कम ऐसा करता प्रतीत होता है ।

दूसरे, पक्ष की ओर बुद्धि एक चिन्तनात्मक स्वार्थ भी देखती है । क्योंकि जब अनुभवातीत भाव पक्ष द्वारा नियोजित ढंग से माने जाकर प्रयुक्त होते हैं, तो प्रतिबन्धों की समस्त शृंखला तथा प्रतिबद्ध की व्युत्पत्ति पूर्णतया प्रागनुभवात्मक प्रकार से समझ ली जा सकती है; ऐसा इसलिये संभव है क्योंकि यहाँ (चिन्तन या विचार) अप्रतिबद्ध से आरंभ होता है, जो बात विपक्ष नहीं कर सकता, अतएव वह अपने को बहुत असुविधापूर्ण स्थिति में प्रस्तुत करता है (क्योंकि) विरोध परिहार के प्रतिबन्ध से संबंध रखने वाले प्रश्न के विषय में यह कोई ऐसा उत्तर नहीं दे सकता, जो इसी अनुसंधान की अनन्त पुनरावृत्ति की ओर ले जाने वाला न हो । इस (विपक्ष) के अनुसार किसी एक दिये हुए आरंभ से उससे भी अधिक ऊँचे आरंभ की ओर चढ़ना पड़ता है, प्रत्येक खण्ड और अपने से भी अधिक छोटे खण्ड की ओर ले जाता है; प्रत्येक घटना के पूर्व सर्वदा एक अन्य घटना उस (प्रथम घटना) के कारण रूप में स्थित होती है; तथा सत्ता सामान्य के प्रतिबन्ध सर्वदा अन्य प्रतिबन्धों के ऊपर आश्रित रहा करते हैं, तथा आद्य सत्ता के रूप किसी भी आत्मनिर्भर वस्तु में अप्रतिबद्ध टेक और सहारा नहीं पाते ।

तीसरे, पक्ष की ओर जनप्रियता की भी सुविधा पाई जाती है, जो किसी प्रकार स्वीकृति के लिये छोटा दावा नहीं है । साधारण समझ-बूझ समस्त संश्लेषण के अप्रतिबद्ध (या अनवस्थित) आरंभ (को समझने) में लेशमात्र भी कठिनाई नहीं पाती, क्योंकि आधारभूत हेतुओं की ओर आरोहण करने की अपेक्षा, परिणामों की ओर अवरोहण करने की अधिक अभ्यस्त होती है, अतएव यह नितान्त प्रथम के संबोध में (जिसकी संभाव्यता के संबंध में यह अपने को आकुल नहीं करती) सुख चैन का अनुभव करती है और इसके साथ ही साथ उसमें एक ऐसा स्थिर विन्दु मिल जाता है जिससे इसकी गति का नेतृत्व करने वाले सूत्र को बाँधा जा सकता है, जबकि

(अथवा क्योंकि) दूसरी ओर प्रतिबद्ध से प्रतिबन्ध की ओर सतत् अविराम आरोहण में, एक पग को सदा अधर में रखने में कुछ भी आराम नहीं पाया जा सकता ।

विश्व की रचना संबंधी विचारों के निर्धारण में दृष्टवाद (अथवा अनुभववाद) की अर्थात् विपक्ष की ओर निम्नलिखित बातें (क्रमशः) दिखलाई देती हैं—प्रथम तो बुद्धि के शुद्ध सिद्धान्तों के कारण ऐसा कोई व्यावहारिक हित नहीं मिलता जैसा पक्ष की ओर आचार और धर्म के कारण उपलब्ध होता है । इसके विपरीत शुद्ध अनुभववाद तो आचार और धर्म दोनों को समस्त शक्ति और प्रभाव से वञ्चित करता हुआ प्रतीत होता है । यदि जगत् से पृथक् कोई आद्य सत्तत्व है ही नहीं, यदि जगत् अनादि है और इसलिये अकर्तृक (बिना कर्ता के) है, यदि हमारी इच्छा शक्ति (संकल्प) स्वतंत्र नहीं है, और हमारी आत्मा भौतिक तत्व के साथ उसी के समान विभाज्य और विनाशशील है, तो नीति के विचार और सिद्धान्त भी समस्त प्रामाणिकता गँवा बैठते हैं और उन अनुभवातीत भावों (या विचारों) के साथ, जो उनका सैद्धान्तिक सहारा बने हुए थे, विनिपात को प्राप्त हो जाते हैं ।

पर दूसरी ओर, अनुभववाद बुद्धि के सैद्धान्तिक हित ऐसी सुविधाएँ भी देता है जो अत्यधिक आकर्षक हैं, और बुद्धि के भावों से संबंध रखने वाली अयौक्तिक निर्विचार शिक्षा जो सुविधाएँ प्रदान कर सकती है उनसे बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई हैं । अनुभववादी का अनुसरण करने में बोधवृत्ति सर्वदा अपने निजी क्षेत्र में रहती है, अर्थात् केवल समस्त संभाव्य अनुभवों के क्षेत्र में रहती है, तथा उनके नियमों का अनुसंधान करती है, एवं उनके द्वारा उस निश्चित एवं अवधार्य ज्ञान को, जिसको यह प्रदान करती है, अनन्ततया विस्तीर्ण कर सकती है । यहाँ प्रत्येक विषय, स्वयं अपने रूप में भी तथा अपने संबंधों में भी, प्रत्यक्षानुभव में अथवा कम से कम ऐसे संबोधों में प्रत्युपस्थापित हो सकता है और होना भी चाहिये, जिनके लिये दिये हुए इन्हीं के सदृश प्रत्यक्षानुभवों में समनुरूप प्रतिमूर्तियाँ स्वच्छतया और स्पष्टतया प्रस्तुत की जा सकती हैं । इसके लिये, न केवल उन भावों का आश्रय लेने के लिये (जिनके विषयों को यह नहीं जानती, क्योंकि विचारसत्ताक वस्तु होने के कारण वे कदापि भी उपलब्ध नहीं हो सकते) प्रकृति के क्रम की शृंखला को त्यागने की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत उसको इस बहाने पर कि उसने अपना व्यापार पूर्णता को पहुँचा दिया है, अपने व्यापार को छोड़ने तथा आदर्शकारिणी बुद्धि और अनुभवातीत संबोधों के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाने की अनुज्ञा कभी भी नहीं दी जाती, जिस (क्षेत्र) में इसको प्रकृति के नियमों के अनुसार निरीक्षण और अनुसंधान की आगे आवश्यकता नहीं रहती है, प्रत्युत केवल चिन्तन और कल्पना करने भर

की आवश्यकता रह जाती है, क्योंकि उसके साथ यह निश्चित विश्वास रहता है कि प्रकृति तथ्यों द्वारा उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह उस साक्ष्य के साथ बँधी हुई नहीं है जिसको वे (तथ्य) उत्पन्न करते हैं प्रत्युत वह उनको कतरा कर निकल जा सकती है अथवा उनको उच्चतर प्राधिकारी अर्थात् शुद्ध बुद्धि के अधीन कर दे सकती है ।

इसलिये दृष्टानुभववादी कदापि इस बात की अनुज्ञा नहीं देगा कि प्रकृति के किसी भी युग को नितान्त आद्ययुग अथवा प्रकृति के आभोग में उसकी अन्तर्दृष्टि की किसी सीमा को चरम (विस्तृततम) सीमा माना जाए, और न वह इसकी अनुज्ञा देगा कि प्रकृति के विषयों का—जिनका वह निरीक्षण और गणित के द्वारा विश्लेषण कर सकता है, एवं प्रत्यक्षानुभव द्वारा सांश्लेषिकतया निर्धारण कर सकता हैं (अर्थात् जो परिमाणवान हैं) ऐसे (विषयों) में संक्रमण हो जाए जो जिनका इन्द्रियों अथवा कल्पना के द्वारा मूर्त प्रत्युपस्थापन कभी नहीं हो सकता (अर्थात् जो असंहत सरल हैं); न वह यही स्वीकार करेगा कि प्रकृति में आधाररूप में स्थित एक शक्ति को माना जाए जो प्रकृति के नियमों से स्वतंत्रत है (अर्थात् वह स्वतंत्रता के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करेगा), और जो इस प्रकार बोधवृत्ति के लिये, आवश्यक नियमों के पथप्रदर्शन में अवभासों के उद्गम को खोजने के व्यापार को संकुचित कर देती है; और न ही अन्त में वह इस बात की स्वीकृति देगा कि किसी आदिम सत्तत्व के रूप में कारण की प्रकृति के बाहर खोज की जाए, क्योंकि हम इस (प्रकृति) से परे और कुछ भी नहीं जानते इसलिये कि केवल वही ऐसी है जो हमारे प्रति विषयों को प्रस्तुत करती है एवं उनके नियमों के संबंध में हमको शिक्षा प्रदान कर सकती है ।

सचमुच ही यदि दृष्टानुभववादी दार्शनिक का अपने इस विपक्ष के प्रतिपादन में उस बुद्धि की जिज्ञासापूर्ण चपलता और धृष्टता को दमन करने के अतिरिक्त और कुछ उद्देश्य नहीं था, जो बुद्धि ठीक उस स्थान पर अन्ततर्दृष्टि और ज्ञान का गर्व करती है जहाँ अन्तर्दृष्टि और ज्ञान की समाप्ति होती है, तथा जो उसको चिन्तनात्मक हितों की वृद्धि करने वाला मानती है जो केवल व्यावहारिक हितों में लागू (या प्रामाणिक) होता है, और ऐसा इसलिये करती है कि जिससे वह अपनी सुख सुविधा के अनुसार, भौतिक अनुसंधान के सूत्र को तोड़ कर, तत्पश्चात् ज्ञान का विस्तार करने के बहाने उसको अनुभवातीत भावों के साथ जोड़ दे, जिससे वास्तव में यही जाना जाता है कि कुछ नहीं जाना जाता, मैं कहता हूँ कि, यदि दृष्टानुभववादी इससे सन्तुष्ट हो तो उसके सिद्धान्त महत्वाभिमान में मिताचार की तथा दावों में विनीतता की शिक्षा

देने वाले सूत्र बन जाएँगे और फिर इसके साथ ही साथ हमारे वास्तविक श्रेष्ठ उपदेशक अर्थात् अनुभव के द्वारा हमारी बोधवृत्ति के अधिकतम संभाव्य विस्तार का हेतु बनेंगे। क्योंकि, ऐसी परिस्थिति में हमको अपनी बौद्धिक पूर्वधारणाओं (या पूर्वकल्पनाओं) अथवा अपनी श्रद्धा को अपने व्यावहारिक हितों के लिये प्रयोग में लाने से वंचित नहीं किया जाना चाहिये बस केवल उनको विज्ञान और बौद्धिक अन्तर्दृष्टि का नाम और आडम्बर धारण करने की अनुज्ञा कदापि नहीं दी जा सकती; क्योंकि यथार्थ चिन्तनात्मक ज्ञान अनुभव को छोड़ अन्य कोई विषय नहीं रख सकता, और यदि उसकी मर्यादा का अतिक्रमण किया जाए तो वह संश्लेषण जो नवीन और उस (अनुभव) पर निर्भर न रहने वाले नवीन ज्ञान की खोज करता है, प्रत्यक्षानुभव के उस आधारभूत स्तर से रहित होता है जिसके प्रति वह संश्लेषण लागू हो सकता है।

परन्तु जब, (जैसा कि प्रायः होता है) दृष्टानुभववाद स्वयं भावों (या विचारों) के प्रति अयौक्तिक हो जाता है और धृष्टतापूर्वक उसका प्रत्याख्यान करता है जो इसके अनुभवात्मक ज्ञान के मण्डल के परे है तो यह स्वयं उस अविनय का दोषी ठहरता है, जो यहाँ इस कारण और भी अधिक निन्दनीय है क्योंकि ऐसा करने से बुद्धि के व्यावहारिक हितों की एक अपूरणीय क्षति घटित होती है।

ऐपीकुरस्[कां.] और प्लातौन् (अफ़लातून) के मतों में यही विरोध पाया जाता है।

कां. तथापि यह बात संदिग्ध है कि ऐपीकुरस् ने इन सिद्धान्तों को वैषयिक कथनों के रूप में कभी शिक्षा दी थी। यदि उसका उद्देश्य उनको बुद्धि के चिन्तनात्मक उपयोग को सूत्र से कुछ और अधिक समझने का नहीं था, तो उसने सचमुच प्राचीन काल के अन्य किसी भी दार्शनिक की अपेक्षा अधिक यथार्थ दार्शनिक भावना प्रदर्शित की। अवभासों के स्पष्टीकरण में हमको कार्य में इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिये कि मानों हमारे अनुसंधान का क्षेत्र किसी जगत् की सीमा अथवा आरंभ से परिच्छिन्न नहीं है; यदि हम अनुभव से जगत् के उपादान के संबंध में कुछ सीखना चाहते हैं तो जगत् के उपादान को जैसा उसको होना चाहिये उसी रूप में स्वीकार करना पड़ेगा; प्रकृति के अपरिवर्तनीय नियमों के अनुसार जैसे घटनाएँ निर्धारित होती हैं उसके अतिरिक्त उनका अन्य किसी प्रकार का आरंभ नहीं है, और अन्तिम बात यह कि जगत् से किसी अन्य कारण का उपयोग नहीं किया जाना चाहिये, यह सब सिद्धान्त आज भी बहुत बहुत महत्त्वपूर्ण (या मूल्यवान्) बने हुए हैं; यद्यपि बाह्य सहायता के बिना ही चिन्तानात्मक दर्शनशास्त्र के क्षेत्र के विस्तार को बढ़ाने अथवा आचारशास्त्र के सिद्धान्तों का आविष्कार करने में उनका बहुत थोड़ा ध्यान रखा जाता है; इससे यह निष्कर्ष बिलकुल नहीं निकलता कि जब तक हम केवल चिन्तन में व्यापृत हैं जब तक जो लोग हमसे इन निर्विचार

उपर्युक्त दोनों पक्षों में से प्रत्येक जितना जानता है उससे अधिक कहता है, पर जब कि एपीकुरस् का पक्ष ज्ञान को प्रोत्साहन और विस्तार प्रदान करता है (यद्यपि वह निश्चय ही व्यावहारिक हितों की हानि करके करता है) प्लातौन् का पक्ष व्याहारिक हितों के लिये अत्युत्तम सिद्धान्त प्रदान करता है, परन्तु प्रत्येक ऐसी वस्तु के संबंध में केवल जिसके विषय में चिन्तनात्मक ज्ञान की अनुज्ञा प्राप्त है, यह बुद्धि को प्राकृतिक अवभासों की भावात्मक व्याख्या में निरत होने देता है और उसके भौतिक अन्वेषण की अवहेलना करने देता है।

अन्त में इन दो विरोधी पक्षों के मध्य में से प्रारंभिक चुनाव करने के संबंध में जिस तीसरी बात का विचार किया जाना है, उसके विषय में यह अत्यन्त अनोखा तथ्य है कि दृष्टानुभववाद पूर्णतया लोकप्रियता के प्रतिकूल है, यद्यपि यह विचार किया जा सकता है कि सामान्य बोधवृत्ति, उस अनुभवातीत निर्विचारवाद की अपेक्षा जो उसको ऐसे संबोधों की ओर आरोहण करने के लिये विवश करता है जो अभ्यस्ततम विचारकों की अन्तर्दृष्टि और बौद्धिक शक्तियों को भी बहुत पीछे छोड़ जाने वाले हैं——एक ऐसे कार्यक्रम को उत्सुकता के साथ अंगीकार कर लेगी जो इसको अन्य सब कुछ छोड़ कर केवल अनुभवात्मक ज्ञान और उसमें प्रदर्शित यौक्तिक संबोधों (संयोजनों) के द्वारा सन्तुष्ट करने की प्रतिज्ञा करता है। किन्तु ठीक यही निर्विचारवाद की प्रेरक शक्ति का आधार है। क्योंकि तभी तो सामान्य बोधवृत्ति अपने को एक ऐसी स्थिति में पाती है कि जिसमें बड़े से बड़ा विद्वान् उसकी अपेक्षा किसी सुविधा का दावा नहीं कर सकता। यदि यह (= सामान्य बोधवृत्ति) इन बातों के विषय में बहुत कम या कुछ भी नहीं समझती, तो (और कोई) भी तो इनके संबंध में अधिक समझने का घमंड नहीं कर सकता, और यद्यपि साधारण बोधवृत्ति इस विषय में अपने को विशेष शिक्षा पाये हुए अन्य व्यक्तियों के समान विद्वत्तापूर्ण ढंग से अभिव्यक्त नहीं कर सकती, तो भी वह अनन्तगुना अधिक युक्त्याभासों का प्रतिपादन कर सकती है, क्योंकि वह केवलमात्र भावों में विचरण करती है, जिनके विषय में सरलता से वाक्पटु हुआ जा सकता है, क्योंकि उनके विषय में कोई भी कुछ नहीं जानता; परन्तु जब इसके स्थान पर प्रकृति के अन्वेषण का प्रश्न प्रस्तुत होगा तो इसको पूर्णतया चुप हो जाना और अपने अज्ञान को

प्रस्थापनाओं की उपेक्षा करते हैं, उनको इनके प्रत्याख्यान का दोषी (या अपराधी) ठहराया जा सकता है।

स्वीकार करना पड़ेगा । इस प्रकार जड़ता और अहम्मन्यता मिलकर इन सिद्धान्तों को दृढ़ अवलम्ब प्रदान करती हैं । इसके अतिरिक्त, यद्यपि किसी दार्शनिक के लिये एक ऐसे सिद्धान्त को मान लेना, जिसके औचित्य का वह प्रतिपादन नहीं कर सकता, अत्यन्त कठिन कार्य है, और ऐसे संबोधों को आश्रय देना जिनकी वैषयिक वास्तविकता को स्थापित नहीं किया जा सकता और भी अधिक कठिन है, परन्तु साधारण बोध-वृत्ति के लिये इससे अधिक सामान्य (या प्रायिक) और कुछ नहीं है । उसको तो कुछ न कुछ ऐसी वस्तु चाहिये जिससे वह भरोसे के साथ (काम में) प्रवृत्त हो सके । ऐसी पूर्वकल्पना (या पूर्वमान्यता) की अवधारण की कठिनाई भी उसको व्याकुल नहीं करती, क्योंकि (जो यही नहीं जानती कि अवधारण किसको कहते हैं) यह बात उसके मस्तिष्क में आती ही नहीं, और जो प्रायिक व्यवहार के कारण उसको परिचित होता है उसको जाना हुआ मान लेती है । और फिर अन्त में इसके लिये समस्त सैद्धान्तिक हित व्यावहारिक हितों के समक्ष अन्तर्हित हो जाते हैं और यह कल्पना करने लगती है कि इसकी आशंकाएँ और आशाएँ इसको जो कुछ मानने अथवा विश्वास करने के लिये प्रेरित करती हैं यह उसको समझती और जानती है । इस प्रकार दृष्टानुभववाद अनुभवातीतमकतया प्रत्यागामिनी बुद्धि की लोकप्रियता से पूर्णतया रहित है, और इस प्रकार का दृष्टानुभववाद उच्चतम व्यावहारिक सिद्धान्तों के विरुद्ध चाहे कितनी ही असुविधाएँ अपने में क्यों न रखता हो तथापि इस बात की चिन्ता का लेशमात्र भी कारण नहीं है कि यह कभी भी दार्शनिक-मण्डलियों की सीमा का अतिक्रमण कर सकेगा और जन-साधारण के सामान्य जीवन में किसी मात्रा में ध्यान देने योग्य अधिकार अथवा लोकसमूह में कोई अनुकूलता पा सकेगा ।

मानवीय बुद्धि अपनी प्रकृति से ही संविधायक है, अर्थात् वह समस्त ज्ञान को एक संभाव्य संस्थान से संबद्ध मानती है, और इस कारण वह केवल ऐसे ही सिद्धान्तों को स्वीकार करती है जो किसी उद्दिष्ट ज्ञान को कम से कम किसी एक संस्थान अन्य किसी ज्ञान के साथ समन्वित होकर स्थित होने के अयोग्य (या अक्षम) नहीं कर देते । पर विपक्ष की प्रस्थापनाएँ ऐसे प्रकार की हैं कि वे ज्ञान-भवन की पूर्णता को बिलकुल असंभव बना देती हैं । उनके अनुसार दुनिया की प्रत्येक अवस्था के परे एक और पुराणतर अवस्था पायी जाती है, प्रत्येक भाग में ऐसा भाग होता है जो पहले भागों के समान विभाजनीय है, प्रत्येक घटना के पूर्व और भी दूसरी घटना मिलती है जो फिर कहीं दूसरे स्थान पर उत्पन्न हुई थी, एवं सामान्यरूपेण सत्ता में प्रत्येक वस्तु प्रतिबद्ध है एवं अप्रतिबद्ध और आद्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती । क्योंकि

विपक्ष इस प्रकार किसी भी वस्तु को भी प्रथम मानने को तैयार नहीं है और न किसी आरंभ को ही स्वीकार करता है जो बस भवन की नींव का काम दे सके, तो ऐसी पूर्वमान्यताओं के आधार पर ज्ञान का पूर्णभवन बनना एकदम असंभव है। इसलिये बुद्धि का संविधायक हित जो दृष्टानुभवात्मक एकता की नहीं प्रत्युत प्रागनुभवात्मकतया शुद्ध-बुद्धि की एकता की माँग करता है—स्वयं ही प्रकृत्या पक्ष में दावों की सिफारिश (समाशंसा) करता है।

पर यदि मनुष्य अपने को ऐसे सब स्वार्थों से मुक्त कर सकते, और बुद्धि के दावों का उनके परिणामों के प्रति तटस्थ रहकर केवल उनकी युक्तियों की आन्तरिक क्षमता के अनुसार विचार कर सकते, और यदि इस उलझन से बाहर निकलने का इस बात के अतिरिक्त और कोई उपाय न ज्ञात न होता कि अपनी आसक्ति दोनों विरोधी सिद्धान्तों में से किसी एक को समर्पित कर दी जाए, तो मनुष्यों की अवस्था सतत दोलायमान अवस्था ही होती। आज उसको यह बात विश्वासोत्पादक प्रतीत होगी कि मानवीय इच्छा स्वतंत्र है, तो कल, प्रकृति की अखण्ड्य शृंखला पर विचार करते हुए उसको ऐसा प्रतीत होगा कि स्वतंत्रता आत्मप्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और सब कुछ प्रकृति ही है। पर अब जब कार्य और व्यापार का प्रसंग उपस्थित होगा तो केवल चिन्तनात्मक बुद्धि का यह खिलवाड़ स्वप्न की माया-छाया के समान विलीन हो जाएगा और तब वह अपने सिद्धान्तों को केवल व्यावहारिक हितों की दृष्टि से चुनेगा। पर क्योंकि एक चिन्तन करने वाले और जिज्ञासा रखने वाले प्राणी के लिये यह उचित ही है कि वह अपना कुछ निश्चित समय केवलमात्र अपनी बुद्धि के परीक्षण को समर्पित करे, अपने को पक्षपात से पूर्णतया वर्जित रखे तथा तदुपरान्त अपने विचारों को खुले तौर पर दूसरों के निर्णय के लिये निवेदित कर दे; अतः यदि कोई व्यक्ति, जो दोनों पक्ष और विपक्ष को बिना किसी को धमकियों से त्रस्त किये हुए, अपनी ही स्थिति के समान स्थिति वाले निर्णायिक-मण्डल के समक्ष (अर्थात् निर्बल मानवों के निर्णायिण-मण्डल के समक्ष) यथाशक्ति अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये, प्रस्तुत होने दे तो ऐसा करने के लिये किसी को दोष नहीं दिया जा सकता और इससे भी कम उसको ऐसा करने से रोका जा सकता है।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

चतुर्थ खण्ड

शुद्ध बुद्धि की अनुभवातीत समस्याओं के समाधान की आत्यन्तिकी अनिवार्य आवश्यकता

सब समस्याओं का हल, तथा सब प्रश्नों का उत्तर देने की कामना करना एक ऐसी निर्लज्ज शेख़ी वघारना होगी और ऐसी अमर्यादित अहम्मन्यता होगी कि जिससे ऐसे दावे करने वाले का कोई विश्वास नहीं करेगा । तथापि ऐसे विज्ञानों का अस्तित्व संसार में है जिनके स्वरूप की ही यह माँग है कि उनके क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक प्रश्न का उत्तर, जो कुछ ज्ञात है उसके द्वारा पूर्णतया दिये जाने के योग्य होना चाहिये, क्योंकि उत्तर भी उसी उद्‌गम से उत्पन्न होना चाहिये जिससे प्रश्न उत्पन्न हुआ करता है; तथा जिनमें अपरिहार्य अज्ञान व्यपदेश करने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती, प्रत्युत प्रश्न के समाधान की माँग की जा सकती है । प्रत्येक संभाव्य प्रसंग में क्या उचित है और क्या अनुचित है यह नियम के अनुसार अवश्य ही ज्ञातव्य है, क्योंकि इसका संबंध हमारे दायित्व से है, तथा जिसको हम जान नहीं सकते उसके प्रति हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं होता। किन्तु प्रकृति के अवभासों के स्पष्टी-करण (या व्याख्या) में बहुत कुछ अज्ञात एवं बहुत से प्रश्न असमाहित रहेंगे क्योंकि हम प्रकृति के संबंध में जो कुछ जानते हैं वह उसके लिये कि जिसका स्पष्टी-करण करना है सर्वथा अपर्याप्त है । अब प्रश्न यह है कि क्या अनुभवातीत तत्वज्ञान में, बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत किये गये विषय के संबंध में कोई ऐसा प्रश्न है जो इस शुद्ध बुद्धि तक के द्वारा अनुत्तरणीय है और क्या उसके विषय में निश्चयात्मक उत्तर देने से अपने आप को रोका जा सकता है क्योंकि हम उस विषय में जो कुछ जान सकते हैं उससे भी वह विषय अत्यन्त अनिश्चित ही रह जाता है, और उसकी गणना उस प्रकार के विषयों में होती है, जिनके विषय में प्रश्न को उपस्थित करने के लिये तो पर्याप्त संबोध अपने पास रखते हैं, परन्तु उस प्रश्न का उत्तर देने की सामग्री शक्ति का हमारे पास पूर्णतया अभाव है ।

अब इस विषय में मैं यह मानता हूँ कि समस्त चिन्तनात्मक ज्ञानों में अनुभवा-तीत तत्वदर्शन की यह अपनी अनोखी विलक्षणता है कि कोई भी ऐसा प्रश्न जो शुद्ध बुद्धि के लिये उपलब्ध विषय से संबंध रखता है इस मानवीय बुद्धि के लिये असमाधेय नहीं हो सकता, तथा अपरिहार्य अज्ञान अथवा समस्या की अतल (अनवगाह्य)

गंभीरता का कोई बहाना हमको इस प्रश्न के आत्यन्तिकतया और पूर्णतया उत्तर देने के दायित्व से छुटकारा नहीं दे सकता; क्योंकि उसी संबोध को जो हमको प्रश्न पूछने की स्थिति में उपस्थित करता है, हमको उस प्रश्न का पूर्णतया उत्तर देने के योग्य भी बनाना चाहिये, इसलिये कि (जैसे उचित और अनुचित के प्रसंग में होता है वैसे ही इस प्रसंग में भी) विषय संबोध से परे कहीं उपलब्ध नहीं होता।

परन्तु अनुभवातीत तत्वदर्शन में विश्वरचना संबंधी प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रश्न ऐसे नहीं हैं जिनके संबंध में विषयों की संघटना की दृष्टि से सन्तोषप्रद उत्तर की माँग औचित्य के साथ की जा सकती है, और न इस प्रसंग में किसी दार्शनिक को अप्रवेश्य अस्पष्टता की युक्ति के आधार पर अपने लिये इस प्रश्न का उत्तर देने से क्षमा कराने की अनुज्ञा है, और इस प्रकार के प्रश्नों का संबंध एकमात्र विश्वरचना के भावों से हो सकता है। क्योंकि विषय तो दृष्टानुभवतः दिया हुआ होना चाहिये, और प्रश्न का संबंध केवल भाव के साथ उसकी समनुरूपता का है। यदि विषय अनुभवातीत है और इस कारण अज्ञात है, जैसे उदाहरण के लिये यदि प्रश्न यह हो कि क्या वह यत्किञ्चित् वस्तु (हमारे भीतर) जिसका अवभास विचार है (अर्थात् आत्मा है) स्वरूपतः सरल एकरस (या एक रूप) सत् है, अथवा क्या सब वस्तुओं का कोई एक ऐसा कारण है जो एकान्ततः अनिवार्य हो इत्यादि, तो हमको अपने भाव (या विचार) के अनुरूप विषय खोजना चाहिये (या खोजना पड़ेगा) जिसके विषय में हम भले ही स्वीकार कर सकते हैं कि वह विषय हमारे लिये अज्ञात है, परन्तु जो इस कारण असंभव नहीं है। [कां.] केवल विश्व की रचना से

कां. यद्यपि इस प्रश्न का कि "किसी अनुभवातीत विषय की संघटना क्या (या कैसी) है ?" यह बतलाते हुए कि वह क्या है कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता, तथापि यह उत्तर अवश्य दिया जा सकता है कि यह प्रश्न ही स्वयं कुछ नहीं है, क्योंकि कोई भी दिया हुआ विषय इसके (समनुरूप) नहीं है। इसलिये अनुभवातीत अध्यात्म-विद्या-संबंधी समस्त प्रश्न इसी प्रकार से उत्तर देने के योग्य हैं और वास्तव में इसी प्रकार से उनका उत्तर दिया भी गया है; क्योंकि उन प्रश्नों का संकेत समस्त अवभासों के अनुभवातीत विषयी की ओर है जो स्वयं अवभास नहीं है और इसलिये विषय के रूप में दिया हुआ नहीं है, तथा जिसमें कोई भी बौद्धिक प्रकार (क्योंकि वास्तव में उन्हीं की ओर को प्रश्न संप्रेरित होता है) अपने उपयोग के लिये अपेक्षित प्रतिबन्धों को नहीं पाते। इस प्रकार यहाँ ऐसा प्रसंग उपस्थित होता है कि उत्तर या अभाव ही उचित उत्तर है। अर्थात उस यत्किञ्चित् वस्तु की संघटना के संबंध

संबंध रखने वाले भावों की ही यह विलक्षणता (या विशेषता) है कि अपने विषय, तथा उसके संबोध के लिये अपेक्षित दृष्टानुभवात्मक संश्लेषण को दिया हुआ पूर्व कल्पित कर सकते हैं, तथा जो प्रश्न इन (भावों) से उत्पन्न होता है, वह (उस सीमा तक) केवल इस संश्लेषण की प्रगति से संबंध रखता जिस सीमा तक उसमें निरपेक्ष सामग्र्य को अन्तर्विष्ट होना है, जो (समग्रता) किसी भी अनुभव में अनुपलब्ध होने के कारण अनुभवात्मक नहीं हो सकती। क्योंकि अब यहाँ पर किसी वस्तु के संबंध में केवल एक संभाव्य अनुभव के विषय के रूप में प्रसंग प्रस्तुत है न कि स्वरूपतः सत् वस्तु के रूप में, अतएव अनुभवातिग विश्वरचना संबंधी प्रश्न का उत्तर भाव के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जा सकता क्योंकि इसका संकेत किसी विषय के अपने निजी स्वरूप की ओर नहीं होता; और संभाव्य अनुभव के संबंध में भी यह नहीं पूछा जा रहा है कि किसी अनुभव में वह क्या है जो मूर्तरूप में दिया होता है, प्रत्युत हमारा प्रश्न इतना भर है कि भाव या विचार में क्या रहता है, स्वयं अनुभवात्मक संश्लेषण केवल जिसके समीप तक पहुँच सकता है (इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकता); अतएव वह (प्रश्न) केवल भाव से समाधान किया जा सकता है; क्योंकि भाव या विचार बुद्धि की सृष्टिमात्र हैं, अतएव बुद्धि उसके संबंध में अपने उत्तरदायित्व को नहीं टाल सकती और उसको अज्ञात विषय के ऊपर नहीं डाल सकती।

यह बात ऐसी अनोखी है नहीं जैसी कि यह आरंभ में मालूम पड़ती है कि कोई विज्ञान अपने अधिकार-क्षेत्र से संबद्ध प्रश्नों के संबंध में केवलमात्र सुनिश्चित समाधानों की माँग और प्रत्याशा कर सके, यद्यपि इस समय तक उनका समाधान स्यात् प्राप्त न हुआ हो। अनुभवातीत तत्वज्ञान से परे दो और शुद्ध बौद्धिक-विज्ञान भी हैं, एक पूर्णतया चिन्तनात्मक और दूसरा व्यावहारिक अन्तर्विष्ट विषय वाला—शुद्ध गणित और शुद्ध आचारशास्त्र। क्या कभी ऐसा सुनने में आया है कि मानों शर्तों के अनिवार्य अज्ञान के कारण व्यास और वृत्त का परिमेय और अपरिमेय संख्या की दृष्टि से परस्पर क्या ठीक ठीक नपातुला संबंध होना चाहिये यह बात अनिश्चित रहनी चाहिए? क्योंकि प्रथम (अर्थात् परिमेय) संख्या के द्वारा समुचित समाधान प्रकट नहीं किया जा सकता, दूसरी (अर्थात् अपरिमेय) संख्या के द्वारा अभी तक कोई समाधान पाया नहीं गया है अतएव यह निर्णय किया गया कि कम से कम इस प्रकार के

में प्रश्न, जो किसी सुनिर्धारित विधेय के द्वारा नहीं विचारा जा सकता—क्योंकि वह उन विषयों के क्षेत्र से जो हमको दिये हुए हो सकते हैं पूर्णतया बाहर है—नितान्त शून्य और रिक्त है।

समाधान की असंभाव्यता तो निश्चित रूप से जानी जा सकती है, तथा लाम्बर्ट ने इसकी उपपत्ति भी प्रस्तुत कर दी । आचारशास्त्र के सामान्य (सर्वव्यापी) सिद्धान्तों में तो कुछ भी अनिश्चित नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसके नीति-सिद्धान्त या तो पूर्णतया शून्य और निरर्थक होंगे अथवा निश्चयमेव हमारी बुद्धि के संबोधों से निष्पादित हुए होंगे । इसके विपरीत प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र में अनन्त ऊहापोह (अटकलबाज़ी) चला करता है, जिसके संबंध में कभी भी सुनिश्चितता की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि प्राकृतिक अवभास ऐसे विषय हैं जो हमको हमारे अपने संबोधों से स्वतंत्र रूप में दिये हुए होते हैं अतएव जिनकी कुंजी हममें अथवा हमारे शुद्ध चिन्तन में नहीं प्रत्युत हमसे परे बाह्य जगत् में पाई जाती है; और इसी लिये अनेकों अवसरों पर यह कुंजी मिलती तक नहीं, अतएव किसी सन्तोषप्रद समाधान की आशा नहीं की जा सकती । मैं यहाँ अनुभवातीत वैश्लेषिकी के उन प्रश्नों की चरचा नहीं कर रहा हूँ जो हमारे शुद्ध ज्ञान के व्यवकलन (या अनुमान) से वास्ता रखते हैं, क्योंकि हम इस समय विषयों की दृष्टि से केवल विभावनाओं की सुनश्चितता पर विचार कर रहे हैं स्वयं अपने संबोधों के उद्गम की दृष्टि से विचार नहीं कर रहे हैं ।

अतएव अपनी बुद्धि की संकीर्ण सीमाओं की शिकायत करके, तथा आत्मज्ञान-जन्य विनयशीलता के बहाने, हम कम से कम बृद्धि के द्वारा अपने प्रति प्रस्तुत प्रश्नों के समीक्षात्मक समाधान से यह स्वीकार करके अपना पिंड नहीं छुड़ा सकते कि यह हमारी शक्ति से परे की बात है कि वह निर्धारित कर सके कि जगत् सर्वदा से रहा है अथवा इसका आरंभ है; विश्व का अवकाश अनन्त सत्तत्वों से अनन्ततया भरा हुआ है या सुनिश्चित सीमाओं में परिवेष्टित है; विश्व में कोई वस्तु असंहत, सरल भी है या प्रत्येक वस्तु अनन्ततया विभाज्य है ; प्रजनन और उत्पादन स्वतंत्रता से होता है या प्रत्येक वस्तु प्राकृतिक क्रम व्यवस्था की शृंखला पर निर्भर रहती है ; और अन्त में, क्या कोई वस्तु (या सत्तत्व) पूर्णतया अप्रतिबद्ध एवं स्वरूपतः अनिवार्य भी है या सब वस्तुएँ अपनी सत्ता की दृष्टि से प्रतिबद्ध हैं और इसलिये बाह्यतः परावलंबी और अपने में संभाव्यमात्र हैं । क्योंकि यह सब के सब प्रश्न एक ऐसे विषय से वास्ता रखते हैं जो हमारे विचारों को छोड़कर और कहीं भी नहीं मिल सकता--अर्थात् अवभासों के संश्लेषण की ऐकान्तिकतया अप्रतिबद्ध समग्रता से वास्ता रखते हैं । यदि हम इस संबंध में स्वयं अपने संबोधों से कुछ भी निश्चित (बात) कह और निर्धारित न कर सकें,तो हमको दोष विषय के ऊपर नहीं डाल देना चाहिये कि वह अपने को हमसे छिपा रहा है; क्योंकि इस प्रकार का विषय (इसलिये कि वह हमारे भावों

या विचारों के बाहर कहीं नहीं मिल सकता) हमारे प्रति कदापि दिया हुआ या उपलब्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत हमको (इस असफलता अथवा अस्पष्टता) का कारण स्वयं अपने भाव या विचार में ही खोजना चाहिये, जो ऐसी समस्या है जो किसी समाधान को अंगीकार नहीं करती, और जिसके संबंध में हम दुराग्रहपूर्वक यह मानते रहते हैं कि इसके संप्रतिरूप कोई वास्तविक विषय (पाया जाता) है। स्वयं हमारे संबोध के भीतर जो द्वन्द्व है उसकी स्पष्ट व्याख्या शीघ्र ही हमको इस विषय में पूर्ण निश्चितता प्रदान कर देगी कि इस प्रकार के प्रश्न के संबंध में हमको क्या निर्णय करना है।

इस समस्या के संबंध में अनिश्चितता के बहाने के विरुद्ध यह प्रश्न, (जिसका कम से कम स्पष्ट उत्तर दिया जाना आवश्यक है), प्रस्तुत किया जा सकता है—"आपके पास वे भाव या विचार कहाँ से आते हैं जिनका समाधान आपको ऐसी कठिनाई में फँसा देता है?" क्या जिनके स्पष्टीकरण की आपको आवश्यकता है वे कोई अवभास हैं, और आपको इन भावों या विचारों के अनुसार उनके विवरण के सिद्धान्तमात्रों अथवा नियममात्रों का अन्वेषण करना है ? मान लीजिए कि समस्त प्रकृति आपके सामने खुली पड़ी है, एवं जो कुछ आपके प्रत्यक्षानुभव के लिये प्रस्तुत है उसके सब के सब में से आपकी इन्द्रियों और चेतना से कुछ भी छिपा हुआ नहीं है तो भी तो आपके भावों या विचारों का विषय किसी एक अकेले अनुभव के द्वारा मूर्तरूप में नहीं जाना जा सकता, (क्योंकि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये इस परिपूर्ण प्रत्यक्षानुभव के अतिरिक्त उसकी ऐकान्तिक समग्रता का पूर्णता को पहुँचा संश्लेषण और (उसकी) चेतना अपेक्षित हैं जो किसी अनुभव के द्वारा संभव नहीं है) अतएव आपका प्रश्न किसी घटित होने वाले अवभास के स्पष्टीकरण के लिये किसी भी प्रकार आवश्यक नहीं है और इसलिये यह मानों विषय के द्वारा उपस्थित किया हुआ नहीं है। क्योंकि इस प्रकार का विषय आपके समक्ष कदापि उपस्थित नहीं हो सकता, इसलिये कि वह किसी भी संभाव्य अनुभव के द्वारा नहीं दिया जा सकेगा। सब संभाव्य प्रत्यक्षों में आप सर्वदा ही प्रतिबन्धों में आवेष्टित रहते हैं, फिर चाहे वे देशगत हों अथवा कालगत, और कभी आपका सम्पर्क ऐसे अप्रतिबद्ध से नहीं होता कि जिसके लिये यह विनिश्चय करना पड़े कि इस अप्रतिबद्ध को संश्लेषण के आद्यारंभ में स्थापित किया जाना है, अथवा समस्त आरंभों से शून्य किसी शृंखला की ऐकान्तिक समग्रता में स्थापित किया जाना है। सब (या विश्व) शब्द दृष्टानुभविक अर्थ में सर्वदा तुलनात्मक ही हुआ करता है। मात्रा के चरमावयवी (=जगत्) विभाजन के, व्युत्पादन के सत्ता सामान्य के प्रतिबन्धों के चरमावयवियों का, [समस्त

ऐसे प्रश्नों के साथ कि यह (अवयवी) सान्त संश्लेषण के द्वारा घटित होता है, अथवा कदापि भी अन्त न होने वाले संश्लेषण के द्वारा] किसी संभाव्य अनुभव से कोई वास्ता नहीं है। उदाहरण के लिये, चाहे तो आप यह मानें कि कोई वस्तु सरल निरवयव भागों से घटित होती है अथवा यह मानें कि वह पूर्णतया संहत भागों से निर्मित होती है तथापि आप किसी भी मान्यता के आधार न तो किसी वस्तु के अवभासों की व्याख्या अपेक्षाकृत अधिक अच्छे प्रकार से कर सकने में समर्थ हैं और न भिन्न प्रकार से, क्योंकि आपके समक्ष न तो कभी सरल (निरवयव) अवभास देखने में आएगा और न अनन्त संहत अवभास। अवभास उसी हद तक स्पष्टीकरण की माँग करते हैं जहाँ तक उनकी व्याख्या की शर्तें प्रत्यक्ष में दी हुई होती हैं; पर वह सब जो कुछ उन अवभासों में (इस प्रकार) दिया हुआ हो सकता है, एक ऐकान्तिक अवयवी के भीतर एक साथ ग्रहण किये जाने पर स्वयमेव प्रत्यक्ष नहीं होता। तथापि यही वह अवयवी है, जिस की व्याख्या बुद्धि की अनुभवातीत समस्या में अपेक्षित है।

अब, क्योंकि इन समस्याओं का समाधान अनुभव में कदापि प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, अतएव आप यह नहीं कह सकते कि यह बात अनिश्चित है कि विषय के संबंध में क्या विधान किया जाए। क्योंकि आपका विषय तो केवल आपके मस्तिष्क में है और उसके बाहर दिया हुआ नहीं हो सकता, अतः आपको केवल इस विषय में सावधानी बरतनी है कि आप अपने साथ एकमत हों, और उस वाक्छल (या दुविधा) से अपने को बचाएँ जो आपके भाव को किसी अनुभव में प्रदत्त विषय की कल्पित प्रत्युपस्थापना के रूप में बदल देती है और जो (प्रत्युपस्थापना) इस प्रकार अनुभव के नियमों के अनुसार जाने जाने के योग्य है। इस प्रकार अयौक्तिक हल न केवल अनिश्चित ही है, प्रत्युत असंभव भी है। किन्तु मीमांसात्मक समाधान, जो पूर्णतया परिनिश्चत हो सकता है, प्रश्न पर वैषयिकतया बिल्कुल विचार नहीं करता, प्रत्युत ज्ञान के उस मूलाधार के संबंध में इसका विचार करता है जिसपर यह प्रश्न आधारित है।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

पंचम खण्ड

चार अनुभवातीत भावों या विचारों में विश्वरचना के प्रश्न की संदेहवादी प्रत्युपस्थापना

हम स्वेच्छा से स्वयं ही इस माँग से विरत हो जाएँगे कि हमारे प्रश्नों का उत्तर

अयौक्तिकतया दिया जाए, यदि आरंभ से ही हमने यह समझ लिया कि वह अयौक्तिक उत्तर चाहे जैसा क्यों न हो केवल हमारे अज्ञान को ही बढ़ाएगा, हमको एक अचिन्त्यता से (निकाल कर) दूसरी में पटक देगा, एक अस्पष्टता से दूसरी अधिक गहरी अस्पष्टता में धकेल देगा और स्यात् विसंवादिताओं तक में डाल देगा। यदि हमारा प्रश्न 'हाँ' अथवा 'न' शब्द में मिलने वाले उत्तर की दिशा में जा रहा हो तब तो यह बुद्धिमत्ता की बात प्रतीत होगी कि आरंभ में उत्तर के संभाव्य आधारभूत हेतुओं की ओर ध्यान ही न दिया जाए, प्रत्युत सब से पहले इस बात को विचार में लाया जाए कि यदि उत्तर 'हाँ' में हो तो क्या लाभ होगा और यदि इसके विपरीत हुआ तो क्या लाभ होगा। तब यदि हमको यह पता चले कि परिणाम दोनों ही अवस्थाओं में निरर्थक है, तब तो यह स्वयं अपने प्रश्न का ही समालोचनात्मक परीक्षण करने के लिये एक सहेतुक आमंत्रण होगा जिससे यह देखा जा सके कि कहीं हमारा यह प्रश्न ही तो स्वयं निराधार पूर्वकल्पनाओं पर आश्रित नहीं है तथा जो एक ऐसे भाव या विचार के साथ खिल-वाड़ करता है जिसकी असत्यता उसकी अपनी पृथक् प्रत्युपस्थापना की अपेक्षा उसके प्रयोग में अथवा परिणाम के द्वारा अधिक अच्छे प्रकार से अपने को विवृत कर देगी। उन प्रश्नों के प्रतिपादन के संबंध में जो शुद्ध बुद्धि शुद्ध बुद्धि के समक्ष उठाती है, संदेहवादी प्रक्रिया की यही सबसे बड़ी उपयोगिता है, (और) जिसके द्वारा, थोड़े से व्यय से, अयौक्तिकता के मरुस्थल से छुटकारा पाया जा सकता है, जिससे इसके स्थान पर धीर-गंभीर समालोचना को स्थापित किया जा सके, जो एक सच्चे विरेचक के रूप में सौभाग्य से समस्त मायिक छल और उसके परिणाम कल्पित सर्वज्ञता को दूर कर देगी।

अतएव यदि विश्वरचना संबंधी विचार के विवेचन में मैं पहले से ही यह समझ सकूँ कि अप्रतिबद्ध (अन्कंडीशन्ड) की ओर अवभासों का प्रतिगत्यात्मक संश्लेषण चाहे कोई सी भी दिशा को क्यों न ग्रहण करे, तो भी बोधवृत्ति के किसी भी संबोध के लिये वह या तो अत्यधिक बड़ा होगा अथवा बहुत ही छोटा, इस प्रकार मैं समझ सकूँगा कि क्योंकि उस विचार का वास्ता अनुभव के केवल एक ऐसे विषय के साथ होगा जिसको बोधवृत्ति के संभाव्य संबोध के साथ समनुरूप होना पड़ेगा, (अतएव) वह अवश्यमेव पूर्णतया रीता और निरर्थक होगा; क्योंकि चाहे मैं उसको किसी भी प्रकार साधने का प्रयत्न क्यों न करूँ, उसका विषय उसके साथ समनुरूप नहीं हो सकेगा। और वास्तव में विश्व (की रचना) संबंधी सभी संबोधों के प्रसंग में इसी प्रकार की स्थिति होती है, और इसीलिये जब तक बुद्धि उनके साथ सम्पृक्त रहती है, अपरिहार्य विरोध में फँसी रहती है। क्योंकि मान लीजिए——

प्रथम, कि दुनियाँ का आरंभ नहीं है, तो यह आपके संबोध के अत्यधिक बड़ी होगी, क्योंकि यह संबोध जो अनुक्रमिक प्रतिगतिरूप है समस्त अतीत अनन्तता (या अनादिता) तक कदापि नहीं पहुँच सकता। अथवा मान लो कि विश्व का आरंभ है, तो फिर अनिवार्य अनुभवात्मक प्रतिगति में यह बोधवृत्ति के संबोध के लिये यह दुनिया बहुत ही छोटी होगी। क्योंकि आरंभ तब भी तो एक ऐसे काल की पूर्वकल्पना प्रस्तुत करता है जो आरंभ का पूर्वगामी है, इसलिये वह (आरंभ) अप्रतिबद्ध तब भी नहीं है, और इसलिये बोधवृत्ति के अनुभवात्मक विनियोग का नियम आपको इससे भी उच्चतर कालप्रतिबन्ध के संबंध में पूछताछ करने के लिये विवश कर देता है, और इस प्रकार विश्व इस नियम के लिये स्पष्ट ही बहुत छोटा है।

यही बात आकाश (अथवा अवकाश) में जगत् के विस्तार से संबंध रखने वाले प्रश्न के दोहरे उत्तर के विषय में भी ठीक है। क्योंकि यदि (विस्तार) अनन्त और असीम हो तो यह किसी भी संभाव्य अनुभवात्मक संबोध के लिए बहुत बड़ा होगा। यदि यह अन्तवान् और सीमित हो तो आपको यह पूछने का पूरा अधिकार है कि इन सीमाओं को कौन (या क्या) निर्धारित करता है। शून्याकाश तो वस्तुओं का आत्म-स्थित प्रतिसंबंधी है नहीं, और इसलिये वह ऐसी शर्त नहीं हो सकता जिसपर आप ठहर सकें, और इससे भी कहीं कम वह एक ऐसी अनुभवात्मक शर्त हो सकती है जो किसी संभाव्य अनुभव का अंश घटिक कर सके। क्योंकि नितान्त शून्य का अनुभव किसी को कैसे हो सकता है? परन्तु किसी अनुभवात्मक संश्लेषण में ऐकान्तिक समग्रता को उपलब्ध करने के लिये यह बात सर्वदा अपेक्षित है कि अप्रतिबद्ध एक अनु-भवात्मक संबोध हो। परिणामतः सीमित जगत् हमारे संबोध के लिये बहुत ही छोटी है।

दूसरे, यदि देश में स्थित प्रत्येक अवभास (भौतिक द्रव्य) असंख्य भागों से मिलकर संघटित हुआ हो तो विभाजन का परावर्त्तन सर्वदा आपके संबोध के लिये बहुत ही बड़ा होगा, और यदि देश का विभाजन उसके किसी एक अंग (सरल अमिश्र) पर रुक जाने को हो तो यह अप्रतिबद्ध के विचार के लिये अत्यधिक छोटा होगा। क्योंकि वह अंग अपने में अन्तर्विष्ट और बहुत से भागों के प्रति परावर्तन को सर्वदा अंगीकार किया करता है।

तीसरे, यदि आप यह मानें कि उन सब घटनाओं में जो संसार में घटित होती हैं कुछ भी ऐसा नहीं होता जो प्रकृति के नियमों के अनुसार घटित न होता हो तो फिर कारण की कारणता सर्वदा कुछ ऐसी वस्तु होगी जो घटित हुआ करती है तथा

जो उच्चतर कारण की ओर परावर्तन को अनिवार्य वना देती है और इस प्रकार प्रतिबन्धों की शृंखला की सततता को भी पूर्व से पूर्वतर की ओर अनन्ततया तक आवश्यक कर देती है। इसलिये क्रियाशील प्रकृतिमात्र, जागतिक घटनाओं के संश्लेषण में किसी भी संबोध के लिये अत्यधिक बड़ी है।

और यदि, तुम यदा कदा स्वतः संभूत घटनाओं को स्वीकार करो और इसी हेतु स्वतंत्रता से उत्पादन या प्रजनन को मान लो, तो भी प्रकृति के एक अपरिहार्य नियम के अनुसार (प्रश्नात्मक) क्यों तुम्हारे पीछे पड़ा ही रहेगा, और तुम अनुभव के कार्यकारण भाव के नियम के अनुसार उस विन्दु के परे जाने के लिये विवश कर दिये जाओगे और तब तुमको पता चलेगा कि इस प्रकार की संयोजनों की कोई भी समग्रता तुम्हारे अनिवार्य अनुभवात्मक संबोध की दृष्टि से बहुत ही छोटी है।

चौथे, यदि आप किसी एक नितान्त अनिवार्य सत्तत्व को (चाहे तो वह स्वयं जगत् हो, अथवा जगत् के अन्तर्गत कुछ वस्तु हो, अथवा जगत् का कारण हो) स्वीकार करें, तो आप इसको किसी भी दिये हुए काल विन्दु से अनन्त काल की दूरी पर स्थापित करें; क्योंकि अन्यथा तो यह किसी अन्य और पूर्ववर्ती सत्ता पर निर्भर होगा। परन्तु ऐसी अवस्था में इस प्रकार का अस्तित्व आपके अनुभवात्मक संबोध के लिये अत्यधिक बड़ा होगा, एवं किसी भी परावर्तन के द्वारा, चाहे उसको कितनी ही दूर तक क्यों न खींचा जाए, अनधिगम्य होगा।

परन्तु यदि आपके मत में संसार से संबंध रखने वाली समस्त वस्तुएँ (चाहे तो वह प्रतिबद्ध रूप हों, और चाहे प्रतिबन्ध रूप) संभाव्यमात्र हों, तो ऐसी दशा में प्रत्येक दिया हुआ अस्तित्व आपके संबोध के लिये बहुत छोटा होगा। क्योंकि वह आपको सर्वदा एक अन्य अस्तित्व की ओर जिसके ऊपर वह स्वयं निर्भर है देखने के लिये बाधित करता है।

हमने कहा है कि इन सब प्रसंगों में विश्व की रचना का विचार अनुभवात्मक परावर्तन के लिये या तो बहुत ही अधिक बड़ा है अथवा बहुत ही छोटा है और इस-लिये बोधवृत्ति के प्रत्येक संभाव्य संबोध के लिये भी ऐसा ही है। परन्तु हमने अपने को इसके प्रतिकूल व्यक्त क्यों नहीं किया, और यह क्यों नहीं कहा कि प्रथम प्रसंग में अनुभवात्मक संबोध (विश्वरचना) के विचार के लिये बहुत ही छोटा, किन्तु दूसरे प्रसंग में अत्यधिक बड़ा है, और इसलिये अपराध अनुभवात्मक परावर्तन का है और उस विश्वरचना संबंधी विचार का नहीं है, जिसपर हम अब तक यह दोष आरोपित करते रहे हैं कि वह अपने लक्ष्य अर्थात् संभाव्य अनुभव से, आधिक्य या लघुत्व के कारण भटकता (पथभ्रष्ट होता) रहा है? इसका हेतु यह था। संभाव्य अनुभव ही वह तत्व

है जो अकेला ही हमारे संबोधों को वास्तविकता प्रदान कर सकता है, उसके अभाव में संबोध केवलमात्र रह जाता है जिसमें सत्य का अभाव होता है , और किसी विषय की ओर संकेत का भी अभाव होता है । इसलिये संभाव्य अनुभवात्मक संबोध ही वह मानदण्ड है जिसके अनुसार भाव का निर्णय किया जाना चाहिये कि वह केवल भावमात्र और विचारगत सत्ता है या जगत् में उसका विषय मिलता है । क्योंकि किसी वस्तु के संबंध में यह तभी कहा जा सकता है कि वह तुलनात्मकतया किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा अत्यधिक बड़ी या बहुत ही छोटी है जब कि प्रथम वस्तु द्वितीय वस्तु के लिये अपेक्षित होती है, और उसके प्रति अनुकूलित की जानी चाहिये । प्राचीन आन्वीक्षिक्यात्मक प्रस्थानों के खिलवाड़ों में निम्नलिखित प्रश्न भी सम्मिलित था कि यदि कोई गेंद एक छिद्र में प्रविष्ट न हो सके तो क्या कहा जाए——गेंद बहुत बड़ी है अथवा सूराख़ बहुत छोटा है ? ऐसे अवसर पर यह बात एक समान महत्व की है कि आप अपने विचार को किस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं, क्योंकि आप यह नहीं जानते कि दोनों वस्तुओं में कौनसी वस्तु दूसरी के लिये अपेक्षित है । इसके विपरीत, किसी मनुष्य और उसके कोट के प्रसंग में आप यह नहीं कहेंगे कि वह मनुष्य कोट की अपेक्षा बहुत बड़ा है, प्रत्युत यही कहेंगे कि कोट उस मनुष्य के लिये बहुत ही छोटा है ।

इस प्रकार कम से कम हम सु-आधारित शंका पर जा पहुँचे हैं कि विश्वरचना संबंधी भाव या विचार, और उनके साथ ही साथ समस्त परस्पर विसंवादी यौक्तिकाभासी दावे, स्यात् उस प्रकार (जिसमें इन भावों या विचारों का विषय हमको संप्राप्त हुआ है) बिलकुल रीते तथा मात्र काल्पनिक संबोध पर आश्रित हो सकते हैं; और यह संदेह हमको उस मायिक छल को, जिसने हमको उतने सुदीर्घ काल से पथभ्रष्ट कर रखा है, उद्घाटित करने के मार्ग पर लाकर खड़ा कर दे सकता है ।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

षष्ठ खंड

अनुभवातीत विज्ञानवाद

विश्वरचना संबंधी द्वन्द्वात्मक आन्वीक्षिकी की समस्या के समाधान की कुंजी के रूप में

अनुभवातीत संवेदनशास्त्र में हमने यह बात पर्याप्तरूपेण सिद्ध कर दी है कि देश अथवा काल के अन्तर्गत जो कुछ भी प्रत्यक्षानुभूत होता है, और इसी लिये हमारे

लिये संभव किसी भी अनुभव के समस्त विषय, अवभासों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात् केवल (ऐसी) प्रत्युपस्थापनाएँमात्र हैं जो, जिस ढंग से वे प्रत्युपस्थापित होती हैं, उसके अनुसार विस्तारवाली सत्ताओं के रूप में अथवा परिवर्तनों की मालिका के रूप में, हमारे विचारों के बाहर कोई स्वाधीन आत्माश्रित अस्तित्व नहीं रखतीं। मैं इस सिद्धान्त-प्रस्थान को अनुभवातीत विज्ञानवाद का नाम देता हूँ। [कां.] यथार्थवादी, (अनुभवातीत अर्थ में) हमारी चेतना के इन विकारों को आत्माश्रित स्वतंत्र वस्तुओं के रूप में देखता है, और इसलिये केवल प्रत्युपस्थापनाओं को स्वरूपतः सत् वस्तुओं में बदल देता है।

यदि इतने दीर्घकाल से तिरस्कृत अनुभवात्मक विज्ञानवाद का हम पर आरोप किया जाए तो यह हमारे प्रति अन्याय करना होगा, उस विज्ञानवाद का आरोप जो देश की स्वतंत्र वास्तविक सत्ता को तो स्वीकार करता है, (किन्तु) उस देश के अन्तर्गत विस्तृत (या वितत) वस्तुओं के अस्तित्व का प्रत्याख्यान करता है, अथवा कम से कम उनके अस्तित्व को सन्दिग्ध मानता है, और इसलिये इस दृष्टि से स्वप्न और सत्य के बीच में किसी पर्याप्ततया उपपाद्य अन्तर को स्वीकार नहीं करता। जहाँ तक काल के अन्तर्गत अन्तरिन्द्रिय द्वारा (अनुभूत) अवभासों का संबंध है, यह अनुभवात्मक विज्ञानवाद उनको यथार्थ वस्तुएँ मानने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं करता, सच तो यह है कि इस संबंध में तो इसका दावा यहाँ तक है कि यह आन्तरिक अनुभूति ही अपने (स्वरूपतः सत्—समस्त कालगत निर्धारणाओं के साथ) विषय की यथार्थ सत्ता की एकमात्र और पर्याप्त उपपत्ति है।

इसके विपरीत हमारा अनुभवातीत विज्ञानवाद इस बात को स्वीकार करता है कि बाह्य प्रत्यक्षानुभव के विषय, ठीक उस रूप में जिसमें कि उनका अनुभव किया जाता है, वास्तविक होते हैं, और इसी प्रकार काल के अन्तर्गत घटित होने वाले सब परिवर्तन भी, (जैसे कि वे आन्तरिक इन्द्रिय के द्वारा प्रत्युपस्थापित किये जाते हैं) वास्तविक होते हैं। क्योंकि देश स्वयं उस प्रत्यक्षानुभव का आकार है जिसको हम बाह्य प्रत्यक्षानुभव कहते हैं, और उस देश के अन्तर्गत विषयों (की सत्ता) के बिना कोई

कां. मैं ने इस विज्ञानवाद को सामान्य विज्ञानवाद से पृथक् करने के लिये, जो स्वयं बाह्य वस्तुओं की सत्ता पर ही सन्देह करता है अथवा उनकी सत्ता का प्रत्याख्यान करता है, औपचारिक विज्ञानवाद का नाम दिया है। कुछ अवस्थाओं में भ्रान्ति की रोक के लिये उपर्युक्त पारिभाषिक शब्दों की अपेक्षा इन शब्दों का व्यवहार अधिक उचित है।

भी अनुभवात्मक प्रत्युपस्थापना दी हुई नहीं हो सकती, अतएव हम देश के अन्तर्गत विस्तीर्ण सत्ताओं को वास्तविक मान सकते हैं और हमको ऐसा मानना चाहिये भी अवश्य, और ठीक यही बात काल के संबंध में भी लागू होती है। पर इस काल के सहित यह देश, और इन दोनों के साथ ही साथ समस्त अवभास भी स्वयं अपने आप में कोई भी वस्तु नहीं हैं, प्रत्युत वे प्रत्युपस्थापनाओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं, तथा वे हमारे मन के बाहर कोई अस्तित्व नहीं रख सकते, और (चेतना के विषय के रूप में) स्वयं हमारे मन तक का आन्तरिक और ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव, जिसकी निर्धारणा, विभिन्न अवस्थाओं के अनुक्रमानुसार काल के अन्तर्गत प्रत्युपस्थापित होती है, वह सच्चा आत्मतत्व नहीं होता, जैसा कि वह स्वतः अपने असली रूप में होता है, अर्थात् वह अनुभवातीत विषयी नहीं होता, प्रत्युत हमको अज्ञात इस सत्ता की इन्द्रियसंवेद्यता को दिया हुआ एक अवभासमात्र होता है। इस आन्तरिक अवभास की सत्ता को इस प्रकार स्वतः सत्तावान् वस्तु के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका प्रतिबन्ध या शर्त है काल जो कि किसी भी अपने आपमें स्वतंत्रतया स्थित वस्तु निर्धारित नहीं हो सकता। पर अवभासों की अनुभवगत सत्यता देश में और काल में पर्याप्तरूपेण सुरक्षित रहती है, और स्वप्नों के साथ संबंध से समुचित प्रकार से पृथक्कृत हो जाती है, बशर्ते कि (स्वप्न और यथार्थ अवभास) दोनों ही ठीक प्रकार से और पूर्णतया एक ही अनुभव में आनुभविक नियमों के अनुसार संपृक्त हों।

इसलिये अनुभव के विषय सत् रूप में कदापि भी उपलब्ध नहीं होते, प्रत्युत केवल अनुभव में ही दिए हुए होते हैं और उसके बाहर उनकी सत्ता नाम को भी नहीं होती। यह बात, कि चन्द्रलोक में निवास करने वाले हो सकते हैं, यद्यपि किसी मनुष्य ने उनको नहीं देखा है, निश्चयमेव स्वीकार की जानी चाहिए, परन्तु इसका आशय केवल इतना ही होता है कि अनुभव की संभाव्य प्रगति में हमारी उनके साथ भेंट हो सकती है; क्योंकि ऐसी प्रत्येक वस्तु जो कि आनुभविक प्रगति के नियमों के अनुसार प्रत्यक्ष के किसी संदर्भ में संबद्ध स्थित हो। इसलिये, यदि वे मेरी यथार्थ (सक्रिय) चेतना के साथ आनुभविक संयोजन में संबद्ध हैं तो वे वास्तविक हैं, यद्यपि इसी कारण में अपने आप में यथार्थ नहीं हैं, अर्थात् अनुभव उस उपर्युक्त प्रगति के बाहर वास्तविक नहीं है।

वास्तव में हमको प्रत्यक्ष और इस प्रत्यक्ष से अन्य संभाव्य प्रत्यक्षों के प्रति प्रगति के अतिरिक्त और कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि केवलमात्र प्रत्युपस्थापना के रूप में तो अवभास अपने आप से केवल प्रत्यक्ष में ही वास्तविक होते हैं, जो (प्रत्यक्ष)

वास्तव में किसी आनुभविक प्रत्युपस्थापना की वास्तविकता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, अर्थात् अवभास है। प्रत्यक्ष के पूर्व किसी अवभास को यथार्थ वस्तु कहने का आशय या तो यह होता है कि अनुभव की प्रगति में हमारी ऐसे प्रत्यक्ष से अवश्य भेंट होगी, अथवा कुछ भी आशय नहीं होता। क्योंकि यदि किसी स्वरूपतः सत् वस्तु का प्रसंग हो तो यह बात निश्चय ही कही जा सकती है कि वह हमारी इन्द्रियों और संभाव्य अनुभव के साथ बिना किसी संबंध के स्वयं अपने आप स्वतंत्रतया सत् हो सकती है। परन्तु यहाँ तो हम केवल देश और काल के अन्तर्गत एक अवभास की बात कर रहे हैं, उन देश और काल के अन्तर्गत जो स्वयं वस्तुओं की निर्धारणाएँ नहीं हैं प्रत्युत हमारी संवेद्यता की निर्धारणाएँ हैं; इसलिये जो कुछ देश और काल में है वह अवभास है स्वयं अपने आप में कुछ नहीं है। वह केवल प्रत्युपस्थापनाएँमात्र हैं, जो यदि हम में (अर्थात् हमारे प्रत्यक्ष में) दी हुई न हों तो, अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकतीं।

ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव की वृत्ति वास्तव में एक प्रकार की ग्रहणशीलता है, प्रत्युपस्थापनाओं के द्वारा एक विशिष्ट प्रकार से प्रभावित होने की क्षमता है, जिन प्रत्युपस्थापनाओं का पारस्परिक संबंध देश का और काल का शुद्ध प्रत्यक्षानुभव है, (जो हमारी संवेद्यता के आकारमात्र हैं) तथा जो (प्रत्युपस्थापनाएँ), जहाँ तक कि वे इस प्रकार (देश और काल के) संबंध में अनुभव की एकता के नियम के अनुसार बँधे हुए और निर्धार्य होते हैं, विषय कहलाते हैं। इन प्रत्युपस्थापनाओं का अनिन्द्रिय कारण हमको पूर्णतया अज्ञात है, और इसलिये हम उसका विषय के रूप में प्रत्यक्षानुभव नहीं कर सकते, क्योंकि इस प्रकार के विषय को न तो देश में और न काल में (क्योंकि यह दोनों तो ऐन्द्रिय प्रत्युपस्थापना की शर्तें हैं) दोनों में से किसी में भी प्रत्युपस्थापित नहीं करना होगा, और इस प्रकार की शर्तों के बिना हम किसी प्रत्यक्षानुभव की बात सोच ही नहीं सकते। तथापि हम अवभास सामान्य के विशुद्ध बुद्धिगम्य कारण को अनुभवातीत विषय नाम दे सकते हैं, और ऐसा केवल इसलिये कि ग्रहणशीलता के रूप में इन्द्रियसंवेद्यता के समनुरूप (अथवा संप्रतिकक्ष) कुछ वस्तु प्राप्त हो सके। इस अनुभवातीत विषय के नाम हम अपने संभाव्य प्रत्यक्षों का समस्त विस्तार (या आभोग) और संयोजन लिख सकते हैं और कह सकते हैं कि यह समस्त संभाव्य अनुभव के पूर्व ही अपने असली स्वरूप में दिया हुआ है। परन्तु अवभास तो, उसके समनुरूप होते हुए भी अपने निजी स्वरूप में नहीं, प्रत्युत केवल इस अनुभव में ही दिये होते हैं, क्योंकि वे केवलमात्र प्रत्युपस्थापनाएँ होते हैं, जो प्रत्यक्ष के रूप में किसी वास्तविक विषय को केवल उसी सीमा तक सुनिर्दिष्ट कर सकते हैं जहाँ तक यह प्रत्यक्ष

अनुभव की एकता के नियम के अनुसार अन्य सबके साथ संबद्ध होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अतीत काल में यथार्थ वस्तुएँ अनुभव के अतीन्द्रिय विषय में दी हुई हैं; परन्तु वे मेरे लिये विषय, और अतीत काल में वास्तविक वहीं तक होते हैं जहाँ तक कि मैं अपने प्रति (चाहे तो इतिहास के मार्गप्रदर्शक सूत्र के द्वारा अथवा कारणों और कार्यों के पगचिन्हों के द्वारा) इस तथ्य को प्रत्युपस्थापित करूँ कि अनुभवात्मक नियमों के अनुसार संभाव्य प्रत्यक्षों की पश्चाद्गामी शृंखला, (अथवा) एक शब्द में संसार की गति, हमको, वर्त्तमान काल की शर्त के रूप में विगत काल की शृंखला की ओर ले जाती है जो (शृंखला) स्वयं अपने आप में यथार्थ होती प्रत्युपस्थापित नहीं की जा सकती प्रत्युत एक संभाव्य अनुभव के संदर्भ में ही वास्तविक जैसी प्रत्युपस्थापित की जा सकती है, अतः वे समस्त घटनाएँ जो मेरी सत्ता के पूर्ववर्ती स्मरणातिक्रान्त काल में घटित हो चुकी हैं, वर्तमान प्रत्यक्ष से आरंभ करके अनुभव की शृंखला को पीछे की ओर उन शर्तों तक विस्तृत करने की संभावना के अतिरिक्त और कुछ भी सूचित नहीं करतीं जो (शर्तें) काल की दृष्टि से इस प्रत्यक्ष को निर्धारित करती हैं।

इसलिये यदि मैं विद्यमान ऐन्द्रिय विषयों को अपने प्रति समग्र देश और काल में प्रत्युपस्थापित करता हूँ, तो मैं उनको उनमें अनुभव पूर्वस्थापित नहीं करता, प्रत्युत यह प्रत्युपस्थापना कि संभाव्य अनुभव के (अपनी निरपेक्षपरिपूर्णता में) विचार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । वह पदार्थ प्रत्युपस्थापना के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते, और अनुभव में ही उपलब्ध होते हैं। पर यह जो कहा जाता है कि वे मेरे समस्त अनुभव के पूर्व से विद्यमान है, तो इसका आशय केवल इतना होता है कि वे अनुभव के उस भाग में प्राप्तव्य होंगे (अथवा हैं) जिसकी ओर प्रत्यक्ष की ओर से उठ कर मुझे पहले आगे बढ़ना पड़ेगा। इस प्रगति की अनुभवात्मक शर्तों का कारण (और इसी लिये इस बात का भी कारण कि इस पश्चगति में मैं किन अवयवों को अथवा यह भी कि ऐसों को कहाँ तक मिल सकूँगा) अनुभवातीत है, अतएव मुझको अनिवार्यतया अज्ञात है। पर इससे हमारा कुछ वास्ता भी नहीं है, प्रत्युत हमारा वास्ता तो केवल उस अनुभव के अन्तर्गत प्रगति के नियम से है जिसमें विषय यानी अवभास मुझको उपलब्ध होते हैं । अन्ततोगत्वा इन दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं कि चाहे तो मैं यह कहूँ कि देश (या आकाश) के अन्तर्गत प्रगति करते हुए मैं ऐसे तारों तक पहुँच सकता हूँ जो उन तारों की अपेक्षा जो मेरे द्वारा इस समय देखे जा रहे हैं उनमें से दूरतम से भी सौगुणी दूरी पर स्थित हैं, अथवा यह कहूँ कि स्यात् वे (तारे) चाहे किसी मनुष्य ने उनको कभी न देखा हो अथवा चाहे कोई कभी उनको

देख भी न सके, तथापि विश्व के विराट् अवकाश में मिलने अवश्य चाहियें; क्योंकि यदि वे किसी संभाव्य अनुभव से कोई संबंध न रखते हुए स्वरूपतः सत् वस्तुओं के रूप में दिए हुए होते तो भी वह मेरे लिये कुछ भी नहीं होते, और इसलिये जहाँ तक इस बात का संबंध है कि वे अनुभवाश्रित पश्चाद्गामी शृंखला में अन्तर्विष्ट हैं, इसको छोड़ इसके अतिरिक्त वे कोई विषय भी नहीं होते। जब यही अवभास किसी आत्यन्तिक पूर्णावयवी के सृष्टि संबंधी भाव के लिये प्रयोग में लाने पड़ेंगे, और इसीलिये जब हम को एक ऐसे प्रश्न का विचार करना होगा जो संभाव्य अनुभव की सीमा का अतिक्रमण करने वाला है, केवल (तभी) एक दूसरे प्रकार के संबंध में उस प्रकार का विभेद, जिसके अनुसार हम इन ऐन्द्रिय विषयों की वास्तविकता को ग्रहण करते हैं, हमारी एक ऐसी भ्रान्ति से रक्षा करने के लिये, महत्वपूर्ण हो जाता है, जो (भ्रान्ति) यदि हम अपने अनुभवाश्रित संबोधों की ठीक व्याख्या नहीं करेंगे तो अवश्यमेव उत्पन्न होगी।

शुद्ध-बुद्धि का विरोध

सप्तम खंड

सृष्टि विषय संबंधिनी आत्मविसंवादिता का आलोचनात्मक हल

शुद्ध बुद्धि का विरोध निम्नलिखित द्वन्द्वात्मक युक्ति पर निर्भर है,––यदि प्रतिबद्ध दिया हुआ होता है, तो उसके समस्त प्रतिबन्धों (या शर्तों) की पूरी शृंखला भी दी हुई होती है; परन्तु इन्द्रियग्राह्य विषय बद्धरूप में दिये हुए होते हैं, परिणामतः इत्यादि। इस अनुमान के द्वारा (जिसका व्याप्त्यावयव इतना स्वाभाविक और स्वतः स्पष्ट प्रतीत होता है) इतने सृष्टिविज्ञान-संबंधी भावों को प्रस्तुत कर दिया गया है जितने (अवभासों के संश्लेषण में) किसी शृंखला को संघटित करने वाले प्रतिबंधों में भेद या अन्तर हुआ करते हैं, जो (भाव) इस शृंखलाओं की ऐकान्तिक समग्रता को आधारभूत तत्व मान कर चलते हैं और इसी कारण वे बुद्धि को अनिवार्यतया स्वयं अपने ही विरुद्ध खड़ा कर देते हैं। परन्तु इस विवेकपूर्णता का आभास रखने वाली युक्ति में निहित छल को उद्घाटित करने के पूर्व हमको उसमें अन्तर्विष्ट कुछ संबोधों को संशोधित और सुनिर्धारित करके अपने आपको इस कार्य के लिये तैयार करना पड़ेगा।

पहली बात तो यह है कि निम्नलिखित प्रस्थापना स्पष्ट और निःसन्दिग्धभाव

से निश्चित है कि यदि प्रतिबद्ध (अथवा समवस्थित) दिया हुआ है तो उसके द्वारा उसके समस्त प्रतिबन्धों की श्रृंखला में परावर्तन हमारे लिये एक समस्या के रूप में प्राप्त होता है; क्योंकि यह बात तो स्वयं प्रतिबद्ध के संबोध के साथ ही लगी हुई आती है कि इसके द्वारा किसी वस्तु की ओर प्रतिबन्ध के रूप में संकेत किया जाता है, और फिर यदि यह प्रतिबन्ध स्वयं प्रतिबद्ध हो तो किसी दूरतर प्रतिबन्ध की ओर (संकेत किया जाता है),और इसी प्रकार श्रृंखला की समस्त कड़ियों (या अवयवों) के संबंध में कहा जा सकता है। इस प्रकार यह प्रस्थापना वैश्लेषिक, एवं अनुभवातीत आलोचना के समस्त आतंक से ऊपर उठी हुई है। किसी संबोध के उस संबंध का जो स्वयं उस संबोध के साथ पहले से ही आबद्ध है, उसके प्रतिबंधों के साथ बोधवृत्ति के द्वारा अनुसरण करना और जहाँ तक संभव हो उसको विस्तृत करना बुद्धि की आधारभूत यौक्तिक मान्यता है ।

इसके आगे यह भी स्पष्ट है कि यदि प्रतिबद्ध और उसके साथ ही साथ उसका प्रतिबंध दोनों ही स्वरूपतः सत् वस्तुएँ हों तो यदि इनमें प्रथम दिया हुआ होगा तो दूसरे के प्रति परावर्तन केवल समस्या के रूप में दिया हुआ नहीं होगा, प्रत्युत उसके साथ में पहले से वास्तव में दिया हुआ होगा, और क्योंकि यह बात श्रृंखला के समस्त अवयवों या कड़ियों के विषय में लागू होती है (अतएव प्रतिबंधों की समग्र श्रृंखला और) उसके साथ अप्रतिबद्ध भी दिया होता है, अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि क्योंकि प्रतिबद्ध दिया हुआ है, जो पूर्ण श्रृंखला के द्वारा हो संभव है, (प्रतिबन्धों की समग्र श्रृंखला और अप्रतिबद्ध को) पूर्वतः मान लिया जाता है। यहाँ प्रतिबद्ध का अपने प्रतिबन्ध के साथ जो संश्लेषण है वह केवल बोधवृत्ति का संश्लेषण है, जो वस्तुओं को वैसा प्रत्युपस्थापित करता है जैसी वे हैं, इस बात का विचार नहीं करता कि हम उनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं या नहीं और कर सकते तो कैसे कर सकते हैं । इसके विपरीत यदि मेरा वास्ता अवभासों से हो, जो, यदि मैं उनका ज्ञान प्राप्त न करूँ (अर्थात् स्वयं उनको प्राप्त न करूँ, क्योंकि वे आनुभविक प्रकार के ज्ञानों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं) केवल अवभासों के रूप में बिलकुल भी भी दिए हुए नहीं होते, तो मैं उसी आशय या अर्थ में यह नहीं कह सकता कि यदि प्रतिबद्ध दिया हुआ है, तो (अवभासों के रूप में) इसके समग्र प्रतिबन्ध भी इसी प्रकार दिये हुए हैं, और इसलिये उसके प्रतिबन्धों (या शर्तों) की आत्यन्तिकी समग्रता का किसी उपाय (या प्रकार) से अनुमान नहीं कर सकता। क्योंकि अवभास स्वयं अपने अवबोध में (देश और काल के अन्तर्गत) आनुभविक संश्लेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं और इसलिये केवल इसी संश्लेषण में दिये हुए होते हैं।

इससे यह निष्कर्ष बिलकुल नहीं निकलता कि यदि प्रतिबद्ध (अवभास के क्षेत्र में) दिया हुआ है, तो वह संश्लेषण भी जो उसके आनुभविक प्रतिबंध को संघटित करता है, उसके साथ दिया हो और पूर्वकल्पित हो, प्रत्युत यह तो परावर्तन में ही सर्वप्रथम घटित होता है, और उसके बिना इसकी सत्ता नहीं होती। पर ऐसी अवस्था में बस यही भले प्रकार कहा जा सकता है कि प्रतिबन्धों की ओर परावर्तन अर्थात् उस दिशा में सतत चालू आनुभविक संश्लेषण आदिष्ट होता है अथवा समस्या के रूप में प्रस्तुत होता है, और उन प्रतिबन्धों का जो कि इस परावर्तन में दी हुई हैं कोई अभाव नहीं होता।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सृष्टि विज्ञान संबंधी अनुमान वाक्य का व्याप्त्यवयव प्रतिबद्ध को शुद्ध बौद्धिक प्रकार के अनुभवातीत अर्थ में ग्रहण करता है जब कि उपनय अवयव उसको केवल अवभासों के प्रति प्रयुक्त होने वाले बोधवृत्ति के संबोध के ऐन्द्रिय अर्थ (या आशय) में ग्रहण करता है; परिणामतः इस (अनुमान में) वह दोष पाया जाता है जो भाषागत हेत्वाभास कहलाता है, पर यह प्रवञ्चना कृत्रिम नहीं प्रत्युत सामान्य बुद्धि के लिये नितान्त स्वाभाविक धोखा है। क्योंकि जब कोई वस्तु प्रतिबद्ध रूप में दी हुई होती है, तो इसी के द्वारा हम व्याप्त्यवयव में मानों बिना निरीक्षण किये ही, उसके प्रतिबंधों और उनकी श्रृंखला पूर्वतः मान लेते हैं, क्योंकि किसी दिए हुए निगमन (अथवा निष्कर्ष) के लिये पूर्ण या पर्याप्त अवयवों को स्वीकार करना यौक्तिकता की माँग से अधिक और कुछ नहीं है, और प्रतिबद्ध एवं प्रतिबंध के संबंध में किसी कालक्रम की ओर भी संकेत नहीं मिलता, वे तो दोनों ही उसके साथ ही साथ दिए हुए मान लिये जाते हैं। इसके आगे अवभासों को स्वरूपतः सत् वस्तुएँ मानना और इसके साथ ही साथ केवल बोधवृत्ति के प्रति दिये हुए विषयों के रूप में भी मानना ठीक उतना ही स्वाभाविक है जितना कि यह व्याप्त्यवयव के प्रसंग में था, जहाँ कि मैंने अवभासों की उन सब शर्तों की ओर, केवल जिनके अधीन विषय दिये हुए हो सकते हैं, अपकर्षण किया था कोई ध्यान नहीं दिया था किन्तु ऐसा करने में हमने संबोधों के मध्य में पाये जाने वाले एक महत्वपूर्ण भेद की अवहेलना कर दी थी। (व्याप्त्यवयव में) प्रतिबद्ध का उसके प्रतिबन्ध, एवं इस (प्रतिबन्ध) की समस्त श्रृंखला के साथ संश्लेषण अपने साथ काल के द्वारा परिसीमन को बिलकुल भी वहन नहीं करता और अनुक्रमिकता के किसी संबोध को भी नहीं लिये होता। इसके विपरीत, आनुभविक संश्लेषण, और अवभास में प्रतिबन्धों की श्रृंखला (जो उपनय अवयव में निर्विष्ट मान ली गई थी) अनिवार्यतया अनुक्रमिक होती है और उसकी कड़ियाँ काल के भीतर ही एक के पश्चात् अनुक्रम में दी

हुई होती हैं; परिणामतः मैं ने जैसे वहाँ पूर्वकल्पना कर ली थी उसी प्रकार यहाँ (उपनय में) संश्लेषण की आत्यन्तिक समग्रता तथा उस (संश्लेषण) के द्वारा प्रत्युपस्थापित शृंखला की आत्यन्तिक समग्रता को मान कर नहीं चल सकता, क्योंकि (व्याप्त्यवयव में) शृंखला की सब कड़ियाँ अपने आप (कालिक प्रतिबन्ध के बिना) दी हुई होती हैं, किन्तु यहाँ (उपनय में) वे केवल अनुक्रमिक परावर्तन के द्वारा ही संभव होती हैं, जो केवल इस कारण दी हुई होती है क्योंकि वह यथार्थ में निष्पा-दित हुआ करती है ।

उन युक्तियों में, जिनके ऊपर दोनों पक्ष एक समान रूप से अपने अपने सृष्टि-विज्ञान संबंधी दावों को आधारित कर रहे थे, इस प्रकार की गलती का छिपा होना दिखला देने के उपरान्त दोनों ही विवादी पक्षों को, जो कि अपनी माँग किसी आधार-भूत अधिकार पर आश्रित नहीं कर सके, औचित्य के साथ धता बतलाया जा सकता है। पर इतने से ही विवाद की समाप्ति तो नहीं हुई, (यह तो बस इतना हुआ कि) मानों उनको इस विषय में आश्वस्त कर दिया गया हो कि वे (दोनों) अथवा उन दोनों में एक उस विषय में जिसमें उन्होंने अपने दावे को प्रस्तुत किया था निष्कर्ष (अथवा निर्णय या अनुमान) में गलती पर थे, यद्यपि वे उसको यथोचित उपपत्ति के आधार पर निर्मित करने में ही असफल रहे थे। परन्तु इससे अधिक स्पष्टतर तो और कुछ भी नहीं हो सकता कि उन दो में से, जिनमें एक का कहना यह है कि सृष्टि का आरंभ है, और दूसरे का यह है कि सृष्टि का आरंभ नहीं है, प्रत्युत यह नित्य है (या सदा से है), एक तो अवश्य ही सही होगा। पर यदि ऐसी ही बात हो तो भी तो, क्योंकि उभय पक्ष की युक्तियों की स्पष्टता एक समान है, यह निर्णय करना असंभव है कि न्याय किसकी ओर है, और इस प्रकार यह विवाद पूर्ववत् चालू रहता है यद्यपि दोनों पक्ष बुद्धि के न्यायालय के समक्ष लताड़ के द्वारा शान्त रहने के लिये आदेश प्राप्त कर चुके हैं। अतएव इस विवाद को जड़-मूल से और दोनों पक्षों को सन्तोषप्रद प्रकार से समाप्त करने का इसके अतिरिक्त अन्य और कोई उपाय नहीं बचा है कि अन्ततः वे इस विषय में आश्वस्त हो जाएँ कि उनका परस्पर एक दूसरे का इतने सुन्दर प्रकार से खण्डन करना स्वयं ऐसा तथ्य हैजो यह सिद्ध करता है कि उनके विवाद का विषय कुछ नहीं है, एवं एक निश्चित अनुभवातीत भ्रांति ने जहाँ कोई वास्तविकता नहीं है वहाँ वास्तविकता (का आभास उत्पन्न कर) उनका परिहास किया है। इस किसी भी प्रकार से समाप्त न होने वाले विवाद के निर्णय के लिये अब इसी मार्ग का अनुसरण करेंगे ।

* * *

इलेया निवासी जैनो, जो कि बड़ा कुशाग्रबुद्धि तार्किक था प्लेटो (अफ़लातून) के द्वारा बड़ी कठोरता के साथ इसलिये फटकारा गया कि वह ऐसा कूटतार्किक था कि वह अपनी तर्कचातुरी प्रदर्शित करने के लिये अभी एक प्रस्थापना को विश्वासोत्पादक युक्तियों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा करेगा और तदुपरान्त शीघ्र ही उसी को उतनी ही प्रबल युक्तियों से खण्डित करने की चेष्टा करेगा । ईश्वर के संबन्ध में (जो स्यात् उसके लिये इस विश्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं था) उसका कहना था कि न वह सान्त है न अनन्त, न गतियुक्त है न स्थिर, न किसी अन्य वस्तु सदृश है न असदृश । उसके जो आलोचक इस विषय में उसकी आलोचना करते थे उनको ऐसा लगता था कि मानों वह दो परस्पर विसंवादी प्रस्थापनाओं का पूर्णतया निषेध करना चाहता था । पर मैं नहीं सोचता कि उसपर इस दोष को आरोपित करना उचित है । इन प्रस्थापनाओं में से प्रथम पर मैं अभी अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालूँगा । जहाँ तक शेष प्रस्थापनाओं का प्रश्न है, यदि ईश्वर से उसका आशय विश्व से था, तब तो निश्चय ही उसको यह कहना ही था कि न तो वह अपने स्थान पर स्थिरतया स्थिर है अर्थात् अचर है,और न अपना स्थान बदलता ही है,अर्थात् चर है; क्योंकि सभी स्थान तो विश्व में हैं, और इसलिये विश्व स्वयं किसी स्थान में नहीं है । यदि वे सब जो सत्तावान् हैं विश्व में अन्तर्निविष्ट हैं, (अथवा यदि विश्व समस्त सत्तावान वस्तुओं को अपने में धारण किये है) तो यह अन्य किसी वस्तु के सदृश अथवा असदृश नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बाहर तो कोई अन्य वस्तु है ही नहीं जिसके साथ इसकी तुलना की जा सके । जब दो परस्पर विरोधी विभावनाएँ किसी अग्राह्य (अथवा अवैध) प्रतिबन्ध को पूर्वकल्पित करती हों (अथवा अग्राह्य प्रतिबन्ध की पूर्व कल्पना पर आश्रित हों) तो वे अपने विरोध के होते हुए भी (जो कोई वास्तविक विसंवादिता नहीं होता) धराशायी हो जाती हैं, क्योंकि वह प्रतिबन्ध ही जिसके अधीन इन दो प्रस्थापनाओं में से किसी एक को प्रमाणित किया जा सकता था, स्वयं असिद्ध है ।

यदि कोई यह कहे कि प्रत्येक मूर्त संघात (या मूर्तवस्तु) या तो अच्छी गंध देता है या ऐसी गंध देता है जो अच्छी नहीं होती, तो एक तीसरी स्थिति संभव होती है कि उसमें किसी भी प्रकार की गंध न आती हो (अर्थात् वह बिलकुल भी न महकता हो) और इस प्रकार दोनों विरोधी प्रस्थापनाएँ वितथ हो सकती हैं । परन्तु यदि मैं यह कहूँ कि यह या तो सुगन्ध होता है अथवा अ-सुगंध होता है, तो यह दोनों विभावनाएँ परस्पर प्रत्यक्षतया विसंवादीभाव से विरोधिनी हैं और इनमें से केवल प्रथम ही

वितथ है, पर विसंवादितया उसकी विरोधिनी विभावना अर्थात् कुछ मूर्त संघात असुगंध होते हैं, अपने में उनको अन्तर्विष्ट किये रहती है जो बिलकुल भी गंध नहीं रखते। प्रथम विरोध में मूर्त संघात के संबोध का संभावित प्रतिबन्ध (अर्थात् गन्ध) विसंवादी विभावना में फिर भी अवशिष्ट रहा और उसके द्वारा दूर नहीं हुआ, अतएव दूसरी विभावना प्रथम विभावना की विसंवादी विभावना नहीं कही जा सकती।

इसलिये यदि मैं कहता हूँ कि संसार देश के अन्तर्गत या तो अनन्त है अथवा अनन्त नहीं है, तो यदि इनमें से प्रथम प्रस्थापना वितथ हो तो उसकी विसंवादितया विरोधिनी विभावना, 'संसार अनन्त नहीं है' अवश्यमेव तथ्य (= सत्य) होनी चाहिये। इस प्रकार मैं अनन्त संसार का ही निराकरण करूँगा, और ऐसा मैं उसके स्थान सान्त संसार का विधान किये बिना ही करूँगा। पर यदि मैंने यह कहा होता कि संसार या तो अनन्त है या सान्त (न-अनन्त) है, तो दोनों कथन असत्य हो सकते थे। क्योंकि उस दशा में तो मैं संसार को अपने वास्तविक रूप में आकार को परिच्छिन्न मानता होता, और विरोधी प्रस्थापना में न मैं केवल अनन्तता का निराकरण करता होता (और स्यात् उसके साथ उसके पृथक् अस्तित्व तक का निराकरण करता होता) प्रत्युत वास्तव में स्वरूपतः सत् माने हुए संसार के साथ एक निर्धारणा (या परिच्छिन्नता) को जोड़ता होता, जो कथन, (यदि संसार स्वरूपतः सत् वस्तु के रूप में बिलकुल भी दिया हुआ न हो, और इसलिये अपने परिमाण की दृष्टि से न अनन्त ही हो और न सान्त) उतना ही वितथ हो सकता है। मुझे अनुज्ञा मिलनी चाहिये कि मैं उस (प्रथम प्रकार के) विरोध को द्वन्द्वात्मक विरोध, और वास्तविक विसंवादिता के विरोध को विश्लेषणात्मक विरोध के नाम से अभिहित कर सकूँ। इस प्रकार दो द्वन्द्वात्मकतया विरोधी विभावनाओं में से दोनों ही वितथ हो सकती हैं, इसलिये क्योंकि उनमें एक दूसरी का केवल विसंवादितया निराकरण ही नहीं करती, प्रत्युत विसंवादिता के लिये जितना अपेक्षित है उससे कुछ अधिक कहती है।

यदि इन दो प्रस्थापनाओं को, कि (१) संसार (महत्व) परिमाण की दृष्टि से अनन्त है, (२) संसार परिमाण की दृष्टि से सान्त है, परस्पर विसंवादितया विरुद्ध माना जाए तो ऐसा यही मानकर चलने पर संभव है कि संसार (अर्थात् अवभासों की समग्र शृंखला) एक स्वरूपतः वस्तु है। क्योंकि मैं उसके अवभासों की शृंखला में से चाहे तो सान्त परावर्तन का निराकरण करूँ अथवा अनन्त परावर्तन का वह दोनों ही अवस्थाओं में (अवशिष्ट) बनी रहती है। पर यदि मैं इस मान्यता, अथवा इस अनुभवातीत भ्रान्ति को दूर कर दूँ, और इस बात को न मानूँ कि संसार

एक स्वरूपतः सत् वस्तु है तो दोनों दावों का यह विसंवादी विरोध केवलमात्र द्वन्द्वात्मक विरोध के रूप में बदल जाता है, और क्योंकि (मेरी प्रत्युपस्थापनाओं की परावर्तिनी शृंखला से मुक्त रूप में) संसार का स्वयं अपने आप में बिलकुल भी अस्तित्व नहीं है, अतएव वह अपने आप में न किसी अनन्त समग्रावयवी के रूप में सत्ता रखता है और न सान्त पूर्णावयवी के रूप में। यह तो केवल अवभासों की शृंखला के आनुभविक परावर्तन (रिग्रेसस्) में अपनी सत्ता रखता है और स्वतंत्रतया स्वरूपतः सत् रूप में इसकी उपलब्धि कहीं भी नहीं होती। इसलिये, यदि यह शृंखला सर्वदा प्रतिबद्ध हो और इसलिये कदापि पूर्णतया दी हुई न हो और इस प्रकार संसार कोई अप्रतिबद्ध पूर्णावयवी न हो तो वह अनन्त अथवा सान्त परिमाण वाले ऐसे पूर्णावयवी के रूप में सत्तावान् भी नहीं होगा।

जो बात यहाँ सृष्टिविज्ञान संबंधी प्रथम भाव अर्थात् अवभास में परिमाण की आत्यन्तिक समग्रता के विषय में कही गई है, वही अन्य शेष भावों के संबंध में भी लागू होती है। प्रतिबन्धों की शृंखला केवल परावर्ती संश्लेषण के अन्तर्गत ही उपलब्ध होती है. किन्तु समस्त परावर्तन के पूर्व अवभास के क्षेत्र में दी हुई स्वतः स्वतंत्रतया दी हुई वस्तु के रूप में नहीं। इसलिये मुझको यह भी कहना पड़ेगा कि किसी दिये हुए अवभास में भागों (अथवा खंडों) की संख्या स्वतः न तो सान्त होती है और न असीम या अनंत, क्योंकि अवभास कोई स्वयं स्वतंत्र सत्ता रखने वाली वस्तु नहीं है और इसके भाग सर्वप्रथम विघटित होते हुए संश्लेषण के परावर्तन में दिये हुए होते हैं, जो परावर्तन कभी भी सान्त अथवा अनन्तरूप में आत्यन्तिक परिपूर्णता में दिया हुआ नहीं होता। यही बात परस्पर एक दूसरे के ऊपर व्यवस्थित कारणों की शृंखला के विषय में अथवा उस शृंखला के विषय में भी लागू होती है जो प्रतिबद्ध अनिवार्य सत्ता की ओर से अप्रतिबद्ध अनिवार्य सत्ता की ओर जाती है, जो शृंखलाएँ अपनी पूर्णता में अपने आप में न तो सान्त ही मानी जा सकती हैं और न अनन्त, क्योंकि अधिक्रान्त प्रत्युपस्थापनाओं की शृंखला के रूप में वे केवल गत्यात्मक परावर्तन में ही संघटित होती हैं एवं जो इस परावर्तन के पूर्व अपने आप में स्वतः सत्ताक वस्तुओं की शृंखला के रूप में कोई सत्ता नहीं रख सकतीं।

इस प्रकार अपने सृष्टिविज्ञान संबंधी भावों के विषय में शुद्ध बुद्धि के विरोध का यह प्रदर्शित कर देने पर परिहार हो जाता है कि यह विरोध केवल द्वन्द्वात्मक है, और एक प्रातिभासिक कलह है जो आत्यन्तिक समग्रता के उस भाव को, जो स्वरूपतः सत् वस्तुओं के प्रतिबन्धमात्र के रूप में लागू होता है, (उन) अवभासों के प्रति प्रयुक्त करने से उत्पन्न होता है जो केवल प्रत्युपस्थापनाओं में अपनी सत्ता रखते हैं, और

इसलिये जहाँ तक वे एक शृंखला को संघटित करते हैं वहाँ तक अनुक्रमिक परावर्तन में ही सत्ता रखते हैं और अन्यथा जिनकी सत्ता बिलकुल ही नहीं होती। किन्तु इस विरोध में से एक सचमुच की, किन्तु, (अयौक्तिक मतवाद की निश्चय ही नहीं) फिर भी आलोचनात्मक एवं सैद्धान्तिक सुविधा प्राप्त कर सकता है, अर्थात् यह अप्रत्यक्षतया अवभासों की अनुभवातीत विज्ञानाश्रितता (अथवा आध्यात्मिकता) की उपपत्ति प्रदान करता है, जिस उपपत्ति को उस व्यक्ति को आश्वस्त कर देना चाहिये जिसको अनुभवातीत संवेदनशास्त्र में दी हुई प्रत्यक्ष उपपत्ति से सन्तोष प्राप्त न हुआ हो। यह उपपत्ति इस द्विधा अथवा उभयापत्ति के रूप में होगी। यदि संसार स्वतः-सत्ताक पूर्णावयवी है तो वह या तो सान्त या सीमित होगा अथवा अनन्त। पर इन दोनों प्रस्थापनाओं में पहली और दूसरी दोनों ही एक समान वितथ या असत्य हैं (जैसा कि एक ओर विपक्ष की और दूसरी पक्ष की पूर्वोक्त उपपत्तियों के द्वारा प्रदर्शित किया जा चुका है। इसलिये यह भी असत्य है कि संसार (समस्त अवभासों की राशि या योगफल के रूप में) स्वयं-सत्ताक पूर्णावयवी है। तब इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अवभास सामान्य हमारी प्रत्युपस्थापनाओं के बाहर कुछ भी नहीं हैं, जो ठीक वही बात है जो हम उनकी अनुभवातीत विज्ञानात्मकता के द्वारा कहना (या बतलाना) चाहते थे।

यह अवधेय-कथन कुछ महत्त्वपूर्ण है। इससे यह स्पष्ट दिखलाई देता है कि उपर्युक्त चार प्रकार के विरोध की उपपत्तियाँ केवलमात्र निराधार धोखा नहीं थीं प्रत्युत इस पूर्वकल्पित मान्यता के अधीन कि अवभास, अथवा ऐन्द्रिय जगत् जो उन सब अवभासों को इकट्ठे अपने भीतर धारण किये रहता है स्वरूपतः सत् वस्तुएँ हैं, साधार थीं। किन्तु इस से प्राप्त हुए निष्कर्षों का विवाद इस तथ्य को उद्घाटित करता है कि इस मान्यता में एक हेत्वाभास निहित है, और इसके द्वारा हमारे प्रति ऐन्द्रिय विषयों के रूप में वस्तुओं की सच्ची संघटना को अनावृत करता है। अतएव अनुभवातीत आन्वीक्षिकी किसी भी प्रकार सन्देहवाद की कोई सहायता नहीं करती परन्तु संदेहात्मक पद्धति की सहायता अवश्य करती है, जो अपनी महती उपयोगिता के उदाहरणस्वरूप इस (आन्वीक्षिकी) की ओर अंगुलि निर्देश कर सकती है; क्योंकि, यदि बुद्धि की युक्तियों को एक दूसरे के विरुद्ध अधिकतम स्वतंत्रता के साथ विवाद करने दिया जाता है तो, चाहे अन्त में इसका परिणाम वह न निकले जो प्रत्याशित था, तथापि वह सर्वदा ही बहुत कुछ उपयोगी और हमारी विभावनाओं के संशोधन के लिये उपकारक अवश्यमेव होगा।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

अष्टम खंड

सृष्टिविज्ञान संबंधी भावों के संबंध में शुद्ध बुद्धि का नियामक सिद्धान्त

क्योंकि समग्रता के सृष्टिविज्ञान संबंधी आधारभूत सिद्धान्त के द्वारा एन्द्रिय जगत् में प्रतिवन्धों की श्रृंखला का कोई महत्तम स्वरूपतः वस्तु के रूप में दिया हुआ नहीं होता प्रत्युत केवल उसी प्रतिबंधों की श्रृंखला के परावर्तन में अपेक्षित हो सकता है, अतएव शुद्ध बुद्धि का (पूर्व) विचारित आधारभूत सिद्धान्त, अपने ऐसे संशोधित अर्थ में अब भी अपनी सुप्रामाणिकता को बनाए रखता है—निश्चय ही ऐसे स्वयं-सिद्ध तत्व के रूप में नहीं जिसमें समग्रता को विषयगत यथार्थ के रूप में विचार किया जाए, प्रत्युत बोधवृत्ति के लिये एक समस्या के रूप में, और इसी लिये विषयी के लिये, भाव- (या विचार-) गत पूर्णता के अनुसार किसी दिए हुए प्रतिबद्ध के प्रतिबन्धों की श्रृंखला में परावर्तन को अंगीकार करने और चालू रखने के लिये, अपनी सुप्रामाणिकता को सुरक्षित रखता है। क्योंकि हमारी ऐंद्रिय-संवेदनशीलता में, अर्थात् देश और काल में, ऐसा प्रत्येक प्रतिबन्ध जिस तक हम दिए हुए अवभासों के विवरण में पहुँच सकते हैं, पुनः प्रतिबद्ध होता है; ऐसा इसलिये है कि अवभास ऐसे स्वरूपतः सत् विषय नहीं हैं, जिनमें आत्यन्तिक अप्रतिबद्ध की सत्ता संभव हो सके, प्रत्युत वे तो केवल आनुभविक प्रत्युपस्थापनाएँमात्र हैं, जिनको अपने उन प्रतिबन्धों को, जो उनको देश और काल की दृष्टि से निर्धारित (या परिच्छिन्न) करते हैं, सर्वदा प्रत्यक्षानुभव में पाना होगा। इस प्रकार बुद्धि का आधारभूत सिद्धान्त सम्यकतया एक नियममात्र है, जो किन्हीं दिये हुए अवभासों के प्रतिबन्धों की श्रृंखला में परावर्तन का आदेश करता है जिस (परावर्तन) को किसी ऐकान्तिक अप्रतिबद्ध वस्तु पर (अर्थात् किसी भी वस्तु को ऐकान्तिकतया अप्रतिबद्ध मान कर उस पर) ठहरने की अनुज्ञा नहीं है। अतएव यह कोई अनुभव की संभाव्यता और ऐन्द्रिय विषयों के आनुभविक ज्ञान का सिद्धान्त नहीं है एवं इसी कारण बोधवृत्ति का आधारभूत सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि (दिए हुए साक्षात् बोध के अनुसार) प्रत्येक अनुभव अपनी सीमा में आबद्ध होता है; (फिर) यह बुद्धि का संघटनात्मक सिद्धान्त (कॉन्स्टीटचूटिव प्रिन्सिप्) भी नहीं है, जो हमको अपने एन्द्रिय जगत् के संबोध को समस्त संभाव्य अनुभव के परे तक विस्तृत करने की क्षमता प्रदान करता हो, प्रत्युत यह अनुभव के अधिक से अधिक सातत्य और विस्तार का मूलभूत सिद्धान्त है, जिसके अनुसार कोई आनुभविक सीमा (या मर्यादा) चरम सीमा नहीं मानी जानी चाहिये, अतः यह बुद्धि का एक ऐसा

सिद्धान्त है जो हमको, नियम के रूप में पूर्वतः यह बतलाता है कि परावर्तन हमारे द्वारा क्या किया जाना चाहिये, पर इसका कोई पूर्वाभास नहीं देता कि कोई स्वरूपतः सत् विषय समग्र परावर्तन के पूर्व क्या है। इसीलिये मैं इसको बुद्धि के नियामक सिद्धान्त के नाम से अभिहित करता हूँ, जब कि इसके विपरीत, विषय में (अर्थात् अवभासों में) स्वतः दिये हुए प्रतिबन्धों की श्रृंखला की चरम समग्रता का सिद्धान्त सृष्टि विज्ञान-संबंधी एक संघटनात्मक सिद्धान्त होगा, जिसकी निरर्थकता को मैं ने इस विभेद के द्वारा प्रदर्शित करने और उसके द्वारा उस बात को (अर्थात् एक ऐसे भाव या विचार को जो केवल एक नियम का काम देता है, वैषयिक वास्तविकता से आवेष्टित किये जाने से) रोका है जो अन्यथा (अनुभवातीत प्रवञ्चना द्वारा) अपरिहार्यतया घटित हो जाती है ।

अब, शुद्ध बुद्धि के इस नियम के आशय को भले प्रकार निर्धारित करने के लिये, सर्वप्रथम तो इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि यह नियम हमको यह नहीं बतला सकता कि विषय क्या है, प्रत्युत (विषय के परिपूर्ण सम्बोध की प्राप्ति के लिये) केवल यह बतलाता है कि परावर्तन का प्रतिपादन किस प्रकार किया जाना चाहिये। क्योंकि यदि उपर्युक्त दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प घटित हो तो वह ऐसा संघटनात्मक सिद्धान्त होगा, जैसा कि शुद्ध बुद्धि से कभी भी निष्पन्न होना असंभव है। अतएव इस नियम के साथ यह कहने का उद्देश्य किसी प्रकार भी नहीं रखा जा सकता कि किसी दिए हुए प्रतिबद्ध के प्रतिबन्धों की श्रृंखला स्वतः सान्त (या सीमित) होगी अथवा अनन्त; क्योंकि ऐसा करने से तो आत्यन्तिक समग्रता के भावमात्र को, जो केवल अपने में ही (अर्थात् भावमात्र में) उत्पन्न हुआ है, एक विषय के रूप में विचारा जाएगा, जो किसी भी अनुभव में उपलब्ध नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार तो हम अवभासों की श्रृंखला पर आनुभविक संश्लेषण से स्वतंत्र वैषयिक यथार्थता का अरोप करेंगे । अतएव बुद्धि का यह भाव प्रतिबन्धों की श्रृंखला में प्रतीपगामी संश्लेषण के प्रति एक नियम का विधानमात्र कर सकता है, जिसके अनुसार वह (संश्लेषण) प्रतिबद्ध की ओर से आरंभ करके समस्त पारस्परिक अधीन प्रतिबन्धों में होते हुए अप्रतिबद्ध की ओर बढ़ता है, यद्यपि वह उस तक कभी भी नहीं पहुँचेगा। क्योंकि चरम अप्रतिबद्ध की उपलब्धि अनुभव में हो ही नहीं सकती ।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अब सर्वप्रथम किसी श्रृंखला के संश्लेषण को, जहाँ तक कि वह कदापि पूर्ण नहीं होता, ठीक ठीक शुद्ध प्रकार से निर्धारित करना आवश्यक है। इस प्रयोजन के लिये सामान्यतया दो परिभाषाएँ काम में लाई जाती हैं जो एक भेद को सूचित करने का उद्देश्य रखती हैं, यद्यपि वे भेद के मूलाधार को स्पष्टतया

निर्धारित नहीं कर पाती हैं। गणित विज्ञान केवल अनन्त प्रगमन की ही बात करता है। दूसरी ओर संबोधों का अनुसंधान करने वाल इसके स्थान पर "अनिश्चित प्रगमन" परिभाषा को ही स्वीकार करेंगे। जिन कारणों ने इस प्रकार के भेद को उपस्थित करने का परामर्श दिया है उनके परीक्षण तथा उसके उपयोगी अथवा अनुपयोगी विनियोग का विवेचन किये बिना, मैं इन संब्रोधों को अपने उद्देश्य की दृष्टि से ठीक ठीक प्रकार से निर्धारित करने का प्रयत्न करूँगा।

किसी सरल रेखा के विषय में यह बात औचित्य के साथ कही जा सकती है कि यह अनन्तता तक उत्पादित की जा सकती है, और इस प्रसंग में अनन्त प्रगति, और अनिर्धारिततया महान् प्रगति का भेद केवल बाल की खाल खींचना भर होगा। क्योंकि, यद्यपि, जब यह कहा जाता है कि एक रेखा खींचते चलो तो उसके पश्चात् "अनन्तया" जोड़ने की अपेक्षा 'अनिश्चिततया' जोड़ना अधिक अच्छा सुन पड़ता है, कारण कि प्रथम का आशय इससे अधिक और कुछ नहीं होता कि रेखा को उतनी दूर तक बनाओ जहाँ तक तुम चाहो, जब कि दूसरे का अर्थ होता है कि तुम्हें उसे बनाना कभी बन्द नहीं करना चाहिये (जो वास्तव में उद्दिष्ट बात नहीं हो सकती), तथापि, यदि केवल उसी की बात की जाए जो संभव है तो प्रथम कथन ही पूर्णतया सही मालूम देता है, क्योंकि आप उसको सर्वदा अनन्तया दीर्घ से दीर्घतर बना सकते हैं। और यही बात उन सभी प्रसंगों में भी लागू होती है जहाँ केवल प्रगमन अर्थात् प्रतिबन्ध से प्रतिबद्ध की ओर जाने की बात होती है; इस प्रकार की संभव प्रगति तो अवभासों की शृंखला में अनन्त तक चला करती है। एक दिये हुए माता पिता के जोड़े से अवतरित होती हुई प्रजनन की वंशावली अनन्ततया चालू रह सकती है, और आप पूर्णतया भले प्रकार से उसको संसार में इस प्रकार से वास्तव में प्रगति करते हुए विचार भी सकते हैं। ऐसा इसलिये है कि यहाँ बुद्धि शृंखला की चरम समग्रता की माँग कदापि नहीं करती, क्योंकि यह उस समग्रता को एक प्रतिबन्ध के रूप में और दिये हुए उपादान के रूप में पूर्वकल्पित नहीं करता, प्रत्युत केवल किसी प्रतिबद्ध के रूप में पूर्व कल्पित करता है उपलब्ध होने योग्य और किसी के साथ अनन्त-तया जोड़े जाने के योग्य है।

पर इस समस्या के साथ परिस्थिति बिलकुल भिन्न है कि वह परावर्तन जो दिए हुए प्रतिबद्ध की ओर से एक शृंखला में उसके प्रतिबन्धों की ओर आरोहण करता है कितनी दूर तक विस्तीर्ण है; क्या मैं इसको अनन्त के प्रति परावर्तन कह सकता हूँ अथवा केवल अनिश्चित के प्रति दूर तक विस्तीर्ण परावर्तन कह सकता हूँ; और क्या उदाहरणार्थ मैं, इस प्रकार, आजकल जीवित मनुष्यों को उनके पूर्वजों की शृंखला में

होते हुए अनन्ततया आरोहण कर सकता हूँ, अथवा मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि जहाँ तक भी मैं पीछे की ओर गया हूँ मुझे किसी भी विन्दु पर शृंखला को सीमित मानने का आनुभविक आधार कभी भी नहीं मिला है, अतएव मैं अपने को प्रत्येक पूर्वज के प्रसंग उसके भी जनक की खोज करने में, (यद्यपि उनकी पूर्वकल्पना करने में तो नहीं) न्यायोपेत और उस के साथ ही साथ बाधित भी पाता हूँ।

इसलिये मैं कहता हूँ जब पूर्णावयवी अनुभवात्मक अन्तःस्फुरणा (अथवा प्रत्यक्ष दर्शन) में दिया हुआ होता है, तब उसके आन्तरिक प्रतिबन्धों की शृंखला में परावर्तन अनन्ततया प्रवृत्त हुआ करता है। परन्तु जब शृंखला का मात्र एक अवयव दिया हुआ होता है, जिससे आरंभ करके परावर्तन को चरम समग्रता की ओर प्रवृत्त होना पड़ता है, तो परावर्तन अनिश्चिततया ही घटित होता है। अतएव उसकी सीमा के मध्य में दिये हुए किसी भौतिक तत्व (मैटर) के अर्थात् किसी मूर्त वस्तु के विभाजन के विषय में भी कहा जाएगा कि वह अनन्ततया प्रवृत्त होता है। क्योंकि यह भौतिक तत्व एक पूर्णावयवी के रूप में दिया होता है, अतएव वह अपने समस्त संभाव्य अंगों के सहित आनुभविक प्रत्यक्ष दर्शन में दिया होता है। अब क्योंकि इस पूर्णावयवी का प्रतिबंध इसका खंड है, और इस खंड का प्रतिबंध इस खंड का खंड है और इसी प्रकार से आगे भी ऐसा ही है, और क्योंकि इस विघटन के परावर्तन में इन प्रतिबंधों की शृंखला का अप्रतिबद्ध अवयव कदापि भी उपलब्ध नहीं होता, अतएव न केवल विभाजन के कार्य में रुकने के लिये ही कदापि कोई आनुभविक आधार नहीं है, प्रत्युत किसी सतत चालू रहे विभाजन के आगे के अंग तक स्वयमेव विभाजन के सातत्य के पूर्व ही आनुभविकतया दिये हुए होते हैं; अर्थात दूसरे शब्दों में विभाजन अनन्ततया चालू रहता है। इसके विपरीत किसी दिये हुए मनुष्य के पूर्वजों की शृंखला, अपनी चरम समग्रता में किसी भी संभाव्य अनुभव में नहीं पाई जाती, किन्तु तो भी परावर्तन पीढ़ियों की शृंखला की प्रत्येक कड़ी से उच्च कड़ी की ओर जाता ही रहता है, अतएव कोई आनुभविक सीमा (या मर्यादा) ऐसी नहीं मिलती जो किसी कड़ी को चरम अप्रतिबद्ध के रूप में, प्रत्युपस्थापित करे। पर क्योंकि वे कड़ियाँ भी जो प्रतिबन्ध को प्रदान कर सकती थीं, पूर्णावयवी के आनुभविक प्रत्यक्ष दर्शन में परावर्तन के पूर्व विद्यमान नहीं होतीं, अतएव वह परावर्तन भी दिये हुए के विभाजन से अनन्तता तक नहीं पहुँचता, प्रत्युत, जो दी हुई कड़ियों के अतिरिक्त और अधिक कड़ियों की खोज में, जो अपने आप में सर्वदा केवल प्रतिबद्ध ही होती हैं एक सुनिश्चित दूरी तक ही पहुँचता है।

चाहे तो परावर्तन अनन्त की ओर हो, और चाहे अनिश्चित की ओर, दोनों ही

अवस्थाओं में प्रतिबन्धों की श्रृंखला एक समान प्रकार से विषय में अनन्त रूप दी हुई नहीं मानी जा सकती। यह प्रतिबन्धों की श्रृंखलाएँ स्वरूपतः सत् वस्तुएँ नहीं हैं प्रत्युत केवल अवभासमात्र हैं जो परस्पर एक दूसरे की शर्तों के रूप में केवल परावर्तनमात्र में दी हुई होती हैं। अतएव अब इसके आगे प्रश्न यह नहीं है कि प्रतिबन्धों की यह श्रृंखला स्वयं अपने आप में कितनी बड़ी है, वह सान्त है अथवा अनन्त है, क्योंकि अपने आप में तो वह स्वयं कुछ भी नहीं है; प्रश्न यह है कि हमको आनुभविक परावर्तन का प्रतिपादन किस प्रकार करना होगा और हमको कितनी दूरी तक उसको चालू रखना होगा। और यहाँ इस प्रक्रिया का नियंत्रण करने वाले नियम के संबंध में हमको एक महत्त्वपूर्ण भेद प्राप्त होता है। जब कि पूर्णावयवी आनुभविकतया दिया हुआ होता है तो उसके आन्तरिक प्रतिबन्धों की श्रृंखला में अनन्ततया प्रतिगमन करना संभव होता है। पर जब वह पूर्णावयवी दिया हुआ नहीं होता, प्रत्युत जब कि वह पहले पहल आनुभविक परावर्तन में दिया जाने को है, तब तो मैं यही कह सकता हूँ कि श्रृंखला की और भी उच्चतर शर्तों की खोज अनन्ततया संभव है। प्रथम प्रसंग में मैं कह सकता था कि मैं विघटनात्मक परावर्तन के द्वारा जितनी कड़ियों तक पहुँच सकता हूँ उसकी अपेक्षा कड़ियों की संख्या सर्वदा अधिक होती है और अनुभवात्मकतया दी हुई होती है; पर दूसरे प्रसंग में स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि मैं परावर्तन में सर्वदा और भी आगे जा सकता हूँ क्योंकि कोई भी कड़ी अनुभवात्मकतया नितान्त अप्रतिबद्ध के रूप में दी हुई नहीं है, और इसलिये क्योंकि एक उच्चतर कड़ी सर्वदा संभव है और इसी कारण उसके संबंध में अनुसंधान आवश्यक है। एक प्रसंग में हम श्रृंखला को आगे की कड़ियों को अनिवार्यतया सम्प्राप्त करते हैं, पर दूसरे प्रसंग में (क्योंकि कोई भी अनुभव पूर्णतया परिसीमित नहीं हो सकता) अनिवार्यता यह है कि हम उनके लिये अनुसंधान करें। क्योंकि या तो तुम को कोई ऐसा प्रत्यक्ष प्राप्त नहीं होता जो तुम्हारे आनुभविक प्रत्यावर्तन को ऐकान्तिकतया मर्यादित या सीमित करता हो, और तब तुम उस प्रत्यावर्तन को पूर्ण नहीं मान सकते, अथवा तुमको अपनी श्रृंखला को मर्यादित करने वाला प्रत्यक्ष प्राप्त होगा, जिस अवस्था में यह (प्रत्यक्ष) तुम्हारी पूरी की हुई श्रृंखला का भाग नहीं हो सकता (क्योंकि वह जो किसी को सीमित करता है उससे भिन्न होना चाहिये जिसको वह सीमित करता है) और इस तुमको अपने परावर्तन को उस प्रतिबन्ध तक चालू रखना पड़ेगा और इसी प्रकार आगे भी सर्वदा ऐसा ही करना होगा।

यह विचार आगामी खण्ड में इनके विनियोग के द्वारा अपने समुचित प्रकाश में उपस्थित हो जाएँगे।

शुद्ध बुद्धि का विरोध

नवम खंड

समस्त सृष्टि विज्ञान संबंधी विचारों या भावों के संबंध में बुद्धि के नियामक सिद्धान्तों का अनुभवात्मक विनियोग

जैसा कि हम पहले ही अनेकों अवसरों पर प्रदर्शित कर चुके हैं कि बोधवृत्ति अथवा बुद्धि दोनों के ही विशुद्ध संबोधों का एक समान रूप से कोई भी अनुभवातीत उपयोग (या विनियोग) नहीं किया जा सकता; तथा ऐन्द्रिय जगत् में प्रतिबन्धों की शृंखला की चरम समग्रता पूर्णतया बुद्धि के अनुभवातीत उपयोग के कारण (संभव) है, जिसमें बुद्धि इस अप्रतिबद्ध पूर्णता की माँग उस से करती है जिसको यह स्वरूपतः सत् वस्तु के रूप में पूर्वतः कल्पना कर लेती है; और क्योंकि ऐन्द्रियजगत् में इस प्रकार कोई (पूर्णता) अन्तर्विष्ट नहीं होती, (अथवा इस प्रकार की कोई स्वरूपतः सत् वस्तु अन्तर्विष्ट नहीं होती) अतएव, चाहे वह सीमित हो, अथवा अपने आप में असीमित हो, ऐन्द्रिय जगत् में शृंखला की आत्यन्तिक मात्रा की चरचा और आगे कभी हो ही नहीं सकती। इस बात की चर्चा हो सकती है कि, बुद्धि के नियम के अनुसार उसके प्रश्नों के उत्तरों में से उस उत्तर के अतिरिक्त, जो विषय के समनुरूप है, अन्य किसी उत्तर पर न ठहर कर हमको अनुभव का उसके प्रतिबन्धों तक अनुसंधान करने में आनुभविक परावर्तन से कितनी दूर तक पीछे की ओर जाना चाहिये।

अतएव स्वरूपतः सत् वस्तुओं के रूप में अवभासों के संघटनात्मक सिद्धान्त की दृष्टि से बुद्धि के सिद्धान्त की अप्रामाणिकता के पर्याप्तरूपेण स्थापित हो जाने पर जो कुछ हमारे लिये अवशिष्ट रह जाता है, वह केवल किसी संभाव्य अनुभव के सातत्य और परिमाण के निमित्त नियम के रूप में बुद्धि के सिद्धान्त की प्रामाणिकता है। यदि हम इन निष्कर्षों को निःसंशयतया अपनी दृष्टि के समक्ष रख सकें तो बुद्धि का जो अपने विरुद्ध कलह है वह पूर्णतया समाप्त हो जाएगा, क्योंकि इस आलोचनात्मक समाधान के द्वारा न केवल उस मायिक भ्रान्ति का विनाश हो जाएगा जिसने बुद्धि को अपने ही विरुद्ध बाँट दिया था, प्रत्युत उसके स्थान पर उस सम्यक् बोध को स्थापित किया जाएगा कि जो बुद्धि को अपने साथ समन्वित करता है तथा जिसके ठीक न समझने से ही विग्रह (या विरोध) की उत्पत्ति हुई थी, तथा एक ऐसा सिद्धान्त जो अन्यथा द्वन्द्वात्मक होता सिद्ध सिद्धान्त के रूप में बदल जाएगा। सच तो यह है कि यदि इस सिद्धान्त के विषय में यह सिद्ध किया जा सके कि यह अपने विषयिगत आशय (अथवा अर्थ) के अनुसार अनुभव में बोधवृत्ति के महान्तम उपयोग को स्वयं विषयों के लिये ठीक ठीक प्रकार

से निर्धारित कर सकता है, तो इसका परिणाम बहुत कुछ ठीक ऐसा ही होगा कि मानों इसने स्वयं विषयों को ही किसी स्वयंसिद्धि नियम के समान प्रागनुभवतया निर्धारित किया हो (जो शुद्ध बुद्धि से तो असंभव है) क्योंकि ऐसा नियम भी तो अपने को, अनुभव के क्षेत्र में प्रयुक्त हमारी बोधवृत्ति के विस्तृततम उपयोग में सक्षम (या सक्रिय) सिद्ध करने से अधिक, अनुभव के विषयों के संबंध में हमारे ज्ञान को विस्तृततर और संशोधित करने में कोई प्रभाव नहीं डाल सकता था।

१

विश्वावयवी के अवभासों के संस्थान की समग्रता के सृष्टि-रचना-विज्ञान संबंधी भाव का समाधान

यहाँ पर, और इसी के समान अन्य शेष सृष्टिविज्ञान संबंधी प्रश्नों में भी, बुद्धि के नियामक सिद्धान्त का आधार यह प्रस्थापना है कि अनुभवात्मक परावर्तन में किसी चरम सीमा का अनुभव और इसलिये किसी ऐसे प्रतिबन्ध का अनुभव जो प्रतिबन्ध के रूप में अनुभवात्मकतया पूर्णतया अप्रतिबद्ध हो, उपलब्ध नहीं हो सकता। परन्तु इसका कारण यह है; इस प्रकार के अनुभव में अभाव अथवा शून्य के द्वारा अवभासों का परिसीमन अन्तर्विष्ट होना आवश्यक होगा, एवं सतत चलने वाले परावर्तन में हमको इस प्रकार के परिसीमन को प्रत्यक्ष में उपलब्ध करने के लिये समर्थ होना पड़ेगा —जो असंभव बात है।

यह प्रस्थापना, जो कि सारतः यह कहती है कि मैं आनुभविक परावर्तन में किसी भी समय केवल ऐसे प्रतिबन्ध पर पहुँच सकता हूँ जो पुनः स्वयं अनुभवात्मकतया प्रतिबद्ध माना जाना चाहिये, परिसीमन के संबंध में अपने में इस नियम को अन्तर्विष्ट रखता है कि आरोहिणी शृंखला में मैं चाहे जितना ही आगे क्यों न बढ़ गया होऊँ तो भी मुझको सर्वदा और भी ऊँची कड़ी के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिये, चाहे वह मुझको अनुभव के द्वारा ज्ञात हो सके अथवा न हो सके।

अतएव विज्ञान संबंधी प्रथम समस्या के समाधान के लिये हमको इस बात का निर्णय करने की अपेक्षा और कुछ नहीं करना है कि (देश और काल की दृष्टि से) विश्व के अप्रतिबद्ध परिमाण की ओर परावर्तन में, यह कदापि भी सीमित न होने वाला आरोहण अनन्त की ओर जाने वाला परावर्तन कहा जा सकता है अथवा सतत अपरिच्छिन्न (अनिर्धारित) परावर्तन भर कहा जा सकता है।

विश्व की समस्त अवस्थाओं, एवं उनके साथ ही विश्वावकाश एक ही समय स्थित वस्तुओं की पूर्णतया साधारण प्रत्युपस्थापना स्वयं एक संभाव्य अनुभवात्मक परावर्तन

है जिसका अपने प्रति विचार करता हूँ (यद्यपि मैं ऐसा करता अनिश्चित रूप में ही हूँ) तथा केवल जिसके द्वारा ही दिये हुए प्रत्यक्ष के प्रति इस प्रकार के प्रतिबन्धों की शृंखला का संबोध समुत्थित हो सकता है।[का.] अब जहाँ तक विश्व का प्रश्न है, वह तो मुझको सर्वदा एक संबोध के रूप में अवगत होता है, परन्तु प्रत्यक्षानुभवगत (पूर्णावयवी) के रूप में कभी किसी प्रकार उपलब्ध नहीं होता। इसलिये मैं विश्वावयवी के परिमाण से परावर्तन के परिमाण के संबंध में कोई अनुमान नहीं निकाल सकता, और इसका निर्धारण उसके अनुसार नहीं कर सकता प्रत्युत मुझको सर्वप्रथम आनुभविक परावर्तन के परिमाण के द्वारा विश्व के परिमाण का संबोध बनाना पड़ेगा। पर इस आनुभविक प्रत्यावर्तन के संबंध में मैं इससे अधिक और कुछ कदापि नहीं जान सकता कि प्रतिबंधों की शृंखला की प्रत्येक दी हुई कड़ी से मुझे सदा आनुभविकतया एक अधिक ऊँची या दूरतर कड़ी की ओर आगे बढ़ना चाहिये। इसलिये इसके द्वारा समस्त अवभासों का परिसाण परमार्थतः निर्धारित नहीं होता, अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह परावर्तन अनन्त की दिशा में बढ़ता है, क्योंकि ऐसा करने में तो उन कड़ियों का भी पूर्वाकलन (या पूर्वावधारण) हो जाएगा जिन तक परावर्तन अभी नहीं पहुँचा है, और उनकी संख्या इतनी अधिक प्रत्युपस्थापित होगी कि कोई भी अनुभवात्मक संश्लेषण उस तक नहीं पहुँच सकेगा, परिणामतः इसके द्वारा विश्व परिमाण, परावर्तन के पूर्व ही निर्धारित किया जाएगा (यद्यपि ऐसा केवल नकारात्मकतया ही होगा), जो असंभव है। क्योंकि विश्व अपने पूर्ण में मुझे किसी प्रत्यक्षानुभव में उपलब्ध नहीं होता, इसी कारण उसका परिमाण भी परावर्तन के पूर्व लेशमात्र भी दिया हुआ नहीं हो सकता। अतएव हम विश्व के परिमाण के संबंध में स्वतः कुछ भी नहीं कह सकते, इतना भी नहीं कह सकते कि उसमें अनन्त परावर्तन (अथवा अनवस्था) घटित होता है, प्रत्युत बस इतना कर सकते हैं हम उस नियम या सूत्र के अनुसार जो उसमें आनुभविक परावर्तन को निर्धारित करता है, इसके परिमाण के संबोध को खोजें। यह नियम या सूत्र इससे अधिक और कुछ नहीं कहता कि चाहे हम आनु-

---

कां. यह विश्वशृंखला, इस प्रकार, उस संभाव्य अनुभवात्मक परावर्तन से, केवल जिसके ऊपर इसका संबोध आश्रित है न बड़ी हो सकती है और न छोटी हो सकती है। और क्योंकि यह परावर्तन किसी सुनिश्चित अनन्त को प्रदान नहीं कर सकता, पर किसी सुनिश्चित सान्त को तो और भी कम प्रदान कर सकता है, अतः यह बात स्पष्ट है कि विश्व का परिमाण न अनन्त माना जा सकता है, न सान्त, क्योंकि, (जिस परावर्तन के द्वारा यह प्रत्युपस्थापित होता है वह) इन दोनों में से किसी विकल्प का निर्देश नहीं करता।

भविक प्रतिबंधों की शृंखला में कितनी ही दूर क्यों न पहुँच गये हों, तथापि हमको चरम सीमा कदापि नहीं माननी चाहिये, प्रत्युत प्रत्येक अवभास को प्रतिबद्ध मान कर उसको एक अन्य प्रतिबन्ध के अधीन मानना चाहिये तथा आगे उस प्रतिबन्ध की ओर बढ़ना चाहिये, और यह अनिश्चित परावर्तन है, जो विषय में परिमाण का निर्धारण न करने कारण, अनन्त परावर्तन (या अनवस्था) से पर्याप्त स्पष्टता के साथ पृथक् (की जा सकती) है।

इसलिये मैं यह नहीं कह सकता कि विश्व विगत काल अथवा देश की दृष्टि से अनन्त है। क्योंकि परिमाण का कोई भी ऐसा संबोध, दी हुई या उपलब्ध अनन्तता का संबोध होने के कारण अनुभव की दृष्टि से असंभव है, और इसी कारण इन्द्रियों के विषय के रूप में विश्व के संबंध में भी पूर्णतया असंभव है। मैं यह भी नहीं कहूँगा कि किसी दिये हुए प्रत्यक्ष से आरंभ होने वाला परावर्तन, जो उसको एक शृंखला के रूप में देश और विगत काल में सीमित करने वाली प्रत्येक वस्तु तक पहुँचता है, अनन्त-तया चालू रहेगा, क्योंकि ऐसा मानना तो विश्व के अनन्त परिमाण की पूर्वकल्पना पर आश्रित होगा; फिर मैं यह भी नहीं कहूँगा कि यह परावर्तन सान्त होगा, क्योंकि आनुभविक सीमा भी एक समान रूप में (अथवा पूर्ववत्) असंभव है। इस प्रकार मैं अनुभव के समस्त विषय के संबंध में (अर्थात् ऐन्द्रिय जगत् के संबंध में) कुछ भी नहीं कह सकूँगा, प्रत्युत केवल उस नियम के संबंध में ही कुछ कह सकूँगा, जिसके अनुसार अपने विषय के समनुरूप प्रकार से अनुभव प्राप्त किया जाना है।

इस प्रकार सृष्टि विज्ञान संबंधी समस्या में से विश्व के परिमाण के संबंध में प्रथम एवं निषेधात्मक उत्तर यह है कि न तो विश्व का काल में कोई आद्यारंभ है और न देश में उसकी कोई चरम बाह्य सीमा ।

क्योंकि इसके विपरीत स्थिति को मानने पर विश्व एक ओर रिक्त काल और दूसरी ओर रिक्त देश से सीमित हो जाएगा। पर क्योंकि अवभास के रूप में यह (विश्व) दोनों में से एक भी स्वतः नहीं हो सकता—क्योंकि अवभास स्वरूपतः सत् वस्तु (अर्थात् स्वलक्षण) नहीं होता—अतएव नितान्त रिक्त काल अथवा नितान्त रिक्त देश के द्वारा परिसीमन या मर्यादीकरण का प्रत्यक्ष, जिसके द्वारा विश्व की यह सीमाएँ संभाव्य अनुभव में दी हुई हों, अवश्य संभव होना चाहिये। परन्तु ऐसा अनुभव जो अन्तर्विष्ट विषय से पूर्णतया रिक्त हो असंभव है। परिणामतः विश्व की आत्यन्तिक सीमा आनुभविकतया असंभव और इसीलिये आत्यन्तिकतया भी असंभव है।[कां.]

कां. यह देखा गया होगा कि यहाँ पर जो उपपत्ति प्रस्तुत की गई है वह प्रथम विरोध के विपक्ष की ऊपर दी हुई अयौक्तिक उपपत्ति से बिलकुल भिन्न प्रकार की है। वहाँ हमने ऐन्द्रिय

और इससे इसी प्रकार सकारात्मक उत्तर भी सीधे ही अनुसृत होता है कि विश्व के परिमाण के निर्धारण के रूप में, अवभासों की शृंखला में परावर्तन अनन्ततया चालू रहता है, जो मानों यह कहने के बराबर है कि (यद्यपि) ऐन्द्रिय जगत् का कोई चरम परिमाण नहीं है, परन्तु आनुभविक परावर्तन (केवल जिसके द्वारा ही यह अपने प्रतिवन्धों की ओर से दिया हुआ हो सकता था) का अपना ही नियम (या सूत्र) होता है कि उसको शृंखला की प्रत्येक प्रतिवद्ध कड़ी से एक और अधिक परवर्तिनी कड़ी की ओर वढ़ना चाहिये (चाहे ऐसा अपने निजी अनुभव के द्वारा हो, अथवा इतिहास के पथप्रदर्शक सूत्र के द्वारा हो अथवा कार्य-कारण की शृंखला के द्वारा हो) तथा बोधवृत्ति के संभाव्य आनुभविक उपयोग के विस्तार को कदापि ठहरने नहीं देना चाहिये, जो बुद्धि का, अपने सिद्धान्तों की दृष्टि से, एक मात्र और वास्तविक कार्य है।

उपर्युक्त नियम के द्वारा सुनिर्धारित आनुभविक परावर्तन विहित नहीं किया जाएगा जो किसी एक सुनिश्चित प्रकार के अवभासों की दिशा में अनन्तया चालू रहेगा, उदाहरण के लिय जैसे एक जीवित मनुष्य से आरंभ करके पूर्वपुरुषों की परम्परा में (कभी भी आद्य दम्पति को पाने की आशा न करते हुए) सर्वदा उत्तरोत्तर आरोहण करना पड़ेगा, अथवा सृष्टि के पिण्डों की परम्परा में, परात्पर सूर्य को स्वीकार किये विना आगे बढ़ते जाना होगा; प्रत्युत (यह नियम) केवल यह आदेश करेगा कि प्रयाण अवभास से अवभास के प्रति (अर्थात् एक अवभास से दूसरे आगे आने वाले अवभास के प्रति) होना चाहिये, क्योंकि चाहे यह कोई वास्तविक प्रत्यक्ष भले ही प्रदान न करें (जैसा उस समय हुआ करता है जब वह इतने दुर्बल होते हैं कि हमारी चेतना में अनुभव की कोटि तक नहीं पहुँचते) तो भी अवभास के रूप में संभाव्य अनुभव से संबंध रखते हैं।

समस्त आरंभ काल में होता है और विस्तृत की सब सीमाएँ देश के अन्तर्गत होती हैं। पर देश और काल केवल ऐन्द्रिय जगत् के अन्तर्गत हैं। अतएव जगत् में केवल अवभास प्रतिबद्धतया सीमित होते हैं पर जगत् स्वयं न सप्रतिबन्धरूपेण से सीमित है न अप्रतिबंधरूपेण।

जगत् को साधारण और अयौक्तिक प्रत्युपस्थापना के अनुसार एक ऐसी वस्तु के रूप में माना था जो स्वरूपतः सत् (या स्वलक्षण) हो एवं अपनी समग्रता में समस्त परावर्तन के पूर्व ही दी हुई हो, और यदि वह समस्त काल और समस्त देश को घेरे हुए न हो तो हमने उसके लिये उन दोनों में किसी में भी स्थान प्रदान करने को अस्वीकार कर दिया था। इसी लिये वहाँ का निष्कर्ष भी उस से भिन्न था जो यहाँ ऊपर दिया गया है, क्योंकि अयौक्तिक उपपत्ति में हमने विश्व की यथार्थ अनन्तता का निष्कर्ष निकाला था।

उपर्युक्त कारण से, और क्योंकि जगत् कदापि पूर्णतया दिया हुआ नहीं हो सकता, तथा क्योंकि प्रतिबद्ध रूप में दी हुई किसी वस्तु के प्रतिबन्धों की शृंखला तक स्वयं एक जागतिक परंपरा या शृंखला के रूप में पूर्वरूप में दी हुई नहीं हो सकती, अतएव विश्व के परिमाण का संबोध केवल परावर्तन के द्वारा दिया जा सकता है, पर उसके पूर्व एक संगृहीत प्रत्यक्षानुभव के रूप में दिया हुआ नहीं हो सकता। पर यह परावर्तन तो परिमाण के निर्धारण से घटित होता है, और इसीलिये कोई निर्धारित संबोध प्रदान नहीं करता, जैसे कि यह किसी ऐसे परिमाण का भी संबोध प्रदान नहीं करता जो किसी निश्चित परिमाण की माप की दृष्टि से अनन्त कह कर अभिहित किया जा सके, और इसलिये यह अनन्त की ओर (मानों वह दिया हुआ हो) नहीं जाता प्रत्युत (अनुभव की) एक ऐसी मात्रा को देने के लिये (जो पहले पहल इसी परावर्तन के द्वारा ही वास्तविकता को प्राप्त करती है) अनिर्धारित दूरी तक जाता है।

२

प्रत्यक्षानुभव में दिये हुए पूर्णावयवी के विभाजन की समग्रता से संबंध रखने वाले सृष्टि-रचना-संबंधी भाव का समाधान

यदि मैं प्रत्यक्षानुभव में दिये हुए किसी पूर्णावयवी को विभक्त करता हूँ तो मैं एक प्रतिबद्ध की ओर से उसकी संभावना के प्रतिबन्धों की ओर अग्रसर होता हूँ। भागों का विभाजन (प्रति विभाजन अथवा विखण्डन) इन प्रतिवन्धों की परम्परा (या शृंखला) में परावर्तन है। इस शृंखला की चरम समग्रता तभी उपलब्ध होगी, जब कि परावर्तन अमिश्रित सरल खंडों (या तत्वों) तक पहुँच सकेगा। पर यदि किसी लगातार अग्रसर होने वाले विखंडन के सब भाग सर्वदा फिर से विभाजन के योग्य हों तब तो यह विभाजन, अर्थात् प्रतिबद्ध की ओर से आरंभ होकर उसके प्रतिबन्धों की ओर अग्रसर होने वाला परावर्तन अनन्ततया अग्रसर होता है; क्योंकि प्रतिवन्ध (यानी भाग) स्वयमेव प्रतिवद्ध में अन्तर्निविष्ट है, और क्योंकि यह (प्रतिबद्ध) एक ऐसे प्रत्यक्षानुभव में पूरे रूप में दिया है जो अपनी सीमाओं में घिरा हुआ है, अतएव सब के सब भाग भी एक साथ उसी प्रतिबद्ध के समकाल ही दिये हुए हैं। अतएव (यह परावर्तन) अनिश्चित की ओर अग्रसर होने वाला परावर्तनमात्र नहीं कहा जा सकता, जैसा कि पूर्वगामी सृष्टि विज्ञान संबंधी भाव ने केवल आज्ञा दे दी थी, जहाँ मुझको प्रतिबद्ध से उसके बाहर स्थित प्रतिबंधों की ओर अग्रसर होना था, जो प्रतिबन्ध इस कारण प्रतिबद्ध के द्वारा उसके साथ एक ही समय पर दिए हुए नहीं थे, प्रत्युत जो आनुभविक परावर्तन में पहले पहल जोड़े गये थे। तथापि, एक ऐसे पूर्णावयवी के (जो

अनन्त विभाजन के योग्य है) संबंध में भी यह कहने की कदापि अनुज्ञा नहीं मिल सकती कि अनन्त अनेक खंडों से संघटित है। क्योंकि यद्यपि पूर्णांक अवयवी के प्रत्यक्षानुभव में समस्त भाग अन्तर्विष्ट है, तथापि समस्त विभाजन तो उसमें इस प्रकार अन्तर्विष्ट नहीं, जो (विभाजन) केवल लगातार अग्रसर होने वाले विखंडन से संघटित होता है अथवा स्वयं परावर्तन से ही निर्मित होता है, जो शृंखला को पहले पहल वास्तविक बनाता है। अब क्योंकि यह परावर्तन अनन्त है, अतएव इसकी सब कड़ियाँ जिन तक यह पहुँचता है, एक समूह के रूप में दिये हुए पूर्णावयवी में अन्तर्विष्ट हुआ करती हैं; परन्तु विभाजन की समस्त शृंखला इस प्रकार से उसमें अन्तर्विष्ट (सम्मिलित) नहीं होती जो अनुक्रमिकतया अनन्त होती है और कदापि भी पूर्णांगवयवी नहीं होती, एवं जो इसलिये अनन्त अनेकता अथवा किसी पूर्णावयवी में उसके संचय को प्रदर्शित नहीं कर सकती।

इस सामान्य अभिवचन को बड़ी सरलता से सबसे पहले देश के प्रति प्रयुक्त किया जा सकता है। अपनी सीमाओं के भीतर अनुभूत प्रत्येक देश ऐसा पूर्णावयवी होता है, जिसके भाग, चाहे वह कैसे भी विभाजन से क्यों न प्राप्त हुए हों, स्वयं सर्वदा देश ही होते हैं, और इस कारण अनन्ततया विभाजनीय होते हैं।

इसी से इस अभिवचन का दूसरा प्रयोग भी बिलकुल स्वाभाविकतया अनुसृत होता है, जो प्रयोग अपनी सीमाओं से घिरे हुए बाह्य अवभास के (अर्थात् मूर्त पदार्थ के) प्रति होता है। इसकी विभाज्यता का आधार देश की विभाज्यता है जो (देश) विस्तारवान् पूर्णावयवी के रूप में मूर्त पदार्थ की संभाव्यता का घटक है। अतएव मूर्त पदार्थ या शरीर अनन्तया अनेक खंडों से घटित हुए बिना भी अनन्तया विभाज्य होता है।

क्योंकि मूर्ततत्व को देश के अन्तर्गत एक पदार्थ के रूप में प्रत्युपस्थापित करना पड़ेगा, अतएव सचमुच में ऐसा लग सकता है कि मूर्तपदार्थ, जहाँ तक विभाज्यता के नियम का संबंध है, देश से भिन्न होगा; क्योंकि किसी भी अवस्था में यह तो मानना ही पड़ेगा कि देश के संबंध में विखंडन उससे पूर्ण संहतता को दूर नहीं कर सकेगा क्योंकि ऐसा होने पर तो सारा ही देश, जिसमें अन्यथा कुछ भी आत्मनिर्भर तत्व नहीं है, अपनी सत्ता ही खो बैठेगा (जो बिलकुल असंभव है); पर दूसरी ओर, यह दावा कि यदि भौतिक तत्व के समस्त संहननत्व का विचार में अपोहन कर दिया जाए तो कुछ भी शेष नहीं बचेगा, द्रव्य के संबोध के साथ संगत प्रतीत नहीं होता, जो (द्रव्य या पदार्थ) यथार्थ में समस्त संहतत्व का भाजन होना चाहिये तथा जिसको अपने (संघात के) तत्वों में उस समय भी बच रहना चाहिये जब कि देश के अन्तर्गत उन तत्वों के वे संबंध

जिनसे वे मूर्त शरीर को संघटित करते हैं, अपोहित हो गये हों। परन्तु जब कि यह बात बोधवृत्ति के शुद्ध संबोध के द्वारा विचारित स्वरूपतः सत् वस्तु (अथवा स्वलक्षण) के विषय में सत्य है, यही बात उसके विषय में लागू नहीं होती जिसको हम अवभास में पदार्थ कहते हैं। यह कोई ऐकान्तिक विषय नहीं है प्रत्युत एन्द्रिय-संवेद्यता का स्थायी बिम्ब है, जो सचमुच ही प्रत्यक्षानुभव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जिसमें कुछ भी अप्रतिबद्ध कभी भी नहीं मिल सकता।

पर अब यद्यपि यह अनन्त प्रगति का नियम निःसंशयेन देश के आपूरणमात्र के रूप में किसी अवभास के उपविभाजन के प्रति लागू होता है, तथापि यदि इस नियम को, हम एक निश्चित प्रकार से दिये हुए पूर्णावयवी के पहले ही परस्पर एक दूसरे सुनिश्चततया पृथक् भागों के समूह तक, जो इस विभाजन के द्वारा पृथक् मात्रा को घटित करते हैं, विस्तृत करना चाहें तो यह नियम लागू नहीं होगा। यह मानना (या कल्पना करना) कि प्रत्येक संघटित अवयवी में प्रत्येक खंड पुनः स्वयं इस प्रकार संघटित होगा कि भागों के अनन्त विश्लेषण में सर्वदा नवीन संघटित भाग मिलते रहेंगे, एक शब्द में यह मानना कि पूर्णावयवी अनन्ततया संघटित है, विचारक्षम नहीं है, यद्यपि यह बात भले प्रकार विचार की जा सकती है कि अपने अनन्त विखंडन में (पाये जाने वाले) भौतिक तत्व के खंड संघटित हो सकते हैं। क्योंकि देश के अन्दर दिये हुए किसी अवभास की अनन्त विभाज्यता केवल इस बात पर आधारित है कि इसके द्वारा केवल विभाज्यता (अर्थात् स्वतः भागों का आत्यन्तिकततया अनिर्धारित समूह) दिया होता है, किन्तु वास्तविक भाग केवल उपविभाजन के द्वारा दिये और निर्धारित किये जाते हैं। संक्षेप में, अवयवी स्वयं अपने आप में अभी विभक्त नहीं है। अतएव भागों की वह संख्या जिसको विभाजन किसी पूर्णावयवी में निर्धारित कर सकता है इस बात पर निर्भर होगी कि विभाजन के परावर्तन में कितनी दूर तक अग्रसर होना अभीष्ट है। इसके विपरीत, अनन्ततया संघटित सावयव मूर्तसंघात में, अवयवी स्वयं इस संबोध के द्वारा पहले से ही विभाजित रूप में प्रत्युपस्थापित किया जाता है और उसमें विभाजन के प्रत्येक परावर्तन के पूर्व ही भागों का ऐसा समूह पाया जाता है जो स्वतः निर्धारित होता है और फिर अनन्त भी होता है, पर यहाँ पर स्वतोव्याघात दोष है, क्योंकि यह अनन्त अन्तर्वलन एक कभी भी पूर्ण न होने वाली श्रृंखला के रूप में और तिस पर भी इसके साथ ही साथ अपने (संघटित) संयोजन में पूर्णता को पहुँचा माना जाएगा। अनन्त विभाज्यता केवल सतत मात्रा के रूप में अवभास का लक्षण है, और देश के आपूरण से अवियोज्य (या अभिन्न) है, क्योंकि स्वयं उस (देश) में ही तो अनन्त विभाज्यता का मूलाधार निहित है। ज्योंही किसी वस्तु को पृथक् मात्रा

(या सत्ता) के रूप में ग्रहण किया जाता है, त्योंही उसमें इकाइयों का समूह निर्धारित हो जाता है, और इसलिये सभी अवस्थाओं में किसी निश्चित संख्या के बराबर होता है। किसी संघटित मूर्त पदार्थ में संघटन कहाँ तक जा सकता है यह बात केवल अनुभव ही प्रदर्शित कर सकता है, और यद्यपि जहाँ तक हमारा अनुभव पहुँचा है, हम भले ही किसी असंघटित भाग तक न पहुँचे हों, तथापि ऐसे भागों के संभाव्य अनुभव में निहित होने की बात तो कम से कम स्वीकार करनी चाहिये ही। पर किसी अवभास सामान्य का अनुभवातीत विभाजन कहाँ तक विस्तीर्ण होता है, यह मामला अनुभव से बिलकुल भी संबंध नहीं रखता; प्रत्युत इसका निर्णय तो बुद्धि (या प्रज्ञा) के नियम या सिद्धान्त के द्वारा किया जाता है, जिसका विधान यह है कि मूर्तपदार्थ के विखंडन में, इस अवभास के स्वरूप के अनुसार, आनुभविक परावर्तन को कदापि भी ऐकान्तिकतया पूर्ण हुआ नहीं माना जाना चाहिये।

*   *   *   *

गणित-संबंधी-अनुभवातीत विचारों के समाधान के संबंध में अन्तिम एवं गत्यात्मक-अनुभवातीत विचारों के समाधान के विषय में प्रारम्भिक टिप्पणियाँ

जब हमने शुद्ध बुद्धि के विरोध को सब अनुभवातीत विचारों में एक समानान्तर स्तम्भों की तालिका द्वारा प्रत्युपस्थापित किया था, तथा जब हमने यह प्रदर्शित किया था कि इस विरोध का मूलाधार तथा उसको दूर करने का एकमात्र उपाय, जो उसमें था, दोनों विरोधी दावों को झूठा घोषित कर देना था, तभी हमने सब अवस्थाओं में प्रतिबन्धों को उनके प्रतिबद्धों के साथ देश और काल के संबंधों में संबद्ध प्रत्युपस्थापित कर दिया था, जो सामान्य बोधवृत्ति की साधारण मान्य धारणा है जिसके ऊपर वह विरोध पूर्णतया आश्रित है। इस दृष्टि से भी किसी दिये हुए प्रतिबद्ध के लिये प्रतिबन्धों की श्रृंखला (या परम्परा) में समग्रता के समस्त द्वन्द्वात्मक प्रत्युपस्थापन आदि से अन्त एक ही प्रकार के थे। यह श्रृंखला सर्वदा ऐसी श्रृंखला थी जिसमें प्रतिबद्ध के साथ प्रतिबन्ध एक ही श्रृंखला की कड़ियों के रूप में संबद्ध थे और जो इस प्रकार सजातीय थे, पर ऐसी श्रृंखला में परावर्तन को कदापि भी पूर्ण हुआ नहीं विचारा जाता था, अथवा यदि उसको ऐसा विचार करना ही पड़ा तो किसी एक कड़ी को जो स्वतः अपने में प्रतिबद्ध हो झूठमूठ प्रथम कड़ी मान लिया जाता होगा और इसी कारण उसको अप्रतिबद्ध भी मान लेना पड़ता होगा। यदि सर्वत्र विषय अर्थात् प्रतिबद्ध ही निश्चयमेव केवलमात्र उसके अपने परिमाण के अनुसार न भी विचारा जाए, तथापि प्रतिबन्धों

की श्रृंखला तो कम से कम अवश्य इस दृष्टि से विचारी जाती थी, और इस प्रकर एक कठिनाई उत्पन्न होती——जो अन्य किसी समझौते से नहीं प्रत्युत ग्रन्थिच्छेदनमात्र से ही——निवृत्त हो सकती थी——(और जो कठिनाई यह थी कि) बुद्धि ने श्रृंखला को या तो बोधवृत्ति के लिये बहुत ही लम्बा या बहुत ही छोटा बना दिया जिससे बोधवृत्ति कभी भी नियत भाव की बराबरी तक नहीं पहुँच सकी।

पर इस सब विवेचना में हम विषयों में पाये जाने वाले एक महत्त्वपूर्ण भेद की अवहेलना करते रहे हैं, अर्थात् उस भेद की अवहेलना करते रहे हैं जो बोधवृत्ति के उन संबोधों में पाया जाता है जिनको बुद्धि भावों या विचारों की उच्च भूमि पर उठा ले जाने का प्रयत्न करती है, अर्थात् वे संबोध वह हैं जिनमें से दो, हमारे बौद्धिक प्रकारों की पूर्वोक्त तालिका के अनुसार अवभासों, गणित संबंधी संश्लेषण को और शेषदो उनके गत्यात्मक संश्लेषण को लक्षित करते हैं। इस समय तक तो स्यात् ऐसा इस कारण घटित हो सका कि क्योंकि जिस प्रकार हम समस्त अनुभवातीत भावों या विचारों के सामान्य प्रत्युपस्थापन में सर्वदा अवभासगत प्रतिबन्धों के अधीन रहे हैं, इसी प्रकार दो गणित संबंधी अनुभवातीत भावों में भी अवभास-रूप विषय को छोड़ कर अन्य कोई विषय हमारी दृष्टि में नहीं रहा है। पर क्योंकि अब हम इस बात का विचार करने का उपक्रम कर रहे हैं कि बोधवृत्ति के गत्यात्मक संबोध बुद्धि के भावों के लिये कहाँ तक समुपयुक्त हैं इसलिये यह भेद महत्त्वपूर्ण हो जाता है, और जिस अभियोग में बुद्धि (या प्रज्ञा) फँसी हुई है तथा (जिस अभियोग को) पहले उभयपक्ष की ओर वितथ पूर्वावधारणाओं पर निर्मित होने के कारण निरस्त या खारिज कर दिया गया था उसके संबंध में एक नितान्त नवीन दृष्टि प्रदान करता है कि स्यात् अब गत्यात्मक विरोध में एक पूर्वावधारणा पाई जा सके जो बुद्धि के दावों या माँगों के साथ मेल खा सके, इस दृष्टिकोण से, और क्योंकि न्यायाधीश ने स्वयं वैधिक-आधार की उस कमी को पूरा कर दिया जो उभयपक्षों के द्वारा ठीक प्रकार से नहीं समझी गई थी, यह मामला दोनों पक्षों के लिये संतोषप्रद ढंग से निर्णीत हो सकता है, और यह एक ऐसी बात है जो गणित-संबंधी विरोध के प्रसंग में असंभव है।

यदि हम प्रतिबन्धों की श्रृंखला के विस्तारमात्र का ही विचार करें, और यह विचार करें कि क्या श्रृंखला भाव (या विचार) के लिये समुपयुक्त है अथवा भाव (या विचार) श्रृंखला की दृष्टि से अत्यधिक छोटा है, तो इस दृष्टि से श्रृंखलाएँ सचमुच एक समान प्रकार की होती हैं। पर बोधवृत्ति का वह संबोध जो इन भावों के मूलाधार में स्थित होता है, या तो अपने में केवल सजातीय के ही संश्लेषण को समाविष्ट रख सकता है (जो सजातीय प्रत्येक मात्रा के संघटन और विघटन दोनों में ही पूर्वतः

कल्पित या माना हुआ रहता है) अथवा विविधजातीय के संश्लेषण को भी समाविष्ट रखता है, जो (विविधजातीय) कम से कम गत्यात्मक संश्लेषण के प्रसंग में, कार्य-कारण संबंध एवं अनिवार्य और संभाव्य के संबंध में एक समान भाव से संभव रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

इसलिये ऐसा होता है कि अवभासों की शृंखलाओं के गणितीय संयोजनों में इन्द्रिय-संवेद्य प्रतिबन्धों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रतिबंध, अर्थात् ऐसा प्रतिबन्ध जो स्वयं शृंखला का भाग न हो, प्रविष्ट नहीं हो सकता; जब कि दूसरी ओर ऐन्द्रिय प्रतिबन्धों की गत्यात्मक शृंखला, ऐसे विजातीय प्रतिबन्ध को भी, (जो स्वयं उस शृंखला का भाग नहीं है, पर जो केवलमात्र बोधगम्य है अतएव उसके बाहर है) अंगीकार कर लेती है, जिसके द्वारा बुद्धि को एक प्रकार का सन्तोष प्राप्त हो जाता है और अप्रतिबद्ध अवभासों के पूर्व स्थापित हो जाता है, पर ऐसा होने से न तो सर्वदा प्रतिबद्ध रहने वाले अवभासों की शृंखला ही उलझन में पड़ती है और न बोधवृत्ति के द्वारा विहित नियमों के अनुसार अवभासों की शृंखला बीच में से ही कट जाती है।

जहाँ तक गत्यात्मक भाव या विचार अवभासों की शृंखला से बाहर से अवभासों के प्रतिबन्ध को आने देते हैं, अर्थात् ऐसे प्रतिबन्ध को आने देते हैं जो स्वयं अवभास नहीं है, वहाँ ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है जो उस परिणाम से बिलकुल भिन्न होता है जो विरोध (अथवा गणितीय विरोध) से संभव होता। उसके अनुसार दोनों द्वन्द्वात्मक विरोधी दावों को असत्य घोषित करवाना पड़ा था। इसके विपरीत गत्यात्मक शृंखलाओं का पूर्णतया प्रतिबद्ध लक्षण, जो उनके आवभासिक रूप से अविच्छेद्य है, एक ऐसे प्रतिबन्ध के साथ में बँधा हुआ है जो यद्यपि सचमुच आनुभविकतया अप्रतिबद्ध है, तथापि अनिन्द्रिय-संवेद्य भी है, एक ओर बोधवृत्ति को तथा दूसरी ओर[कां.] बुद्धि को सन्तोष प्राप्त करा सकता है; और क्योंकि वे आन्वीक्षिक्यात्मक (या द्वन्द्वात्मक) युक्तियाँ जो किसी एक या दूसरे प्रकार से अप्रतिबद्ध समग्रता को केवल अवभास-मात्रों में ढूँढ़ती रही थीं निरस्त हो जाती हैं, इसके विपरीत बुद्धि (या प्रज्ञा) की प्रस्थापनाएँ, इस प्रकार सुधारे हुए अर्थ में दोनों ही सत्य हो सकती हैं; (किन्तु जो बात उन सृष्टि विज्ञान

कां. बोधवृत्ति अवभासों में ऐसी किसी शर्त को स्वीकार नहीं करती जो स्वयं आनुभविकतया अप्रतिबद्ध हो पर यदि अवभास में किसी प्रतिबद्ध के लिये एक बोधगम्य प्रतिबन्ध का विचार किया जा सके, जो अवभासों की शृंखला से उसकी एक कड़ी के रूप में संबद्ध न हो, और यह विचार आनुभविक प्रतिबन्धों की शृंखला को लेशमात्र बाधा पहुँचाये बिना किया जा सके, तो ऐसे प्रतिबन्ध को, (आनुभविक परावर्तन के सातत्व में बिना किसी हस्तक्षेप के) आनुभविकतया अप्रतिबद्ध माना जा सकता है।

संबंधी विचारों या भावों के संबंध में, जो केवल गणित-संबंधी अप्रतिबद्ध एकता की ओर संकेत करते हैं, घटित नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें अवभासों की शृंखला की कोई ऐसी शर्त (या प्रतिबन्ध) नहीं पाई जाएगी जो स्वयं कोई अवभास न हो और अवभास होने के कारण शृंखला की एक कड़ी न हो।

३

जागतिक घटनाओं के उनके कारणों से व्युत्पादन की समग्रता के द्वारा सृष्टि विज्ञान संबंधी भावों का समाधान

जो कुछ घटना घटित होती है उसके संबंध में कारणता (कार्यकारण-भाव) का विचार केवल दो प्रकार से किया जा सकता है—या तो प्रकृति की दृष्टि से अथवा स्वातंत्र्य की दृष्टि से। इनमें से प्रथम ऐन्द्रिय जगत् में एक अवस्था (कार्य) का एक पूर्ववर्ती अवस्था (कारण) के साथ संबंध है जिसके पश्चात् वह अवस्था एक नियम के अनुसार घटित होती है। अब क्योंकि अवभासों की कारणता (कार्यकारण-भाव) कालिक-प्रतिबंध पर निर्भर है, और पूर्वगामी अवस्था, यदि वह सर्वदा सत्तावान् बनी रहती, किसी ऐसे कार्य को उत्पन्न न कर सकती जो पहले पहल काल के अन्तर्गत उत्पन्न होता है, अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो घटित होता है या उत्पन्न होता है उसके कारण की कारणता भी स्वयं उत्पन्न हुई होगी, एवं बोधवृत्ति के नियम के अनुसार इसको भी स्वयं कारण की अपेक्षा होगी।

इसके विपरीत स्वतंत्रता से इसके सृष्टिविज्ञान संबंधी अर्थ के अनुसार मैं किसी अवस्था को स्वतः आरंभ करने की शक्ति का आशय समझता हूँ, अतः जिसकी कारणता, प्रकृति के नियम के अनुसार, पुनः किसी दूसरे कारण के अधीन स्थित नहीं होती, जिसके द्वारा वह काल के अन्तर्गत निर्धारित होती हो। इस अर्थ में स्वतंत्रता एक विशुद्ध अनुभवातीत भाव है, जो प्रथम तो अपने में अनुभव से उधार लिया हुआ कुछ भी अन्तर्विष्ट नहीं रखता, दूसरे जिसका विषय भी किसी अनुभव में निर्धारित हुआ उपलब्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो सर्वव्यापी नियम है, यहाँ तक कि स्वयं अनुभव की संभावना तक का यही नियम है कि प्रत्येक घटना का, जो कि घटित होती है एक कारण हुआ करता है, अतएव कारण की कारणता, जो स्वयं घटित या उत्पन्न होती है उसका भी पुनः कोई कारण होना ही चाहिये; इस प्रकार इस नियम के द्वारा अनुभव का समस्त गोचर, वह चाहे जहाँ तक भी विस्तृत क्यों न हो एकमात्र प्रकृति के समस्तग्राही संबोध में परिवर्तित हो जाता है। पर क्योंकि इस प्रकार कार्य-कारण संबंध को निर्धारित करने वाले प्रतिबन्धों (या शर्तों) की ऐकान्तिक समग्रता की उपलब्धि नहीं हो सकती,

अतः बुद्धि (या प्रज्ञा) अपने लिये एक स्वच्छन्दोत्पत्ति अथवा स्वतःस्फूर्तिता की सृष्टि कर लेती है, जो कारणता के नियम के अनुसार अपने व्यापार के प्रति पूर्ववर्ती कारण से निर्धारित हुए बिना ही स्वतः व्यापार में प्रवृत्त हो सकती है।

यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि स्वतंत्रता का व्यावहारिक संबोध स्वयं इस स्वतंत्रता के अनुभवातीत भाव या विचार पर आधारित है, और स्वतंत्रता की संभावना के प्रश्न को जिस कठिनाई ने सब ओर घेर रखा है उसका वास्तविक उद्गम इसी स्वतंत्रता के अनुभवातीत भाव या विचार में ही निहित है। व्यावहारिक अर्थ में स्वतंत्रता हमारी स्वेच्छा की ऐन्द्रिय आवेगों के दबाव से स्वाधीनता है। क्योंकि हमारी स्वेच्छा जहाँ तक वह (ऐन्द्रिय आवेगों की प्रेरणा से) शारीरिक-विकारों की दृष्टि से प्रभावित होती है ऐन्द्रिय (कहलाती) होती है एवं जहाँ तक वह शारीरिक विकारों की दृष्टि से बाधित कर दी जाती है वहाँ तक पाशविक इच्छा होती है। मानवीय स्वेच्छा निश्चयमेव ऐन्द्रिय इच्छा होती है, वह पाशविक नहीं प्रत्युत स्वच्छन्द होती है, क्योंकि इन्द्रियसंवेद्यता उसके व्यापार को अनिवार्य नहीं बना देती है प्रत्युत मनुष्य में एक ऐसी शक्ति का निवास है, जिससे वह ऐन्द्रिय आवेगों के दबाव से स्वतंत्र कर आत्मनिर्धारण कर सकता है।

यह तो सरलता से देखा जा सकता है कि यदि ऐन्द्रिय जगत् में समस्त कारणता प्रकृतिमात्र होती, तो प्रत्येक घटना काल के अन्तर्गत अनिवार्य नियमों के अनुसार दूसरी (पूर्ववर्ती) घटना के द्वारा नियंत्रित होती, और इस कारण, क्योंकि अवभास, जहाँ तक वे इच्छा का निर्धारण करेंगे प्रत्येक व्यापार को अपने प्राकृतिक परिणाम के रूप में अनिवार्य बना देंगे, अनुभवातीत स्वतंत्रता का उन्मूलन व्यावहारिक स्वतंत्रता का भी विनाश कर देगा। क्योंकि व्यावहारिक स्वतंत्रता तो पहले से यह मान कर चलती है कि यद्यपि कुछ घटना घटित नहीं हुई है, तथापि उसको घटित होना चाहिये था और इसलिये अवभासों में उसका कारण इतना नियंत्रणकारी नहीं था कि जो हमारी इच्छा की कारणता को, उन प्राकृतिक कारणों से स्वतंत्र रह कर, तथा उनकी शक्ति और प्रभविष्णुता के विरुद्ध भी किसी ऐसे कार्य को उत्पन्न करने से रोक सके जो काल-क्रम में आनुभविक नियमों के द्वारा निर्धारित है और जो इसलिये घटनाओं की किसी श्रृंखला को पूर्णतया अपने आप से आरंभ कर सकता है।

इस प्रकार यहाँ वही बात घटित होती है, जो सामान्यतया, बुद्धि के संभाव्य अनुभव की सीमा का उल्लंघन करने पर अपने आप के साथ विरोध में घटित हुआ करती है, कि यह समस्या वास्तव में भौतिदेह व्यापार-संबंधी नहीं, प्रत्युत अनुभवातीत (या अतिभौतिक) है। अतः स्वतंत्रता (=इच्छा की स्वतंत्रता) की संभावना का

प्रश्न सचमुच ही मनोविज्ञान से अवश्य संबंध रखता है, पर क्योंकि यह शुद्ध बुद्धि (या प्रज्ञा) की द्वन्द्वात्मक (या आन्वीक्षिक्यात्मक) युक्तियों पर आश्रित है अतएव (इसका विवेचन और) समाधान केवलमात्र अनुभवातीत दर्शन से संबंध रखते हैं। इस (अनुभवातीत दर्शन) को, जो इस प्रसंग में सन्तोषप्रद उत्तर देने के कार्य को अस्वीकार नहीं कर सकता, उस (उत्तर देने की) अवस्था में स्थापित करने के लिये, सर्वप्रथम मुझे इस समस्या के संबंध में, इसकी प्रक्रिया को ठीक ठीक प्रकार से निर्धारित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

यदि अवभास स्वरूपतः सत् वस्तुएँ होते, एवं इसीलिये देश और भी स्वरूपतः सत् वस्तुओं की सत्ता के आकार होते, तो प्रतिबन्ध प्रतिबद्धों के साथ सर्वदा एकमेवाद्वितीय शृंखला से उसकी कड़ियों के रूप में संबद्ध होते, और इस प्रकार इस प्रस्तुत प्रसंग में वही विरोध उत्पन्न होता जो समस्त अनुभवातीत भावों के प्रसंग में सामान्यरूप से उत्पन्न होता है कि यह शृंखला बोधवृत्ति के लिये या तो बहुत बड़ी या बहुत छोटी निकलती। किन्तु बुद्धि के गत्यात्मक संबोध, जिनके साथ हमारा इस प्रस्तुत खंड और आगे आने वाले खंड में वास्ता है यह विशिष्टता रखते हैं कि क्योंकि वे किसी विषय के साथ उसके परिमाणतः विचारित रूप से कोई वास्ता नहीं रखते प्रत्युत उसके अस्तित्वमात्र से वास्ता रखते हैं अतः प्रतिबन्धों की शृंखला के परिणाम को विचार से अपकृष्ट किया जा सकता है, और प्रतिबन्ध एवं प्रतिबद्धों के केवलमात्र गत्यात्मक संबंधों के विचार पर निर्भर किया जा सकता है, जिससे कि हम प्रकृति और स्वतंत्रता के प्रश्न के संबंध में जो कठिनाई है उस पर तत्काल जा पहुँचते हैं—जो कठिनाई यह है कि क्या स्वतंत्रता लेशमात्र संभव भी है, और यदि संभव है तो क्या वह कार्यकारण-भाव के प्राकृतिक नियम की सर्वव्यापकता के साथ साथ विद्यमान रह सकती है, अतएव क्या यह एक सच्ची वैकल्पिक प्रस्थापना है कि संसार में प्रत्येक कार्य या तो प्रकृति से अथवा स्वतंत्रता से उत्पन्न होना चाहिये, अथवा क्या इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त नहीं होगा कि एकमेवाद्वितीय घटना में दोनों ही विभिन्न संबंधों में पाई जा सकती हैं ? यह सिद्धान्त कि ऐन्द्रिय जगत् की समस्त घटनाएँ प्रकृति के अपरिवर्तनीय नियमों के अनुसार परस्पर पूर्णतया सर्वतोगामी संबंध में बँधी हुई हैं, अनुभवातीत वैश्लेषिकी का सुपरिनिष्ठित सिद्धान्त है और यह किसी अपवाद को सहन नहीं करता। अतएव प्रश्न केवल यही हो सकता है कि क्या ऊपर कही गई बातों की अवहेलना करके, एकमेवाद्वितीय ऐसे कार्य के संबंध में ही, जो प्रकृति के अनुसार नियंत्रित है, स्वतंत्रता भी उपलब्ध हो सकती है अथवा उस अनुल्लंघनीय नियम के द्वारा स्वतंत्रता पूर्णतया बहिष्कृत कर दी गई है। और यहाँ पर

बुद्धि को समाकुलित करने के लिये अवभासों की आत्यन्तिक यथार्थता की सामान्यतः स्वीकृत किन्तु भ्रान्त हेत्वाभासपूर्ण पूर्वमानित धारणा एकदम अपना हानिप्रद प्रभाव प्रदर्शित करती है। क्योंकि यदि अवभास स्वरूपतः सत् वस्तुएँ (अर्थात् स्वलक्षण) हों तो स्वतंत्रता की रक्षा नहीं की जा सकती। ऐसी अवस्था में तो प्रकृति ही प्रत्येक घटना को नियंत्रित करने वाला परिपूर्ण और पर्याप्त कारण होगी, और घटना का प्रतिबन्ध ऐसा होगा जो सर्वदा अवभासों की शृंखला में ही अन्तर्विष्ट होगा, और जो अपने कार्य के सहित प्रकृति के नियम के अधीन अनिवार्य होगा। पर इसके विपरीत यदि अवभास उससे अधिक नहीं माने जाते जो वह वास्तव में हैं तो, अर्थात् यदि वे स्वरूपतः सत् वस्तु नहीं प्रत्युत केवल प्रत्युपस्थापनामात्र माने जाते हैं जो आनुभविक नियमों के अनुसार परस्पर संयोजित (या संबद्ध) रहते हैं, तो अवश्य ही उनके मूलाधार ऐसे होंगे जो स्वयं अवभास नहीं हैं। पर इस प्रकार का बुद्धिगम्य कारण अपनी कारणता के संबंध में अवभास के द्वारा नियंत्रित नहीं होगा, यद्यपि उसके कार्य निश्चय ही अवभासित होते हैं, और इसलिये अन्य अवभासों के द्वारा नियंत्रित हो सकते हैं। अतः वह अपनी कारणता के साथ शृंखला के बाहर होता है, जब कि इसके विपरीत उसके कार्य आनुभविक प्रतिबन्धों की शृंखला में पाए जाएँगे। इस प्रकार कार्य अपने बुद्धिगम्य कारण की दृष्टि से स्वतंत्र माना जा सकता है, और इस के साथ ही साथ उसी समय अवभासों की दृष्टि से प्रकृति की अनिवार्यता के अनुसार उनसे उत्पन्न होने वाला परिणाम माना जा सकता है, यह ऐसा अन्तर है जो इस प्रकार सामान्यरूपेण गूढ़ प्रकार से अभिव्यक्त किये जाने पर अत्यन्त सूक्ष्म और अस्पष्ट प्रतीत होगा, पर जो अपने प्रयोग की अवस्था में स्पष्ट हो जाएगा। यहाँ मेरी इच्छा यह बतलाने की रही है कि क्योंकि प्रकृति के संदर्भ (या ताने बाने) में अवभासों का सर्वगामी संयोजन एक कठोर नियम है, अतएव हठपूर्वक अवभासों की वास्तविकता का आग्रह करना समस्त स्वतंत्रता का विनाश कर देना है। अतएव वे लोग जो इस विषय में सामान्य सम्मति का अनुसरण करते हैं वे प्रकृति और स्वतंत्रता को कदापि भी परस्पर समन्वित करने में कृतकार्य नहीं हो पाये हैं।

प्राकृतिक अनिवार्यता के विश्वव्यापी नियम के अविरोध में स्वतंत्रता द्वारा स्वाधीनता की संभावना

इन्द्रियों के विषयों में जो कुछ स्वयं अवभास नहीं होता मैं उसको बुद्धिग्राह्य कहता हूँ। अतएव यदि ऐन्द्रिय जगत् में जिसको अवभासात्मक माना जाना चाहिये स्वयं अपने आप में एक ऐसी शक्ति भी रखता है जो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है,

पर जिसके द्वारा वह अवभासों का कारण बन सकता है, तो इस सत्ता की कारणता का विचार दो ओर से किया जा सकता है, स्वरूपतः सत् वस्तु की कारणता की दृष्टि से यह अपने व्यापार में बुद्धिगम्य होता है, एवं ऐन्द्रिय जगत् में एक अवभास की कारणता के रूप में यह अपने परिणाम में इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। अतएव हमको इस प्रकार के विषय की कारणता की शक्ति का एक आनुभविक संबोध और उसके साथ ही साथ एक बुद्धिग्राह्य संबोध भी बनाना पड़ेगा, और दोनों को एक ही कार्य की ओर संकेत करने वाला मानना पड़ेगा। किसी इन्द्रियगोचर विषय की शक्ति का इस प्रकार दो दृष्टिकोणों से विचार करना उनमें से किसी भी संबोध का विरोध नहीं करता जिनको हमको अवभासों अथवा संभाव्य अनुभव के संबंध में बनाना पड़ता है। क्योंकि यह सब अवभास स्वरूपतः सत् (स्वलक्षण) वस्तुएँ नहीं हैं अतः उनको अवश्यमेव एक ऐसे अनुभवातीत विषय पर आश्रित होना चाहिये जो उनको केवलमात्र प्रत्युपस्थापना के रूप में नियंत्रित करता है, अतः ऐसा कोई कारण नहीं है जो हमको इस अनुभवातीत विषय पर, उस गुण के अतिरिक्त (जिसके द्वारा यह अवभासित होता है) एक ऐसी कारणता को आरोपित करने से रोक सके जो अवभास नहीं है, यद्यपि जिसका परिणाम अवभास में दिखलाई पड़ता है। परन्तु हर एक निमित्त (समर्थ) कारण का अपना लक्षण विशिष्ट लक्षण होना चाहिये, अर्थात् उसकी कारणता का एक नियम (या कानून) होना चाहिये जिसके बिना वह कदापि कारण नहीं हो सकेगा। इस मान्यता के अनुसार इन्द्रियग्राह्य जगत् के किसी भी विषय में प्रथम तो हम को आनुभविक लक्षण उपलब्ध होना चाहिये, जिसके द्वारा अवभासों के रूप में उसके व्यापार के स्थायी नियमों के अनुसार अन्य अवभासों के साथ पूर्ण एवं अविच्छिन्न संबंध में अवस्थित होते हों, और अपने प्रतिबन्धों (या शर्तों) के रूप में उनसे व्युत्पादित हो सकें, और इस प्रकार इनके साथ सन्निबन्धन में वे प्रकृति के अनुक्रम में एक ही शृंखला की कड़ियों को संघटित करते हैं। दूसरे इसका बुद्धिगम्य लक्षण भी स्वीकार करना पड़ेगा, जिसके द्वारा यह निश्चयमेव उन्हीं उपर्युक्त व्यापारों का अवभासरूप में कारण है, परन्तु जो स्वयं किसी इन्द्रियसंवेद्यता के प्रतिबंध के अधीन नहीं होता और न स्वयं अपने आप में अवभासरूप है। इन में से प्रथम लक्षण को ऐसी वस्तु के अवभास का लक्षण और दूसरे को स्वरूपतः सत् वस्तु का (स्वलक्षण) लक्षण या स्वरूप कह सकते हैं।

अब यह सव्यापार या सक्रिय विषय अपने बुद्धिगम्य स्वरूप में किसी कालिक प्रतिबन्ध के अधीन नहीं होगा, क्योंकि काल केवलमात्र अवभास का प्रतिबन्ध है स्वरूपतः सत् वस्तु (स्वलक्षण) का प्रतिबंध नहीं है। इस विषय में कोई भी व्यापार

न उत्पन्न होगा न विलीन होगा, और इसी कारण इसको कालगत निर्धारणा के नियम तथा समस्त परिवर्तनशील वस्तुओं के नियम के अधीन भी नहीं होना पड़ेगा, जो नियम यह है कि जो कुछ भी घटित होता है उसका कारण अवश्यमेव उसकी पूर्ववर्ती अवस्था के अवभासों में होना चाहिये। एक शब्द में, कह सकते हैं कि इसकी कारणता, जहाँ तक वह बुद्धिगम्य है उन आनुभविक प्रतिबन्धों की शृंखला में बिलकुल भी स्थान नहीं पाएगी जिसके द्वारा कोई घटना इन्द्रियग्राह्य जगत् में अनिवार्य कर दी जाती है। सचमुच ही यह बुद्धिगम्य स्वरूप अपरोक्षतया नहीं जाना जा सकता, क्योंकि जहाँ तक कोई वस्तु अवभासित न हो हम किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, तथापि इसका विचार इसके आनुभविक स्वरूप के अनुसार उसी प्रकार करना पड़ेगा जिस प्रकार हम अवभासों के अधिष्ठान के रूप में एक अनुभवातीत विषय का विचार करने के लिये विवश हो जाते हैं यद्यपि हम उसके विषय में यह सचमुच ही नहीं जानते कि वह अपने स्वरूप में क्या है।

अतएव अपने अनुभवगत स्वरूप में इस विषय को अवभास रूप होने के कारण समस्त निर्धारणा संबंधी नियमों के अनुसार कारण के बन्धनों के अधीन रहना होगा, और इस सीमा तक ऐन्द्रिय जगत् के एक खंड के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा, जिस के कार्य अन्य सब अवभासों के समान अनिवार्यतया प्रकृति से उत्पन्न हुए होंगे। जिस अनुपात में बाह्यावभास इसको प्रभावित करते हैं एवं जिस अनुपात में इसका आनुभविक लक्षण या स्वरूप अर्थात् इसकी कारणता का नियम अनुभव के द्वारा जान लिया जाता है, उसी अनुपात में उसके समस्त व्यापार प्रकृति के नियमों के अनुसार व्याख्यात होने के योग्य होने चाहिये और उसके परिपूर्ण एवं अनिवार्य निर्धारण के लिये जो अपेक्षित है वह सब कुछ एक संभाव्य अनुभव के भीतर ही प्राप्त हो जाना चाहिये।

अपने बुद्धिगम्य लक्षण या स्वरूप के अनुसार (यद्यपि उसके इस स्वरूप के संबंध में केवल सामान्य संबोध की अपेक्षा हमको और अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सकता) वही विषय इन्द्रियसंवेद्यता के समस्त प्रभाव एवं अवभासों के द्वारा समग्र निर्धारण से मुक्त माना जाना चाहिये, और क्योंकि, जहाँ तक वह इन्द्रियातीत बुद्धिग्राह्य विषय है वहाँ तक उसमें कुछ भी घटित नहीं होता, अतएव कोई ऐसा परिवर्तन जिसके लिये काल के गत्यात्मक निर्धारण की माँग या अपेक्षा हो, एवं इसी लिये कारण के रूप में अवभासों के साथ कोई संबंध, उसमें नहीं पाया जा सकता; इस हेतु यह सक्रिय सत्ता (या वस्तु) उस सीमा तक अपने व्यापारों में समस्त प्राकृतिक अनिवार्यता से (क्योंकि यह प्राकृतिक अनिवार्यता तो केवलमात्र ऐन्द्रिय जगत् में ही मिलेगी) पूर्णतया आत्मनिर्भर और मुक्त होना चाहिये। इस के विषय में यह बात पूर्ण औचित्य

के साथ कही जा सकती है कि अपने में व्यापार को बिना आरंभ किये ही यह सक्रिय सत्ता ऐन्द्रिय जगत् में स्वतः अपने परिणामों को आरंभ करती है; और ऐसा कहना बिना इस बात के मानने के प्रामाणिक होगा कि ऐन्द्रिय जगत् में कार्य या परिणाम स्वतः आरंभ हो सकते हैं, क्योंकि वे इस ऐन्द्रिय जगत् में तो पूर्वगामी प्रतिबंधों या शर्तों द्वारा पूर्वतः निर्धारित हुए होते हैं, यद्यपि ऐसा होता केवल उनके अनुभवाश्रित स्वरूप के द्वारा ही है (जो बुद्धिगम्य स्वरूप का अवभासमात्र ही होता है) और इसलिये जो केवल प्राकृतिक कारणों की शृंखला के चालू सिलसिले (या सातत्य) के रूप में ही संभाव्य हैं। इस प्रकार से स्वतंत्रता और प्रकृति, दोनों अपने पूरे पूरे अर्थ में, एक साथ बिना किसी विरोध एक और अभिन्न व्यापार (व्यापारों) में उपलब्ध होंगी, पर यह इस बात पर निर्भर होगा कि उनको उनके बुद्धिगम्य कारण की दृष्टि से देखा जाता है अथवा इन्द्रियग्राह्य कारण की दृष्टि से।

सृष्टि विज्ञान संबंधी स्वतंत्रता के भाव का विश्वव्यापी प्राकृतिक अनिवार्यता के नियम की अनुरूपता में स्पष्टीकरण

मैंने इस अनुभवातीत समस्या के समाधान की धुँधली सी रूपरेखा को ही पहले पहल प्रस्तुत करना उचित समझा है, जिससे कि इस समाधान के लिये बुद्धि के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले मार्ग का भली भाँति अवलोकन या अनुसंधान किया जा सके। अब हम उन तत्वों का अधिक विस्तार के साथ विवेचन आरंभ करेंगे जिन के ऊपर यह समाधान निर्भर करता है और प्रत्येक तत्व की पृथक् पृथक् परीक्षा करेंगे।

प्रकृति का यह नियम कि जो कुछ भी घटित होता है उसका एक कारण हुआ करता है, (क्योंकि इस कारण की कारणता, अर्थात् उसका व्यापार उस कार्य की अपेक्षा काल के अन्तर्गत पूर्ववर्ती होता है जो उसके उपरान्त उत्पन्न हुआ है) स्वयं आप सदा से नहीं रहा होगा पर कभी घटित हुआ होगा, और अवभासों के मध्य में उसका कारण अवश्य रहा होगा जिससे यह निर्धारित हुआ होगा; अतएव सभी घटनाएँ प्रकृति-काव्य में आनुभविकतया नियंत्रित हुआ करती हैं, यह नियम, जिसके द्वारा अवभास सर्वप्रथम प्रकृति की संघटना करते हैं और अनुभव का विषय बनते हैं, बोधवृत्ति का नियम है, जिससे हटने की अनुज्ञा किसी भी बहाने से नहीं दी जा सकती, अथवा जिससे किसी भी अवभास को छूट नहीं मिल सकती। क्योंकि अन्यथा करना उसको समस्त संभाव्य अनुभव के बाहर स्थापित करना, संभाव्य अनुभव के समस्त विषयों से पृथक् कर देना एवं उसको केवल विचार की वस्तु और मस्तिष्क की कताई बना देना होगा।

परन्तु यद्यपि यह सब कारणों की ऐसी शृंखला जैसी प्रतीत होती है जो उनके प्रतिबन्धों के प्रति परावर्तन में आत्यन्तिक समग्रता को स्वीकार नहीं करती, पर यह कठिनाई हमारे लिये लेशमात्र भी बाधा नहीं देती, क्योंकि इस कठिनाई को तो उसी समय दूर कर दिया गया था जब कि बुद्धि के उस विरोध का सामान्य विवेचन किया गया था जिस में बुद्धि उस समय गिर जाया करती है कि जब वह अवभासों की शृंखला में होकर अप्रतिबद्ध की ओर अग्रसर हुआ करती है। यदि हम अनुभवातीत यथार्थवाद की भ्रान्ति के अनुवर्ती होना चाहें तो फिर न प्रकृति रहेगी, न स्वतंत्रता रहेगी। यहाँ तो केवलमात्र प्रश्न यह है कि यदि समस्त घटनाओं की मालिका या शृंखला में केवल प्रकृति की अनिवार्यता के अतिरिक्त और कुछ भी न माना जाए तो भी क्या यह संभव है कि एक ही घटना को, जो एक ओर से देखने पर प्रकृति का परिणाम है, दूसरी ओर से देखने पर स्वतंत्रता का परिणाम माना जा सकता है, अथवा कारणता के इन दो प्रकारों के मध्य में कोई प्रत्यक्ष विसंवादिता है।

अवभासों के अन्तर्वर्ती कारणों के मध्य में निश्चय ही कोई ऐसी बात नहीं हो सकती जो किसी शृंखला को आत्यन्तिकतया और अपने आप आरंभ कर सके। प्रत्येक व्यापार (अवभास के रूप में) जहाँ तक कि वह किसी घटना को उत्पन्न करता है, स्वयं भी कोई परिणाम या घटना ही होता है, जो एक ऐसी अवस्था की पूर्व-कल्पना करता है जिसमें उसका कारण उपलब्ध हो सकता है, और इस प्रकार जो कुछ भी घटित होता है वह केवलमात्र शृंखला का सातत्य या सिलसिला होता है, एवं स्वतः घटित होने वाला कोई भी आरंभ उस शृंखला में संभव नहीं है। काल के पौर्वापर्य-क्रम में प्राकृतिक कारणों के व्यापार इस प्रकार स्वयमेव परिणाम होते हैं जो इसी प्रकार काल की शृंखला में कारणों को पूर्वतः कल्पित करते हैं। एक ऐसा मौलिक अथवा स्वतः स्फूर्त व्यापार, जिससे किसी ऐसी घटना की उत्पत्ति हो सके जिसकी पहले से सत्ता नहीं थी अवभासों के कारण-संबंध-संतान में पाया जाएगा ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

किन्तु तो क्या यह भी अनिवार्य है कि यदि परिणाम अवभास हों, और उनका कारण भी उसी प्रकार अवभास हो तो उनके कार्य की कारणता भी केवल अनुभवात्मक ही होनी चाहिये ? और क्या इससे भी अधिक यह संभव नहीं है, कि यद्यपि अवभासों में प्रत्येक परिणाम के लिए, आनुभविक कारणता के नियमों के अनुसार, उसके कारण के साथ संनिबंधन निश्चय ही अपेक्षित होगा, तथापि यह आनुभविक कारणता स्वयमेव, प्राकृतिक कारणों से अपने संबंध को लेशमात्र भी बिना विच्छिन्न किये, अनानुभविक किन्तु बुद्धिगम्य कारणता का परिणाम हो सकती है ? अर्थात्

ऐसी कारणता का परिणाम हो सकती है जो ऐसे कारण का व्यापार है जो अवभासों के संबंध में (अथवा अवभासों की दृष्टि से) मौलिक अतः स्वयंभू है, अतः जो, इस शक्ति के संबंध में अवभास नहीं प्रत्युत बुद्धिगम्य है; यद्यपि अन्यथा, जहाँ तक कि वह प्रकृति की शृंखला में एक कड़ी है, वहाँ तक उसको पूर्णतया ऐन्द्रिय जगत् के साथ ही गिना जाएगा।

हम अवभासों की पारस्परिक कारणता के नियम की माँग या अपेक्षा इसलिये करते हैं कि जिससे प्राकृतिक घटनाओं के प्राकृतिक प्रतिबन्ध अर्थात् उनके कारण अवभासों में खोजे और निर्धारित किये जा सकें। यदि यह मान लिया जाए तथा इसको किसी अपवाद के द्वारा दुर्बल न होने दिया जाए तो बोधवृत्ति को, जो अपने आनुभविक उपयोग में सब घटनाओं में प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखती, और जो ऐसा करने में औचित्य के पथ पर भी है, वह सब कुछ प्राप्त है जिसकी वह माँग कर सकती है, और भौतिक स्पष्टीकरण बिना किसी रुकावट के अपने मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। अब यदि यह मान लिया जाए (फिर चाहे यह विचार कोरी कल्पना ही क्यों न हो) कि प्राकृतिक कारणों के मध्य में कुछ कारण ऐसी शक्ति या वृत्ति रखते हैं जो बुद्धिग्राह्यमात्र होती है और ऐसा इस कारण होता है कि व्यापार के लिये इसका निर्धारण आनुभविक (या दृष्ट) प्रतिबन्धों पर निर्भर नहीं करता प्रत्युत केवल बोधवृत्ति के आधार पर आश्रित होता है, तो उपर्युक्त अपेक्षाओं के मार्ग में लेशमात्र भी कमी नहीं आएगी, बशर्ते कि इसके साथ ही साथ हमको यह भी मानना होगा कि इस कारण का अवभासगत व्यापार आनुभविक कारणता के समस्त नियमों का अनुसरण करने वाला है। क्योंकि इस प्रकार से व्यापारवान् विषयी आवभासिक कारण के रूप में अपने समस्त व्यापारों की अवियोज्य निर्भरता के द्वारा प्रकृति के साथ शृंखलित हो जाएगा और यह बात कि यह विषयी (अवभासों के क्षेत्र में अपनी समस्त कारणता के सहित) अपने बुद्धिगम्य रूप (स्वलक्षण) में कुछ ऐसे प्रतिबन्ध (या शर्तें) अन्तर्विष्ट रखता है जो केवल बुद्धिग्राह्य माने जाएँगे, हमको केवल तब ज्ञात होगी जब हम अनुभवगम्य विषय की ओर से अनुभवातीत की ओर आरोहण करेंगे। क्योंकि, यदि हम केवल उस (तत्व) के संबंध में जो कि अवभासों के अन्तर्गत कारण हो सकता है प्रकृति के नियम का अनुसरण करें, तो हमको इस विषय में कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि अनुभवातीत विषयी में, जो हमको आनुभविकतया अज्ञात है, इन अवभासों और उनके संनिबंधन के लिये किस प्रकार के आधार का विचार करना पड़ेगा। यह बुद्धिगम्य आधार आनुभविक प्रश्नों के झगड़े में (या पचड़े) में बिलकुल भी नहीं पड़ता, प्रत्युत यह तो शुद्ध बोधवृत्ति में विचार से ही वास्ता रखता है, और यद्यपि शुद्ध बोध-

वृत्ति के इस विचार और व्यापार के परिणाम अवभासों में उपलब्ध होते हैं, तथापि इन (अवभासों) को अन्य अवभासों में अपने कारणों से परिपूर्ण व्याख्या या स्पष्टी-करण के योग्य होना चाहिये, जब कि इस व्याख्या (या स्पष्टीकरण) के लिये उनके दृष्ट (या आनुभविक) लक्षण को ही सर्वोच्च आधार के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा एवं, उनके बुद्धिगम्य लक्षण क़ो (जो उनका अनुभवातीत कारण है) तथा पूर्णतया अज्ञात है, इसके अतिरिक्त कि आनुभविक या दृष्ट (तत्व) उसके ऐन्द्रिय चिह्न के रूप में काम आता है, बिलकुल विचार के बाहर छोड़ देना पड़ेगा। आइए इस को अनुभव के संबंध में लागू करें। मनुष्य ऐन्द्रिय जगत् के अवभासों में से एक है और इस सीमा तक प्राकृतिक कारणों में से एक ऐसा कारण भी है जिसकी कारणता प्राकृतिक नियमों के अधीन होनी चाहिये। ऐसा होने के नाते, अन्य सब प्राकृतिक वस्तुओं के समान इसको आनुभविक लक्षण भी रखना चाहिये। इस लक्षण का प्रत्यक्ष हमको उन शक्तियों और वृत्तियों के द्वारा प्रकट होता है जिनको वह अपने कार्यों द्वारा प्रकट करता है। निर्जीव प्रकृति अथवा केवलमात्र जैव प्रकृति में हम यह विचार करने के लिये कोई आधार नहीं पाते कि उसमें कोई भी वृत्ति केवल ऐन्द्रिय प्रकार को छोड़ अन्य किसी प्रकार से नियंत्रित होती है। तथापि मनुष्य जो शेष अन्य सब प्रकृति को केवल इन्द्रियों के द्वारा जानता है, अपने आपको शुद्ध आत्मप्रत्यक्ष के द्वारा भी जानता है, और जानता है निश्चय ही व्यापारों और आन्तरिक निर्धारणों में जिनको वह इन्द्रियों की छाप नहीं मान सकता, और इस प्रकार वह स्वयं निश्चय ही अंशतः या एकतः इन्द्रियग्राह्य अवभास है किन्तु अपरतः अर्थात् कुछ वृत्तियों की दृष्टि से विशुद्ध बुद्धिग्राह्य विषय है, क्योंकि उन वृत्तियों का व्यापार ऐन्द्रिय संवेदन की ग्रहणशीलता के कारण नहीं माना जा सकता। हम इन वृत्तियों या शक्तियों को बोधवृत्ति और बुद्धि कहते हैं; इस दूसरी वृत्ति या शक्ति को विशेष प्रकार से समस्त आनुभविकतया प्रतिवद्ध शक्तियों से विलक्षणतया और विशिष्टतया पूर्णरूपेण पृथक् किया जाता है, क्योंकि यह अपने विषयों का केवल भावों के अनुसार विवेचन करती है, और उनके अनुसार बोधवृत्ति का निर्धारण करती है, जो तत्पश्चात् अपने (इसी प्रकार के विशुद्ध) संबोधों का आनु-भविक उपयोग करने के लिये प्रवृत्त होती है।

अब जहाँ तक इस बुद्धि या प्रज्ञा के कारणता रखने का प्रश्न है, अथवा यह प्रश्न है कि कम से कम हम इसको अपने प्रति कारणता से समन्वित ही प्रत्युपस्थापित करते हैं, तो यह बात तो उन आदेशों से स्पष्ट है जिनको हम समस्त व्यावहारिक प्रसंगों में अपनी कार्यकरी शक्तियों के ऊपर नियम के रूप में लागू किया करते हे। "चाहिये" ("अथवा करना चाहिये") अनिवार्यता, तथा हेतुओं के साथ संबंध के ऐसे प्रकार

को प्रकट करता है जो समस्त प्रकृति में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। बोधवृत्ति तो प्रकृति में केवल उसी को जान सकती है जो विद्यमान है, अथवा जो कभी था अथवा कभी होगा, अर्थात् बोधवृत्ति केवल वर्त्तमान, भूत और भविष्यत् विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकती है। यह असंभव है कि इस (= प्रकृति) में कुछ भी, इन सब कालगत संबंधों में, उससे भिन्न हो जो वह वस्तविकता में है, इतना ही क्यों, यदि प्रकृति के पथ पर दृष्टिपात किया जाए तो पता चलेगा कि "चाहिये" (अथवा कर्तव्य) का कुछ भी अर्थ नहीं है। जितना कम हम यह पूछ सकते हैं कि किसी वृत्त में (दायरे में) क्या गुण होने चाहिये, इसी प्रकार हम यह भी बिलकुल नहीं पूछ सकते कि प्रकृति में क्या घटित होना चाहिये, प्रत्युत हम केवल यह पूछ सकते हैं कि उसमें क्या घटित होता है, और जो घटित होता है उसकी क्या विशेषताएँ हैं।

यह "चाहिये" एक ऐसे संभाव्य व्यापार को सूचित करता है जिसका आधारभूत हेतु किसी संबोधमात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जब कि किसी मात्र प्राकृतिक व्यापार में आधारभूत हेतु अवभास होना चाहिये। यदि किसी व्यापार के प्रति "चाहिये" लागू होता है तो वह व्यापार ऐसा होना चाहिये कि जो वास्तव में प्राकृतिक-प्रतिबन्धों के अधीन संभव हो, पर यह प्रतिबन्ध स्वयं इच्छाशक्ति के निर्धारण से कोई वास्ता नहीं रखते, प्रत्युत अवभास (के क्षेत्र में उसके प्रभाव एवं परिणाम) से वास्ता रखते हैं। मुझको इच्छा (या संकल्प) करने को प्रेरित करने के लिये चाहे कितने ही प्राकृतिक आधार क्यों न हों, तथा चाहे कितनी ही एन्द्रिय उत्तेजनाएँ क्यों न हों वे "चाहिये" को उत्पन्न नहीं कर सकते, प्रत्युत केवल एषणा को उत्पन्न कर सकते हैं जो सर्वदा प्रतिबद्ध भले ही हो पर दूर तक अनिवार्य नहीं होती, तथा जिसके सम्मुख बुद्धि के उच्चरित "चाहिये" मर्यादा और लक्ष्य को संस्थापित करता है, इतना ही नहीं प्रत्युत निषेध और नियोग को संस्थापित करता है। (जो संकलिपत किया जाता है) वह चाहे तो मात्र इन्द्रिय संवेद्यता का विषय (प्रेय) हो अथवा चाहे शुद्ध बुद्धि का विषय (श्रय) हो, बुद्धि केवल अनुभव द्वारा प्रदत्त हेतु के दवाव में नहीं आ सकती, और न इस संबंध में, जिस क्रम में वस्तुएँ अवभास में अपने को उपस्थित करती हैं वस्तुओं के उस क्रम का भी अनुसरण नहीं करती, प्रत्युत परिपूर्ण सहजस्फुरणा के द्वारा भावों के अनुसार वस्तुओं में एक अपना निजी क्रम निर्माण करती है, जिसके लिये यह आनुभविक प्रतिबन्धों के भी अनुकूल बना लेती है, और जिसके अनुसार वह ऐसे व्यापारों को अनिवार्य घोषित करती है, यद्यपि वे अभी तक घटित नहीं हुए हैं और स्यात् कभी भी घटित नहीं होंगे, तथापि इन सबके संबंध में यह पहले से ही कल्पित है कि बुद्धि इन के संबंध में कारणता से समन्वित होती है, क्योंकि अन्यथा

तो उस बुद्धि के भावों से अनुभव में किन्हीं परिणामों की आशा नहीं की जा सकती।

अतः अब हमको यहाँ ठहर जाना चाहिये, और इस बात को कम से कम संभाव्य तो मान ही लेना चाहिये कि बुद्धि अवभासों के संबंध में वास्तविक कारणता से समन्वित है; ऐसी स्थिति में, यद्यपि वह बुद्धि भले ही हो, उसको आनुभविक चरित्र (या लक्षण) अवश्य अभिव्यक्त करना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक कारण एक ऐसे नियम की पूर्वकल्पना करता है जिसके अनुसार कुछ अवभास कारण का कार्य के रूप में अनुसरण करते हैं, और प्रत्येक नियम कार्यों में समानाकारता की अपेक्षा करता है जो (समानाकारता) वास्तव में शक्तिरूपभूत कारण के संबोध का आधार होती है, जिसको हम उस सीमा तक जहाँ तक कि वह केवलमात्र अवभासों से प्रकाशित होगा, बुद्धि का आनुभविक लक्षण या चरित्र कह सकते हैं, जो स्थायी होता है, परन्तु इसके विपरीत इसके कार्य सहचारी परिस्थितियों के परिवर्तनों एवं अंशतः सीमित करने वाले प्रतिबन्धों के कारण परिवर्तनीय आकारों में दिखलाई पड़ते हैं।

तो इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य की इच्छा-शक्ति का आनुभविक स्वरूप हुआ करता है जो उसकी बुद्धि की एक निश्चित कारणता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, जहाँ तक कि यह (कारणता) अवभासों के क्षेत्र में अपने कार्यों में एक ऐसे नियम को प्रदर्शित करती है जिसके अनुसार यह जाना जा सकता है कि अपने प्रकार और मात्रा में बुद्धि के व्यापार क्या हैं एवं उनके आधारभूत हेतु क्या हैं और इस प्रकार उसकी इच्छा शक्ति के विषयिगत तत्व (या सिद्धान्त) के संबंध में निर्णय किया जा सकता है (या मूल्यांकन किया जा सकता है)। क्योंकि यह आनुभविक लक्षण (या स्वरूप) स्वयं कार्यरूप अवभासों से व्युत्पादित (अथवा आविष्कृत) किया जाएगा और इनके उस नियम से निकाला जाएगा जो अनुभव प्रदान करता है, अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि अवभास में मनुष्यों के समस्त व्यापार, अपने आनुभविक लक्षण के द्वारा तथा उस लक्षण के साथ सहकार करने वाले अन्य कारणों के द्वारा प्रकृति के क्रम के अनुसार नियंत्रित (या निर्धारित) होते हैं; और यदि हम मनुष्य की इच्छा के समस्त अवभासों को उनके मूलाधार तक खोज सकते तो भी एक भी ऐसा मानवीय व्यापार उपलब्ध नहीं होता जिसकी भविष्यवाणी हम निश्चितता के साथ न कर सकते, एवं जिसको उसकी पूर्ववर्त्तिनी शर्तों (या प्रतिबन्धों) से अनिवार्य न जाना जा सकता। आनुभविक लक्षण के संबंध में कोई स्वतंत्रता नहीं है, और फिर भी यदि हम मनुष्य के व्यापारों के प्रेरक कारणों को शरीरशास्त्र की दृष्टि से केवल निरीक्षण करना चाहें, अथवा जैसा नृतत्वशास्त्र में होता है उन प्रेरक कारणों को खोजना चाहें तो हमको मनुष्य का विचार केवल उसके इसी लक्षण के अनुसार कर सकते हैं।

पर जब हम इन व्यापारों को उनके वुद्धि के साथ संबंध की दृष्टि से विचारते हैं ––यहाँ बुद्धि से मेरा आशय उस चिन्तनात्मक बुद्धि से नहीं है, जिसके द्वारा हम उनके उद्भव की व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं, प्रत्युत उस बुद्धि से है जो स्वयं उनको उत्पन्न करने का कारण है––एक शब्द में यदि हम बौद्धिक उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए बुद्धि के साथ इन (व्यापारों) की तुलना करें तो हमको एक ऐसे नियम और व्यवस्था का पता चलता है जो प्रकृति के नियम और व्यवस्था से बिलकुल भिन्न है। क्योंकि ऐसा हो सकता है कि वह सब जो कि घटित प्रकृति के पथानुसार घटित हुआ है, एवं जिसको इसके आनुभविक आधारभूत हेतुओं के अनुसार अनिवार्यतया घटित होना आवश्यक था, घटित नहीं होना चाहिये था। परन्तु कभी कभी हम देखते हैं या कम से कम ऐसा विश्वास करते हैं कि हम देखते हैं कि बुद्धि के भावों ने अवभासरूप में मानवों के व्यापारों के संबंध में वास्तव में अपनी कारणता को सिद्ध कर दिखाया है, और यह व्यापार इसलिए घटित नहीं हुए हैं कि वे आनुभविक कारणों के द्वारा नियंत्रित थे, प्रत्युत इसलिए घटित हुए क्योंकि वे बुद्धि के आधारभूत हेतुओं द्वारा निर्धारित हुए थे ।

माना कि यह कहा जा सकता है कि बुद्धि को अवभासों के संबंध में कारणता प्राप्त है, तो भी क्या (जब कि ऐन्द्रिय-प्रकार के रूप में इसका आनुभविक लक्षण पूर्णतया एवं सभी बातों में अनिवार्यतया नियंत्रित हो) इसके व्यापारों को स्वतंत्र कहा जा सकता है? पर यह आनुभविक या दृष्ट लक्षण स्वयं (विचार प्रकार के रूप में) बोधगम्य लक्षण में नियंत्रित रहता है। पर इस (बोधगम्य लक्षण) को हम नहीं जानते, परन्तु उसके स्वरूप को केवल अवभासों के द्वारा सूचित कर सकते हैं, जो हमको यथार्थ में केवल ऐन्द्रिय प्रकार का ही ज्ञान (आनुभविक लक्षण वाला ज्ञान) अपरोक्षतया प्रदान करते हैं।[कां.] और व्यापार, जहाँ तक कि वह किसी विचार पद्धति के कारण घटित हुआ कहा जा सकता है, उस कारण से आनुभविक नियमों के अनुसार परिणामरूप में

कां. व्यापारों की सच्ची नीतिपरायणता—उनका पुण्य और पाप—यहाँ तक कि स्वयं हमारे अपने आचरण की नीतिपरायणता, इस प्रकार से हमको पूर्णतया अज्ञात रहती है। हमारे आकलनों अथवा आरोपणों का संबंध केवल उनके आनुभविक लक्षण से हो सकता है। पर उसमें से कितना स्वतंत्रता का शुद्ध कार्य हो सकता है, कितना केवलमात्र प्रकृति का हो सकता है, और कितना स्वाभाव-दोष के कारण उत्पन्न हुआ हो सकता है जिसके लिये मनुष्य उत्तरदायी नहीं है, अथवा उसकी भाग्यवती संगठना के कारण है, यह कभी निर्धारित नहीं किया जा सकता; और इसलिये इसके संबंध में कोई पूर्णतया न्यायोचित निर्णय नहीं दिया जा सकता।

प्राप्त नहीं होता, अर्थात् यूं कहना चाहिये कि शुद्ध बुद्धि की शर्तें उसकी पूर्वगामिनी नहीं होतीं, प्रत्युत अन्तरिन्द्रिय के अवभास उसके प्रतिबन्धों के परिणाम ही उसके पूर्ववर्ती होते हैं। शुद्ध बुद्धि, एक विशुद्ध बुद्धिगम्य शक्ति के रूप में, काल के आकार के अधीन नहीं है और परिणामतः अनुक्रम के प्रतिबन्धों के भी अधीन नहीं है। उसके बोधगम्य रूप में बुद्धि के कारणता परिणाम को उत्पन्न करने में किसी निश्चित समय उद्भूत अथवा आरंभ नहीं होती। क्योंकि उस अवस्था में तो वह स्वयं ही अवभासों के प्राकृतिक नियम के अधीन होगी, जिस (नियम) के अनुसार कारणात्मक श्रृंखलाएँ काल के अन्तर्गत नियंत्रित होती हैं, और तब (वह) कारणता प्रकृति होगी, स्वतंत्रता नहीं होगी। इसलिये हम कह सकेंगे कि, यदि बुद्धि अवभासों के संबंध में कारणता रख सकती है, तो यह एक ऐसी शक्ति है कि जिसके द्वारा किन्हीं परिणामों की आनुभविक श्रृंखला के ऐन्द्रिय प्रतिबंध पहले आरंभ होता है। क्योंकि वह प्रतिबंध जो कि बुद्धि में स्थित होता है इन्द्रियग्राह्य नहीं होता और इसी कारण वह कदापि आरंभ नहीं होता। इस प्रकार हमको वह तत्व उपलब्ध होता है (अथवा वह तत्व स्वयं उपस्थित हो जाता है) जिसको हम समस्त आनुभविक श्रृंखलाओं में नहीं खोज पाए थे, अर्थात् घटनाओं की पारस्परिक श्रृंखलाओं का प्रतिबंध स्वयं अपने में अप्रतिबद्ध हो सकता है। क्योंकि यहाँ प्रतिबंध अवभासों की श्रृंखला से बाहर (बुद्धिगम्य तत्व में स्थित) है और इसी लिये ऐन्द्रिय प्रतिबंध के अधीन[1] नहीं है और न किसी पूर्ववर्ती कारण के द्वारा कालिक-नियंत्रण के अधीन।

यथार्थ में वही कारण अन्य संबंध में अवभासों की श्रृंखला से संबंध रखता है। मनुष्य स्वयं एक अवभास है। उसकी इच्छा या संकल्प-शक्ति का एक आनुभविक स्वरूप होता है जो उसके समस्त व्यापारों का कारण होता है। इस लक्षण के अनुसार मनुष्य को निर्धारित करने वाला कोई प्रतिबन्ध नहीं है, जो प्राकृतिक परिणामों या कार्यों की श्रृंखला में अन्तर्विष्ट न हो और उनके नियम के अधीन न हो, जिस (नियम) के अनुसार किसी ऐसी वस्तु की, जो कालक्रम में घटित होती है, आनुभविकतया अप्रतिबद्ध कोई कारणता नहीं हो सकती। अतएव कोई भी दिया हुआ व्यापार (क्योंकि वह केवल अवभास के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है) स्वयं निरपेक्षतया अपने आप आरंभ नहीं हो सकता। पर बुद्धि के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उस अवस्था के पूर्व जिसमें वह इच्छा-शक्ति को नियंत्रित करती है, कोई एक अन्य अवस्था विद्यमान होती है जिसमें पूर्वोक्त अवस्था स्वयं निर्धारित होती है। और क्योंकि बुद्धि स्वयं कोई अवभास नहीं है तथा इन्द्रिय संवेद्यता के किसी प्रतिबन्ध के अधीन नहीं है, इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि इसकी कारणता के संबंध में भी कोई कालिक-

परम्परा नहीं है, तथा प्रकृति का वह गत्यात्मक विधान जो नियमों के अनुसार कालिक परम्परा को नियंत्रित करता है, उसके प्रति लागू नहीं होता।

अतएव बुद्धि ही उन सब स्वच्छन्द व्यापारों की स्थायी शर्त है जिनके परिधान में मानव अवभासित होता है। उनमें से प्रत्येक घटित होने के पूर्व मानव के आनुभविक चरित्र में पहले से ही निर्धारित हुआ रहता है। बौद्धिक लक्षण के संबंध में, जिस बौद्धिक लक्षण की इन्द्रियग्राह्य आकृति आनुभविक स्वरूप है, न कोई पूर्व और न कोई पश्चात् है; और प्रत्येक व्यापार, अन्य अवभासों के साथ अपने कालगत संबंध से निरपेक्षतया शुद्ध बुद्धि के बौद्धिक स्वरूप का अव्यवहित परिणाम है, अतएव जो (बुद्धि), प्राकृतिक कारणों की शृंखला में, काल में पूर्वगामी बाह्य अथवा आभ्यन्तर आधारभूत हेतुओं से नियंत्रित हुए बिना ही स्वतंत्रतया कार्य करती है, तथा उसकी यह स्वतंत्रता, आनुभविक प्रतिबंधों पर अनिर्भरता के रूप में केवल नकारात्मक नहीं मानी जा सकती (क्योंकि ऐसा मानने पर तो बुद्धि की शक्ति अवभासों का कारण होने से बाधित हो जाएगी), प्रत्युत घटनाओं की शृंखला को स्वतः आरंभ कर सकने वाली शक्ति के रूप में इसको सकारात्मकतया भी अभिहित किया जा सकता है, अतः स्वयं बुद्धि में ही कुछ भी आरंभ नहीं होता, प्रत्युत प्रत्येक स्वतंत्र व्यापार के अप्रतिबद्ध प्रतिबन्ध होने के कारण बुद्धि काल में पूर्वगामी किसी प्रतिबन्ध को अपने ऊपर स्वीकार नहीं करती, यद्यपि यह तिसपर भी सत्य है कि इस के कार्य का आरंभ अवभासों की शृंखला में ही होता है फिर चाहे वह आत्यन्तिकतया बिलकुल प्रथम आरंभ भले ही न हो सकता हो।

बुद्धि के इस नियामक सिद्धान्त को अनुभवगत विनियोग के उदाहरण द्वारा प्रतिपादित करने के लिये, इसको सम्पुष्ट करने के लिये नहीं (क्योंकि अनुभवातीत स्थापनाओं को उदाहरणों के द्वारा सिद्ध-उपपन्न-करने का प्रयत्न व्यर्थ ही है) एक संकल्पपूर्वक किये हुए कार्य को लिया जाए—उदाहरणार्थ एक दुष्टतापूर्ण झूठ को लिया जाए, जिस के द्वारा किसी व्यक्ति ने समाज में एक प्रकार की अस्तव्यस्तता उत्पन्न कर दी है, और प्रथमतः उसकी प्रेरणा के मूल को खोजने का प्रयत्न किया जाए जिससे वह झूठ उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात् यह निर्णय करने का प्रयत्न किया जाए कि वह कार्य और उसके परिणाम कहाँ उस व्यक्ति पर आरोपित किये जा सकते हैं। प्रथम प्रश्न के संबंध में सर्वप्रथम उस व्यक्ति के अनुभवगत चरित्र के मूलोद्गमों तक उसका अनुसरण करना आवश्यक होगा, जो त्रुटिपूर्ण शिक्षा, कुसंगति, अंशतः लज्जा की संवेदना से शून्य सहज स्वभाव की दूषितता में भी पाये जाएँगे, एवं अंशतः छिछोरेपन और प्रमादपूर्णता में भी; और इस खोज में इन सब को अवसर प्रदान करने वाले

कारणों के प्रति भी ध्यान देने में असावधानी नहीं की जाएगी। इस समग्र अनुसंधान में उसी पद्धति का अनुसरण किया जाता है जिसका किसी दिये हुए प्राकृतिक परिणाम को निर्धारित करने वाले कारणों की शृंखला के अनुसंधान में किया जाता है। परन्तु यद्यपि यह विश्वास किया जाता है कि यह कार्य इस प्रकार से नियंत्रित था, तथापि फिर भी उसके कर्ता को दोष दिया ही जाता है, पर वास्तव में यह दोष उसके दुर्भाग्य-पूर्ण सहज स्वभाव के कारण नहीं लगाया जाता, उस पर प्रभाव डालने वाली परि-स्थितियों के कारण नहीं लगाया जाता, यहाँ तक कि उसकी विगत जीवन यात्रा के कारण भी नहीं लगाया जाता, क्योंकि यह पहले से मानी हुई बात है कि उस जीवन-यात्रा को विचार से बाहर छोड़ दिया जाता है, एवं अतीत अवस्थाओं की शृंखला के होने न होने के बराबर ख्याल किया जाता है, और स्वयं उस व्यापार को स्वयं पूर्व-वर्ती अवस्थाओं से पूर्णतया अनियंत्रित माना जाता है, जैसे मानों उस अपराध-कर्ता ने स्वयं उस कार्य के साथ परिणामों की पूर्णतया नवीन शृंखला का श्रीगणेश किया हो। यह दोषारोपण बुद्धि के एक नियम पर आधारित है जिसके अनुसार बुद्धि को एक ऐसा कारण माना जाता है जो उपर्युक्त समस्त आनुभविक प्रतिबन्धों के होते हुए भी उस मनुष्य के आचरण को अन्य प्रकार से नियंत्रित कर सकता था एवं जिसको उसके आचरण को अन्यथा नियंत्रित करना चाहिये था। और निश्चय ही बुद्धि की इस कारणता को कुछ केवलमात्र सहकारिणी कारणता नहीं माना जाता, प्रत्युत अपने आप में परिपूर्ण कारणता माना जाता है, यद्यपि चाहे ऐन्द्रिय आवेग बिलकुल भी उसके पक्ष में नहीं प्रत्युत विपक्ष में ही क्यों न हों; व्यापार को उसके कर्ता के बुद्धि-गम्य लक्षण के हेतु घटित माना जाएगा; उस क्षण में जब कि झूठ बोलना अपराध पूर्णतया उसी का होता है; परिणामतः व्यापार के समस्त आनुभविक प्रतिबन्धों के होते हुए भी, बुद्धि पूर्णतया स्वतंत्र थी, यह व्यापार सर्वथा बुद्धि के दोष के माथे मढ़ा जाना चाहिये।

इस प्रकार की आरोपणात्मक विभावना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह ख्याल किया जाता है कि बुद्धि इन्द्रियजन्य प्रभावों से पूर्णतया अप्रभावित रहती है, अपने को बदलती नहीं है (यद्यपि उसकी आवभासिक अभिव्यक्तियाँ—अर्थात् वे प्रकार जिनमें वह अपने को अपने प्रभावों के द्वारा प्रकट किया करती हैं—बदला करती हैं), इसमें कोई पूर्वगामिनी अवस्था पश्चात् आने वाली अवस्था का नियंत्रण करने वाली नहीं होती, अर्थात् उसका संबंध ऐन्द्रिय प्रतिबंधों की शृंखला से नहीं है जो प्रकृति के नियमों के अनुसार अवभासों को अनिवार्य बनाते हैं। यह जो बुद्धि है, यह मनुष्य के सब व्यापारों में सब समय विद्यमान रहती है और सर्वदा एक ही रहती

है, पर यह स्वयं अपने आप काल में स्थित नहीं है, और किसी ऐसी नवीन अवस्था में परिणत भी नहीं होती जिसमें वह पहले नहीं थी; नवीन अवस्थाओं के संबंध में वह उनको नियंत्रित करने वाली है, उनसे नियंत्रित होने वाली नहीं। अतएव यह नहीं पूछा जा सकता कि बुद्धि ने अपने को अन्यथा निर्धारित क्यों नहीं किया, प्रत्युत केवल यही पूछा जा सकता है कि उसने अपनी कारणता के द्वारा अवभासों को अन्यथा निर्धारित क्यों नहीं किया? परन्तु इस प्रश्न का कोई उत्तर संभव नहीं है। क्योंकि भिन्न बुद्धिगम्य लक्षण (या स्वरूप) ने भिन्न ही आनुभविक स्वरूप प्रदान किया होता, और जब हम यह कहते हैं कि उपर्युक्त अपराध-कर्ता अपने अब तक के पूर्ववर्ती जीवन के वैसा होते हुए भी झूठ बोलने से दूर रह सकता था, तो इसका आशय यही है कि कार्य अव्यवहिततया बुद्धि की शक्ति के अधीन स्थित रहता है, और बुद्धि अपनी कारणता में किसी आवभासिक और कालिक प्रतिबंधों के अधीन नहीं है, और यद्यपि कालिक भेद अवभासों के पारस्परिक संबंधों में निश्चयमेव मौलिक भेद (उत्पन्न) कर देता है--क्योंकि ये (=अवभास) न तो स्वरूपतः सत् वस्तुएँ हैं और न वैसे कारण ही हैं--अतः यह भेद व्यापार और बुद्धि के बीच में जो संबंध है उसमें कोई अन्तर उत्पन्न नहीं कर सकता।

इस प्रकार स्वतंत्र व्यापार संबंधी विभावना में उनकी कारणता की दृष्टि से हम केवल बुद्धिगम्य कारण तक तो पहुँच सकते हैं पर उसके आगे नहीं पहुँच सकत; हम यह जान सकते हैं कि यह कारण स्वतंत्र है, अर्थात् इन्द्रिय संवेद्यता के विना नियंत्रित है और इस प्रकार से वह अवभासों का इन्द्रिय संवेद्यतया अप्रतिबद्ध प्रतिबन्ध हो सकता है। पर इस बात को समझाना कि बुद्धिगम्य स्वरूप वर्तमान परिस्थितियों में ठीक अमुक प्रकार के अवभास और ठीक अमुक प्रकार का आनुभविक लक्षण क्यों प्रदान करता है, यह एक ऐसा प्रश्न है जो हमारी बुद्धि की समस्त शक्तियों से ही क्या वास्तव में उसके प्रश्न करने के समस्त अधिकारों से भी परे है, यह तो मानो यह पूछने के समान है कि हमारे बाह्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव का अनुभवातीत विषय केवल देशगत प्रत्यक्षानुभव ही क्यों प्रदान करता है, अन्य किसी प्रकार प्रत्यक्षानुभव क्यों नहीं प्रदान करता? पर जिस समस्या का हमको समाधान करना था वह हमको इस प्रकार के प्रश्नों से बिलकुल नहीं बाँधती, क्योंकि वह तो केवल इतनी ही थी, कि क्या एकमेवाद्वितीय व्यापार में स्वतंत्रता, या प्राकृतिक-अनिवार्यता के साथ विसंवादिता रखती है (अथवा नहीं रखती) और इसका उत्तर हमने पर्याप्तरूपेण दे दिया है; हमने यह दिखला दिया कि क्योंकि स्वतंत्रता का संबंध ऐसी शर्तों या प्रतिबन्धों से हो सकता है प्राकृतिक अनिवार्यता की शर्तों से बिलकुल भिन्न हैं, अतः प्राकृतिक अनिवार्य का

नियम स्वतंत्रता पर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता, अतः यह दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र रहते हुए और परस्पर एक दूसरे के प्रति बिना हस्तक्षेप किये विद्यमान रह सकती हैं ।

*　　　*　　　*

यह बात भले प्रकार ध्यान देने योग्य है कि हमने जो कुछ कहा है उसमें हमारा उद्देश्य उन शक्तियों में से (जिनमें हमारे ऐन्द्रिय जगत् के अवभासों के कारण अन्तर्विष्ट रहते हैं) एक शक्ति के रूप में स्वतंत्रता की वास्तविकता को स्थापित करने का नहीं रहा है । क्योंकि, यह अनुसंधान न केवल अनुभवातीत अनुसंधान ही नहीं होता (जिसका वास्ता केवल संबोधों से हुआ करता है, प्रत्युत इसके अतिरिक्त यह सफल भी न हुआ होता, क्योंकि अनुभव से कदापि भी किसी ऐसी बात का अनुमान नहीं किया जा सकता जिसका अनुभव के नियमों के अनुसार विचार न किया जा सकता हो । स्वाधीनता की संभाव्यता को सिद्ध करना तो हमारा उद्देश्य तक नहीं था, क्योंकि इस उद्योग में भी हमको सफलता नहीं मिलती, इसलिये कि केवलमात्र प्रागनुभवात्मक संबोधों से हम सामान्यतः किसी वास्तविक आधारभूत हेतु और उसकी संभाव्यता या कारणता को नहीं जान सकते । स्वतंत्रता यहाँ पर केवल एक अनुभवातीत भाव के रूप में माना जा रहा है जिसके द्वारा बुद्धि यह विचार किया करती है कि वह ऐन्द्रिकतया अप्रतिबद्ध के द्वारा अवभासों (के क्षेत्र) में प्रतिबंधों की शृंखला को आरंभ कर सकती है, और इसी लिए स्वयं उन्हीं नियमों के साथ विरोध में फँस जाती है जिनको वह स्वयं बोधवृत्ति के आनुभविक विनियोग के प्रति नियुक्ति करती है। और यह कि यह उपर्युक्त विरोध मात्र मायिक भ्रान्ति पर आघात है तथा प्रकृति, स्वतंत्रता की कारणता का विरोध तो कम से कम नहीं करती है बस यही इतनी सी बात हम सिद्ध कर सकते थे और इतनी सी बात को सिद्ध करने के लिये ही चिन्तित भी थे।

४

सामान्यरूपेण अपनी सत्ता के संबंध में अवभासों की परतंत्रता की समग्रता के सृष्टि विज्ञान-संबंधी भाव का समाधान

पूर्वगामी खंड में हमने इन्द्रियगोचर जगत् के परिवर्तनों को उनकी गत्यात्मक शृंखला के रूप में देखा है जिसकी प्रत्येक कड़ी अपनी पूर्वगामी कड़ी के इस प्रकार अधीन है जैसे कार्य कारण के अधीन होता है। अब यह अवस्थाओं की शृंखला एक ऐसी सत्ता की खोज में हमारा नेतृत्व करेगी जो समस्त परिवर्तनशील (तत्वों) की

सर्वोच्च प्रतिबंध (या शर्त) है—अर्थात् अनिवार्य सत्ता है। यहाँ पर वास्ता अप्रतिबद्ध कारणता से नहीं है, प्रत्युत स्वयं पदार्थ (=द्रव्य) के अप्रतिबद्ध अस्तित्व से है। अतएव जो श्रृंखला (या परम्परा) हमारे समक्ष है वास्तव में संबोधों की श्रृंखला है, न कि प्रत्यक्षानुभवों की जहाँ तक वे एक दूसरे के प्रतिबंध (शर्त) रूप होते हैं।

पर यह तो सरलता से देखा जा सकता है कि क्योंकि अवभासों के अन्तर्गत जो कुछ भी है वह सब परिवर्तनशील है, और इसलिये अपने अस्तित्व में प्रतिबद्ध है, अतएव परतंत्र सत्ता की समस्त श्रृंखला में कोई अप्रतिबद्ध कड़ी ऐसी नहीं हो सकती जिसका अस्तित्व परम अनिवार्य हो, और इसलिये यदि अवभास स्वयंसत्ताक वस्तुएँ होते और इस कारण यदि उनके प्रतिबन्ध प्रतिबद्धों के सहित सर्वदा प्रत्यक्षानुभवों की एकमेवाद्वितीय श्रृंखला से संबद्ध हों, तो ऐन्द्रिय जगत् के अवभासों के प्रतिबंध-स्वरूप किसी अनिवार्य सत् (-सत्ता) का अस्तित्व कदापि संभव नहीं हो सकता।

गणित के परावर्तन की अपेक्षा गत्यात्मक परावर्तन में यह विलक्षण भेद पाया जाता है कि क्योंकि गणित के परावर्तन का संबंध (या वास्ता) अवयवी को घटित करने वाले अवयवों के संयोजन के साथ अथवा अवयवी को उसके अवयवों में विघटित करने वाले विभाजन के साथ होता है, अतः इस श्रृंखला के प्रतिबन्ध सर्वदा श्रृंखला के खंड माने जाने चाहिये और इसी कारण समानजातीय और परिणामतः अवभास रूप माने जाने चाहिये; जब कि इसके विपरीत गत्यात्मक परावर्तन में दिये हुए भागों के अप्रतिबद्ध अवयवी की संभावना अथवा दिए हुए अवयवी के अप्रतिबद्ध खंड की संभावना के साथ हमारा वास्ता नहीं होता, प्रत्युत किसी अवस्था के उसके कारण से व्युत्पादन अथवा अनिवार्य सत्ता से स्वयं पदार्थ अथवा द्रव्य के ही संभाव्य अस्तित्व के व्युत्पादन के साथ वास्ता होता है, अतएव यह अनिवार्य नहीं है कि प्रतिबन्ध (या शर्त) भी प्रतिबद्ध के साथ ही किसी अनुभवगत श्रृंखला का घटक हो।

अतएव इस प्रत्यक्ष प्रतीयमान विरोध से बच निकलने का एक मार्ग हमारे लिये फिर भी रह ही जाता है; क्योंकि इन दोनों ही परस्पर विरोधी प्रस्थापनाओं में से प्रत्येक पृथक् पृथक् संदर्भ में एक ही समय में सत्य हो सकते हैं, और यह इस प्रकार संभव है कि ऐन्द्रिय जगत् में सभी वस्तुएँ संभाव्य होती हैं और इसलिये उनकी सत्ता आनुभविकतया नियंत्रित सत्तामात्र होती है, यद्यपि इसके साथ ही साथ समग्र श्रृंखला का एक अनुभवातीत प्रतिबन्ध हो सकता है, अर्थात् पूर्णतया अप्रतिबद्ध अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व हो सकता है। क्योंकि यह सत्ता, एक बुद्धिगम्य प्रतिबंध के रूप में, इस श्रृंखला के साथ इसकी कड़ी के रूप में इससे बिलकुल भी संबंध नहीं रखेगी (इसकी सर्वोच्च कड़ी के रूप में भी इससे कोई वास्ता नहीं रखेगी) और उस

शृंखला की किसी कड़ी को आनुभविकतया अप्रतिबद्ध ही कर देगी, प्रत्युत समस्त ऐन्द्रिय जगत् को, जहाँ तक कि उसके समस्त विभिन्न अवयवों के आनुभविकतया प्रतिबद्ध अस्तित्व का संबंध है, यह अप्रभावित (या अछूता) ही छोड़ देगी। किसी अप्रतिबद्ध सत्ता को अवभासों के मूलाधार में स्थित मानने का यह प्रकार, उस प्रकार से भिन्न है, जिसका विवेचन (या अनुसरण) हमने स्वतंत्रता की आनुभविकतया अप्रतिबद्ध कारणता का प्रतिपादन करते समय पिछले उपविभाग में किया था,क्योंकि वहाँ तो स्वतंत्रता की दृष्टि से, कारण के रूप में स्वयं वस्तु ही प्रतिबन्धों की शृंखला से संबद्ध समझी गई थी और केवल उसकी कारणता ही बुद्धिगम्य विचार की गई थी, यहाँ इसके विपरीत, अनिवार्य सत् (तत्व) को ऐन्द्रिय जगत् की शृंखला से पूर्णतया बाहर विचार करना पड़ेगा और विशुद्ध रूपेण बुद्धिग्राह्य मानना पड़ेगा––केवल जिसके द्वारा यह स्वयं, समस्त अवभासों के प्रति लागू होने वाले संभाव्यता और परावलम्बिता के नियम के अधीन सुरक्षित रह सकता है।

अतएव हमारे प्रस्तुत प्रसंग के संबंध में बुद्धि (अथवा प्रज्ञा) का नियामक सिद्धान्त यह है कि ऐन्द्रिय जगत् में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व आनुभविकतया प्रतिबद्ध अस्तित्व होता है, तथा इसके किसी भी गुण के संबंध में यह अप्रतिबद्धतया अनिवार्य नहीं हो सकता; एवं प्रतिबन्धों की शृंखला की प्रत्येक कड़ी के संबंध में किसी संभाव्य अनुभव में एक आनुभविक प्रतिबन्धों को प्राप्त करने की प्रत्याशा अवश्यमेव करनी चाहिये और जहाँ तक संभव हो उसकी खोज भी करनी चाहिये, तथा हमारा किसी भी अस्तित्व को आनुभविक शृंखला से बाहर के किसी प्रतिबंध से व्युत्पादित करना, अथवा उसको शृंखला के अन्तर्गत अपने स्थान पर पूर्णतया आत्मनिर्भर और आत्मस्थित मानना किसी के द्वारा कदापि न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता, पर इसके साथ ही साथ यह सिद्धान्त इस बात का बिलकुल भी निषेध करता कि समस्त शृंखला ऐसे बुद्धिगम्य सत्तत्व पर आश्रित हो सकती है जो समस्त आनुभविक प्रतिबन्धों से मुक्त हो और अपने में समस्त अवभासों की संभावना का आधार अन्तर्विष्ट रखता हो।

इस सब से हमारा उद्देश्य किसी किसी ऐसे सत्तत्व के अप्रतिबद्धतया अनिवार्य अस्तित्व को सिद्ध करने का नहीं है, और न इसके ऊपर ऐन्द्रिय जगत् के अवभासों के अस्तित्व के बुद्धिगम्य प्रतिबन्ध की संभावना को स्थापित करने का ही है, प्रत्युत, जैसे एक ओर हम जिस प्रकार बुद्धि को इसलिये मर्यादित (या सीमित) करते हैं कि कहीं वह आनुभविक सूत्र के पथप्रदर्शन को छोड़ कर लोकातीत में भटक कर उन व्याख्या के आधारों को अंगीकार न कर ले जो मूर्तरूप में प्रत्युपस्थापित किये जाने

के अयोग्य हैं, इसी प्रकार दूसरी ओर हम बोधवृत्ति के विशुद्ध आनुभविक विनियोग के नियम को भी मर्यादित करते हैं, कि जिससे वह वस्तु सामान्य की संभावना के संबंध में निर्णय करने का साहस न करने लगे तथा बुद्धिगम्य को केवल इस कारण असंभव घोषित न कर दे क्योंकि वह अवभासों की व्याख्या के लिये अनुपयुक्त है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से जो बात प्रदर्शित की गई है वह केवल यह है कि समस्त प्राकृतिक वस्तुओं और उनके आनुभविक प्रतिबन्धों की सर्वव्यापी संभाव्यता (अथवा अनिश्चितता) एक अनिवार्य किन्तु मात्र बुद्धिगम्य प्रतिबन्ध की स्वच्छन्द की पूर्वधारणा के साथ भली भाँति टिक सकती है, तथा इन दोनों दावों में कोई यथार्थ विसंवादिता नहीं है, अतएव वे दोनों ही सत्य हो सकते हैं। इस प्रकार का बोधवृत्ति के द्वारा प्रतिपादित नितान्त अनिवार्य सत्तत्व स्वयं अपने आप में भले ही असंभव क्यों न हो, परन्तु इस बात का अनुमान न तो ऐन्द्रिय जगत् से संबंध रखने वाली प्रत्येक वस्तु की विश्वव्यापी अनिश्चितता (या संभाव्यता) एवं पराधीनता से, और न उस सिद्धान्त से किसी प्रकार से किया जा सकता है जो हम को उस के किसी संभाव्य अवयवी पर ठहरने और विश्व से बाहर के किसी कारण का आह्वान करने से रोकता है। बुद्धि अपने आनुभविक विनियोग में अपने मार्ग का अनुसरण करती है एवं अनुभवातीत विनियोग में विशिष्ट पथ पर चलती है।

इन्द्रियग्राह्य जगत् में अवभासों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता और यह (अवभास) केवल प्रत्युपस्थापनाएँमात्र होते हैं जो सर्वदा इन्द्रियग्राह्यता से प्रतिबद्ध हैं; और क्योंकि इस क्षेत्र में स्वरूपतः वस्तुओं को हम अपने विषयों के रूप में प्राप्त नहीं करते, अतएव यह कोई आश्चर्य करने की बात नहीं कि हमारे लिये आनुभविक शृंखला किसी कड़ी से, चाहे वह कोई सी कड़ी क्यों न हो, इन्द्रिय ग्राह्यता के संदर्भ से बाहर इस प्रकार छलाँग मारना कदापि उचित नहीं हो सकता कि मानों वह (कड़ियाँ) स्वरूपतः सत् वस्तु हों तथा अपने अनुभवातीत आधार से पृथक् अपनी सत्ता रखती हों, तथा जिनको, उनकी सत्ता के कारण की उनसे बाहर खोज करने में, पीछे छोड़ा जा सकता है। यह सब ऐसी बातें हैं जो अन्ततः संभाव्य वस्तु के संबंध में सर्वथा घटित होंगी ही, किन्तु वस्तुओं की प्रत्युपस्थापनाओं के संबंध में, (जिनकी संभाव्यता स्वयं प्रातिभासिक है) घटित नहीं होंगी, तथा (यह संभाव्यता) उस परावर्तन को छोड़ कर जो कि प्रातिभासितकता का नियंत्रण करता, है अर्थात् आनुभविक परावर्तन को छोड़ कर, अन्य किसी परावर्तन की ओर नहीं ले जा सकती। पर इसके विपरीत अवभासों, अर्थात् इन्द्रियग्राह्य जगत् के बुद्धिग्राह्य आधार का विचार करना और उसको अवभासों की संभाव्यता (अथवा अनिश्चितता) से मुक्त

सोचना, न तो अवभासों की शृंखला में अपरिमित आनुभविक परावर्तन का विरोध करता है और न उनकी सर्वव्यापी संभाव्यता (अथवा अनिश्चितता) का । वास्तव में बस यही वह बात है जो हमको इस प्रातिभासिक विरोध को दूर करने के लिये करनी थी और यह केवल इसी प्रकार की जा सकती थी । क्योंकि यदि (अपने अस्तित्व के अनुसार) प्रत्येक प्रतिबद्ध का प्रत्येक प्रतिबन्ध सर्वदा इन्द्रियग्राह्य है, और इसलिये शृंखला से संबद्ध है, तो वह स्वयं भी, (जैसा कि चतुर्थ विरोध के विपक्ष में दिखलाया गया है) प्रतिबद्ध होगी। अतएव या तो उस बुद्धि के साथ (जो अप्रतिबद्ध को आधार-भूत मान्यता मान कर चलती है) विरोध बना ही रहेगा अथवा इस अप्रतिबद्ध तत्व को शृंखला से बाहर बुद्धिगम्य में स्थापित करना पड़ेगा, जिसकी अनिवार्यता न तो किसी आनुभविक प्रतिबन्ध की अपेक्षा ही करती है और न उसको अवकाश ही देती है, और इसलिये अवभासों की दृष्टि से अप्रतिबद्धरूपेण अनिवार्य है ।

इन्द्रियग्राह्य जगत् में अस्तित्व के प्रतिबन्धों के संबंध में बुद्धि का आनुभविक विनियोग विशुद्ध बुद्धिग्राह्य सत्तत्त्व को मान लेने से प्रभावित नहीं होता, प्रत्युत सर्व-व्यापी (या सर्वग्राही) संभाव्यता के नियम के अनुसार आनुभविक प्रतिबन्धों से उच्चतर प्रतिबन्धों की ओर आरोहण करता है, जो फिर भी सर्वदा आनुभविक ही होते हैं । परन्तु जब चरम उद्देश्यों के संबंध में बुद्धि के विशुद्ध विनियोग का प्रश्न उप-स्थित होता है तब तो यह नियामक मूलसिद्धान्त एक ऐसे बुद्धिग्राह्य कारण की मान्यता को जो शृंखला से बाहर होता है, और भी कम बहिष्कृत करता है । क्योंकि उस अवस्था में तो बुद्धिगम्य कारण, सामान्यतः इन्द्रियग्राह्य शृंखला की संभावना के विशुद्ध अनुभवातीत एवं (हमको)अज्ञात आधार को ही सूचित करता है, जिस का अस्तित्व जो कि समस्त इन्द्रियग्राह्य प्रतिबन्धों से स्वतंत्र, एवं इन प्रतिबन्धों की दृष्टि से अप्रतिबद्धतया अनिवार्य होता है, अवभासों की अपरिमित अनिश्चितता (या संभाव्यता) का विरोधी नहीं होता और न इसलिये आनुभविक प्रतिबन्धों की शृंखला में जो अनन्त परावर्तन है उसका विरोधी होता है ।

शुद्ध बुद्धि के समस्त विरोधों पर अन्तिम टिप्पणी

जब तक हम अपने बौद्धिक संबोधों (के साथ) में ऐन्द्रिय जगत् के प्रतिबन्धों की समग्रतामात्र को, तथा उनके संबंध में जो कुछ बुद्धि के लिये उपयोगी हो सकता है उसको विषय के रूप में रखते हैं तब तक हमारे भाव निश्चयमेव अनुभवातीत होते हैं किन्तु साथ ही सृष्टि विज्ञान से संबंध रखने वाले भी होते हैं । परन्तु ज्योंही हम अप्रतिबद्ध को (जिसके साथ ही वास्तव में हमारा यहाँ मुख्यतया वास्ता है)

उस स्थान में प्रस्थापित करते हैं जो ऐन्द्रिय जगत् के बिलकुल बाहर, अर्थात् समस्त संभाव्य अनुभव के बाहर, तभी भाव अनुभवातीत हो जाते हैं; तब वे केवल बुद्धि के आनुभविक विनियोग की पूर्णता के लिए ही काम नहीं आते, जो (पूर्णता का) भाव या विचार ऐसा भाव है जिसका अनुसंधान सर्वदा करना पड़ता है, यद्यपि वह कदापि भी पूर्णतया सम्प्राप्त (या सिद्ध) नहीं किया जा सकता, प्रत्युत वे अपने को अनुभव से पूर्णतया पृथक् कर लेते हैं और अपने लिए ऐसे विषयों की रचना करते हैं, जिनका उपादान अनुभव से ग्रहण किया हुआ नहीं होता, तथा जिनकी वैषयिक यथार्थता भी आनुभविक शृंखला पर निर्भर नहीं होती प्रत्युत विशुद्ध प्रागनुभवात्मक संबंधों पर निर्भर करती है। इस प्रकार के अनुभवातीत भावों का विषय केवल बुद्धिगम्य विषय होता है, और यह विषय सचमुच ही एक अनुभवातीत विषय के रूप में अंगीकार किया जा सकता है, पर ऐसा तभी हो सकता है जब यह भी निश्चयरूपेण मान लिया जाए कि उसके विषय में हम इसके अलावा और कुछ नहीं जानते, किन्तु जिसको, अपने विलक्षण और आन्तरिक विधेयों के द्वारा नियंत्रित वस्तु के रूप में विचार करने के लिये, हमको (उसके समस्त आनुभविक संबोधों के मुक्त होने के कारण) न तो उसकी संभावना का आधार ही उपलब्ध होता है और न इस प्रकार के किसी विषय को मानने के लिये हमारे पक्ष में लेशमात्र कोई औचित्य ही रहता है, अतएव वह केवल विचार प्रसूत वस्तु है। तिस पर भी वह सृष्टि विज्ञान-संबंधी विचार जिसने चौथे विरोध को उत्पन्न किया है हमको यह पग उठाने को प्रेरित करता है। क्योंकि अवभासों की सत्ता अपने आप में लेशमात्र भी आधारित न होने प्रत्युत सर्वदा प्रतिबद्ध होने के कारण हम से यह अपेक्षा (या माँग) करती है कि हम अपने चतुर्दिक सब अवभासों से विलक्षण किसी वस्तु को, अर्थात् किसी बुद्धिगम्य विषय को खोजें जिस में इस संभाव्यता (अथवा अनिश्चितता) का अन्त हो। पर क्योंकि जब हमने अपने को एक बार समस्त इन्द्रियगोचरता के क्षेत्र के बाहर एक आत्मनिर्भर वास्तविकता को स्वीकार करने की अनुज्ञा दे दी है, इसलिए अवभासों को ऐसे संभाव्य प्रकारमात्र माना जा सकता है जो उन व्यक्तियों या सत्ताओं के द्वारा जो स्वयं बुद्धियाँ हैं बुद्धिगम्य विषयों को प्रत्युपस्थापित करने में प्रयुक्त होते हैं, अतएव हमारे लिये उपमान या सादृश्य के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय शेष नहीं रहता, जिसके अनुसार हम उन बुद्धिगम्य वस्तुओं का किसी प्रकार संबोध बनाने के लिये [जिन वस्तुओं के अपने स्वरूप (स्वलक्षण) के संबंध में हम को लेशमात्र भी ज्ञान प्राप्त नहीं है] अनुभव के संबोधों का विनियोग किया करते हैं। क्योंकि हम संभाव्य को अनुभव के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं जान सकते, और यहाँ प्रसंग ऐसी वस्तुओं का है जो

किसी भी प्रकार अनुभव का विषय हो ही नहीं सकतीं, अतएव हमको उनका ज्ञान उससे व्युत्पादित करना होगा जो स्वयं अपने आप में अनिवार्य है, अर्थात् वस्तु सामान्य के शुद्ध संबोधों से व्युत्पादित करना होगा। इसलिये हमारा वह पहला पग जो कि हम इन्द्रियगोचर विश्व के बाहर रखते हैं हमको अपने नये ज्ञान को अत्यन्त अनिवार्य सत्तत्व के अनुसंधान से आरंभ करने, और उसके संबोधों से सब वस्तुओं के संबोधों को (जहाँ तक वे वस्तुएँ विशुद्धरूपेण बुद्धिगम्य हैं) व्युत्पादित करने के लिये बाध्य कर देता है; और यही प्रयत्न हम आगामी अध्याय में आरंभ करना चाहते हैं।

अनुभवातीत आन्वीक्षिकी की द्वितीय पुस्तक

तृतीय अध्याय

शुद्ध बुद्धि का आदर्श

प्रथम खंड

आदर्श सामान्य रूप में

यह ऊपर देख चुके हैं कि इन्द्रिय संवेद्यता के प्रतिबन्धों के बिना, बोध-वृत्ति के शुद्ध संबोधों के द्वारा कोई भी विषय प्रत्यस्थापित नहीं किये जा सकते; क्योंकि (उस अवस्था में) वैषयिक वास्तविकता के प्रतिबन्ध ही अनुपस्थित होते हैं, एवं उनमें विचारों के आकार के अतिरिक्त और कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। पर फिर भी यदि वे अवभासों के प्रति प्रयुक्त किये जाएँ तो वे मूर्तरूप में प्रदर्शित किये जा सकते हैं, क्योंकि अवभासों में उनको अनुभव के संबोधों के लिये समुपयुक्त उपादान उपलब्ध हो जाता है, जो (अनुभव का संबोध) मूर्तरूप में बोधवृत्ति के संबोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। परन्तु भाव तो वैषयिक यथार्थता से बौद्धिक प्रकारों से भी अधिक दूर हटे हुए होते हैं, क्योंकि कोई भी ऐसा अवभास नहीं पाया जाता जिसमें वे मूर्तरूप में प्रत्युपस्थापित किये जा सकें। उनमें एक ऐसी विशिष्ट पूर्णता पाई जाती है जिस तक कोई भी संभाव्य आनुभविक ज्ञान नहीं पहुँचता, तथा बुद्धि उनमें केवल एक व्यवस्थित एकता का लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, जिसके प्रति वह आनुभविकतया संभव एकता को निकटतम पहुँचाने का प्रयत्न करता है, पर कभी भी पूर्णतया उस तक पहुँच नहीं पा सकता।

पर जिसको मैं आदर्श कहता हूँ वह तो वैषयिक वास्तविक से भाव की अपेक्षा और भी अधिक दूर हटा प्रतीत होता है, तथा जिससे मैं भाव को न केवल मूर्तितः प्रत्युत व्यक्तिशः समझता हूँ अर्थात् ऐसी व्यक्तिरूप वस्तु समझता हूँ जो केवल भावमात्र से निर्धार्य अथवा निर्धारित तक होती है।

मानवता का भाव या प्रत्यय, अपनी निखिल पूर्णता में न केवल मानव स्वभाव से संबंध रखने वाली मुख्य विशिष्टताओं को (जो हमारे तत्संबंधी संबोध का निर्माण करती हैं) इस सीमा तक पहुँचे हुए विस्तार में अपने में अन्तर्विष्ट रखती है, जो उन

लक्ष्यों के साथ पूर्णसंवादिता से युक्त है, जो हमारे पूर्ण मानवता के भावरूप होंगे, प्रत्युत ऐसी प्रत्येक वस्तु को भी अपने में अन्तर्विष्ट रखती है जो इस संबोध से पथक् इस भाव के पूर्ण निर्धारण से संबध रखती है, क्योंकि समस्त विसंवादी विधेयों में से केवल एक अकेला ही परिपूर्ण मानव के भाव के प्रति लागू हो सकता है। जो हमारे लिये एक आदर्श है वह प्लातोन के लिये दिव्य बोधवृत्ति का एक भाव था, उसकी विशुद्ध अपरोक्षानुभूति का एक विविक्त विषय था, प्रत्येक प्रकार के संभाव्य सत्तत्वों में सर्वाधिक पूर्ण सत्तत्व था और अवभासों (के क्षेत्र) में समस्त अनुकृतियों का आद्य मूलरूप (आर्केतिपॉन्) था।

इतनी दूर तक ऊँची उड़ान भरे बिना ही हमको यह मानना पड़ता है कि मानव बुद्धि में न केवल भाव प्रत्युत आदर्श भी अन्तर्विष्ट होते हैं, जो निश्चयमेव प्लातोन के भावों के समान रचनात्मक शक्ति तो नहीं प्रत्युत (नियामक सिद्धान्त के रूप में), व्यावहारिक शक्ति तो रखते ही हैं, और सुनिश्चित व्यापारों की परिपूर्णता की संभावना का आधार बनते हैं। आचार-संबंधी संबोध पूर्णतया विशुद्ध बौद्धिक संबोध नहीं होते, क्योंकि वे किसी न किसी आनुभविक तथ्य—सुख या दुःख—परआश्रित होते हैं। फिर भी, उस सिद्धान्त या तत्व के संबंध में जिन के द्वारा बुद्धि, अपने आप में नियम रहित स्वतंत्रता को मर्यादित करती है, यह आचार संबंधी संबोध (जब कि हम केवल इनके आकारमात्र को ध्यान देते हैं) विशुद्ध बौद्धिक संबोधों के उदाहरण का काम भले प्रकार दे सकते हैं। सद्वृत्ति और उसके साथ मानवीय बुद्धिमत्ता अपनी परिपूर्ण शुद्धता में इसी कोटि के भाव हैं। पर (स्टोइक् दर्शन का) बुद्धिमान मनुष्य एक आदर्श है, अर्थात् एक ऐसा आदमी है जिसकी सत्ता केवल विचार में है पर वह बुद्धिमत्ता के भाव के साथ पूर्ण समनुरूपता रखता है। जैसे भाव हमको नियम प्रदान करता है, वैसे ही इस प्रकार के प्रसंग में आदर्श आद्यमूल के रूप में प्रतिलिपियों के परिपूर्ण नियंत्रण के काम आता है, तथा अपने अन्तर में स्थित इस दिव्य मानव के आचरण के अतिरिक्त हमारे पास अपने कार्यों के लिये और कोई मानदण्ड नहीं है, जिसके द्वारा हम अपनी तुलना और अपने संबंध में निर्णय कर सकते हों और इस प्रकार अपने को अधिक अच्छा बना सकते हों, यद्यपि हम उस मानदण्ड की ऊँचाई तक कभी नहीं पहुँच सकते। यद्यपि हम इन आदर्शों की वैषयिक यथार्थता को स्वीकार नहीं कर सकते, तथापि इस कारण उनको मनःकल्पित नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वे बुद्धि को एक ऐसा मानदण्ड प्रदान करते हैं जो उसके लिये अपरिहार्य है क्योंकि वे उसके संबोध की माँग करते हैं जो अपने प्रकार में नितान्त परिपूर्ण है, तथा जिसके द्वारा अपूर्ण की (अपूर्णता या पूर्णता की) मात्रा और दोषों की माप की जा सकती है। पर आदर्श को उदाहरण

में वास्तविकता प्रदान करने का प्रयत्न करना अर्थात् उसको अवभासों के क्षेत्र में अवतीर्ण करने का—जैसे कि उदाहरण के लिये पूर्ण बुद्धिमान मनुष्य के चरित्र को—किसी उपन्यास में अंकित करना, अव्यवहार्य है, और इस का उद्योग कुछ वेहूदा सा है और उसमें बहुत कम ऊँची शिक्षा देने की योग्यता है, क्योंकि वे स्वाभाविक संकोचन जो कि भाव की पूर्णता को निरन्तर आघात पहुँचाते रहते हैं, वे इस प्रकार के प्रयत्न से जिस अवभास को उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है उसको असंभव बना देते हैं और उस भलाई को भी जो भाव में निहित है मात्र काल्पनिक कथा की सदृशता प्रदान करके संदेहास्पद बना डालते हैं।

यह है स्थिति बुद्धि के आदर्श की जिसको सर्वदा सुनिर्धारित संबोधों पर निर्भर रहना पड़ता है तथा नियम और आदिम-मूलादर्श के रूप में काम आना पड़ता है फिर चाहे ऐसा अनुसरण करने के निमित्त हो अथवा निर्णय करने के। कल्पनाशक्ति की सृष्टियों की स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है, जिनके विषय में कोई भी स्पष्टीकरण नहीं कर सकता और न कोई बोधगम्य संबोध ही प्रदान कर सकता है; जो मोनोग्रामों के सदृश होते हैं, जो केवल एक अकेले अनोखे, किन्तु किसी भी निर्दिष्ट नियम के अनुसार नियोजित न हुए विन्यासमात्र होते हैं, सुनिर्धारित चित्र-बिम्ब की अपेक्षा विविध प्रकार के अनुभवों के उपादान से निर्मित धुँधली सी मँडराती हुई रूपरेखा के सदृश अधिक होते हैं, जिसके समान आकृतियों को चित्रकार और आकृतिलक्षणावेत्ता अपने मस्तिष्क में वहन करने का दावा किया करते हैं, तथा जिनको वे अपनी कृतियों अथवा आलोचनात्मक विभावनाओं तक का ऐसा धुँधला छाया-रूप बिम्ब मानते हैं जो अनन्य प्रेषणीय है। इस प्रकार की प्रत्युपस्थापनाओं को इन्द्रियसंवेद्यता का आदर्श कहा जा सकता है, यद्यपि ऐसा करना मात्र अनुपयुक्त होगा, क्योंकि वें संभाव्य दृष्ट प्रत्यक्षानुभव के अनधिगम्य प्रतिमान माने जाते हैं, किन्तु फिर भी कोई ऐसे नियम प्रदान नहीं करते जो स्पष्टीकरण अथवा परीक्षण के योग्य हों।

इसके विपरीत, अपने आदर्श में, बुद्धि का उद्देश्य, प्रागनुभवात्मकतया नियमों के अनुसार परिपूर्णतया निर्धारण करना है; तदनुसार वह अपने लिये ऐसे विषय का चिन्तन करती है जो सिद्धान्तों के अनुसार पूर्णतया निर्धार्य हो, यद्यपि इस के लिये पर्याप्त प्रतिबन्धों का अनुभव में अभाव ही रहता है और इस कारण यह संबोध स्वयमेव अनुभवातीत ही रहता है।

तृतीय अध्याय
द्वितीय खंड
अनुभवातीत आदर्श

प्रत्येक संबोध उस तत्व की दृष्टि से जो उसमें अन्तर्विष्ट नहीं होता अनिर्धारित हुआ करता है और निर्धार्यता के सिद्धान्त के अधीन होता है, जिसके अनुसार दो परस्पर व्याघाती विधेयों में से किसी एक का ही संबंध किसी संबोध से हो सकता है; यह ऐसा सिद्धान्त है जो व्याघाती-विरोध के नियम के ऊपर आश्रित है अतएव यह विशुद्धरूपेण यौक्तिक सिद्धान्त है, जो ज्ञान के अन्तर्विष्ट विषय की ओर लेशमात्र भी ध्यान नहीं देता, तथा उसके यौक्तिक आकार को छोड़ कर अन्य किसी को दृष्टि के समक्ष नहीं रखता।

परन्तु अपनी संभावना के अनुसार, प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण निर्धारणा के नियम के अधीन भी हुआ करती है, जिसके अनुसार वस्तुओं के समस्त संभाव्य विधेयों में से जहाँ तक कि वे अपने विरोधियों के साथ तुलना किये जाते हैं, एक विधेय उस वस्तु के प्रति अवश्य लागू होना चाहिये। यह सिद्धान्त केवल विसंवादिता के नियममात्र के ऊपर आश्रित नहीं है, क्योंकि यह प्रत्येक वस्तु का, दो परस्पर विसंवादी विधेयों के संबध में विचार करने के अतिरिक्त, समस्त संभावनाओं के संबंध में भी, अर्थात् वस्तुओं के समस्त विधेयों की समग्रता के संबंध में भी उसका विचार करता है, और क्योंकि वह इस समग्रता को प्रागनुभवात्मक प्रतिबन्ध के रूप में मान कर चलता है अतः वह प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार प्रत्युपस्थापित करने के लिये प्रवृत्त होता है कि मानों वह अपनी निजी संभावना को इस समस्त संभावना के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले अपने भागधेय से प्राप्त करती है। कां. अतएव परिपूर्ण निर्धारणा के सिद्धान्त का संबंध अन्तर्विष्ट विषय (अथवा वस्तु) से है, केवलमात्र औपचारिक आकार से नहीं है। यह उन समस्त विधेयों के (जो किसी वस्तु के पूर्ण संबोध को संघटित करने के लिये निर्दिष्ट हैं)

कां.—अतः इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु एक सार्विक सहसंबंधी के साथ संबद्ध होती है जो समग्र संभावना है, जो (अर्थात समस्त विधेयों का उपादान) यदि किसी एक अकेली वस्तु के भाव में पाया जा सके तो, उनके पूर्ण निर्धारण के आधार की अभिन्नता के द्वारा समस्त संभाव्य वस्तुओं की निकट संबंधिता को सिद्ध करेगा। जब कि (एक और प्रत्येक संबोध की निर्धारणीयता, दो विसंवादी विधेयों के अपवर्जित मध्य के सिद्धान्त की विश्वव्यापकता के अधीन होती है, तो (इसके विपरीत दूसरी ओर) किसी वस्तु की निर्धारणा समस्त संभव विधेयों की समग्रता या समाहार के अधीन हुआ करती है।

संश्लेषण का सिद्धान्त है, तथा दो परस्पर विसंवादी विधेयों के द्वारा किसी वस्तु की विश्लेषणात्मक प्रत्युपस्थापनामात्र का सिद्धान्त नहीं है, एवं इसमें एक अनुभवातीत आद्य-मान्यता अन्तर्विष्ट है जो समस्त संभावना के उपादान की पूर्व मान्यता है, जो प्रागनुभवात्मकतया प्रत्येक वस्तु की व्यष्टिगत संभावना की सामग्री को अपने में धारण किये हुए मानी जाती है।

यह जो प्रस्थापना है कि "प्रत्येक सत्तावान् वस्तु पूर्णतया निर्धारित (अथवा अध्यवसित होती है", इसका आशय केवल इतना ही नहीं होता कि प्रत्येक दिये हुए विसंवादी विधेयों के जोड़े में से एक विधेय सर्वदा उसके प्रति लागू होना चाहिये प्रत्युत इसका आशय यह भी होता है कि समस्त विधेयों में से एक उसके प्रति लागू हुआ करता है; अतः इस प्रस्थापना के द्वारा केवल विधेयों की परस्पर तर्कानुसार तुलना नहीं की जाती, प्रत्युत स्वयमेव वस्तु की ही, अनुभवातीत प्रकार से, समस्त संभाव्य विधेयों के समुदाय के साथ तुलना की जाती है। अतः जो बात यह प्रस्थापना कहना चाहती है वह यह है कि किसी वस्तु को पूर्णतया जानने के लिये, प्रत्येक संभव वस्तु (अथवा प्रत्येक संभव विधेय) को जानना आवश्यक है और तब उसके द्वारा उसको सकारात्मक अथवा नकारात्मक प्रकार से निर्धारित करना संभव है। परिणामतः परिपूर्ण निर्धारण एक ऐसा संबोध है जो अपनी समग्रता में, वास्तविकता अथवा मूर्ताकार में कदापि प्रदर्शित नहीं किया जा सकता, और इसीलिये यह ऐसे भाव पर आधारित है जिसका स्थान अथवा आसन केवल बुद्धि में है जो बोधवृत्ति के लिये उसके पूर्ण विनियोग के नियम को नियत करती है।

अब यद्यपि समस्त संभावना की समग्रता का यह भाव, जहाँ तक कि यह प्रत्येक वस्तु के परिपूर्ण निर्धारण के प्रतिबन्ध का आधार है, स्वयमेव अपने को घटित करने वाले विधेयों की दृष्टि से भी अनिर्धारित ही है, तथा हम समस्त संभव विधेयों के समाहार सामान्य के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में इसका विचार नहीं करते, तथापि अधिक निकटता से परीक्षा करने पर हम देखते हैं कि आद्य-संबोध के रूप में यह भाव ऐसे बहुत से विधेयों के समूह को पृथक् कर देता है जो या तो व्युत्पादित होने के कारण अन्य विधेयों के द्वारा पहले से ही दिये हुए होते हैं अथवा जो परस्पर एक दूसरे के निकट स्थित नहीं हो सकते, और इस प्रकार यह अपने को पूर्णतः प्रागनुभवात्मकतया परि-निर्धारित संबोध के रूप में संशोधित कर देता है तथा इस कारण एक एकल विषय का संबोध हो जाता है जो भावमात्र के द्वारा पूर्णतया निर्धारित होता है और जिसको इसलिये शुद्ध बुद्धि के आदर्श का नाम दिया जाना चाहिये।

जब हम सब संभव विधेयों पर केवल यौक्तिकतया ही विचार नहीं करते प्रत्युत

अनुभवातीत प्रकार से भी, अर्थात् उन अन्तर्विष्ट विषयों की दृष्टि से भी विचार करते हैं जो प्रागनुभवात्मकतया उनसे संबद्ध विचारे जा सकते हैं तो हम देखते हैं कि कुछेक के द्वारा तो सत् प्रत्युपस्थापित होता है एवं अन्य कुछ के द्वारा असत्मात्र की प्रत्युपस्थापना होती है। तार्किक निषेध जो कि छोटे से शब्द न (या नहीं) के द्वारा सूचित किया जाता है, वास्तव में कदापि भी संबोध के प्रति प्रयुक्त नहीं होता, प्रत्युत विभावना के अन्तर्गत इस संबोध के साथ किसी अन्य संबोध के संबंधमात्र के प्रति प्रयुक्त होता है और इसलिये वह किसी भी संबोध को उसके अन्तर्विष्ट विषय की दृष्टि से निर्धारित करने के लिये नितान्त अपर्याप्त होता है। 'अ-मर्त्य' शब्द हमको यह बात किसी प्रकार नहीं बतलाता कि इसके द्वारा विषय में किसी अ-सत् को प्रत्युपस्थापित किया जाता है, प्रत्युत यह अन्तर्विष्ट विषय को पूर्णतया अछूता छोड़ देता है। अनुभवातीत निषेध, इसके विपरीत, स्वरूपतः अ-सत् को (अथवा स्वलक्षण अ-सत् को) सूचित करता है, और अनुभवातीत 'विधि' का विरोधी होता है, जो (विधि) कुछ ऐसी वस्तु है कि जिसका संबोध स्वतः सत् को सूचित करता है, और इसीलिये वास्तविकता (वस्तु + ता) कहलाता है, क्योंकि केवल इसी के द्वारा, और केवल वहीं तक जहाँ तक यह पहुँचता है, पदार्थ या विषय कुछ (वस्तु) हुआ करते हैं, जब कि इसका विरोधी निषेध केवल अभावमात्र को सूचित करता है, और जहाँ केवल इसका विचार किया जाता है, यह सब वस्तुओं के निराकरण को ही सूचित करता है।

अब जहाँ तक निषेध के विचार करने का प्रश्न है कोई भी इसका विचार इसको इसके विरोधी 'विधि' पर आधारित किये बिना सुनिश्चिततया नहीं कर सकता। जन्म से अन्धा व्यक्ति अन्धकार की लेशमात्र भी प्रत्युपस्थापना नहीं कर सकता क्योंकि उसको प्रकाश का कुछ भी भान नहीं है, जंगली व्यक्ति को दारिद्रय का बोध नहीं होता क्योंकि वह ऐश्वर्य-सुख को नहीं जानता[कां.]। अज्ञानी को अपने अज्ञान का पता नहीं होता क्योंकि उसको ज्ञान का कोई भान नहीं होता, इत्यादि, इत्यादि। इस प्रकार निषेध के समस्त संबोध (परतः-) व्युत्पन्न हुआ करते हैं, और वास्तविक सत्ताएँ (या वास्त-

---

कां. ज्योतिर्विदों के निरीक्षणों तथा आकलनों ने हमको बहुत कुछ आश्चर्यपूर्ण बातों की शिक्षा दी है, परन्तु सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बात जो उन्होंने हमको सिखाई है वह यह है कि उन्होंने हमारे अज्ञान की अगाधता को उद्घाटित कर दिया है, जिसको मानवीय बुद्धि इस जानकारी के बिना, इतने विशालरूप में कदापि नहीं जान सकती थी, और इस प्रकार उद्घाटित अज्ञान के अनुचिन्तन को उस उद्देश्य के आँकने में, जिसके लिये हमारी बुद्धि का विनियोग होना चाहिये, महान् परिवर्तन उत्पन्न करना चाहिये।

विकताएँ) ही समस्त वस्तुओं की संभावना एवं परिपूर्ण निर्धारणा के निमित्त सामग्री को अथवा यूँ कहिए कि उपादान (=भौतिकोपादान) अथवा अनुभवातीत आधेय विषयवस्तु (इन्हाल्ट्—कॉण्टैण्ट्) को अपने में धारण किये रहती हैं।

इसलिये यदि हमारी बुद्धि परिपूर्ण निर्धारण के लिये एक अनुभवातीत आधार का उपयोग करती है, जिसमें मानों उस सामग्री का समस्त भण्डार संनिहित रहता है जिससे वस्तुओं के समस्त संभव विधेय ग्रहण किये जा सकते हैं तो यह अधिकरण आधार समस्त वास्तविकता के भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। सब सच्चे निषेध परिसीमन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, जो नाम उनके लिये तब तक प्रयुक्त नहीं हो सकता था जब तक कि वे अपरिसीम अर्थात् समग्र के ऊपर आधारित न होते।

परन्तु यह समस्त वास्तविकता को धारण करने वाले का जो संबोध है इसी के द्वारा परिपूर्णरूपेण निर्धारित स्वरूपतः सत् वस्तु (अथवा स्वलक्षण) का संबोध भी प्रत्युपस्थापित किया जाता है और यथार्थ सत् पदार्थ का संबोध वैयक्तिक सत् का संबोध है, क्योंकि समस्त संभव परस्पर विरोधी विधेयों (के युग्मों) में से एक विधेय, अर्थात् जो आत्यन्तिक सत् से संबंध रखता है, उसके निर्धारण में पाया जाता है। इसलिये यह एक अनुभवातीत आदर्श, जो उस पूर्णनिर्धारण के आधार का काम देता है जो उन सब के लिये, जो सत्तावान् हैं, अनिवार्य है, तथा जो समस्त सत्तावानों की संभावना की सर्वोच्च और परिपूर्ण भौतिक शर्त है, जिस तक विषय सामान्य के समस्त विचार-सूत्र को जहाँ उसके अन्तर्विष्ट विषय का संबंध है, खोजा जाना चाहिये। किन्तु इसके साथ ही साथ यह वह एकमात्र सच्चा आदर्श है जिसको मानवीय बुद्धि पा सकती है क्योंकि एकमात्र इसी प्रसंग में, किसी वस्तु का वह संबोध जो स्वयं अपने आप में सर्वव्यापी है, अपने आप में अपने ही द्वारा पूर्णतया निर्धारित हुआ करता है और वैयक्तिक प्रत्युपस्थापना के रूप में अभिज्ञात होता है।

बुद्धि के द्वारा किसी भी संबोध का तार्किक निर्धारण वैकल्पिक अनुमान-वाक्य पर आधारित होता है, जिसमें गुर्ववयव में यौक्तिक विभाजन (किसी सर्वव्यापी या सार्विक संबोध के मंडल या क्षेत्र का विभाजन) संनिविष्ट होता है, पक्षावयव इस क्षेत्र या मंडल को एक भाग में सीमित कर देता है और निगमन संबोध को इस भाग के द्वारा निर्धारित कर देता है। किसी सामान्य वास्तविकता का सार्विक संबोध प्रागनुभवात्मकतया विभक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुभव के बिना हम वास्तविकता के ऐसे किन्हीं सुनिश्चित प्रकारों को नहीं जानते जो उस प्रजाति के अन्तर्गत संनिहित हों। अतः समस्त वस्तुओं के परिपूर्ण निर्धारण का गुर्ववयव समस्त वास्तविकता के समाहार

की प्रत्युपस्थापना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह केवलमात्र ऐसा संबोध नहीं है जो समस्त विधेयों को उनके अन्तर्वर्त्ती अनुभवातीत विषय-वस्तु की दृष्टि से, अपने अधीन रखता है, प्रत्युत वह उनको अपने भीतर भी रखता है ; तथा प्रत्येक वस्तु का परिपूर्ण निर्धारण इस समग्र वास्तविकता के परिसीमन के ऊपर निर्भर रहता है, क्योंकि इसका कुछ भाग तो वस्तु से संबद्ध कर दिया जाता है और शेष बहिष्कृत या वर्जित कर दिया जाता है, (और यह ऐसी प्रक्रिया है) जो वैकल्पिक गुर्ववयव के या—या के साथ और विभाजन के एक अंङ्ग के द्वारा, पक्षावयव में विषय के निर्धारण के साथ संगत (या समन्वित) है। तदनुसार, बुद्धि की वह प्रक्रिया (या प्रयोग) जिसके द्वारा अनुभवातीत आदर्श समस्त संभाव्य वस्तुओं के निर्धारण का मूलाधार बन जाता है, उस प्रक्रिया के सदृश है जिसका अनुसरण वह (बुद्धि) वैकल्पिक अनुमान-वाक्य में किया करती है; और वास्तव में यही वह प्रस्थापना (या सिद्धान्त) था जिसके ऊपर मैंने समस्त अनुभवातीत भावों के सुव्यवस्थित विभाजन को आधारित किया था, तथा जो अनुमान-वाक्यों के तीन प्रकारों के समानान्तर और समनुरूप है।

यह बात तो स्वतः समझ में आ जाने वाली है कि बुद्धि वस्तुओं के अनिवार्य परिपूर्ण निर्धारण की प्रत्युपस्थापना के अपने उद्देश्य की सिद्धि में किसी ऐसे सत्तत्व की सत्ता को पूर्वतः मान कर नहीं चलती जो इस आदर्श से मेल खाती हो (अथवा इस आदर्श के अनुरूप हो), प्रत्युत ऐसे सत्तत्व के भावमात्र को पूर्वतः मान कर चलती है, और ऐसा वह केवल परिपूर्ण निर्धारण की अप्रगतिबद्ध समग्रता से, प्रतिबद्ध समग्रता अर्थात् परिसीमित या मर्यादित की समग्रता को व्युत्पादित करने के उद्देश्य से (किया) करती है। अतः आदर्श समस्त वस्तुओं का आद्याकार है, जिससे प्रत्येक और सब वस्तुएँ अपूर्ण अनुकृतियों के रूप में, अपनी संभावना का उपादान ग्रहण किया करती हैं, और यद्यपि वे समधिक मात्रा में उसके निकट पहुँचती हैं तथापि फिर भी उस तक पहुँचने में सर्वदा ही असफल रहती हैं।

इस प्रकार वस्तुओं की समस्त संभावना (अर्थात् अन्तर्विष्ट विषय की दृष्टि से, नानात्व के संश्लेषण की संभावना) को,—केवल एक अपवाद को छोड़ कर, अर्थात् उसकी संभावना को छोड़ कर जो अपने आप में समस्त वास्तविक को अन्तर्विष्ट रखता है, तथा जिसको भौतिक माना जाना चाहिये—(परतः) व्युत्पादित माना जाना चाहिये। क्योंकि समस्त अभाव या निषेध (जो केवलमात्र ऐसे विधेय हैं जिनके द्वारा कोई भी वस्तु वास्तविक (—यथार्थ) सत्ता से पृथक् की जाती है) एक वृहत्तर और अन्ततोगत्वा सर्वोच्च यथार्थ सत्ता के परिसीमनमात्र हुआ करते हैं, जो इस कारण इस यथार्थता की पूर्व सत्ता को मान कर चलते हैं, तथा अपने अन्तर्विष्ट विषय की

२९

दृष्टि से, उस से ही व्युत्पादित हुए होते हैं। वस्तुओं की समस्त बहुविधता या नानात्व उस सर्वोच्च वास्तविकता के संबोध को उतने ही विविध प्रकार से परिसीमित करने के प्रकारमात्र हैं (जो वास्तविकता) उन सब का समानरूपेण अधिष्ठान है और यह उसी प्रकार (संभव होता) जिस प्रकार समस्त आकृतियाँ अपरिसीमित देश को सीमित करने के विविध प्रकारों के रूप में ही संभव हुआ करती हैं। इसलिये बुद्धि के आदर्श का विषय, जो केवल बुद्धि में ही पाया जाने वाला विषय है, मूल सत्ता भी कहलाता है, जहाँ तक उसके ऊपर और कुछ नहीं है, यह परम सत्ता कहा जाता है और क्योंकि प्रत्येक प्रतिबद्ध या अवस्थित वस्तु उसके अधीन होती है अतः उसको समस्त सत्ताओं की सत्ता कहा जाता है। परन्तु इन सब शब्दों का यह आशय कदापि नहीं समझना चाहिये कि वे किसी यथार्थ विषय के साथ अन्य किसी वस्तु के संबंध को सूचित करते हैं प्रत्युत भाव के साथ संबोधों के संबंध को सूचित करते हैं, और हमको ऐसे अतिशय महत्त्वशाली विषय के अस्तित्व के संबंध में पूर्ण अज्ञान में ही छोड़ देते हैं।

और क्योंकि यह भी नहीं कहा जा सकता कि आद्य सत्ता बहुत सी व्युत्पादित सत्ताओं से घटित होती है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक उसके अस्तित्व को पूर्वतः मान कर प्रवृत्त होती हैं, अतएव वे उसको संघटित नहीं कर सकतीं, इसी कारण आद्य सत्ता का आदर्श अमिश्रित सरलरूप विचार किया जाना चाहिये।

परिणामतः, इस आद्य सत्ता से अन्य समस्त संभावना का व्युत्पादन, (यदि ठीक ठीक भाषा का प्रयोग किया जाए) उसकी परमोच्च वास्तविकता के परिसीमन के रूप में अथवा मानों उसके विभाजन के रूप में नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसी अवस्था में तो आद्यसत्ता व्युत्पादित सत्ताओं का जोड़ या समुदाय मानी जाएगी, जो पूर्वविवेचना के अनुसार असंभव, यद्यपि हमने अपनी प्रथम अविस्पष्ट रूपरेखा में इसको इसी प्रकार प्रत्युपस्थापित किया था। इसके विपरीत, परमोच्च यथार्थता, समस्त वस्तुओं की संभावना के आधारभूत हेतु के रूप में उनके मूल में निहित होती है न कि उनके योगफल या समाहार के रूप में, और वस्तुओं की बहुविधता (या नानात्व) स्वयं आद्य सत्ता के परिसीमन पर आश्रित नहीं होना चाहिये; प्रत्युत उससे निकलने वाले समग्र परिणाम पर आश्रित होने चाहिये जिसके अन्तर्गत अवभास में पाई जाने वाली समस्त वास्तविकता के सहित हमारी समस्त ऐन्द्रिय संवेदनशीलता भी (जो कि उपादानों के रूप में परमोच्च सत्ता के संबोध के साथ संबद्ध नहीं हो सकतीं) सम्मिलित हैं।

यदि हम अपने इस भाव का अनुसंधान करते हुए उसको स्वतंत्रसत्ताक वस्तु

मानने लगें तो हम सर्वोच्च यथार्थता के संबोधमात्र के द्वारा सर्वोच्च सत्ता को अवि-मिश्रित, सरल सर्वथा पर्याप्त शाश्वत एकल इत्यादि के रूप में, अथवा एक शब्द में समस्त अवस्थाओं के द्वारा उसकी अप्रतिबद्ध परिपूर्णता में निर्धारित करने में समर्थ होंगे। इस प्रकार के सत्तत्व (या सत्ता) का संबोध अपने अनुभवातीत अर्थ में गृहीत ईश्वर का संबोध है, और इस प्रकार शुद्ध बुद्धि का आदर्श, जैसा कि हमने इसको ऊपर प्रतिपादित किया, अनुभवातीत देवविद्या या धर्मविद्या का विषय है।

परन्तु अनुभवातीत भाव का यह विनियोग तो उसकी निर्धारणा और ग्राह्यता की सीमा का उल्लंघन कर देगा। क्योंकि बुद्धि ने वस्तुओं के परिपूर्ण निर्धारण के आधार के रूप में इसका विनियोग करने में इसको केवल समस्त वास्तविकता के संबोध के रूप में ही इसका उपयोग किया है, पर ऐसा करने में इस बात की माँग नहीं की है कि यह समस्त वास्तविकता वैषयिकतया दी हुई हो और स्वतः किसी वस्तु को संघटित करे। इस प्रकार की सत्ता कल्पनाप्रसूतिमात्र होगी, जिसमें हम अपने भाव के नानात्व को एक आदर्श में, एक व्यस्त सत्ता के रूप में समुच्चित करते हैं और वास्तविकता प्रदान करते हैं, परन्तु ऐसा करने का हमको कोई भी अधिकार नहीं है, और तो क्या इस प्रकार की अधिष्ठापना की संभावना की कल्पना करने का भी अधिकार नहीं है, और न ऐसे आदर्श से प्रतिफलित (या प्रवाहित) होने वाले समस्त परिणामों का ही वस्तु सामान्य के समग्र निर्धारण से ही कोई वास्ता है, और न वे इस संबंध में लेश-मात्र प्रभाव ही डालते हैं, और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये (अर्थात् उनके निर्धारण में सहायक होने के लिये) ही यह भाव अनिवार्य समझा गया था।

हमारी बुद्धि की प्रक्रिया और उसकी तर्क पद्धति का वर्णन कर देना भर पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत स्वयं इस भ्रान्ति को (जिसको इसने जन्म दिया है) बोधवृत्ति के आभास के रूप में स्पष्टतया समझा सकने के लिये इस तर्कसरणी के उद्गम को उद्घाटित करने का उद्योग किया जाना चाहिये; क्योंकि हम जिस आदर्श की चर्चा कर रहे हैं एक स्वाभाविक भाव पर आश्रित है किसी मनमाने स्वच्छन्द भाव पर आश्रित नहीं है। इसलिये मैं पूछता हूँ, कि यह कैसे संभव होता है कि बुद्धि वस्तुओं की समस्त संभा-वना को एक अकेली आधारभूत संभावना से व्युत्पादित मानता है, अर्थात् सर्वोच्च वास्तविकता की संभावना से व्युत्पादित हुआ मानता है, और तदुपरान्त इसको पूर्वतः एक व्यस्त आद्य सत्ता में अन्तर्विष्ट मानता है?

इस प्रश्न का उत्तर अनुभवातीत वैश्लेषिकी के विवेचनों में स्वयमेव स्पष्टतया मिल जाता है। ऐन्द्रिय विषयों की संभाव्यता, इन विषयों का हमारे विचारों के साथ संबंध है, जिसमें किसी वस्तु का (अर्थात् अनुभवगत आकार का) प्रागनुभवात्मक-

तया विचार किया जा सकता है, जब कि वह (तत्व) जिससे भौतिक पदार्थ घटित होता है, अर्थात् अवभासों के क्षेत्र में वास्तविकता को घटित करता है (जो संवेदन) अवश्यमेव अनुभव में दिया हुआ होना चाहिये, क्योंकि उसके बिना तो इसका विचार तक नहीं किया जा सकता और न इसकी संभावना को प्रत्युपस्थापित ही किया जा सकता है। अब, कोई भी ऐन्द्रिय विषय तभी परिपूर्णतया निर्धारित हो सकता है जब कि अवभास में यावत्संभव विधेयों के साथ उसकी तुलना कर ली जाए और स्वयं उनके द्वारा उसको या तो सकारात्मकतया अथवा नकारात्मकतया प्रत्युपस्थापित कर दिया जाए। परन्तु क्योंकि वह तत्त्व जो स्वयं वस्तु के रूप को संघटित करता है, अर्थात् जो यथार्थ है, अवश्य ही दिया हुआ होना चाहिये, जिसके बिना उस वस्तु का विचार तक लेशमात्र भी नहीं किया जा सकता, और क्योंकि वह (तत्व) जिसमें समस्त अवभासों का वास्तविक (तत्व) दिया होता है एक और सर्वसंग्रही अनुभव है, अतः समस्त ऐन्द्रिय विषयों की संभाव्यता के लिये अपेक्षित भौतिकोपादान को पहले से ही एक पूर्णावयवी में दिया हुआ मानना पड़ेगा, तथा आनुभविक विषयों की समस्त संभावना, उनकी एक दूसरे से पृथकता एवं उनकी परिपूर्ण निर्धारणा केवल इसके परिसीमनमात्र पर आश्रित होंगी। और अब, क्योंकि वास्तव में ऐन्द्रिय विषयों के अतिरिक्त अन्य कोई विषय, और वह भी संभाव्य अनुभव के संदर्भ के बाहर, दिये हुए नहीं हो सकते, परिणामतः कोई भी वस्तु हमारे लिये तब तक (अनुभव का) विषय नहीं हो सकती जब तक कि वह समग्र आनुभविक वास्तविकता के समाहार को पहले से ही अपनी संभावना के प्रतिबन्ध या शर्त के रूप में स्वीकार न किये हो। अब एक सहज स्वाभाविक भ्रान्ति के कारण हम इस सिद्धान्त को, जो केवल ऐसी वस्तुओं के विषय में लागू होता है जो हमारी इन्द्रियों के विषयों के रूप में प्रदत्त होती हैं, ऐसा सिद्धान्त मान बैठते हैं जिसको सामान्यतः समस्त वस्तुओं के संबंध में प्रामाणिक होना चाहिये। परिणामतः इस मर्यादा को एक ओर छोड़ते हुए, अवभासों के रूप में वस्तुओं की संभावना के अनेक संबोधों के आनुभविक सिद्धान्त को हम वस्तु सामान्य की संभावना के अनुभवातीत सिद्धान्त के रूप में मानने लगते हैं।

किन्तु अब जो इसके उपरान्त इस समस्त वास्तविकता के समाहार के भाव को हम स्वतंत्र सत्ता वाली वस्तु का रूप देने की ओर प्रवृत्त होते हैं यह इसलिये होता है क्योंकि हम बोधवृत्ति के आनुभविक विनियोग की वितरणात्मक एकता के स्थान पर समग्र अनुभव की समाहारात्मक एकता को तार्किक प्रक्रिया के द्वारा बदल कर स्थापित कर देते हैं, और तब हम इस अवभास की समग्रता को अपने प्रति एक ऐसी अकेली वस्तु के रूप में प्रत्युपस्थापित करते हैं जो सम्पूर्ण आनुभविक यथार्थता

को अपने अन्तर्विष्ट रखती हो, जो तत्पश्चात् पूर्वोक्त अनुभवातीत मिथ्योपलब्धि के माध्यम से एक ऐसी वस्तु की स्थानापन्न मान ली जाती है जो समस्त वस्तुओं की संभावना के उद्गम पर स्थित है, एवं उनकी परिपूर्ण निर्धारणा के लिये यथार्थ प्रतिबन्धों (या शर्तों) को प्रदान करती है [कां.]।

तृतीय अध्याय

तृतीय खंड

परम सत्ता के अस्तित्व की उपपत्ति के संबंध में चिन्तनात्मक बुद्धि की युक्तियाँ

कुछ ऐसी बात को, जो बोधवृत्ति के लिये अपने संबोधों को पूर्णतया निर्धारित करने के पर्याप्त आधार प्रदान कर सके, पूर्वतः स्वीकार करके चलने के लिये बुद्धि की अत्यधिक दबाव डालने वाली इस आवश्यकता के होते हुए भी वह इस प्रकार की पूर्वतः स्वीकृत अवधारणा के आदर्शात्मक और मात्र कल्पनाप्रसूत स्वरूप के संबंध में सरलता से इतनी सचेत होती है कि वह केवल इसी आधार पर अपने को इस बात के संबंध में मनाये जाने के लिये तैयार नहीं कर सकती कि उसके स्वयं अपने ही विचार की प्रसूति ही वास्तविक वस्तु है, जब तक कि (या, बशर्ते कि) दूसरी ओर से उसको उस प्रतिबद्ध की ओर से (जो कि दिया हुआ है) अप्रतिबद्ध के प्रति जाने वाले प्रत्यावर्तन में कहीं न कहीं अपना विश्राम स्थल खोजने के लिये दबाव डाल कर विवश न कर दिया जाए, तथा जो अप्रतिबद्ध निश्चयमेव न तो अपने आप में और न अपने संबोध-मात्र के रूप में—किसी भी रूप में वास्तविक सत्ता के रूप में दिया हुआ नहीं होता, किंतु जो केवल ऐसा होता है कि उन प्रतिबद्धों की शृंखला को, जिनको उनके मूलाधार में खोजा जा रहा है, पूरा कर सकता है। यही वह सहज-स्वाभाविक मार्ग है, जिसको

कां. यह जो समस्त वस्तुओं के यथार्थतम का आदर्श है, यद्यपि यह वास्तव में एक प्रत्यु-पस्थापनामात्र है, (पर) यह सर्वप्रथम यथार्थीकृत किया जाता है, अर्थात् इसको एक विषय का रूप दे दिया जाता है, तदुपरान्त इसको स्वतंत्र वैषयिक सत्ता प्रदान कर दी जाती है, और अन्त में जैसा कि हम अभी हाथों हाथ दिखलाएँगे बुद्धि की एकता की पूर्णता की जाने वाली स्वाभाविक प्रगति के द्वारा यह व्यक्तित्व को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि अनुभव की नियामक एकता स्वयं अवभासों के ऊपर ही (संवेदनशीलता के ऊपर ही) नहीं प्रत्युत (अनुव्यवसाय में) बोधवृत्ति के द्वारा जो नानात्व के संबंध के ऊपर निर्भर (या आश्रित) होती है इसलिये सर्वोच्च यथार्थता की एकता तथा समस्त वस्तुओं की परिपूर्ण निर्धारणीयता यह दोनों ही सर्वोच्च बोधवृत्ति में अन्तर्विष्ट प्रतीत होती हैं और इसी बोधगम्यता में भी अन्तर्विष्ट मालूम पड़ती हैं।

प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि (साधारणतम मनुष्य तक की बुद्धि) अंगीकार किया करती है, यद्यपि प्रत्येक मनुष्य इस पथ पर (अन्त तक) चलता नहीं रहता है। बुद्धि संबोधों से नहीं प्रत्युत सर्वसामान्य अनुभव से आरंभ करती है, और इस प्रकार अपने आधार के रूप में कुछ न कुछ सत्तावान् वस्तु को रखती है। पर यदि यह आधार आत्यन्तिक अनिवार्य की चट्टान पर टिका नहीं होता, तो स्वयं खिसकने लगता है। और जहाँ तक इस पुश्ते की दृढ़ता का प्रश्न है, यदि इसके परे और नीचे रिक्त अवकाश हो, यदि यह स्वयं सब वस्तुओं को इस प्रकार पूरित न किए हो कि 'कारण' वा हेतु के प्रश्न के लिये अवसर ही न रह जाए, अर्थात् यदि यह वास्तविकता में अनन्त न हो, तो यह स्वयं निराधार अधर में लटका रह जाएगा।

यदि किसी वस्तु की, चाहे वह वस्तु कुछ भी हो, सत्ता है, तो यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि किसी वस्तु की सत्ता अनिवार्य है। क्योंकि संभाव्य तो किसी ऐसे अन्य संभाव्य सत्ता के प्रतिबन्ध के अधीन सत्तावन् होता है जो उसका कारणरूप होती है, और इससे यही निर्णय हमको और आगे ले चलता है, यहाँ तक कि अन्त में एक ऐसे कारण तक जा पहुँचते हैं जो संभाव्य नहीं है और इसी कारण बिना शर्त के अनिवार्य है। यही वह युक्ति है जिसके ऊपर बुद्धि आद्य-सत्ता की ओर अपनी प्रगति को आधारित करती है।

अब बुद्धि एक ऐसे सत्त्व के संबोध की चारों ओर खोज करती है जो अस्तित्व की ऐसी उत्तमता के साथ उपयुक्ततया सोह सके जैसी कि अप्रतिबद्ध अनिवार्यता, परन्तु वह ऐसा इसलिये नहीं करती कि तब उसके संबोध से प्रागनुभवात्मकतया उसके अस्तित्व का अनुमान किया जाए (क्योंकि यदि वह ऐसा करने का साहस करे तो उसको अपने को केवल संबोधों तक ही सीमित रखना पड़ेगा और उसके लिये किसी दिए हुए अस्तित्व को आधार-स्वरूप स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिये) प्रत्युत वह ऐसा इसलिए करती है कि वह केवल संभाव्य वस्तुओं के समस्त संबोधों में से उस एक संबोध को खोज पाए जो अपने कोई बात न रखता हो जो निरपेक्ष अनिवार्यता से मेल न खाने वाली हो। क्योंकि यह बात तो प्रथम निष्कर्ष के पश्चात् ही स्थापित मान ली जाती है कि किसी न किसी आत्यन्तिकतया अनिवार्य वस्तु की सत्ता होनी ही चाहिये। तब यदि वह एक को छोड़ कर ऐसी सब वस्तुओं को जो इस अनिवार्यता के साथ मेल नहीं खातीं दूर कर सकती है, तो वही एक बची हुई वस्तु निरपेक्षतया अनिवार्य सत्त्व-रूप होनी चाहिये, फिर चाहे उसकी अनिवार्यता समवधारित की जा सकती हो, अर्थात् केवल उसके संबोध से व्युत्पाद्य हो, अथवा न हो।

अब वह सत्त्व जिसके संबोध में सब "किसलिये" के लिये "इ स लि ये" स नि हि त

है, जो किसी भी खंड में और किसी भी दृष्टि से सदोष नहीं है, जो शर्त या प्रतिबन्ध के रूप में सर्वत्र पर्याप्त है, ऐसा सत्त्व प्रतीत होता है जो इसी हेतु आत्यन्तिक अनिवार्यता के लिये समुपयुक्त है। क्योंकि जब कि इसमें यावत्संबद्ध वस्तुओं के प्रतिबन्ध या शर्तें संनिहित होती हैं, इसको स्वयं किसी प्रतिबन्ध की अपेक्षा नहीं होती। सच तो यह है कि यह प्रतिबंध क्षम ही नहीं, परिणामतः यह कम से कम इस एक दृष्टि से अप्रतिबद्ध अनिवार्यता के संबोध को संतुष्ट करता है; इस बात में अन्य कोई संबोध इसकी बराबरी नहीं सकता, क्योंकि वे त्रुटिपूर्ण होते हैं और उनको पूर्ण करने की अपेक्षा होती है,अतः वे समस्त अवशिष्ट प्रतिबन्धों से स्वाधीन होने का लक्षण प्रदर्शित नहीं कर सकते। यह सच है कि इससे अभी यह निष्कर्ष सुरक्षिततया नहीं निकाला जा सकता कि जो अपने में सर्वोच्च और सब दृष्टियों से परिपूर्ण शर्त को अपने में धारण किये नहीं होता, उसको अपने अस्तित्व की दृष्टि से प्रतिबद्ध होना (ही) चाहिये; परन्तु क्योंकि यह अप्रतिबद्ध सत्ता के उस एकमात्र विलक्षण लक्षण को अपने में नहीं रखता जिससे बुद्धि, (किसी) प्रागनुभवात्मक संबोध के द्वारा किसी सत्त्व को अप्रतिबद्ध रूप जानने में समर्थ होती है।

अतएव संभाव्य वस्तुओं के समस्त संबोधों के मध्य में सर्वोच्च वास्तविकता (से समन्वित) सत्व का संबोध, अप्रतिबद्धतया अनिवार्य सत्त्व के संबोध के साथ अधिकतम मेल खाने वाला है, और यद्यपि यह संबोध उसके लिये पूर्णतया समुपयुक्त या संतोषप्रद भले ही न हो, तथापि इस विषय में हमारे लिये इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है, हम इसी को मानते रहने में विवश हैं; क्योंकि अनिवार्य सत्त्व के अस्तित्व की अवहेलना तो हम कर नहीं सकते।'पर ज्योंही हम उसके अस्तित्व को अंगीकार करते हैं, तो समस्त संभावना के क्षेत्र में हमको कोई ऐसी वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती जो अस्तित्व के प्रकार में ऐसी उत्तमता के प्रति (उपर्युक्त संबोध की अपेक्षा) सुआश्रिततर दावा कर सके।

अतः मानवीय बुद्धि की प्रवृत्ति या प्रक्रिया इस प्रकार की है। यह किसी अनिवार्य सत्व के अस्तित्व में विश्वास के साथ आरंभ करती है। इस सत्त्व में इसको एक अप्रतिबद्ध अस्तित्व का अभिज्ञान मिलता है। तदुपरान्त यह उस (वस्तु) के संबोध की खोज के लिये स्वयमेव पर्याप्त प्रतिबन्ध है, अर्थात् उसमें पाती है जो समस्त वास्तविकता को अपने में अन्तर्विष्ट रखता है। परन्तु वह (सब) जो कि परिसीमा या मर्यादा के बिना है चरम निरपेक्ष एकता है, और किसी ऐसे अकेले के संबोध को अर्थात् सर्वोच्च सत्त्व को अपने में धारण किये रहता है, अतः बुद्धि इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि सर्वोच्च सत्त्व (=भाव) समस्त वस्तुओं के आद्य-आधार के रूप में चरम अनिवार्यता के

कारण सत्तावान् होना चाहिये ।

यदि हमारे समक्ष किसी निर्णय पर पहुँचने का ही प्रसंग प्रस्तुत है, अर्थात् यदि एक बार किसी प्रकार के अनिवार्य भाव को अंगीकार कर लिया गया है, और इसके आगे इस पर भी मतैक्य हो चुका है कि हमको यह भी निर्णय करना चाहिये कि इसको कहाँ स्थापित किया जाए, तो इस संबोध के लिये एक निश्चित आधार का निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि ऐसी अवस्था में इससे अधिक अच्छा विकल्प नहीं मिल सकता, अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अन्य कोई विकल्प है ही नहीं प्रत्युत संभावना के आद्योद्गम के रूप में, परिपूर्ण यथार्थता के चरमैकत्व के पक्ष में मत देने की विवशता है। किन्तु यदि हमको किसी निर्णय पर पहुँचना अपेक्षित नहीं है, और हम इस समस्त प्रसंग को तब तक खुला (अनिर्णीत) छोड़ा देना अधिक अच्छा समझते हैं, जब तक कि हम औपपत्तिक-युक्तियों की पूर्ण गुरुता के भार से अपनी स्वीकृति प्रदान करने के लिये बाधित न हो जाएँ, अर्थात् यदि, हमको केवल इस बात का अनुमान लगाना भर हो कि हम प्रस्तुत समस्या के संबंध में वास्तव में कितना जानते हैं, और कितना जानने के संबंध में अपनी चाटुकारी करते हैं (पर वास्तव में जानते नहीं); तब पूर्वोक्त तर्क (अथवा निर्णय) इतने अनुकूल अथवा सुविधाजनक आकार में प्रतीत होने से बहुत दूर रहता है, और उसके दावों की त्रुटियों (दोषों) की पूर्ति के लिये विशेष अनुग्रह अपेक्षित होता है।

क्योंकि यदि हम समस्त प्रसंग को उसी रूप में स्वीकार कर लें जिसमें कि वह यहाँ हमारे सामने प्रस्तुत है, अर्थात् प्रथम, किसी भी दिए हुए अस्तित्व से (स्यात् स्वयं मेरे अपने ही अस्तित्व से) किसी अप्रतिबद्धतया अनिवार्य भाव (या सत्त्व) के अस्तित्व का सही निष्कर्ष घटित हो सकता है, दूसरे मुझे एक ऐसे सत्त्व (या भाव) को जो अपने में समस्त वास्तविकता और इसीलिये प्रत्येक प्रतिबंध को अन्तर्विष्ट रखता है, पूर्णतया निरपेक्ष मानना चाहिये, और परिणामतः यह भी मानना चाहिये कि इसी के द्वारा एक ऐसी वस्तु के संबोध को भी पा लिया गया है जो चरम अनिवार्यता से मेल खाने वाली है; यह सब कुछ मान लेने पर भी तो यह निष्कर्ष बिलकुल नहीं निकलता कि किसी सीमित सत्त्व का संबोध जो सर्वोच्च वास्तविकता नहीं रखता, इसी हेतु निरपेक्ष अनिवार्यता का विरोधी है। क्योंकि, यद्यपि मैं उसके संबोध में उस अप्रतिबद्ध को उपलब्ध नहीं करता जो पहले से ही समस्त प्रतिबन्धों को अपने में धारण किए हुए हो, तथापि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि उसका अस्तित्व भी इसी कारण प्रतिबद्ध होना चाहिये; और यह ठीक इसी प्रकार, जैसे कि मैं सोपाधिक अनुमान-वाक्य के प्रसंग में यह नहीं कह सकता कि जहाँ कोई निश्चित प्रतिबन्ध (अर्थात्

यहाँ पर संबोधों के अनुसार पूर्णता का प्रतिबन्ध) नहीं होता, वहाँ पर प्रतिबद्ध भी नहीं होता। इसके विपरीत हमको इस बात को मानने की पूर्ण स्वतंत्रता रहेगी कि समस्त अवशिष्ट परिसीमित सत्त्व भी चाहे वे कुछ भी क्यों न हों, अप्रतिबद्धतया अनिवार्य भी हो सकते हैं, यद्यपि हमको उनके जो सर्वव्यापी (या सार्विक) संबोध प्राप्त हैं उनसे हम उनकी अनिवार्यता का अनुमान नहीं कर सकते। पर इस प्रकार तो इस तर्क (या युक्ति) ने हमको अनिवार्य सत्त्व की विशिष्टताओं का लेशमात्र संबोध भी नहीं प्रदान किया, और सर्वथा कुछ भी प्रतिपादन् नहीं किया।

फिर भी इस युक्ति के लिये एक सुनिश्चित महत्त्व और अधिकार बना ही रहता है, जो केवल इस वैषयिक अपर्याप्तता के आधार पर ही उससे तत्काल अपहृत नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह मान लीजिए कि कुछ ऐसे दायित्वपूर्ण बन्धन हैं जो बुद्धि के विचार में बिल्कुल उचित हैं पर जो उनके हमारे प्रति विनियोग में समस्त यथार्थता से रहित हैं,अर्थात् जो हमारे प्रति कोई प्रेरक-शक्ति नहीं रखते, जब तक एक ऐसे परम सत्त्व को पूर्वतः न स्वीकार किया जाए जो व्यावहारिक नियमों या विधानों को कार्यान्विति और समर्थक पोषण प्रदान कर सकता है। ऐसी स्थिति में हमको उन संबोधों के अनुसरण करने का दायित्वपूर्ण बंधन वहन करना होगा जो भले ही वस्तुगत्या पर्याप्त न हों, तथापि हमारी बुद्धि के मानदंड के अनुसार अतिशय भार रखते हैं, तथा जिनकी तुलना में हम अन्य किसी ऐसी बात को नहीं जानते जो उनसे अधिक अच्छी और विश्वासोत्पादक हो। यहाँ निर्णय करने का कर्तव्य (अथवा वरण करने का कर्तव्य) चिन्तन की अनिर्णयकारिता के (विरुद्ध) पलड़े को व्यावहारिक योग के द्वारा सन्तुलन के बाहर कर देगा। इतना ही नहीं, यदि हमारी बुद्धि, इतने दबाव डालने पर संप्रेरकों के अधीन होते हुए भी, यद्यपि केवल अपुष्कल अन्तर्दृष्टि वाली होने पर भी अपनी विभावना के उन आधारों का अनुसरण न करे, हम कम से कम जिनसे अधिक अच्छे अन्य किसी को नहीं जानते, तो वह जिससे अधिक सोच-विचार करने वाला कोई भी न्यायाधीश नहीं है, स्वयं अपनी ही दृष्टि में कोई औचित्य नहीं पा सकेगी।

यह युक्ति, यद्यपि संभाव्य की स्वगत आन्तरिक अपर्याप्तता के ऊपर आधारित होने के कारण वास्तव में अनुभवातीत ही है, तथापि इतनी सरल और स्वाभाविक है, कि ज्योंही इसका प्रतिपादन किया जाता है त्योंही यह साधारणतम मानवीय बोध के लिये उपयुक्त लगने लगती है। वस्तुएँ परिवर्तित होते हुए, उत्पन्न होते हुए और नष्ट होते हुए दिखलाई देती हैं, अतः इन वस्तुओं, अथवा कम से कम उनकी अवस्था का कोई कारण अवश्यमेव होना चाहिये। परन्तु यही प्रश्न उस प्रत्येक कारण के विषय

में भी पूछा जा सकता है जो किसी समय अनुभव में दिया हुआ हो सकता है। तो अब हमको चरम (अन्तिम) कारणता को उस स्थान के अतिरिक्त जहाँ कि सर्वोच्च या परम कारणता है और किस स्थान पर स्थापित करना चाहिये, अर्थात् उसी सत्त्व में स्थापित करना चाहिये जो अपने आप में मूलत: ही प्रत्येक संभाव्य कार्य के पर्याप्त कारण को अन्तर्विष्ट रखता है, और जिसके संबोध की भी प्रतीति एक सर्वग्राही पूर्णता के द्वारा बहुत सरलता से हो सकती है। और तब (अर्थात् ऐसा करने के उपरान्त) इस परम कारण को हम निरपेक्ष-भाव से अनिवार्य मानने लग जाते हैं, क्योंकि उस तक आरोहण करना हमको नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है और उसके परे जाने का (या अतिक्रमण करने का) कोई आधार नहीं मिलता। इसलिये सभी जातियों में उनके परम अन्धकारावृत बहुदेववाद में भी हमको एकेश्वरवाद की हलकी किरणें चमकती दिखलाई पड़ जाती हैं, जिसके प्रति वे मनन या गंभीर चिन्तन के द्वारा नहीं पहुँचे हैं प्रत्युत साधारण बोधवृत्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा उसके समीप पहुँचे हैं, जो शनैः शनैः समझने योग्य बन सकी है।

चिन्तनात्मक बुद्धि के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के केवल तीन ही प्रकार संभव हैं

वे सब मार्ग जो इस लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं या तो सुनिर्धारित अनुभव से और उसके द्वारा जानी गई हमारे ऐन्द्रिय जगत् की संघटना से आरंभ होते हैं और उससे कार्यकारण-भाव के नियम के अनुसार उत्तरोत्तर आरोहण करते हुए, संसार के परे सर्वोच्च आद्य-कारण तक जा पहुँचते हैं, अथवा वे ऐसे अनुभव को आधार मान कर प्रवृत्त होते हैं, जो अनिर्धारितमात्र है अर्थात् अस्तित्व के अनुभव सामान्य को आधार मान कर प्रवृत्त होते हैं। अथवा अन्ततः वे समस्त अनुभव से कोई वास्ता न रख कर, केवल संबोधों के सहारे बिलकुल प्रागनुभवात्मकतया युक्तियोजना से परम-कारण के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। प्रथम उपपत्ति भौतिक-धार्मिक उपपत्ति है, दूसरी विश्वरचना संबंधी और तीसरी सत्ता संबंधी है। इससे अधिक उपपत्तियाँ न तो हैं और न हो सकती हैं।

मैं यह दिखलाऊँगा कि बुद्धि जितनी थोड़ी प्रगति प्रथम (अनुभवात्मक) मार्ग पर करती है उतनी ही दूसरे मार्ग (अनुभवातीत मार्ग) पर करती है, तथा वह केवल-मात्र चिन्तन के बल पर ऐन्द्रिय जगत् के परे पहुँचने के लिये बेकार ही अपने पंख पसारा करती है। जहाँ तक इन उपपत्तियों के युक्तिप्रकारों के प्रस्तुत करने के क्रम का संबंध है, यह उस क्रम का बिलकुल उलटा होगा जिसको बुद्धि अपने क्रमिक-विकास में ग्रहण किया करती है, और उस क्रम का भी उलटा होगा जिसमें हमने उनको पहले-

पहल प्रदर्शित किया है। क्योंकि यह बात स्वयं स्पष्ट प्रकट हो जाएगी कि, यद्यपि इस कार्य में प्रथम प्रेरणा (तो) अनुभव (ही) प्रदान करता है तथापि बुद्धि को उसके इस प्रयत्न में पथ-प्रदर्शन का कार्य केवल अनुभवातीत संबोध ही करता है, और वही ऐसे सब उद्योगों में उस लक्ष्य को प्रदर्शित करता है, जिसको प्राप्त करने का निश्चय बुद्धि स्वयं किया करती है। अतः मैं अनुभवातीत उपपत्ति के परीक्षण से श्रीगणेश करूँगा और तदुपरान्त यह देखूंगा कि आनुभविक तत्वों के योग से युक्तियों के बल में क्या वृद्धि होती है।

तृतीय अध्याय

चतुर्थ खंड

ईश्वर के अस्तित्व की तत्वविद्या-संबंधी उपपत्ति की अशक्यता

अब तक के विवेचन से यह सरलता से दिखलाई देता है कि नितान्त अनिवार्य सत्त्व का संबोध एक बौद्धिक सम्बोध है अर्थात् भावमात्र है, जिसकी वैषयिक या वस्तुगत यथार्थता, इस हेतु कि बुद्धि को उसकी अपेक्षा होती है, दूर तक भी सिद्ध नहीं हुई है, जो (भाव) केवल एक सुनिश्चित किन्तु अलभ्य परिपूर्णता के संबंध में सूचना देता है, और वास्तव में नवीन विषयों तक हमारी बोधवृत्ति को विस्तृत करने की अपेक्षा उसको सीमित करने का ही काम अधिक करता है। पर अब यहाँ एक अनोखी और असंगत स्थिति उपस्थित हो जाती है कि जबकि (एक ओर) एक दिए हुए अस्तित्व सामान्य से किसी नितान्त अनिवार्य सत्ता का अनुमान प्रबाधक और सही प्रतीत होता है, तभी वे सब प्रतिबन्ध जिनके अनुसार बोधवृत्ति इस प्रकार की अनिवार्यता के संबोध का निर्माण कर सकती है पूर्णतया हमारे विरुद्ध बाधक हो जाते हैं।

नितान्त अनिवार्य सत्त्व (या तत्व) की चर्चा तो सभी युगों में चलती रही है, और फिर भी इस बात को समझने का उतना कष्ट नहीं किया गया है कि इस प्रकार की वस्तु विचार करने के योग्य भी है अथवा नहीं और यदि विचार करने योग्य है तो किस प्रकार से है, जितना अधिक कष्ट उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये किया गया है। जहाँ तक इस संबोध की शाब्दिक परिभाषा का प्रश्न है वह तो निश्चय ही पूर्णतया सरल है, कि वह कुछ एक ऐसी वस्तु है जिसका अनस्तित्व असंभव है, पर किसी वस्तु के अस्तित्व को नितान्त अचिन्त्यरूप मानना ऐसी बात है जिससे कोई, उन प्रतिबन्धों के संबंध में, जो उसको अनिवार्य बनाते हैं कुछ भी अधिक जानकार नहीं हो सकता, और वास्तव में यह प्रतिबन्ध ही वह चीज़ है जिनको जानना अभीष्ट है, जिससे हम यह जान सकें कि इस संबोध से हम सर्वत्र किसी वस्तु का विचार कर

रहे हैं अथवा नहीं कर रहे हैं। क्योंकि किसी वस्तु को अनिवार्य मानन के लिये जिन सब प्रतिबन्धों की बोधवृत्ति को अपेक्षा होती है उनको दूर करने के लिये "अप्रतिवद्ध" शब्द का प्रयोग मुझे दूर तक भी यह समझन योग्य नहीं बनाता कि मैं ऐसी अवस्था में किसी अप्रतिवद्ध-अनिवार्य के संबोध के द्वारा किसी वस्तु का विचार भी कर रहा हूँ, या शायद किसी भी वस्तु का विचार नहीं कर रहा हूँ।

इतना ही नहीं, इससे भी अधिक यह बात है कि इस प्रथमतः केवल दैवयोग से विचेष्टित और अन्ततः पूर्णतया सुपरिचित हुए संबोध के संबंध में ऐसा विश्वास कर लिया गया है कि अनेकों उदाहरणों के समूह से इसको स्पष्ट कर दिया गया है जिससे इस कारण इसकी बोधगम्यता के संबंध में और आगे अविक पूछताछ करना नितान्त अनावश्यक प्रतीत होने लगा है। भूमितिशास्त्र की प्रत्येक प्रस्थापना—यथा एक त्रिकोण में तीन कोण होते हैं—नितान्त अनिवार्य होती है, इसी तथ्य के आधार पर यह चर्चा चल पड़ी है कि किसी ऐसे विषय के संबंध में, जो हमारी बोधवृत्ति के क्षेत्र के बिलकुल बाहर स्थित है, विवेचन करने में हम उसके संबोध के द्वारा जो भाव प्रकट करना चाहते हैं, उसको मानों हम पूर्णतया समझते हैं, हमारा ऐसा मानना न्यायानुमोदित है।

बिना किसी अपवाद के सभी अभिकथित उदाहरण विभावनाओं से लिये गये हैं, वस्तुओं और उनके अस्तित्व से ग्रहण नहीं किये गये हैं। पर विभावनाओं की अप्रतिबद्ध अनिवार्यता वस्तुओं की चरम अनिवार्यता नहीं है। क्योंकि विभावना की चरम अनिवार्यता वस्तु की अथवा विभावना में विधेय की प्रतिबद्ध अनिवार्यतामात्र है। उपर्युक्त प्रस्थापना यह घोषित नहीं करती कि तीन कोण निरपेक्षतया अनिवार्य हैं, प्रत्युत यह कहती है कि इस प्रतिबन्ध के अधीन कि त्रिकोण है उसमें तीन कोण भी अनिवार्य प्रकार मे उपलब्ध होंगे। तो भी इस यौक्तिक अनिवार्यता ने अपनी भ्रान्ति की इतनी महान् शक्ति को सिद्ध कर दिखाया है कि किसी वस्तु का एक प्रागनुभवात्मक संबोध (जो इस प्रकार संघटित किया गया था कि उसके गोचर क्षेत्र में उसके अस्तित्व को भी सम्मिलित कर लिया गया था) बना लेने के उपरान्त, यह विश्वास किया गया कि यह कुशलतया अनुमान किया जा सकता है कि क्योंकि इस विषय के संबोध के साथ अस्तित्व अनिवार्यतया संबद्ध है—(अर्थात् इस प्रतिबंध या शर्त के अधीन कि मैं इस वस्तु को दिया हुआ (सत्तावान्) प्रस्थापित कर रहा हूँ)—अतः उसकी सत्ता भी (तादात्म्य के नियम के अनुसार) प्रस्थापित होगी और वह सत्त्व (या भाव) भी परिणामतः स्वयं नितान्त होगा, क्योंकि उस (सत्त्व या भाव) का अस्तित्व यादृच्छिकतया अंगीकृत संबोध के अनुसार और इस प्रतिबन्ध के साथ कि मैं उसके विषय को भी

प्रस्थापित कर रहा हूँ सोचा गया है ।

यदि मैं किसी एकात्मक विभावना या प्रस्थापना में विधेय को अस्वीकृत कर दूँ और उद्देश्य को यथावत् बना रहने दूँ तो विसंवादिता उत्पन्न हो जाती है, इसलिये मैं कहता हूँ कि विधेय उद्देश्य के साथ अनिवार्यतया संबद्ध है । पर यदि मैं उद्देश्य के साथ विधेय को अस्वीकृत कर दूँ तो कोई विसंवादिता उत्पन्न नहीं होगी, क्योंकि जिसके साथ विसंवादिता या विरोध हो सके ऐसी कुछ भी वस्तु अवशिष्ट नहीं रह गई है । किसी त्रिकोण को (तो) प्रस्थापित करना और फिर तीन कोणों को अस्वीकृत करना स्वविसंवादिता है, पर त्रिकोण को उसके तीनों कोणों के सहित अस्वीकृत कर देना कोई विसंवादिता नहीं है । यही बात नितान्त अनिवार्य सत्त्व के संबोध के संबंध में भी लागू होती है । यदि उसके अस्तित्व को अस्वीकृत कर दिया जाए तो अपने समस्त विधेयों के सहित वह वस्तु ही स्वयं अस्वीकृत हो जाती है, तो फिर ऐसी अवस्था में विसंवादिता कहाँ से उत्पन्न होगी ? उससे बाहर कुछ नहीं है जो उस अवस्था में विसंवादित या निराकृत होगा, क्योंकि वह वस्तु बाहर की ओर से (किसी बाह्य कारण से) तो अनिवार्य होनी नहीं चाहिये; और न कुछ आन्तरिक वस्तु ऐसी है जो उस अवस्था में निराकृत होगी, क्योंकि स्वयं वस्तु को अस्वीकार करने में हमने उसी समय उसके आन्तरिक गुणों (या विशेषताओं) को भी अस्वीकृत कर दिया है । "ईश्वर सर्वशक्तिमान है" यह एक अनिवार्य विभावना या प्रस्थापना है। यदि आप ईश्वर अर्थात् एक अनन्तसत्त्व को प्रस्थापित करते हैं तो सर्वशक्तिता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि ये दोनों संबोध परस्पर अभिन्न हैं । पर जब तुम यह कहते हो कि "ईश्वर नहीं है" तो न तो सर्वशक्तिमत्ता और न उसका अन्य कोई विधेय, कुछ भी दिया (या उपलब्ध) नहीं रहता, क्योंकि वे सब के सब उद्देश्य के साथ ही अस्वीकृत कर दिये गये, और इसलिये इस प्रकार के विचार (या विभावना) में कोई विसंवादिता दिखलाई नहीं पड़ती ।

इस प्रकार आपने देख लिया कि यदि मैं किसी विभावना (या प्रस्थापना) के विधेय को उसके उद्देश्य के सहित अस्वीकृत कर देता हूँ तो कभी भी कोई आन्तरिक विसंवादिता उत्पन्न नहीं हो सकती, फिर चाहे वह विधेय चाहे कुछ भी क्यों न हो । तो अब इस निष्कर्ष से बच निकलने का मार्ग आपके लिये इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है कि आप यह कहें कि इस प्रकार के भी उद्देश्य हुआ करते हैं जो बिलकुल अस्वीकृत नहीं किये जा सकते, एवं जो इस कारण सर्वदा बने ही रहते हैं । पर यह तो यही कहने के बराबर होगा कि आत्यन्तिक तथा अनिवार्य उद्देश्य (भी) होते हैं; यह एक (पूर्व) मान्यता है जिसकी साधुता के संबंध में मैंने अभी सन्देह प्रकट किया है,

तथा जिसकी संभावना तुम प्रदर्शित करना चाहते हो। क्योंकि मैं अपने प्रति किसी ऐसी वस्तु का अल्पतम संबोध भी नहीं बना सकता, जो अपने समस्त विधेयों के सहित चिन्तन में विनष्ट होने पर अपने पीछे विसंवादिता को छोड़ जाएगी। और विसंवादिता के अतिरिक्त, केवल शुद्ध प्रागनुभवात्मक संबोधों के द्वारा, मेरे पास असंभाव्यता की और कोई कसौटी या पहचान नहीं है।

इन सब सामान्य युक्तियों के (जिनको कोई भी मनुष्य अस्वीकार नहीं कर सकता) होते हुए भी इनके विरुद्ध तुम एक प्रसंग के द्वारा, जिसको तुम तथ्य द्वारा उपपत्ति के रूप में प्रत्युपस्थापित करते हो, मुझे चुनौती देते हो कि एक, और निश्चय यही एक, संबोध इस प्रकार का उपलब्ध होता है कि जिसके संबंध में अनस्तित्व अथवा उसके विषय की अस्वीकृति या निराकरण स्वयं अपने आप में विसंवादी है, और यह यथार्थतम सत्त्व का संबोध है। तुम कहते हो कि यह (संबोध) समग्र यथार्थता अपने में रखता है, और तुम ऐसे सत्त्व को संभव मानने में, सही हो, (मैं इस बात को इस समय माने लिये लेता हूँ, यद्यपि स्वयं अपने का विसंवादी न होने वाला संबोध दूर तक भी अपने विषय की संभाव्यता को सिद्ध नहीं करता)। [कां.] अब, समग्र यथार्थता में अस्तित्व भी अन्तर्निहित है अतः संभाव्य वस्तु के संबोध में अस्तित्व भी अन्तर्विष्ट रहता ही है। अब यदि इस वस्तु को अस्वीकृत किया जाता है तो उस वस्तु की आन्तरिक संभाव्यता को अस्वीकार कर दिया जाता है; और यही बात स्वविसंवादी है।

इसपर मेरा उत्तर यह है कि, तुमने तो पहले ही तभी आत्मविरोध का दोष कर डाला जब कि तुमने किसी एक वस्तु के संबोध में, जिसका विचार तुम केवल उसकी संभाव्यता के संबंध में करना चाहते थे, चाहे किसी छद्म नाम के बहाने क्यों न हो, तुमने अस्तित्व के संबोध को अन्तर्विष्ट कर दिया। यदि तुम्हारा ऐसा करना मान लिया जाए तो आपपाततः तुम्हारी जीत हो गई; पर वास्तव में तो कुछ भी नहीं कहा गया है

कां. कोई भी संबोध यदि वह स्वविसंवादी न हो तो सदा संभव हुआ करता है। यह संभाव्यता की तार्किक या यौक्तिक कसौटी है, और इसके द्वारा उस (संबोध) का विषय अत्यन्ताभाव से पृथक् हो जाता है। पर तो भी, जब तक उस संश्लेषण की वस्तुगत यथार्थता, जिससे वह संबोध उत्पादित हुआ था, विशिष्टरूप से सिद्ध न कर दी जाए, तब तक यह संबोध एक रीता संबोध हो सकता है; और इस प्रकार की उपपत्ति जैसा कि हम पहले दिखला चुके हैं, संभाव्य अनुभव के सिद्धान्तों के ऊपर आश्रित है, विश्लेषण के सिद्धान्तों के (विसंवादिता के नियम के) ऊपर आश्रित नहीं है। यह इस बात के लिये चेतावनी है कि संबोध की संभावना (यौक्तिक संभावना) से एक दम वस्तु की संभावना (वास्तविक) का अनुमान नहीं करना चाहिये।

क्योंकि तुमने पुनरुक्तिमात्र का कथन किया है। मैं आप से पूछता हूँ कि यह प्रस्थापना कि यह या वह वस्तु (अथवा अमुकामुक वस्तु—जिसको, चाहे वह कुछ भी क्यों न हो मैं तुम्हें संभाव्य मानने देता हूँ) सत्तावान् है, किस प्रकार की प्रस्थापना है—वैश्लेषिक प्रकार की है या सांश्लेषिक प्रकार की ? यदि यह प्रथम प्रकार की (अर्थात् वैश्लेषिक) प्रस्थापना है, तब तो वस्तु की सत्ता के कथन से उस वस्तु के तुम्हारे विचार में कुछ भी नहीं बढ़ता, पर ऐसी अवस्था में या तो वह विचार ही जो कि आप में है, स्वयं वस्तु होना चाहिये, या आपने संभाव्यता से संबद्ध रूप में अस्तित्व को पूर्वतः मान लिया है, और तदुपरान्त, इस बहाने से, उसकी आन्तरिक संभाव्यता से उसके अस्तित्व का अनुमान निकाल लिया है, जो एक दीन पुनरुक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और यह जो "यथार्थता' शब्द है जो वस्तु के संबोध में, विधेय के संबोध में "अस्तित्व" से पृथक् प्रकार से ध्वनित होता है, इस आक्षेप के विरुद्ध किसी काम नहीं आ सकता। क्योंकि, यदि आप सभी प्रस्थापन को (बिना यह निर्धारण किये कि आप क्या प्रस्थापित करते हैं) यथार्थता या वास्तविकता का नाम देते हैं, तब तो उस वस्तु को उसके समस्त विधेयों के सहित उद्देश्य के संबोध में पहले से ही, आपने प्रस्थापित कर दिया है और उसको वास्तविक मान लिया है, और विधेय में आप इसकी केवल पुनरुक्तिमात्र करते हैं। पर यदि इसके विपरीत, जैसा कि प्रत्येक विवेकशील मनुष्य को मानना चाहिये, यदि तुम यह मानो, कि समस्त सत्तागर्भ प्रस्थापनाएँ संश्लेषणात्मक होती हैं, तो तुम यह बात कैसे कह सकते हो कि सत्ता का विधेय बिना व्याघात के नहीं हटाया जा सकता ? जो एक ऐसी विशेषता है जो केवल विश्लेषणात्मक प्रस्थापनाओं में पाई जाती है और उनका लक्षण भी इसी के ऊपर निर्भर है।

यदि मुझे यह पता न चल जाता कि यौक्तिक और वास्तविक विधेय (अर्थात् वह विधेय जो किसी वस्तु को निर्धारित करता है) के पारस्परिक व्यय से उत्पन्न हुई भ्रान्ति संशोधन से लगभग परे की वस्तु है, तो मैं निश्चय ही इन जटिल चिन्तनात्मक भूलभुलइयों में बिना चक्कर काटे उनको अस्तित्व के संबोध के सही निर्धारण के द्वारा पूर्णतया विध्वस्त (या समाप्त) करने की आशा कर (सक)ता। यौक्तिक विधेय बनने की क्षमता तो प्रत्येक वस्तु में है। यहाँ तक कि स्वयं उद्देश्य भी विधेय बन सकता है, क्योंकि तर्क का (संबोधों के) अन्तर्विष्ट विषय से कोई वास्ता नहीं होता। परन्तु निर्धारण एक ऐसा विधेय होता है जो उद्देश्य के संबोध के साथ जोड़ा जाता है और उसका परिवर्द्धन करता है। अतएव वह पहले से ही उसमें अन्तर्विष्ट या सम्मिलित नहीं होना चाहिये।

सत्त्व तो प्रत्यक्षतया ही वास्तविक विधेय नहीं है, अर्थात् किसी ऐसी वस्तु का

संबोध नहीं है जो किसी वस्तु के संबोध के साथ जोड़ा जा सके। यह तो किसी वस्तु की प्रस्थापनामात्र है, अथवा स्वतः सत्तावान् कुछ निश्चित निर्धारणों की प्रस्थापना भर है। तर्कशास्त्र की परिभाषा में तो यह किसी विभावना को योजिकामात्र है। "ईश्वर सर्वशक्तिमान है" इस प्रस्थापना के दो संबोध हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना विषय ('अर्थ') है—यह है ईश्वर और सर्वशक्तिमत्ता; छोटा सा शब्द "है" कोई अतिरिक्त विधेय नहीं है, प्रत्युत वह है जो विधेय को उद्देश्य के साथ संबद्धतया प्रस्थापित करने का काम देता है। अब यदि मैं उद्देश्य (ईश्वर) को उसके समस्त विधेयों के सहित (जिनमें सर्वशक्तिमत्ता भी सम्मिलित) लूँ और कहूँ कि "ईश्वर है" अथवा "ईश्वर का अस्तित्व" है तो मैं ईश्वर के संबोध के साथ कोई नया विधेय नहीं जोड़ता, प्रत्युत केवल उद्देश्य को स्वतः उसके समस्त उद्देश्यों के सहित प्रस्थापित करता हूँ, और निश्चय-मेव उसको एक विषय के रूप में प्रस्थापित करता हूँ जो मेरे संबोध के साथ संबंध में अवस्थित है। दोनों का ही अन्तर्विष्ट एक और अभिन्न होना चाहिये, और इसलिये कि मैं इस संबोध के (जो केवल संभावना को ही अभिव्यक्त करता है) विषय को (वह है, इस वाक्य द्वारा) निरपेक्षतया दिया हुआ विचार करता हूँ, इस संबोध के साथ और कुछ भी अतिरिक्त बात जुड़ नहीं सकती। और इसलिये यथार्थ में संभव से अधिक और कुछ भी अन्तर्विष्ट नहीं है। सौ यथार्थ डालरों में सौ संभव डालरों की अपेक्षा एक पैनी (या पाई) भी अधिक नहीं होती। क्योंकि इन में से दूसरा (अर्थात् संभव) संबोध को सूचित करता है, और पहला (अर्थात् यथार्थ) स्वतः विषय और विषय की प्रस्थापना को, इसलिये यदि प्रथम में द्वितीय की अपेक्षा कुछ अधिक अन्त-र्विष्ट हो तो मेरा संबोध समस्त विषय को अभिव्यक्त नहीं करेगा, और इसीलिये उसका समुचित संबोध नहीं होगा। किन्तु मेरी आर्थिक स्थिति में सौ यथार्थ डालरों से केवल उनके संबोध की अपेक्षा बहुत अधिक पड़ जाता है। क्योंकि अपने यथार्थ विद्यमान रूप में (या यथार्थतया) मेरे संबोध में वैश्लेषिकतया केवल सन्निविष्ट नहीं होता, प्रत्युत मेरे संबोध के साथ (जो मेरी अवस्था का एक निर्धारण हैं) सांश्लेषिक-तया जुड़ा होता है, पर तो भी मेरे संबोध के बाहर की इस यथार्थ सत्ता से (संबोध में) विचरित सौ लेशमात्र भी नहीं बढ़ेंगे।

यदि मैं इस प्रकार किसी वस्तु का चाहे किसी और कितने ही अधिक विधेयों के द्वारा विचार क्यों न करूँ (यहाँ तक कि चाहे उसको पूर्णतया निर्धारित ही क्यों न कर दूँ और फिर आगे यह जोड़ें कि "यह वस्तु है" तो मैं उस वस्तु में लेशमात्र कुछ भी नहीं जोड़ता (बढ़ाता)। क्योंकि अन्यथा, यह बिलकुल वही वस्तु नहीं होगी जो कि सत्तावान् है, प्रत्युत यह उसकी अपेक्षा, जिसको मैंने संबोध में विचारा था कुछ

अधिक होगी; और मैं यह नहीं कह सकूँगा कि मेरे संबोध का विषय ज्यों का त्यों सत्तावान् है। यदि मैं किसी वस्तु में यथार्थता के एक लक्षण को छोड़ कर सभी अन्य लक्षणों का विचार करूँ, तो मेरे यह कहने से कि यह त्रुटिवाली वस्तु सत्तावान् है, वह अवशिष्ट बचा हुआ यथार्थता का अंश उसमें नहीं जुड़ जाएगा; प्रत्युत वह उस त्रुटि के साथ, जिसके सहित मैंने उसका विचार किया था, विद्यमान (या सत्तावान्) होगी, क्योंकि अन्यथा तो जो विद्यमान है वह उससे (जिसको विचारा गया था) भिन्न होगी। तो अब यदि मैं किसी सत्त्व का सर्वोच्च यथार्थता के रूप में विचार करूँ, फिर भी यह प्रश्न तब भी अवशिष्ट रहता ही है कि वह वस्तु (या सत्त्व) सत्तावान भी है या नहीं। क्योंकि, यद्यपि मेरे संबोध में किसी वस्तु सामान्य के संभाव्य यथार्थ अन्तर्विष्ट विषय में चाहे कुछ भी कमी या त्रुटि न हो, तो भी मेरे विचार की समस्त अवस्था के साथ उसके संबंध में कुछ कमी रहती ही है, अर्थात् उस विषय का ज्ञान अनुभवगम्य भी होना चाहिये। और यहाँ पर वर्त्तमान कठिनाई का मूलकारण स्वयं प्रकट हो जाता है। क्योंकि यदि किसी इन्द्रियग्राह्य विषय का प्रसंग उपस्थित होता तो मैं वस्तु के अस्तित्व को वस्तु के संबोधमात्र के साथ व्यत्यस्त नहीं कर सकता था। क्योंकि संबोध के द्वारा तो विषय केवल संभाव्य आनुभविक ज्ञान सामान्य के सर्वव्यापी प्रतिबन्धों के समनुरूप होता हुआ विचार किया जाता है, जबकि इसके विपरीत उसके अस्तित्व के द्वारा वह समग्र अनुभव के साकल्य के संदर्भ से संबद्ध रूप में विचारा जाता है, इस प्रकार समग्र अनुभव के अन्तर्विष्ट विषय के साथ संयुक्त हो जाने से विषय का संबोध तो तिस पर भी लेशमात्र परिबृंहित नहीं होता पर यह अवश्य हुआ है कि हमारे विचार को इससे एक अतिरिक्त संभाव्य प्रत्यक्ष की उपलब्धि और हो गई। इसके विपरीत, हम अस्तित्व का विचार केवल शुद्ध बौद्धिक प्रकार के द्वारा करें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि हम उसको संभावनामात्र से पृथक् करने के लिये कोई भी कसौटी का चिह्न नहीं निर्दिष्ट कर सकते।

अतएव किसी विषय के हमारे संबोध में चाहे कुछ और कितना ही अन्तर्विष्ट विषय क्यों न हो, तथापि यदि हम उस विषय के संबंध में अस्तित्व का कथन (या संयोजन) करना चाहें तो हमको उसके बाहर जाना ही पड़ेगा। इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों के प्रसंग में यह बात, मेरे किसी एक प्रत्यक्ष के साथ उनके संयोजन के द्वारा आनुभविक घटित होती है; किन्तु शुद्ध विचार के विषयों के प्रसंग में तो उनके अस्तित्व को जानने का कोई उपाय बिलकुल भी नहीं है, क्योंकि उसको तो पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया जानना पड़ेगा, जबकि समस्त अस्तित्व की हमारी चेतना (चाहे तो वह प्रत्यक्ष द्वारा अपरोक्षतया उपलब्ध हो, अथवा परोक्षतया ऐसे अनुमानों के द्वारा हो

जो किसी वस्तु को प्रत्यक्ष के साथ संपृक्त करते हैं) पूर्णतया अनुभव की एकता से ही संबंध रखती है, और इस क्षेत्र के बाहर का कोई भी अस्तित्व, निश्चयमेव नितान्त असंभव कह कर तो घोषित नहीं किया जा सकता, (फिर भी) ऐसी पूर्वमान्यता है जो किसी भी उपाय के द्वारा निश्चित नहीं ठहराया जा सकता।

परम सत्त्व का संबोध अनेक पहलुओं से एक अत्यधिक उपयोगी भाव है; किन्तु केवल इसी कारण क्योंकि वह भावमात्र केवल अपने द्वारा, जो कुछ सत्तावान् है, उसके संबंध में हमारे ज्ञान को बढ़ाने में पूर्णतया अक्षम है। यह तो हमको किसी अस्तित्व की संभावना के संबंध में भी, उससे अधिक प्रकाश देने में असमर्थ है, जो अनुभव में और अनुभव के द्वारा प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त में, कि मात्र स्थापनाएँ (वास्तविकताएँ) किन्हीं विसंवादिताओं (या विसंगतियों) को उत्पन्न नहीं करतीं, जो संभाव्यता की विश्लेषणात्मक कसौटी संनिहित है उसको इसकेसंबंध में निर्वतित या अस्वीकृत नहीं किया जा सकता; किन्तु समस्त यथार्थ गुणों का एक ही वस्तु में संयोजन एक ऐसा संश्लेषण है जिसकी संभावना का हम अनुभव के पूर्व (प्रागनुभवात्मकतया) निर्णय नहीं कर सकते क्योंकि वास्तविकताएँ अपने विशिष्ट रूप में हम को दी हुई नहीं होतीं, और यदि ऐसा घटित हो भी जाए तो भी कोई निश्चय (या निर्णय) घटित नहीं होता क्योंकि संश्लेषणात्मक ज्ञान की संभावना की कसौटी को तो सर्वदा केवल अनुभव में ही खोजना आवश्यक होगा, जिससे किसी भाव (मात्र) के विषय का संबंध कदापि नहीं हो सकता; अतः इस प्रकार सुविख्यात दार्शनिक लाइब्नित्स उस सिद्धि को——ऐसे उदात्त आदर्शात्मक सत्त्व की संभावना को प्रागनुभवात्मकतया अवधृत कर लेने की सिद्धि को——जिसके विषय में उसने इतनी आत्मश्लाघा की थी, दूर तक प्राप्त नहीं कर सका है।

अतः सत्त्वविद्या संबंधी वह उतनी विख्यात दकार्त की उपपत्ति——जिसमें संबोधों से ही सर्वोच्च सत्त्व के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा की गई है——व्यर्थ का कष्ट और श्रम सिद्ध हुई है, और कोई मनुष्य केवल भावों के द्वारा अपने ज्ञान में ठीक उसी प्रकार (उसी मात्रा में) संपन्नतर हो सकता है जिस प्रकार कोई व्यवसायी अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये अपने रोकड़ के खाते में कुछ शून्य बढ़ाकर अपनी पूँजी में वृद्धि कर सकता है।

तृतीय अध्याय
पंचम खंड
ईश्वर के अस्तित्व की सृष्टिविज्ञान-संबंधी उपपत्ति की असंभाव्यता

किसी बिलकुल स्वच्छन्दता से आकल्पित भाव से उसके समनुरूप अस्तित्व को निकालने की चेष्टा नितान्त अस्वाभाविक प्रक्रिया है और तार्किकों की नूतन प्रवृत्ति-मात्र है। यदि हमारी बुद्धि को अस्तित्व सामान्य के लिये पहले से ही किसी न किसी अनिवार्य वस्तु को (जिसमें हमारा प्रत्यावर्तन रुक सके) मानने की आवश्यकता न पड़ी होती, और यदि, (क्योंकि इस अनिवार्यता को अप्रतिबद्ध और प्रागनुभवा-त्मकतया सुनिश्चित होना ही था) परिणामतः बुद्धि इस बात के लिये बाधित न हो गई होती कि वह एक संबोध को खोजे जो जहाँ संभव हो, इस प्रकार की अपेक्षा (या माँग) को सन्तुष्ट कर दे, और किसी सत्ता को पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया जानने दे, तो यह खोज इस प्रकार कभी भी न हुई होती। यह विश्वास किया गया कि इस संबोध को परम यथार्थ सत्त्व के भाव में पा लिया गया है, और इसीलिये यह भाव केवल उस अनिवार्य सत्त्व के सुनिर्धारिततर ज्ञान के लिये होता था, जिसके अनि-वार्य अस्तित्व के संबंध में हम अन्य हेतुओं के आधार पर या तो पहले से ही आश्वस्त हो चुके थे अथवा अनुनीत कर दिये गये थे। पर बुद्धि की यह स्वाभाविक प्रक्रिया तो दृष्टि से छिपी रहती थी, और इस (संबोध) के साथ समाप्त हो जाने के स्थान पर इससे आरंभ करने का प्रयत्न किया गया और इससे अस्तित्व की उस अनिवार्यता को अनुमित करने की चेष्टा की गई जिसको संपूरित करने के लिये यह (प्रक्रिया) निर्दिष्ट थी। इस प्रकार उस दुर्भाग्यपूर्ण तत्वविद्यासंबंधी उपपत्ति की उत्पत्ति हुई जो न तो प्रकृत और स्वस्थ बोधवृत्ति को ही कोई सन्तोष प्रदान करती है और न विद्वानों की समुचित प्रामाण्य की माँग को ही।

सृष्टि विज्ञान-संबंधी उपपत्ति, जिसका परीक्षण हम अब आरंभ करना चाहते हैं, सर्वोच्च वास्तविकता के साथ आत्यन्तिक अनिवार्यता के संबंध को तो बनाये रखती है पर पूर्वगामिनी उपपत्ति के समान, सर्वोच्च यथार्थता से अस्तित्व की अनिवार्यता का अनुमान करने के स्थान पर, किसी सत्त्व की पूर्वतः दी हुई अप्रतिबद्ध अनिवार्यता से उस सत्त्व की अपरिमित यथार्थता का अनुमान करती है; और इस प्रकार इस हद तक कम से कम हर एक वस्तु को एक लीक पर डाल देती है, जिसके विषय में मैं यह यह नहीं जानता कि वह वास्तव में विवेकपरक है अथवा देखने भर के लिये विवेक-

परक है, पर फिर भी कम से कम स्वाभाविक अनुमान-प्रकार अवश्य है, (और) जो न केवल साधारण बोधवृत्ति के लिये अपितु चिन्तनात्मक बोधवृत्ति के लिये भी अधिकतम प्रत्यायन प्रदान करने वाली ; और यह प्रत्यक्षतः प्राकृतिकशास्त्र में समस्त उपपत्तियों की प्रथम रूपरेखा भी खींचा करती है, जिस रूपरेखा का, चाहे उसको फूलपत्तियों और आभरणों से कितना ही परिमंडित और रूपान्तरित क्यों न कर दिया जाए, सर्वदा अनुसरण किया गया है और आगे भी किया जाएगा। अब इसी उपपत्ति को, जिसको लाइब्नित्स् ने जगत् की संभाव्यता से (उपलब्ध) होने वाली उपपत्ति कहा है प्रदर्शन और परीक्षण करने में प्रवृत्त होंगे।

यह उपपत्ति इस प्रकार है—यदि किसी वस्तु की सत्ता है, अथवा यदि कोई वस्तु विद्यमान है तो एक आत्यन्तिकतया अनिवार्य सत्त्व की भी सत्ता अवश्य होनी चाहिये। अब मैं तो कम से कम सत्तावान् (या विद्यमान) हूँ ही; अतः एक आत्यन्तिकतया अनिवार्य सत्त्व की सत्ता है। इस अनुमान वाक्य के पक्षावयव में एक अनुभव अन्तर्विष्ट है और साध्यावयव (अथवा व्याप्त्यावयव) में, एक अनुभव सामान्य से अनिवार्य की सत्ता का अनुमान सन्निविष्ट है।[कां.] इस प्रकार यह उपपत्ति वास्तव में आरंभ होती, (और) इसीलिये सामग्र्येण प्रागनुभवात्मक अथवा तत्वविद्यात्मक नहीं है, एवं क्योंकि समस्त संभव अनुभव का विषय जगत् कहलाता है, अतः यह उपपत्ति सृष्टि-विज्ञान-संबंधी उपपत्ति कहलाती है। क्योंकि यह उपपत्ति अनुभव के विषयों के उन सब विशिष्ट गुणों से भी, जिनके द्वारा यह जगत् अन्य किसी संभव जगत् से पृथक् हो सकता है, कोई वास्ता नहीं रखती, इसलिये यह अपने नाम (=शीर्षक) से भी उस भौतिक-धार्मिक उपपत्ति से पृथक् होगी, जो इस इन्द्रियग्राह्य जगत् के विशिष्ट गुणों के निरीक्षण को प्रमाण या उपपत्ति के आधार के रूप में उपयोग में लाती है।

अब इसके आगे यह उपपत्ति इस प्रकार चलती है—कि अनिवार्य सत्त्व केवल एक प्रकार से ही निर्धारित हो सकता है, अर्थात् संभाव्य परस्पर विरोधी विधेयों के प्रत्येक जोड़े में से एक विधेय के द्वारा ही निर्धारित हो सकता है, परिणामतः यह अपने संबोध के द्वारा पूर्णतया निर्धारित हो जाना चाहिये। अब इस प्रकार का संभव संबोध

कां. यह अनुमान इतना अधिक सुपरिचित है कि यहाँ पर उसके विस्तृत परिचय की आवश्यकता नहीं है। यह कार्यकारण भाव के तथाकल्पित अनुभवातीत प्राकृति नियम पर आश्रित है जो इस प्रकार है कि प्रत्येक संभाव्य वस्तु का अपना कारण होता है, जो यदि स्वयं संभाव्य होता है तो पहले के समान अपना कारण रखता है, और यह क्रम यहाँ तक चलता है कि अधीन कारणों की शृंखला एक आत्यान्तिकतया अनिवार्य कारण में पर्यवसित हो जाती है, जिसके बिना इसको किसी प्रकार की पूर्णता प्राप्त नहीं हो (सक) ती।

केवल एक ही हो सकता है जो किसी वस्तु को पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित कर सकता है और वह सर्वोच्च यथार्थ सत्त्व का संबोध है। अतः सब से यथार्थ सत्त्व का संबोध ही केवल वह संबोध है जिसके द्वारा अनिवार्य सत्त्व का विचार किया जा सकता है, अर्थात् दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि परम सत्त्व अनिवार्यतया सत्तावान् है।

इस सृष्टिविज्ञानसंबंधी युक्ति में इतनी अधिक संख्या में हेत्वाभासपूर्ण सिद्धान्त एक साथ संयुक्त हो गए हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानो चिन्तनात्मक बुद्धि ने इस स्थान पर अपनी सारी की सारी तर्क की कला को अधिक से अधिक विशाल अनुभवातीत भ्रान्ति जो कि संभव हो सकती है, उसको उत्पन्न करने में खर्च कर दिया है। हम इसके परीक्षण को इसलिये थोड़े समय स्थगित कर देना चाहते हैं कि जिससे हम उन चालाकियों को प्रकाशित भर कर दें जिन की सहायता से वह बुद्धि एक पुरानी युक्ति को बदली हुई वेशभूषा की आकृति में नवीन युक्ति के रूप में प्रस्तुत करती और दो साक्षियों के ऐकमत्य की दुहाई देती है, जिनमें से एक के पास शुद्ध बुद्धि का और दूसरे के पास अनुभव का प्रमाणपत्र है, जबकि वास्तव में है केवलमात्र प्रथम का ही, जिसने दूसरा साक्षी मान लिया जाने के लिये अपनी वेशभूषा और ध्वनिमात्र को बदल लिया है। अपने लिये सुदृढ़ नींव (या आधार) स्थापित करने के लिये, यह उपपत्ति अनुभव के ऊपर अवस्थित होती है, और उसके द्वारा अपने को उस तत्वविद्या-संबन्धी उपपत्ति से भिन्न होने का अधिकार प्रदान करती है, जो अपना पूरा भरोसा केवल प्रागनुभवात्मक संबोधों पर रखती है। पर सृष्टि-रचना-संबंधी उपपत्ति इस अनुभव का उपयोग केवल एक पगमात्र के लिये करती है अर्थात् एक अनिवार्य सत्त्व के अनुमान करने के लिये उपयोग करती है। इस सत्त्व के गुण किस प्रकार के हो सकते हैं, यह बात आनुभविक युक्ति नहीं सिखा सकती, प्रत्युत इसलिये ही बुद्धि उस (अनुभव) से पूर्णरूपेण विदा ले लेती है और केवल संबोधों के द्वारा खोज करने का प्रयत्न करती है अर्थात् यह जानने का उद्योग करती है कि आत्यन्तिकतया अनिवार्य सत्त्व सामान्य में क्या गुण होने चाहिये, दूसरे शब्दों में, समस्त संभव वस्तुओं में कौन वस्तु ऐसी है जो अपने में आत्यन्तिक अनिवार्यता के लिये अपेक्षित प्रतिबन्धों को अपने में अन्तर्विष्ट रखती है। अब बुद्धि का विश्वास है कि यह अपेक्षित प्रतिबन्ध केवल एक अकेले सर्वाधिक यथार्थतम सत्त्व के संबोध में ही मिल सकते हैं, और इसलिये यह निष्कर्ष निकालती है कि सर्वाधिक यथार्थतम सत्त्व ही अत्यन्त अनिवार्य सत्त्व है। पर यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि इसमें यह बात पहले से मान ली गयी है कि सर्वोच्च यथार्थता का संबोध, अस्तित्व की आत्यन्तिक अनिवार्यता के संबोध में पूर्णतया पर्याप्त है, अर्थात् द्वितीय का अनुमान प्रथम से किया जा सकता है; जो वही प्रस्थापना जिसको तत्व-

विद्यासंबंधी युक्ति मानती है, तथा जिसको इस प्रकार सृष्टि रचना संबंधी उपपत्ति में भी माना जा रहा है और वास्तव में उपपत्ति की नींव बनाया जा रहा है, यद्यपि यह मान्यता है जिसको विवर्जित करना अभीष्ट था। क्योंकि परम अनिवार्यता ऐसी सत्ता है जो केवलमात्र संबोधों से निर्धारित हुई है। यदि मैं कहूँ कि सर्वाधिक यथार्थ सत्त्व एक ऐसा संबोध है और वास्तव में एक अकेला ऐसा संबोध है जो अनिवार्य सत्ता से मेल खाने वाला और उसके लिये समुपयुक्त है, तो मुझको यह भी अंगीकार करना चाहिये कि अनिवार्य सत्ता का अनुमान भी इस संबोध से किया जा सकता है। अतएव तथा-कथित सृष्टि-रचना-संबंधी उपपत्ति में जितनी भी उपपादनात्मक शक्ति है उस सबके लिये वह यथार्थ में केवल संबोधों पर आश्रित तत्वविद्यासंबंधी उपपत्ति की ऋणी है, जबकि अभिकथित अनुभव पूर्णतया अनावश्यक है; जो स्यात् हमको आत्यन्तिक अनिवार्यता के संबोध के समीप तक तो ले जा सकता है, पर वह इस अनिवार्यता को किसी सुनिर्दिष्ट (या निर्धारित) वस्तु के संबंध में निरूपित नहीं कर सकता। क्योंकि ज्यों ही हम इसको उद्देश्य बनाएँगे, त्योंही हमको सब अनुभव का परित्याग करना पड़ेगा, और शुद्ध संबोधों में इस बात की खोज करनी पड़ेगी कि उनमें कौन ऐसा है जिसमें परम अनिवार्य सत्त्व की संभाव्यता के प्रतिबन्ध वास्तव में अन्तर्विष्ट हैं। यदि इस ढंग से उपर्युक्त प्रकार के सत्त्व की केवल संभाव्यता समझ ली गई है, तो इसी प्रकार उसका अस्तित्व भी स्थापित हो गया; क्योंकि यह तो यही कहने के बराबर है कि सब संभव वस्तुओं के मध्य में एक वस्तु ऐसी है जो अपने साथ परम अनिवार्यता धारण किये रहती है, अर्थात् यह सत्त्व आत्यन्तिक अनिवार्यता के साथ सत्तावान् है।

युक्तियों में छिपे हुए सब हेत्वाभास अत्यन्त सरलता से खोज लिये जाते हैं यदि उन युक्तियों को आँखों के समक्ष ठीक अनुमान वाक्य के रूप में प्रदर्शित कर दिया जाए। प्रस्तुत वाक्य का यह प्रदर्शन इस प्रकार होगा।

यदि यह प्रस्थापना सही है कि प्रत्येक आत्यन्तिकतया अनिवार्य सत्त्व सबसे अधिक यथार्थ सत्त्व भी होता है (और सृष्टिविज्ञान-संबंधी उपपत्ति का युक्ति सूत्र—नैर्वुस प्रोबाण्डुम् —ही यही है) तो अन्य सकारात्मक विभावनाओं के समान यह भी कम से कम औपाधिकतया—पर अक्सीडैन्स्—परिवर्तनीय होनी चाहिये; अतः यह निष्कर्ष निकला कि कुछ (कतिपय) सब से अधिक यथार्थ सत्त्व आत्यन्तिकतया अनिवार्य सत्त्व भी होते हैं। पर अब एक सब से अधिक यथार्थ सत्त्व किसी दूसरे से किसी दृष्टि से भिन्न नहीं होता और इसलिये इस संबोध के अधीन जो बात एक के लिये लागू होती है वही सब के लिये भी लागू होगी। इसलिये इस प्रसंग में मैं प्रस्तुत प्रस्थापना के रूप को सीधे निरूपाधिक प्रकार से भी परिवर्तन कर सकता (न कि

केवल औपाधिकतया कर सकता) हूँ और कह सकता हूँ कि प्रत्येक अधिकतम यथार्थ सत्त्व एक अनिवार्य सत्त्व होता है। अब क्योंकि यह प्रस्थापना केवल अपने संबोध से प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित हुई है, अतः अधिकतम यथार्थ सत्त्व के संबोधमात्र को भी अपने साथ आत्यन्तिक यथार्थता को वहन करना चाहिए; यही वह दावा है जो तत्वविद्यासंबंधी उपपत्ति ने भी किया था, तथा जिसको सृष्टिविज्ञान-संबंधी उपपत्ति ने अंगीकार करना नहीं चाहा था, यद्यपि उसके निर्णय (या निष्कर्ष) प्रच्छन्न प्रकार से उसी के ऊपर आश्रित हैं।

इस प्रकार सर्वोच्च सत्त्व के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए चिन्तनात्मक बुद्धि ने जिस दूसरे मार्ग को ग्रहण किया, वह न केवल प्रथम मार्ग के समान ही प्रवंचनापरायण है, प्रत्युत उसमें यह एक और दोष है कि उसमें खंडन के तर्क (अथवा अर्थान्तर) का अज्ञान भी प्रदर्शित किया गया है, क्योंकि वह प्रतिज्ञा तो हमको नई पगडंडी से ले चलने की करता है, पर थोड़ा चक्कर काटने के पश्चात हमको फिर उसी पुरानी राह पर ले आता है जिसको हमने उसी के लिए (या उसी के कहने पर) त्याग दिया था।

अभी थोड़ी देर पूर्व मैं कह चुका हूँ कि इस सृष्टिविज्ञान-संबंधी युक्ति में तार्किक मान्यताओं का एक पूरा का पूरा ऐसा समूह छिपा पड़ा है जिसको अनुभवातीत मीमांसा सरलता से अनावृत और नष्ट कर सकती है। मैं अब यहाँ उनकी गिनती भर करूँगा, तथा उन प्रवंचनापूर्ण सिद्धान्तों की अधिक आगे खोज करने और उनके खंडन का कार्य उस पाठक के लिए छोड़ दूंगा जो अब इस कार्य में अभ्यस्त हो गया होगा।

उदाहरणार्थ इसमें (१) सर्वप्रथम तो वह अनुभवातीत सिद्धान्त मिलता है जिससे संभाव्य से कारण का अनुमान किया जाता है, जो केवल ऐन्द्रिय जगत में ही महत्त्व का सिद्धान्त है, परन्तु उस जगत के बाहर उसका कुछ भी आशय (या अर्थ) नहीं है। क्योंकि संभाव्य का मात्र बौद्धिक सिद्धान्त किसी ऐसी सांश्लेषिक प्रस्थापना को उद्-भावित नहीं कर सकता जैसी प्रस्थापना कारण-कार्य भाव की है, तथा कारण-कार्य भाव का सिद्धान्त केवल ऐन्द्रियजगत को छोड़ कर उसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं कोई अर्थ और अपने उपयोग की कोई कसौटी नहीं रखता, पर यहाँ (इस सृष्टिविज्ञान-संबंधी कसौटी में) इसका उपयोग ऐन्द्रिय जगत से परे पहुँचने के लिए ही हुआ है। (२) दूसरे इसमें मिलता है, ऐन्द्रियजगत में एक के पश्चात एक करके दिये हुए कारणों की अनन्त शृंखला की असंभाव्यता से प्रथम कारण का अनुमान, जिस अनुमान के अनुभव में भी निकालने में बुद्धि के विनियोग के नियम हमारे औचित्य का समर्थन नहीं करते, तो इस सिद्धान्त के इस जगत से परे (जहाँ यह शृंखला बिलकुल भी नहीं बढ़ाई जा सकती) विस्तार का तो और भी कम समर्थन करेंगे। (३) तीसरे इसमें पाया जाता

है, इस उपर्युक्त शृंखला के पूर्ण हो जाने के संबंध में बुद्धि का वितथ आत्मसंतोष, जिसके द्वारा अन्त में वे सब प्रतिबन्ध (या शर्तें), जिनके बिना अनिवार्यता का कोई भी तो संबोध संभव नहीं हो सकता, हटा दिये जाते हैं, और तब क्योंकि इसके आगे और कुछ विचारा ही नहीं जा सकता, अत: इसी को शृंखला की पूर्णता का संबोध मान लिया जाता है। (४) चौथे इसमें (रहता) है समस्त एकीभूत यथार्थता के संबोध की (जिसमें आन्तरिक विसंवादिता नहीं है) यौक्तिक संभाव्यता का ऐसी ही यथार्थता की अनुभवातीत संभाव्यता के व्यत्यय; जिनमें से द्वितीय संभावना के लिए इस प्रकार के संश्लेषण की व्यावहारिकता का सिद्धान्त अपेक्षित हुआ करता है, यद्यपि यह सिद्धान्त ऐसा है जो केवल संभाव्य अनुभव के क्षेत्र में ही लागू हो सकता है। इत्यादि, इत्यादि।

सृष्टिविज्ञान-संबंधी उपपत्ति की चतुरता, एक अनिवार्य सत्त्व के अस्तित्व को केवल संबोधों के द्वारा प्रागनुभवात्मकतया सिद्ध करने से बच जाने के प्रति है, जो सिद्धि तत्वविज्ञान की पद्धति पर होनी आवश्यक है, और यह ऐसा उद्यम है जिसके लिए हम अपने को असमर्थ अनुभव करते हैं। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए, हम अपने अनुमान को एक आधारभूत वास्तविक अस्तित्व से (एक अनुभव सामान्य से) आरंभ करते हैं, और तब जैसे भी ठीक हो सके, उस अस्तित्व के परम आवश्यक (या अनिवार्य) प्रतिबन्ध (या शर्त) की ओर बढ़ते हैं। ऐसी अवस्था में हमको इस प्रतिबन्ध की संभाव्यता के स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि, यह सिद्ध कर दिया जाता है कि वह सत्तावान् है तो उसकी संभाव्यता से संबंध रखने वाला प्रश्न पूर्णतया अनावश्यक हो जाता है। अब यदि हम इस अनिवार्य सत्त्व को उसके स्वभाव के अनुसार समीप से ठीक प्रकार से निर्धारित करना चाहें, तो हम उसकी खोज नहीं करते जो, अपने संबोध से अस्तित्व की अनिवार्यता अवधृत करने के लिये पर्याप्त है, क्योंकि यदि हम ऐसा कर सकते तो हम को आनुभविक पूर्वमान्यता (का आरंभक) की आवश्यकता ही नहीं पड़ती; नहीं, हम तो केवल नकारात्म प्रतिबन्ध (कॉण्डीटियो सिने क्वा नौन) की खोज करते हैं जिसके बिना कोई सत्त्व आत्यन्तिकतया अनिवार्य नहीं होगा। अब जहाँ तक ऐसे अन्य प्रकार के अनुमान वाक्यों का संबंध है जिनमें तर्क की गति परिणाम की ओर से कारण की ओर होती है, यह बात ठीक रहेगी; पर यहाँ पर (प्रस्तुत प्रसंग) दुर्भाग्यवश ऐसी बात घटित होती है कि वह प्रतिबन्ध जो ऐकान्तिक अनिवार्यता के लिये अपेक्षित है वह केवल एक अकेले सत्त्व में ही मिल सकता है, अत: एक जिस (सत्त्व) को अपने संबोध में, उस सब को जो कि ऐकान्तिक अनिवार्यता के लिये अपेक्षित है, अन्तर्विष्ट रखना चाहिये, और जो इस प्रकार मेरे लिये इस ऐकान्तिक अनिवार्यता का प्रागनुभवात्मकतया अनुमान करना

संभव बनाता है; दूसरे शब्दों में मेरे लये अनुमान को पलट कर यह कहना भी संभव होना चाहिये कि जिस किसी वस्तु को भी (सर्वोच्च यथार्थता) संबोध लागू हो सकता है वह ऐकान्तिकतया अनिवार्य है, और यदि मैं यह अनुमान नहीं कर सकता (जैसा कि यदि तत्त्वविद्या संबंधी उपपत्ति को वर्जित करना चाहूँ तो मुझे मानना ही चाहिये), तो मैं अपनी इस नयी राह पर दुर्भाग्यग्रस्त हो गया, और फिर वहीं आ गया जहाँ से कि मैं चला था। सर्वोच्च सत्त्व का संबोध उन सब प्रागनुभवात्मक प्रश्नों को भले प्रकार संतोष प्रदान करता है, जो किसी वस्तु की आन्तरिक निर्धारणाओं के संबंध में उठाए जा सकते हैं और इसलिये यह ऐसा आदर्श है जिसकी बराबरी करने वाला दूसरा कोई नहीं है, क्योंकि (यह) संबोध सर्वव्यापी (या सार्विक) होते हुए भी साथ ही साथ एक व्यष्टि को उन वस्तुओं के मध्य में जो संभाव्य हैं विशेष प्रकार से लक्षित करता है। परन्तु यह स्वयं अपने ही अस्तित्व से संबंध रखने वाले प्रश्न को बिलकुल भी सन्तोष प्रदान नहीं करता,—यद्यपि हमारे अनुसंधान का असली विषय यही था—और यदि कोई व्यक्ति जिसने कि अनिवार्य वस्तु के अस्तित्व को अंगीकार कर लिया हो और केवल यह जानना चाहे कि समस्त (सत्तावान्) वस्तुओं में से कौन सी वस्तु को उसके स्थान पर माना जाए, तो हम यह उत्तर नहीं दे सकते कि "यह यहाँ है वह अनिवार्य वस्तु।"

किसी सर्वोच्च पर्याप्तिता के सत्त्व के अस्तित्व को, बुद्धि की अपनी व्याख्या के आधारों की एकता की खोज के कार्य को हलका करने के लिये, समस्त संभाव्य कार्यों के कारण के रूप स्वीकार करना, ऐसी बात है जिसको वास्तव में अनुमोदित किया जा सकता है। किन्तु यह कहने का साहस तक कर डालना कि स प्रकार का सत्त्व अनिवार्यतया सत्तावान् है, किसी स्वीकार्य अधिष्ठापना को (उपकल्पना को) विनम्र अभिव्यञ्जना प्रदान करना नहीं है, प्रत्युत किसी स्वयंसिद्ध सुनिश्चितत के संबंध में दर्पपूर्ण धृष्टता का प्रदर्शन है; क्योंकि जिस बात को आत्यन्तिकतया अनिवार्य के रूप में जानने का दंभ किया जाता है उसके ज्ञान को भी अपने साथ परम अनिवार्यता को वहन करना चाहिये।

अनुभवातीत आदर्श की समस्त समस्या का निचोड़ है कि या तो आत्यन्तिक अनिवार्यता के लिये किसी संबोध को, अथवा किसी वस्तु के संबोध के लिये स्वयं उसकी आत्यन्तिक अनिवार्यता को खोज पाना। इनमें से यदि एक हो सकता है तो दूसरा भी हो सकता है, क्योंकि बुद्धि उसी (वस्तु) को आत्यन्तिकतया अनिवार्य रूप में पहचानती है जो अपने संबोध से ही (अथवा संबोध के अनुसार) अनिवार्य होती है। पर यह दोनों ही कार्य, इस प्रसंग में अपनी बोधवृत्ति को शान्ति या सन्तोष प्रदान करने

की हमारी अधिकतम चेष्टा की शक्ति से बाहर हैं, परन्तु यही दशा इस संबंध में उसको अपनी अक्षमता के संबंध में सान्त्वना देने के प्रयत्नों की भी है।

अप्रतिबद्ध अनिवार्यता, जिसकी हम समस्त वस्तुओं के अन्तिम वाहक के रूप मे इतनी अपरिहार्यतया अपेक्षा करते हैं, मानवीय बुद्धि के लिये सचमुच में एक अतल गर्त है। शाश्वतता स्वयं, चाहे वह किसी हालत के द्वारा कितने ही भयावहतया उदात्त रूप में चित्रित क्यों न की गई हो, मस्तिष्क पर उतना अभिभूत करने वाला प्रभाव डालने से दूर ही रहती है, क्योंकि वह तो वस्तुओं के स्थिति-काल को ही नापती है उनको वहन तो नहीं करती। न तो इस विचार को दूर ही किया जा सकता है और न सहन ही किया जा सकता है, कि वह सत्त्व, जिसको हम अपने प्रति समस्त सभाव्य वस्तुओं में सर्वोच्च रूप में प्रत्युपस्थापित करते हैं, मानों अपने से कहें कि "मैं सदा से सदा तक हूँ (अर्थात अनाद्यनन्त हूँ,) और मुझसे बाहर उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, जो कुछ मेरी इच्छा से कुछ है, परन्तु तब मैं स्वयं कहाँ हूँ ? यहाँ हमारे पैरों के तले से समस्त धरती खिसक जाती है, और सब से बड़ी और सब से छोटी दोनों ही पूर्णताएँ एक समान भाव से चिन्तनात्मक बुद्धि के समक्ष निराधार निःसत्त्व लटकती रह जाती हैं, तथा जिन ोनों को ही बिना अल्पतम बाधा के खो जाने देने में उसका कुछ भी नहीं जाता।

प्रकृति की बहुत सी शक्तियाँ, जो अपने अस्तित्व को कुछ सुनिश्चित परिणामों के ारा अभिव्यक्त करती हैं हमारे लिये अप्रतर्क्य ही बनी रहती हैं क्योंकि हम निरीक्षण के द्वारा पर्याप्त दूर तक उनका अनुसंधान नहीं कर सकते। वह अनुभवातीत विषय (भी) जो अवभासों के मूल में निहित है और इस के साथ ही साथ इस बात का आधारभूत हेतु भी कि हमारी संवेदनशीलता अमुकामुक सर्वोच्च प्रतिबन्धों के ही अधीन क्यों है अन्यों के क्यों नहीं यह सब ऐसी बातें हैं जो हमारे लिये अप्रतर्क्य हैं और अप्रतर्क्य ही बनी रहती हैं; यद्यपि वस्तु तो निश्चयमेव दी हुई (या उपलब्ध) होती है, बस केवल (कठिनाई यह है) कि समझ में नहीं आती। किन्तु शुद्ध बुद्धि का आदर्श अप्रतर्क्य (या दुर्ज्ञेय) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके लिये अपनी यथार्थता का, बुद्धि की इस आवश्यकता के आगे कि उसी के द्वारा समस्त सांश्लेषिक एकता को पूर्ण किया जाए, अन्य कोई प्रमाणपत्र प्रदर्शित नहीं कर पड़ता है। और क्योंकि, इसलि यह एक विचारणीय विषय के रूप में भी दिया हुआ नहीं होता, अतः इस प्रकार का होने के कारण वैसा दुर्ज्ञेय नहीं हो सकता जैसा अन्य कोई विषय; प्रत्युत दूसरी और इस से अधिक इसको, भाव-मात्र के रूप में, अपना स्थान और समाधान बुद्धि के स्वभाव में पाना चाहिये, और इसी कारण बुद्धिग्राह्य या समझ में अपने

योग्य भी होना चाहिये; क्योंकि बुद्धि का बुद्धिपन इसी बात में है कि हम अपने समग्र संबोधों, सम्मतियों और दावों का विवरण या तो वस्तुगत आधार पर, और या यदि वे मात्र भ्रान्ति हों तो आत्मिक आधार का विवरण प्रस्तुत कर सकें।

अनिवार्य सत्त्व की अनुभवातीत उपपत्ति में उपलब्ध होने वाली आन्वीक्षिक्यात्मक भ्रान्ति का उद्घाटन और स्पष्टीकरण

इस समय तक प्रतिपादित ोनों ही उपपत्तियाँ अनुभवातीत प्रकार की थीं, अर्थात् उनकी चेष्टा आनुभविक सिद्धान्तों पर निर्भर न रहते हुए की गई थी। क्योंकि यद्यपि सृष्टि-रचना-विज्ञान-संबंधी उपपत्ति अनुभव सामान्य के ऊपर आधारित है, तथापि वह अनुभव के किसी विशिष्ट गुण के ऊपर निर्भर नहीं करती, प्रत्युत आनुभविक चेतना सामान्य के द्वारा दिये हुए अस्तित्व के संबंध में स्थित बुद्धि के शुद्ध सिद्धान्तों के ऊपर अवलंबित है; और जो केवल शुद्ध संबंधों का स..ारा पाने के लिये इस पथ-प्रदर्शन का भी शीघ्र ही परित्याग कर देती है। तो फिर अब इन अनुभवातीत उपपत्तियों में इस आन्वीक्षिक्यात्मक (द्वन्द्वात्मक) किन्तु स्वाभाविक भ्रान्ति का, जो अनिवार्यता और सर्वोच्च यथार्थता के संबोधों को परस्पर संयुक्त कर देती है, तथा जो केवल भावमात्र हो सकता है उसको यथार्थता और स्वतंत्र पदार्थता प्रदान करती है। कारण क्या है? (प्रथमतः) किसी वस्तु को सत्ताशील वस्तुओं के मध्य में अत्यन्तावश्यक मानने की अपरिहार्यता का और फिर इसके साथ ही साथ स प्रकार के सत्त्व के अस्तित्व से सामने ऐसा संकोच करने का, कि मानों वह कोई अतल गर्त है, क्या कारण है; और इस कार्य को कैसे चालू किया जाए कि बुद्धि इस प्रसंग में स्वयं अपने को समझ पाये और एक संकोचशील और बार-बार वापस ली हुई अनुमति को डगमगाती हुई अवस्था से निकल कर आश्वस्त अन्तर्दृष्टि को प्राप्त हो सके?

यह बात अतिशय आश्चर्यजनक है कि ज्यों ही यह माना जाता है कि किसी वस्तु की सत्ता है त्यों ही स अनुमान (या निष्कर्ष) से नहीं बचा जा सकता कि किसी वस्तु की सत्ता अनिवार्य है। सृष्टि-रचना-विज्ञान-संबंधी युक्ति भी इस नितान्त स्वाभाविक (किन्तु इसी कारण सुरक्षित नहीं) अनुमान के ऊपर आश्रित है। इसके विपरीत यदि मैं किसी वस्तु के संबोध को लूँ चाहे वह वस्तु कुछ भी क्यों न हो तो मैं देखता हूँ कि इस वस्तु की सत्ता मेरे ारा कदापि नितान्त अनिवार्य रूप से प्रत्युपस्थापित नहीं की जा सकती और यह भी ेखता हूँ कि जिसकी सत्ता है वह चाहे कुछ भी क्यों न हो उसके अनस्तित्व का विचार करने से मुझे कोई भी नहीं रोक सकता। इसलिये सत्तावान् सामान्य वस्तुओं के लिये मुझे किसी अनिवार्य वस्तु को (प्रति-

बंध के रूप में) स्वीकार करना पड़ सकता है किन्तु मैं किसी एक अकेली वस्तु को स्वतः अनिवार्य रूप में नहीं विचार सकता। दूसरे शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि मैं अस्तित्व के प्रतिबन्धों के प्रति प्रवृत परावर्तन को अनिवार्य सत्त्व को माने बिना कदापि पूरा नहीं कर सकता परन्तु इस प्रकार के सत्त्व के साथ मैं आरंभ भी कभी नहीं कर सकता।

यदि मुझे सामान्यतः सत्तावान् वस्तुओं के (प्रतिबन्ध या शर्त के रूप में) किसी अनिवार्य वस्तु का विचार करने के लिये विवश होना पड़ता है, किन्तु मैं किसी वस्तु को अपने आप में अनिवार्य समझने का अधिकार (या क्षमता) नहीं रखता तो इससे अपरिहार्यतया यह निष्कर्ष निकलता है कि अनिवार्यता और संभाव्यता का वास्ता स्वतः वस्तुओं से नहीं है, और न यह उनमें मिल सकती हैं; अन्यथा उनमें एक (आन्तरिक) विरोध उत्पन्न हो जाता; अतएव इन दोनों में से कोई भी सिद्धान्त वस्तुगत नहीं हो सकता, प्रत्युत वे केवल, चाहें तो, बुद्धि के विषयिगत सिद्धान्त हो सकते हैं—एक ओर यह मांग करने के लिये कि उन सब (वस्तुओं) के लिये जो सत्तावान रूप में दी हुई हैं कुछ ऐसी खोजी जाए जो अनिवार्य है, अर्थात् अपनी खोज में तब तक किसी अन्य स्थान पर न ठहरा जाए जब तक कि प्रागनुभवात्मकतया पूर्ण स्पष्टीकरण पर न पहुँच लिया जाए,—दूसरी ओर इस पूर्णता की आशा का निषेध करने के लिये, अर्थात् किसी आनुभविक (या दृष्ट) वस्तु को अप्रतिबद्ध मानने का निषेध करने के लिये, और अपने को इसके अधिक व्युत्पादन से मुक्त करने के लिये। इस आशय की दृष्टि से दोनों सिद्धान्त स्वतः अन्वेषक और नियामक रूप में और बुद्धि के औपचारिक हितों से वास्ता रखने वाले होने के कारण पूर्णतया भले प्रकार से एक दूसरे के पास ठहरे रह सकते हैं। क्योंकि इन में से एक यह आदेश करता है कि तुम को प्रकृति के संबंध में इस प्रकार से दार्शनिक चिन्तन करना चाहिये कि मानों उस सबका जो कि अस्तित्व से संबंध रखता है, अनिवार्य आद्य आधार है, पर तुमको ऐसा केवल अपने ज्ञान में व्यवस्थित एकता लाने की दृष्टि से, इस प्रकार के भाव का कल्पित चरम आधार के रूप में, अनुसरण करते हुए करना चाहिये; किन्तु दूसरा यह चेतावनी देता है कि वस्तुओं के अस्तित्व से वास्ता रखने वाले किसी भी एक अकेले निर्धारण को, ऐसे चरम आधार के रूप में अर्थात् अत्यन्त अनिवार्य वस्तु के रूप में मत मानो, प्रत्युत और आगे आने वाले व्युत्पादन के लिये रास्ता सदा खुला रखो और प्रत्येक निर्धारण को सर्वदा ऐसा समझो की मानों किसी अन्य के द्वारा प्रतिबद्ध है। पर यदि वस्तुओं में प्रत्यक्षीकृत प्रत्येक वस्तु हमारे द्वारा अनिवार्यतया प्रतिबद्धरूप मानी जानी चाहिये, तो कोई भी वस्तु (जो आनुभविक या दृष्टरूप में दी हुई हो सकती

है) कभी आत्यन्तिकतया अनिवार्य नहीं समझी जा सकती।

अतएव, क्योंकि नितान्त आवश्यक (या अनिवार्य) तत्व अवभासों के मध्य में उनके चरम आधार के रूप में अधिकतम संभाव्य एकता को प्राप्त करने के लिये सिद्धान्त रूप में काम देने के लिये है और क्योंकि दूसरा नियम हमको एकता के समस्त आनुभविक नियमों को सर्वदा अन्य-व्युत्पादित मानने का आदेश करता है निष्कर्ष यह निकलता है कि हम इस एकता को जगत् के अन्तर्गत कदापि प्राप्त नहीं कर सकते अतः आत्यन्तिकतया अनिवार्य भी जगत् के बाहर माना जाना चाहिये।

प्राचीन काल के दार्शनिकों ने प्रकृति में उपलब्ध समस्त आकारों को संभाव्य माना था परन्तु भौतिक तत्व (माटेरी = मैटर) को साधारण बुद्धि की विभावना (या निर्णय) के अनुसार मौलिक और अनिवार्य माना था। पर यदि उन्होंने भौतिक तत्व के विषय में सापेक्षिकतया अवभासों के अधिष्ठान के रूप में विचार न किया होता प्रत्युत स्वरूपतः उसके संबंध में और उसके अस्तित्व की दृष्टि से विचार किया होता तो आत्यन्तिक अनिवार्यता का भाव तत्काल विलुप्त हो गया होता। क्योंकि बुद्धि को जो इस अस्तित्व के साथ ऐकान्तिकतया बाँधती हो ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है इसके विपरीत बुद्धि उस को विचार में बिना किसी विसंवादिता के विनष्ट कर सकती है; ऐकान्तिक अनिवार्यता किन्तु केवल विचारमात्र में निवास करती है। अतएव इस विश्वास के मूल में कोई निश्चित नियामक सिद्धान्त रहा होगा। वास्तव में तो विस्तार और अप्रवेश्यता (जो दोनों मिलकर भौतिक तत्व के संबोध को संघटित करते हैं) अवभासों की एकता के प्रधानतम आनुभविक सिद्धान्त भी हैं और वह सिद्धान्त जहाँ तक कि यह आनुभविकतया अप्रतिबद्ध है विनियामक सिद्धान्त के समान लक्षण रखता है। तो भी क्योंकि भौतिक तत्व का प्रत्येक निर्धारण जो कि अवभासों के यथार्थांश का घटक है इसीलिये अप्रवेश्यता भी एक परिणाम है जिसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये और इसीलिये जो व्युत्पादित ही है अतः भौतिक तत्व समस्त व्युत्पादित एकता के सिद्धान्त के रूप में एक अनिवार्य सत्त्व के भाव के साथ मेल नहीं खाता; क्योंकि उसके वास्तविक गुणों में से प्रत्येक व्युत्पादित होने के कारण केवल प्रतिबन्ध (शर्त) के साथ ही अनिवार्य है और इसलिये स्वतः हटाया जा सकता है—(और) जिसके साथ भौतिक तत्व का समस्त अस्तित्व भी निषिद्ध या उन्मूलित किया जा सकता है; यदि ऐसा न होता तो एकता के चरम आधार तक अनुभवगम्य उपायों से पहुँच गये होते—पर यह बात तो दूसरे विनियामक सिद्धान्त के द्वारा निषिद्ध कर दी गई है, अतः यह परिणाम निकलता है कि भौतिक तत्व और सामान्यरूपेण जो कुछ जगत् से संबंध रखता है, अनिवार्य आद्यसत्त्व के भाव से (जब

कि उसको अधिकतम आनुभविक एकता के सिद्धान्तमात्र के रूप में भी माना जाए) मेल नहीं खाता, प्रत्युत उस (अर्थात् उस सत्त्व या सिद्धान्त) को तो जगत् के परे स्थापित किया जाना चाहिये, जिससे कि हम जगत् के अवभासों और उनकी सत्ता को पूर्ण आश्वस्तता के साथ अन्य (अवभासों) से व्युत्पादित कर सकें, और ऐसा ठीक इस भावना के साथ कर सकें कि मानों कोई अनिवार्य तत्व है ही नहीं, जब कि दूसरी ओर इसके साथ ही साथ उस व्युत्पादन को पूर्ण करने के लिये भी अविराम प्रयत्न कर सकें, ठीक इस भावना के साथ कि मानों इस प्रकार का सत्त्व चरम आधार (-भूत हेतु) के रूप में पूर्वतः माना हुआ है।

इन उपर्युक्त विमर्शों से यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि सर्वोच्च सत्त्व का आदर्श बुद्धि के विनियामक सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं जो हमको जगत् के समस्त संयोजन को इस दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित करता है कि मानों यह एक सर्वतः पर्याप्त, अनिवार्य कारण से उत्पन्न हुआ है, जिससे कि हम उस आदर्श के ऊपर एक सुव्यवस्थित, (और सर्वव्यापी नियमों के अनुसार) अनिवार्य एकता को, उस संयोजन की व्याख्या में, आधारित कर सकें, पर यह आदर्श स्वतः अनिवार्य अस्तित्व का अभिकथन (या दावा) नहीं है। यह इसके साथ ही साथ इस औपचारिक सिद्धान्त को एक अनुभवातीत मिथ्योपलब्धि के माध्यम से संघटनात्मक रूप में प्रत्युपस्थापित करना और इस एकता को स्वतंत्र वास्तविक सत्ता के रूप में विचारना (भी) अपरिहार्य है। क्योंकि, जैसा देश के संबंध में है कि वह समस्त आकृतियों को जो स्वयं उसी के विभिन्न परिसीमनमात्र हैं, मूलतः संभव बनाता है (यद्यपि वह इन्द्रिय-संवेद्यता का सिद्धान्त या तत्वमात्र है), फिर भी इसलिये स्वतः अपने आप स्वतंत्रतया सत्तावान् कुछ आत्यन्तिकतया अनिवार्य वस्तु रूप और प्रागनुभवात्मकतया स्वतः उपलब्ध होने वाला विषयरूप माना जाता है, इसी प्रकार यह भी बिलकुल स्वाभाविक है, कि क्योंकि प्रकृतिसंबंधी सुव्यवस्थित एकता किसी भी ढंग से, हमारी बुद्धि के आनुभविक विनियोग के लिये नियोजित नहीं की जा सकती—वहाँ तक जहाँ तक कि हम सब से अधिक यथार्थ सत्त्व के भाव को सर्वोच्च कारण के रूप में उसका आधार न बनाएँ—उस भाव को एक वास्तविक विषय के रूप में प्रत्युपस्थापित किया जाए, और फिर यही विषय, क्योंकि वह सर्वोच्च प्रतिबन्ध है अनिवार्य रूप में प्रत्युपस्थापित किया जाए, एवं इस प्रकार एक विनियामक सिद्धान्त विधायक या संघटनात्मक सिद्धान्तरूप में बदल दिया जाए, इस प्रकार का स्थान परिवर्तन (या स्थानविपर्यय) हुआ है यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब मैं इस सर्वोच्च सत्त्व का, जो इस संसार के संबंध में आत्यन्तिकतया, (अप्रतिबद्धतया) अनिवार्य है, स्वरूपतः सत् (या स्वलक्षण) वस्तु

के रूप में विचार करता हूँ, क्योंकि यह अनिवार्यता किसी भी संबोध द्वारा प्रत्युपस्थापित नहीं की जा सकती, और इसलिये यह हमारे विचार के औपचारिक प्रतिबन्ध के रूप में हमारी बुद्धि में उपलव्ध हो सकती है, किन्तु अस्तित्व की भौतिक और स्वतंत्र-विषय-त्वापादक शर्त के रूप में नहीं।

तृतीय अध्याय

षष्ठम खण्ड

भौतिक-धार्मिक उपपत्ति की असंभवता

तब, जब कि सामान्यरूपेण न तो वस्तुओं के संबोध और न अस्तित्व सामान्य का अनुभव इन दोनों में से कोई भी, जो अपेक्षित है उसको प्रतिपादित नहीं कर सकता, तो फिर एक उपाय शेष रह जाता है कि यह परीक्षण करके देखा जाए कि क्या कोई सुनिश्चित (या सुनिर्धारित) अनुभव, अतएव विद्यमान जगत् की वस्तुओं का अनुभव, उनकी संघटना और स्वभाव (अथवा व्यवस्था) इत्यादि ही तो कहीं उपपत्ति का वह आधार प्रदान नहीं करते जो हमको सर्वोच्च सत्त्व सुनिश्चित विश्वास को प्राप्त करने में सहायक हो सके। हम इस प्रकार की उपपत्ति को भौतिक-धार्मिक उपपत्ति कहेंगे। यदि यह प्रयत्न असंभव (=असफल) रहा तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि हमारे अनुभवातीत भाव के समनुरूप किसी सत्त्व के अस्तित्व की सन्तोप्रदष उपपत्तिमात्र चिन्तनात्मक वुद्धि (या प्रज्ञा) से संभव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इस अनुसंधान (या अन्वेषण) के लिये बहुत सरल और निर्णायक उत्तर की आशा की जा सकती है। क्योंकि, कभी भी कोई अनुभव ऐसा कैसे हो सकता है जो किसी भाव के समनुरूप हो? भाव का विलक्षण स्वरूप ही ऐसा है कि कभी कोई अनुभव उसके समनुरूप नहीं हो सकता। एक अनिवार्य और सर्वतः पर्याप्त सत्त्व का अनुभवातीत भाव (आइडिया, ईडे) इतना अतिशय विशाल है, समस्त आनुभविक वस्तुओं से इतना अधिक ऊँचा है (क्योंकि यह सब तो सर्वदा प्रतिबद्ध हैं) कि कुछ तो अनुभव में इस प्रकार के संब्रोध को भरने के लिये (पूरित करने के लिये) पर्याप्त सामग्री या उपादान ही नहीं पाया जा सकता और कुछ अप्रतिबद्ध के लिये सर्वदा प्रतिबद्ध (के क्षेत्र) में खोज ही व्यर्थ की जाती है, जिसके संबंध में हमको आनुभविक संश्लेषण का कोई भी नियम (या कानून) न तो किसी ऐसे (अप्रतिबद्ध) का उदाहरण ही प्रदान करता है और न इस दिशा में लेशमात्र पथप्रदर्शन ही करता है।

यदि सर्वोच्च सत्त्व प्रतिबन्धों की इस शृंखला में स्थित हो तो वह स्वयं उस मालिका

का एक अंग होगा और तब ठीक उन अंगों के समान, जिनके ऊपर यह अवस्थित है, अपने उच्चतर आधारभूत हेतु के संबंध में, जिससे वह स्वयं प्रादुर्भूत हुआ है, अनुसंधान की अपेक्षा करेगा। इसके विपरीत यदि इसको इस श्रृंखला से निकालना अभीष्ट हो, और इसको केवल एक बोधगम्य सत्त्व के रूप में, प्राकृतिक कारणों की मालिका में अनन्तर्भुक्त माना जाए तो ऐसी स्थिति में उस तक पहुँचने के लिये बुद्धि कौन से पुल का निर्माण कर सकती है ? क्योंकि कार्य से कारण की ओर के संक्रमण के समस्त नियम (कानून) इतना ही नहीं, हमारे ज्ञान का समस्त संश्लेषण और प्रविस्तार सामान्यतोभावेन, संभाव्य अनुभव के (अतएव ऐन्द्रिय जगत् के विषयों के) अतिरिक्त अन्य किसी से संबंध नहीं रखते, और केवल उन्हीं के संबंध में कुछ अर्थ रख सकते हैं।

यह विद्यमान (यथार्थ) जगत् हमारे समक्ष विविधता, व्यवस्था, सोद्देश्यता और सुन्दरता की एक ऐसी रंगस्थली को उद्घाटित करता है जो एक समान भाव से इसकी अपरिमेय विशालता और इसके अंगों की अपरिसीमित विभाज्यता में प्रदर्शित है कि इसके उस ज्ञान से जो हमारी निर्बल बोधवृत्ति इसके संबंध में प्राप्त कर सकती है, जाने गये इतने अधिक और इतने अपरिमेयतया विपुल आश्चर्यों के समक्ष समस्त वाणी अपनी शक्ति को, और गणना अपनी माप सामर्थ्य को, और स्वयं हमारे विचार अपनी सुनिर्दिष्टता को गँवा बैठते हैं, जिससे इस समस्त (विराट्) के संबंध में हमारी विभावना अपने को एक मूक किन्तु इसी कारण और भी अधिक वाक्पटु विस्मय में विलीन कर बैठती है। हम हर तरफ़ एक कार्यों और कारणों की, उपेयों और उपायों की, श्रृंखला को, (और) उद्भव अथवा विलय में नियमपरायणता को देखते हैं, और क्योंकि कोई भी वस्तु अपने आप (स्वेच्छा) से उस अवस्था में प्रविष्ट नहीं हुई है जिसमें हम उसको पाते हैं, अतः वह सर्वदा अपने से परे किसी अन्य वस्तु को अपने कारण के रूप में सिद्ध करती है, जो अन्य वस्तु को फिर इसी अनुसंधान को आगे के लिये आवश्यक बना देता है जिससे कि इस प्रकार से, (यदि इस संभाव्यताओं की अनन्त श्रृंखला के बाहर इस विश्व को धारण करने वाली किसी वस्तु को न मानें, जो मौलिक और स्वतंत्रतया आत्मनिर्भर हो, तथा जो इसकी उत्पत्ति का कारण होने के साथ ही साथ उसके लगातार अस्तित्व को भी सुरक्षित करने वाली है) तो सारा विश्व अवश्यमेव शून्य के अतल गर्त में डूब जाएगा। (विश्व की समस्त वस्तुओं के संबध में) जो यह सर्वोच्च कारण है, इसको कितने महान् आकार का विचार किया जाए ? हम जगत् के समस्त अन्तर्विष्ट विषयों को नहीं जानते, और इससे भी कम हम इस बात को जानते हैं कि जो सब कुछ संभव है उसकी तुलना में इसकी महत्ता को कैसे आँका जाए। परन्तु क्योंकि कार्य-कारण भाव की दृष्टि से हमको (हमारे लिये) एक चरम और सर्वोच्च

सत्त्व अपेक्षित है, अत: कौन सी बात हमको इस बात से रोकती है कि हम उसकी पूर्णता की मात्रा को प्रत्येक अन्य संभव वस्तु की पूर्णता की मात्रा से ऊपर रखें ? यह (एक ऐसा काम है जिसको) हम सरलता से कर सकते हैं, यद्यपि कर सकते हैं एक भाव-मात्र संबोध की क्षीण सी रूपरेखा के भीतर ही, और तब कर सकते हैं जब कि हम इस सत्त्व को अपने प्रति ऐसे रूप में प्रत्युपस्थापित करें कि मानों उसमें समस्त पूर्णता इस प्रकार संयुक्त हो जैसे किसी एक अकेले द्रव्य में; यह ऐसा संबोध है जो हमारी बुद्धि की सिद्धान्तों की मितव्ययता की माँग से मेल खाने वाला है, स्वयं अपने कोई आत्मविसंवादिता नहीं रखता, अनुभव के मध्य में बुद्धि के विनियोग के विस्तार के लिए, उस पथप्रदर्शन के द्वारा अनुकूल है, जिसको ऐसा भाव उसको व्यवस्था और सोद्देश्यता की ओर प्रवृत्त करके प्रदान करता है, तथा जो सुनिश्चित प्रकार से ही किसी अनुभव के विरुद्ध नहीं है।

इस उपपत्ति का उल्लेख सर्वदा सम्मान के साथ किये जाने के योग्य है। यह प्राचीनतम, स्पष्टतम और मानव जाति की साधारण बुद्धि से सबसे अधिक मेल खाने वाली उपपत्ति है। यह प्रकृति के अध्ययन को सजीवता प्रदान करती है, ठीक वैसे ही कि जैसे इसने स्वयं अपना अस्तित्व उस (विज्ञान) से पाया है, और उसके द्वारा नित्य नवीन स्फूर्ति प्राप्त किया करती है। यह वहाँ लक्ष्य और उद्देश्यों को अनुप्रविष्ट करती है जहाँ उनको हमारा निरीक्षण अपने आप से उद्घाटित नहीं कर सकता, तथा हमारे प्रकृति के ज्ञान को, एक विशिष्ट एकता पथप्रदर्शक सूत्र द्वारा, जिसका सिद्धान्त (या तत्व) प्रकृति के बाहर है, अधिक विस्तृत बनाती है। यह ज्ञान पुन: अपने कारण पर प्रतिक्रिया करता है, अर्थात् उस अनुभवातीत भाव के प्रति प्रतिक्रिया करता है जो इस ज्ञान का हेतु है, और इस प्रकार एक परमकारण के सबंध में विश्वास को इस हद तक पुष्ट करता है कि यह विश्वास अनिरोध्य आस्था में परिवर्तित हो जाता है।

अतएव इस उपपत्ति के सम्मान (अथवा अधिकार) को दूर करने (या घटाने) का प्रयत्न न केवल खेदपूर्ण होगा प्रत्युत बिलकुल निरर्थक भी होगा। बुद्धि, जो इतनी प्रबल, और उसके अपने हाथों से निरन्तर बढ़ने वाली, यद्यपि केवल आनुभविक युक्तियों से उत्सेधित होती रहती है, कि सूक्ष्म गूढ़ चिन्तन की किसी दुबिधा से ऐसी अवसन्न नहीं हो सकती कि वह प्रकृति के विस्मयों और विश्व की महमहिमा पर एक दृष्टिपात से, विषादपूर्ण अनिश्चितता (या कान्दिशीकता) में से, एक उच्चता से दूसरी उच्चता तक तथा अन्त में सर्वोच्च तक, प्रतिबद्ध से उसके प्रतिबन्ध तक और अन्त में सर्वोच्च अप्रतिबद्ध (विश्व के) कर्त्ता तक आरोहण करने के लिये, इस प्रकार जाग कर चौकन्नी नहीं हो जाएगी जैसे कोई स्वप्न से चौंक कर जाग पड़ता है।

परन्तु यद्यपि हमको इस पद्धति की युक्तियुक्तता और उपयोगिता के विरुद्ध कोई भी आपत्ति नहीं है, इसकी अपेक्षा इसको संस्तुत और प्रोत्साहित ही अधिक करना है, तथापि हम, इस कारण इसके उन दावों का, जो यह स्वयंसिद्ध निश्चितता के संबध में और किसी भी कृपा अथवा अविज्ञात दिशा के सहारे की अपेक्षा न रखने वाले अनु-मोदन के संबंध में कर सकती है, समर्थन नहीं कर सकते, और यदि, किसी अत्यधिक अहंमन्य तर्कमानी की अयौक्तिक (और उद्धत) भाषा को ऐसे विश्वास के संयत और विनम्र कथन के लिये, जो कि सन्देहों के शमन के लिये पर्याप्त है किन्तु अप्रतिबद्ध अधी-नता की अपेक्षा नहीं करता, अवनमित् (या अवध्वनित) कर दिया जाए तो सद्धेतुक उद्देश्य को कोई हानि नहीं पहुँच सकती। इसलिये मैं तो यह मानता हूँ कि यह भौतिक धार्मिक उपपत्ति सर्वोच्च सत्त्व के अस्तित्व को केवल अपने ही द्वारा कदापि स्थापित नहीं कर सकती, प्रत्युत इस कार्य को तो इसको सर्वदा तत्वविज्ञान संबंधी (ऑण्टो-लोगिश) उपपत्ति को (जिसके लिये यह उपपत्ति भूमिका का काम देती है) सौंप देना चाहिये, जिससे वह इस की कमियों को पूरा कर दे, इसलिये यह तत्वज्ञान संबंधी उपपत्ति ही (जहाँ तक भी परिकल्पी या चिन्तनात्मक उपपत्ति यथाकथञ्चित् संभव है) अपने में उपपत्ति का वह एकमात्र संभाव्य आधारभूत हेतु अपने में अन्तर्विष्ट रखती है जिसकी उपेक्षा कोई भी मानवीय बुद्धि नहीं कर सकती।

इस भौतिक-धार्मिक उपपत्ति में ध्यान देने योग्य मुख्य विन्दु निम्नलिखित हैं— १. दुनियाँ में सर्वत्र महान् बुद्धिमत्ता के साथ प्रतिपादित एक सुनिश्चित उद्देश्य के अनुसार सुव्यवस्था के स्पष्ट चिह्न पाये जाते हैं, और ऐसा उस विश्व में पाया जाता है जो अपने अन्तर्विष्ट विषय में अनिर्वचनीय विविधता से युक्त है और अपने विस्तार में असीम है। २. यह सोद्देश्य व्यवस्था दुनियाँ की वस्तुओं के लिये नितान्त परकीय (या बाह्य) है और उनके साथ केवल संभाव्यता का संबंध रखती है, अर्थात् विविध वस्तुओं ने विविध उपायों के इतने महान् संयोजन के साथ एक सुनिर्धारित चरम लक्ष्य की पूर्ति के लिये इस प्रकार सहयोग न किया होता यदि यह उपाय एक विवेकपूर्ण सिद्धान्त (या तत्व) के द्वारा किसी आधारभूत भाव के अनुसार इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिये चुने और आरचित न हुए होते। ३. अतः एक (अथवा अनेक) उदात्त और बुद्धिमान् कारण की सत्ता है, जो अन्धी किन्तु सर्वशक्ति के रूप में अचेतन प्रजननात्मकता के द्वारा जगत् का कारण नहीं है प्रत्युत जो बुद्धिमत्ता के रूप में स्वतंत्रता के द्वारा विश्व का कारण होना चाहिये। ४. एक कलापूर्ण (या चातुर्यपूर्ण) संघात के अंगों की एकता के समान इस दुनियाँ के विभिन्न अंगों के पारस्परिक संबंध की एकता से इस विश्व के कारण की एकता का अनुमान वहाँ तक तो सुनिश्चितता के साथ किया जा सकता

है जहाँ तक हमारा निरीक्षण इसके सत्यापन के लिये पर्याप्त होता है और इस सीमा के परे सादृश्य (या उपमान) के सिद्धान्त के अनुसार संभाव्यता के साथ किया जा सकता है।

प्रकृति के कुछ उत्पादनों और उन वस्तुओं (जिनको मानवीय कला तब उत्पन्न करती है जब कि वह प्रकृति के प्रति बल का प्रयोग करके--या बलात्कार करके, उसके अपने लक्ष्यों के अनुसार प्रवृत्त न होने देकर अपने उद्देश्यों के अनुसार प्रवृत्त होने के लिये विवश कर देती है) के सादृश्य से (प्रकृति के उत्पादनों के साथ घरों, जहाज़ों और घड़ियों के सादृश्य से) प्राकृतिक प्रज्ञा, या बुद्धि, जब यह अनुमान निकालती है कि इसी प्रकार की एक कारणता अर्थात् बोधवृत्ति और संकल्प, प्रकृति के मूल में भी होना चाहिये, जब वह स्वतंत्रतया काम करने वाली प्रकृति की आन्तरिक संभाव्यता को (जो समस्त कला और स्यात् स्वयं बुद्धि को भी पहले पहल संभव बनाती है) एक दूसरी ही, यद्यपि अतिमानव कला से व्युत्पादित करती है--जो युक्ति का प्रकार स्यात् तीक्ष्ण अनुभवातीत आलोचना को सहन नहीं कर सकता, तो इन (अनुमानों) की दृष्टि से प्राकृतिक प्रज्ञा से बिना उद्विग्न हुए, यह तो स्वीकार किया जाना ही चाहिये कि यदि हमको कारण का नाम लेना पड़े ही, तो हम यहाँ पर उन सोद्देश्य उत्पादनों के उपमान (या सादृश्य) के आधार से अधिक सुरक्षित आधार पर प्रवृत्त नहीं हो सकते, मात्र जिनके कारण और कर्म-पद्धति का हमको पूर्णतया ज्ञान है। यदि बुद्धि उस कारणता को, जिसको वह जानती है, छोड़ कर उन स्पष्टीकरण के हेतुओं की ओर प्रवृत होगी जो अस्पष्ट और अनुपपाद्य हैं, (और) जिनको वह नहीं जानती है तो वह स्वयं अपने प्रति ही अपने उत्तरदायित्व का पालन नहीं कर सकेगी।

इस भौतिक-धार्मिक उपपत्ति की युक्ति प्रक्रिया के अनुसार, प्रकृति के इतने अधिक अंश में प्राप्त होने वाली सोद्देश्यता और समुपयुक्तता, संसार में केवल आकार की संभाव्यता को सिद्ध करेगी किन्तु जगत् में पाए जाने वाले भौतिक तत्व या द्रव्य की संभाव्यता को सिद्ध नहीं करेगी; क्योंकि इस अन्तिम उद्देश्य की सिद्धि के लिये यह अपेक्षित होगा कि यह प्रदर्शित किया जा सके कि यदि संसार की वस्तुएँ अपने द्रव्य में परम बुद्धिमत्ता द्वारा उत्पादित न होतीं तो वे स्वयं अपने आप, विश्वव्यापी नियमों के अनुसार ऐसी सुव्यवस्था और सामंजस्य को प्रदर्शित करने के योग्य न होतीं, पर यह ऐसी बात है जिसको सिद्ध करने के लिये हमको, मानवीय कला के सादृश्य के अतिरिक्त बिलकुल दूसरे ही प्रकार औपपत्तिक आधारों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार की उपपत्ति से अधिक से अधिक जो सिद्ध किया जा सकता है वह इस विश्व का ऐसा वास्तुकार होगा जो उस उपादान की समुपयुक्तता या (अनुकूलन) से जिसमें उसे काम

करना पड़ता है अपने कार्य को बहुत कुछ प्रबाधित रहता है, पर इस उपपत्ति से विश्व का ऐसा स्रष्टा सिद्ध नहीं हो सकेगा, जिसके भाव के अधीन सब कुछ है, अतएव इस कारण यह उपपत्ति, आँखों के समक्ष महान लक्ष्य के लिये, अर्थात् सर्वथा पर्याप्त आद्य-सत्त्व की सिद्धि के लिये तो बहुत दूर तक भी पर्याप्त नहीं है। यदि हम भौतिक तत्व की संभाव्यता को सिद्ध करना चाहें तो हमको अनुभवातीत युक्ति का आश्रय लेना पड़ेगा, जिसको यहाँ पर हम वर्जित करना चाहते रहे हैं।

अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि संसार में सर्वत्र व्यापक रूप से दिखलाई पड़ने वाली सुव्यवस्था और सोद्देश्यता को पूर्णतया संभाव्य विन्यास जैसा माना जा सकता है और इससे हम उसके समानुपाती कारण का अनुमान कर सकते हैं। परन्तु इस कारण के संबोध को हमको उसके संबंध में कोई सुनिर्धारित तथ्य जानने योग्य बनाना चाहिये, और इसलिये वह संबोध उस सत्त्व के संबोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता जो सर्वशक्ति और सर्वबुद्धिमत्ता इत्यादि से युक्त है, संक्षेप में, जो सर्वतः पर्याप्त सत्त्व के लिये जो पूर्णता समुचित है उससे समन्वित है। क्योंकि "अत्यन्त विशाल," "आश्चर्यचकित करने वाला," "अपरिमेय शक्तिशाली," "अपरिमेय उत्तमता वाला" इत्यादि विधेय ऐसे हैं जो बिलकुल भी सुनिर्दिष्ट संबोध नहीं हैं, और वास्तव में हमको यह नहीं बतलाते कि वह वस्तु स्वरूपतः क्या है, प्रत्युत, वे तो उस विषय के परिमाण के सापेक्षिक प्रत्युपस्थापनामात्र हैं, जिसकी तुलना (जगत् का) निरीक्षक अपने और अपनी अवधारणा शक्ति के साथ किया करता है, तथा जो, चाहे तो विषय का विपुलीकरण किया जाए, चाहे निरीक्षक विषयी का विषय की दृष्टि से लघ्वीकरण किया जाए, दोनों ही अवस्थाओं में समानरूपेण उच्च प्रशंसा के शब्द बने रहेंगे। जहाँ किसी वस्तु सामान्य के (पूर्णता के) परिमाण का प्रसंग उपस्थित होता है, तो उस समय, उस संबोध को छोड़ कर जो समस्त संभाव्य पूर्णता को अवगत करने वाला है अन्य कोई सुनिर्धारित संबोध नहीं होता और संबोध में भी केवल वास्तविकता की सर्वता ही पूर्णतया (या व्यापकतया) निर्धारित हुआ करती है।

अब मैं ऐसी आशा नहीं करता कि कोई व्यक्ति इतना (दुः-) साहसी होगा कि जो अपने द्वारा निरीक्षित जगत् के (विस्तार और अन्तर्विष्ट विषय की दृष्टि से) संबंध को सर्वशक्तिमत्ता, विश्व व्यवस्था के संबंध को सर्वोच्च बुद्धिमत्ता, विश्वैक्य के संबंध को स्रष्टा की ऐकान्तिक एकता इत्यादि समझने का साहस करेगा। इस प्रकार भौतिक धर्मविज्ञान जगत् के परम कारण कोई सुनिर्दिष्ट संबोध प्रदान करने में असमर्थ हैं, और इसलिये वह धर्मविज्ञान के एक ऐसे सिद्धान्त के (या तत्व के) रूप में पर्याप्त नहीं है जो अपनी बारी में धर्म के आधार को संघटित कर सके।

आनुभविक मार्ग के द्वारा ऐकान्तिक समग्रता की ओर बढ़ना पूर्णतया असंभव है। परन्तु फिर भी भौतिक-धार्मिक (अथवा भौतिक-धर्मविज्ञान संबंधी) उपपत्ति में प्रयत्न यही करने का किया जाता है। तो फिर इस इतने चौड़े अतल गर्त के आर-पार पुल बनाने के लिये किन उपायों को काम में लाया गया है ?

जगत् के कर्त्ता की विशालता, बुद्धिमत्ता, शक्तिशालिता इत्यादि की आश्चर्य-पूर्ण प्रशंसा तक पहुँच जाने के पश्चात् यह देख कर कि इसके आगे नहीं जाया जा सकता, इस आनुभविक उपपत्तियों के द्वारा चालू रखी गई युक्ति को एक बार ही त्याग दिया जाता है, और फिर से उस संभाव्यता का सहारा लिया जाता है, जिसको हमने युक्ति के आरंभ में जगत् की व्यवस्था और सोद्देश्यता से अनुमित किया था। एकमात्र इस संभावना से, केवल अनुभवातीत संबोध के द्वारा एक नितान्त अनिवार्य के अस्तित्व (के अनुमान) तक पहुँचा जाता है, तथा आद्यकारण की नितान्त अनिवार्यता के संबोध से उसके पूर्णतया निर्धारित अथवा निर्धारक संबोध तक अर्थात् सर्वग्राहिणी यथार्थता के संबोध तक पहुँचा जाता है। यह भौतिक-धार्मिक उपपत्ति अपने इस उपक्रम में फँस कर रह जाती है, एकदम इस कठिनाई में विश्व-रचना-संबंधी उपपत्ति की शरण में जा पहुँचती है और यह उपपत्ति प्रच्छन्नरूप में तत्वविज्ञान-संबंधी उपपत्ति ही है, अतः वास्तव में इसने अपने लक्ष्य को केवल शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही पूरा किया है, यद्यपि आरंभ में इसने इस (शुद्ध बुद्धि) के साथ समस्त संबंध को अनङ्गीकार कर दिया था, और अपने निर्णयों को अनुभव पर आश्रित बोधगम्य उपपत्ति पर आधारित करने की घोषणा की थी।

इसलिये भौतिक-धार्मिक युक्ति के प्रतिपादकों के पास अनुभवातीत उपपत्ति प्रकार के प्रति इस तिरस्कार प्रदर्शित करने, उसकी ओर प्रकृति के निर्मल दृष्टि सम्पन्न निरीक्षक के आत्माभिमान की दृष्टि से देखने, और उसको अन्धकारावृत्त चिन्तकों के मकड़ी जाले मानने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि यदि वे केवल अपने आत्म-परीक्षण के इच्छुक होते तो उनको पता चल जाता कि प्रकृति और अनुभव की भूमि पर पर्याप्त दूरी तक आगे बढ़ जाने के पश्चात् भी अपने को उस विषय से जो कि उनकी बुद्धि के प्रति उद्घाटित हुआ है पहले की बराबर दूरी पर पाकर, उनको एकबारगी इस भूमि को त्याग देना पड़ा, और मात्र संभावनाओं के राज्य में प्रविष्ट होना पड़ा, जहाँ कि वे भावों के पंखों से उस विषय के समीप पहुँचने की आशा करते हैं, जिसने उनके समस्त आनुभविक अन्वेषण (या अनुसंधान) से अपने को दूर बचाए रखा है। अन्त में इतनी प्रबल छलाँग के द्वारा, (जैसा कि वे समझते हैं) सुदृढ पथस्थिति को पा लेने के उपरान्त वे अपने सुनिर्धारित संबोध को (जिसको उन्होंने न जाने किस

प्रकार से प्राप्त कर लिया है) समस्त सृष्टि-मंडल के ऊपर फैला देना चाहते हैं; और वे इस आदर्श को, (जो मात्र शुद्ध बुद्धि की उपज था) अनुभव के द्वारा स्पष्ट करते हैं, यद्यपि वे ऐसा पर्याप्त दीनता के साथ, एवं विषय के गौरव की दृष्टि से अत्यन्त हीनता के साथ करते हैं; और तिस पर भी वे यह अंगीकार करना नहीं चाहते कि वे इस ज्ञान अथवा मान्यता तक अनुभव के मार्ग की अपेक्षा किसी दूसरे ही मार्ग से पहुँचे हैं।

अतएव परम सत्त्व के रूप में आद्यसत्त्व के अस्तित्व की भौतिक-धार्मिक उपपत्ति सृष्टि-रचना-विज्ञान-संबंधी उपपत्ति के ऊपर और सृष्टि-रचना-विज्ञान-संबंधी उपपत्ति तत्वविज्ञान-संबंधी उपपत्ति के ऊपर आश्रित है, और क्योंकि चिन्तनात्मक बुद्धि के लिये इन मार्गों के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग खुला हुआ नहीं है, अतएव, यदि बोध-वृत्ति के आनुभविक विनियोग से इतनी अधिक ऊँची प्रस्थापना के लिये सचमुच कोई उपपत्ति संभव हो सकती है तो वह केवल बुद्धि के शुद्ध संबोधों से प्राप्त होने वाली तत्वविज्ञान-संबंधी उपपत्ति ही एकमात्र संभव उपपत्ति हो सकती है।

तृतीय अध्याय

सप्तम खण्ड

बुद्धि के चिन्तनात्मक सिद्धान्तों पर आश्रित समस्त धर्मविज्ञान की मीमांसा

यदि मैं धर्मविज्ञान से आद्यसत्त्व-संबंधी ज्ञान का अर्थ ग्रहण करूँ तो यह धर्मविज्ञान या तो केवल बौद्धिक (थियोलौगिया राट्योनालिस्) धर्मविज्ञान होगा अथवा दिव्य-साक्ष्य पर आश्रित धर्मविज्ञान होगा। इनमें से प्रथम या तो अपने विषय पर केवल अनुभवातीत संबोधों के माध्यम से एकमात्र शुद्ध बुद्धि के द्वारा विचार करता है, और अनुभवातीत धर्मविज्ञान कहलाता है, अथवा एक ऐसे संबोध के द्वारा विचार किया करता है जिसको वह सर्वोच्च बुद्धिमत्ता के रूप में प्रकृति से उधार लेता है, और ऐसा होने पर इसको प्राकृतिक धर्मविज्ञान कहा जाना चाहिये। जो केवल अनुभवातीत धर्मविज्ञान को स्वीकार करता है वह दिव्यतत्ववादी कहलाता है और जो प्राकृतिक धर्मविज्ञान को मानता है वह ईश्वरवादी कहा जाता है। इनमें से प्रथम यह बात स्वीकार करता है कि हम एक आद्यसत्त्व के अस्तित्व को केवल बुद्धि के द्वारा जान सकते हैं पर (इसके साथ वह यह भी मानता है कि) हमारा तत्संबंधी संबोध केवल अनुभवातीत होता है, अर्थात् वह ऐसे सत्त्व का संबोधमात्र होता है जो समग्र वास्तविकता से युक्त है किन्तु जिसका निर्धारण इससे अधिक निकटता से नहीं किया जा

सकता। दूसरे का दावा यह है कि बुद्धि अपने विषय को प्रकृति के सादृश्य के द्वारा अधिक निकटतया निर्धारित करने में समर्थ है अर्थात् वह उसको ऐसे सत्त्व के रूप में निरूपित करती है जो बोधवृत्ति और स्वातंत्र्य के द्वारा अपने में अन्य सब वस्तुओं के चरम आधार को अन्तर्विष्ट रखता है। इस प्रकार प्रथम मतवादी इस परम सत्त्व (या परम तत्व) को जगत् के कारण के रूप में मानता है (यद्यपि यह बात अनिर्णीत ही रहती है कि वह ऐसा अपने स्वभाव की अनिवार्यता के कारण है अथवा स्वातंत्र्य के कारण) और दूसरा मतवादी इसको जगत के कर्ता (= रचयिता) के रूप में स्वीकार करता है।

पराधर्मविद्या या तो वह होती है जो आद्यपरमतत्त्व (या सत्त्व) की सत्ता को अनुभव सामान्य से व्युत्पादित करने का विचार करती है (किन्तु जिस जगत से इस अनुभव का संबंध है उसके स्वरूप निकटतया निरूपण किये बिना वह ऐसा करती है) और तब यह धर्मविद्या सृष्टि-धर्मविद्या कहलाती है, अथवा वह होती है जो यह आस्था रखती है कि वह इस प्रकार के सत्त्व के अस्तित्व को लेशमात्र अनुभव की सहायता के बिना केवल संबोधों के द्वारा जान सकती है, और तब यह तात्त्विक-धर्मविद्या (औण्टो-थियोलौजी) कहलाती है।

प्राकृतिक धर्मविद्या, इस जगत में प्राप्त होने वाली संघटना, व्यवस्था और एकता से जगत के कर्त्ता की विशिष्टताओं और सत्ता का अनुमान करती है—और यह जगत् ऐसा है कि इसमें हम को उनके नियमों के सहित दो कारणताओं को—अर्थात् प्रकृति और स्वातंत्र्य को—स्वीकार करना पड़ता है। इस संसार से यह प्राकृतिक धर्मविद्या, या तो समस्त प्राकृतिक व्यवस्था और पूर्णता के अथवा नैतिक व्यवस्था और पूर्णता के तत्व (या सिद्धान्त) के रूप में एक चरम बुद्धिमत्ता की ओर आरोहण करती है। प्रथम अवस्था में वह भौतिक धर्मविद्या कहलाती है और दूसरी में आचार संबंधी धर्म-विद्या[कां.]।

क्योंकि ईश्वर शब्द से हम समस्त वस्तुओं के मूल के रूप में अन्धे के तुल्य काम करने वाली शाश्वत प्रकृति का अर्थ (या तात्पर्य) ग्रहण नहीं किया करते, प्रत्युत एक ऐसे परम सत्त्व का अर्थ ग्रहण करते हैं जो बोध और स्वातंत्र्य के द्वारा सब वस्तुओं

कां. धर्म (–देव–) विद्या संबंधी आचारशास्त्र नहीं; क्योंकि इसमें तो ऐसे आचार-संबंधी नियम अन्तर्विष्ट होते हैं जो जगत् के परम शासक की सत्ता को पूर्वतः स्वीकार करते हैं, इसके विपरीत नीतिसबंधी धर्मविद्या वह है जिसमें सर्वोच्च सत्त्व की सत्ता के संबंध में ऐसा विश्वास पाया जाता है जिसका आधार नीतिसंबंधी नियम हैं।

का रचयिता होना चाहिये, और क्योंकि यह संबोध हमारी रुचि का विषय भी इसी अर्थ में है, अतः यथार्थ रूप में तो देववादी दार्शनिक के लिये केवल आद्यसत्त्व अथवा परमकारण के दावे को छोड़ कर ईश्वर संबंधी विश्वास का निषेध किया जा सकता है। परन्तु फिर भी क्योंकि कोई किसी बात का दावा करने का साहस नहीं करता अतएव इसी कारण उस पर उस बात का निषेध करने का आरोप नहीं लगाया जाना चाहिये, इसलिये यह कहना अधिक अकर्कश और अधिक उचित होगा कि देववादी ईश्वर में विश्वास करता है, आस्तिक जीते-जागते ईश्वर में विश्वास करता है। अब हम बुद्धि की इन सब चेष्टाओं के संभावित मूलोद्गम को खोजने की ओर प्रवृत्त होंगे।

यहाँ मैं अपने को निम्नलिखित परिभाषाओं से सन्तुष्ट कर लूँगा कि सैद्धान्तिक ज्ञान वह है जिससे उसका ज्ञान होता है जिस की सत्ता है और व्यावहारिक ज्ञान वह है जिससे जो होना चाहिये उसको मैं अपने प्रति प्रत्युपस्थापित करता हूँ। इसके अनुसार बुद्धि का सैद्धान्तिक उपयोग वह है जिससे मैं प्रागनुभवात्मकतया (अनिवार्य-रूपेण) यह जानता हूँ कि किसी वस्तु की सत्ता है, किन्तु बुद्धि का व्यावहारिक उपयोग वह है जिसके द्वारा यह जाना जाएगा कि क्या (घटित) होना चाहिये। अब यदि यह बात, कि कुछ (वस्तु) है अथवा कुछ घटित होना चाहिये, निःसन्दिग्ध भाव से निश्चित हो, परन्तु यह निश्चितता केवल प्रतिबद्ध हो, तो इस निश्चितता की कोई सुनिर्धारित शर्त (=प्रतिबन्ध) या तो निरपेक्षरूपेण अनिवार्य हो सकती हैं, अथवा वैकल्पिक और संभाव्य प्राक्कल्पना हो सकती है। प्रथम अवस्था में प्रतिबन्ध आधाररूप में उपगृहीत होता है और दूसरी अवस्था में कल्पित (पैर् हिपोथेसिन् = अकल्पनाश्रित) होता है। अब क्योंकि (नैतिक नियमों के रूप में) ऐसे नियमों का अस्तित्व है जो नितान्त अनिवार्य हैं अतः यह अनुमान निकलना चाहिये कि यदि यह (नियम) अपनी बाँधने वाली शक्ति की संभावना के प्रतिबन्ध (या शर्त) के रूप में किसी सत्त्व की सत्ता को पूर्वतः मान कर चलते हैं तो इस सत्ता को आधार रूप में स्थापित किया जाना चाहिये, और ऐसा इस कारण होना चाहिये क्योंकि, वह प्रतिबद्ध जिससे इस प्रतिबन्ध की ओर अनुमान चलता है, स्वतः प्रागनुभवात्मकतया नितान्त अनिवार्य रूप में जाना हुआ होता है। कभी भविष्य में यह दिखलाएँगे कि कि नैतिक नियम परमतत्व (या सत्ता) के अस्तित्वमात्र को ही पूर्वतः मान कर नहीं चलते, प्रत्युत, स्वयं अन्य संबंध में नितान्त अनिवार्य होने के कारण, वे उसको न्याय (या औचित्य) के साथ (यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से क्यों न सही) आधार में स्थापित करते हैं; पर इस समय इस युक्ति प्रकार को एक ओर छोड़े देते हैं।

जब कि प्रसंग केवल उसका होता है जो कि है (न कि उसका जो होना चाहिए)

तब वह प्रतिबद्ध जो हमको अनुभव में दिया हुआ होता है, सर्वदा संभाव्य रूप में विचारित हुआ करता है, अतः जो उससे संबंध रखने वाला प्रतिबन्ध है वह नितान्त अनिवार्य के रूप में नहीं जाना जा सकता प्रत्युत या तो वह केवल सापेक्षतया अनिवार्य अथवा आवश्यक के रूप में काम देता है, किन्तु अपने आप में और प्रागनुभवात्मकतया वह प्रतिबद्ध को बौद्धिकरूपेण समझने के लिए पूर्वतया यों ही ही मान लिया हुआ होता है। इस प्रकार, यदि सैद्धान्तिक ज्ञान में किसी वस्तु की आत्यन्तिक अनिवार्यता को जानना अभीष्ट हो, तो ऐसा प्रागनुभवात्मक संबोधों से ही घटित हो सकता है, परन्तु किसी ऐसी सत्ता के संबंध में (जो अनुभव के द्वारा दी हुई हो) कारण रूप में कदापि नहीं हो सकता।

सैद्धान्तिक ज्ञान उस समय चिन्तनात्मक होता है जबकि उसका वास्ता किसी ऐसे विषय अथवा विषय के ऐसे संबोधों से हो जिन तक किसी भी अनुभव में नहीं पहुँचा जा सकता। यह नाम इसको प्राकृतिक ज्ञान के विरुद्ध दिया गया है जिस प्राकृतिक ज्ञान का वास्ता उन विषयों अथवा विषयों के विधेयों से होता है जो किसी संभाव्य अनुभव में दिए हुए हो सकते हैं।

जो कुछ घटित होता है (अर्थात् जो अनुभव की दृष्टि से संभाव्य है) उसको कार्यरूप मानकर जिस आधारभूत नियम से कारण का अनुमान किया जाता है,वह प्रकृति के ज्ञान का नियम है किन्तु चिन्तनात्मक ज्ञान का नियम नहीं है। क्योंकि यदि कोई इसको एक ऐसे नियम के रूप में जो संभाव्य अनुभव सामान्य के प्रतिबन्ध को अपने में अन्तर्विष्ट रखता है, प्रयुक्त न करे और ऐसी प्रत्येक बात या (तत्व को) जो अनुभवात्मक है दूर कर दे तथा संभाव्य-सामान्य के प्रति उसका दावा करना चाहे तो किसी ऐसी संश्लेषणात्मक प्रस्थापना के लिए लेशमात्र भी औचित्य नहीं रह जाएगा जो हम को यह दिखला सके कि उससे, जो कि हमारे समक्ष उपस्थित है, नितान्त भिन्न वस्तु तक (जो कि कारण कहलाती है) कैसे पहुँचा जा सकता है ; इतना ही नहीं प्रत्युत इससे भी अधिक यह बात है कि इस प्रकार केवल चिन्तनात्मक विनियोग में संभाव्य के संबोध के समान कारण का संबोध भी अपना वह सब अर्थ (या आशय) गँवा देता है जिसकी वस्तुगत (=वैषयिक) यथार्थता अपने को मूर्तरूप में ही ग्राह्य होने देती है।

अब, यदि जगत् में वस्तुओं की सत्ता से उनके कारण का अनुमान किया जाता है तो इस (अनुमान) का संबंध बुद्धि के प्राकृतिक उपयोग से नहीं प्रत्युत चिन्तनात्मक उपयोग से होता है ; क्योंकि प्रथम प्रकार का उपयोग स्वतः वस्तु को नहीं प्रत्युत उसको जो कि घटित होता है, इसलिये उस (अर्थात् वस्तु या पदार्थ) को

अवस्था को अनुभवात्मकतया संभाव्य के रूप में कारण से संबद्ध करता है; (परन्तु यह तथ्य) कि पदार्थ अपनी सत्ता की दृष्टि से स्वतः संभाव्य है, केवलमात्र चिन्तनात्मक बौद्धिक ज्ञान होना चाहिये । और फिर यदि संसार के आकार, उसके संनिवन्धन (या संघटना) और परिवर्तन का प्रसंग उपस्थित हो (और) मैं उससे एक ऐसे कारण का अनुमान करना चाहूँ जो जगत् से पूर्णतया भिन्न है तो यह भी फिर केवल चिन्तनात्मक बुद्धि से संबंध रखने वाली विभावना होगी, क्योंकि इस प्रसंग में जो विषय है वह किसी संभाव्य अनुभव का विषय बिलकुल नहीं है । किन्तु इस दशा में कार्य-कारण भाव का नियम, जो केवल अनुभव के क्षेत्र में ही लागू होता है, और इस क्षेत्र के बाहर जिसका कोई उपयोग नहीं है, इतना ही नहीं, इस क्षेत्र के बाहर जिसका कोई अर्थ ही नहीं है, यहाँ अपने निर्दिष्ट लक्ष्य से पूर्णतया उत्पथगामी हो जाएगा ।

अब मैं जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हूँ वह यह है कि धर्मविद्या के संबंध में बुद्धि के विशुद्ध चिन्तनात्मक उपयोग के समस्त प्रयत्न पूर्णतया निष्फल हैं और आन्तरिक संघटना की दृष्टि से अकिञ्चित्कर और निरर्थक हैं; और उसके प्रकृति-संबंधी उपयोग के सिद्धान्त (या तत्व) कदापि किसी धर्मविद्या की ओर नहीं ले जा सकते, परिणामतः यदि नीति संबंधी नियमों को आधाररूप न माना जाए अथवा पथप्रदर्शक के रूप में स्वीकार न किया जाए तो बौद्धिक धर्मविद्या कदापि भी संभव नहीं हो सकती । क्योंकि बोधवृत्ति के समस्त संश्लेषणात्मक नियम आन्तरिक उपयोग के लिये ही होते हैं; और परम तत्व (या परम सत्ता) के ज्ञान के लिये, दूसरी ओर, उनका अनुभवातीत उपयोग अपेक्षित होगा, जिसके लिये हमारी बोधवृत्ति बिलकुल भी सन्नद्ध नहीं है । यदि कार्य-कारण भाव का वह नियम, जो कि अनुभवात्मकतया प्रामाणिक है, आद्यसत्ता का अनुमापक हो जाए तो ऐसी दशा में वह आद्यसत्ता स्वयं अनुभव के विषयों की शृंखला से संबद्ध होगी, और तब समस्त अवभासों के समान फिर वह स्वतः प्रतिबद्ध होगी । परन्तु यदि कार्य और कारण के संबंध के गतिशील नियम के द्वारा अनुभव की सीमा के परे पहुँचने वाली इस छलाँग की अनुज्ञा भी मिल जाए तो इस प्रक्रिया (या पद्धति) से हमको कौन सा संबोध उपलब्ध होगा ? किसी सर्वोच्च सत्ता (या तत्व) का कोई संबोध तो दूर तक भी उपलब्ध नहीं होगा, क्योंकि अनुभव हमको समस्त संभाव्य कार्यों में से ऐसे सबसे बड़े कार्य को कभी भी प्रदान नहीं करता जो उस प्रकार के कारण के लिये साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिये अपेक्षित है । यदि इसलिये कि हमारी बुद्धि की विचारणा में कोई रिक्तता न रह जाए, हमको परिपूर्ण निर्धारणा की कमी को सर्वोच्च पूर्णता और मौलिक अनिवार्यता के भावमात्र से

पूरा करने की अनुज्ञा मिल जाए तो इसका अवकाश निश्चय ही एक अनुग्रह के रूप में ही हो सकता है किन्तु अखंडनीय उपपत्ति के अधिकार के आधार पर इसकी माँग नहीं की जा सकती। अतएव चिन्तन को आन्तरिक अपरोक्षानुभूति के साथ संपृक्त करने के कारण भौतिक-धर्मविद्या संबंधी उपपत्ति, स्यात् अन्य उपपत्तियों को (यदि कोई अन्य उपपत्तियाँ हों) बल प्रदान कर सके, पर स्वतः अपने आप में तो यह अकेले कार्य को पूरा कर सकनें की अपेक्षा वोधवृत्ति धर्मविद्या-संबंधी ज्ञान के लिये तैयार करने और उसके लिये उचित और स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रदान करने का ही काम अधिक करती है।

इस प्रकार यह बात भले प्रकार प्रदर्शित हो गई कि अनुभवातीत प्रश्नों के केवल अनुभवातीत उत्तर ही (अर्थात् विशुद्ध प्रागनुभवात्मक संबोधों से, जिनमें लेश-मात्र भी अनुभव का मिश्रण नहीं है, उपलब्ध होने वाले उत्तर ही) संभव हैं। परन्तु इस समय यहाँ पर जो प्रश्न प्रस्तुत है वह खुले तौर पर संश्लेषणात्मक है, और अनुभव की समस्त सीमाओं के परे हमारे ज्ञान के विस्तार की माँग करता है, अर्थात् यह माँग करता है कि यह उस सत्त्व के अस्तित्व तक विस्तृत हो जाए जिसको हमारे शुद्ध भाव का प्रतिसंवादी होना है, उस शुद्ध भाव का जो कभी किसी अनुभव के बराबर नहीं हो सकता। अब, हमारी पूर्वोक्त उपपत्तियों के अनुसार, समस्त प्रागनुभवात्मक संश्लेष-णात्मक ज्ञान केवल तभी (अथवा उसी सीमा तक) संभव होता है जबकि (अथवा जहाँ तक) वह किसी संभाव्य अनुभव के औपचारिक प्रतिबन्धों को अभिव्यक्त करता है, और इस प्रकार समस्त सिद्धान्त केवल अन्तर्व्यापिनी प्रामाणिकता से सम्बन्धित होते हैं, अर्थात् वे केवल अनुभवात्मक ज्ञान के विषयों, अथवा अवभासों के प्रति ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार विशुद्ध चिन्तनात्मक बुद्धि के द्वारा धर्मविद्या (या देव-विद्या) के निर्माण की दृष्टि से भी अनुभवातीत प्रक्रिया द्वारा कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।

परन्तु यदि अपने को इतने दीर्घकाल से उपयुक्त या प्रयुक्त उपपत्ति के आधार से उत्पन्न विश्वास के महत्त्व से विलुण्ठित हो जाने की अपेक्षा कोई उपर्युक्त वैश्लेषिकी में प्रतिपादित समस्त उपपत्तियों पर संदेह करना ही अधिक अच्छा समझे, तो भी यदि मैं उससे माँग करूँ कि उसको कम से कम इस विषय में अपना औचित्य प्रतिपादन करना चाहिये कि वह कैसे और किस प्रकार के प्रकाश के द्वारा केवलमात्र भावों के बल से समस्त संभाव्य अनुभव के क्षेत्र के परे इतनी ऊँची उड़ानें भरने का विश्वास करता है तो वह मेरी प्रार्थना को संतुष्ट करना अस्वीकार नहीं कर सकता। जहाँ तक नवीन उपपत्तियों अथवा पुरानी उपपत्तियों के संशोधित या परिवर्द्धित रूप का प्रश्न

है मैं उनसे माफ़ी चाहता हूँ । इस प्रस्तुत प्रसंग में सचमुच ही चुनाव या पसन्द के लिये अधिक क्षेत्र नहीं है, क्योंकि अन्त में तो सभी केवल चिन्तनात्मक उपपत्तियाँ एक अकेली उपपत्ति अर्थात् सत्त्वविज्ञान संबंधी उपपत्ति में ही पर्यवसित हो जाती हैं और इसलिये अतीन्द्रिय (बुद्धिज्ञान) के निर्विवेक समर्थकों के मस्तिष्क की उर्वर (फलवती) चतुरता से वास्तव में मुझे कुछ भी भय का कारण नहीं है; तथापि, अपने को इस विषय में घोर विवादी न मानते हुए भी मैं इस प्रकार के प्रत्येक प्रयत्न के हेत्वाभासों को उद्घाटित करने, और इस प्रकार उसके दावे को खंडित करने की चुनौती को अस्वीकार नहीं करूँगा; परन्तु इस प्रकार भी मैं उन लोगों (के हृदय में बद्धमूल) उत्तम भाग्य की आशा को कदापि पूर्णतया उन्मूलित नहीं कर सकूँगा, जो लोग एक बार अविचारित विश्वासों के अभ्यस्त हो चुके हैं, इसीलिये मैं अपने को एक साधारण सी न्यायोचित माँग तक ही सीमित रखूँगा कि वे सामान्यरूपेण सब शेष ज्ञान के स्रोतों के सहित मानवीय बोधवृत्ति के स्वरूप के अनुसार इस बात के औचित्य का प्रतिपादन करें कि, अपने ज्ञान को पूर्णतया प्रागनुभवात्मकरूपेण विस्तृत करने के और उसको खींच कर वहाँ तक पहुँचा देने के जहाँ कोई सम्भाव्य अनुभव और इसी लिये किसी ऐसे संबोध की वैषयिक यथार्थता को जो स्वयं हमारे द्वारा विचारा गया है सुरक्षित करने का उपाय उपलब्ध नहीं होता—कार्य का आरंभ तक किस प्रकार किया जा सकता है । बोधवृत्ति इस संबोध तक चाहे किसी भी प्रकार से क्यों न पहुँची हो, फिर भी उसके विषय की सत्ता विश्लेषण के द्वारा उसमें उपलब्ध नहीं हो सकती, क्योंकि विषय के अस्तित्व का ज्ञान तो ठीक इस तथ्य में निहित है कि वह विषय अपने आपमें केवल उसके विचारमात्र से परे प्रतिष्ठित है । किन्तु किसी संबोध से उसके बाहर पहुँचना और जब तक कि अनुभवात्मक संनिबन्धन का अनुसरण न किया जाए (पर जिस के द्वारा सर्वदा अवभासमात्र हो प्रदान किये जाएँगे) नवीन विषयों और सर्वातिशयी सत्त्व का उद्घाटन करना पूर्णरूपेण असंभव है ।

परन्तु यद्यपि बुद्धि अपने विशुद्ध चिन्तनात्मक विनियोग में ऐसे महान् उद्देश्य की पूर्ति में, अर्थात् परम सत्त्व के अस्तित्व तक पहुँचने में समर्थ होने से बहुत दूर है तथापि, उसके ज्ञान को, उस (ज्ञान) के अन्य किसी उपाय से उपलब्ध हो सकने की अवस्था में, संशोधित करने में, उसको स्वयं अपने साथ और प्रत्येक बोधगम्य दृष्टि के साथ समन्वित बनाने में तथा उसको ऐसे समस्त तत्वों से जो मौलिक आद्यसत्त्व के संबोध के विरोधी हों उनसे तथा अनुभव की मर्यादाओं के समस्त घालमेल से अछूता रखने में उस (बुद्धि) की महती उपयोगिता है ।

अतएव अनुभवातीत धर्मविद्या (या देवविद्या) अपनी समस्त अक्षमताओं के

होते हुए भी, निषेधात्मक (नकारात्मक) विनियोग के कारण महत्त्वपूर्ण बनी रहती है, और जब हमारी बुद्धि का वास्ता केवल विशुद्ध भावों से होता है जो अनुभवातीत कसौटी के अतिरिक्त अन्य किसी कसौटी को अंगीकार नहीं करते, तो यह एक स्थायी दोषालोचक का काम करती है। क्योंकि, यदि अन्य किसी प्रकार से, स्यात् व्यावहारिक संबंध से परम और सर्वथा पर्याप्त सत्व की पूर्वमान्यता ने सर्वोच्च बुद्धिमत्ता के रूप में अपनी प्रामाणिकता को बिना किसी विसंवादिता (या आपत्ति) के स्थापित कर दिया, तो अनिवार्य और सर्वोच्चितया यथार्थ सत्त्व के संबोध के रूप में इस संबोध को, इसके अनुभवातीत पक्ष में ठीक प्रकार से निर्धारित करना, जो कुछ भी अवभासमात्र से संबद्ध होने के कारण (व्यापक अर्थ में मनुष्यत्वारोप का ही प्रकार है) सर्वोच्च वास्तविकता का विरोधी है, उससे इसको पृथक् रखना, और साथ ही साथ सब प्रतिकूल दावों को चाहें वे नास्तिक हों, देववादी हों, या मनुष्यत्ववादी हों, इसके मार्ग से दूर करना (यह सब) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य होगा; जो कार्य इस प्रकार के आलोचनात्मक प्रतिपादन में बहुत सरल है, क्योंकि वे ही आधारभूत हेतु जिनके द्वारा इस (उपर्युक्त प्रकार के परम) सत्त्व के अस्तित्व के दावे के संबंध में मानवीय बुद्धि की अक्षमता को दृष्टिगोचर किया गया था, प्रत्येक विरोधी दावे की निरर्थकता (या अप्रामाणिकता) को सिद्ध (या उपपन्न) करने के लिये भी अनिवार्यतया पर्याप्त होंगे। क्योंकि, बुद्धि के शुद्ध चिन्तनमात्र से कोई इस अन्तर्दृष्टि को कहाँ से व्युत्पादित करेगा कि सब (सत्ता) के परमाधार के रूप में कोई परम सत्त्व नहीं है, अथवा जिन विशिष्टताओं (या गुणों) को हम उनके परिणामों के विचार से विचारवान् सत्त्व की गत्यात्मक वास्तविकताओं के अनुरूप प्रत्युपस्थापित करते हैं उनमें से उस (सत्त्व) में कोई भी नहीं पाई जाती अथवा इस दूसरी अवस्था में (जैसी मनुष्यत्ववादियों की धारणा है) उसको भी उन मर्यादाओं के अधीन होना पड़ेगा जिनको संवेदनशीलता उन बुद्धिमत्ताओं पर अनिवार्यतया आरोपित करती है जिनको हम अनुभव के द्वारा जानते हैं।

इस प्रकार परम सत्त्व बुद्धि के विशुद्ध चिन्तनात्मक विनियोग के लिये केवलमात्र एक विशुद्ध किन्तु दोषमुक्त आदर्श (या भाव) ही रहता है, ऐसा संबोध रहता है, जो समग्र मानवीय ज्ञान को पूर्णता प्रदान करता है और उसके लिये मुकुट स्वरूप है, जिसकी वस्तुगत (या वैषयिक) सत्ता इस प्रकार से निश्चय ही सिद्ध नहीं की जा सकती पर साथ ही साथ उसको इस प्रकार से असिद्ध भी नहीं किया जा सकता, और यदि कोई नैतिक-धर्मविद्या ऐसी हो जो इस कमी को पूरा कर दे तो अनुभवातीत धर्मविद्या, जो पूर्वतः संभाव्यमात्र थी, इस (सर्वोच्च सत्त्व) के संबोध

को निर्धारित करने, तथा बुद्धि को जो प्राय: संवेदनशीलता के द्वारा प्रतारित होती रहती है, तथा जो बहुधा अपने ही भावों के साथ तालमेल नहीं रखती सर्वदा परखते रहने से अपनी अपरिहार्यता सिद्ध कर देगी। अनिवार्यता, असीमता, एकता, जगत् के बाहर (किन्तु जगत् की आत्मा के रूप में नहीं) अस्तित्व, नित्यता (जो समय के प्रतिबंध से मुक्त है), देश के प्रतिबंध से मुक्त सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता इत्यादि मात्र अनुभवातीत विधेय हैं, और इसलिए उनके विशोधित संबोध, जिनको प्रत्येक धर्म-विद्या इतना अपरिहार्य मानती है, केवल अनुभवातीत धर्मविद्या से ही समुपलब्ध किये जा सकते हैं।

अनुभवातीत आन्वीक्षिकी का परिशिष्ट
शुद्ध बुद्धि के भावों का विनियामक विनियोग

शुद्ध बुद्धि की समस्त आन्वीक्षिक्यात्मक चेष्टाओं का फल, न केवल उन तथ्यों को सम्पुष्ट भर करता है, जिनको हम पहले ही वैश्लेषिकी में सिद्ध कर आए हैं— अर्थात् इस तथ्य को कि हमारे वे सब निष्कर्ष या अनुमान जो हमको संभाव्य अनुभव के क्षेत्र से ले जाने का दम भरते हैं, प्रवंचनापूर्ण और निराधार हैं; प्रत्युत इसके साथ ही यह हम को विशेषरूप से यह शिक्षा देता है कि इन सीमाओं का अतिक्रमण करने की प्रवृत्ति मानवीय बुद्धि की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, तथा अनुभवातीत भाव इसके लिये इतने ही स्वाभाविक हैं जैसे कि बोधवृत्ति के लिये बौद्धिक प्रकार हैं, यद्यपि इनमें यह अन्तर है कि जब कि बौद्धिक-प्रकार सत्य की ओर, अर्थात् विषयों के साथ हमारे संबोधों की संगति की ओर ले जाने वाले हैं, भाव केवल शुद्ध किन्तु दुर्निवार भ्रान्ति को उत्पन्न करते हैं, जिसकी प्रवंचना को तीक्ष्णतम आलोचना के द्वारा भी कठिनाई से ही रोका जा सकता है।

प्रत्येक वस्तु जिसका मूलाधार हमारी शक्तियों की प्रकृति में पाया जाता है सोद्देश्य और उनके समुचित विनियोग (या उपयोग) के साथ संगत होनी चाहिये, बशर्ते कि हम केवल एक विशिष्ट प्रकार की भ्रान्ति से बच सकें और इन शक्तियों की समुचित दिशा का आविष्कार कर सकें। इस प्रकार सब अपेक्षाओं के अनुसार अनुभवातीत भावों (या विचारों) का भी अपना अच्छा, और इसीलिये आन्तरिक (या अन्तर्व्यापी) होता ही होगा, यद्यपि जब उनका आशय कुछ का कुछ समझ लिया जाए और उनको यथार्थ वस्तुओं के संबोध के रूप में ग्रहण कर लिया जाए तो वे अपने विनियोग में अनुभवातीत, और इसी कारण भ्रमोत्पादक हो सकते हैं, क्योंकि, भाव स्वयं अपने आप में लोकातीत या अन्तर्यामी नहीं होता केवल उसका उपयोग ही ऐसा

हो सकता है (अर्थात् समस्त एकत्रित अनुभव के परे उड़ान भरने वाला---लोकातीत ---अथवा आन्तरिक---अन्तर्यामी---हो सकता है) और यह इस बात पर निर्भर होगा कि या तो उसका उपयोग ऐसे विषय के संबंध में किया गया है जिसको मूल से उस (भाव) के समनुरूप कल्पित कर लिया गया है, अथवा उन विषयों के संबंध में केवल बोधवृत्ति सामान्य के प्रयोग के प्रति किया गया है जिनका वास्ता उस (बोधवृत्ति) से पड़ा करता है; और (इसलिये) मिथ्योपलब्धि की सब भ्रान्तियाँ विभावना शक्ति की त्रुटियों के खाते में ही सर्वदा लिखी जानी चाहियें, किन्तु बोधवृत्ति और बुद्धि के खाते में कदापि नहीं लिखी जानी चाहिये।

बुद्धि (या विवेक) किसी भी विषय के साथ सीधा संबंध नहीं जोड़ती, प्रत्युत केवल बोधवृत्ति से ही अपरोक्ष संबंध जोड़ती है, और उसी के माध्यम से वह अपना आनुभविक उपयोग (या विनियोग) किया करती है, अतएव वह विषयों के किन्हीं भी संबोधों की सृष्टि नहीं करती, प्रत्युत केवल उनको व्यवस्थित करती है, और उनको वह एकता प्रदान करती है, जिसको वे अपने अधिकतम विस्तार में ही प्राप्त कर सकते हैं, अर्थात् (विभिन्न) अनुभव-शृंखलाओं की समग्रता के संबंध में ही प्राप्त कर सकते हैं, जिस (समग्रता) के साथ बोधवृत्ति का बिलकुल भी वास्ता नहीं होता, प्रत्युत केवल उस संयोजन (या संनिबन्धन) के साथ होता है, जिसके द्वारा, संबोधों के अनुसार, इस प्रकार की प्रतिबन्धों की शृंखलाएँ सर्वत्र अपनी सत्ता प्राप्त किया करती हैं। अतएव बुद्धि का अपना विशिष्ट विषय केवल बोधवृत्ति और उसका प्रसारशाली विनियोग है, और जिस प्रकार बोधवृत्ति संबोधों के द्वारा विषय के नानात्व को एकता प्रदान करती है, उसी प्रकार बुद्धि भावों (या विचारों) के द्वारा संबोधों के नानात्व को एकता प्रदान करती है, क्योंकि वह एक निश्चित प्रकार की सांग्रहिक एकता को बोधवृत्ति के व्यापारों के लक्ष्य के रूप में निर्धारित किये रहती है, जो (व्यापार) अन्यथा केवल विभाजनशील एकता से ही वास्ता रखते हैं।

अतएव, मैं इस पक्ष का समर्थन करता हूँ कि अनुभवातीत भाव कभी भी संघटनाक्षम रूप में प्रयुक्त नहीं होने चाहिये, जिससे उनके द्वारा किन्हीं विषयों के संबोध प्रदान किये जाने लगे (क्योंकि) ऐसी अवस्था में, इस प्रकार समझे जाने पर वे, केवल वितथ-बौद्धिक (आन्वीक्षिक्यात्मक) संबोध हो जाते हैं। इसके विपरीत उनका एक अत्युत्तम तथा अनिवार्यतया आवश्यक नियामक उपयोग (भी) है, जो बोधवृत्ति को एक ऐसे निश्चित लक्ष्य की दिशा में प्रेरित करना है जिस पर दृष्टि रखते हुए उसके समस्त नियमों की दिग्रेखाएँ उसी की ओर समुपसरण करती है मानों वह उनका संगम-बिन्दु हो, जो, यद्यपि निश्चय ही एक भावमात्र है, अर्थात्

एक ऐसा विन्दुमात्र है, और इसलिये कि वह संभाव्य अनुभव की सीमा से बिलकुल बाहर स्थित है, उससे वास्तव में बोधवृत्ति के संबोध नहीं निकलते हैं, फिर भी वह संबोधों को अधिकतम संभाव्य एकता और अधिकतम संभाव्य विस्तार प्रदान करने के काम आता है। इसी से निःसन्देह यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि मानो यह दिग्रेखाएँ किसी एक ऐसे विषय से ही उद्भूत हो रही हैं जो अनुभवात्मकतया संभाव्य ज्ञान के क्षेत्र से बाहर स्थित है (जैसे दर्पण में प्रतिफलित विषय उसके तत्व के पीछे दिखलाई देते हैं) परन्तु फिर भी यह भ्रान्ति या माया (जिसको अपने को धोखा देने से रोका जा सकता है) उस समय अनिवार्यतया आवश्यक है जब कि हम उन विषयों के अतिरिक्त जो कि हमारे समक्ष उपस्थित हों, उनको भी देखना चाहें जो हमारे पीठ पीछे बहूत दूर पर स्थित हैं, अर्थात् जब हम, अपनी स्थिति (या प्रसंग) में, बोधवृत्ति को (समग्र संभाव्य अनुभव के एक अंश के रूप में) प्रत्येक दिए हुए अनुभव के परे, और इस प्रकार उसके अधिकतम संभाव्य अथवा अत्यधिक विस्तार की ओर प्रेरित करना चाहें।

जो ज्ञान हमको बोधवृत्ति के द्वारा प्रदान किया जाता है यदि हम उसके समग्र विस्तार की पड़ताल करें तो हमको मालूम होगा कि वह बात जिसको बुद्धि पूर्णतया अपनी विशिष्टता के द्वारा इस ज्ञान के विषय को व्यवस्थित और सिद्ध करने की चेष्टा करती है वह इस ज्ञान की सुव्यवस्थितता है, अर्थात् किसी एक सिद्धान्त के अनुसार उसका सुसंयोजन या समन्वयन है। यह बौद्धिक एकता सर्वदा एक भाव (या विचार) की पूर्वकल्पना पर आश्रित रहती है अर्थात् हमारे ज्ञान के पूर्णवयवी के भाव पर आश्रित रहती है, जो अवयवी अवयवों के परिच्छिन्न ज्ञान का पूर्ववर्ती है तथा जिसमें वे प्रतिबन्ध अन्तर्विष्ट रहते हैं जो प्रत्येक अवयव के लिए उसके स्थान को तथा शेष अन्य अवयवों के साथ उसके संबंध को प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित करते हैं। फलतः यह भाव बोधवृत्ति के द्वारा प्राप्त किए हुए ज्ञान में पूर्ण एकता को आधारभूत मान्यता के रूप में मान कर चलता है, जिसके द्वारा इस ज्ञान को न केवल संभाव्य समूहमात्र होना चाहिये, प्रत्युत अनिवार्य नियमों के अनुसार एक सुसंयोजित संस्थान होना चाहिये। वास्तव में यह नहीं कहा जा सकता कि यह भाव किसी विषय का संबोध है, प्रत्युत उस सीमा तक, इस प्रकार के संबोधों की पूर्णतया व्यापक एकता का संबोध है, जहाँ तक वह एकता बोधवृत्ति के लिये नियम के रूप में काम देती है। इस प्रकार के बुद्धि के संबोध प्रकृति से व्युत्पादित नहीं होते, प्रत्युत इसके प्रतिकूल हम प्रकृति से ही इन भावों के अनुसार प्रश्न पूछा करते हैं, और अपने ज्ञान को तब तक त्रुटिपूर्ण समझते हैं जब तक कि वह उनके लिये सुपर्याप्त नहीं होता। यह माना जाता है कि शुद्ध पृथ्वी, शुद्ध

जल, शुद्ध वायु इत्यादि पाना कठिन है। फिर भी इस बात का ठीक ठीक निरूपण करने के लिये कि अवभासों को उत्पन्न करने में इन प्राकृतिक कारणों में से प्रत्येक का कितना भाग है, हम को उनके संबोधों की आवश्यकता हुआ करती है, जिन संबोधों का मूलोद्गम, जहाँ तक कि उनकी पूर्ण शुद्धता का संबंध है, बुद्धि में ही होता है, और इस प्रकार यन्त्रविन्यास के भाव के अनुसार पूर्वभौतिक पदार्थों की पारस्परिक रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया की व्याख्या के निमित्त (भार की दृष्टि से) सब भौतिक पदार्थ पृथ्वी तत्व में, (शक्ति या वेग की दृष्टि से) लवण अथवा ज्वलनशील पदार्थ में, और अन्ततः यान या वाहन के रूप में जल और वायु में (मानो वह यंत्र हों जिनके द्वारा प्रथमोक्त दोनों तत्व अपना कार्य उत्पन्न करते हैं) पर्यवसित हो जाते हैं। क्योंकि यद्यपि वास्तव में इस तथ्य को इस प्रकार अभिव्यक्त भले ही न किया जाए, तथापि, प्राकृतिक विज्ञानवेत्ताओं के वर्गीकरणों पर बुद्धि का इस प्रकार का प्रभाव सरलता से आविष्कृत किया जा सकता है।

यदि बुद्धि (या विवेक) सामान्य से विशेष का अनुमान करने की शक्ति है, और सामान्य या तो पूर्वतः ही अपने में सुनिश्चित है और दिया हुआ है, तब तो अन्तर्भुक्तीकरण के लिये विभावना शक्ति मात्र अपेक्षित है, और उसके द्वारा विशेष अनिवार्यतया निर्धारित हो जाएगा। इसको मैं बुद्धि के स्वयंसिद्ध उपयोग का नाम देता हूँ। अथवा सामान्य (या सार्विक) को केवल वैकल्पिक या सन्दिग्ध माना जाता है, और यदि वह केवल भावमात्र है, विशेष सुनिश्चित है, परन्तु यह जिस नियम का परिणाम है, उसकी सर्वव्यापकता (या सार्विकता) अब भी संशयग्रस्त है; अनेक विशेष निदर्शन जो सबके सब सुनिश्चित हैं, उस नियम की दृष्टि से परीक्षण किये जाते हैं और यह देखने का प्रयत्न किया जाता है कि वे उस नियम से निकलते हैं या नहीं, और ऐसी स्थिति में जब यह प्रतीत होता है कि सबके सब निदर्शन जो कि प्रदर्शित किये जा सकते हैं उसी नियम से निकले हैं, तब यह अनुमान किया जाता है कि नियम सामान्य (या सार्विक) है, और इससे पुनः सब विशेष निदर्शनों के संबंध में अनुमान किया जाया करता है, यहाँ तक कि उन निदर्शनों के संबंध में भी अनुमान किया जाता है जो (अनुभव में) दिये हुए नहीं होते। इस (प्रक्रिया) को मैं बुद्धि के औपकाल्पनिक (या सोपाधिक) उपयोग का नाम दूँगा।

बुद्धि का सोपाधिक उपयोग, संशयित संबोध-रूप भावों के ऊपर आधारित होने के कारण वास्तव में सघटनात्मक या रचनात्मक नहीं होता, अर्थात् वह ऐसे स्वरूप या लक्षण वाला नहीं होता कि पूर्ण कठोरता से निर्णय किया जाए तो, उससे उस सामान्य नियम की सत्यता का, जिसको उपकल्पना के रूप में मान लिया गया है, अनुमान

किया जा सके; क्योंकि उन समस्त संभाव्य परिणामों को जो उसी अंगीकृत आधार-भूत सिद्धान्त उत्पन्न होने के कारण उसकी सामान्यता को सिद्ध करेंगे, कैसे जाना जा सकता है ? प्रत्युत बुद्धि का सोपाधिक उपयोग केवल नियामक ही है, और इसका उद्देश्य, जितनी दूर तक संभव हो सके हमारे विभिन्न ज्ञान-खंडों में एकता को लाना है, और इस (प्रयत्न) के द्वारा नियम को सार्विकता के निकटतम पहुँचाना है।

इसलिये बुद्धि के सोपाधिक उपयोग का लक्ष्य बोधवृत्ति के ज्ञान की सुव्यवस्थित एकता की स्थापना है, और यह एकता ही उसके नियमों की सत्यता की कसौटी है। इसके विपरीत (केवल भाव के रूप में) यह व्यवस्थित एकता केवलमात्र परियोजित एकता है जिस को स्वरूपतः दिया हुआ नहीं किन्तु केवल एक समस्या माना जाना चाहिये; जो बोधवृत्ति बहुविधि और विशिष्ट उपयोगों में किसी सिद्धान्त को खोज निकालने में सहायक होती है, और इस प्रकार इसको उन स्थितियों (अथवा प्रसंगों) की ओर भी ले जाती है जो (अनुभव में) दिए हुए नहीं हैं एवं अपेक्षाकृत और अधिक सुव्यवस्थित बना देती है।

इससे जो निष्कर्ष निकल सकता है वह केवल यह है कि बोधवृत्ति के बहुविध ज्ञान की यह सुव्यवस्थित अथवा बौद्धिक एकता एक यौक्तिक सिद्धान्त है, जिसका प्रयोजन उन स्थलों में भावों के द्वारा बोधवृत्ति की सहायता करना है जहाँ वह स्वयं अपने आप नियमों को स्थापित नहीं कर सकती, और इसके साथ ही साथ उसके नियमों की विभिन्नता को एक सिद्धान्त के अधीन सुव्यवस्थित ऐकमत्य प्राप्त करा देना है एवं इसके द्वारा जितनी अधिक से अधिक दूर तक संभव हो सके समन्वितता की उपलब्धि करा देना है। परन्तु यह कहना कि विषयों की संघटना, अथवा जो बोधवृत्ति उनको इस (अर्थात् विषयों के) रूप में जानती है स्वयं अपने ही आप सुव्यवस्थित एकता के लिये निर्धारित (या निर्दिष्ट) है, और इस बात को एक निश्चित मात्रा में, बुद्धि की इस प्रकार की अभिरुचि पर दृष्टिपात किए बिना, प्रागनुभवात्मकतया आधारभूत सिद्धान्त माना जा सकता है, और इस प्रकार यह घोषित किया जा सकता है कि बोधवृत्ति के सभी संभव-प्रकार के ज्ञान (अनुभाविक ज्ञान के सहित) बुद्धि के द्वारा अपेक्षित एकता को अपने में रखते हैं, और एक ऐसे सामान्य सिद्धान्त के अधीन होते हैं, जिससे वे, विभिन्नता पर दृष्टिपात किये बिना ही, व्युत्पादित हो सकते हैं; यह कहना बुद्धि के अनुभवातीत सिद्धान्त का कथन करना होगा जो पद्धति के रूप में सुव्यवस्थित एकता को न केवल विषयिगततया और यौक्तिकतया अपितु वैषयिकतया भी अनिवार्य बना देगा।

हम इस बात को बुद्धि के उपयोग के एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। बोधवृत्ति

के संबोधों के अनुसार जो विविध प्रकार की एकताएँ पाई जाती हैं उनमें से एक किसी पदार्थ की कारणता भी है जो शक्ति कहलाती है। एक ही पदार्थ की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ प्रथम दृष्टिपात पर इतनी विविधता प्रदर्शित करती हैं कि प्रथमतः जितन कार्य दिखलाई पड़ते हैं उतनी ही शक्तियों को मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है, जैसे हमको मानवीय मन में संवेदन (ऐम्प्फिण्डुङ्क), चेतना, कल्पना, स्मृति, विदग्धता, विवेचनाशक्ति, आनन्द, इच्छा इत्यादि (के अस्तित्व को मानना पड़ता है) प्रथमतः एक यौक्तिक विधान हमको इस प्रतीयमान विविधता को, छिपी हुई तादात्म्यता को तुलना के द्वारा आविष्कृत करके, जहाँ तक संभव हो घटाने का आदेश करता है, और यह अन्वेषण करने के लिये प्रेरित करता है कि कहीं चेतना के साथ सम्पृक्त कल्पना शक्ति ही तो, स्मृति, विदग्धता, विवेकशक्ति और स्यात् बोधवृत्ति और बुद्धि तक से अभिन्न नहीं है। आधारभूत मौलिक शक्ति का भाव, जिसके विषय में तर्कशास्त्र यह निश्चयपूर्वक नहीं जानता कि इस प्रकार की शक्ति का अस्तित्व है भी या नहीं, कम से कम शक्तियों की बहुविधता की सुव्यवस्थित प्रत्युपस्थापना की समस्या तो है ही। बुद्धि का यौक्तिक सिद्धान्त यह माँग करता है कि इस एकता को जितनी अधिक दूर तक संभव हो उत्पादित किया जाए, और जितनी ही अधिक एक अथवा दूसरी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ परस्पर अभिन्न पाई जाती हैं, यह बात उतनी ही अधिक संभावना के योग्य होती जाती है कि वे एक अभिन्न शक्ति को विभिन्न बाह्य अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, जो (सापेक्षिकतया) उनकी आधारभूत शक्ति कही जा सकती है। यही बात शेष शक्तियों के विषय में लागू होती है।

सापेक्षिक आधारभूत शक्तियों की पुनः परस्पर तुलना की जानी चाहिये जिससे उस (तुलना) के द्वारा उनके ऐकमत्य का उद्घाटन हो सके और, उनको एक अकेली मूलभूत अर्थात् निरपेक्ष शक्ति के समीप लाया जा सके। पर यह बौद्धिक एकता विशुद्ध रूप से उपकल्पित है। यह दावा नहीं किया जाता कि इस प्रकार की शक्ति वास्तव में उपलब्ध होनी ही चाहिये, प्रत्युत बुद्धि के निमित्त उसकी खोज की जानी चाहिये, अर्थात् अनुभव हम को विविध नियम प्रदान करता है उनके लिये किन्हीं नियमों की स्थापना के लिये, और जहाँ भी संभव हो इस प्रकार हमारे ज्ञान में सुव्यवस्थित एकता को प्राप्त कराने के लिये उसकी खोज की जानी चाहिये।

परन्तु जब बोधवृत्ति के अनुभवातीत विनियोग की ओर ध्यान दिया जाता है तो यह प्रतीत होता है कि यह आधारभूत शक्ति सामान्य का भाव, बुद्धि के औपकाल्पनिक उपयोग के लिये केवल समस्या के रूप में नहीं माना जाता, प्रत्युत किसी पदार्थ

की बहुविध शक्तियों की सुव्यवस्थित एकता को मूलाधारभूत सिद्धान्त के रूप में मानते हुए और बुद्धि के स्वयंसिद्ध सिद्धान्त को स्थापित करते हुए, वैषयिक यथार्थता से समन्वित होने का दावा करता है। क्योंकि, इन विविध शक्तियों की संगति को प्रदर्शित करने का एक बार भी प्रयत्न किये बिना ही,नहीं इतना ही नहीं,उसको आविष्कृत करने के समस्त प्रयत्नों के असफल हो जाने पर भी, हम पूर्वकल्पना करते ही हैं कि इस प्रकार की एकता उपलब्ध होगी ही, और यह केवल, पूर्वोदाहृत उदाहरण के समान केवल पदार्थ की एकता के कारण ही नहीं होता, प्रत्युत उन प्रसंगों में भी हुआ करता है जिनमें, सामान्य भौतिक तत्व के समान, बहुत सी ऐसी शक्तियाँ उपलब्ध हुआ करती हैं जो एक निश्चित मात्रा में एक जैसी होते हुए भी उतनी ही विविध भी होती हैं; इन सब प्रसंगों में भी बुद्धि विविध शक्तियों की सुव्यवस्थित एकता को पहले ही मान कर चलती है, क्योंकि प्रकृति विशेष नियम सामान्य नियमों के अधीन हुआ करते हैं, एवं सिद्धान्तों में कृपणता केवल बुद्धि की अर्थव्यवस्थामात्र नहीं प्रत्युत प्रकृति का अन्तरंग नियम है।

वास्तव में यह देख पाना सरल नहीं है कि किसी ऐसे यौक्तिक नियम की सत्ता जिसके द्वारा बुद्धि नियमों की एकता की अपेक्षा करती है तब तक कैसे संभव हो सकती है जब तक एक ऐसे अनुभवातीत सिद्धान्त को पहले से न मान लिया जाए, जिसके द्वारा इस प्रकार की सुव्यवस्थित एकता प्रागनुभवात्मकतया अनिवार्यरूपेण विषयों में अन्तर्निहित मान ली जाती है। क्योंकि, यदि बुद्धि को यह अंगीकार करने की स्वतंत्रता होती कि यह बात भी उसी प्रकार संभव है कि सब शक्तियाँ विसदृश हैं, और उनके व्युत्पादन की यह सुव्यवस्थित एकता प्रकृति के अनुकूल नहीं है,तो वह (बुद्धि) अपने यौक्तिक विनियोग में, शक्तियों की उस विविधता को, जो प्रकृति में हमको देखने को मिलती हैं, किस अधिकार के आधार पर, केवल एक प्रच्छन्न एकता में प्रतिपादित करने का और जहाँ तक संभव हो उस (एकता) को एक आधारभूत शक्ति से व्युत्पादित करने का कुसाहस कर पाती ? क्योंकि तब तो बुद्धि स्वयं अपने सुनिर्दिष्ट व्यापार के विपरीत कार्य करती, इसलिये कि वह अपने लक्ष्य के रूप में ऐसे भाव को प्रस्तुत करती जो प्रकृति की व्यवस्था के बिलकुल विपरीत होता। क्योंकि बुद्धि का वह नियम जो इस (एकता) को खोजने से वास्ता रखता है एक अनिवार्य नियम है, इसलिये कि इसके बिना विवेक जैसी कोई वस्तु नहीं रहेगी, और विवेक के बिना बोधवृत्ति का कोई सुसमन्वित उपयोग संभव नहीं होगा, और उसके अभाव में आनुभविक सत्य के परीक्षण के लिये कोई पर्याप्त कसौटी नहीं रह जाएगी, और इसलिये इस अन्तिम बात को दृष्टि में रखते हुए हमको प्रकृति की सुव्यवस्थित एकता को नैरन्तर्येण वैषयिकतया

प्रामाणिक और अनिवार्य मानना ही चाहिये ।

इस पूर्वावधारणा (या प्राङ्‌मान्यता) को हम एक आश्चर्यजनक प्रकार से दार्शनिकों के आधारभूत सिद्धान्तों में प्रच्छन्नतया विद्यमान पाते हैं, यद्यपि उनको स्वयं इसकी उपस्थिति का ज्ञान (या भान) नहीं रहा है, और (अथवा) उन्होंने इसको स्वतः स्वीकार भी नहीं किया है। पृथक् पृथक् एकएक वस्तु की विविधताएँ वर्ग की एकता (या तादात्म्य) का निराकरण नहीं करतीं; विविध वर्ग कुछ थोड़ी सी जातियों के विभिन्न निर्धारणमात्र माने जाने चाहिये, और यह अपने से ऊँची जातियों के निर्धारण समझी जानी चाहिये और इसी प्रकार आगे भी माना जाना चाहिये; इसी प्रकार संक्षेप में, समस्त संभाव्य अनुभवात्मक संबोधों में, जहाँ तक वे उच्चतर और व्यापकतर संबोधों से व्युत्पादित हो सकते हैं, एक सुनिश्चित सुव्यवस्थित एकता की खोज की जानी चाहिये, यह उपर्युक्त तथ्य दार्शनिक प्रस्थानों का अथवा तर्कशास्त्र का एक ऐसा नियम है, जिसके बिना बुद्धि या विवेक का कोई विनियोग संभव (या घटित) नहीं हो सकता, क्योंकि हम सामान्य से विशेष के संबंध में केवल उसी सीमा तक अनुमान निकाल सकते हैं जहाँ तक कि वस्तुओं के सामान्य गुणों के ऐसे आधार रूप में स्थापित किया जाए जिन पर उनके विशेष गुण आश्रित हों।

यह तथ्य, कि प्रकृति में इस प्रकार की एकता (या ऐकमत्य) मिलती है, तो दार्शनिकों ने अपने इस सुविख्यात दार्शनिक नियम में पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार कर लिया है कि मूलनियमों अथवा मूलसत्रों की संख्या को आवश्यकता के बिना नहीं बढ़ाना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं वस्तुओं की प्रकृति ही बौद्धिक एकता के लिये उपादान प्रदान करती है, और प्रतीयमान अनन्त विभिन्नता को हमको उसके पीछे आधारभूत गुणों की एकता को, जिसके वारंवार निर्धारणमात्र से विविधता व्युत्पादित हो सकती है, मान लेने से नहीं रोकना चाहिये। यह एकता, यद्यपि यह भावरूप है, तथापि सब युगों में इसका अनुसंधान इतने उत्साह के साथ किया जाता रहा है कि इसकी इच्छा को मर्यादित करने का न कि प्रोत्साहित करने का कारण उत्पन्न होता रहा है। जब रसायनशास्त्रवेत्ता समस्त लवणों को दो जातियों में सीमित करने में---अम्ल और क्षार में सीमित करने में---सफल हुए तो यह एक बड़ी सिद्धि मानी गई,इस पर भी यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि यह भेद भी एक अभिन्न आधारभूत पदार्थ की एक विविधता अथवा विभिन्न अभिव्यंजनामात्र है। धरती के विविध प्रकारों (पत्थरों और धातुओं तक के उपादानों) को शनैः शनैः तीन और अन्त में दो प्रकारों में सीमित करने का प्रयत्न किया गया है, पर केवल इतने पर ही सन्तुष्ट न रह कर, वे इस विचार को निर्वासित नहीं कर सके हैं कि इस विविधता

के पीछे (भी) एक प्रजाति, यही क्यों, इस के आगे यह भी संभव है कि धरती और लवणों दोनों में ही एक समान (या सामान्य) तत्व हो सकता है। स्यात् यह ख्याल किया जा सकता है कि यह बुद्धि का अपनी बचत का हथकण्डा है, जिसका उद्देश्य, जहाँ तक संभव हो अपने को कष्ट से बचाना है, यह एक प्रकार का ऐसा औपकाल्पनिक प्रयत्न है, जो यदि सफल हो गया तो इस प्रकार उपलब्ध की हुई एकता के द्वारा, पूर्वत: कल्पित स्पष्टीकरण के सिद्धान्त को सत्याभास प्रदान करता है। परन्तु इस प्रकार के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य को उस भाव (या विचार) से पृथक् कर सकना, सरल कार्य है, जिस (भाव) के अनुसार हम सब यह पूर्वमान्यता ले कर चलते हैं कि बुद्धि की यह एकता प्रकृति के साथ समनुरूप है, और यद्यपि वह (बुद्धि) इस एकता की सीमा (या मर्यादा) को निर्धारित करने में समर्थ नहीं होती, तथापि वह यहाँ भिक्षा नहीं माँगती (=याचना नहीं करती) प्रत्युत आज्ञा दिया करती है।

जो अवभास अपने को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं यदि इनमें,—(आकार का भेद तो मैं नहीं कहना चाहूँगा क्योंकि उसमें तो वे परस्पर समान हो सकते हैं)—अन्तर्विष्ट विषय का इतना महान् भेद होता, अर्थात् सत्तावान पदार्थों (या सत्त्वों) के नानात्व में इतना भेद होता कि तीक्ष्णतम मानवीय बोधवृत्ति भी उनकी पारस्परिक तुलना के द्वारा उनमें लेशमात्र समानता को आविष्कृत न कर सकती (यह एक ऐसी संभावना है जिसका भले प्रकार विचार किया जा सकता है) तो जातियों के यौक्तिक (या तार्किक) नियम की बिलकुल भी सत्ता न हो पाती, जाति के अथवा किसी सर्वव्यापक सत्ता के संबोध की कल्पना तक हमको नहीं हो सकती थी, और तो और स्वयं बोधवृत्ति तक का अस्तित्व नहीं हो सकता था, क्योंकि उसका वास्ता भी तो संबोधों से ही है (अर्थात् बोधवृत्ति का अस्तित्व भी तो संबोधों के संबंध पर ही आश्रित है। इसलिये यदि तर्कशास्त्र के जाति या सामान्य के सिद्धान्त को प्रकृति के प्रति लागू (या प्रयुक्त) करना हो (और यहाँ प्रकृति से मेरा आशय केवल उन विषयों से है जो हमको उपलब्ध होते हैं) तो इसके लिये एक अनुभवातीत सिद्धान्त को पहले से मान कर चलना आवश्यक है। और इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी संभाव्य अनुभव के नानात्व में समान जातीयता को अनिवार्यतया पूर्वत: माननी पड़ेगी (यद्यपि हम उसकी मात्रा को प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित नहीं कर सकते) क्योंकि इस (समानजातीयता) के बिना कोई भी आनुभविक संबोध संभव नहीं हो सकता अतएव अनुभव भी संभव नहीं हो सकता।

जाति का यौक्तिक सिद्धान्त जो कि तादात्म्य को आधारभूत तत्व मान कर चलता है एक दूसरे अर्थात् प्रकारभेद (या उपजाति) के सिद्धान्त के द्वारा सन्तुलित

किया जाता है, जो वस्तुओं में, उनके एक ही जाति में अन्तर्भुक्त होने के कारण उनकी समानता के होते हुए भी नानात्व और भेद की माँग करता है, और बोधवृत्ति के लिये यह विधान प्रस्तुत करता है कि वह इस (उपजाति) के प्रति उस (जाति) की अपेक्षा किसी प्रकार कम ध्यान न दे। यह (विवेचक निरीक्षण अथवा पृथक्करण-शक्ति का) आधारभूत सिद्धान्त पूर्वोक्त विदग्धता के सिद्धान्त की अविचारपरायणता को मर्यादित करने वाला है, और यहाँ बुद्धि परस्परविरोधिनी द्विधाविभक्त अभिरुचियों को प्रदर्शित करती है, एक ओर जातियों के संबंध में (सर्वव्यापी के) विस्तार की ओर तथा दूसरी तरफ उपजातियों के नानात्व पर दृष्टि रखते हुए उनके अन्तर्विष्ट विषय (निर्धारणा) की ओर अभिरुचि प्रदर्शित करती है; जब कि प्रथम प्रसंग में बोधवृत्ति संबोध के अधीन, और द्वितीय संबोध के अन्तर्गत अधिक विचार किया करती है। यह दो प्रकार की अभिरुचि प्रकृति का अनुशीलन करने वाले विद्यार्थियों की विभिन्न विचार-सरणियों में भी अपने को प्रकट करती है, जिनमें से कुछ (जो विशेष प्रकार से चिन्तनपरायण होते हैं) सर्वदा जाति की एकता पर ध्यान लगाए (दृष्टि लगाए) हुए प्रायेण अनेकता (या असमानता) के प्रति तिरस्कार की भावना रखते हैं, जब कि वे दूसरे (जो विशेषरूप से अनुभवानुसरण करने वाले हैं) निरन्तर प्रकृति को इतनी अधिक विविधता में बाँटने पर उतारू रहते हैं कि उसके अवभासों को सर्वव्यापी सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित करने की आशा को लगभग त्याग देने का प्रसंग आ उपस्थित होता है।

यह दूसरे प्रकार की विचार-सरणी स्पष्टरूपेण एक ऐसे तार्किक सिद्धान्त पर आधारित है जिसका लक्ष्य समग्र ज्ञान की सुव्यवस्थित पूर्णता है, और यह इस लक्ष्य की ओर अग्रसर तब होता है जब कि मैं जाति (जीनस्) से आरंभ करके उसके अधीन नानात्व की ओर उतरता हूँ और इस प्रकार व्यवस्था (अथवा संस्थान) को उसी प्रकार विस्तार प्रदान करता हूँ, जिस प्रकार प्रथम प्रकार की विचार-सरणी में जाति की ओर आरोहण करते हुए, उस (संस्थान) के लिए एकता संपादित करने का प्रयत्न करता हूँ। क्योंकि यदि हम अपना ध्यान किसी जाति को सूचित करने वाले संबोध तक ही सीमित रखें तो हमारे लिये इस बात का निर्णय करना उतना ही कम संभव है, कि उसके विभाजन की दिशा में कहाँ तक जाया जा सकता है, जितना किसी भौतिक पदार्थ द्वारा घेरे हुए आयाम (या देश) को देख कर यह निर्णय करना कि उसके भागों के (भौतिक) विभाजन की ओर कितनी दूर तक जाना संभव हो सकता है। अतएव प्रत्येक जाति को विभिन्न उपजातियों की और इनको और भी छोटी उपजातियों की माँग (या अपेक्षा) होती है, और क्योंकि इन छोटी उपजातियों में भी

कोई ऐसी नहीं होती जिसका अपना गोचरक्षेत्र न हो, अतएव बुद्धि अपने समग्र विस्तारण में यह करती है कि किसी भी उपजाति को अपने आप में स्वरूपतः निम्नतम नहीं माना जाना चाहिये ; इसका कारण यह है कि प्रत्येक उपजाति सर्वदा एक संबोध हुआ करती है अतः वह अपने में कुछ ऐसी विशेषता रखती है जो अनेकों विभिन्न वस्तुओं में सामान्यतया पाई जाती है, इसलिये वह पूर्णतया निर्धारित नहीं होती, परिणामतः उसका प्रत्यक्ष संबंध एक व्यक्ति से नहीं हो सकता और इसलिये उसमें सर्वदा ही अन्य संबोध, अर्थात् और उपजातियाँ अन्तर्विष्ट होनी ही चाहिये। उपजातिकरण का यह सिद्धान्त इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है-- विभिन्नतापूर्ण वस्तु सहसा घट जाने वाली नहीं होती।

पर यह तो सरलता से देखा जा सकता है कि यह तार्किक नियम भी, यदि यह व्यवच्छेदन के अनुभवातीत नियम के ऊपर आधारित न हो तो अर्थशून्य और उपयोग-रहित होगा, जो व्यवच्छेदन का नियम, उन वस्तुओं में जो हमारे (अनुभव का) विषय हो सकती है, विभिन्नता की दृष्टि से सचमुच ही निश्चयमेव यथार्थ अनन्तता की माँग नहीं करता, क्योंकि संभाव्य विभाजन के संबंध में यौक्तिक क्षेत्र की अनिर्धार्यतामात्र का दावा करते हुए, यह तार्किक सिद्धान्त कोई इस प्रकार का अवसर प्रदान नहीं करता, किन्तु फिर भी वह बोधवृत्ति के ऊपर उस उपजाति में जो हमारे समक्ष उपस्थित हो और छोटी उपजातियाँ एवं प्रत्येक विभेद में और छोटे प्रभेद खोजने का कर्तव्य तो आरोपित करता ही है। क्योंकि यदि निम्नतर संबोध न हों तो उच्चतर संबोध भी नहीं हो सकते। अब, बोधवृत्ति जो कुछ जान पाती है वह सब कुछ संबोधों के द्वारा ही जान पाती है, अतः चाहे वह विभाजन की प्रक्रिया को चाहे कितनी भी दूर तक क्यों न जाए, वह सर्वदा ऐसा बारंबार निम्नतर संबोधों के द्वारा करेगी, केवल अन्तः-स्फुरणा द्वारा ही कभी नहीं करेगी। अपने परिपूर्ण निर्धारण में अवभासों का ज्ञान (जो केवल बोधवृत्ति के द्वारा संभव है) हमारे संबोधों के अवच्छेदन में निरन्तर चालू रहने वाली प्रगति की अपेक्षा करता है, और उन अवशिष्ट प्रभेदों की दिशा में, [जिनसे उपजातियों के संबोधों में, और उससे भी अधिक जातियों के संबोधों में अपहार (या अपकर्षण) किया गया है] प्रयाण की अपेक्षा करता है।

अवच्छेदन का यह नियम भी अनुभव से व्युत्पादित (अथवा गृहीत) नहीं हो सकता क्योंकि अनुभव तो हमारे समक्ष इतने दृग्गोचर प्रदेश को कदापि उद्घाटित नहीं कर सकता। आनुभविक व्यच्छेदन तो उस दशा में नानात्व के विभेद में शीघ्र ही रुक जाया करता है जबकि उसका पथप्रदर्शन पहले से ही पूर्ववर्ती अनुभवातीत व्यवच्छेदन के नियम के द्वारा नहीं किया जाता, जो नियम हमको उत्तरोत्तर भेदों के खोजने में

मार्ग दिखलाता है और ऐसे स्थलों पर भी उनके अस्तित्व का सन्देह करने में प्रवृत्त करता है जहाँ उनका अस्तित्व इन्द्रियों को खुला प्रत्यक्ष नहीं होता। इस तथ्य का आविष्कार कि प्रचूषी (या प्रशोषी) मिट्टियाँ (जैसे खड़िया मिट्टी और विडीयित मिट्टी इत्यादि) अनेक प्रकार की होती है, केवल बुद्धि के एक पूर्वगामी नियम के कारण ही हो सका, जिस नियम ने, क्योंकि वह पूर्वत: यह मानता था कि प्रकृति विभदों की बनी है, और उसमें उन (भेदों) का सन्देह किया जा सकता है, बोधवृत्ति के ऊपर यह कार्यभार डाला कि वह भेदों की खोज करें। क्योंकि हमको यह जो कुछ भी बोधवृत्ति प्राप्त है वह जैसे इस पूर्वकल्पना पर कि प्रकृति में विभेद हैं, उसी प्रकार इस प्रतिबन्ध पर कि प्रकृति के पदार्थों में सजातिता है, आश्रित हैं; क्योंकि जो एक संबोध के द्वारा अवधृत हो सकता है उसका नानात्व ही यथार्थ में वह तथ्य है जो इस संबोध के उपयोग और बोधवृत्ति के व्यापार को संघटित करता है।

इस प्रकार बुद्धि बोधवृत्ति के लिये उसके क्षेत्र को निम्नलिखित सिद्धान्तों द्वारा प्रस्तुत (किया) करती है--(१) उत्तरोत्तर जातियों में व्यवस्थित नानात्वों की सजातीयता के सिद्धान्त (या तत्व) के द्वारा; (२) निम्नतर उपजातियों में व्यवस्थित सजातीय के विभेद (या अनेकत्व) के सिद्धान्त के द्वारा; और (३) सुव्यवस्थित एकता को पूर्णता प्रदान करने के लिये वह एक समस्त संबोधों की बंधुता के सिद्धान्त को उपर्युक्त दो सिद्धान्तों के साथ और जोड़ देती है, जिस नियम का आदेश यह है कि एक उपजाति से दूसरी उपजाति की ओर विभिन्नता की क्रमिक वृद्धि के द्वारा अनवरत संक्रमण चला करता है। इन तीनों सिद्धान्तों को हम रूपों (अथवा आकृतियों) की सजातिता, विभेद और सातत्य के सिद्धान्तों का नाम दे सकते हैं। इनमें से अन्तिम सिद्धान्त प्रथम दो के संयोग से उत्पन्न होता है, जब कि उच्चतर जातियों की ओर आरोहरण तथा वैसे ही निम्नतर उपजातियों की ओर अवरोहण की प्रक्रिया के द्वारा भाव में सुव्यवस्थित संनियोजन परिपूर्ण हो जाता है, तब उस अवस्था में वे नाना विभेद एक दूसरे के साथ परस्पर संबद्ध होते हैं, क्योंकि वे सब के सब एक ही सर्वोच्च जाति से अधिकाधिक विस्तार को प्राप्त होते हुए निर्धारण की समस्त श्रेणियों से उत्पन्न हुआ करते हैं।

तीन तार्किक सिद्धान्तों के अधीन सम्प्राप्त होने वाली सुव्यवस्थित को निम्न प्रकार से इन्द्रियगम्य बनाया जा सकता है। प्रत्येक संबोध को एक विन्दु रूप माना जा सकता है, जो दर्शक की स्थिति के स्थान के रूप में, अपना निजी क्षितिज या दिङ्-मण्डल रखता है, अर्थात् ऐसी बहुत सी वस्तुएँ उसके पेटे में आती हैं जो उस दृष्टि विन्दु से प्रत्युपस्थापित और परिनिरीक्षित की जा सकती हे। इस दिङ्मंडल के भीतर

ऐसे अनन्त दृष्टिविन्दु अवश्यमेव हो सकने चाहियें, जिनमें से प्रत्येक का अपना संकुचिततर दिङ्मण्डल है; अर्थात् अवच्छेदन के नियम के अनुसार, प्रत्येक उपजाति में अन्य छोटी उपजातियाँ होती हैं, तथा यौक्तिक (या तार्किक) दिङ्मण्डल के अन्तर्गत केवल लघुतर दिङ्मंडल (उपजातियाँ) अन्तर्विष्ट होते हैं, किन्तु ऐसे विन्दु नहीं होते जो आभोग या विस्तार रहित (व्यक्ति) हों। पर इन विभिन्न दिङ्मण्डलों, अर्थात् जातियों (जिनमें से प्रत्येक अपने ही संबोध के द्वारा निर्धारित है) के लिये एक ऐसे सामान्य दिङ्मण्डल की कल्पना की जा सकती है, जिससे, मानों एक केन्द्र-विन्दु से, उन सब का परिनिरीक्षण हो सकता है; यह उच्चतर जाति होगी, इससे आरोहण करते हुए अन्त में सर्वोच्च जाति तक पहुँचा जाएगा जो सर्वव्यापी और सच्चा दिङ्-मण्डल (या क्षितिज) है, तथा जो सर्वोच्च संबोध के दृष्टिविन्दु से निर्धारित होगा, तथा जो अपने आयाम में समग्र नानात्व को—जातियों को, उपजातियों को, तथा छोटी उपजातियों को अवधृत किए होगा।

सजातिता का नियम मुझको इस सर्वोच्च दृष्टिविन्दु की ओर ले जाता है, तथा समस्त निम्नतर दृष्टिविन्दुओं एवं उनकी महती विभिन्नता की ओर अवच्छेदन का नियम ले जाता है। पर क्योंकि इस प्रकार से समस्त संभाव्य संबोधों के समग्र क्षेत्र (या आभोग) में नाम को भी रिक्तता (= शून्यता) नहीं है, और इसके बाहर कुछ भी मिल नहीं सकता, अतः इस सर्वव्यापी दृग्गोचरमण्डल तथा उसके परिपूर्ण विभाजन की पूर्वमान्यता से यह आधारभूत सिद्धान्त उत्पन्न होता है (आकारों के मध्य में शून्यता की उपलब्धि नहीं होती), अर्थात् ऐसी आद्यमौलिक विभिन्न जातियाँ हैं ही नहीं जो एक दूसरे से विलग हों, जो मानों मध्यवर्ती शून्य अन्तराल के द्वारा पृथक् कर दी गई हों, प्रत्युत समस्त विविध जातियाँ एक अकेली सर्वोच्च सर्वव्यापक जाति के केवल विभागमात्र हैं, इस सिद्धान्त से इसका यह अपरोक्ष परिणाम उत्पन्न होता है कि "दातुर् कॉन्टिनुउम् फ़ॉर्मारुम्" (आकारों के सातत्य की उपलब्धि होती है) अर्थात् उपजातियों के विभेदों की सीमाएँ एक दूसरे को छूती हैं तथा उनमें से एक से दूसरे के प्रति संक्रमण छलाँग के द्वारा संभव नहीं है, प्रत्युत केवल अन्तर की उन स्वल्प मात्राओं के द्वारा संभव है, जिसके द्वारा एक से दूसरी तक पहुँचा जा सकता है; एक शब्द में इस प्रकार की कोई उपजातियाँ और छोटी उपजातियाँ (संभव) नहीं हैं, जो (बुद्धि की दृष्टि में) एक दूसरे के निकटतम हों, प्रत्युत उनके मध्य में अन्तःस्थित अन्य उपजातियाँ सर्वदा संभाव्य होती हैं जो दो उपजातियों से उनके पारस्परिक अन्तर की अपेक्षा एक दूसरे से कम अन्तर रखती हैं।

इस प्रकार, इनमें से प्रथम नियम विभिन्न आद्यजातियों के नानात्व के अतिशय

से रोकता है, और सजातीयता को अधिक ध्यान देने का अभिस्ताव (शिफ़ारिश) करता है, दूसरा नियम इस एकता की ओर अग्रसर होने वाली प्रवृत्ति को मर्यादित या सीमित करता है, और सर्वव्यापी संबोध के व्यक्तियों के प्रति प्रयोग किये जाने के पूर्व उसके अन्तर्गत विभिन्न उपजातियों के विभेद पर ध्यान देने का आदेश देता है। तीसरा नियम एक उपजाति से दूसरी के प्रति शनैः शनैः संक्रमण के द्वारा अत्यधिक वैविध्य (या नानात्व) के साथ ही साथ सजातीयता का भी विधान करके उपर्युक्त दोनों नियमों को एकीकृत (या संयुक्त) कर देता है, जो विभिन्न प्रकार की शाखाओं में, जहाँ तक वे सब की सब एक ही स्तम्भ में उत्पन्न हुई हैं, एक प्रकार के संबंध को अभिव्यक्त करता है।

पर यह उपजातियों के सातत्य का तार्किक नियम एक अनुभवातीत नियम की पूर्वकल्पना पर आधारित है, जिसके बिना पूर्वोक्त नियम बोधवृत्ति के विनियोग को, केवल उत्पथगामी बना देता है, क्योंकि वह उसको एक ऐसे मार्ग पर डाल देगा जो प्रकृति के द्वारा विहित मार्ग के ठीक उलटा है। इस प्रकार यह नियम विशुद्ध अनुभवातीत आधार पर, न कि आनुभविक आधार पर आधारित होना चाहिये। क्योंकि यदि यह आनुभविक आधार पर आश्रित होता तो यह दार्शनिक संस्थानों के पीछे आता; जब कि वास्तविक तथ्य यह है कि हमारे प्रकृति-संबंधी ज्ञान में जो कुछ भी सुव्यवस्थित है वह सब इसी के द्वारा प्रादुर्भूत हुआ है। इन नियमों के पीछे कोई ऐसा उद्देश्य भी नहीं है कि इनको केवल अटकली सुझाव मान कर इनसे किसी गुप्त प्रयोगात्मक योजना की पूर्ति की जाए, यद्यपि इस प्रकार का संयोग, जहाँ कहीं भी घटित क्यों न हो, इस तथ्य के लिये प्रबल आधार प्रदान करता है कि उपकल्पिततया विचारित एकता सुदृढ़ आधार पर आश्रित है, और यह साक्ष्य इस वर्त्तमान उद्देश्य की दृष्टि से अपनी उपयोगिता भी रखता है, प्रत्युत इनके विषय में यह तो स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है कि यह नियम मूलभूत कारणों की स्वल्पता (या परिमितता), परिणामों या कार्यों के नानात्व, और प्रकृति के अंगों की तदाश्रित एक ऐसी संबद्धता का [जिससे वे स्वयं प्रकृति और विवेक (या बुद्धि) दोनों के समनुरूप प्रतीत होते हैं] चिन्तन या विभावन करते हैं, अतः यह सिद्धान्त अपने अभिस्ताव (या सिफ़ारिश) को अपरोक्षरूपेण स्वतः वहन करते हैं न कि केवल पद्धति के उपायमात्र के रूप में नहीं।

पर यह सरलता से देखा जा सकता है कि आकारों का यह सातत्य केवल भाव-मात्र है, अनुभव में जिसके पूर्णतया समनुरूप कोई विषय नहीं दिखलाया जा सकता, यह केवल इसलिये नहीं, क्योंकि प्रकृति में उपजातियाँ वास्तव में विभक्त होती हैं और इसलिये उनको एक पृथक् मात्रा संघटित करनी पड़ती ही है,—यदि उनके संबंध

(या ज्ञातित्व) में मन्दगति वाला संक्रमण सातत्यपूर्ण होता तो किन्हीं भी दी हुई दो उपजातियों के मध्य में कड़ियों की एक सच्ची वास्तविक अनन्तता होती, जो असंभव है--प्रत्युत इसलिये भी है क्योंकि (ऐसी अवस्था में) हम इस नियम का कोई सुनिर्धा-रित उपयोग भी नहीं कर सकते थे, कारण यह कि इसके द्वारा इस संबंध की कसौटी का लेशमात्र चिह्न भी यह प्रकट नहीं करता कि हमको उस (ज्ञातित्व) की विभिन्नता के मात्रासंक्रम का कहाँ तक और किस प्रकार अनुसंधान करना है, वह तो हमको दूर सामान्य सूचना के आगे और कुछ नहीं बतलाता कि हमको इस (संबंध) की मात्राओं की खोज करनी चाहिये।

अब यदि हम इन पूर्वोक्त सिद्धान्तों को, उनके व्यावहारिक उपयोग के समनुरूप क्रम में व्यवस्थापित करें, तो यह सुव्यवस्थित एकता के नियम कुछ इस प्रकार (या इस क्रम में) स्थित होंगे--नानात्व संबंधिता और एकता--(और इनमें से) प्रत्येक अपनी पूर्णता की सर्वोच्च मात्रा को पहुँचे हुए भावों के रूप में गृहीत होगा। बुद्धि (= विवेक) उस ज्ञान को पूर्वतः मानकर चलती है जो बोधवृत्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है और जो अनुभव के साथ अत्यन्त निकटतया (प्रत्यक्षतया) संबद्ध होता है, तथा वह इस ज्ञान की एकता का अनुसंधान ऐसे भावों के अनुसार करती है जो जहाँ तक अनुभव पहुँच सकता है उससे भी बहुत आगे पहुँचते हैं। उसकी विभिन्नता के होते हुए भी, नानात्व की संबंधिता, एकता के सिद्धान्त के अधीन, केवल वस्तुओं से ही वास्ता नहीं रखती, प्रत्युत इससे भी अधिक दूर तक उसका संबंध उनके विशुद्ध गुणों और शक्तियों से होता है। इसलिये, यदि उदाहरणार्थ (अभी पूर्णतया शुद्ध न हुए) हमारे अनुभव के द्वारा ग्रहों का पथ पूर्ण वृत्ताकार प्रदर्शित किया जाता है, और (कुछ समय पश्चात्) हम इसमें कुछ अन्तर पाते हैं, तब हम इन अन्तरों का सूत्र उसमें खोजते हैं जो एक निश्चित नियम के अनुसार वृत्त की समस्त अन्तःस्थित परिवर्तन की मात्राओं में गुजर कर विभिन्न पथों में से एक पथ में परिवर्तित कर सकता है, अर्थात् हम यह मान कर चलते हैं कि ग्रहों की गतियाँ जो कि वर्तुल नहीं हैं, समधिक मात्रा में वृत्त के गुणों के समीप पहुँचने वाली होंगी, और इस प्रकार हम दीर्घवृत्त के भाव पर पहुँच जाते हैं। धूमकेतु (या पुंछल तारे) अपने पथ में इससे भी अधिक वर्तुल मार्ग से विचलन प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि वे तो (जहाँ तक हमारा निरीक्षण पहुँचता है) कभी भी वर्तुल मार्ग में नहीं लौटते; तब हम यह अटकल लगाते हैं कि उनका मार्ग परवलयात्मक है, जो दीर्घवृत्त से मिलता जुलता होता है और जब दीर्घवृत्त का लम्बा अक्ष अत्यधिक विस्तीर्ण हो जाता है तो हमारे समग्र निरीक्षण में उसमें और परवलय में कोई भेद नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इन नियमों के मार्गदर्शन से इन ज्योतिष्पिण्डों

के मार्गों के आकार में जो जातियाँ हैं उनकी एकता पर पहुँच जाते हैं, और इसके द्वारा आगे बढ़ कर उनकी गतियों के समस्त नियमों के कारण की एकता अर्थात् गुरुत्वाकर्षण तक को जान लेते हैं, वहाँ से हम अपनी विजयों को और आगे बढ़ाते हैं, तथा उसी तत्व या सिद्धान्त के आधार पर सब विभिन्नताओं और इन नियमों के प्रतीयमान विचलनों को स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं, अन्ततः इसके साथ हम ऐसी बातों को भी जोड़ देते हैं जिनकी सम्पुष्टि अनुभव कभी नहीं कर सकता, अर्थात् संबंधिता के नियम के अनुसार धूमकेतुओं के परवलायतमक मार्गों का चिन्तन करते हैं, जिन पर गमन करते हुए यह धूमकेतु हमारे सौरमंडल को पूर्णतया त्याग कर चले जाते हैं और एक सूर्य से दूसरे सूर्य के पास जाते हुए अपने संक्रमण में जगत् के दूरतम अंशों को एक दूसरे से जोड़ते हैं—उस जगत् के अंशों को जो हमारे लिये असीम होते हुए भी अपने समूचे विस्तार एक ही गतिशील शक्ति के द्वारा धारण किया हुआ है।

जो बात इन सिद्धान्तों के संबंध में ध्यान देने योग्य है, और जिसका मात्र हमसे वास्ता है वह यह है कि यह नियम अनुभवातीत जैसे प्रतीत होते हैं, और यद्यपि वे बुद्धि के आनुभविक विनियोग के पथप्रदर्शन के लिये अपने में केवल भावमात्र को ही अन्तर्विष्ट रखते हैं, जिन (भावों) का बुद्धि असंस्पर्शोपगतया अनुसरण किया करती है, अर्थात् उनके स्पर्श को प्राप्त न होकर निरन्तर उनके समीप से समीपतर पहुँचती रहती है, यह सब कुछ होते हुए भी, प्रागनुभवात्मक संश्लिष्ट प्रस्थापनाओं के रूप में यह सिद्धान्त विषयगत किन्तु अपरिच्छिन्न (अथवा अनिर्धारित) प्रामाणिकता से युक्त होते हैं, और संभाव्य अनुभव के नियमों के रूप में काम आते हैं, एवं स्वतः अन्वेषण में प्रवृत्त करने वाले सिद्धान्त के रूप में उनका उपयोग अनुभव के सुविन्यास के लिये अत्यधिक सुविधा के साथ हो सकता है, नहीं हो सकता तो यह कि उनका अनुभवातीत निगमन प्रतिपादित नहीं किया जा सकता जो, जैसा कि ऊपर उपपादित किया जा चुका है, भावों के संबंध में सर्वदा असंभव है।

हमने अनुभवातीत वैश्लेषिकी में बोधवृत्ति के गत्यात्मक सिद्धान्तों से, (उनके अपरोक्षानुभव के नियामक सिद्धान्त के रूप में), गणितात्मक सिद्धान्तों से पृथक् किया है जो (गणितात्मक) सिद्धान्त अपरोक्षानुभव की दृष्टि से संघटनात्मक होते हैं। यह सब कुछ होते हुए भी यह पूर्वोक्त गत्यात्मक सिद्धान्त अनुभव के संबंध में निश्चय ही संघटनात्मक होते हैं क्योंकि वे संबोधों को, (जिनके बिना कोई अनुभव घटित हो ही नहीं सकता) प्रागनुभवात्मकतया संभव बनाते हैं। किन्तु शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त आनुभविक संबोधों की दृष्टि से कदापि संघटनात्मक नहीं हो सकते, क्योंकि उनके समनुरूप इन्द्रियसंवेद्यता की कोई कल्पनाप्रसूत आकृति उपलब्ध नहीं हो सकती

और इस प्रकार उनको किसी भी मूर्त (इन् कॉन्क्रीटो) विषय की सम्प्राप्ति नहीं हो सकती। तो अब यदि संघटनात्मक सिद्धान्त के रूप में मैं उनके इस प्रकार के आनुभविक विनियोग को अमान्य कर दूँ, तो फिर ऐसी अवस्था में उनके लिये नियामक विनियोग और उसके साथ ही किसी प्रकार की विषयगत प्रामाणिकता को कैसे सुरक्षित रख सकता हूँ और इसका आशय भी क्या होगा ?

बुद्धि (विवेक) के लिये बोधवृत्ति उसी प्रकार विषय बनती है जिस प्रकार इन्द्रिय-संवेद्यता बोधवृत्ति के लिये। बुद्धि का कार्य, ठीक उसी प्रकार, बोधवृत्ति के समस्त संभव व्यापारों की एकता को सुव्यवस्थित कर देना है, जिस प्रकार, बोधवृत्ति का कार्य अवभासों के नानात्व को संबोधों के द्वारा संयोजित करके उसको आनुभविक नियमों के अधीन कर देना है। पर बोधवृत्ति के व्यापार, इन्द्रिय-संवेद्यता की कल्पना प्रसूत आकृतियों के बिना, अपरिच्छिन्न (या अनिर्धारित) रहते हैं; और यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार बुद्धि की एकता उन प्रतिबन्धों के संबंध में जिनके अधीन, और उस विस्तार के संबंध में जिस तक, बोधवृत्ति को अपने संबोधों को सुव्यवस्थित ढंग से परस्पर सुसंबद्ध रखना चाहिये, स्वयं अपने आप में ही अनिर्धारित रहती है। परन्तु, यद्यपि बोधवृत्ति के समस्त संबोधों की परिपूर्ण सुव्यवस्थित एकता के लिये अपरोक्षानुभव में किसी भी कल्पनाप्रसूत आकार को उद्घाटित नहीं किया जा सकता, तथापि इस प्रकार के आकार का सादृश्य तो उपलब्ध हो ही सकता है और होना भी चाहिये, (और) यह सादृश्य एक सिद्धान्त (या तत्व) के अधीन बोधवृत्ति के ज्ञान के विभाजन और एकीकरण के महत्तम का भाव है। क्योंकि, उन सब आयन्त्रण करने वाले प्रतिबन्धों के, जो कि अनिर्धारित नानात्व की उपलब्धि कराते हैं, हटा दिये जाने पर, जो सबसे बड़ा है और निरपेक्षभाव से परिपूर्ण है निर्धारित रूप से विचारक्षम हो सकता है। इस प्रकार बुद्धि का भाव इन्द्रिय-संवेद्यता के आकार के समनुरूप है पर इस अन्तर के साथ, कि बुद्धि के आकार के प्रति बोधवृत्ति के संबोधों का विनियोग उस प्रकार से स्वयं विषय का ज्ञान नहीं होता (जैसा कि बौद्धिक प्रकारों के उनके ऐन्द्रिक आकारों के प्रति विनियोग के प्रसंग में घटित होता है) प्रत्युत बोधवृत्ति के समस्त विनियोगों की सुव्यवस्थित एकता के लिये नियम अथवा सिद्धान्तमात्र है। अब क्योंकि, प्रत्येक ऐसा सिद्धान्त जो कि बोधवृत्ति के लिये उसके विनियोग में पूर्ण एकता को प्रागनुभवात्मकतया नियत (या स्थिर) करता है, अनुभव के संबंध में भी चाहे परोक्षरूपेण ही क्यों न हो, लागू होता है, अतः शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त भी उस विषय के संबंध में विषयगत (= वस्तुगत) यथार्थता रखेंगे, परन्तु ऐसा वे उसमें (या उसके प्रति) किसी बात को निर्धारित करने के लिये नहीं प्रत्युत केवल उस प्रक्रिया को सूचित

करने के लिये रखेंगे जिसके द्वारा बोधवृत्ति का अनुभव संबंधी दृष्ट और निर्द्धारित विनियोग अपने आप के साथ पूर्णतया संवादी हो सके, और इस उद्देश्य की सिद्धि इसके विनियोग को, जितना भी संभव हो सके, परिपूर्ण एकता के सिद्धान्त के साथ संबद्ध करने और उस (सिद्धान्त) से व्युत्पादित करने के द्वारा हो (सक) ती है।

मैं ऐसे विषयिगत सिद्धान्तों को, जो किसी विषय की संघटना (या स्वरूप) से नहीं, प्रत्युत उस विषय के ज्ञान की एक निश्चित संभाव्य परिपूर्णता के संबंध में बुद्धि की रुचि से व्युत्पादित (या सम्प्राप्त) होते हैं, बुद्धि के सिद्धान्त सूत्र नाम से अभिहित करता हूँ। इस प्रकार चिन्तनात्मक बुद्धि (या विवेक) के सिद्धान्त सूत्रों की सत्ता है जो पूर्णतया इसकी चिन्तनात्मक रुचि पर आश्रित है, यद्यपि वे प्रतीत ऐसे होते हैं कि मानों वे वैषयिक सिद्धान्त हों।

जब विशुद्ध विनियामक सिद्धान्तों को संघटनात्मक सिद्धान्त समझ कर व्यवहार किया जाता है, और इस प्रकार उनका वैषयिक सिद्धान्तों के रूप में उपयोग होता है तो उनमें परस्पर विरोध (या विसंवाद) हो सकता है, परन्तु जब उनका विनियोग केवल सूत्र रूप में किया जाता है तो कोई वास्तविक विरोध नहीं रह जाता, प्रत्युत बुद्धि की रुचि के विभेदमात्र रह जाते हैं जो विचार पद्धति के मार्गभेद का कारण है। यथार्थ बात तो यह है कि बुद्धि की रुचि (या हित) केवल एक अकेली ही है, और उसके सूत्रों का पारस्परिक कलह केवल उन रीतियों (=पद्धतियों) का पारस्परिक अन्तर और मर्यादीकरण है, जिनके द्वारा वह रुचि अपने को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया करती है।

इस प्रकार कोई विचारक (विशेषीकरण या विभेदीकरण के सिद्धान्त के अनुसार) नानात्व के प्रति अधिक रुचि रखने वाला हो सकता है, तथा अन्य कोई विचारक (संमूहन के सिद्धान्त के अनुसार) एकता में अधिक रुचि रख सकता है। इन (दोनों में से) प्रत्येक यही विश्वास करता है कि उसकी विभावना (या निर्णय) की उपलब्धि विषय में अन्तर्दृष्टि के द्वारा हुई है, परन्तु वास्तविकता में यह विभावना उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों में से किसी एक के प्रति अधिक अथवा कम आसक्ति पर आश्रित होती है, और क्योंकि इन सिद्धान्तों में से कोई भी वस्तुगत आधार पर आश्रित नहीं होता, प्रत्युत केवलमात्र बुद्धि की रुचि पर आश्रित होता है, इसलिये उनको सिद्धान्तों की अपेक्षा सूत्र नाम अधिक अच्छे प्रकार से दिया जा सकेगा। जब मैं अन्तर्दृष्टि सम्पन्न (सूझबूझ वाले) मनुष्यों को (भी) मानवों, पशुओं अथवा पादपों, इतना ही नहीं खनिज जगत् के पदार्थों के विशिष्ट लक्षणों के संबंध में विवाद में उलझा हुआ देखता हूँ, और देखता हूँ कि उदाहरणार्थ कुछ लोग तो यह मानते हैं कि प्रत्येक जाति में पूर्व-

पित्रागत विशिष्टताएँ होती हैं, अथवा कुलों और प्रजातियों इत्यादि में भी सुनिश्चित कुलक्रमागत विलक्षणताएँ हुआ करती हैं, तथा इसके विपरीत दूसरे इस आग्रह पर तुले रहते हैं कि इस दिशा में प्रकृति ने सब के लिए एक सी व्यवस्था की है एवं समस्त भेद बाह्य और औपाधिक परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं तब इस बात को भले प्रकार से समझाने के लिये, केवल विषय की संघटना का विचार करना भर पर्याप्त होगा, कि विषय का स्वरूप इन दोनों के ही लिये अपेक्षाकृत अतिशय निगूढ़ है, इतना सरल या ऊपरी नहीं है कि यह लोग उसके स्वरूप में अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर ऐसा कह सकें। यह मतभेद (विषय के स्वरूप की अन्तर्दृष्टि के कारण नहीं प्रत्युत) केवल बुद्धि द्विविध रुचि के कारण है, जिनमें एक पक्ष एक रुचि को हृदय से वरण किये है और दूसरा पक्ष दूसरी को, अथवा ऐसा करने का दिखौवा भी करता है, परिणामस्वरूप प्रकृति के नानात्व के अथवा प्रकृति के एकत्व के सूत्रों का विभेद, जो कि बिलकुल सुगमता से मिटाये जाने योग्य है, परन्तु जो तब तक, जब तक कि उनको विषयगत अन्तर्दृष्टि माना जाता रहेगा, न केवल विवाद उत्पन्न करते रहेंगे, प्रत्युत उन बाधाओं को भी जन्म देते रहेंगे जो सत्य के आविष्कार में देरी का कारण होंगी, और तब तक ऐसा होता रहेगा, जब तक कि विरोधी रुचियों (या हितों) को समन्वित करने, और इस दिशा में बुद्धि को सन्तुष्ट करने का कोई उपाय उपलब्ध नहीं कर लिया जाएगा।

यही बात सृष्टि के पदार्थों के सतत श्रेणीकरण के सुविख्यात के खंडन-मंडन के विषय में भी लागू होती है जो सर्वप्रथम लाइब्नित्स् के द्वारा प्रतिपादित किया गया था और तत्पश्चात् बौनेट् के द्वारा बड़ी उत्तमता के साथ समर्थित हुआ था, जो बुद्धि की रुचि (या हित) पर आश्रित उपर्युक्त संबंधिता के नियम के परिणामानुसरण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, क्योंकि निरीक्षण और प्रकृति के स्वरूप की अन्तर्दृष्टि यह दोनों ही इस नियम को विषयगत दावे के रूप कदापि प्रदान नहीं कर सकते। इस प्रकार सीढ़ी के डण्डे, जिस रूप में अनुभव उनको प्रदान कर सकता है, एक दूसरे से बहुत अधिक अन्तर पर स्थित हैं, और हमारे द्वारा अल्प माने (अथवा समझे) जाने वाले अन्तर स्वयं प्रकृति में सामान्यतया इतने बड़े अन्तराल हुआ करते हैं कि इस प्रकार के निरीक्षणों से प्रकृति के (चरम) उद्देश्य के संबंध में कुछ विश्वास (या निर्णय) नहीं किया जा सकता, [विशेषकर इसलिये कि विभिन्न वस्तुओं की विशाल विविधता में कुछ सादृश्य और सान्निध्य (=उपसदन) का पाया जाना बहुत सरल होना चाहिये]। इसके विपरीत दूसरी ओर, इस प्रकार के सिद्धान्त और सूत्र के अनुसार, प्रकृति में क्रम-व्यवस्था को खोजने की पद्धति (या रीति) को (यद्यपि यह अनिर्धारित रहेगा

कि इस क्रम-व्यवस्था को कहाँ और कितनी दूर तक खोजा जा सकता है) स्वत: प्रकृति को सामान्यतया समाश्रित मानना, बुद्धि का एक सर्वथा वैध और उत्तम विनियामक सिद्धान्त है, परन्तु जो इस प्रकार के रूप में, जहाँ तक अनुभव और निरीक्षण उसका साथ दे सकते हैं, उससे भी बहुत अधिक दूर तक जाने वाला है, और यद्यपि यह कुछ भी निर्धारित नहीं करता तथापि सुव्यवस्थित की ओर जाने वाले मार्ग को आँकने के काम आता है।

मानवीय बुद्धि की स्वाभाविक आन्वीक्षिकी का चरम लक्ष्य

विशुद्ध बुद्धि के भाव स्वयं अपने आप कदापि आन्वीक्षिक्यात्मक नहीं हो सकते; प्रत्युत यह जो उनसे हमारे लिये कोई प्रवञ्चनात्मक भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, यह केवलमात्र उनके दुर्विनियोग के कारण घटित होती है, क्योंकि वे तो हमको हमारी बुद्धि (या विवेक) के स्वभाव के द्वारा प्रदान की जाती हैं, तथा चिन्ताशीलता के अधिकारों और दावों का यह सर्वोच्च न्यायालय अपने में मौलिक प्रतारणाओं और भ्रांतियों को धारण किये हो ऐसा होना असंभव है। इसलिये संभवत: यह भाव हमारी बुद्धि के सहज स्वभाव के अन्तर्गत अपनी सुनिश्चित अच्छाई और सोद्देश्यता रखते हैं। परन्तु कूटतार्किकों का झुंड, जैसा कि उसका सामान्य स्वभाव है, बुद्धि के विरुद्ध उसके बतुकेपन और विसंवादिताओं का रोना रोया ही करता है,—और उसके शासन की निन्दा किया करता है, यद्यपि वह उसके आन्तरिकतम उद्देश्यों में प्रवेश करने की योग्यता नहीं रखते; जब वह अपनी सुरक्षित स्थिति के लिये भी स्वयं इसी (विवेक) के लाभप्रद प्रभाव का ऋणी है, और उस संस्कृति (= मनस्संस्कार) के लिये भी जो उस (झुंड को) बुद्धि के शासन की निन्दा और गर्हणा करने की स्थिति में स्थापित करता है।

किसी भी प्रागनुभवात्मक संबोध का विनियोग, पहले उसके अनुभवातीत निगमन की स्थापना किये बिना, सुनिश्चितता के साथ नहीं किया जा सकता। निश्चय ही, शुद्ध बुद्धि के भाव उसी प्रकार के निगमन के योग्य नहीं हैं जो बौद्धिक प्रकारों के लिये उपयुक्त है, परन्तु यदि उनमें न्यूनतम वस्तुगत प्रामाणिकता होनी है, (चाहे वह प्रामाणिकता कितनी ही अनिर्धारित क्यों न हो) और यदि उनको केवल रिक्त विचारगत सत्तामात्र (एन्तिया रातियोनिस् रातियोकिनान्तिस्) नहीं होना है, तो उनका निगमन अवश्य ही संभव होना चाहिये, फिर चाहे, जैसा कि हम मानते हैं, यह उससे कितना ही अधिक भिन्न क्यों न हो जो बौद्धिक प्रकारों के लिये प्रस्तुत किया जा सका है। शुद्ध बुद्धि के समीक्षात्मक कार्य की यही पूर्णता है, और अब हम इसी कार्य को प्रतिपादित करना चाहते हैं।

कोई वस्तु मेरी बुद्धि के लिये निरपेक्ष भाव से विषय रूप प्रदत्त हो, अथवा वह केवल भागवत (विचारगत) विषय के रूप में उपलब्ध हो, इन दोनों स्थितियों में एक महान् अन्तर है। प्रथम स्थिति में मेरे संबोध विषय को निर्धारित (या परिच्छिन्न) करने लिये व्यापृत होते हैं; दूसरी स्थिति में यथार्थ में केवल एक (कल्पनाप्रसूत) आकृतिमात्र की सत्ता होती है, जिसके लिये कोई भी विषय—यहाँ तक कि उपकल्पित विषय तक—भी अपरोक्षतया दिया हुआ नहीं होता, प्रत्युत जो दूसरे विषयों को इस भाव के संबंध के माध्यम से, उनकी सुव्यवस्थित एकता के अनुसार, (अतएव परोक्षतया) हमारे प्रति प्रत्युपस्थापित करने के काम आती है। इसलिये मैं कहता हूँ कि सर्वोच्च बुद्धिमत्ता का संबोध केवल भावमात्र है, अर्थात् उसकी वस्तुगत सत्ता इस बात में नहीं होगी कि वह अपरोक्षतया किसी विषय से संबद्ध है (अथवा विषय की ओर संकेत करता है—क्योंकि इस अर्थ में हम उसकी वैषयिक प्रामाणिकता के औचित्य का प्रतिपादन नहीं कर सकेंग), प्रत्युत वह तो वस्तु सामान्य के संबोध की काल्पनिक आकृतिमात्र है जो बुद्धि की सर्वोच्च एकता के प्रतिबंधों के अनुसार संघटित की गई है, जो हमारी बुद्धि के आनुभविक विनियोग में अधिकतम एकता को सम्प्राप्त कराने के काम आती है, इसलिये कि अनुभव का विषय तो मानों उस भाव के परिकल्पित विषय को (अनुभव के विषय का) आधार अथवा कारणरूप मान कर, उस (परिकल्पित विषय) से ही निष्पादित हुआ करता है। इसीलिये, उदाहरण के लिये यह कहा जाता है कि जगत् की वस्तुओं को ऐसा माना जाना चाहिये कि मानों उनको अपना अस्तित्व सर्वोच्च बुद्धिमत्ता से उपलब्ध हुआ है। इस ढंग से भाव वास्तव में एक स्वतः अन्वेषणात्मक संबोधमात्र है, प्रदर्शित संबोध नहीं है, तथा यह हमको यह नहीं दिखलाता कि कोई विषय किस प्रकार संघटित हुआ है, प्रत्युत यह बतलाता है कि हमको इसके नेतृत्व (या पथप्रदर्शन) में अनुभव सामान्य के विषयों की संघटना और संयोजनों (या संबोधों) का किस प्रकार अनुसंधान करना चाहिये। अब यदि यह दिखलाया जा सके कि यद्यपि तीन अनुभवातीत भाव (१. मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक, २. सृष्टि विज्ञान संबंधी ३. धर्मविज्ञान या देवविज्ञान संबंधी भाव)—न तो अपने समनुरूप किसी विषय से प्रत्यक्षतया संबध ही रखते हैं और न प्रत्यक्षतया उसको निर्धारित या परिच्छिन्न ही करते हैं, तथापि बुद्धि के आनुभविक विनियोग के नियमों के रूप में वे भाव में इस प्रकार के विषय की पूर्वमान्यता के अधीन, सुव्यवस्थित एकता की ओर ले जाते हैं, और इस प्रकार वे सर्वदा आनुभविक ज्ञान का विस्तार करते हैं, किंतु कभी भी उसके विरुद्ध नहीं हो सकते; तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार के नियमों के अनुसार चलना बुद्धि या विवेक का अनिवार्य सूत्र है। और यही चिन्त-

नात्मक बुद्धि (या विवेक) के समस्त भावों का अनुभवातीत निगमन है, पर यह उनका निगमन हमारे ज्ञान को अनुभव जितने विषयों को प्रदान कर सकता है उनसे भी अधिक विषयों के ऊपर विस्तीर्ण करने वाले संघटनात्मक सिद्धान्त के रूप में नहीं होता, प्रत्युत अनुभवात्मक ज्ञान-सामान्य के नानात्व की सुव्यवस्थित एकता के विनियामक सिद्धान्त के रूप में होता है, जिसके द्वारा यह आनुभविक ज्ञान अपनी सीमा के भीतर उस स्थिति की अपेक्षा अधिक भले प्रकार सुविन्यस्त और सुधरा हुआ होगा, जिस स्थिति में, प्रकार के भावों के अभाव में वह केवल बोधवृत्ति के सिद्धान्तों के विनियोगमात्र से होता।

मैं इसको अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा करूँगा। हम सिद्धान्तों (या तत्वों) के रूप में इन उपर्युक्त भावों के अनुसार, सबसे पहले, मनोविज्ञान (के क्षेत्र) में अपने आन्तरिक अनुभव के पथप्रदर्शन (या प्रकाश) में अपने मानस के सब अनुभवों, सब व्यापारों तथा मन की ग्रहणशीलता को (इस दृष्टि से) संबद्ध (या संयोजित) करेंगे कि मानों वह (=हमारा मानस) एक अविमिश्रित सरल पदार्थ है, जो व्यक्तिगत तादात्म्य के सहित कम से कम (इस जीवन में) सतत स्थायी अस्तित्व रखता है, जब कि उसकी अवस्थाएँ जिनके साथ शारीरिक अवस्थाओं का संबंध केवल बाह्य प्रतिबंधों के रूप में है, निरन्तर परिवर्तनशील रहती हैं। दूसरे नंबर पर हमको सृष्टि-रचना विज्ञान (के क्षेत्र) में आन्तरिक और बाह्य प्राकृतिक अवभासों के प्रतिबंधों (या शर्तों) का एक ऐसे कहीं भी समाप्त न होने वाले अनुसंधान में अनुसरण करना चाहिये, कि मानों यह अवभासों की शृंखला स्वयं अपने आप में ऐसी अनन्त है कि जिसमें कोई भी प्रथम अथवा सर्वोच्च अवयव (या कड़ी) नहीं है; यद्यपि ऐसा करते हुए हम को समस्त अवभासों के बाहर या परे उनके अस्तित्व के विशुद्ध बुद्धिगम्य आद्य आधारों को अस्वीकार नहीं करना है, परन्तु क्योंकि हम उनको बिलकुल भी नहीं जानते, अतः उनको प्रकृति की व्याख्या के संदर्भ में प्रयुक्त करने का साहस कदापि नहीं किया जा सकता। तीसरे, और अन्त में हमको, देवविद्या या ईश्वर-विज्ञान के संबंध में प्रत्येक ऐसी वस्तु को, जो कि संभाव्य अनुभव के संदर्भ से संबंध रख सकती है, इस प्रकार देखना चाहिये कि मानों यह अनुभव एक निरपेक्ष, परन्तु पूर्णतया पराश्रित और तिस पर भी ऐन्द्रियजगत् के भीतर सर्वदा प्रतिबद्ध एकता को संघटित या निर्मित करता है, और फिर इसके साथ ही साथ मानों अवभासों की समस्त राशि (स्वयं समस्त ऐन्द्रिय जगत्) के घेरे के बाहर उसका एक अकेला, सर्वोच्च, सर्वथा-पर्याप्त आधार है अर्थात् (जो) आत्मनिर्भर, मौलिक, सृजनात्मक बुद्धि (या विवेक) है, जिसके संबंध या प्रकाश में (ही) हम अपनी बुद्धि के समस्त आनुभविक विनियोग का उसके

अधिकतम विस्तार की प्राप्ति के लिये इस प्रकार दिग् निर्देश करते हैं कि मानों स्वयं विषय इसी समग्र बुद्धि (या विवेक) की आद्याकृति उत्पन्न हुए हैं; दूसरे शब्दों में इसी बात को यों कह सकते हैं कि चिदात्मा के आन्तरिक अवभासों को किसी अविमिश्रित विचारशील सरल पदार्थ से निष्पादित (या व्युत्पादित) नहीं करना चाहिये, प्रत्युत एक अविमिश्रित सरल सत्त्व के भाव के अनुसार परस्पर एक दूसरे से व्युत्पादित करना चाहिये; जगत् की व्यवस्था और सुसंस्थित एकता को किसी परम बुद्धिमत्ता से व्युत्पादित नहीं करना चाहिये प्रत्युत सर्वोच्च विवेकी (या बुद्धिमान) कारण के भाव से उस नियम को उपलब्ध करना चाहिये, जिसके अनुसार, जगत् में कारण और कार्यों का संबंध जोड़ते हुए बुद्धि (या विवेक) स्वयं अपने संतोष के लिये सर्वोत्तम प्रकार से उपयोग में आ सके।

अब (यदि विचार करके देखा जाए तो) एक केवल विश्व-रचनाशास्त्र को छोड़ कर, जहाँ कि बुद्धि को आत्मविरोध का सामना करना पड़ता है, अन्यत्र कहीं लेशमात्र भी ऐसी वाधा नहीं है जो हमको इन भावों को वैषयिक और स्वयंस्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली वस्तु भी मानने से रोकती हो, बशर्ते कि बुद्धि उनको ऐसी स्थिति में लाने की चेष्टा करे, (और जहाँ तक मनोविज्ञान के क्षेत्र और देवविद्या या ईश्वर-विज्ञान के क्षेत्र के भावों का संबंध है उनमें किसी प्रकार का आत्मविरोध कतई नहीं है) और क्योंकि (इन क्षेत्रों में भावों में) कोई परस्पर विरोध नहीं है अतएव कोई उनकी वैषयिक यथार्थता के संबंध में किस प्रकार विवाद कर सकता है, इसलिये कि उनकी संभावना को अस्वीकार करने के लिये उसको भी उतनी ही कम जानकारी प्राप्त है, जितनी कम हमको उसे स्वीकार करने के लिये उपलब्ध है। फिर भी किसी वस्तु के यथार्थ अस्तित्व को मान लेने के लिये यह पर्याप्त आधार नहीं है कि उसके विरुद्ध कोई सकारात्मक बाधा नहीं है, और हमको ऐसी विचारगत सत्ताओं को, जो हमारे समस्त संबोधों से अतीत हैं, यद्यपि वे उनका विरोध नहीं करती हैं, केवल उस बुद्धि के प्रति श्रद्धा के आधार पर, (जो अपने अंगीकृत कार्य को जैसे तैसे पूर्ण करने पर तुली हुई हैं) यथार्थ तथा सुनिश्चित विषयों के रूप में स्वीकार करने (या परिचित कराने की) की अनुज्ञा नहीं होनी चाहिये। उनको इस प्रकार स्वलक्षण अथवा स्वतःयथार्थ सत्तावानों के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये, प्रत्युत उनकी यथार्थता को समस्त प्रकृति के ज्ञान की सुव्यवस्थित एकता के विनियामक सिद्धान्त की कल्पनाप्रसूत आकृति (स्कीमा) की यथार्थता माना जाना चाहिये, अतः वे केवल यथार्थ वस्तुओं के सदृशों के रूप में आधारभूत स्थिति में रहेंगे किन्तु स्वतः सत्तावानों के रूप में नहीं। हम भाव के विषय से उन प्रतिबन्धों (या शर्तों) को हटा रहे हैं जो हमारी बोधवृत्ति के द्वारा

प्रदत्त संबोधों को मर्यादित करते हैं, परन्तु जो इस बात को भी संभव बनाते हैं कि हम किसी वस्तु के सुनिश्चित संबोध को ग्रहण कर सकें। और अब हम एक ऐसी वस्तु का विचार करते हैं, जो स्वयं अपने आप में क्या है, इसका हम कोई संबोध नहीं रखते, परन्तु फिर भी जिसको हम अपने प्रति समस्त अवभासों के साथ एक ऐसे संबंध में प्रत्युपस्थापित करते हैं जो अवभासों के अपने पारस्परिक संबंध के अनुरूप होता है।

यदि हम इस प्रकार से ऐसे आदर्श सत्त्वों (या सत्ताओं) को मान लें, तो हम वास्तव में संभाव्य अनुभव के विषयों के परे अपने ज्ञान को (पूर्वापेक्षा) अधिक विस्तीर्ण नहीं करते, प्रत्युत हम उस सुव्यवस्थित एकता के द्वारा जिसके लिये काल्पनिक आकृति भाव के द्वारा उपलब्ध कराई जाती है, इस प्रकार अनुभव की दृष्ट (या आनुभविक) एकतामात्र को ही पूर्वापेक्षा अधिक विस्तीर्ण करते हैं, इस कारण जो भाव केवल एक विनियामक सिद्धान्त होने की योग्यता रखता है न कि संघटनात्मक होने की। क्योंकि यदि हम किसी भाव के समतुरूप, वस्तु को, यत्किञ्चित् को अथवा किसी यथार्थ सत्त्व या सत्ता को स्थापित करें तो ऐसा करना यह कहने के बराबर नहीं होता कि हमने अपने वस्तु विषयक ज्ञान को अनुभवातीत संबोधों के द्वारा विस्तीर्णतर करने की चेष्टा की; इसलिये कि उपर्युक्त सत्व (या सता) को केवल भावमात्र में स्थापित किया गया है न कि अपनी वास्तविक सत्ता में, अतएव केवल उस सुव्यवस्थित को अभिव्यक्त करने के लिये स्थापित किया गया है जिसको हमें हमारी बुद्धि के आनुभविक विनियोग के मार्गदर्शक सूत्र का काम देना है, बिना यह निर्णय किये हुए कि इस एकता का आधार क्या है अथवा उस सत्त्व (या सत्ता) की आन्तरिक विष्टिता क्या है जिसके ऊपर एकता इस प्रकार निर्भर है जैसे कोई (कार्य) कारण पर निर्भर होता है।

इस प्रकार विशुद्ध चिन्तनात्मक बुद्धि हमको जो ईश्वर का अनुभवातीत और एकमात्र सुनिर्दिष्ट संबोध प्रदान करती है वह कठोरतम शब्दार्थ की दृष्टि से देववादी (डीइस्टिश्) संबोध है, अर्थात् बुद्धि इस प्रकार के संबोध की प्रामाणिकता तक भी नहीं प्रदान करती, प्रत्युत केवलमात्र किसी एक ऐसी (वस्तु) का भावमात्र प्रदान करती है जिसपर समस्त दृष्ट (या आनुभविक) वास्तविकता अपनी सर्वोच्च और अपरिहार्य एकता को आश्रित (या आधारित) करती है, और इस (कुछ वस्तु) का हम वहाँ तक एक ऐसे वास्तविक पदार्थ के सादृश्य के अनुसार ही विचार कर सकते हैं जो बुद्धि के नियमों के अनुरूप समस्त वस्तुओं का कारण हो, (इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से उसका विचार नहीं कर सकते) जहाँ तक कि हम सचमुच ही इसको पूर्णतया एक विशिष्ट विषय के रूप में विचारना अंगीकार करते हैं और इसकी अपेक्षा

बुद्धि के केवल विशुद्ध विनियामक सिद्धान्त से सन्तुष्ट नहीं होते, जो कि विचार की समस्त शर्तों की पूर्ति को मानव बुद्धि के लिये नितान्त अतिशायिनी मान कर छोड़ देता है, परन्तु जो हमारे ज्ञान के अन्तर में स्थित पूर्ण एकता के लक्ष्य से, जिसके लिये कम से कम बुद्धि ने कोई सीमा (या मर्यादा) स्थापित नहीं की है, मेल नहीं रखता।

इसलिये अब स्थिति ऐसी है कि यदि मैं किसी दैवी सत्ता (या सत्त्व) को स्वीकार करता हूँ तो मेरे पास वास्तव में न तो उसकी सर्वोच्च पूर्णता की आन्तरिक संभावना का और न उसकी सत्ता की अनिवार्यता का, दोनों का ही लेशमात्र भी संबोध सम्प्राप्त नहीं होता, पर, दूसरी ओर, अन्य सब (ऐसे) प्रश्नों के लिये जिनका नाता संभाव्य से है हम सन्तोष प्रदान कर सकते हैं, और बुद्धि को उस उच्चत्तम एकता के संबंध में, जिसका वह अपने आनुभविक विनियोग में अनुसंधान करती है परिपूर्णतम संतोष दे सकते हैं, परन्तु स्वयं इस आधारभूत मान्यता के संबंध में ऐसा नहीं कर सकते, जो तथ्य यह सिद्ध करता है कि बुद्धि के अपने कार्य को अपने गोचरक्षेत्र से बाहर इतने ऊँचे पर स्थित विन्दु से प्रारंभ करने का औचित्य उस (बुद्धि) की चिन्त-नात्मक अभिरुचि (या स्वार्थ) में निहित है न कि उसकी अन्तदृष्टि में, जिस (प्रक्रिया) से वह अपने विषयों को एक पूर्णावयवी से संवद्ध रूप में निरीक्षण कर सके।

यहाँ पर अब एक अभिन्न अकेली मान्यता के संबंध में एक विचार पद्धति का भेद प्रत्यक्ष हो जाता है, जो है तो कुछ सूक्ष्म, पर फिर भी जो अनुभवातीत दर्शन में अत्य-धिक महत्त्व रखता है। मुझे किसी वस्तु को सापेक्षिक अर्थ में स्वीकार करने (सुप्पो-सितियो रिलेटिवा) के लिये पर्याप्त आधार प्राप्त हो सकता है, विना उसको निरपेक्ष रूप में मानने (सुप्पो सितियो अब्सोलुटा) के अधिकार रखते हुए। इस विभेद से वास्ता तब पड़ता है जबकि विशुद्ध विनियामक सिद्धान्त का प्रसंग उपस्थित होता है, जिसकी अनिवार्यता को तो हम निश्चय ही स्वरूपतः जानते हैं किन्तु जिसकी अनि-वार्यता के उद्‌गम को हम नहीं जानते, और इसके लिये जो हम उच्चतम आधार को मानते हैं सो ऐसा हम इसलिये अधिक करते हैं कि इस सिद्धान्त की सर्वव्यापकता को अधिक सुनिश्चित रूप में विचारा जा सके; उदाहरण के लिए ऐसा तब होता है जब मैं किसी ऐसे सत्त्व (या सत्ता) के विद्यमान होने का विचार करता हूँ जो केवल भावमात्र अथवा, निश्चय ही अनुभवातीत भावमात्र समनुरूप होता है। तब ऐसी स्थिति में मैं ऐसी वस्तु की सत्ता कदापि भी स्वरूपतः मान कर नहीं चल सकता, क्योंकि कोई भी ऐसे संबोध, जिनके द्वारा मैं कहीं भी किसी विषय को सुनिश्चित (या सुनिर्धारित) रूप में विचार सकता हूँ, उस तक नहीं पहुँचते, तथा मेरे संबोधों की वैषयिक प्रामाणिकता के प्रतिबन्ध (शर्तें) तो स्वयं भाव के द्वारा ही अपवर्जित

(या बहिष्कृत) हो गये । वास्तविकता का संबोध, पदार्थ का संबोध, कार्य-कारण भाव का संबोध, यहाँ तक कि स्वयं अस्तित्व में अनिवार्यता का संबोध, यह सब के सब संबोध, किसी विषय के आनुभविक ज्ञान को संभाव्य बनाने में अपने उपयोग के अतिरिक्त और कुछ भी ऐसा अर्थ लेशमात्र भी नहीं रखते जो किसी विषय को निर्धारित कर सके । इसलिये वे ऐन्द्रिय जगत् में वस्तुओं की संभाव्यता की व्याख्या (या विस्पष्टीकरण) के लिये तो काम में आ सकते हैं., परन्तु स्वयं जगत् की संभाव्यता के स्पष्टीकरण के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि इस स्पष्टीकरण के आधार को जगत् के बाहर होना होगा, अतएव वह किसी संभाव्य अनुभव का विषय नहीं हो सकता । फिर भी, यद्यपि मैं इस प्रकार के अविचिन्त्य सत्त्व को स्वतः अपने आप सत्तावान् रूप में नहीं स्वीकार कर सकता, (तथापि) ऐन्द्रिय जगत् की अपेक्षा मैं विशुद्ध भाव के विषय के रूप में मान सकता हूँ । क्योंकि, यदि मेरी बुद्धि का सबसे महान् आनुभविक विनियोग एक भाव के ऊपर (अर्थात् सुसंस्थितया पूर्ण एकता के भाव पर, जिसके विषय में मैं अभी सुनिर्दिष्ट विवरण उपस्थित करने जा रहा हूँ) आश्रित हो, जो, यद्यपि स्वयं अनुभव में कदापि भी भले प्रकार पर्याप्तरूपेण प्रदत्त न हो सकता हो, तथापि जो फिर इसलिये नितान्त अपरिहार्य है कि हम आनुभविक एकता की सर्वोच्च संभाव्य मात्रा के निकट से निकटतर पहुँच सकें, तो मैं न केवल इस भाव के वास्तविकीकरण, अर्थात् उसको एक वास्तविक विषय के स्थान पर स्थापित करने का न केवल अधिकारी भर होऊँगा, प्रत्युत ऐसा करने के लिये निबाधित भी हो जाऊँगा परन्तु मैं इसको केवल किसी एक ऐसी वस्तु सामान्य के रूप में ही स्थापित कर सकता हूँ जिसको मैं स्वरूपतः बिलकुल नहीं जानता, तथा जिसके लिये मैं, उपर्युक्त व्यविस्थत एकता के आधार के रूप में इस एकता के संबंध में उन गुणों का आरोपण करता हूँ जो बोधवृत्ति के द्वारा अनुभव क्षेत्र में प्रयुक्त संबोधों के सदृश हैं । इसलिये सांसारिक वास्तविकताओं, पदार्थों, कार्य-कारण भाव एवं अनिवार्य आवश्यकता सादृश्य पर मैं एक सत्त्व का विचार करूँगा जो इन सब बातों को उच्चतम पूर्णता में अपने में रखता है, और क्योंकि यह भाव मेरी बुद्धि पर आश्रित है, अतएव मैं उसका विचार आत्मनिर्भर विवेक (या बुद्धि) के रूप में कर सकता हूँ जो अधिकतम संगति और एकता के भावों के अनुसार विश्व का कारण है; इस प्रकार मैं उन सब प्रतिबन्धों को जो कि भाव को सीमित कर सकते हैं इसलिये अलग छोड़ देता हूँ कि जिससे ऐसे मूलाधार के संरक्षण में, विश्व में नानात्व की सुव्यवस्थित एकता, तथा उसके माध्यम (या जरिये) बुद्धि (या विवेक) का अधिकतम संभाव्य विनियोग मुमकिन हो सके, और ऐसा करने के लिये मैं संसार के समस्त संयोजनों को ऐसी दृष्टि से देखता हूँ कि

मानों वे किसी सर्वोच्च बुद्धि (या विवेक) के निर्देश या व्यवस्थाएँ हों, जिस बुद्धि की एक धुंधली सी प्रतिच्छबि हमारी बुद्धि है। (और) तब मैं इस उच्चतम सत्त्व के संबंध में केवलमात्र उन संबोधों के द्वारा विचार करना आरंभ कर देता हूँ जो ऐन्द्रिय जगत् में ही विनियुक्त हुआ करते हैं; परन्तु क्योंकि मैं अनुभव की अधिक से अधिक संभाव्य एकता के अधिष्ठान के रूप में इस अनुभवातीत पूर्व मान्यता के सापेक्ष उपयोग के अतिरिक्त अन्य कोई उपयोग नहीं करता, अतः मैं उस सत्त्व (या सत्ता) का जिसको मैं जगत् से भिन्न मानता हूँ, पूर्ण औचित्य के साथ उन विशेषताओं के द्वारा विचार कर सकता हूँ जो केवल ऐन्द्रिय जगत् से संबंध रखती हैं। क्योंकि अपने भाव के इस विषय को उसके अपने आन्तरिक स्वरूप के अनुसार जानने की न तो मैं माँग (या इच्छा) करता हूँ और न मेरा ऐसी माँग या इच्छा करना उचित ही है; इसलिये इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये कोई संबोध मुझे सम्प्राप्त नहीं हैं, यथार्थता, पदार्थ, कार्य-कारण भाव के संबोध, यही क्यों अस्तित्वगत अनिवार्यता तक का संबोध, ——यह सभी संबोध, जब मैं उनके साथ इस प्रकार ऐन्द्रिय जगत् के क्षेत्र के बाहर जाने का साहस करता हूँ, सारा अर्थ गवाँ बैठते हैं, तथा अन्तर्विष्ट विषय से रहित संबोधों के केवल रीते शीर्षकमात्र रह जाते हैं। मैं अपने प्रति, मुझे पूर्णतया अज्ञात सत्त्व का, विश्व की अधिकतम संभाव्य एकता के साथ जो संबंध है, उसका विचार केवल इसलिये करता हूँ कि मैं अपनी बुद्धि के अधिक से अधिक संभाव्य आनुभविक विनियोग के विनियामक सिद्धान्त की काल्पनिक आकृति के रूप में इसका उपयोग कर सकूँ।

अब यदि हम अपने भाव के अनुभवातीत विषय पर दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं कि, यथार्थता, पदार्थ (या द्रव्य) और कार्य-कारण भाव इत्यादि के संबोधों के अनुसार तो उसकी स्वगत वास्तविकता को पूर्वतः मान कर नहीं चल सकते, क्योंकि यह सब संबोध किसी ऐसी वस्तु के संबंध में, जो ऐन्द्रिय जगत् से बिलकुल पृथक् हो, लेशमात्र भी उपयोग नहीं रखते। इसलिये, सर्वोच्च कारण के रूप में, बुद्धि परम सत्त्व (या सत्ता) की जो कल्पना करती है, वह विशुद्धरूपेण सापेक्षमात्र होती है, जो केवल ऐन्द्रिय जगत् में सुव्यवस्थित एकता के निमित्त प्रकल्पित होती है, तथा वह केवल भावस्थित यत्किञ्चित् है जिसके संबंध में हम इस विषय में कुछ नहीं जानते कि वह स्वयं अपने आप में क्या है। इससे यह बात भी स्वयं स्पष्ट हो जाती है, कि जो कुछ हमारी इन्द्रियों को सत्तावान् के रूप में दिया हुआ है उसके संबंध में एक अनिवार्य आद्य सत्त्व (या तत्व) की अपेक्षा क्यों करते हैं पर क्यों उसके अथवा उसकी निरपेक्ष अनिवार्यता के लेशमात्र संबोध को कदापि प्राप्त नहीं कर सकते।

अब हम समस्त अनुभवातीत आन्वीक्षिकी के परिणामों को स्पष्टतया आँखों के

सामने रख सकते हैं और शुद्ध बुद्धि के भावों के अन्तिम ध्येय को जो केवल भ्रान्ति और प्रमाद के कारण विवादग्रस्त हो गया था, ठीक प्रकार से निर्धारित कर सकते हैं। शुद्ध बुद्धि तो यथार्थ में अपने को छोड़ कर अन्य किसी के साथ व्यापृत नहीं होती, और इसके अतिरिक्त उसका और कोई व्यवसाय हो भी नहीं सकता, क्योंकि इसको जो कुछ उपलब्ध होता है वह अनुभवात्मक संबोध की एकता के लिये उद्दिष्ट विषय नहीं होते, प्रत्युत बुद्धि के संबोध की एकता के लिये अर्थात् किसी सिद्धान्त के अनुसार संयोजन (या संदर्भ) की एकता के लिये उद्दिष्ट बोधवृत्ति के द्वारा प्रस्तुत किए हुए ज्ञान होते हैं। बुद्धि की एकता संस्थान (सिस्टम्) की एकता है, और यह व्यवस्थित एकता एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में वैषयिकतया बुद्धि के काम नहीं आती जो उसके विनियोग को विषयों के ऊपर विस्तीर्ण करने वाला हो, प्रत्युत एक ऐसे सूत्र के रूप में काम आती है जो विषयिगततया बुद्धि के विनियोग को विषयों के समस्त संभाव्य ज्ञान तक विस्तृत करने वाला है। फिर भी बुद्धि जिस व्यवस्थित संयोजन (अथवा संदर्भ) को बोधवृत्ति के आनुभविक विनियोग को प्रदान कर सकती है, वह केवल उसके स्तिार को ही आगे नहीं बढ़ाता, प्रत्युत इसके साथ ही साथ उसकी शुद्धता की भी पुष्टि करता है, अत: इस प्रकार की व्यवस्थित एकता का सिद्धान्त वैषयिक भी होता है, परन्तु होता है वैषयिक कुछ एक अनिर्धारित (या अस्पष्ट) प्रकार से ही, ऐसे संवटनात्मक सिद्धान्त के रूप में नहीं होता जो अपने अपरोक्ष विषय के संबंध में किसी बात को निर्धारित करने में सहायक हो, प्रत्युत केवल विनियामक सिद्धान्त और सूत्र (या गुर) के रूप में होता है जो बुद्धि के आनुभविक उपयोग (या विनियोग) को उन नये मार्गों को खोलने के द्वारा जिनको बोधवृत्ति नहीं जानती अनन्ततया (अनिर्धारिततया) अग्रसर और पुष्ट करने वाला है, परन्तु ऐसा करने में वह उसके आनुभविक विनियोग के नियमों का विरोध लेशमात्र भी कभी नहीं करता।

परन्तु बुद्धि इस व्यवस्थित एकता का विचार, इसके भाव को एक विषय प्रदान किये बिना नहीं कर सकती, पर ऐसा विषय किसी भी अनुभव के द्वारा दिया हुआ नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभव परिपूर्ण एकता का उदाहरण कभी नहीं देता। यह बुद्धिस्थित सत्त्व (ऐन्स् रातियोनिस् रातियोकिनाताए = चिन्तन से उत्पन्न बुद्धि स्थित सत्ता या वस्तु) निश्चय ही विशुद्ध भावमात्र है; अत: यह निरपेक्ष भाव से तथा अपने आप में एक यथार्थ वस्तु के रूप में नहीं माना जाता, प्रत्युत केवल संभवात्मक रूप में उपगृहीत होता है (क्योंकि हम बोधवृत्ति के किसी भी संबोध के द्वारा इस तक नहीं पहुँच सकते) और वह इसलिये कि जिससे हम ऐन्द्रिय जगत् के समस्त संयोगों (अथवा संबंधों) को इस रूप में देख सकें कि मानों वे अपना आधार इस प्रकार के

बुद्धि स्थित सत्त्व (या सत्ता) में रखते हों, और ऐसा करने में हमारा एकमात्र उद्देश्य इसके ऊपर उस सुव्यवस्थित एकता को आधारित करना है जो बुद्धि के लिये अपरिहार्य है, तथा जो बोधवृत्ति के द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान को प्रत्येक प्रकार से आगे बढ़ाने वाली होने के साथ ही साथ उसके लिये कदापि बाधक नहीं हो सकती।

यदि इस भाव को किसी ऐसी यथार्थ वस्तु के दावे अथवा केवल उपकल्पना (या आधारभूत मान्यता) के रूप में भी समझा जाए, जिसको जगत् की सुव्यवस्थित रचना (या संघटना) का आधार बनाना अभीष्ट हो, तो ऐसा समझने में इस भाव का अर्थ गलत लगाया गया; इसके विपरीत वह आधार (या आधारभूत हेतु) जो हमारे संबोधों की पकड़ से बचकर निकल जाता है स्वयं अपनी (आन्तरिक) संघटना में क्या हो सकता है इस बात को तो पूर्णतया अनिर्णीत ही छोड़ दिया जाना चाहिये, और भाव को केवल इस दृष्टि-विन्दु के रूप प्रस्थापित करना चाहिये, केवल जिससे वह एकता, जो कि बुद्धि के लिये इतनी सारवती, और बोधवृत्ति के लिये इतनी हितकारिणी है, आगे और अधिक विस्तीर्ण की जा सके; एक शब्द में (अर्थात् संक्षेप में) कहा जा सकता है कि यह अनुभवातीत वस्तु उस विनियामक सिद्धान्त की कल्पनाप्रसूत आकृतिमात्र है, जिसके द्वारा बुद्धि, यथाशक्ति, सुव्यविस्थित एकता को समस्त अनुभव क्षेत्र के ऊपर विस्तीर्ण किया करती है।

इस प्रकार के भाव का प्रथम विषय तो विचारक सत्ता या आत्मा के विशुद्ध रूप में, (अहं) मैं ही हूँ। यदि मैं उन विशेषताओं को खोजना चाहूँ जिनसे युक्त होकर कोई चिन्तनशील सत्त्व (या सत्ता) स्वतः स्वरूपतः विद्यमान रहता है, तो मुझको अनुभव से ही परिप्रश्न करना चाहिये, और समस्त बौद्धिक प्रकारों में मैं एक को भी इस विषय के प्रति तब तक प्रयुक्त नहीं कर सकता, जब तक स्वयं उस (बौद्धिक प्रकार) की आकृति ऐन्द्रिय प्रत्यक्षानुभव में न दी हो। परन्तु इसके द्वारा मैं अन्तरिन्द्रिय के समस्त अवभासों की एकता तक कदापि नहीं पहुँच सकता। इसलिये (आत्मा जो कुछ यथार्थ में है, उसके) आनुभविक संबोध के स्थान पर, जो हमको अधिक दूर तक नहीं ले जा सकता, बुद्धि समस्त विचार की आनुभविक एकता के संबोध को ग्रहण करती है, और क्योंकि वह इस एकता को अप्रतिबद्ध और मौलिक रूप में विचारती है अतः वह उससे एक बुद्धि के संबोध को निर्मित करती है, अर्थात् एक सरल अविमिश्रि द्रव्य के भाव को निर्मित करती है, जो अपने स्वरूप में अपरिवर्तनीय (व्यक्तितः एकमेवा-द्वितीय) रहते हुए, अपने से वाहर की वास्तविक वाह्य वस्तुओं के साथ साहचर्य में स्थित रहता है, एक शब्द में (संक्षेप में) एक सरल अविमिश्रित आत्मनिर्भर बुद्धि-मता के भाव का निर्माण करती है। पर ऐसा करने में उसकी दृष्टि के समक्ष, आत्मा

के अवभासों के स्पष्टीकरण में सुव्यविस्थत एकता के सिद्धान्तों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता, अर्थात् वह समस्त निर्धारणाओं को एकमात्र उद्देश्य या विषय में स्थित समस्त शक्तियों, जहाँ तक संभव हो, एक ही मूलाधारभूत शक्ति से व्युत्पादित, सब परिवर्तनों को, एक और अभिन्न स्थायी सत्ता (या सत्त्व) की अवस्थाओं से संबद्ध (जैसा) देखती है और देशगत समस्त अवभासों को विचार के व्यापारों से नितान्त पृथक् प्रत्युपस्थापित करती है। द्रव्य की वह सरलता (या अविमिश्रितता) इत्यादि इस विनियामक सिद्धान्त की केवल काल्पनिक आकृति (स्कीमा) होने के निमित्त निर्दिष्ट हैं न कि आत्मा की विष्टिताओं की वास्तविक आधारभूमि के रूप में अवधृत होने के लिये। क्योंकि यह तो ऐसे बिलकुल ही भिन्न आधारों पर आश्रित हो सकती हैं जिनके विषय में हम नाममात्र को भी कुछ नहीं जानते, जैसे कि हम आत्मा को (उस अवस्था में भी) स्वरूपत: वास्तव में इन उपर्युक्त अंगीकृत विधेयों के द्वारा नहीं जान सकते, जबकि हम उनको उसके संबंध में नितान्त प्रामाणिक भी क्यों न मानते हों, क्योंकि वे तो मात्र भाव को संघटित करते हैं, जो मूर्त रूप में बिलकुल भी प्रत्युपस्थापित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक (या आध्यात्मिक) भाव से लाभ के अतिरिक्त और कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता, बशर्ते कि केवल इस बात का ध्यान रखा जाएँ कि उसको केवल से अधिक न माना जाए, और इसलिये, उसको हमारे आत्मा के अवभासों को निर्धारित करने में बुद्धि के सुव्यविस्थित विनि-योग के संबंध की दृष्टि से प्रामाणिक माना जाए। क्योंकि तब, मूर्त अवभासों के कोई भी आनुभविक नियम, जो कि बिलकुल ही अन्य प्रकार के होते हैं उसकी व्याख्या (या स्पष्टीकरण) में टाँग नहीं अड़ाएँगे जिसका संबंध एकान्ततः अन्तरिन्द्रिय से है; आत्मा के जन्म, विनाश और पुनर्जन्म के संबंध में कोई भी हवाई उपकल्पनाएँ (अथवा अधिष्ठापनाएँ) नहीं मानी जाएँगी; इस प्रकार, अन्तरिद्रिय के इस विषय का विचार (या विवेचन) पूर्णतया शुद्ध रहेगा और इतर जातीय विशेषताओं के घालमेल से अछूता बना रहेगा; इसके अतिरिक्त, बुद्धि का अनुसंधान इस क्षेत्र में. स्पष्टीकरण के आधारों को जहाँ तक संभव होगा, घटा कर एक सिद्धान्त में सीमित करने की दिशा में प्रेरित किया जाएगा, जो (यह सब उपर्युक्त बातें) एक ऐसी (पूर्ववर्णित) कल्पित आकृति के द्वारा, (उसको यह मान कर ही) कि मानों वह वास्तविक सत्ता है सबसे अधिक अच्छे प्रकार से सम्पादित की जा सकेगी; इसी एकमात्र उपाय से ऐसा हो सकेगा (अन्य किसी किसी प्रकार से नहीं)। मनोवैज्ञानिक (या आध्यात्मिक) भाव किसी विनियामक संबोध की काल्पनिक आकृति के अतिरिक्त अन्य किसी आशय को सूचित भी नहीं कर सकता। क्योंकि, यदि मैं यह प्रश्नमात्र करना चाहूँ भी कि

आत्मा स्वरूपतः अपने आप में आध्यात्मिक स्वभाव वाला है या नहीं, तो इस प्रश्न कोई अर्थ ही नहीं होगा । क्योंकि,इस प्रकार के संबोध के द्वारा मैं केवल मूर्त भौतिक प्रकृति का ही अपर्षण नहीं, प्रत्युत समस्त प्रकृति सामान्य का ही अपकर्षण करता हूँ, अर्थात् किसी संभाव्य अनुभव के समस्त विधेयों से अपकर्षण करता हूँ, परिणामतः इस प्रकार के संबोध के लिये विषय का विचार करने के लिये अपेक्षित जो प्रतिबन्ध (या शर्तें) हैं उनसे भी अपकर्षण करता हूँ, और जैसा कहा जाता है, वह (अर्थात् संबोध) ऐसी स्थिति में ही (अर्थात् विषय से संबद्ध होने पर ही) सार्थक हो सकता हैं, अन्यथा कदापि नहीं ।

विशुद्ध चिन्तनात्मक बुद्धि का दूसरा विनियामक भाव विश्व सामान्य का संबोध है । क्योंकि वास्तव में प्रकृति (नाटुर, नेचर) ही केवल ऐसा दिया हुआ विषय है जिसके संबंध में बुद्धि को विनियामक सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है । यह प्रकृति दो प्रकार की होती है, या तो विचार करने वाली और या मूर्त (या सशरीर) । परन्तु इस दूसरी (मूर्त) प्रकार की प्रकृति के लिये उसकी आन्तरिक संभाव्यता का विचार करने के निमित्त, अर्थात् उसके प्रति बौद्धिक प्रकारों का प्रयोग निर्धारित करने के हेतु, हमको किसी भाव की, अर्थात् ऐसी प्रत्युपस्थापना की आवश्यकता (या अपेक्षा) नहीं जो अनुभव के पारगामिनी हो; और न इस संबंध में कोई भाव संभव ही है, क्योंकि इस मूर्त प्रकृति के प्रसंग में तो हमारा नेतृत्व केवल ऐन्द्रियानुभव के द्वारा किया जाता है, न कि जैसा कि मनोवैज्ञानिक आधारभूत संबोध (अहम्) के प्रसंग में होता है, जो प्रागनुभवात्मकतया अपने में एक निश्चित विचार के आकार, अर्थात् विचार की एकता को अन्तर्विष्ट रखता है । अतः शुद्ध बुद्धि के लिये प्रकृति सामान्य और प्रकृति में किसी सिद्धान्त के अनुसार प्रतिबन्धों की पूर्णता के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रहता । अपने अंगों के व्युत्पादन में इन प्रतिबन्धों की शृंखला की निरपेक्ष समग्रता एक ऐसा भाव है जो निश्चय ही बुद्धि के आनुभविक विनियोग में कदापि भी पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु फिर भी जो हमको यह बतलाने के लिये कि इस प्रकार की शृंखला के संबंध में किस प्रकार से व्यवहार किया जाए, एक नियम का काम देता है, अर्थात् जो यह बतलाता है कि अवभासों की व्याख्या में——चाहे तो वह व्याख्या प्रतीपगामी क्रम में हो अथवा पुरोगामी क्रम में——हमको उस शृंखला को ऐसा मान कर वर्ताव करना चाहिये कि मानों वह स्वतः अनन्त है, अर्थात् मानो वह अनन्ता-परिच्छेद्य है; परन्तु ऐसे स्थलों में जहाँ कि बुद्धि स्वयं एक निर्धारक कारणरूप मानी जाती है (जैसे कि स्वतंत्रता के क्षेत्र में,) अर्थात् व्यावहारिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में हमको इस प्रकार प्रवृत्त होना पड़ता है कि मानों हमारे समक्ष ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं

प्रत्युत शुद्ध बोधवृत्ति का विषय है, जहाँ (जिसमें) प्रतिबन्ध अवभासों की माला (या शृंखला) के भीतर नहीं प्रत्युत उसके बाहर स्थापित किये जा सकते हैं, और अवस्थाओं की मालिका को ऐसा माना जा सकता है कि मानों किसी बुद्धिग्राह्य कारण के द्वारा उसका एक निरतिशय निरपेक्ष आरंभ किया गया था,—जो सब यह सिद्ध करता है कि सृष्टिविद्या संबंधी भाव, केवल विनियामक सिद्धान्तों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, तथा संघटानात्मक सिद्धान्तों के समान, इस प्रकार की शृंखला की यथार्थ समग्रता को स्थापित करने से बहुत दूर हैं। इस विषय का शेष विवेचन उसके अपने स्थान पर, शुद्ध बुद्धि के (आन्तरिक) विरोध के अध्याय में पाया जा सकता है।

शुद्ध बुद्धि का तीसरा भाव, जो समस्त सृष्टि-रचना संबंधी शृंखलाओं के एकमेवाद्वितीय तथा सर्वथा-पर्याप्त कारण के रूप में किसी एक सत्त्व की सापेक्ष कल्पना को अपने में अन्तर्विष्ट रखता है, ईश्वर का बौद्धिक संबोध है। इस प्रकार के भाव के विषय को निरपेक्ष भाव से मान लेने के लिये (स्वरूपतः उसकी कल्पना करने के लिये) हमारे पास लेशमात्र भी आधार नहीं है, क्योंकि यदि इसका आधार जगत् न हो (कि जिसके संबंध में ही यह कल्पनामात्र अनिवार्य हो सकती है), तो अन्य कौन ऐसी वस्तु या आधार है जो हमको, सर्वोच्च परिपूर्णता से समन्वित और अपने स्वरूप से ही निरपेक्षतया अनिवार्य सत्ता में विश्वास करने अथवा उसका दावा करने के लिये समर्थ बना सके, अथवा यदि हम ऐसा करें तो हमारी पद्धति को न्यायोचित ठहरा सके ? और तब यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है : इस सत्त्व (या सत्ता) का यह भाव, समस्त चिन्तनात्मक भावों के समान, बुद्धि के आदेश को पूरा करने के अतिरिक्त और आगे कुछ भी नहीं कहना चाहता, तथा जो आदेश है जगत् समस्त संयोगों (या सबधों) को सुव्यवस्थित एकता के सिद्धान्त के अनुसार देखना, परिणामतः इस प्रकार देखना मानों ये सब के सब संबंध परम और सर्वथा-पर्याप्त कारण के रूप में एकमेवाद्वितीय सर्वग्राही सत्ता (या सत्त्व) से उत्पन्न हुए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस सब में बुद्धि का उद्देश्य अपने आनुभविक विनियोग को विस्तीर्ण करने में अपने औपचारिक नियम (को नियत) करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, किन्तु अनुभवात्मक विनियोग की समस्त सीमाओं (या मर्यादाओं) के परे विस्तार तो कदापि नहीं हो सकता ; परिणामतः इस भाव में, संभाव्य अनुभव के प्रति प्रयुक्त उसके विनियोग का कोई संघटनात्मक (या विधायक) सिद्धान्त प्रच्छन्न नहीं होता।

यह सर्वोच्च औपचारिक एकता जो केवल बुद्धि के संबोध के ऊपर आधारित है, वस्तुओं की सोद्देश्य (या उद्देश्यात्मक) एकता है, और बुद्धि की चिन्तनात्मक अभि-

रुचि जगत् के दिखलाई देने वाली समस्त क्रम व्यवस्था को इस प्रकार देखना अनिवार्य बना देती है कि मानों वह परम बुद्धि के लक्ष्य में से उत्पन्न हुई हो। इस प्रकार का सिद्धान्त, अनुभव के क्षेत्र में प्रयुक्त हमारी बुद्धि के लिये इस निमित्त नवीन दृष्टियों को उद्घाटित करता है कि जगत् की वस्तुएँ (अथवा पदार्थ) किस प्रकार उद्देश्यात्मक नियमों के अनुसार संयोजित या संवद्ध की जा सकती हैं, और इस प्रकार बुद्धि को उनकी अधिक से अधिक सुव्यवस्थित एकता तक पहुँचने के योग्य बना देता है। जगत् के एकमात्र और अकेले कारण के रूप में सर्वोच्च बुद्धिमत्ता की अभिधारणा, फिर चाहे वह भावरूप में ही क्यों न हो, इस प्रकार सर्वदा बुद्धि के लिये उपयोगी या लाभकर ही हो सकती है, और उसको कदापि हानि नहीं कर सकती। क्योंकि यदि पृथ्वी की आकृति के संवंध में (जो गोल किन्तु थोड़ी चपटी है)[कां.] तथा पर्वतों, समुद्रों इत्यादि की आकृति के संबंध में किसी रचियता के केवल बुद्धिमत्तापूर्ण उद्देश्य को पूर्वतः स्वीकार करके चलें तो हम इस प्रकार से बहुत से आविष्कार करने में समर्थ हो सकते हैं। यदि हम अपने को इस मान्यता के विनियामक सिद्धान्त के रूप में उपयोग तक सीमित रखें तो भ्रान्ति (या गलती) से हमको अधिक हानि नहीं पहुँच सकती। क्योंकि किसी भी दशा में इससे उत्पन्न होने वाली हानि इससे आगे बिलकुल नहीं जा सकती कि जहाँ हम सोद्देश्य संयोग (या नैक्सुस् फिनालिस्) की आशा करते हों वहाँ विशुद्ध यांत्रिक अथवा भौतिक की सम्प्राप्ति हो, जिससे हम, ऐसी अवस्था में, केवलमात्र अतिरिक्त एकता को नहीं प्राप्त करते, किन्तु फिर भी आनुभविक विनियोग में जो बुद्धि की एकता है उसको तो विनष्ट नहीं करते। परन्तु यह निराशाजनक असफलता भी इस नियम को इसके साधारण और सोद्देश्य लक्ष्य पर सामान्यरूपेण कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। क्योंकि यद्यपि, जब कोई अंगविज्ञानवेत्ता किसी जीव के शरीर के किसी अंग का संबंध ऐसे उद्देश्य से जोड़े, जिसके संबंध में यह स्पष्टतया दिखलाया जा सके उससे इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती, तो

कां. पृथ्वी की गेंद की सी आकृति से जो लाभ (या सुविधा) है वह सुविदित है, पर इस बात का पता बहुत कम लोगों को है इसका गोलाभीय चपटापन ही इस बात में बाधक है कि महाद्वीपों के उभार अथवा छोटे छोटे पर्वत भी जो स्यात् भूकम्पों के कारण उत्पन्न हुए हैं पृथ्वी की धुरी के स्थान को लगातार और सचमुच ही अपेक्षाकृत थोड़े से ही समय में उपागण्य प्रकार से नहीं बदल पाते; भूमध्य रेखा पर जो पृथ्वी की प्रोन्नति है वह इतनी विशाल पर्वत जैसी है कि अन्य सब पर्वतों का संवेग मिलकर भी पृथ्वी के अक्ष के स्थान को बदलने में कोई निरीक्षणीय प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता। और फिर भी इस बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवस्था को, बिना सोचे विचारे, पृथ्वी के पूर्वकालीन तरल भार के सन्तुलन के द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

उस पर गलती करने का दोष लगाया जा सकता है, तथापि किसी अवस्था में यह सिद्ध करना नितान्त असंभव है कि प्रकृति की कोई व्यवस्था, चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, कतई कोई उद्देश्य रखती ही नहीं। इसलिये भैषजिक अंगव्यापारविद्या भी अपने जीवांग के उद्देश्यों के अत्यन्त सीमित (या मर्यादित) अनुभव-ज्ञान को, एक ऐसे सिद्धान्त के द्वारा विस्तीर्ण करती है जिसको केवल शुद्ध बुद्धि ने अनुप्राणित (या प्रस्तुत) किया है, और इतनी दूर तक ले जाती है कि इस बात को पूरे साहस और साथ ही साथ सब समझदार व्यक्तियों की सहमति से माना जा सकता है कि प्राणि-मात्र के शरीर में (जो अंग है) सब का अपना अपना प्रयोजन और अच्छाई होती है; यह ऐसी मान्यता है कि यदि इसको संघटनात्मक (या विधायक) समझा जाए तो, यह उस मर्यादा से, (जिसको निरीक्षण अब तक हमारे प्रति उचित ठहरा सका है) बहुत दूर आगे निकल जाती है, जिस तथ्य से यह शिक्षा मिलती है कि यह (मान्यता) बुद्धि के विनियामक सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इसका उद्देश्य संसार के परमकारण की सोद्देश्य कारणता के भाव के द्वारा सर्वोच्च संभाव्य सुव्यवस्थित एकता तक पहुँचना है, और इस परमकारण को यह मान्यता इस दृष्टि से देखती है कि मानों, परमबुद्धिमत्ता के रूप में, परमबुद्धिमत्तापूर्ण उद्देश्य के अनुसार सर्वस्व का (वास्तविक) कारण हो।

पर यदि हम भाव के केवल विनियामक विनियोग के इस आयंत्रण (या बंधन) को छोड़ देते हैं तो बुद्धि अनेकों प्रकार से गलत मार्गों में भटक जाती है, क्योंकि इस अवस्था में वह अनुभव की उस (ठोस) भूमि को त्याग देती है, (जिसमें उसके चलने के मार्ग के चिह्न अन्तर्विष्ट होने चाहिये), और उसके परे अनधिगम्य और अनन्वेषणीय की ओर उड़ान भरती है और चकरा देने वाली ऊँचाइयों पर पहुँच कर अपने को अनुभव से मेल खाने वाले अपने व्यापार से पूर्णतया पृथक् और विच्छिन्न हुआ पाती है।

जब परमसत्ता के भाव को केवल विनियामक रूप में नहीं प्रत्युत (मात्र के स्वरूप के विरुद्ध) संघटनात्मक रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो इससे जो प्रथम भ्रान्ति या गलती उत्पन्न होती है वह बुद्धि का आलस्य है। [कां.] प्रत्येक ऐसे सिद्धान्त

कां. प्राचीन काल के नैयायिकों ने यह नाम एक कूटतार्किक युक्ति को दिया था जो इस प्रकार व्यक्त की जाती है :—यदि यह तेरे भाग्य में वदा है कि तू इस रोग से मुक्त हो जाएगा, तो तू नीरोग हो ही जाएगा, चाहे तू भिषक् को लगाए या न लगाए। सिसरो का कहना है कि युक्ति के इस प्रकार की तर्क पद्धति को यह नाम (अर्थात बुद्धि का आलस्य) इसलिये मिला, क्योंकि यदि इसका अनुसरण किया जाए तो जीवन में बुद्धि के लिये कोई उपयोग ही अवशिष्ट

को, जो हमारे प्रकृति संबंधी अनुसंधान को, चाहे वह किसी भी क्षेत्र या विषय में क्यों न हो, निरतिशयपूर्ण हुआ मानता है, और बुद्धि को इस प्रकार आराम करने को कहता है कि मानों उसका कार्य पूर्णतया सम्पादित हो चुका हो, यह नाम दिया जा सकता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक (अथवा आध्यात्मिक) भाव उस समय, जबकि वह हमारे आत्मा के अवभासों को स्पष्ट करने के लिये, और उसके पश्चात् हमारे आत्मा के ज्ञान को अनुभव की सीमा के परे तक विस्तीर्ण करने के लिये (अर्थात् उसकी मृत्यु के परे की अवस्था तक विस्तीर्ण करने के लिये) एक संघटनात्मक सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त होता है, तो वह बुद्धि के कार्य को अत्यन्त सरल कर देता है, परन्तु इसके साथ ही साथ अनुभव के नेतृत्व के अनुसार बुद्धि के स्वाभाविक विनियोग को पूर्णतया विनष्ट और विध्वस्त (धराशायी) कर देता है। अयौक्तिक अध्यात्मवादी, समस्त अवस्थाओं के परिवर्तनों में अपरिवर्तनीय रूप में स्थायी बनी रहने वाली व्यक्ति की एकता की व्याख्या विचार करने वाले पदार्थ (या द्रव्य) की एकता से किया करता है, जिसका सीधा प्रत्यक्ष, उसके विश्वास के अनुसार, उसको "अहम्" (मैं) में होती है, अथवा, जो कुछ सबसे पहले केवल मृत्यु के पश्चात् घटित हो सकता है उसमें जो हमारी अभिरुचि होती है, उसकी व्याख्या वह विचारवान् विषयी के अभौतिक स्वरूप की हमारी चेतना के द्वारा किया करता और इसी प्रकार आगे भी ऐसा ही करता है; और (इस प्रकार) वह हमारे इन आन्तरिक अवभासों की भौतिक व्याख्या के आधारों के द्वारा समस्त प्राकृतिक खोज से ही अपना छुटकारा कर लेता है, क्योंकि वह तो मानों अनुभवातीत बुद्धि (या विवेक) निर्देशवाक्य के द्वारा, अनुभव के भीतर स्थित ज्ञान के उद्गमों को दरगुजर (उपेक्षित) कर जाता है, जो (पद्धति) उसके लिये तो अत्यन्त सुविधाजनक हो सकती है, परन्तु जो समस्त अन्तर्दृष्टि के अत्यन्त हानिकर है। यह हानिकारक परिणाम हमारे सर्वोच्च बुद्धिमत्ता के भाव के, अयौक्तिकवाद में और उस पर वितथतया आधारित धार्मिक प्रकृति-विधान (भौतिक-धर्म विज्ञान) में और भी अधिक स्पष्ता के साथ दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि, इस क्षेत्र में, प्रकृति में स्वयं दिखलाई पड़ने वाले लक्ष्य (या प्रयोजन) उन लक्ष्यों के सहित जो प्रायः हमारे द्वारा (कल्पना में) उनके साथ जोड़ दिये हैं, तब हमारे लिये कारणों के अनुसंधान को अत्यन्त सरल काम बना देते हैं, यदि हम उनको भौतिक प्रकृति की यांत्रिकता के सामान्य नियमों में खोजने के स्थान पर, उनके

नहीं रहेगा। यही कारण है कि मैं (कांट) शुद्ध बुद्धि के कूटतर्क को भी इसी नाम से अभिहित करता हूँ।

लिये सीधे परम बुद्धिमत्ता के अन्वेषणीय निर्णय की दुहाई देते हैं, और बुद्धि के कार्य को पूर्ण हुआ मान लेते हैं, जबकि (वास्तविकता में) उसके उपयोग से छुटकारा पाया गया है—जो (उपयोग) उस स्थान को छोड़कर कहीं भी अन्यत्र मार्ग-दर्शन नहीं पा सकता, जहाँ कि प्रकृति की क्रम-व्यवस्था और उसके परिवर्तनों की शृंखला अपने आन्तरिक और सर्वव्यापी (या सार्वत्रिक) नियमों के अनुसार उस (पथ-प्रदर्शन) को हमें प्रदान न करें। यदि हम प्रकृति के केवल कतिपय भागों को ही, जैसे उदाहरण के लिये, भूभागों का वितरण, उनका विन्यास, पर्वतों की संघटना और अवस्थिति, अथवा केवल वनस्पति और पशु जगत् का संघटन ही क्यों न हो, उद्देश्य (या लक्ष्य) के दृष्टि-बिन्दु से न देखें, प्रत्युत प्रकृति की इस व्यवस्थित एकता को (एक) उच्चतम बुद्धिमत्ता के संबंध में बिलकुल सर्वव्यापी मानें (या बना दें), तब तो हम प्रकृति को विश्वव्यापी नियमों के अनुसार सोद्देश्यता पर, आश्रित मानते हैं, जिनसे कोई भी विशिष्ट क्रम विन्यास युक्त नहीं है, चाहे इस तथ्य को किसी विशिष्ट प्रसंग में स्थापित करना हमारे लिये कितना ही कठिन क्यों न हो; और सोद्देश्य सन्निबंधन की व्यवस्थित एकता के एक ऐसे विनियामक नियम को पाते हैं जिसको हम पूर्वतः निर्धारित तो नहीं करते परन्तु उसी की प्रत्याशा में सामान्य नियम के अनुसार भौतिक-यांत्रिक सन्नि-बंधन के अनुसरण करने की हिम्मत कर सकते हैं। क्योंकि, सोद्देश्य एकता का नियम केवल इसी प्रकार से अनुभव के संबंध में बुद्धि के विनियोग को, उसके प्रति बाधक हुए बिना, सर्वदा विस्तीर्ण कर सकता है।

व्यवस्थित एकता के सिद्धान्त के मिथ्याग्रहण से दूसरी गलती जो उत्पन्न हो सकती है वह स्थानभ्रष्ट बुद्धि की गलती है। सुव्यवस्थित एकता का भाव, विनियामक सिद्धान्त के रूप में विश्वव्यापी प्राकृतिक नियमों के अनुसार उस (एकता) को वस्तुओं के पारस्परिक संयोजनों (या सन्निबंधनों) में खोजने के लिये निर्दिष्ट है (अथवा प्रयुक्त होना चाहिये), और यह विश्वास किया जाना चाहिये कि इस सिद्धान्त के उपयोग में उतनी मात्रा में ही पूर्णता के समीप पहुँचा जा चुका है, जिस मात्रा में इस (एकता) को अनुभवात्मक ढंग से सम्प्राप्त किया जा सकता है,—जो ऐसी पूर्णता है जिसको निश्चय ही कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके स्थान पर उलटी पद्धति को अंगीकार किया जाता है, सोद्देश्य एकता के सिद्धान्त की यथार्थता स्वतंत्र सत्तावान वस्तु के रूप में पूर्वतः आधार रूप में स्वीकार कर ली जाती है, इस प्रकार की सर्वोच्च बुद्धिमत्ता के संबोध को (क्योंकि वह स्वरूपतः दुर्ज्ञेय है), मानवाकृति-रूप में निर्धा-रित किया जाता है, और तब उद्देश्यों को, अधिक विवेकपूर्ण ढंग से भौतिक अनुसंधान की पद्धति से खोजने के स्थान पर, बलात्कारपूर्वक तानाशाही ढंग से प्रकृति के ऊपर

आरोपित कर दिया जाता है; परिणामतः उद्देश्यवाद (टीलियोलोजी) जो केवल प्राकृतिक एकता को सर्वव्यापी सामान्य नियमों के अनुसार पूरा करने में काम आने के लिये उद्दिष्ट है, न केवल उस एकता को मिटाने के लिये काम करता है, प्रत्युत बुद्धि को भी, अपने अंगीकृत लक्ष्य से, अर्थात् प्रकृति (की सहायता) से इन (विश्व-व्यापी) नियमों के अनुसार परम बुद्धिमान कारण के अस्तित्व को सिद्ध करने से रोकता है। क्योंकि यदि, सर्वोच्च सोद्देश्यता को प्रकृति में प्रागनुभवात्मकतया, अर्थात् उसके सारस्वरूप से संबद्ध पूर्वतः नहीं माना जा सकता, तब किसी से उस (एकता) को खोजन की और शनैः शनैः उसके श्रेणी-क्रम पर आरोहण करते हुए विश्व स्रष्टा की सर्वोच्च पूर्णता के--उस पूर्णता के जो नितान्त अनिवार्य होने के कारण प्रागनु-भवात्मकता ज्ञेय पूर्णता है--समीपतम पहुँचने की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ? विनियामक सिद्धान्त यह माँग करता है, कि प्रकृति की एकता के रूप में सुव्यवस्थित एकता, जो कि अनुभवात्मक रूप में नहीं प्रत्युत प्रागनुभवात्मकतया जानी जाती है (यद्यपि जानी जाती है अनिर्धारित रूप में ही) निरपेक्ष भाव से पूर्वतः मान ली जाए और परिणामतः वस्तुओं के मूलसार से अनुमित समझी जाए। परन्तु यदि मैं आरंभ से ही एक उच्चतम विधायक सत्ता को सर्वाधार मान कर चलूँ तो, वास्तव में प्रकृति की एकता का तो परित्याग कर देना पड़ता है। क्योंकि तब तो वह वस्तुओं के स्वभाव से बिलकुल बाह्य और यादृच्छिक हो जाती है, और स्वयं अपने ही सर्वव्यापी नियमों से भी जानने के योग्य नहीं रहती। इस प्रकार उपपत्ति में एक दुष्ट युक्तिचक्र उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि उसी बात को (स्वयंसिद्ध) मान कर चला जा रहा है, जिसको वास्तव में सिद्ध किया जाना चाहिये।

प्रकृति की सुव्यवस्थित एकता के विनियामक सिद्धान्त को संघटनात्मक सिद्धान्त मान लेना, तथा जो केवल भावरूप में बुद्धि के संगत विनियोग का आधार होता है, उसको पहले से ही स्वतंत्र-सत्ताक वस्तु के रूप में कारण मान लेना, केवल बुद्धि या विवेक का विप्लव है। प्रकृति का अनुसंधान, प्राकृतिक कारणों की शृंखला में उनके सर्वव्यापी नियमों के अनुसार अपने मार्ग पर अकेला स्वतंत्र रूप से चला करता है, और चला करता है निश्चय ही सृष्टिकर्ता के भाव (आइडिया) के अनुसार, परन्तु उस (सृष्टिकर्त्ता) के भाव से वह उस सोद्देश्यता को व्युत्पादित करने के लिये ऐसा नहीं करता, जिसको वह सर्वत्र खोजता है, प्रत्युत उस स्रष्टा के अस्तित्व को इस सोद्दे-श्यता से (जो कि प्रकृति की वस्तुओं के सार में और यथाशक्य सर्व वस्तु सामान्य के सार में भी खोजी जाती है, अतः) निरपेक्षतया अनिवार्य रूप में जानने के लिये ऐसा करता है। उसका यह उद्योग चाहे सफल हो या न हो, पर यह भाव स्वयं सर्वदा सत्य

बना रहता है और यही बात इसके विनियोग के विषय में भी कही जा सकती है, बशर्ते कि उसको केवल विनियामक सिद्धान्त के प्रतिबन्धों की सीमा में सीमित रक्खा जाए। उद्देश्यों में अनुभूत, पूर्ण एकता निरपेक्ष पूर्णता है।

यदि हम इस एकता को उन वस्तुओं के सार- (तत्व) में नहीं पाते, जो हमारे अनुभव के समस्त विषय को संघटित करती है अर्थात् हमारे समस्त वैषयिकतया प्रामाणिक ज्ञान का विषय है और इसलिये उसको प्रकृति के सर्वव्यापी और अनिवार्य नियमों में नहीं पाते तो हम इस एकता से सीधे एक आद्यसत्ता की सर्वोच्च और नितान्त अनिवार्य पूर्णता के भाव का अनुमान किस प्रकार कर सकते हैं, जो (भाव) समस्त का कारण-भाव का मूल उद्गम है ? अधिक से अधिक सुव्यवस्थित एकता, परिणामतः सोद्देश्य एकता भी, मानवीय बुद्धि के विनियोग का शिक्षणालय है और वास्तव में इसके अधिक से अधिक उपयोग की संभाव्यता की नींव (या बुनियाद) ही है। इसलिये इस प्रकार की एकता का भाव हमारी बुद्धि (या विवेक) के सारस्वरूप के साथ अविच्छेद्यतया संबद्ध है। इस हेतु यही भाव हमारे लिये नियम या विधि का निर्माण करने वाला भी है; और इसलिये उसके समनुरूप (अथवा उससे मेल खाने वाले) नियम निर्माण करने वाले विवेक को मानना भी अत्यन्त स्वाभाविक है जिससे हमारी बुद्धि के विषय के रूप में प्रकृति की समस्त सुव्यवस्थित एकता व्युत्पादित की जाती है।

शुद्ध बुद्धि के आन्तरिक विरोध के विवेचन के अवसर पर हमने कहा था कि वे सब प्रश्न जिनको शुद्ध बुद्धि उठाती है, निर्विशेषतया उत्तर देने के योग्य होने चाहियें, तथा हमारे ज्ञान की सीमा (या मर्यादा) का बहाना, जो प्रकृति-संबंधी बहुत प्रश्नों के प्रसंग में उतना ही अपरिहार्य है जितना कि समुपयुक्त है, प्रस्तुत प्रसंग में अनुज्ञेय नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ हमारे समक्ष जो प्रश्न प्रस्तुत किये जा रहे हैं वे वस्तुओं के स्वरूप के संबंध में नहीं हैं, प्रत्युत वे तो ऐसे प्रश्न हैं जो बुद्धि के ही स्वरूप से उत्पन्न होते हैं तथा जिनका वास्ता केवलमात्र उसकी आन्तरिक संघटना से है। अब (यहाँ पर) हम ऐसी स्थिति में हैं कि इस दावे को—जो प्रथम दृष्टिपात के समय उतावलीपूर्ण प्रतीत हुआ होगा—उन दो प्रश्नों के संबंध में, जिनके विषय में शुद्ध बुद्धि को सब से अधिक अभिरुचि है, सम्पुष्टि करें, और उसके द्वारा शुद्ध बुद्धि की आन्वीक्षिकी के विवेचन को सामग्र्येण पूर्णता को पहुँचा दें।

यदि (अनुभवातीत देवविद्या [कां.] के संबंध में) प्रथम यह प्रश्न पूछा जाए कि

कां. बुद्धि के केवल विनियामक विनियोग के सिद्धान्त के रूप में मनोवैज्ञानिक भाव और उसके असली भागधेय के संबंध में मैं जो कुछ कह चुका हूँ, उसके पश्चात् मुझे उस अनु-

क्या संसार से पृथक् किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व है जो अपने में संसार में पाई जाने वाली क्रमव्यवस्था और सर्वव्यापक नियमों के अनुसार उसके सन्निबंधन के आधार को अन्तर्विष्ट रखती है तो इसका उत्तर है कि निस्सन्देह इस प्रकार की वस्तु का अस्तित्व है। क्योंकि संसार अवभासों का योग है, अतः कोई न कोई उसका अनुभवातीत, अर्थात् केवल शुद्ध बुद्धि द्वारा विचारणीय आधार होना चाहिये। यदि दूसरा प्रश्न यह हो कि क्या यह सत्ता (या सत्त्व) द्रव्य है, अधिक से अधिक यथार्थता से युक्त है, अनिवार्य है, इत्यादि, इत्यादि ? तो मेरा उत्तर यह है कि इस प्रश्न का कुछ अर्थ या आशय ही नहीं है। क्योंकि वे सब बौद्धिक प्रकार, जिनके द्वारा मैं एक ऐसे विषय के संबोध का निर्माण करने का प्रयत्न करता हूँ, केवल आनुभविक विनियोग के अतिरिक्त अन्य किसी काम के नहीं हैं, और जब वे संभाव्य अनुभव के विषयों के प्रति अर्थात् एन्द्रिय जगत् के प्रति प्रयुक्त नहीं होते तो उनका कुछ भी अर्थ नहीं होता। उस क्षेत्र के बाहर वे केवल संबोधों के शीर्षकमात्र हैं, जिनको स्वीकार तो किया जा सकता है, पर जिनके द्वारा हम कुछ भी नहीं समझ सकते। अन्त में यदि तीसरा प्रश्न यह पूछा जाए कि क्या हम संसार से पृथक् वस्तु या सत्ता का कम से कम अनुभव के विषयों के सादृश्य के अनुसार विचार करने का साहस नहीं कर सकते ? तो इसका उत्तर यह है कि हम निश्चयमेव ऐसा कर सकते हैं परन्तु केवल भावगत विषय के रूप में, न कि वास्तविक विषय के रूप में, अर्थात् केवल वहाँ तक इसका विचार कर सकते हैं जहाँ तक वह हमारे लिये विश्वविधान सुव्यवस्थित एकता, व्यवस्था और सोद्दृश्यता का अज्ञात अधिष्ठान-मात्र रहता है, जिसको बुद्धि को अपने प्रकृति विषयक अनुसंधान का विनियामक सिद्धान्त बनाना पड़ता है। इतना ही नहीं, इसके आगे भी, हम इस भाव में, निर्भीकता और अनिन्दनीयता के साथ, कतिपय ऐसे मानवता के आरोपों को भी प्रविष्ट कर सकते हैं जो उपर्युक्त विनियामक सिद्धान्त के लिये अनुकूल हैं। क्योंकि यह सर्वदा एक भावमात्र ही रहता है, जो जगत् से पृथक् सत्ता (या सत्त्व के साथ) अपरोक्षतया संबद्ध नहीं होता, प्रत्युत संसार की सुव्यवस्थित एकता के विनियामक सिद्धान्त के साथ संबद्ध होता है, किन्तु वह भी इस एकता की कल्पित आकृति के माध्यम से अर्थात् उच्चतम बुद्धिमत्ता की कल्पित आकृति के माध्यम से, जो कि बुद्धिमत्तापूर्ण लक्ष्यों

भवातीत भ्रान्ति के विषय में अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है, जिसके अनुसार अन्तरिन्द्रिय के समग्र नानात्व की सुव्यवस्थित एकता स्वतंत्र सत्तावाली वस्तु के रूप में प्रस्थापित की जाती है। यहाँ की प्रक्रिया बहुत कुछ उसके सदृश है जिसका विवेचन हमारी धर्मविज्ञान (या देवविज्ञान) की मीमांसा में किया जा रहा है।

की दृष्टि से जगत् की कर्त्ता है। विश्व की एकता का यह आद्याधार स्वयं अपने स्वरूप में क्या हो सकता है, यह इसके द्वारा निश्चय नहीं किया जाने वाला है, प्रत्युत यह निश्चय किया जाना है कि हम उसको, अथवा इससे भी अधिक उसके भाव को, संसार की वस्तुओं के संबंध में, बुद्धि के सुव्यवस्थित विनियोग के प्रति किस प्रकार प्रयुक्त करें।

पर क्या हम इस प्रकार से (या इस आधार पर) संसार के बुद्धिमान और सर्वशक्तिमान स्रष्टा को मान सकते हैं ? (इस प्रश्न के उत्तर में हम कहते हैं कि) बिना किसी भी सन्देह के हम ऐसा कर सकते हैं; और केवल इतना ही नहीं, कि हम ऐसा कर सकते हैं, प्रत्युत हमको अवश्य ही ऐसा करना चाहिये। परन्तु क्या तब हम अपने ज्ञान को अनुभव के संभाव्य क्षेत्र से परे विस्तीर्ण करते हैं ? निश्चय ही किसी प्रकार नहीं। क्योंकि हमने तो केवल एक अनुभवातीत विषय के रूप में किसी एक ऐसी वस्तु को पूर्वकल्पित कर लिया है, जिसका अपना निजी स्वरूप क्या है इस विषय में हमको कोई संबोध प्राप्त नहीं है, परन्तु हमने इस अज्ञात सत्त्व (या सत्ता) का विचार बुद्धिमत्ता के (जो कि एक अनुभवगत या दृष्ट संबोध है) सादृश्य के आधार पर, विश्व की उस सुव्यवस्थित और सोद्देश्य क्रम व्यवस्था के संबंध में किया है, जिसको प्रकृति का अध्ययन करते समय हमको अवश्यमेव पहले से ही मानकर चलना चाहिये, अर्थात् हमने उसको उस उद्देश्य और पूर्णता को दृष्टि में रखते हुए जो उस पर आधारित होने हैं, ठीक उन विशिष्टताओं से समन्वित कर दिया है, जो हमारी बुद्धि के प्रतिबन्धों के अनुसार इस प्रकार की सुव्यवस्थित एकता के आधार को अपने में धारण कर सकती हैं। इसलिये यह भाव संसार के संबंध में हमारी बुद्धि के विनियोग की दृष्टि से ही प्रामाणिक है (अथवा पूर्णतया आधारित है)। पर यदि हम इस पर आत्यन्तिक और वैषयिक प्रामाणिकता को आरोपित करना चाहेंगे, तो इस तथ्य को भूल रहे होंगे कि हम जिसका विचार कर रहे हैं वह केवल एक भावगत सत्ता (या सत्त्व)है, और तब, क्योंकि हम अपनी प्रवृत्ति का आरंभ एक ऐसे आधार से कर रहे होंगे जो संसार के निरीक्षण से बिलकुल भी निर्वार्य नहीं है, इस कारण हम इस सिद्धान्त को बुद्धि के आनुभविक विनियोग के लिये समुचित प्रकार से प्रयुक्त करने में समर्थ नहीं होंगे।

पर इसके आगे भी यह पूछा जाएगा कि क्या मैं संसार के विवेकपरक विमर्श में परमसत्ता की इस पूर्वकल्पना और संबोध का इस प्रकार से विनियोग कर सकता हूँ ? हाँ (आप ऐसा कर सकते हैं) क्योंकि वास्तव में इसी प्रयोजन की दृष्टि से तो बुद्धि ने इस भाव का आश्रय लिया था। पर तब क्या मैं सोद्देश्य जैसे प्रतीत होने वाले

विधानों को उद्देश्य-रूप मान सकता हूँ और इसलिये उनको दैवी इच्छा से व्युत्पादित कर सकता हूँ, (फिर चाहे मैं ऐसा निश्चय ही उसी दिव्य इच्छा की प्रवृत्ति के निमित्त ही संसार में स्थापित अन्य विशिष्ट विधानों के माध्यम से क्यों न करूँ) हाँ, तुम ऐसा भी कर सकते हो बशर्ते कि, यदि कोई यह कहे कि दैवी बुद्धिमत्ता ने अपने सर्वोच्च उद्देश्यों के अनुसार इस प्रकार व्यवस्थित किया है, अथवा यह कहे, कि परम बुद्धिमत्ता का भाव प्रकृति के अनुसंधान में विनियामक सिद्धान्त है, तथा सर्वव्यापी नियमों के अनुसार उसकी सुव्यवस्थित और सोद्देश्य एकता का सिद्धान्त है, वहाँ या उन प्रसंगों में भी जहाँ हम उस (एकता) को प्रत्यक्ष नहीं कर पाते, तो दोनों ही कथन तुम्हारे लिए निर्विशेषतया एक समान हों, अथवा दूसरे शब्दों में, जब तुम इस एकता को दखो तो तुम्हारे लिये यह कहना कि ईश्वर ने अपनी बुद्धिमत्ता से ऐसी इच्छा की है ऐसा हो, अथवा यह कहना कि प्रकृति ने बुद्धिमत्तापूर्वक इस प्रकार की व्यवस्था की है, पूर्णतया एक समान होना चाहिये। क्योंकि वह अधिकतम सुव्यवस्थित और सोद्देश्य एकता जिसकी माँग तुम्हारी बुद्धि ने प्रकृति के समस्त अनुसंधान के विनियामक सिद्धान्त के रूप में आधार मानकर की थी, वही ऐसी वस्तु थी जिसने उस विनियामक सिद्धान्त की कल्पित आकृति के रूप में तुम्हारे किसी परम बुद्धिमत्ता के भाव को आधार रूप में स्थापित करने का औचित्य प्रदर्शित किया था, इसलिये अब, तुम संसार में जितनी ही अधिक सोद्देश्यता देख पाओगे, उतना ही अधिक सम्पोषण तुम्हारे भाव की समुपयुक्तता को प्राप्त होगा; पर क्योंकि उस उपर्युक्त सिद्धान्त का लक्ष्य प्रकृति की अनिवार्य और अधिकतम एकता खोजने को छोड़ कर अन्य कुछ नहीं था, अतएव हम जहाँ तक उस एकता को प्राप्त कर सकेंग, वहाँ तक निश्चय ही उसके लिये सर्वोच्च सत्ता के भाव के ही आभारी होंगे, परन्तु हम प्रकृति के उन सामान्य नियमों की उपेक्षा (जिनके उद्देश्य से ही उस भाव को आधार बनाया गया था), उसके उद्गम की दृष्टि प्रकृति की इस सोद्देश्यता को संभाव्य (औपाधिक) और अति-प्राकृतिक मानने के निमित्त, स्वयं अपना ही विरोध किये बिना नहीं कर सकते, क्योंकि हमारे लिये प्रकृति के परे, उपर्युक्त विशिष्टताओं से युक्त किसी सत्ता को मानना न्यायोचित नहीं था, प्रत्युत कार्य-कारण भाव की निर्धारणा के सादृश्य के अनुसार अवभासों को परस्पर सुव्यवस्थित रूप से सुसंबद्ध मानने के लिये केवल ऐसी सत्ता के भावमात्र को अंगीकार करना उचित था।

इसी कारण जगत् के आद्यकारण का विचार करने में हम उसको भाव में न केवल एक सूक्ष्म मानवाकृतिवाद के अनुसार (जिसके बिना उसके विषय में बिलकुल भी नहीं सोचा जा सकेगा) उसको प्रस्तुत करने में, अर्थात् एक सत्त्व (या सत्ता)

के रूप में प्रत्युपस्थापित करने में जो सूझ बूझ, प्रसन्नता, अप्रसन्नता और इनके अनुरूप इच्छाओं और संकल्पों से युक्त है, न्यायसंगत सिद्ध होंगे, प्रत्युत उसको एक ऐसी अपरिमित पूर्णता से समन्वित करने में भी न्यायसंगत सिद्ध होंगे, जो इस (अनन्तता के) कारण उस किसी भी पूर्णता से बहुत दूर परे की वस्तु है, जिससे, सांसारिक व्यवस्था के आनुभविक ज्ञान के द्वारा हम उसको समन्वित करने में न्यायसंगत ठहरते क्योंकि सुव्यवस्थित एकता का विनियामक नियम यह माँग करता है कि हम को प्रकृति का अनुशीलन इस प्रकार करना चाहिये कि मानों उस (प्रकृति) में अधिक से अधिक संभाव्य विविधता के साथ ही साथ सुव्यवस्थित और सोद्देश्य एकता भी सर्वत्र अनन्ततया उपलब्ध होती है। क्योंकि, यद्यपि हम इस विश्व की पूर्णता को केवल बहुत थोड़ा सा उद्घाटित अथवा प्राप्त कर पाते हैं, तथापि हमारी बुद्धि के विधान की यह माँग है कि हम सर्वदा उसकी खोज करें और संभावना (या आशंका) करें, तथा प्रकृति के अपने अनुसंधान को इस सिद्धान्त के अनुसार प्रवर्त्तित रखना सर्वदा लाभदायक ही होगा, किन्तु कदापि भी हानिकारक नहीं हो सकता। परन्तु, सर्वोच्च स्रष्टा के इस आधारभूत भाव की इस प्रत्युपस्थापना में यह भी स्पष्ट है कि मैं इस प्रकार के सत्त्व (या सत्ता) अथवा उसके ज्ञान को नहीं प्रत्युत केवल उसके भावमात्र को आधार के स्थान पर स्थापित करता हूँ, और इसलिये वास्तव में इस सत्त्व (या सत्ता) से तो कुछ भी व्युत्पादित नहीं करता, प्रत्युत केवल उसके भाव से, अर्थात् इस प्रकार के भाव के अनुसार संसार की वस्तुओं के स्वरूप से व्युत्पादित करता हूँ। और ऐसा भी लगता है कि हमारी बुद्धि के इस संबोध के उपयोग के निश्चित, यद्यपि अविकसित चेतना ने सब समय के दार्शनिकों की संयत और विवेकपूर्ण वाणी को अनुप्रेरित किया है, क्योंकि उन्होंने प्रकृति की बुद्धिमत्ता या प्रकृति की पूर्वदृष्टि (या दूरदृष्टि) और ईश्वरीय या दैवी बुद्धिमत्ता इत्यादि शाब्दी अभिव्यंजनाओं को समानार्थक अभिव्यंजनाओं के रूप में प्रयुक्त किया है, और इतना ही नहीं, वास्तव में तो जहाँ तक शुद्ध चिन्तनात्मक बुद्धि का संबंध है उन्होंने प्रथम अभिव्यंजना को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया हैं क्योंकि वह उससे अधिक बड़े दावे के दंभ को जितना कि हम करने के अधिकारी हैं, वर्जित करती है, और इसके साथ ही साथ बुद्धि को उसके अपने निजी क्षेत्र अर्थात् प्रकृति की ओर प्रति-प्रेरित करती है।

इस प्रकार, शुद्ध बुद्धि, जो आरंभ में हमको अनुभव की समस्त सीमाओं से परे ज्ञान के विस्तार से कम किसी बात की प्रतिज्ञा नहीं करती प्रतीत होती थी, यदि ठीक प्रकार से समझी जाए, तो अपने में विनियामक सिद्धान्तों के अतिरिक्त और कुछ भी धारण नहीं करती, जो (सिद्धान्त) निश्चय ही उस एकता की अपेक्षा जिसको बोध-

वृत्ति का अनुभवगत उपयोग प्राप्त कर सकता है अधिक बड़ी एकता पर शासन करते हैं, परन्तु फिर भी जो, स्वयं इसी तथ्य के द्वारा कि वे इसके प्राप्तव्य को इतनी अधिक दूरी पर हटा कर स्थापित करते हैं, सुव्यवस्थित एकता के द्वारा, उसके अपने साथ अपनी सहमति (या संगति) को उच्चतम मात्रा तक पहुँचा देते हैं; पर यदि इसके विपरीत यदि उनको ठीक प्रकार से न समझा जाकर गलत समझा जाए, और उनको अनुभवातीत ज्ञान का संघटनात्मक सिद्धान्त मान लिया जाए, तो वे एक चकाचौंध कर देने वाली प्रतारणापूर्ण माया (या भ्रान्ति) के द्वारा अनुनयन और केवल कल्पना-प्रसूत ज्ञान को, और उसके साथ शाश्वत विरोधों और कलहों को जन्म देते हैं।

* * * *

इस प्रकार समस्त ज्ञान इन्द्रियजन्य अपरोक्षानुभवों से आरंभ होता है, तत्पश्चात् संबोधों की ओर प्रवृत्त होता है और भावों में पर्यवसित हो जाता है। यद्यपि इन तीनों ही तत्वों के संबंध में उसको ज्ञान के प्रागनुभवात्मक उत्स प्राप्त हैं, जो प्रथम दृष्टि-पात करने पर समस्त अनुभव की सीमाओं का तिरस्कार करते प्रतीत होते हैं, (तथापि) परिपूर्ण मीमांसा इस बात का विश्वास उत्पन्न कर देती है कि समस्त बुद्धि (या विवेक) अपने चिन्तनात्मक विनियोग में, इन तत्वों के साथ, कदापि भी संभाव्य अनुभव की सीमा (या क्षेत्र) का उल्लंघन नहीं कर सकती, तथा ज्ञान की इस सर्वोच्च शक्ति (या क्षमता) का अपना असली व्यवसाय समस्त पद्धतियों और उनके सिद्धान्तों को, एकता के प्रत्यक संभाव्य सिद्धान्त के अनुसार——जिनके मध्य में उद्देश्यों की एकता का सिद्धान्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है,——प्रकृति के निगूढ़तम आन्तरिक रहस्यों में अनुप्रविष्ट होने के लिये काम में लानामात्र है, परन्तु उसकी सीमा के परे उड़ना कदापि नहीं है, (क्योंकि) उस (सीमा) के बाहर हमारे लिए शून्यावकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। निश्चय ही, उन सब प्रस्थापनाओं (जो हमारे ज्ञान को वास्तविक अनुभव की सीमा के परे विस्तीर्ण कर सकती प्रतीत होती थीं) के आलोचनात्मक परीक्षण ने, जो कि अनुभवातीत वैश्लषिकी में प्रति-पादित किया गया है, पर्याप्तरूपेण यह प्रतीति उत्पन्न कराती है कि वह संभाव्य अनुभव से अधिक और किसी तत्व तक कभी नहीं ले जा सकतीं, और यदि स्पष्टतम अमूर्त एवं सर्वव्यापी सिद्धान्तों के विरुद्ध अविश्वास अभिव्यक्त न किया गया होता, और यदि आकर्षक एवं सत्याभासी दृग्गोचर प्रदेश हमको इन पूर्वोक्त सिद्धान्तों के बाधा-बन्धनों को उतार फेंकने के लिये विमोहित न कर लेते तो, निश्चय ही हम उन सब आन्वी-क्षिक्यात्मक साक्षियों (साक्ष्यों) के परिश्रमसाध्य परीक्षण से छुटकारा पा सकते जिनको अनुभवातीत बुद्धि अपने दंभपूर्ण दावों के समर्थन में प्रस्तुत करता है, क्योंकि

हम को तो यह बात पहले से ही पूर्ण निश्चय के साथ ज्ञात थी, यह सब अभियोग, चाहे कितने निर्व्याज भाव से उद्दिष्ट क्यों न रहे हों, निरपेक्षतया निकम्मे या शून्य होने चाहियें, इस कारण कि उनका संबंध ऐसे प्रकार की जानकारी से, जिसको कोई मन कभी प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु, क्योंकि यदि उस मायिक आभास के सच्चे कारण की खोज न की जाए, जिसके द्वारा बड़े से बड़े बुद्धिमान भी ठगे जा सकते हैं, तो इस प्रकार के विवादों का कोई अन्त नहीं होगा, और हमारे समस्त अनुभवातीत ज्ञान का (हमारे आध्यात्मिक या आन्तरिक स्वरूप के अध्ययन के रूप में) उसके (संघटक) तत्वों में विश्लेषण, स्वयं अपने आप में ही कोई सीमित (या स्वल्प) मूल्य की वस्तु नहीं है, और दार्शनिक के लिये तो वास्तव में यह उसका कर्तव्य है, अतः चिन्तनात्मक बुद्धि या विवेक की समस्त चेष्टा का, जो यद्यपि निरर्थक है, उसके आद्य उद्गम तक पूर्णतया अनुसंधान करना न केवल अनिवार्य हो गया, प्रत्युत, क्योंकि यहाँ यह आन्वी-क्षिक्यात्मक भ्रान्ति केवल विभावनाओं को ही वंचित नहीं करती, बल्कि यहाँ विभा-वनाओं में जो अभिरुचि भी ली जाती है, उसके कारण यह भ्रान्ति विमोहक और सर्वदा स्वाभाविक है, और नित्य भविष्य में भी ऐसी बनी रहेगी, अतः यह उपदेष्टव्य (या उचित) समझा गया, कि इस विवाद को जो कि मानों इस मुकदमे की काररवाई जैसा है, समग्र पूर्णता के साथ लेखबद्ध कर लिया जाए, और भविष्य में होने वाली इसी प्रकार की गलतियों को रोकने के लिये, उसको मानवीय बुद्धि के लेखागार में रख दिया जाए ।

२

अनुभवातीत तत्वज्ञान की पद्धति

अनुभवातीत पद्धति विज्ञान

यदि मैं शुद्ध और चिन्तनात्मक बुद्धि की समस्त ज्ञानराशि को ऐसा भवन समझूं जिसका भाव कम से कम मुझमें है, तो मैं यह कह सकता हूँ कि हमने अनुभवातीत तत्वविज्ञान में भवननिर्माण के उपादानों का प्राक्कलन कर लिया था और यह निर्धारित कर लिया था कि वे उपादान किस प्रकार के भवन के निर्माण के लिये भवन की कितनी ऊँचाई और दृढ़ता के लिये पर्याप्त होंगे। वस्तुतः हमने यह देखा कि यद्यपि हमारा संकल्प एक धौराहर बनाने का जो स्वर्ग (या आकाश) तक पहुँचने वाला हो, पर उपादानों का संभार केवल एक ऐसे आवासगृह के निर्माण के लिये पर्याप्त था कि जो अनुभव के स्तर पर हमारे व्यवसाय के लिये पर्याप्तरूपेण विशाल तथा, उसका (=अनुभव का) भले प्रकार अवेक्षण कर सकने के लिये पर्याप्त ऊँचा हो; और यह भी देखा कि वह साहसपूर्ण उपक्रम तो उपादानों के अभाव में असफल होना ही था—और परिणामस्वरूप जो भाषाओं की गड़बड़ उत्पन्न हुई, जो निर्माण-कार्य करने वाले लोगों के मध्य में अनुसरणीय योजना के संबंध में द्वन्द्व को अनिवार्यतया उत्पन्न करती है, तथा जिसका पर्यवसान उन सबको अपनी अपनी योजना के अनुसार पृथक्-पृथक् निर्माण करने के लिये संसार भर बिखेर देने में होता है। इस समय हमारा वास्ता उतना उपादानों से नहीं है जितना कि योजना से है, और क्योंकि (एक ओर तो) हमको यह चेतावनी दी जा चुकी है कि हम यों ही किसी मनचाही अंधाधुंधी योजना पर न पिल पड़ें जो हमारी शक्ति से पर की चीज हो, (और दूसरी ओर) इसके साथ ही साथ अपने लिये एक सुदृढ़ आवास गृह बनाने (या खड़ा करने) से हम बाज भी नहीं आ सकते, अतः हमको अपने भवन की योजना को उस उपादान के समनुरूप बनाना चाहिये, जो हमको उपलब्ध है तथा जो साथ ही साथ हमारी आवश्यकताओं के लिये समुपयुक्त भी है।

अतएव, मैं अनुभवातीत पद्धति विज्ञान का आशय शुद्ध बुद्धि (या विवेक) के पूर्ण संस्थान के औपचारिक प्रतिबन्धों का निर्धारण समझता हूँ। इस दृष्टि से हमको शुद्ध बुद्धि के अनुशासन, शास्त्र, संस्थान निर्माण विधि, और अन्त में उसके (शुद्ध बुद्धि के) इतिहास का विवेचन करना होगा, और अनुभवातीत दृष्टि से उस (विद्या) का भी प्रतिपादन करना होगा, जिसके प्रतिपादन की चेष्टा बोधवृत्ति के विनियोग

सामान्य के संबंध में, विविध दर्शनप्रस्थानों ने व्यावहारिक तर्कशास्त्र के नाम से की है, परन्तु जिसका प्रतिपादन उन्होंने बड़े ही भद्दे प्रकार से किया है; इसका कारण यह है कि क्योंकि सामान्य या सर्वव्यापी तर्कशास्त्र बोधवृत्ति के किसी विशेष प्रकार के ज्ञान तक सीमित नहीं है, (उदाहरणार्थ उसके शुद्ध ज्ञान तक सीमित नहीं है) और न किन्हीं विशिष्ट विषयों तक ही सीमित है, इसलिये, अन्य विज्ञानों से ज्ञान को उधार लिए बिना वह संभाव्य पद्धतियों के शीर्षक, और उन पारिभाषिक शब्दों को, प्रस्तुत करने के अतिरिक्त, जो कि विभिन्न विज्ञानों में व्यवस्थित क्रमविन्यास में काम में आते हैं, और कुछ नहीं कर सकता, और यह किसी नौसिखिये को पहले से ही कुछ संज्ञाओं से परिचित कराने में काम आते हैं, जिनका अर्थ और विनियोग वह पहले पहल भविष्य में सीखेगा।

अनुभवातीत पद्धति विज्ञान

अध्याय १

शुद्ध बुद्धि का अनुशासन

नकारात्मक विभावनाएँ, जो न केवल यौक्तिक आकृति में प्रत्युत अन्तर्विष्ट विषय की दृष्टि से भी नकारात्मक होती हैं, मानव की ज्ञान-पिपासा की दृष्टि में विशेष सम्मानार्ह नहीं होतीं, इससे भी अधिक, वे तो हमारे ज्ञान को निरन्तर अविश्रान्तरूपेण विस्तृत करने की प्रेरणा की ईर्ष्यालु शत्रु समझी जाती हैं, और उनके लिये, सहिष्णुता (या क्षमा) मात्र प्राप्त करने के लिये क्षमा याचना जैसी करनी पड़ती है, उनके अनुग्रह और उच्च-सम्मान की बात ही क्या इनको प्राप्त करने के लिये तो और भी अधिक कैफियत पेश करनी पड़ेगी।

सभी प्रस्थापनाएँ, यथेच्छ संख्या में तर्क की दृष्टि से निश्चय ही नकारात्मक रूप में अभिव्यक्त की जा सकती हैं, परन्तु हमारे ज्ञानसामान्य के अन्तर्विष्ट विषय की दृष्टि से, जो किसी विभावना के द्वारा या तो विस्तृततर हुआ करता है अथवा संकुचित हुआ करता है, नकारात्मक विभावना का निजी विशिष्ट कार्य एकमात्र गलती का परिहार करना है। इसलिये (वे) नकारात्मक प्रस्थापनाएँ भी, जो (ऐसी) स्थितियों की गलती का परिहार करने के लिये निर्दिष्ट होती हैं जहाँ कभी गलती होना संभव ही नहीं है, होती तो निश्चय बहुत अधिक सत्य हैं, तथापि बिलकुल शून्य भी होती हैं, अर्थात् वे अपने उद्देश्य के लिये उपयुक्त नहीं होतीं, इसलिये बहुधा उपहासास्पद होती हैं। जैसे, उदाहरणार्थ, तार्किकों का यह वाक्य है कि अलेक्ज़ाण्डर बिना सेना के किन्हीं देशों को नहीं जीत सकता था।

परन्तु जहाँ हमारे संभाव्य ज्ञान की सीमाएँ अत्यन्त संकीर्ण होती हैं, निर्णय देने का प्रलोभन महान् होता है, हमको प्रतीत होने वाला मायिक आभास अत्यन्त प्रवंचना-पूर्ण होता है, और जहाँ गलती के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली हानि भी बहुत हो, वहाँ नकारात्मक-शिक्षा, जो हमको केवल भ्रान्ति से बचाने का काम करती है, ऐसी अनकों सकारात्मक शिक्षाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है, जिसके द्वारा हमारा ज्ञान वृद्धि को प्राप्त करता है। उस बाध्यता को, जिसके द्वारा कुछ नियमों का पालन न करने की स्थायी प्रवृत्ति मर्यादित कर दी जाती है और अन्त में निर्मूलित हो जाती है, अनुशासन कहलाती है। वह संस्कृति से पृथक् है, जिसका उद्देश्य किसी प्रकार के चातुर्य की उपलब्धि है, न कि किसी पूर्णतः विद्यमान कार्यप्रवृत्ति को हटाना है। किसी ऐसे दाक्षिण्य के निर्माण में, जिसमें अपने को अभिव्यक्त करने की स्वयं अन्तःप्रेरणा विद्यमान है, अनुशासन नकारात्मक[कां.] प्रकार से तथा संस्कृति और सिद्धान्त (=शिक्षा) सकारात्मक प्रकार से योगदान देते हैं।

इस बात को तो प्रत्येक व्यक्ति आसानी से अंगीकार कर लेगा कि प्रकृति (=स्वभाव) और साथ ही साथ अनकों ऐसी दक्षताएँ जो अपने को स्वच्छन्द और अपरि-मित (=अमर्यादित) क्रियाशीलता प्रदान करने की प्रवृत्ति रखती हैं, (जैसे कल्पना और विदग्धता) अनेकों दृष्टियों से अनुशासन की अपेक्षा करती हैं। पर यह बात निश्चय ही अनोखी जैसी प्रतीत होगी कि बुद्धि को जिसका अपना असली कर्त्तव्य अन्य सब आकांक्षाओं (अथवा उद्योगों) के लिये अनुशासन का विधान करना है, स्वयं इस प्रकार के अनुशासन की आवश्यकता है, और वस्तुतः यह जो आज तक इस अभिभव (=निकार) से बची रही है वह केवल इस कारण क्योंकि इसके गाम्भीर्य के कारण तथा उस मूलभूत शिष्टाचार के कारण जिसके साथ वह व्यवहार में बर्ताव करता है, कोई भी सरलता से इसके विषय में यह सन्देह नहीं कर सकता कि यह यूँही अविचारपूर्वक संबोधों के स्थान पर कल्पना को और वस्तुओं के स्थान पर शब्दों को प्रतिस्थापित करेगा।

कां. मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि विद्यालयों की भाषा में अनुशासन शब्द शिक्षण के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होता है। तथापि ऐसे भी बहुत अन्य से प्रसंग (या स्थितियाँ) हैं जिन में निरोधपूर्वक शिक्षण के अर्थ में प्रथम शब्द (अनुशासन) अध्यापन के अर्थ में प्रयुक्त दूसरे शब्द (शिक्षण) से सावधानी से पृथक् किया जाता है, और स्वयं वस्तुओं का स्वरूप ही इस बात को अवश्यकरणीय बना देता है कि इस भेद को सूचित करने वाले ठीक ठीक मात्र शब्दों को सुरक्षित रखा जाए, और मेरी यह इच्छा है कि प्रथम शब्द का प्रयोग कभी भी नकारात्मक अर्थ को छोड़ कर अन्य किसी अर्थ में न किया जाए।

जब बुद्धि का विनियोग अनुभव के क्षेत्र में होता है तो उसको किसी मीमांसा या समालोचना की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इस क्षेत्र में उसके सिद्धान्त अनुभव की कसौटी पर निरन्तर परीक्षण के लिये चढ़े ही रहते हैं; इसी प्रकार गणित में भी (मीमांसा) की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसमें बुद्धि के संबोधों को तत्काल ही शुद्ध अन्त:प्रत्यक्ष में मूर्तरूप में प्रदर्शित होना पड़ेगा कि प्रत्येक निराधार और यादृच्छिक वस्तु इस प्रदर्शन के द्वारा उद्घाटित हो जाएगी। परन्तु जहाँ न तो दृष्टानुभव और न शुद्ध अन्त:प्रत्यक्ष, दोनों में से कोई भी बुद्धि को प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने वाली लीक में नहीं रख पाते, अर्थात् जहाँ बुद्धि का विनियोग केवल संबोधों के अनुसार, अनुभवातीत ढंग से किया जाता है (या, जहाँ केवल संबंधों के अनुसार उसका अनुभवातीत विनियोग किया जाता है) उस क्षेत्र में संभाव्य अनुभव की संकुचित सीमाओं से परे अपनी विस्तारण की प्रवृत्ति को संयत रखने के लिये, और अपने को मर्यादातिक्रमण और गलती से सुरक्षित रखने के लिये, इसको अनुशासन की इतनी अधिक आवश्यकता होती है कि शुद्ध बुद्धि के समस्त तत्वदर्शन का वास्ता केवल इस नकारात्मक उपयोगितामात्र के ही साथ है। अकेली गलतियों का सुधार निन्दा के द्वारा और उनके कारणों का उपचार मीमांसा (या आलोचना) के द्वारा होता है। परन्तु जहाँ, जैसे कि शुद्ध बुद्धि (के क्षेत्र) में भ्रान्तियों और प्रवंचनाओं (या हेत्वाभासों) का परिपूर्ण संस्थान ही उपलब्ध होता हो, जो परस्पर सुसंबद्ध हों और सामान्य या सार्वत्रिक नियमों के अधीन संयोजित (या संयुक्त एकत्रित) हों, वहाँ पर एक बिलकुल ख़ास नकारात्मक नियमविधान आवश्यक प्रतीत होता है, जो अनुशासन के नाम से, बुद्धि और उसके शुद्ध विनियोग के विषय के स्वरूप के आधार पर एक सावधानियों और आत्मपरीक्षण का संस्थान निर्माण करे, जिसके समक्ष कोई भी वितथ-विवेकपूर्ण प्रतीत होने वाली भ्रान्ति न टिक सके प्रत्युत समस्त हीले हवालों के होते हुए भी तत्काल अपने यथार्थ (स्वरूप) को प्रकट कर दे।

पर यह बात भले प्रकार ध्यान में रखना अच्छा होगा कि अनुभवातीत मीमांसा के इस दूसरे मुख्य खंड में, मैं इस शुद्ध बुद्धि के अनुशासन को बुद्धि के ज्ञान के अन्तर्विष्ट विषय की ओर नहीं, किन्तु केवल उस ज्ञान की पद्धति की ओर प्रवृत्त (या लागू) कर रहा हूँ। प्रथम का विचार पहले ही "तत्वों के अनुभवातीत ज्ञान" के खंड में किया जा चुका है। परन्तु (एक ओर) चाहे बुद्धि का उपयोग किसी विषय के प्रति क्यों न किया जाए, उसके विनियोग में इतनी अधिक (अर्थात् बहुत अधिक) समानता पाई जाती है, और फिर (दूसरी ओर) जहाँ उसके अनुभवातीत विनियोग का संबंध है, यह अन्य सब विनियोगों से सारत: भिन्न भी इतना है कि एक इसी प्रयोजन

के लियें विशेषतया घटित अनुशासन की चेतावनी देने वाली नकारात्मक (या निषेधात्मक) शिक्षा के बिना उन गलतियों को वर्जित करना नहीं बन सकता जो ऐसी पद्धतियों के अनुचित अनुसरण से अनिवार्यतया उत्पन्न होती हैं, जो (पद्धतियाँ) अन्य क्षेत्रों में तो बुद्धि के लिये निश्चय ही समुपयुक्त होती हैं, पर जो केवल यहाँ इस (अनुभवातीत) क्षेत्र में नहीं हैं ।

प्रथम अध्याय

प्रथम खंड

शुद्ध बुद्धि का, उसके वैधिक (डॉगमैटिक (श्)) विनियोग की दृष्टि से अनुशासन

अनुभव की सहायता के बिना (ही) शुद्ध बुद्धि के (क्षेत्र के) विस्तार का सौभाग्यपूर्ण एवं सर्वाधिक जाज्वल्यमान उदाहरण गणितशास्त्र प्रदान करता है। उदाहरण स्पर्शसंचारी हुआ करते हैं, विशेष कर तब जब कि शक्ति वही हो, जो अपने को दूसरे प्रसंगों में भी वही सफलता पाने की आशा से श्लोघित समझती है, जो उसको एक प्रसंग में प्राप्त हो चुकी है। इस प्रकार शुद्ध बुद्धि इस बात की आशा करती है कि वह अपने क्षेत्र को अपने अनुभवातीत विनियोग में भी उतनी ही सफलता और उतनी ही सुरक्षिततया (अथवा जड़ मूल से) विस्तीर्ण करने में समर्थ होगी जितनी गणित के क्षेत्र के विनियोग में हो चुकी है, विशेषकर जब कि वह वहाँ (अनुभवातीत क्षेत्र में) भी उसी पद्धति का उपयोग करती है जो, गणित में बिलकुल स्पष्ट उपयोगिता से समन्वित रही है। इसलिये हमारे लिये यह जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि स्वयंसिद्ध निश्चितता को प्राप्त करने की (वह) पद्धति जो पूर्वोक्त विज्ञान में गणित-पद्धति कहलाती है उस पद्धति से अभिन्न है जिसके द्वारा तत्वज्ञान (या फिलासफ़ी) के क्षेत्र में भी उसी सुनिश्चितता को प्राप्त करने का प्रयत्न (या उद्योग) किया जाता है, और जिसको इस क्षेत्र में वैधिक (डॉगमैटिक) पद्धति का नाम देना चाहिये ।

दार्शनिक ज्ञान वह बौद्धिक ज्ञान है जो संबोधों से प्राप्त किया जाता है जबकि गणितशास्त्र का ज्ञान वह ज्ञान है जो बुद्धि संबोधों के उपपादन (= निर्माण) से प्राप्त करती है। पर संबोध के निर्माण से तात्पर्य है उस संबोध के समनुरूप अन्त:प्रत्यक्ष को प्रागनुभवात्मकतया प्रदर्शित करना। इसलिए किसी संबोध के निर्माण के लिये अनुभवात्मक स्वत:प्रत्यक्ष (या अन्त:प्रत्यक्ष) अपेक्षित होता है, जो (स्वत: प्रत्यक्ष) परिणामत: स्वत:प्रत्यक्ष होने के कारण एक अकेला विषय होता है, परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, किसी संबोध की (जो एक व्यापक या सार्वत्रिक प्रत्युपस्थापना है) रचना

होने के कारण, इसको अपनी प्रत्युपस्थापना में उन सब संभाव्य अन्तःप्रत्यक्षों (या स्वतःप्रत्यक्षों) के लिये सर्वव्यापिनी प्रामाणिकता को अभिव्यक्त करना चाहिये, जो उसी संबोध से संबद्ध हैं। इस प्रकार मैं किसी त्रिभुज को या तो इसके संबोध के समनुरूप विषय को केवल कल्पना के सहारे उसको प्रत्युपस्थापित करते हुए शुद्ध अन्तःप्रत्यक्ष में निर्माण करता हूँ, या उसके अनुसार कागज के ऊपर भी आनुभविक अन्तःप्रत्यक्ष में बनाता हूँ—पर दोनों ही अवस्थाओं में, मैं किसी भी अनुभव से प्रतिकृति (पैटर्न) को उधार लिये बिना, ऐसा पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया ही करता हूँ। वह अकेली आकृति जिसका रेखाचित्र प्रस्तुत किया गया है आनुभविक है, परन्तु फिर भी वह संबोध की सर्वव्यापकता को कोई हानि पहुँचाए बिना, उस (संबोध) को अभिव्यक्त करने के काम आती है, क्योंकि इस आनुभविक स्वतःप्रत्यक्ष में केवल उस व्यापार पर ध्यान दिया जाता है जिसके द्वारा संबोध का निर्माण किया जाता है, एवं जिसके लिये बहुत सी ऐसी निर्धारणाएँ (जैसे कि त्रिभुज का परिमाण, भुजाएँ और कोण) बिलकुल निरपेक्ष हैं (या उपेक्षणीय हैं) और इस प्रकार जिसमें उन विविधताओं की ओर जो कि त्रिभुज के संबोध में कोई अन्तर उपस्थित नहीं करतीं ध्यान नहीं दिया जाता।

इस प्रकार दार्शनिक ज्ञान सर्वव्यापक में केवल विशेष का विचार करता है, गणित-संबंधी ज्ञान विशेष में सर्वव्यापी (सामान्य) का विचार करता है, नहीं इतना ही क्यों, व्यक्ति या अकेले उदाहरण में भी सर्वव्यापी सामान्य का विचार करता है, यद्यपि वह ऐसा करता है केवल प्रागनुभवात्मकतया और बुद्धि के द्वारा ही; परिणामतः जिस प्रकार यह अकेला विषय निर्माण (या रचना) के कतिपय सर्वव्यापक प्रतिबन्धों (या शर्तों) के द्वारा निर्धारित होता है, उसी प्रकार उस संबोध का विषय भी, जिस (संबोध) के प्रति अकेला विषय उसकी कल्पित आकृति के रूप में समनुरूप होता है, सर्वव्यापकतया निर्धारित हुआ समझा जाना चाहिये।

अतएव बुद्धि के द्वारा प्राप्त होने वाले इन दो ज्ञान के प्रकारों का सारभूत भेद इस आकार में संनिहित रहता है, उनके मूर्तभौतिकत्व अथवा विषय के भेद के ऊपर निर्भर नहीं करता। वे लोग, जिनका विचार यह है कि दर्शनशास्त्र से गणित का भेद वे यह कह कर बतला सकते हैं कि इनमें से प्रथम (अर्थात् दर्शनशास्त्र) का विषय केवल गुण है, और दूसरे (अर्थात् गणित) का विषय केवल मात्रा है, कार्य में कारण की भ्रान्त धारणा कर बैठे हैं। गणित के ज्ञान का आकार ही इस बात का कारण है कि वह मात्राओं से ही वास्ता रख सकता है। क्योंकि मात्राओं का संबोध ही केवल ऐसा संबोध होता है जो अन्तःप्रत्यक्ष में निर्मित अर्थात् प्रागनुभवात्मकतया प्रदर्शित किया

जा सकता है, जबकि इस के विपरीत गुण आनुभविक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से प्रत्युपस्थापित नहीं किये जा सकते। अतएव बुद्धि को गुणों का ज्ञान केवल संबोधों के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वास्तविकता के संबोध से मेल खाने वाले स्वतःप्रत्यक्ष को कोई भी, अनुभव को छोड़ अन्य किसी प्रकार से प्राप्त नहीं कर सकता, हम इसको, स्वयं अपने आप से प्रागनुभवात्मकतया, और यथार्थता की आनुभविक चेतना के पूर्व, कदापि अधिगत नहीं कर सकते। शंकु की आकृति बिना किसी अनुभव की सहायता के, केवल उसके संबोध के अनुसार, अपने लिये स्वतःप्रत्यक्ष में बनायी जा सकती है, पर इस शंकु का रंग तो पहले से ही किसी न किसी अनुभव में दिया हुआ होना चाहिये। अनुभव के द्वारा प्रदान किए हुए कारण के उदाहरण के अतिरिक्त मैं कारण सामान्य के संबोध को अन्य किसी प्रकार से स्वतः-प्रत्यक्ष में प्रत्युपस्थापित नहीं कर सकता, और यही बात अन्य सब संबोधों के संबंध में भी लागू होती है। और फिर दर्शनशास्त्र भी तो परिमाणों का—यथा समग्रता, अनन्तता इत्यादि का वास्तव में उतना ही अधिक विवेचन करता है जितना कि गणित-शास्त्र। (दूसरी ओर) गणित भी अपने को विभिन्न गुणों के देश के रूप में रेखा और तत्वों के भेद के साथ, तथा विस्तार के एक गुण के रूप में उसके सातत्य के साथ अपने को व्यापृत किया करता है। परन्तु यद्यपि ऐसी अवस्थाओं या प्रसंगों में उनका विषय एक समान ही होता है, परन्तु जिस ढंग से बुद्धि उस विषय का विवेचन (या विचार) करती है, वह दर्शन और गणित के क्षेत्र में एक दूसरे से नितान्त भिन्न होता है। (इन दोनों में से) प्रथम (अर्थात् दर्शनशास्त्र) का संबंध केवल सर्वव्यापी संबोधों के साथ है, यह (दूसरा अर्थात् गणित) केवल संबोधों से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत शीघ्रता से स्वतःप्रत्यक्ष की ओर दौड़ पड़ता है, जिसमें वह संबोध का मूर्तरूप में विचार करता है, यद्यपि वह ऐसा आनुभविकतया नहीं करता, प्रत्युत केवल एक ऐसे स्वतःप्रत्यक्ष में करता है जिसको वह प्रागनुभवात्मकतया प्रस्तुत (या उपस्थित) करता है, अर्थात् जिसको उसने निर्मित किया है, तथा जिसमें वह, जो कि निर्माण के सर्वव्यापक प्रतिबन्धों से अनुमित हुआ करता है, निर्मित संबोध के विषय के प्रति भी सर्वव्यापकतया प्रामाणिक होता है।

मान लीजिए कि किसी दार्शनिक को त्रिकोण का संबोध दे दिया जाए और उसको अपने निजी प्रकार से यह पता लगाने दिया जाए कि उसके कोणों के योगफल का समकोण के साथ किस प्रकार का संबंध है। अब उसको एक ऐसी आकृति के संबोध को छोड़ कर और कुछ भी प्राप्त नहीं है जो तीन सरल रेखाओं से घिरी हुई है, और जिसके साथ उतने ही कोणों का संबोध भी जुड़ा हुआ है। वह इस संबोध पर अब

चाहे जब तक विचार करता रहे, वह किसी भी नई बात का आविष्कार नहीं कर सकेगा। वह सरल रेखा के, अथवा कोण के अथवा तीन संख्या के संबोध का विश्लेषण कर सकता है और उसको स्पष्ट कर सकता है, पर वह ऐसी किन्हीं विशेषताओं तक कभी नहीं पहुँच सकता जो इन संबोधों में पहले से ही बिलकुल अन्तर्विष्ट नहीं हैं। पर अब किसी भूमितिशास्त्री को इस प्रश्न को विवेचनार्थ ग्रहण कर लेने दीजिए। वह तत्काल एक त्रिकोण की रचना कर के अपने कार्य में लग जाएगा। क्योंकि वह जानता है कि दो समकोणों का योगफल मिल कर ठीक उन सब आसन्न कोणों के योगफल के बराबर होता है जो किसी सरल रेखा के एक बिन्दु पर बनाए जा सकते हैं, अतः वह अपने त्रिकोण की एक भुजा को बढ़ा देता है और ऐसे दो आसन्न कोण प्राप्त कर लेता है जो मिल कर दो समकोणों के बराबर होते हैं। अब वह इन दोनों कोणों में से बाहरी कोण को, त्रिभुज की सामने वाली भुजा के समानान्तर रेखा खींच कर, विभाजित कर देता है और देखता है कि एक ऐसा बाहरी आसन्नकोण उत्पन्न हो गया है जो एक अन्तःकोण के बराबर है, इत्यादि। इस प्रकार से वह, स्वान्तःप्रत्यक्ष के मार्गदर्शन में, अनुमानों की एक शृंखला के द्वारा, प्रस्तुत समस्या के पूर्णतया स्पष्टीकृत और साथ ही सर्वमान्य (सर्वव्यापक) समाधान को प्राप्त कर लेता है।

परन्तु गणित, भूमितिशास्त्र की भाँति, परिमाणों का निर्माणमात्र नहीं करता, प्रत्युत बीजगणित की भाँति शुद्ध परिमाण का भी निर्माण करता है, जिसमें उस विषय की विशेषताओं (या गुणों) की ओर बिलकुल भी ध्यान नहीं दिया जाता है जिस (विषय का) परिमाण के इस प्रकार के संबोध के अनुसार विचार किया जानेवाला है। इसके पश्चात् वह परिमाण सामान्य (संख्या) के समस्त निर्माणों के लिये एक निश्चित संकेतना की व्यवस्था का निर्वाचन करता है जैसे कि जोड़ने-घटाने, वर्गमूल निकालने के लिये इत्यादि इत्यादि; और परिमाणों के सामान्य संबोधों के लिये भी, उनके विविध संबोधों के अनुसार संकेतना की व्यवस्था कर लेने के पश्चात् वह (गणित) उन समस्त व्यापारों को, जिनके द्वारा परिमाण उत्पन्न और परिवर्तित हुआ करते हैं, किन्हीं निश्चित सर्वव्यापक नियमों के अनुसार अन्तःप्रत्यक्ष में प्रदर्शित करता है; जैसे उदाहरण के लिये, जब एक परिमाण को दूसरे से विभाजित करना होता है तो उन दोनों के चिह्नों को विभाजन के चिह्न के अनुसार साथ साथ रख देता है, और इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में भी करता है इत्यादि, और इस प्रकार बीजगणित में प्रतीकात्मक रचना के माध्यम से, गणितशास्त्र, उतने ही भले प्रकार से, जितने भूमितिशास्त्र में प्रत्यक्ष आकृति अथवा स्वयं भौमितिक विषय के द्वारा देखने में आता है, ऐसे परिणामों तक पहुँचने में सफल होता है जिन तक विवेचनात्मक ज्ञान

केवल संबोधों के माध्यम से कभी नहीं पहुँच सकता था।

अब प्रश्न यह है कि जिन इतनी विभिन्न परिस्थितियों में, यह दोनों बुद्धि की कला का व्यवसाय करने वाले (दार्शनिक और गणितवेत्ता) जिनमें से एक तो संबोधों के अनुसार अपने मार्ग पर प्रवृत्त होता है, और दूसरा उन अन्तःप्रत्यक्षों के द्वारा जिनको वह प्रागनुभवात्मकतया संबोधों के द्वारा प्रदर्शित करता है, अपने को पाते हैं, उनका (अर्थात् उन परिस्थितियों की भिन्नता का) कारण क्या हो सकता है। ऊपर वर्णन किये गये मूलभूत अनुभवातीत तत्वज्ञान के सिद्धान्तों के विवरण के अनुसार यह कारण स्पष्ट है। यहाँ हमारा वास्ता वैश्लेषिक प्रस्थापनाओं से नहीं है, जो संबोधों के विश्लेषणमात्र से उत्पन्न हो सकती हैं (इस वैश्लेषिक प्रस्थापनाओं के क्षेत्र में दार्शनिक को निःसन्देह अपने सस्पर्धी की अपेक्षा अधिक सुविधा प्राप्त होगी), प्रत्युत सांश्लेषिक प्रस्थापनाओं से है, और उनमें भी निश्चय ही ऐसी सांश्लेषिक प्रस्थापनाओं से है जो कि प्रागनुभवात्मकतया जानी जा सकती हैं। क्योंकि (यहाँ) मुझे इस बात पर दृष्टि नहीं रखनी है कि अपने त्रिकोण के संबोध में यथार्थ में क्या विचार कर रहा हूँ (वह तो परिभाषा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा), इसके विपरीत, मुझको इस (संबोध) के परे उसकी उन विशषताओं तक पहुँचना है, जो इस संबोध में निहित नहीं पर किन्तु फिर भी उससे संबंध रखती हैं। पर ऐसा करना इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से संभव नहीं है कि मैं अपने विषय को या तो आनुभविक अन्तःप्रत्यक्ष के प्रतिबन्धों (शर्तों) के अनुसार निर्धारित करूँ या शुद्ध अन्तःप्रत्यक्ष की शर्तों के अनुसार। प्रथम प्रक्रिया (कोणों की माप के द्वारा) केवल आनुभविक प्रस्थापना प्रदान करेगी, जिसमें कोई सर्वव्यापकता नहीं होगी, और अनिवार्यता तो और भी कम होगी, और इसलिये जो हमारे किसी काम की नहीं होगी। परन्तु दूसरी प्रक्रिया गणित की प्रक्रिया है, और निश्चय ही यहाँ पर (प्रस्तुत प्रसंग में) वह भूमितिशास्त्र के निर्माण की प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मैं एक शुद्ध अन्तःप्रत्यक्ष में भी (वैसे ही जैसे आनुभविक अन्तःप्रत्यक्ष में) उस नानात्व को संयुक्त (या संबद्धित) कर सकता हूँ जो त्रिकोण सामान्य की काल्पनिक आकृति से संबंध रखता है और इसीलिये जो उसके संबोध से भी संबंध रखता है, (यही वह प्रक्रिया है) जिसके द्वारा सर्वव्यापक सांश्लेषिक प्रस्थापनाओं की रचना की जानी चाहिये।

इसलिये त्रिकोण के संबंध में दार्शनिक-चिन्तन करना अर्थात् तार्किक दृष्टि से विचार करना मेरे लिये बिलकुल बेकार होगा, क्योंकि इस प्रकार मैं उसकी उस परिभाषामात्र से, जिससे मुझे उसके विषय में चिन्तन को आरंभ करना पड़ा था,

लेशमात्र भी आगे नहीं बढ़ पाऊँगा। वस्तुत: केवल संबोधों में से निर्मित अनुभवातीत संश्लेषण भी होता है; जिसके (प्रतिपादन में) केवल दार्शनिक ही सफल होने की आशा कर सकता है, पर जो वस्तु सामान्य के संबंध में इस विषय से अधिक कभी कुछ नहीं कहता कि किन प्रतिबन्धों के अधीन उसका प्रत्यक्ष संभाव्य अनुभव हो सकता है। पर गणित-संबंधी समस्याओं में इस विषय का और सामान्यत: अस्तित्व के विषय का कोई प्रश्न ही नहीं होता, प्रत्युत स्वरूपत: (स्वलक्षण) विषयों की विशेषताओं का प्रश्न होता है, और वह भी वहीं तक जहाँ तक कि यह विशेषताएँ उन विषयों के संबोध से संबंधित होती हैं।

हमने उपर्युक्त उदाहरण में केवल इसी बात को स्पष्ट करने का उद्योग किया है कि संबोधों के अनुसार बुद्धि के तार्किक विनियोग, तथा संबोधों के निर्माण के द्वारा बुद्धि के स्वत: प्रत्यक्षात्मक विनियोग के मध्य में कितना महान् अन्तर पाया जाता है। अब स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि वह कौन सा कारण हो सकता है जो बुद्धि के इस दो प्रकार के विनियोग को अनिवार्य बना देता है, और यह कैसे जाना जा सकता है (अथवा किन प्रतिबन्धों या शर्तों से जाना जा सकता है) कि (किसी प्रसंग में) केवल प्रथम प्रक्रिया प्रयुक्त हुई है, अथवा दूसरी भी हुई है।

अन्ततोगत्वा हमारे समस्त ज्ञान का संबंध स्वत:प्रत्यक्ष से संबद्ध होता है; क्योंकि केवल उन्हीं के द्वारा किसी विषय की उपलब्धि होती है, अथवा कोई विषय (अनुभव में) दिया हुआ हो सकता है। अब, कोई प्रागनुभवात्मक संबोध (अर्थात् वह संबोध जो कि आनुभविक या दृष्ट नहीं है) या तो पहले से ही अपने में किसी शुद्ध स्वत:-प्रत्यक्ष को अन्तर्विष्ट रखता है, और ऐसी स्थिति में उसका निर्माण हो सकता है; अथवा उसमें ऐसे संभाव्य स्वत: प्रत्यक्षों के संश्लेषण के अतिरिक्त और कुछ भी अन्तर्विष्ट नहीं होता जो (अन्त:प्रत्यक्ष) प्रागनुभवात्मकतया दिये हुए नहीं होते, और तब (ऐसी अवस्था में) निश्चयमेव उसका उपयोग सांश्लेषिक और प्रागनुभवात्मक विभावना प्रस्तुत करने के लिये किया जा सकता है, पर ऐसा किया जा सकता है केवल, संबोधों के अनुसार, तार्किकतया ही, तथा संबोधों की रचना के द्वारा स्वत: प्रत्यक्षतया कदापि नहीं।

अब समस्त अन्त:प्रत्यक्षों में से, आभासों के आकारमात्र अर्थात् देश और काल के अन्त:प्रत्यक्षों के अतिरिक्त और कोई ऐसा नहीं है जो प्रागनुभवात्मकतया दिया हुआ हो, तथा प्रमात्राओं के रूप में इनका (अर्थात् देश काल का) संबोध, अन्त:प्रत्यक्ष में प्रागनुभवात्मकतया प्रदर्शित किया जा सकता है, अर्थात् या तो प्रमात्राओं के गुण की दृष्टि से निर्मित किया जा सकता है अथवा उनके परिमाणमात्र में (एक ही

प्रकार के नानात्व के संश्लेषणमात्र में) संख्या द्वारा निर्मित किया जा सकता है। पर आभासों का मूर्त भौतिक तत्व जिसके द्वारा हमको देशकाल के अन्तर्गत वस्तुएँ दी हुई होती हैं (अर्थात् अनुभव में उपलब्ध होती हैं) केवल प्रत्यक्ष में ही प्रत्युपस्थापित हो सकता है, अतएव पश्चानुभवात्मकतया ही प्रत्युपस्थापित हो सकता है। वह एकमात्र अकेला संबोध, जो अवभासों के इस आनुभविक अन्तर्विष्ट विषय को प्रागनुभवात्मकतया प्रत्युपस्थापित करता है वस्तु सामान्य का संबोध है, और इस वस्तु सामान्य का प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक ज्ञान उस (वस्तु) के संश्लेषण नियममात्र की अपेक्षा और कुछ अधिक प्रदान कर सकता है जिसको प्रत्यक्ष पश्चानुभवात्मकतया प्रदान कर सकता है, किन्तु यह (ज्ञान) वास्तविक विषय के प्रागनुभवात्मक अन्तःप्रत्यक्ष को कदापि प्रदान नहीं कर सकता।

वस्तु सामान्य से संबंध रखने वाली वे सांश्लेषिक प्रस्थापनाएँ, जिनका स्वतःप्रत्यक्ष (अथवा अन्तःप्रत्यक्ष) प्रागनुभवात्मकतया दिया जाने वाला नहीं है, अनुभवातीत हैं। इसलिए अनुभवातीत प्रस्थापनाएँ संबोधों के निर्माण के द्वारा दी हुई नहीं हो सकतीं प्रत्युत केवल उन संबोधों के अनुसार (या ताल मेल में) दी हुई हो सकती हैं जो प्रागनुभवात्मक होते हैं। वे तो अपने में एक ऐसे नियम को अन्तर्विष्ट रखती हैं जिसके अनुसार उसकी (वस्तु की) कोई एक निश्चित एकता आनुभविकतया खोजी जानी चाहिये, जो प्रागनुभवात्मकतया अन्तःप्रत्यक्षतः प्रत्युपस्थापित नहीं की जा सकती (अर्थात् प्रत्यक्ष की एकता खोजी जानी है)। परन्तु यह प्रस्थापनाएँ अपने संबोधों में से किसी एक को भी किसी विशिष्ट प्रसंग में प्रागनुभवात्मकतया प्रदर्शित नहीं कर सकतीं, प्रत्युत वे ऐसा केवल पश्चानुभवतया अनुभव से कर सकती हैं जो (अनुभव) इन सांश्लेषिक सिद्धान्तों के अनुसार पहले पहल संभव हुआ करता है।

यदि किसी संबोध के विषय में सांश्लेषिक निर्णय (या विभावना) करना पड़े तो उस संबोध के परे और निश्चयमेव उस अन्तःप्रत्यक्ष की ओर प्रवृत्त होना (या जाना) चाहिये जिसमें वह संबोध दिया हुआ है। क्योंकि यदि, जो कुछ संबोध में दिया हुआ है उसी में सीमित रहा जाए तो विभावना केवलमात्र विश्लेषणात्मक होगी, और उस के अनुसार जो कि वास्तव में उस संबोध में अन्तर्विष्ट है, विचार का स्पष्टीकरणमात्र होगी। परन्तु मैं संबोध से उसके समनुरूप शुद्ध अथवा आनुभविक अन्तःप्रत्यक्ष की ओर इसलिए जा सकता हूँ कि जिससे मैं इस (संबोध) का उस अन्तःप्रत्यक्ष में मूर्तरूप में विचार कर सकूँ और (इस प्रकार) चाहे तो प्रागनुभवात्मकतया अथवा पश्चानुभवात्मकतया यह जान लूँ कि उस (संबोध) के विषय का भागधेय क्या है (अर्थात् संबोध के विषय की क्या विशषताएँ हैं)। प्रथम प्रक्रिया से जो ज्ञान प्राप्त होता

है वह संबोध के निर्माण के द्वारा उपलब्ध होने वाला यौक्तिक और गणितीय ज्ञान होता है, दूसरी प्रक्रिया से प्राप्त होने वाला ज्ञान केवल आनुभविक (यांत्रिक) ज्ञान-मात्र होता है जो, कदापि भी अनिवार्य और स्वयंसिद्ध प्रस्थापनाओं को प्रदान नहीं कर सकता। इस प्रकार मैं स्वर्ण के अपने संबोध का विश्लेषण कर सकता हूँ और फिर भी मैं उसके संबंध में इस शब्द के प्रयोग में जिन सब बातों का यथार्थ में विचार करता हूँ केवलमात्र उनकी गणना करने से अधिक और कुछ भी नहीं जान सकता, जिससे निश्चय ही मेरे ज्ञान में यौक्तिक सुधार तो घटित होता है, किन्तु अभिवृद्धि या समायोग बिलकुल ही नहीं होता। परन्तु (यदि) मैं उस भौतिकतत्व को (स्वर्ण को) लूँ जो उस नाम से सूचित होता है तो मैं उसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता हूँ, जो मुझको विविध सांश्लेषिक किन्तु आनुभविक प्रस्थापनाएँ प्रदान करेंगे। जहाँ तक त्रिकोण के गणितीय संबोध का संबंध है, मैं उसको बना सकता हूँ, अर्थात् उसको प्रागनुभवात्मक अन्तःप्रत्यक्ष में प्रदान कर सकता हूँ और इस प्रकार से ऐसे ज्ञान को अधिगत कर सकता हूँ जो सांश्लेषिक किन्तु यौक्तिक ज्ञान है। परन्तु जब मुझको वास्तविकता, द्रव्य, शक्ति इत्यादि का कोई अनुभवातीत संबोध दिया हुआ हो तो यह न तो आनुभविक (दृष्ट) अन्तःप्रत्यक्ष को सूचित करता है और न शुद्ध अन्तःप्रत्यक्ष को प्रत्युत केवल आनुभविक अन्तः प्रत्यक्षों के संश्लेषणमात्र को सूचित करता है (जो इस प्रकार प्रागनुभवात्मकतया दिया हुआ नहीं हो सकता) और इसलिये इससे कोई निर्धारक सांश्लेषिक प्रस्थापनाएँ भी उत्पन्न नहीं हो सकतीं, प्रत्युत संभाव्य आनुभविक अन्तःप्रत्यक्षों के संश्लेषण का सिद्धान्त [कां.] मात्र उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि संश्लेषण प्रागनुभवात्मकतया आगे प्रवृत्त होकर संबोध के परे तदनुरूप अन्तःप्रत्यक्ष की ओर नहीं जा सकता। इसलिये अनुभवातीत प्रस्थापना, बुद्धि के द्वारा केवल संबोधों के अनुसार प्राप्त किया हुआ सांश्लेषिक ज्ञान होती है, और यह इसलिये विवेचनात्मक होती है क्योंकि आनुभविक ज्ञान की सांश्लेषिक एकता पहले पहल इसी के द्वारा संभव

कां. कारण के संबोध के माध्यम से मैं सचमुच ही किसी घटना (कुछ घटित होने वाली सत्ता) के आनुभविक संबोध का अतिक्रमण कर जाता हूँ, पर फिर भी मैं उस अन्तःप्रत्यक्ष तक नहीं पहुँचता जो कारण के संबोध को मूर्तरूप में प्रदर्शित करता हो, प्रत्युत काल प्रतिबन्ध सामान्य तक ही पहुँचता हूँ जो अनुभव में इस कारण के संबोध के साथ मेल खाने वाला पाया जा सकता है। इसलिये मैं केवल संबोधों के अनुसार अग्रसर होता हूँ, और संबोधों के निर्माण के द्वारा अग्रसर नहीं हो सकता, क्योंकि संबोध तो प्रत्यक्षों के संश्लेषण का नियम है जो (प्रत्यक्ष) शुद्ध अन्तःप्रत्यक्ष नहीं होते, और स्वयं प्रागनुभवात्मकतया दिये हुए होने योग्य नहीं होते।

होती है, किन्तु यह हमको कोई भी अन्तःप्रत्यक्ष प्रागनुभवात्मकतया प्रदान नहीं करती।

तब इस प्रकार बुद्धि का दो प्रकार का विनियोग मिलता है, और यह दोनों प्रकार अपने ज्ञान की सर्वव्यापकता और उसकी प्रागनुभवात्मक उत्पत्ति के होते हुए भी, जिनको वे दोनों समानरूप से अपने में रखते हैं, अपने आने वाले परिणाम की दृष्टि से बहुत भिन्न हैं, और ऐसा निश्चय ही इस कारण होता है क्योंकि अवभास (के क्षेत्र में), जिसके माध्यम से हमको समस्त विषय दिए हुए होते हैं, दो तत्वांश होते हैं (एक तो) अन्तःप्रत्यक्ष के आकार (देश और काल), जो पूर्णतया प्रागनुभवात्मक प्रकार से जाने और निर्धारित किये जा सकते हैं, और (दूसरे) मूर्त (भौतिक तत्व) अथवा अन्तर्विष्ट विषय (ज० गैहाल्ट् अं० कॉण्टैण्ट्) जो एक कुछ ऐसी वस्तु को सूचित करता है, जो देश और काल में उपलब्ध होती है, अतएव अपनी सत्ता को रखता है और ऐन्द्रिय संवेदन के समनुरूप (या संवादीय) है। इस दूसरे तत्वांश के संबंध में (जो आनुभविक प्रकार के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से कदापि भी निर्धारित रूप में दिया हुआ नहीं हो सकता) संभाव्य संवेदनों (या संवेदनाओं) के संश्लेषण के अपरिच्छिन्न (या अनिर्धारित) संबोधों के अतिरिक्त हम और कुछ भी प्रागनुभवात्मकतया प्राप्त नहीं कर सकते, और यह भी वहीं तक जहाँ तक कि वे (संवेदनाएँ—किसी संभाव्य अनुभव में) अनुव्यवसाय की एकता से संबद्ध होती हैं। प्रथम तत्वांश के संबंध में, हम अपने संबोधों को प्रागनुभवात्मक अन्तःप्रत्यक्ष में निर्धारित कर सकते हैं, क्योंकि देश और काल में एक समरूप संश्लेषण के द्वारा हम स्वयं विषयों की सृष्टि किया करते हैं, इसलिये कि हम उनको केवल परिमाणों की दृष्टि से देखते हैं। इन दोनों प्रकारों में से प्रथम प्रकार संबोधों के अनुसार बुद्धि विनियोग कहलाता है; और ऐसा करने में हम अवभासों को उनके वास्तविक अन्तर्विष्ट विषयों के अनुसार, संबोधों के अधीन स्थापित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते, जो इस प्रकार आनुभविक ढंग अर्थात् पश्चानुभवात्मक ढंग को छोड़ कर अन्य किसी प्रकार से भी निर्धारित नहीं हो सकते (यद्यपि ऐसा भी वे आनुभविक संश्लेषण के नियमों के रूप में इन संबोधों के अनुसार ही होंगे); दूसरी पद्धति या प्रक्रिया संबोधों की रचना के द्वारा बुद्धि का विनियोग है, जो क्योंकि यहाँ पहले से ही प्रागनुभवात्मक अन्तःप्रत्यक्ष से संबद्ध हैं, इसी कारण वे स्वयं भी प्रागनुभवात्मक होते हैं और किसी आनुभविक सामग्री की सहायता के बिना ही, शुद्ध अन्तःप्रत्यक्ष में प्रागनुभवात्मकतया सुनिर्धारित रूप में दिए हुए हो सकते हैं। जो कुछ भी देश काल के अन्तर्गत सत्तावान् हैं उन सब वस्तुओं का निम्नलिखित (प्रश्नों की दृष्टि से) परीक्षण, कि कोई वस्तु कहाँ तक परिमाण मात्रा है अथवा नहीं, क्या हम उस वस्तु

को अपने आप में वास्तविक सत्ता से समन्वित कर सकते हैं अथवा उसके अभाव से, वह यत्किञ्चित् वस्तु जो कि देश और काल को व्याप्त करके स्थित है, आद्यअधिकरण है अथवा केवल निर्धारणमात्र है, क्या कार्य-कारण रूप में इसकी सत्ता का किसी अन्य सत्ता से संबंध है, और अन्ततः इसकी सत्ता के संबंध में यह प्रश्न कि क्या यह सब से विलग है अथवा अपने अस्तित्व की दृष्टि से दूसरी वस्तुओं के साथ पारंपरिक क्रिया-प्रतिक्रिया की निर्भरता के संबंध में स्थित है, इस सत्ता की संभाव्यता, इसकी वास्तविका, इसकी अनिवार्यता अथवा इनके प्रतिकूल स्थिति, यह सब के सब प्रश्न और उनका परीक्षण, संबोधों से प्राप्त होने वाले बुद्धि के ज्ञान से संबंध रखते हैं, जो (ज्ञान) दार्शनिक ज्ञान कहलाता है। परन्तु देश के अन्तर्गत किसी स्वतःप्रत्यक्ष का प्रागनुभवात्मकतया निर्धारण, (आकृति) समय का विभाजन (कालावधि) अथवा देश और काल के अन्तर्गत एक (और) अभिन्न के संश्लेषण में सर्वव्यापी तत्व का ज्ञानमात्र, तथा उससे उत्पन्न होने वाले अन्तःप्रत्यक्ष सामान्य का परिमाण (संख्या)—यह सब संबोधों के निर्माण के द्वारा बुद्धि की कृति है और (सब) गणित संबंधी कहलाती है।

बुद्धि को उसके गणित-संबंधी विनियोग में जो महती सफलता समुपस्थित (या समुपलब्ध) होती है वह बिलकुल स्वाभाविकतया इस प्रत्याशा को जन्म देती है कि इस बुद्धि को, अथवा जहाँ इसको नहीं वहाँ इसकी प्रक्रिया या पद्धति को तो, परिमाण या मात्रा के क्षेत्र के बाहर भी वैसी ही सफलता प्राप्त होगी, क्योंकि, यह (प्रक्रिया) अपने सब संबोधों को उन अन्तःप्रत्यक्षों में उपस्थित करती है जिसको यह प्रागनुभवात्मकतया प्रदान कर सकती है, और जिसके द्वारा, यों कहना चाहिये कि यह प्रकृति की पूर्णाधिकारिणी बन जाती है, जब कि दूसरी ओर शुद्ध दर्शनशास्त्र विवेचनात्मक संबोधों के साथ, उनकी वास्तविकता को प्रागनुभवात्मकतया अन्तःप्रत्यक्ष के योग्य न बना सकने और तद्द्वारा विश्वसनीय न बना सकने के कारण प्रकृति में सर्वत्र ठोकरें खाते हुए भटकता रहता है (अथवा अनाड़ीपन दिखलाया करता है)। और इस विद्या (अर्थात् गणित विद्या) के अधिकारी ज्ञाताओं को इस प्रक्रिया के संबंध में कोई आत्मविश्वास का अभाव नहीं प्रतीत होता, और जनसाधारण को भी अपनी दक्षता के आधार महान् प्रत्याशाओं का अभाव प्रतीत नहीं होता, बशर्ते कि वे एक बार अपनी योजना पर जुट जाएँ। क्योंकि उन्होंने अपनी गणित विद्या के संबंध में कठिनता से ही कभी दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है (जो है भी कठिन व्यवसाय!) अतः बुद्धिके एक विनियोग का दूसरे विनियोग से विशिष्ट भेद है उनकी समझ और विचार में कभी आया तक नहीं है। जिन चलताऊ और आनुभविक प्रयोगसिद्ध नियमों को

उन्होंने साधारण सूझ-बूझ उधार ले रखी है, उनको वे स्वयंसिद्धियों के तुल्य मानते हैं। देश और काल के संबोध, (केवलमात्र मौलिक परिमाणों के रूप में) जिनके साथ वे (गणितवेत्ता) व्यापृत रहते हैं उनको कहाँ से प्राप्त हुए हो सकते हैं, यह प्रश्न उनके लिये बिलकुल भी महत्त्वपूर्ण नहीं लगता,और बोधवृत्ति के शुद्ध संबोधों के आद्य-उद्गम और उसके साथ ही उनकी प्रामाणिकता के विस्तार की खोज करने में भी उनको कोई उपयोग नहीं दिखलाई देता; बस वे केवल उनसे काम लेने में ही रुचि रखते हैं। इस सब में उनका करना जो कुछ है बिलकुल ठीक है बशर्ते कि वे केवल उचित सीमा का, अर्थात् प्राकृतिक जगत् की सीमा का उल्लंघन न करें। परन्तु होता यह है कि वे इन्द्रियगोचरता के क्षेत्र से अनजाने में शुद्ध और यहाँ तक अनुभवातीत संबोधों की असुरक्षित भूमि में प्रविष्ट हो जाते हैं, जहाँ धरती न उन्हें खड़ा होने देती है न तैरने देती है, केवल कुछ उड़ते से डग रखने देती है, जिनके लेशमात्र चिह्न भी काल अवशिष्ट नहीं रहने देता, जब कि इसके विपरीत गणित के क्षेत्र में उनका मार्ग राजमार्ग का निर्माण करता है, जिस पर नवीनतम पीढ़ी भी विश्वासपूर्वक पदार्पण कर सकती है।

क्योंकि हमने शुद्ध बुद्धि के अनुभवातीत विनियोग में उसकी सीमाओं (या मर्यादाओं) को यथातथ्यता और सुनिश्चितता के साथ निर्धारित करने के कार्य को अपने कर्त्तव्य के रूप में अंगीकार कर लिया है, पर फिर भी क्योंकि इस प्रयत्न की यह विशेषता है कि अत्यन्त प्रबलतम और स्पष्टतम चेतावनियों के होते हुए भी, जब तक अनुभव की सीमा को पार करके बौद्धिक जगत् के आकर्षक प्रदेश में पहुँच जाने की चेष्टा का पूर्णतया परित्याग नहीं कर दिया जाता, तब तक वे आशाओं के द्वारा इस परित्याग को टलवाये ही जाते हैं; इसलिये जो इन मनःकल्पित अतिरञ्जित आशाओं का अन्तिम लंगर जैसा है उसको काट देना और यह प्रदर्शित कर देना कि गणितीय पद्धति का विनियोग (यदि उसका उद्देश्य स्वयं इस प्रक्रिया की मर्यादाओं को ही स्पष्टतर ढंग से प्रदर्शित करना न हो) इस प्रकार के ज्ञान में लेशमात्र भी सुविधाजनक नहीं हो सकता, एवं यह (प्रकट करना) कि मापविज्ञान (या गणित) और दर्शनशास्त्र (यद्यपि प्राकृतिकविज्ञान में वे निश्चय ही एक दूसरे के सहचर हैं) दो नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं, अतएव एक एक की प्रक्रिया का अनुकरण दूसरे के द्वारा कदापि नहीं किया जा सकता यह सब कुछ करना अनिवार्य हो जाता है।

गणित की यथातथ्यता (या तलस्पर्शिता) परिभाषाओं, स्वयंसिद्ध आदेश-सूत्रों और निरूपपादान (डैफ़ीनीशन्, ऐक्ज़ियम्, डिमॉन्स्ट्रेशन्) पर आश्रित है। मैं यह प्रदर्शित करने से अपने को सन्तोष प्रदान करूँगा, कि जिस अर्थ में इनको गणित-

वेत्ता ग्रहण करता है उसमें इनमें से एक भी दार्शनिक के द्वारा सम्प्राप्त अथवा अनुकृत नहीं किया जा सकता। मैं यह दिखलाऊँगा कि मापविज्ञानवेत्ता (अथवा भूमितिविज्ञानवेत्ता) अपनी पद्धति के अनुसार दर्शनशास्त्र (के क्षेत्र) में ताश के पत्तों के भवनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं बना सकेगा, जब कि दर्शनवेत्ता अपनी पद्धति के अनुसार गणित में केवल वाचालता को उत्पन्न (या उत्तेजित) कर सकता है, (यद्यपि दर्शनशास्त्र का सारतत्व इसी बात में संनिहित है कि वह अपनी सीमाओं को जाने) और गणितवेत्ता भी (यदि उसकी प्रज्ञा स्वयं पहले से ही कुछ प्रकृति के द्वारा मर्यादित और उसी के क्षेत्र में संकुचित न हो तो) दर्शनशास्त्र की चेतावनियों को नहीं ठुकराएगा, अथवा अपने उससे ऊँचा नहीं मान सकेगा।

१. परिभाषाओं के विषय में विचार—किसी वस्तु की परिभाषा करना, जैसा कि इस शब्द से ही स्पष्ट है, वास्तव में किसी वस्तु के परिपूर्ण संबोध को उसकी सीमाओं के भीतर उसके आद्यमौलिक रूप में उपस्थित करनामात्र है। कां. परिभाषा का आशय बस इतना ही है। इस माँग के अनुसार दृष्ट (या आनुभविक) संबोध की परिभाषा बिलकुल भी नहीं की जा सकती, प्रत्युत उसको केवल स्पष्ट किया जा सकता है। क्योंकि कारण यह है कि उसमें एक निश्चित प्रकार के ऐन्द्रिय विषय के कुछ थोड़े से ही लक्षण-चिह्न उपलब्ध होते हैं, इसलिए यह कभी निश्चय नहीं होता कि एक और अभिन्न विषय को सूचित करते समय किसी शब्द के द्वारा कहीं एक समय अधिक और दूसरे समय कम लक्षण-चिह्नों का विचार तो नहीं करते हैं। इस प्रकार, एक मनुष्य स्वर्ण के संबोध में उसके भारीपन, रंग, कुट्टयता (उद्वर्तनीयता) इत्यादि विशेषताओं के अतिरिक्त उसमें जंग न लगने की भी विशेषता का विचार कर सकता है, जब कि दूसरा आदमी स्यात् उसके विषय में कुछ भी न जानता हो। कतिपय निश्चित लक्षण-चिह्नों से तभी तक काम लिया जाता है जब तक वे विभेद करने के लिये पर्याप्त होते हैं, नवीन निरीक्षण कुछ विशेषताओं को हटा देते हैं और कुछ अन्य विशेषताओं को जोड़ देते हैं, इस प्रकार संबोध कभी भी स्थायी सुनिश्चित सीमाओं के भीतर स्थित नहीं रहता।

कां. परिपूर्णता का आशय है लक्षण-चिह्नों की स्पष्टता और पर्याप्तता; सीमाओं से तात्पर्य है सुनिश्चितत्व (या याथार्थ्य), अर्थात् उपर्युक्त लक्षण-चिह्न संख्या में उतने से अधिक नहीं हैं जितने कि परिपूर्ण संबोध के लिये अपेक्षित हैं, किन्तु आद्यमौलिक रूप में का अर्थ यह है कि इन सीमाओं का यह निर्धारण किसी अन्य वस्तु से व्युत्पादित नहीं है, और इसलिये किसी उपपत्ति की अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि यदि ऐसा हो तो वह इस कल्पित्त स्पष्टीकरण (या परिभाषा को) उसके विषय से संबंध रखने वाली समस्त विभावनाओं के ऊपर स्थित होने के अयोग्य सिद्ध कर देगा।

और इस प्रकार के दृष्ट (या आनुभविक) संबोध की परिभाषा प्रस्तुत करने से, उदाहरणार्थ जल की परिभाषा करने से कौन सा उपयोग सिद्ध होगा, क्योंकि जब जल और उसकी विशषताओं की चर्चा उपस्थित होती है तो 'जल' शब्द से किस बात का विचार किया जाता है इतने पर नहीं ठहरा जाता प्रत्युत उसके संबंध में प्रयोगों की ओर प्रवृत्त हुआ जाता है, और रहा शब्द, वह अपने साथ संपृक्त कतिपय लक्षण-चिह्नों के सहित, उस वस्तु की संज्ञामात्र माना जाना चाहिये न कि संबोध, अतः तथाकथित परिभाषा शब्द निर्धारण की अपेक्षा और कुछ भी नहीं है। दूसरी ओर भी, सच पूछिए तो किसी भी प्रागनुभवात्मकतया दिए हुए संबोध की, उदाहरणार्थ द्रव्य, कारण, उचित (न्याय) साम्य, इत्यादि की परिभाषा नहीं की जा सकती। क्योंकि मैं इस विषय में तब तक कदापि सुनिश्चिततया आश्वस्त नहीं हो सकता कि किसी दिये हुए (किन्तु अभी तक अस्त-व्यस्त) संबोध का स्पष्ट प्रत्युपस्थापन पूर्णतया विकसित हो चुका है, जब तक कि मैं यह जान लूँ कि वह विषय के लिये सुपर्याप्त है। परन्तु क्योंकि उसका संबोध, जैसा कि वह दिया हुआ है, अपने में बहुत सी अस्पष्ट प्रत्युपस्थापनाओं को अन्तर्विष्ट किये हो सकता है, जिनकी हम अपने विश्लेषण में अवहेलना कर जाते हैं, यद्यपि हम उनको संबोध के विनियोग में सर्वदा प्रयुक्त करते रहते हैं, अतः मेरे संबोध की पूर्णता सर्वदा संदिग्ध रहती है, तथा समुपयुक्त उदाहरणों के बाहुल्य के द्वारा वह केवल संभाव्य बन सकती है, परन्तु कदापि भी स्वयंसिद्ध प्रकार से निश्चित नहीं बन सकती। परिभाषा शब्द की अपेक्षा मैं यहाँ विवरण शब्द का प्रयोग करना अधिक वांछनीय समझता हूँ, जो फिर भी सावधानतापूर्ण (और संयत) शब्द है, और जिसको आलोचक, उपर्युक्त विश्लेषण की पूर्णता के विषय में संदेह रखते हुए भी, एक निश्चित सीमा तक प्रामाणिक मान सकता है। तब इस प्रकार क्योंकि न तो आनुभविक (या दृष्ट) संबोधों की ही परिभाषा की जा सकती है और न प्रागनुभवात्मकतया दिये हुए संबोधों की, इसलिये तो फिर केवल स्वच्छन्दतया निर्मित (या कल्पित) संबोधों के अतिरिक्त और कोई ऐसे संबोध अवशिष्ट नहीं रह जाते जिनके ऊपर इस कौशल का परीक्षण किया जा सके। ऐसे प्रसंग में मैं अपने संबोध की परिभाषा तो सर्वदा ही दे सकता हूँ, क्योंकि, जब उस (संबोध) को मैंने जानबूझ कर स्वयं बनाया है और वह मुझको न तो बोधवृत्ति के स्वरूप के द्वारा दिया गया है और न अनुभव के द्वारा, तब मुझको यह अवश्य ही जानना चाहिये कि मैं ने क्या विचारना चाहा है, किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि मैं ने उस (संबोध) के द्वारा एक सच्चे विषय की परिभाषा की है। क्योंकि यदि संबोध आनुभविक प्रतिबन्धों (या शर्तो) पर आश्रित होता है, जैसे कि जहाज़ की घड़ी का संबोध है, तो इस स्वच्छन्द संबोध के द्वारा मुझको अपने विषय

(की सत्ता) और उसकी संभाव्यता को तो प्रदान नहीं किया जा सकता, उससे तो मैं यह भी नहीं जानता कि उसका कोई विषय भी है (या नहीं), तथा मेरे स्पष्टीकरण को किसी विषय की परिभाषा कहने की अपेक्षा (मेरी अपनी योजना) की घोषणा (या ऐलान) कहना अधिक अच्छा होगा। अतः ऐसे संबोधों के अतिरिक्त जिनमें स्वेच्छानिर्मित संश्लेषण अन्तर्विष्ट रहता है जो प्रागनुभवात्मकतया बनाया जा सकता है और कोई अन्य ऐसे संबोध शेष नहीं रह जाते जो परिभाषा के लिये उपयुक्त हों; अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि परिभाषाएँ केवल गणित में (ही हो सकती) हैं। क्योंकि यह (गणित विद्या) जिस विषय का विचार करती है उसको प्रागनुभवात्मकतया स्वतः प्रत्यक्ष में प्रत्युपस्थापित भी करती है, और यह विषय निश्चय ही अपने में संबोध की अपेक्षा कुछ भी कम या अधिक अन्तर्विष्ट विषय नहीं रख सकता, क्योंकि विषय का संबोध मूलतः परिभाषा (या स्पष्टीकरण) के द्वारा ही दिया गया था—अर्थात् परिभाषा को (या स्पष्टीकरण को) बिना किसी अन्य तत्व से व्युत्पादित किये हुए दिया गया था। विवरण, स्पष्टीकरण, घोषणा और लक्षण—इन चार संज्ञाओं के लिये जर्मन भाषा में एक शब्द "एर्क्लैरुंग" के अतिरिक्त और अधिक शब्द नहीं है, इसलिये जब हम दार्शनिक स्पष्टीकरणों के लिये परिभाषा के आदरसूचक शब्द को अस्वीकार करें तो हम को अपनी माँग की कठोरता को कुछ कम कर देना चाहिये, और हम इस समस्त (पूर्वोक्त) विवेचन को इस प्रकार संक्षिप्त कर देना चाहेंगे कि दार्शनिक परिभाषाएँ दिये हुए संबोधों के विवरणरूपमात्र हैं, किन्तु गणित की परिभाषाएँ मस्तिष्क के द्वारा मूलतः विरचित संबोधों की रचनाएँ हैं, तथा इन में से प्रथम केवल विश्लेषण के द्वारा वैश्लेषिकतया घटित होती हैं (ऐसे विश्लेषण के द्वारा जिसकी पूर्णता स्वयंसिद्ध रूप से निश्चित नहीं है) और दूसरी सांश्लेषिकतया घटित होती हैं, और इसलिये वे (अर्थात् गणित की परिभाषाएँ) स्वयं संबोधों को बनाती हैं, जब कि इसके विपरीत प्रथम प्रकार की (अर्थात् दार्शनिक) परिभाषाएँ उन (संबोधों) को केवल स्पष्ट करती हैं। इससे यह परिणाम निकलता है—

(क) कि दर्शनशास्त्र में, केवल कुछ प्रयोगात्मक निमित्त को छोड़ कर, गणित का ऐसा अनुकरण नहीं किया जाना चाहिये कि श्रीगणेश ही परिभाषा के द्वारा किया जाए। क्योंकि जब वे परिभाषाएँ दिये हुए संबोधों का विश्लेषण हैं, अतः संबोधों की सत्ता (यद्यपि वह अस्पष्ट और अस्तव्यस्त ही क्यों न हो) पहले से ही सिद्ध हुई, और इसलिये अपूर्ण विवरण पूर्णविवरण का पूर्वगामी हुआ, और इस प्रकार हम उन थोड़े से लक्षणों से, जिनको हमने इस समय तक के अपूर्ण विश्लेषण व्युत्पादित किया है, परिपूर्ण विवरण अर्थात् परिभाषा तक पहुँचने से पहले बहुत सी बातों का अनुमान

कर सकते हैं; संक्षेप में कह सकते हैं कि दर्शन में तो परिभाषा अपने परिपूर्ण यथार्थ स्पष्ट रूप में, हमारे अनुष्ठान (या कार्य) के आरंभ की अपेक्षा परिसमाप्ति पर आनी चाहिये।[कां.] इसके विपरीत गणितशास्त्र में हमको उस परिभाषा के पूर्व कोई भी संबोध प्राप्त नहीं होता, जिस (परिभाषा) से संबोध पहले पहल प्रदान किया जाता है; इस कारण गणित को सर्वदा परिभाषा से आरंभ होना चाहिये, और उसी से वह आरंभ होता भी है।

(ख) गणित की परिभाषाएँ कभी गलत नहीं हो सकतीं। क्योंकि संबोध पहले पहल परिभाषा के द्वारा प्रदान किया जाता है इसलिए उसमें केवल उतनी ही बात अन्तर्विष्ट होती है जितनी बात परिभाषा उसके द्वारा विचारना चाहती है। परन्तु यद्यपि उसके अन्तर्विष्ट में विषय में कोई गलती प्रवेश नहीं पा सकती, तथापि कभी-कभी (यद्यपि अत्यन्त विरल अवसरों पर) उसके आकार में (प्रावरण में) त्रुटि या गलती हो सकती है, अर्थात् ठीक ठीक अभिव्यंजना में (या यथार्थ में) खामी हो सकती है। उदाहरण के लिए वृत्त की इस परिभाषा में कि वह एक ऐसी वक्र रेखा है जिसका प्रत्येक विन्दु एक ही विन्दु (अर्थात् मध्यविन्दु या केन्द्र) से एक समान दूरी पर स्थित रहता है, यह त्रुटि या गलती है कि इसमें "वक्र" यह निर्धारणा अनावश्यक-तया अन्तर्भुक्त कर दी गई है। क्योंकि इस परिभाषा से व्युत्पादित और सरलता से उपपाद्य एक विशिष्ट प्रमेय होना चाहिए कि ऐसी प्रत्येक रेखा जिसके सब विन्दु एक और अभिन्न विन्दु से एक समान दूरी पर अवस्थित हों वक्र रेखा (जिसका कोई भी खंड सरल न हो) होनी चाहिये। इसके विपरीत वैश्लेषिक परिभाषाएँ, या तो ऐसे लक्षण-चिह्नों को प्रविष्ट करने के कारण जो कि वास्तव में संबोध में अन्तर्विष्ट नहीं

कां. दर्शनशास्त्र सदोष परिभाषाओं से भरा पड़ा है, विशेष कर ऐसी परिभाषाओं से जो यद्यपि कुछ वास्तविक तत्वों से समन्वित हैं परन्तु पूरी संख्या में उनको नहीं रखतीं। इसलिए यदि किसी संबोध की परिभाषा के पूर्ण होने के पूर्व उसका कोई लेशमात्र उपयोग न किया जा सकता हो तब तो दर्शनशास्त्र की बड़ी बुरी दयनीय दशा हो जाए। परन्तु क्योंकि, जहाँ तक विश्लेषण से प्राप्त होनेवाले तत्वों की पहुँच है, उनका अच्छा और सुरक्षित उपयोग फिर भी किया ही जा सकता है, इसलिये त्रुटिपूर्ण परिभाषाएँ, अर्थात् ऐसी प्रस्थापनाएँ जो यथार्थ में अभी परिभाषाएँ न होते भी सच्ची हैं, और उनके (=परिभाषाओं के) निकट पहुँचने वाली हैं, अतिशय उपयोगिता के साथ काम में लाई जा सकती हैं। गणित में परिभाषा का संबंध (उसकी) सत्ता से (आड् ऐस्से) है, दर्शन में और अधिक सत्ता (आड् मैलियुस् ऐस्से) से है। यद्यपि यह अत्यन्त अभीष्ट है, किन्तु परिभाषा को पहुँचना अत्यन्त कठिन है। स्मृति-कार या न्यायवेत्ता आज भी न्याय की परिभाषा की खोज में ही लगे हुए हैं।

थे, अथवा उस पूर्णता की कमी के कारण जिससे परिभाषा की सारवत्ता घटित होती है, (क्योंकि विश्लेषण की पूर्णता के संबंध में कदापि पूर्णतया निश्चिन्त नहीं हुआ जा सकता) अनेकों प्रकार से गलत हो सकती हैं । इन कारणों से गणित की परिभाषा संबंधी प्रक्रिया का दर्शनशास्त्र में अनुकरण किया जाना संभव नहीं है ।

२. स्वयंसिद्ध प्रस्थापनाओं के संबंध में विचार । जहाँ तक इस प्रकार की प्रस्थापनाएँ अपरोक्षतया सुनिश्चित होती हैं वे सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक सिद्धान्त रूप होती हैं। अब (कठिनाई यह है कि) कोई भी संबोध किसी दूसरे के साथ सांश्ले-षिकतया और साथ ही साथ अपरोक्षतया संबद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि हम किसी एक संबोध से दूसरे के प्रति संक्रमण कर सकें इसके लिये एक तीसरा मध्यस्थता करने वाला ज्ञान आवश्यक है । अब क्योंकि दर्शनशास्त्र केवल संबोधानुसारी बौद्धिक ज्ञान है, अतएव, उसमें कोई ऐसे सिद्धान्त नहीं मिल सकते जो "स्वयंसिद्ध" नाम के योग्य हों । इसके विपरीत गणित स्वयंसिद्ध प्रस्थापनाओं के लिये (सर्वथा) उपयुक्त है क्योंकि वह विषय के स्वतःप्रत्यक्ष में संबोध की रचना के द्वारा विषय के विधेयों को प्रागनुभवात्मकतया तथा अपरोक्षतया दोनों ही प्रकार से समुच्चित कर सकता है, जैसे उदाहरण के लिये, तीन विन्दु सर्वदा एक समतल में स्थित रहते हैं। दूसरी ओर, केवल संबोधों से व्युत्पादित सांश्लेषिक सिद्धान्त कदापि अपरोक्षतया निश्चित नहीं हो सकता; जैसे उदाहरण के लिये इस प्रस्थापना को लिया जा सकता है कि जो कुछ भी घटित होता है उसका कारण हुआ करता है, क्योंकि यहाँ मुझको घूमकर किसी तीसरी वस्तु की ओर देखना पड़ता है, अर्थात् किसी अनुभव में कालावच्छिन्नता के प्रतिबन्ध की ओर देखना पड़ता है; तथा मैं ऐसे सिद्धान्त को, आपरोक्षतया सीधे केवल संबोधों से ही नहीं जान सकता । इसी प्रकार युक्त्याश्रित या विवेचनाश्रित सिद्धान्त भी अपरोक्षानुभूत्यात्मक सिद्धान्तों, अर्थात् स्वयंसिद्धान्तों से कुछ बिलकुल भिन्न ही वस्तु हुआ करते हैं । इन (युक्त्याश्रित सिद्धान्तों) को सर्वदा ही निगमन की आवश्यकता हुआ करती है, जब कि दूसरी ओर स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों का काम बिलकुल इनके बिना चल सकता है, और क्योंकि यह (स्वयंसिद्ध सिद्धान्त) इसी आधारभूत हेतु के कारण स्पष्ट भी होते हैं, जैसा होने का दावा, दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त, अपनी समस्त निश्चितता के साथ, कदापि नहीं कर सकते, अतः शुद्ध अनुभवातीत बुद्धि के सांश्लेषिक सिद्धान्त सब के सब इतने अधिक प्रत्यक्ष होने से (जैसा कि उनके विषय में हठपूर्वक दावा किया जाता है) बहुत पिछड़े हुए हैं जितनी प्रत्यक्ष यह प्रस्थापना है कि दो गुने दो चार होते हैं । यह निश्चय ही सच्ची बात है कि प्रस्तुत ग्रंथ के वैश्लेषिकी खंड में मैंने शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्तों की सारणी (या सूची) में

अन्तःप्रत्यक्ष के कतिपय स्वयंसिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है, परन्तु वहाँ जिस सिद्धांत का उल्लेख (या उपयोग) किया गया है वह स्वयमेव स्वयंसिद्ध सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत वह तो केवल स्वयंसिद्ध सामान्य की संभाव्यता के सिद्धान्त को सूचित करने के काम का है, परन्तु अपने आप में संबोधों से व्युत्पादित सिद्धान्तमात्र है। क्योंकि गणित विद्या की संभाव्यता को भी तो प्रदर्शित करना अनुभवातीत दर्शनशास्त्र में आवश्यकीय है। इसलिये दर्शनशास्त्र (या फिलॉसफ़ी) के कोई स्वयंसिद्धान्त नहीं हैं, और वह अपने प्रागनुभवात्मक सिद्धान्तों को कदापि भी इतने ऐकान्तिक प्रकार से प्रस्थापित नहीं कर सकता, प्रत्युत इन (सिद्धान्तों) की दृष्टि से तो उसको अपने अधिकार को एक परिपूर्ण निगमन के द्वारा उचित ठहराए जाने को सहने की विनम्रता बरतनी चाहिये।

३. उपपादनों के संबंध में विचार। केवल स्वयंसिद्ध उपपत्ति को, जहाँ तक कि वह स्वतःप्रत्यक्ष हो, उपपादन कहा जा सकता है। अनुभव हमको, जो है, उसकी शिक्षा भले ही देता है, पर यह नहीं बतला सकता कि जो है वह बिलकुल भी अन्यथा नहीं हो सकता। परिणामतः, उपपत्ति के कोई भी आनुभविक आधारभूत हेतु किसी स्वयंसिद्ध उपपत्ति को सम्प्राप्त नहीं कर सकते। (युक्त्याश्रित ज्ञान में प्रयुक्त) प्रागनुभवात्मक संबोधों से भी, स्वतः प्रत्यक्ष निश्चितता, अर्थात् (उपपादक) साक्ष्य कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता, फिर चाहे विभावना अन्यथा कितनी ही अधिक स्वयंसिद्धरूपेण निश्चयोत्पादक क्यों न हो। अतएव केवल गणित विद्या में ही प्रत्यक्षण (या उपपादन) हो सकते हैं, क्योंकि वह अपने ज्ञान को संबोधों से व्युत्पादित नहीं करती प्रत्युत उन (संबोधों) के निर्माण से, अर्थात् उन स्वतःप्रत्यक्ष से व्युत्पादित करती है जो संबोधों के अनुसार प्रागनुभवात्मकतया दिया हुआ हो सकता है। समीकरणों के सहित बीजगणित की भी पद्धति, जिससे प्रकारान्तरण के द्वारा उपपत्ति के सहित शुद्ध उत्तर निकल आता है, निश्चय ही भूमितिशास्त्र की पद्धति नहीं है प्रत्युत विशिष्टतया निर्माण स्वरूप ही है, जिसमें चिह्नों या प्रतीकों से, विशेष कर परिमाणों के संबंधों से वास्ता रखने वाले प्रतीकों से संसक्त संबोध अन्तःप्रत्यक्ष में उपस्थित किये जाते हैं, और यह पद्धति (चाहे इसकी शैक्षणिक सुविधा पर एक बार भी दृष्टिपात न किया जाए), सब अनुमानों को प्रत्येकशः हमारी आँखों के समक्ष उपस्थित करके अशुद्धियों को सुरक्षित कर देती है। जब कि इसके विपरीत दार्शनिक ज्ञान को इस सुविधा के बिना ही रहना पड़ता है, क्योंकि इसको तो सर्वव्यापक का सर्वदा ही (संबोधों के द्वारा) निगूढ़ अमूर्त रूप में विचार करना पड़ता है, किन्तु गणित सर्वव्यापक का विचार (एक अकेले स्वतःप्रत्यक्ष में) मूर्तरूप में और तिसपर भी साथ ही शुद्ध प्रागनुभवात्मक

प्रत्युपस्थापना के द्वारा कर सकता है, जिससे सब गलतियाँ एकदम प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती हैं। इसलिये इन दोनों में से प्रथम को मैं प्रत्यक्षण की अपेक्षा अक्रोमाटिशे (यौक्तिक या विवेचनात्मक) उपपत्ति नाम से अभिहित करना अधिक पसन्द करूँगा क्योंकि वे केवल शब्दों (विचारगत विषयों) के द्वारा प्रतिपादित की जा सकती हैं, (प्रत्यक्षण इसलिये नहीं कहूँगा क्योंकि) वे तो जैसा कि उनके नाम से सूचित होता है, विषय के अपरोक्षानुभव (या स्वतः प्रत्यक्ष) के द्वारा चालू होते हैं।

इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि दर्शनशास्त्र की प्रकृति से बिलकुल भी मेल खाने वाली बात नहीं है वह, विशेष कर शुद्ध बुद्धि के क्षेत्र में, अयौक्तिक (अविवेचनात्मक) पद्धति का अभिमान करे, अपने को गणित की उपाधि और अधिकार चिह्नों से विभूषित करे, जिस (गणित) की कोटि से यह संबद्ध नहीं है, यद्यपि जिसके साथ बहिन जैसे मेल-जोल की आशा करने का उसके पास पर्याप्त (=पूर्ण) कारण है। यह सब व्यर्थ के गर्व हैं जो कदापि सफल नहीं हो सकते, प्रत्युत जो दर्शनशास्त्र को अपने (सच्चे) उद्देश्य से, (जो उस बुद्धि की भ्रान्तियों को उद्घाटित करना है जो अपनी मर्यादाओं को भूल गई है, तथा संबोधों के पर्याप्त स्पष्टीकरण के द्वारा उस बुद्धि को उसके दंभपूर्ण चिन्तनात्मक अनुसंधानों से मोड़ कर विनीत किन्तु पूर्ण आत्मज्ञान की ओर लौटाना है) निश्चयमेव भटका देते हैं। इसलिए बुद्धि को अपने अनुभवातीत प्रयत्नों में ऐसे भरोसे के साथ आगे की ओर नहीं देखना चाहिये कि मानों वह मार्ग जो इसने पूरा कर लिया है सीधे लक्ष्य की ओर ही ले जाने वाला है, और मानों आधारभूत पूर्वमान्यताएँ इतनी सुरक्षितता के साथ विश्वास करने योग्य हैं कि उनकी ओर बहुधा बार बार मुड़ कर यह देखना और विचार करना आवश्यक नहीं है कि स्यात् कहीं अनुमानों के क्रम में ऐसी गलतियों का उद्घाटन नहीं हो सकता (है) जो प्रारंभिक तत्वों या सिद्धान्तों में दृष्टिपथ में न आई हों, तथा जो इस बात को अनिवार्य बना देती है कि या तो उन सिद्धान्तों को पूर्वापेक्षा अधिक सुनिर्धारित किया जाए अथवा पूर्णतया बदल दिया जाए।

मैं समस्त स्वयंसिद्ध प्रस्थापनाओं को, चाहे तो वे प्रत्यक्षकरणीय (प्रत्यक्षण योग्य) हों अथवा अपरोक्षतया सुनिश्चित हों, दो भागों में विभाजित करता हूँ जिन के नाम निर्मननात्मक (या निर्विचार—डॉगमाटा) तथा मननात्मक (सचार—माथेमाटा) हैं। संबोधों से सीधी व्युत्पादित सांश्लेषिक प्रस्थापना निर्विचार प्रस्थापना है; इसके विपरीत ऐसी ही (अर्थात् सांश्लेषिक) प्रस्थापना जो संबोधों के निर्माण से उपलब्ध हो माथेमा (सविचार) कहलाती है। वैश्लेषिक विभावनाएँ हमको किसी विषय के संबंध में वास्तव में उसकी अपेक्षा जो कि उसके संबोध में, (जो

हमको उस विषय के संबंध में प्राप्त है) पहले से अन्तर्विष्ट है, और कुछ भी अधिक नहीं सिखातीं, क्योंकि वे ज्ञान को विषय के संबोध से परे विस्तीर्ण नहीं करतीं, प्रत्युत उसको स्पष्टमात्र करती हैं। इसलिये वे औचित्य के साथ निर्विचार प्रस्थापनाएँ नहीं कही जा सकतीं (जिस शब्द का अनुवाद स्यात् "शिक्षोक्ति" लेरस्प्रीशे किया जा सकता है) । परन्तु पूर्वोक्त दो प्रकार की सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाओं में से, शब्दों के सामान्य प्रयोग के अनुसार, केवल वे ही "डॉगमा" (शिक्षोक्ति या राद्धान्त) कही जा सकती हैं जो दार्शनिक ज्ञान से संबंध रखती हैं; और अंकगणित तथा भूमितिशास्त्र की प्रस्थापनाओं को तो मुश्किल से ही राद्धान्त (या सिद्धान्त–डॉग्मा) कहा जा सकेगा। इस प्रकार शब्दों (या भाषा) का रूढ़ प्रयोग उस स्पष्टीकरण को जो हमने दिया है पुष्ट करता है कि केवल संबोधों से व्युत्पादित विभावनाएँ, न कि संबोधों की निर्मिति से व्युत्पादित होने वाली विभावनाएँ, निर्विचार या सैद्धान्तिक विभावनाएँ कहला सकती हैं ।

अब शुद्ध बुद्धि के समस्त अधिकारक्षेत्र (गोचर) में, उसके केवल चिन्तनात्मक विनियोग में कोई एक अकेली सांश्लेषिक विभावना ऐसी नहीं है जो सीधे संबोधों से व्युत्पन्न हुई हो। क्योंकि जैसा हम दिखला चुके हैं, बुद्धि (केवल) भावों के द्वारा किन्हीं ऐसी सांश्लेषिक विभावनाओं के लिये अक्षम है जो वैषयिक प्रामाणिकता रखती हों, पर बोधवृत्ति के संबोधों के द्वारा वह (अर्थात् शुद्ध बुद्धि) सचमुच ही सुनिश्चित सिद्धान्तों को स्थापित करती है, परन्तु ऐसा वह केवल सीधे संबोधों से ही नहीं करती, प्रत्युत केवल परोक्षतया इन संबोधों के किसी ऐसी वस्तु के साथ संबंध के द्वारा स्थापित करती है जो पूर्णतया संभाव्य है अर्थात् (जो दूसरे शब्दों में) संभाव्य अनुभव है; जब यह अनुभव (अर्थात् संभाव्य अनुभव के विषय के रूप में कोई वस्तु) पहले से ही कल्पना किया हुआ होता है, तब यह सिद्धान्त निश्चय ही स्वयंसिद्धरूपेण निश्चित होते हैं, किन्तु स्वयं अपने आप में, अपरोक्षतया वे कदापि (या एक बार भी) प्रागनुभवात्मकतया नहीं जाने जा सकते। इस प्रकार इस प्रस्थापना में, कि प्रत्येक बात जो घटित होती है उसका कारण होता है, केवल संबद्ध संबोधों से ही कोई आधारभूत अन्तर्दृष्टि नहीं प्राप्त कर सकता। इस कारण यह कोई राद्धान्त नहीं है, यद्यपि एक दूसरे ही दृष्टि-विन्दु से, अर्थात् इसके संभाव्य विनियोग के एकमात्र क्षेत्र की अर्थात् अनुभव की दृष्टि से यह पूर्णतया भले प्रकार से और स्वयंसिद्ध निश्चितता के साथ सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु यह आधारभूत सिद्धान्त कहलाता है न कि शिक्षोक्ति (या राद्धान्त) यद्यपि इसको स्वयमेव सिद्ध करना आवश्यक है, ऐसा इसलिये है क्योंकि इसमें यह विलक्षण विशेषता है कि यह स्वयेव अपनी उपपत्ति के आधारभूत हेतु अर्थात्

अनुभव को सर्वप्रथम संभव बनाता है, और इस अनुभव में यह स्वयं सर्वदा पूर्वतः माना हुआ होना चाहिये ।

अब यदि, शुद्ध बुद्धि के चिन्तनात्मक विनियोग में, अन्तर्विष्ट विषय की दृष्टि से भी कोई राद्धान्त बिलकुल भी न हो, तो समस्त यौक्तिक पद्धतियाँ चाहे तो वे गणित-तज्ञों से उधार ली गई हों, अथवा विशेष प्रकार से आविष्कृत की हुई हों, एक समान रूप से अनुपयुक्त होती हैं । क्योंकि वे केवल दोषों और गलतियों को छिपाने के काम आती हैं, और दर्शनशास्त्र को प्रतारित करती हैं, जिस (दर्शनशास्त्र) का वास्तविक उद्देश्य है बुद्धि के प्रत्येक पग को स्पष्टतम प्रकाश में उपस्थित करना । पर फिर भी इसकी पद्धति सर्वदा सुव्यवस्थित तो हो ही सकती है । क्योंकि विषयिगततया हमारी बुद्धि स्वयं ही एक संस्थान है, यद्यपि संबोधों के द्वारा, अपने शुद्ध विनियोग में यह ऐसा संस्थान है जो एकता के सिद्धान्त के अनुसार अनुसंधान करने के लिये उदृष्ट है, जिसके लिये (अनुसंधान का) उपादान केवल अनुभव के द्वारा प्रदान किया जाता है । अनुभवातीत दर्शनशास्त्र की विशिष्ट पद्धति के संबंध में यहाँ कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हमारा वास्ता केवल अपनी शक्तियों के संबंध में यह आलोचनात्मक पड़ताल करने से है कि उनसे क्या आशा की जा सकती है——हमको यह पता लगाना है कि क्या हम निर्माण कर भी सकते हैं, तथा जो सामग्री (प्रागनुभवात्मक शुद्ध संबोधों के रूप में) हमारे पास है उसके द्वारा हमारा भवन कितनी ऊँचाई तक उठाया जा सकता है ।

प्रथम अध्याय

द्वितीय खंड

शुद्ध बुद्धि के वादविवाद संबंधी विनियोग के संबंध में उसका अनुशासन

बुद्धि को अपने समस्त उपक्रमों में आलोचना के अधीन रहना पड़ेगा, और यदि वह किसी निषेध द्वारा आलोचना की स्वतंत्रता को सीमित (या मर्यादित) कर सकी तो, वह अपने ऊपर हानिकारक संदेह को आकृष्ट करके, बिना अपने को हानि पहुँचाये हुए ऐसा नहीं कर सकेगी । कोई भी वस्तु अपनी उपयोगिता की दृष्टि से इतनी महत्त्व-पूर्ण नहीं है, कोई इतनी पवित्र नहीं है कि जो इस परीक्षणात्मक एवं निरीक्षणात्मक खोज से, जो किसी व्यक्ति के समादर को नहीं जानता, अपने से (बरी या) मुक्त रख सके । इस स्वतंत्रता के ऊपर तो बुद्धि का अस्तित्व तक निर्भर है, क्योंकि बुद्धि का अधिकार अधिनायकवादी अधिकार तो है नहीं, प्रत्युत उसका निर्णय तो सर्वदा स्वतंत्र नागरिकों के मतैक्य की अपेक्षा और अधिक कुछ भी नहीं है, जिनमें से प्रत्येक को न

केवल अपने संदेह (या संकोच) को यहाँ तक अपने प्रतिषेध को भी बिना रुकावट के प्रकट कर सकना चाहिये।

परन्तु जब बुद्धि आलोचना की अधीनता को कभी अस्वीकार नहीं कर सकती, तो उसको उससे भयभीत होने का भी कोई कारण नहीं है। किन्तु अपने अयौक्तिक (या दैष्टिक) विनियोग में (अगिणितीय विनियोग में) शुद्ध बुद्धि सचमुच ही अपने सर्वोच्च नियमों के ऐसे नपेतुले निर्वाह (या निरीक्षण) के संबंध में इतनी पूर्णतया सचेत नहीं होती कि वह अपने को एक उच्चतर न्यायायिक बुद्धि की आलोचनात्मक दृष्टि के समक्ष संकोच के साथ, इतना ही नहीं समस्त आकल्पित दैष्टिक अधिकार के पूर्ण परित्याग के साथ प्रस्तुत करने में, संरुद्ध या निबाधित अनुभव न करे।

परन्तु जब उस (बुद्धि) का वास्ता न्यायाधीश के निर्णय के साथ नहीं होता प्रत्युत अपने साथी नागरिकों के दावों के साथ होता है, और जब उसको इनके विरुद्ध आत्म-रक्षा की कार्रवाई करनी पड़ती तो स्थिति बिलकुल दूसरी होती है। क्योंकि जब यह (साथी नागरिकों के दावे) चाहे निषेध में ही सही उतने ही अयौक्तिक होने के इच्छुक होते हैं, जितने कि इस (बुद्धि) के दावे अभिपोषण में, तब यह मानवोचित दृष्टि से (कात अंथ्रोपॉन्) अपने औचित्य का प्रतिपादन ऐसे प्रकार से करने में समर्थ होती है जो इसको समस्त हानियों (या आघातों) से सुरक्षित कर देता है और इसके सुर-क्षित स्वामित्व का ऐसा अधिकार प्रदान करता है जिसको बाह्य दावे का भय नहीं होना चाहिये, हालाँकि (यद्यपि) सत्य की दृष्टि से (कात अलेथैइयान्) यह अधि-कार स्वयं ही पर्याप्तरूपेण उपपन्न नहीं हो सकता।

शुद्ध बुद्धि के विवादात्मक विनियोग से मेरा आशय उसकी अपनी प्रस्थापनाओं का उनके अयौक्तिक निषेध (या खंडन) के विरुद्ध संरक्षण (या मंडन) है। यहाँ विवाद या प्रश्न यह नहीं है कि स्यात् उस (शुद्ध बुद्धि) के अपने ही दावे झूठे नहीं हो सकते, प्रत्युत बात केवल इतनी है कि कोई भी उनके विरुद्ध तत्व को कभी स्वयंसिद्ध निश्चितता के साथ (या केवल संभाव्यता की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा के साथ तक) दृढ़तापूर्वक नहीं कह सकता। क्योंकि यहाँ अपने स्वामित्व पर किसी की क्षमा-दया (या आनुकूल्य) से अधिकृत नहीं हैं, क्योंकि यद्यपि उन स्वामित्वों के प्रति हमारा अपना स्वत्व भले ही सन्तोषप्रद (या पर्याप्त) न हो, तथापि यह पूर्णतया निश्चित है कि कोई भी इस स्वत्व की अवैधता कभी सिद्ध नहीं कर सकता।

यह एक बड़े ही दुःख की और पीड़ा पहुँचाने वाली बात है कि शुद्ध बुद्धि की प्रति-द्वंद्विता भी हो, और यह बुद्धि जो कि समस्त विवादों के लिए सर्वोच्च न्यायालय है, इस प्रकार अपने ही साथ विवाद में फँसी पड़ी हो। निश्चय ही एक विगत अध्याय

में हमने इस प्रकार के प्रातिभासिक विरोध का वर्णन किया था, परन्तु वहाँ तो ऐसा प्रतीत हुआ कि वह भ्रान्ति पर आश्रित था, क्योंकि सामान्य पूर्वग्रह के अनुसार अवभासों को स्वरूपतः सत् वस्तु (या स्वलक्षण) मान लिया गया, और तदुपरान्त एक प्रकार से अथवा दूसरे प्रकार से उनके संश्लेषण की निरतिशय पूर्णता की माँग की गई (किन्तु जो उभय प्रकार से ही एक समान असंभव बात थी)——जो ऐसी माँग है कि जिसकी प्रत्याशा अवभासों के संबंध में बिलकुल भी नहीं की जा सकती। अतएव उस समय निम्नलिखित इन वाक्यों में बुद्धि का अपने विरुद्ध कोई वास्तविक विसंवाद (या विरोध) नहीं था कि (१) अपने आप में दी हुई अवभासों की श्रृंखला का आत्यन्तिक आद्यआरंभ हुआ करता है और (२) यह श्रृंखला ऐकान्तिकतया और अपने आप में बिना आरंभ के होती है; क्योंकि यह दोनों प्रस्थापनाएँ परस्पर भले प्रकार (या पूर्णतया) संगत हैं, इसलिये कि अवभास अपनी सत्ता की दृष्टि से (अवभास रूप में) अपने आप में स्वरूपतः कुछ भी नहीं है अर्थात् (इस प्रकार देखे जाने पर) कुछ आत्मविरोधी जैसे हैं, और इसलिये यह मान्यता (कि वे अवभास भी हैं और स्वरूपतः सत् या स्वलक्षण भी हैं) स्वाभाविकतया परस्पर विरोधी अनुमानों की ओर ले जाने वाली होगी।

परन्तु इस प्रकार की मिथ्या भ्रान्ति का बहाना उस समय नहीं किया जा सकता और उसके द्वारा बुद्धि के विवाद को उपर्युक्त प्रकार से दूर नहीं किया जा सकता, जब कि उदाहरण के लिये एक ओर आस्तिकतया यह दावा किया जाए कि परमसत्ता (या सत्त्व) है और इसके विपरीत दूसरी ओर नास्तिकतया यह कहा जाए कि कोई परमसत्ता नहीं है, अथवा जब मनोविज्ञान में एक ओर यह कहा जाता है कि ऐसी प्रत्येक वस्तु जो चिन्तन करती है आत्यन्तिक और स्थायी एकता से समन्वित होती है, और इस कारण क्षणिक भौतिक एकता से पृथक् होती है, और दूसरी ओर यह दावा किया जाता है कि आत्मा अभौतिक एकता नहीं है और इसलिये क्षणिकता से बरी (या मुक्त) नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ पर प्रश्नगत (या विवादग्रस्त) विषय ऐसे विजातीय तत्व से, जो उसकी प्रकृति से असंगत हो, मुक्त है और बोधवृत्ति का वास्ता यहाँ स्वरूपतः सत् वस्तुओं से है न कि अवभासों से। इसलिये यहाँ पर वास्तविक विवाद उपस्थित होगा, बशर्ते कि शुद्ध बुद्धि को निषेधात्मक (या नाकारात्मक) पक्ष में कोई ऐसी बात कहनी हो जो लगभग किसी दावे के आधारभूत हेतु के स्वरूप के समीप पहुँचती हो; क्योंकि जो लोग अयौक्तिकतया सकारात्मक दावे करते हैं उनकी उपपत्ति के आधारभूत हेतुओं की आलोचना का जहाँ तक संबंध है उसको भली भाँति अंगीकार किया जा सकता है, पर ऐसा इन दावों को बिना त्यागे हुए किया जा सकता है, जिन

सकारात्मक दावों के पक्ष में बुद्धि का हित है, जिस हित की दुहाई विरोधी पक्ष बिलकुल भी नहीं दे सकता।

मैं निश्चय ही उस सम्मति के साथ बिलकुल भी सहमत नहीं हूँ जिसको कतिपय श्रेष्ठ और विचारवान् पुरुषों ने (जैसे उदाहरण के लिये जुल्त्सर ने) अद्यावधि प्रयुक्त युक्तियों की दुर्बलता को दृष्टि में रखते हुए बहुधा प्रकट किया है, कि यह आशा की जा सकती है कि कभी भविष्य में हमारी शुद्ध बुद्धि की दो प्रमुख प्रस्थापनाओं का स्पष्ट प्रत्यक्षण आविष्कृत कर लिया जाएगा—कि ईश्वर की सत्ता है और भावी जीवन भी है। इसके विपरीत मैं इस विषय में निश्चिन्त हूँ कि ऐसा कभी घटित नहीं होगा। क्योंकि बुद्धि ऐसे सांश्लेषिक दावों के लिये, जिनका संबंध अनुभव के विषयों और उनकी आन्तरिक संभाव्यता से नहीं है, आधारभूत हेतु कहाँ पाएगी ? परन्तु यह भी स्वयंसिद्ध रूप से निश्चित है कि कभी कोई ऐसा आदमी प्रकट नहीं होगा जो इनकी विरोधी प्रस्थापना का (उपपत्ति के) लेशमात्र आभास के साथ—अयौक्तिकता के साथ तो और भी—दावा कर सकेगा। इसका कारण यह है, कि क्योंकि वह इसको भी शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही सिद्ध कर सकेगा, अतः उसको यह सिद्ध करने का उपक्रम करना होगा कि परमसत्ता (या सत्त्व) तथा हममें पाया जाने वाला विषयी, (शुद्ध बुद्धिमत्ता के रूप में) असंभव है। किन्तु वह उस ज्ञान को कहाँ से पाएगा, जो उसको इस प्रकार उन वस्तुओं के संबंध में सांश्लेषिकतया निर्णय करने में जो समस्त संभाव्य अनुभव से परे हैं, उचित ठहरा सके? इसलिये हम इस विषय में पूर्णतया अनवहित (या निश्चिन्त) हो सकते हैं कि कोई भी व्यक्ति कभी भी इसके प्रतिकूल प्रस्थापना को सिद्ध कर सकेगा, यहाँ तक कि इस विषय में बड़े विद्वत्तापूर्ण तर्कों को प्रस्तुत करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है; प्रत्युत हम इन प्रस्थापनाओं को, जो हमारी बुद्धि आनुभविक विनियोग में उसके चिन्तात्मक हितों के साथ भले प्रकार पूर्णतया मेल खाती है और इसके अतिरिक्त उन हितों को हमारे व्यावहारिक हितों से समन्वित करने का एकमात्र उपाय है, सर्वदा ही स्वीकार कर ले सकते हैं। जहाँ तक हमारे विरोधी का प्रश्न है (जो यहाँ केवल आलोचक ही नहीं माना जाना चाहिये) हम उसके लिये (सर्वदा) अपने (नोन् लिक्वट्) "स्पष्ट नहीं है" (अथवा अनुज्ञात नहीं है) को तैयार रखते हैं, जो निश्चयमेव उसको निरुत्तर किये बिना नहीं रह सकना चाहिये, जब इसी बीच में हमको उसके प्रत्याक्षेप को अस्वीकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि हमारे पास बुद्धि का विषयिगत सिद्धान्तसूत्र तो छिपा हुआ सुरक्षित बना ही रहता है, जिसका हमारे विरोधी के पास निश्चय ही अनिवार्यतया अभाव है तथा जिसकी रक्षा में उसकी हलकी हवाई-चोटों को हम शान्ति और उदासीनता के साथ देख सकते हैं।

इस प्रकार से शुद्ध बुद्धि का कोई वास्तविक विरोधी पक्ष नहीं है। क्योंकि इस विरोधी पक्ष के लिये युद्धस्थल तो शुद्ध देवविद्या और मनोविज्ञान के प्रदेश में ही खोजा जा सकता है, किन्तु यह धरती तो किसी भी योद्धा का भी पूर्ण कवच और युद्ध सज्जा में भरण पोषण नहीं कर सकती और उसको ऐसे शस्त्रास्त्र प्रदान नहीं कर सकती जिनसे हमको भयभीत होना पड़े। वह (योद्धा) उपहास और दर्पोक्तियों के हथियारों को लेकर युद्ध स्थल में आगे बढ़ सकता है और इन दोनों का तो बच्चों के खिलवाड़ के समान परिहास किया जा सकता है। यह एक सान्त्वना प्रदान करने वाला विचार है जो बुद्धि को पुन: नया साहस देता है, क्योंकि, यदि वह बुद्धि, जिस अकेली का ही समस्त गलतियों को दूर करने के लिये आह्वान किया गया है, स्वयं अपने आप में ही अस्तव्यस्त हो, और शान्ति तथा निराकुल स्वत्वाधिकार की आशा से रहित हो तो वह स्वयं और (किसके ऊपर) निर्भर रह सकती है ?

प्रत्येक वस्तु जिसको प्रकृति ने स्वयं संस्थापित किया है वह किसी न किसी प्रयोजन के लिये सदुपयोगी होती है। स्वयं विष तक हमारे शारीरिक दोषों (या रसों) में उत्पन्न होने वाले विषों का प्रतिकार करने के लिये उपयोगी होते हैं और इसलिये वे किसी भी औषधियों के परिपूर्ण निघण्टु में अनिर्विष्ट नहीं रहने चाहिये। हमारी केवल चिन्तात्मक बुद्धि (या विवेक) के अनुनयों और ज्ञानाभिमानों के विरुद्ध जो आपत्तियाँ हैं, वे भी स्वयंबुद्धि के स्वभाव से ही उत्पन्न होती हैं, और इसलिये उनका भी कोई सदुपयोग और प्रयोजन होना चाहिये, जिसका तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिये। क्या कारण है कि विधाता ने बहुत से ऐसे विषयों को जो हमारे सर्वोच्च हितों के साथ अत्यन्त निकटतया आबद्ध हैं, इतने ऊँचे पर हमारी पहुँच से परे स्थापित किया है कि हम को लगभग केवल इतनी अनुज्ञा है कि हम उनको एक अस्पष्ट और अपने प्रति संदिग्ध प्रत्यक्ष में ही पा सकते हैं, जिससे कि हमारी जिज्ञासापूर्ण दृष्टि संतुष्ट होने की अपेक्षा उत्तेजित ही अधिक होती है और कम से कम यह सन्देह होने लगता है कि ऐसे अनिश्चित और अस्पष्ट प्रश्नों पर साहसपूर्ण निर्णयों का कथन कुछ उपयोगी है या नहीं या यह कहीं बिलकुल हानिकारक ही तो नहीं होगा। परन्तु यह बात सर्वदा और विना किसी भी सन्देह के लाभदायक (या उपयोगी) है कि बुद्धि (या विवेक) की जिज्ञासा करने वाले तथा आलोचना करने वाले दोनों ही रूपों में एक समान पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति में स्थापित किया जाए, जिससे कि वह बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने हित के प्रति ध्यान दे सके जो हित उसकी अपनी अन्तर्दृष्टि के संकोचन से भी उतनी ही उन्नति (या प्रगति) को प्राप्त होते हैं, जितने कि उसके विस्तार से, और यदि बाहरी हस्तक्षेप बीच में पड़कर इसको इसके समुचित मार्ग

से भ्रष्ट करता है और वाह्यत: आरोपित लक्ष्य की ओर मोड़ता है, तो सर्वदा हानि उठाते हैं।

अतएव अपने विरोधी की बुद्धि या विवेक के अनुसार (के नाम पर) बोलने दो और उसके साथ केवल बुद्धि (या विवेक) के ही हथियारों से लड़ो। जहाँ तक कि इस विवाद के व्यावहारिक हितों पर होने वाले परिणाम का प्रश्न है इस विषय में निश्चिन्त बने रहो, क्योंकि विशुद्ध चिन्तनात्मक या विचारात्मक विवेचन में वे किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होते। ऐसी अवस्था में विवाद एक बुद्धि के निश्चित आत्मविरोध के अतिरिक्त और कुछ भी उद्‌घाटित नहीं करता, जो विरोध, बुद्धि के स्वभाव पर आश्रित होने के कारण, सुना जाना चाहिये, और उसका परीक्षण भी होना चाहिये। बुद्धि के विषय पर उभय पक्ष से विचार करने पर स्वयं उसी का (अर्थात् बुद्धि का ही) संस्कार या सुधार होता है, और उसकी विभावना (या निर्णय) इस प्रकार मर्यादित या सीमित हो जाने के कारण, संशोधित हो जाती है। यहाँ विवाद का विषय उपादान (अर्थात् बुद्धि के व्यावहारिक हित) उतना नहीं है जितना कि उनको (प्रस्तुत करने का) स्वर या प्रकार है। क्योंकि, यद्यपि तुमको ज्ञान की भाषा का परित्याग करना पड़ता है तथापि, फिर भी, तीक्ष्णतम बुद्धि के समक्ष डटने वाली सुदृढ़ श्रद्धा की पूर्णतया वैधी-भाषा का प्रयोग करने का पर्याप्त आधार अवशिष्ट रहता ही है।

यदि हम शीतल रक्त वीतराग दार्शनिक डैविड् ह्यूम से—जो वास्तव में स्वभाव से संतुलित विभावना (या निर्णय) के लिये विशेष प्रकार से बना था, यह प्रश्न पूछते कि मानव जाति के लिये इतने सान्त्वनाप्रद और उपयोगी इस विश्वास को कि उनकी बुद्धि (या विवेक) को एक सर्वोच्च सत्ता के दावे और सुनिर्धारित संबोध के लिये पर्याप्त अन्तर्दृष्टि प्राप्त है, परिश्रम के साथ खोद खोद कर निकाली हुई आशंकाओं के द्वारा अवखनित कर विध्वस्त करने के लिये किसने प्रेरित किया? तो उसने यह उत्तर दिया होता कि, केवल बुद्धि (या विवेक) को उसके आत्मज्ञान के पथ पर आगे ले चलने के उद्देश्य के अतिरिक्त और किसी वस्तु ने मुझे प्रेरित नहीं किया, और इसके साथ ही साथ, लोग जो बुद्धि के ऊपर दबाव डालना चाहते हैं उन पर रोष की भावना भी (इस प्रेरणा के साथ मिली हुई है) क्योंकि यह लोग जबकि उसकी शक्तियों का अभिमान के साथ घोष करते हैं तब भी उसको अपनी उन दुर्बल-ताओं को मुक्तरूप से स्वीकार करने से रोकते हैं, जो उसके आत्मपरीक्षण के कारण स्वयं स्पष्टतया प्रतीत होने लगी हैं। इसके विपरीत यदि तुम प्रीस्टले से पूछो, उस प्रीस्टले से जो बुद्धि के केवल दृष्ट अनुभवात्मक विनियोग का भक्त है, और समस्त अनुभवातीत चिन्तन से विमुख है, कि स्वयं धर्म का एक श्रद्धालु और उत्साहपूर्ण

शिक्षक होते हुए भी, धर्म के ऐसे दो सुदृढ़ स्तम्भों को अर्थात् आत्मा की स्वतंत्रता और अमरता को (क्योंकि उसके लिये भावी जीवन की आशा तो मृतक के पुनरुत्थान के चमत्कार की प्रतीक्षा या प्रत्याशामात्र है) ढहा देने की उसकी प्रेरणा का आधार क्या है, तो वह इसके अपिरिक्त और कुछ उत्तर नहीं दे सकेगा कि उसको बुद्धि (या विवेक) के हित की ही चिन्ता थी क्योंकि यदि, भौतिक प्रकृति के नियमों से कतिपय विषयों को बरी कर दिया जाए, उन नियमों से केवल जिन नियमों को ही हम ठीक ठीक प्रकार से जान सकते हैं और निर्धारित कर सकते हैं, तो ऐसा करने से बुद्धि की ही हानि होगी। इस दूसरे महानुभाव (अर्थात् प्रीस्टले) की, जो कि अपने विरोधाभासी दावों के साथ धर्म के हितों को भी संबद्ध करना जानता था, निन्दा करना, और इस प्रकार एक ऐसे सदभिप्राय व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाना और वह भी केवल इस कारण कि वह प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र से बाहर बहक जाने पर (दिग्भ्रान्त हो जाने से) अपना मार्ग नहीं पा सक रहा है, बड़ी अनुचित (या अन्यायपूर्ण बात) होगी। यही अनुग्रह उस ह्यूम के प्रति भी दिखाना उपयोगी होगा जो अपेक्षाकृत कम सदभि-प्राय नहीं था तथा सुचारित्र्य की दृष्टि से पूर्णतया निर्दोष था (तथा) जो अपने निगूढ़ चिन्तनों को इसलिये नहीं त्याग सका था क्योंकि वह औचित्य के साथ यह मानता था कि उस चिन्तनों का विषय प्राकृतिक-विज्ञान की सीमा के बिलकुल बाहर, शुद्ध भावों के क्षेत्र में स्थित था।

तो अब करें तो क्या करें, विशेष कर उस भय के संबंध में, जो कि इस प्रकार (उपर्युक्त चिन्तनों के कारण) मानवजति के श्रेष्ठ हितों को संतर्जित करता दिखलाई पड़ता है? इस संबंध में आपको जो निर्णय करना है उससे अधिक प्राकृतिक और उचित (या न्याय्य) अन्य कोई निर्णय नहीं हो सकता। इन लोगों (= विचारकों) को अपनी राह पर चलने दो, यदि यह लोग प्रज्ञा को, नये गहरे अनुसंधान को, अथवा संक्षेप में केवल बुद्धि (या विवेक) को प्रदर्शित करते हैं तो बुद्धि को सर्वदा लाभ ही होगा। यदि तुम एक निर्बाध बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय को ग्रहण करोगे, यदि तुम राजविद्रोह की पुकार मचाओगे, और जैसे कि आग बुझाने के लिये जन-साधारण की भीड़ को इकट्ठा करते हैं इस प्रकार से साधारण लोगों की भीड़ एक-त्रित करोगे——एसे लोगों की भीड़ जो इस प्रकार की सूक्ष्म बातों के संबंध में कुछ भी सूझबूझ नहीं रखते——तो तुम अपने आपको उपहासास्पद बनाओग। क्योंकि यहाँ पर जो चरचा छिड़ी हुई है उसका विषय यह बिलकुल नहीं है कि (इन अनुसंधानों) में से कौन सी बात श्रेष्ठ मानवीय हित के लिये लाभदायक या हानिकारक है, प्रत्युत केवल यह है कि बुद्धि (या विवेक) सब प्रकार के हितों के विचार से मुक्त हुए चिन्तन

से कितनी दूर तक प्रगति कर सकती है, और क्या इस प्रकार के चिन्तन को सामान्यतः कुछ गिना जा सकता है (अर्थात् उसका कुछ मूल्य आँका जा सकता है) अथवा उनको व्यावहारिक चिन्तन के मुकाबले में त्याग देना ही श्रेयस्कर होगा । इसलिये, खंग हाथ में लेकर लड़ाई में घुस पड़ने की अपेक्षा, युद्ध को समालोचक के सुरक्षित आसन से, एक दर्शक की भाँति युद्ध को देखना कहीं अधिक बुद्धिमानी की बात है, जो युद्ध लड़ने वालों के लिये अत्यन्त आयासकर होता है, परन्तु जो तुम्हारे लिये मनोरंजक हो सकता है, तथा जिसको तुम्हारे लिये निश्चयमेव रक्तपात रहित परिणाम वाला होने के कारण तुम्हारी बुद्धिमत्ता (या अन्तर्दृष्टि) के लिये उपयोगी सिद्ध होना चाहिये। क्योंकि यह तो सचमुच ही बड़ी बेतुकी बात है कि (एक ओर तो) बुद्धि से प्रकाश की प्रत्याशा की जाए और (दूसरी ओर) पहले से ही उसके लिये यह नियत कर दिया जाए कि उसको अवश्यमेव किस पक्ष की ओर झुकना चाहिये (अथवा किस पक्ष को ग्रहण करना चाहिये) । इसके अतिरिक्त, बुद्धि पहले से ही स्वयं अपने ही द्वारा ऐसी संनिबद्ध और मर्यादित रखी जाती है कि जिस पक्ष की भयावह शक्ति तुमको आलंकपूर्ण प्रतीत होती है, उस पर नागरिक शक्ति को आरोपित करने के लिये रक्षकों के दल का आह्वान करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है । इस आन्वीक्षिक्यात्मक युद्ध में ऐसी कोई विजय नहीं होती जो तुम को चिन्ता का कारण प्रदान कर सके (अथवा जिसके विषय में तुम्हें चिन्तित होने का कारण उपलब्ध हो सके) ।

सच तो यह है कि बुद्धि को ऐसे द्वन्द्वात्मक विवाद की अत्यधिक आवश्यकता है, और यह वांछनीय है कि यह विवाद बहुत पहले तथा असीमित और खुली सार्वजनिक अनुज्ञा के सहित घटित होता । क्योंकि ऐसी दशा में बुद्धि बहुत समय पूर्व ही परिपक्व प्रौढ़ता को प्राप्त हो जाती एवं तथा क्योंकि दोनों विरोधी पक्ष उन भ्रान्तियों और पूर्वग्रहों को पहचानना सीख जाते जिन्होंने उनको एक दूसरे का विरोधी बनाया है, अतः यह विवादों के अवभास स्वमेव समाप्त हो जाते ।

मानव स्वभाव में एक विशिष्ट सदोषता पाई जाती है, जो, प्रकृति से प्राप्त होने वाली प्रत्येक वस्तु के समान, अन्ततोगत्वा, सल्लक्ष्यों के प्रति कुछ न कुछ योग-दान अवश्य देती है; यह (सदोषता) है प्रवृत्ति, अपने सच्चे मनोभावों को छिपाने की, तथा कुछ (ऊपर से) धारण किए हुए ऐसे मनोभावों का दिखावा बनाने की जो अच्छे और श्लाघ्य माने जाते हैं। अपने को छिपाने और जो हमारे लिये सुविधाजनक है उस अवभास को धारण करने की इस प्रवृत्ति के द्वारा, निःसन्देह न केवल मनुष्य सभ्य (नागरिक) बने हैं, प्रत्युत शनैः शनैः एक निश्चित मात्रा में सदाचारी भी बने हैं, क्योंकि जब तक कि सामान्यता, शुचिता (या ईमानदारी) और शील के

बाहरी रंगोरोगन के आवरण को कोई भेद नहीं पाता, तब तक इस भलाई के सच्चे प्रतीत होन वाले उदाहरणों में, जिनको हम अपने चारों ओर दखते हैं, अपने सुधार के लिये एक विद्यालय जैसा पाते हैं। अपने को जैसे हम वास्तव में हैं उससे अधिक अच्छा प्रदर्शित करने तथा उन भावनाओं को प्रकट करने(जो वास्तव में हम में नहीं है) की यह प्रवृत्ति केवल अस्थायी कार्यनिर्वाहक ढंग से हम को असंस्कृत असभ्य अवस्था से बाहर लाने और, जिसको हम भला कर के जानते हैं, उसके कम से कम बाह्यरूप को धारण करके काम आती है ; तत्पश्चात् जब शुद्ध और सच्चे सिद्धान्त एक बार विकसित हो चुके हों और हमारी विचारपद्धति में ओतप्रोत हो चुके हों तब इस असत्यता को शनैः शनैः बलपूर्वक परास्त करना आवश्यक होता है, क्योंकि अन्यथा तो वह हृदय को ही भ्रष्ट कर डालती है और सद्भावना की वृद्धि को भले प्रतीत होने वाले दिखावे के निराने योग्य घासफूंस के द्वार रोक देती है।

मैं चिन्तनात्मक विचार तक की अभिव्यंजना में भी वही सदोषता, दुराव और धर्मध्वजिता (या दिखावा) देख कर दुःखी हूँ, यद्यपि इस क्षेत्र में हमको विचारों को, जैसा कि उचित है, स्पष्ट खुले प्रकार से बिना किसी दुराव के स्वीकार करने के मार्ग मैं अपेक्षाकृत बहुत कम बाधाएँ हैं, और ऐसा न करने में कोई लाभ नहीं है। क्योंकि, विचारों तक को वितथीकृत विकृत रूप में प्रकट करने, उन आशंकाओं को, जिनको हम स्वयं अपने दावों के विषय में अनुभव करते हैं, छिपाने, अथवा उपपत्तियों के उन हेतुभूत आधारों को, जिनको हम स्वयं अपर्याप्त समझते हैं, निर्णायक साक्ष्य की आकृति प्रदान करने से बढ़ कर ज्ञान की वृद्धि के लिये हानिकारक और क्या हो सकता है ? जहाँ तक कि केवल व्यक्तिगत अहम्मन्यता इन प्रच्छन्न षड्यन्त्रों का कारण होती है (जो स्थिति सामान्यरूपेण उन चिन्तनात्मक विभावनाओं के प्रसंग में हुआ करती है जिनका कोई विशेष हित नहीं होता, तथा जो सरलता से स्वयंसिद्ध सुनिश्चितता के योग्य भी नहीं होती) वहाँ तक तो वह, सार्वजनिक अनुमोदन से दूसरों की अहम्मन्यता से प्रतिविहित (या प्रतिकृत) हो जाती है; और परिणाम अन्ततोगत्वा वही होता है जो, तब प्राप्त होता और अपेक्षाकृत शीघ्र प्राप्त होता जब कि पूर्णतया सच्चे भाव वाली प्रामाणिक पद्धति का प्रयोग किया जाता। परन्तु जहाँ साधारण लोगों की यह राय हो जाती है कि बाल की खाल खींचने वाले विचारकों का लक्ष्य सार्वजनिक कल्याण की नीवों को हिला देने से घट कर और कुछ नहीं है, तो उस समय इस बात की अपेक्षा कि सत्पक्ष के कल्पित विरोधियों को इतनी सुविधा भी प्रदान की जाए कि उन्होंने हमको अपने स्वर को केवल व्यावहारिक विश्वास के स्तर मद्धिम करने के लिये बाध्य कर दिया है और हमको चिन्तनात्मक

और स्वयंसिद्ध सुनिश्चितता के अभाव को स्वीकार करने के लिये विवश कर दिया है, यह बात केवल चतुरता की ही बात नहीं लगती है प्रत्युत अनुज्ञाप्य और प्रशंसनीय तक प्रतीत होती है। तथापि मैं तो यह विचार करने के लिये विवश हूँ कि किसी शुभ पक्ष के समर्थन के उद्देश्य के साथ संसार भर में धोखे, दिखावे और छल से बढ़ कर और कोई बुराई की बात समन्वित नहीं की जा सकती। किसी विशुद्ध चिन्तन के प्रसंग में बुद्धि के द्वारा प्रस्तुत किये हुए हेतुओं का महत्त्व आँकते (या तौलते) समय सब को ही पूर्णतया सच्चा और निष्कपट होना चाहिये, यह तो कम से कम ऐसी बात है जिसकी माँग की जा सकती है। यदि इतनी स्वल्प सी माँग पर भी सुनिश्चितता के साथ निर्भर किया जा सकता तो ईश्वर आत्मा की अमरता और स्वतंत्रता के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के संबंध में चिन्तनात्मक विवेक (या बुद्धि) के विवाद या तो बहुत समय पूर्व ही निर्णीत होते अथवा शीघ्र ही अवसान को प्राप्त हो गये होते। इस प्रकार बहुधा ऐसा होता है कि उद्देश्य की पवित्रता की उत्तमता के प्रति प्रतीत अनुपात में स्थित होती है, और उस के (ऊपर आक्रमण करने वाले) आक्रान्ता उसके रक्षकों की अपेक्षा स्यात् अधिक निष्कपट सच्चे और आर्जवसंपन्न होते हैं।

अतएव मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि मेरे पाठक ऐसे हैं जो किसी भी सत्पक्ष को अन्याय के द्वारा रक्षित हुआ देखना नहीं चाहते। तो इस संबंध में यह बात निर्णीत मान ली जाएगी कि हमारे आलोचना के सिद्धान्तों के अनुसार, उस पर जो कि घटित हुआ करता है दृष्टि न डालते हुए, प्रत्युत उस पर जो कि होना चाहिये ध्यान देने पर, यथार्थ में विशुद्ध बुद्धि का कोई विवाद होना ही नहीं चाहिये। क्योंकि (कोई भी) दो व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु के संबंध में कैसे विवाद कर सकते हैं जिस वस्तु की वास्तविकता को उन दोनों में से कोई भी यथार्थ अथवा संभाव्य अनुभव में प्रस्तुत नहीं कर सकता,—और विवाद भी कैसा कि जिस में वे उस वस्तु के भावमात्र पर इसलिए प्रगाढ़ चिन्तन करते हैं कि जिससे वे उसमें से केवल भावमात्र से कुछ अधिक, अर्थात् स्वयं विषय की वास्तविकता को निकाल सकें ? जब कि उनमें से कोई भी अपनी स्थिति को सीधे सादे प्रकार से समझ में आने योग्य और सुनिश्चित तक नहीं बना सकता, प्रत्युत केवल अपने प्रतिपक्षी की स्थिति पर आक्रमण कर सकता है और उसका खंडन कर सकता है तो वे इस विवाद के बाहर भी किस उपाय से निकल पाएँगे ? क्योंकि शुद्ध बुद्धि के समस्त दावों का यही भाग्य है; वे समस्त संभाव्य अनुभव के प्रतिबन्धों (या शर्तों) का अतिक्रमण करते हैं, जिस अनुभव के परे सत्य का प्रमाणीकरण किसी प्रकार भी संभव नहीं है, जब कि इस के साथ ही उनको बोधवृत्ति के उन नियमों को काम में लाना पड़ता है, जो केवल अनुभवात्मक विनियोग

के लिये निर्धारित हैं, किन्तु जिनके बिना सांश्लेषिक चिन्तन की दिशा में एक पग भी नहीं बढ़ाया जा सकता, अतः उभय पक्षों में से कोई भी अपनी दुर्बलताओं को उद्घाटित किये बिना नहीं रह सकता और इसलिये प्रत्येक पक्ष अपने विरोधी की दुर्बलताओं का उपयोग कर सकता है।

शुद्ध बुद्धि की मीमांसा को शुद्ध बुद्धि से संबंध रखने वाले समस्त विवादों का सच्चा न्यायालय माना जा सकता है, क्योंकि वह इन विवादों में——अर्थात् उन विवादों में जो अपरोक्षतया विषयों से वास्ता रखते हैं——नहीं फँसती, प्रत्युत बुद्धि के आद्य संस्थापन के आधारभूत नियमों के अनुसार सामान्यतः उसके अधिकारों को निर्धारित करने और उनका मूल्यांकन करने के लिये निर्दिष्ट है।

इस प्रकार की मीमांसा के अभाव में बुद्धि मानों प्राकृतिक (संस्कार रहित) अवस्था में स्थित है, तथा अपने कथनों और दावों को, युद्ध के माध्यम को छोड़ कर अन्य किसी उपाय से स्थापित और सुरक्षित नहीं कर सकती। इसके विपरीत शुद्ध बुद्धि की यह मीमांसा, जो अपने समस्त निर्णयों को अपनी ही संस्थापना के मौलिक (या आधारभूत) सिद्धान्तों के प्रकाश में ग्रहण करती है, जिस संस्थापना के अधिकार के संबंध में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता, हमारे लिये वैधी व्यवस्था की शान्ति को उपलब्ध कराती है, जिसमें हम अपने विवादों को कानूनी पद्धति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नहीं चलाएँगे (या नहीं चला सकते)। (मीमांसा से) पूर्व की अवस्था विवादों का पर्यवसान ऐसी जीत में होता था जिस पर दोनों पक्षों का अपना अपना दावा चलता था, तथा जिसके पश्चात् बहुधा केवल असुरक्षित सी शान्ति स्थापित हुआ करती थी, जो किसी मध्यवर्ती अधिकारी के द्वारा व्यवस्थित की जाती थी, मीमांसा के पश्चात् की स्थिति में विवादों की समाप्ति न्यायोचित निर्णय से होती है, जो विवाद की जड़ तक पहुँचता है, अतः उस के द्वारा स्थायी (या शाश्वत) शान्ति स्थापित की जानी चाहिये। केवल स्वमतवादी बुद्धि के कभी अन्त न होने वाले यह विवाद अन्त में स्वयं बुद्धि की किसी मीमांसा में, और एक ऐसे विधान में, जो उस मीमांसा के ऊपर आश्रित हो, शान्ति की खोज करने के लिये (हमको) विवश कर देते हैं; इस प्रकार जैसा कि हौब्स ने कहा है, प्रकृति की अवस्था अन्याय और हिंसा (या बलात्कार) की अवस्था है, और इस अवस्था को, इसलिये त्यागना अनिवार्य हो जाता है कि हम अपने आपको कानून के संरोध के अधीन कर सकें, जो हमारी स्वतंत्रता को केवल इसलिये सीमित करता है कि जिससे वह दूसरों की स्वतंत्रता और उसके द्वारा सब के सामान्य हित के साथ, समन्वित हो सके।

इसी स्वतंत्रता के साथ हमारा अपने ऐसे विचारों और शंकाओं को, जिनका

हम स्वयं समाधान नहीं कर सकते, खुले प्रकार से विवेचन के अधीन करने का अधिकार भी बँधा हुआ है, और ऐसा करते हुए हमारी कष्टदायक और भयावह नागरिक के रूप में निन्दा नहीं की जानी चाहिये। यह बात तो मानवीय विवेक के मौलिक अधिकारों में सम्मिलित है, जो सर्वव्यापी मानवीय बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी न्यायाधीश को, (जिसमें सब किसी को अपनी बात कहने का अधिकार है), मान्यता नहीं देता; और क्योंकि वे सब सुधार, जिनके लिये हमारी स्थिति क्षमता रखती है, इसी उद्‌गम से प्राप्त होने हैं, अतः उपर्युक्त अधिकार पवित्र अधिकार है, और उसको काट-छाँट कर घटाया नहीं जाना चाहिये। जो कथन अपने पक्ष में समाज के सर्वाधिक और सर्वश्रेष्ठ भाग का अनुमोदन प्राप्त किये हैं उनके विरुद्ध किन्हीं साहसपूर्ण कथनों को या उस के ऊपर धृष्टतापूर्ण आक्रमणों को भयानक कहना अत्यन्त अबुद्धिमत्तापूर्ण बात होगी, क्योंकि यह उनको ऐसा महत्व प्रदान करना होगा जो उनको नहीं मिलना चाहिये। जब कभी मैं यह सुनता हूँ कि किसी असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति ने मानवीय इच्छा की स्वतंत्रता, भविष्य (मरणोत्तर) जीवन की आशा, और ईश्वर की सत्ता को असिद्ध कर दिया है तो मैं उसकी पुस्तक को पढ़ने को उत्सुक रहता हूँ, क्योंकि मैं उसकी प्रतिभा से इन विषयों में अपनी अन्तर्दृष्टि के विकास की प्रत्याशा रखता हूँ। इस बात के संबंध में तो मैं उसकी पुस्तक को बिना देखे हुए निश्चित रहता हूँ कि अपने इन कथनों में से एक को भी प्रतिपादित नहीं किया होगा, मैं ऐसा इसलिये नहीं कहता क्योंकि मैं यह विश्वास करता हूँ कि मेरे पास इन महत्त्वपूर्ण प्रस्थापनाओं के संबंध में अकाट्य प्रमाण (या उपपत्ति) विद्यमान हैं, प्रत्युत क्योंकि अनुभवातीत मीमांसा ने, जिसने कि मेरे प्रति हमारे (अर्थात् मानवीय) विवेक (या बुद्धि) के समस्त भण्डार को उद्‌घाटित कर दिया है, मुझको पूर्णतया यह विश्वास दिला दिया है कि जिस प्रकार इस क्षेत्र में बुद्धि सकारात्मक प्रस्थापनाओं को स्थापित करने के लिये अपर्याप्त (या अक्षम) है, उसी के समान, अथवा उससे कम वह इन प्रश्नों के संबंध में नकारात्मक कथनों (या दावों) को स्थापित करने में भी क्षम (या समर्थ) है। क्योंकि, यह तथाकथित स्वतंत्र विचारक अपने ज्ञान को किस उद्‌गम से प्राप्त करेगा कि (उदाहरणार्थ) कहीं किसी परमसत्ता (या सत्त्व) का अस्तित्व ही नहीं है? यह प्रस्थापना संभाव्य अनुभव के क्षेत्र से परे है और इसी कारण समस्त मानवीय अन्तर्दृष्टि की भी सीमा के परे है। उत्तम पक्ष के अयौक्तिक मतवादी संरक्षक (या समर्थक) के इस विरोधी के विरोध में दिये हुए उत्तर को मैं बिलकुल भी नहीं पढ़ूँगा, क्योंकि मैं पहले से ही इस बात को जानता हूँ कि वह विरोधी पक्ष के प्रातिभासित तर्कों पर केवल इसलिये आक्रमण करता है कि जिससे उसके शर्तों को प्रवेश द्वार या

स्वीकृति प्राप्त हो सके, इसके अतिरिक्त पुराना प्रातिभासिक (या भ्रान्त) तर्क नवीन निरीक्षण के लिये उतनी सामग्री प्रदान नहीं करता जितना कि पूर्वत: अज्ञात और कुशलता या चतुरता से सोच विचार कर प्रस्तुत किया हुआ तर्क प्रदान करता है। इसके विपरीत, धर्मविरोधी विचारक जो कि अपने ही विशिष्ट ढंग से अयौक्तिक मतवादी है, मुझे अपनी मीमांसा के सिद्धान्तों का प्रयोग करने का, और जहाँ तहाँ उनमें सुधार करने का अभीष्ट अवसर प्रदान करता है, और वह ऐसा करता है भी अपने कारण इन सिद्धान्तों में बिना लेशमात्र भय उत्पन्न किये हुए, (क्योंकि मैं उपर्युक्त कारण से उसके तर्कों को भयावह नहीं मानता)।

परन्तु क्या उन नवयुवकों को जो हमारे विद्या-संबंधी शैक्षणिक कार्य के लिये हमको सौंपे गये हैं, ऐसी रचनाओं के विरुद्ध चेतावनी नहीं दी जानी चाहिये, तथा उनकी विभावना की (या निर्णय करने की) शक्ति परिपक्वता के पूर्व अथवा इसकी अपेक्षा यूँ कहिए कि उस समय के पूर्व, जब तक कि वह सिद्धान्त जो उनमें आरोपित करना अभिष्ट है, उनमें इतनी दृढ़ता से जड़ न जमा ले कि वे विरोधी मत के समस्त अनुनयन का, चाहे वह किसी भी दिशा से क्यों न आये, प्रवलतापूर्वक सामना कर सकें, क्या उनकी इस प्रकार की प्रस्थापनाओं की उचित समय से पूर्व की जानकारी से रक्षा नहीं की जानी चाहिये।

यदि शुद्ध बुद्धि के प्रसंग में अयौक्तिक मतवाद की पद्धति में ही डटे रहना (अभीष्ट) है, और यदि विरोधियों से वास्तव में विवादपरक ढंग से निबटना है, अर्थात् इस प्रकार अवस्थित होना है, जिस प्रकार युद्ध में पक्ष-ग्रहण किया जाता है, और इसलिये अपने को विरोधी मत का समर्थन करने वाली उपपत्तियों से सन्नद्ध करना हो, तो इस प्रकार की पद्धति निश्चय ही तात्कालिक उपयोग के लिये इतनी अच्छी प्रतीत हो सकती है और अन्य कोई भी पद्धति उसके समान न हो, पर यदि दीर्घकाल की दृष्टि से देखें तो नवयुवकों की बुद्धि को इस प्रकार कुछ समय के लिये संरक्षण में रखने और उसको कम से कम थोड़ से समय तक प्रलोभन से बचाने की अपेक्षा अधिक निरर्थक एवं निष्फल बात और कुछ नहीं हो सकती। परन्तु जब, आगे चल कर जिज्ञासा अथवा समय की प्रवृत्ति (या फैशन) इस प्रकार की रचनाओं को उनको हस्तगत करा देगी, तो क्या उनका युवकोचित विश्वास इस आघात को सह सकेगा ? जो कोई भी अपने विपक्षी के आक्रमण का सामना करने के लिये अपने पास अयौक्तिक मतवाद के हथियारों के अतिरिक्त और कोई हथियार नहीं रखता, तथा जो उस हेतुविद्या (या आन्वीक्षिकी) को, जो उसके अपने वक्ष:स्थल में उतनी मात्रा से कम प्रच्छन्न नहीं होती जितनी मात्रा में उसके विरोधी के वक्ष:स्थल में छिपी पड़ी होती है, विकसित करना

नहीं जानता, वह ऐसे कूटतर्कों को, जिनमें नवीनता का आकर्षण विद्यमान है, दूसरे कूटतर्कों के विरुद्ध स्थापित किया हुआ पाता है, जिनमें इस प्रकार का आकर्षण अब अवशिष्ट नहीं होता, प्रत्युत जो इसके विपरीत, यह सन्देह उत्पन्न करते हैं कि उसकी युवकसुलभ विश्वासप्रवणता का अनुचित लाभ उठाया गया है। अतः उसका यह विश्वास बन जाता है कि उसके लिये इस तथ्य को, कि वह बाल्यभाव की शिष्यता को पार करके बड़ा हो गया है, प्रदर्शित करने का इससे अधिक अच्छा और कोई उपाय नहीं है कि वह इन सदुद्दिष्ट चेतावनियों को अलग फेंक दे, और अयौक्तिक मतवाद का अभ्यस्त तो वह है ही अतः वह बड़े गहरे घूँटों से उस विष को पीता है जो उसके सिद्धान्तों को नवीन अयौक्तिक मतवाद के द्वारा विनष्ट कर देता है।

जिस शिक्षण पद्धति के संबंध में ऊपर परामर्श दिया गया है, वास्तव में उससे बिलकुल उलटा मार्ग उच्च शिक्षा की पद्धति के समुपयुक्त है, बशर्ते कि यह सर्वदा ध्यान में रखी जाए कि पढ़ाई शुद्ध बुद्धि की मीमांसा के सिद्धान्तों के तलस्पर्शी परिपूर्ण शिक्षण पर आधारित हो। क्योंकि, इस मीमांसा के सिद्धान्तों को यथासंभव शीघ्रता के साथ व्यवहार में प्रयुक्त करने, तथा बड़ी बड़ी यौक्तिक भ्रान्ति (या मायिक अवभास) के समक्ष उनकी पर्याप्त क्षमता को प्रदर्शित करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वे आक्रमण, जो कि अयौक्तिक मतवादी को इतने डरावने लगते हैं, शिष्य की बुद्धि के विरुद्ध जो यद्यपि अभी निर्बल है, तथापि मीमांसा के द्वारा प्रकाशित हो चुकी है, प्रवृत्त हों, और उसको यह उद्योग करने दिया जाए कि वह एक एक करके विरोधियों के निराधार दावों का इन आधारभूत सिद्धान्तों की कसौटी पर परीक्षण कर सके। उसको इन सब युक्तियों को हवा में उड़ा देना कठिन प्रतीत नहीं हो सकता, अतः वह बहुत जल्दी ऐसी हानिकारक प्रतारणापूर्ण भ्रान्तियों के विरुद्ध अपने को, पूर्णतया सुरक्षित कर लेने में अपनी शक्ति का अनुभव करने लगता है, तथा जो भ्रान्तियाँ भी अन्ततः उसके प्रति अपनी मायिक शक्ति को खो बैठती हैं। यह ठीक है कि वही चोटें जो कि उसके शत्रु के भवन को विध्वस्त करती हैं, उसके अपने उस चिन्तनात्मक भवन-निर्माण के लिये भी जिसको वह स्यात् कभी स्वयं बनाने का विचार कर सकता है, ठीक उसी प्रकार से ध्वंसकारिणी सिद्ध होंगी; फिर भी वह इस संबंध में पूर्णतया अनुद्विग्न रहता है, क्योंकि उसको किसी ऐसे आश्रय स्थान की बिलकुल भी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत वह तो व्यावहारिक क्षेत्र में शुभ प्रत्याशा से समन्वित है, जहाँ कि वह अपने विवेकपूर्ण और स्वस्थ दर्शन-संस्थान के निर्माण के लिये सुदृढ़ आधारभूमि को पाने की आशा कर सकता है।

अतएव वास्तव में तो शुद्ध बुद्धि के क्षेत्र में कोई विवाद है ही नहीं। दोनों ही पक्ष

हवा में प्रहार करने वाले हैं जो अपनी परछाइयों से लड़ते हैं, क्योंकि वे प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण करते हैं (और ऐसे स्थान में पहुँच जाते हैं) जहाँ कि कोई ऐसी वस्तु विद्यमान नहीं होती जिसको वे अपने अयौक्तिक मतवाद के द्वारा पकड़ कर रख सकें। वह जितना चाहें मन भरकर लड़ लें, परन्तु जिन परछाइयों को वे काट कर खंड खंड कर डालते हैं, वे तत्काल पलक मारते न मारते, वालहल्ला के योद्धाओं की भाँति, पुनः नीरक्त युद्ध में डट जाने के लिये, संहत होकर जी उठते हैं।

परन्तु हम इस बात को भी नहीं मान सकते कि शुद्ध बुद्धि का कोई ऐसा सन्देहवादी विनियोग हो सकता है जिसको उसके समस्त विवादों में तटस्थता के सिद्धान्त का नाम दिया जा सके। बुद्धि (या विवेक) को स्वयं अपने ही विरुद्ध भड़का देना, दोनों पक्षों को शस्त्रास्त्र पहुँचा देना, और तत्पश्चात् घमासान युद्ध को शान्ति और अवहास के साथ देखते रहना, यह स्थिति अयौक्तिक मतवाद की दृष्टि से कोई समुचित बात नहीं दिखलाई पड़ती, प्रत्युत अपकारिणी और दुर्भावनापूर्ण प्रवृत्ति की सी आकृति या अवभास जैसी दिखलाई देती है। परन्तु जो लोग अयौक्तिकतया तर्क किया करते हैं, तथा जो किसी भी मीमांसा के द्वारा मर्यादित (या संयत) होना नहीं चाहते, यदि उनकी अजेय धृष्टता और दर्पोक्तियों का विचार किया जाए, तो फिर इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपचार (या उपाय) नहीं रह जाता कि एक पक्ष की शेखी के समक्ष, इस आशा में, दूसरे पक्ष की, समानभाव से न्यायोचित शेखी को प्रस्थापित किया जाए, कि इस प्रकार शत्रु के द्वारा प्रस्तुत बाधा से बुद्धि चकरा कर अपने दावों के संबंध में संशय में पड़ जाए तथा, मीमांसा (या आलोचना) की बात सुनने को तैयार हो जाए। परन्तु केवल इन संदेहों (या संशयों) से ही पूर्णतया संतुष्ट हो जाना, और तब अपने अज्ञान के विश्वास और उसके स्वीकरण का, न केवल अयौक्तिक मतवादियों के आत्मतोष के उपचार के रूप में, प्रत्युत बुद्धि के अतिरिक आत्मविरोध को समाप्त करने की सही पद्धति के रूप में, संस्तवन करना चाहना, एक पूर्णतया निरर्थक प्रयत्न है, तथा यह बुद्धि को किसी भी प्रकार विश्राम प्रदान करने के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता, प्रत्युत अधिक से अधिक जो यह कर सकता है वह यह है कि बुद्धि को अपने अयौक्तिक मतवादी मधुर स्वप्नों से जगा दे, जिससे वह (बुद्धि) अपनी अवस्था को अधिक सावधान परीक्षण के अधीन कर सके। परन्तु, क्योंकि, बुद्धि के कष्टसाध्य व्यवसाय से छुटकारा पाने का यह संदेहवादी प्रकार, स्थायी दार्शनिक शान्ति तक पहुँचने का मानों अनतिदीर्घ-मार्ग प्रतीत होता है, अथवा कम से कम इस को उन लोगों के द्वारा राजमार्ग में चुना गया है जो इस प्रकार के समस्त अनुसंधानों के प्रति अपने अवहासपूर्ण तिरस्कार के आवरण में, अपने दार्शनिक रुख को प्रदर्शित करने का विचार रखते हैं, अतः

विचार के इस प्रकार को इसके सच्चे प्रकाश में प्रदर्शित करना मुझको आवश्यक प्रतीत होता है।

बुद्धि के अपने आन्तरिक विरोध में सन्देहवादी सन्तोष की असंभवता

मेरे अज्ञान की चेतना (जब तक कि साथ ही साथ अज्ञान को अनिवार्य न मान लिया गया हो) अनुसंधानों को समाप्त करने वाली होने के स्थान पर, उन अनुसंधानों को जगाने का वास्तविक कारण ही अपेक्षाकृत अधिक होनी चाहिये। समस्त अज्ञान या तो वस्तुओं का (अर्थात् उनके विषय में) अज्ञान होता है, अथवा अपने ज्ञान की वृत्ति और सीमा के संबंध में अज्ञान होता है। यदि अज्ञान केवल आपातिक होता है, तो उसको मुझे प्रथम प्रसंग में—अर्थात् वस्तु संबंधी अज्ञान के प्रसंग में—वस्तुओं (=विषयों) के संबंध को अयौक्तिक अनुसंधान करने के लिये उत्तेजित (या प्रेरित) करना चाहिये, दूसरे प्रसंग (या विकल्प) में अपने संभाव्य-ज्ञान की सीमाओं के संबंध में विवेचनात्मक (आलोचनात्मक या मीमांसात्मक) खोज करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। परन्तु यह तथ्य, कि मेरा अज्ञान आत्यन्तिकतया अनिवार्य है, तथा इसलिये (वह) मुझे समस्त अगले अनुसंधानों से मुक्त करता है, हमारे ज्ञान के आद्य उद्गम के निरीक्षण से आनुभविकतया निर्धारित नहीं किया जा सकता, प्रत्युत उस (उद्गम) के परीक्षण के द्वारा केवल विवेचनात्मकतया (आलोचनात्मकतया) स्थापित किया जा सकता है। अतएव हमारी बुद्धि (या विवेक) की सीमाओं का निर्धारण केवल प्रागनुभवात्मक आधारों के अनुसार ही घटित हो सकता है; परन्तु उसका परिसीमन जो यद्यपि केवल एक कदापि भी पूर्णतया दूर न किये जाने योग्य अज्ञान का अनिर्धारित ज्ञान-मात्र, है, उसके (उस वस्तु या तत्व के) द्वारा, अनुभव के पश्चात् भी जाना जा सकता है, जो हमारे समस्त ज्ञान के होते हुए भी अभी अज्ञात पड़ा हुआ है। (हमारे अज्ञान का) वह (प्रथम) ज्ञान जो कि स्वयं बुद्धि की मीमांसा के द्वारा संभव है, इस प्रकार, विज्ञान है, (परन्तु) दूसरा ज्ञान प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, जिस (प्रत्यक्ष) के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उससे व्युत्पन्न होने वाले अनुमान कहाँ तक पहुँच सकते हैं। जब कि मैं धरातल को (उसकी इन्द्रियगोचर आकृति के अनुसार) एक तश्तरी के रूप में प्रत्युपस्थापित करता हूँ, तो मैं यह नहीं जान सकता कि वह कहाँ तक विस्तीर्ण है। पर अनुभव मुझको यह शिक्षा देता है कि चाहे मैं कहीं भी क्यों न जाऊँ, मैं सर्वदा अपने चारों ओर ऐसा प्रदेश देखता हूँ, जिसमें मैं आगे जा

सकता हूँ, और इस प्रकार मैं किसी भी समय के पृथ्वी-संबंधी अपने यथार्थ ज्ञान की मर्यादाओं (या सीमाओं) को जानता हूँ, परन्तु समस्त संभाव्य भूगोलविद्या की सीमाओं को नहीं जानता। परन्तु यदि मैं यहाँ तक पहुँच चुका हूँ कि धरा गोलाकार है और इसका धरातल गोलीय धरातल है, तो मैं इसके एक छोटे से खंड से भी, उदाहरणार्थ एक अंश के परिमाण से भी, प्रागनुभवात्मक सिद्धान्तों के अनुसार उसके व्यास को सुनिर्धारित प्रकार से जान सकता हूँ और उसके द्वारा पृथ्वी की समस्त सीमा अर्थात् उसके समस्त धरातल (की माप) को जान सकता हूँ; और यद्यपि मैं उन विषयों के संबंध में जो इस धरातल पर विद्यमान हैं, अनजान हूँ, तथापि उसके परिवेश के आभोग, परिमाण और सीमाओं के संबंध में अनजान नहीं हूँ।

हमारे ज्ञान के समस्त संभाव्य विषय का समूह या योगफल हमको एक समतल प्रदेश प्रतीत होता है, जिसका एक अपना प्रतीयमान क्षितिज है, अर्थात् वह है जो अपने पेटे में इसके समस्त विस्तार अवधृत किए है अथवा घेरे हुए है, तथा जिसको हमारे द्वारा अप्रतिबद्ध समग्रता के भाव का नाम दिया गया था। इस संबोध तक अनुभव द्वारा पहुँचना असंभव है, तथा किसी निश्चित सिद्धान्त के अनुसार उसको प्रागनुभवात्मक-तया निर्धारित करने की समस्त चेष्टाएँ निष्फल (या निरर्थक) सिद्ध हुई हैं। फिर भी हमारी शुद्ध बुद्धि के समस्त प्रश्नों का संबंध इसी बात से है कि इस क्षितिज के परे अथवा स्यात् उसकी सीमा पर क्या है?

सुविख्यात डैविड् ह्यूम मानवीय बुद्धि के उन भूवेत्ताओं में से एक था जिसका मत यह था कि उसने इस प्रकार के समस्त प्रश्नों को मानवीय बुद्धि के क्षितिज के परे निर्वासित कर के——उस क्षितिज के परे जिसको वह निर्धारित भी नहीं कर सका था——उनका पर्याप्त प्रकार से प्रतिपादन (या समाधान) कर दिया है। उसने मुख्य रूप से कार्य-कारण भाव के सिद्धान्त का विचार किया था, और उसके संबंध में उसने यह बिलकुल ठीक ही कहा था कि इस (सिद्धान्त) की सत्यता (नहीं इतना ही नहीं, प्रत्युत सामान्यरूपेण निमित्त कारण के संबोध की वस्तुगत प्रामाणिकता तक) किसी अन्तर्दृष्टि पर अर्थात् प्रागनुभवात्मक ज्ञान पर आधारित नहीं थी, (और) इसीलिये इसकी समस्त प्रभुता भी इस नियम की अनिवार्यता से लेशमात्र भी नहीं, प्रत्युत केवल अनुभव के मार्ग (या दौरान) में इसकी सामान्य उपयोगिता से और उस (उपयोगिता) से उत्पन्न होने वाली एक विशिष्ट विषयिगत अनिवार्यता से, जिसको उसने रूढ़ि का नाम दिया है, घटित होती है। अनुभव की सीमा के परे इस सिद्धान्त का विनियोग करने की बुद्धि की अक्षमता से उसने बुद्धि के आनुभविक क्षेत्र के अतिक्रमण करने की चेष्टाओं के समस्त दावों की शून्यता का अनुमान किया (या निकाला)।

बुद्धि के तथ्यों को परीक्षण के और यदि उचित प्रतीत हो तो निन्दा के अधीन करने की इस पद्धति (या प्रक्रिया) को बुद्धि की दोषाकलना का नाम दिया जा सकता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि यह दोषाकलना सिद्धान्तों के समस्त अनुभवातीत विनियोगों को अनिवार्यतया सन्देहग्रस्त कर देगी। परन्तु यह तो केवल दूसरा पग (या कदम) है जो किसी भी प्रकार से (अनुसंधान) कार्य को पूरा नहीं करता। शुद्ध बुद्धि के प्रसंग में प्रथम पग, जो उसके बाल्यकाल को सूचित (या प्रदर्शित) करता है, अयौक्तिक मतवाद वाला है। दूसरा पग जिसका अभी उल्लेख किया गया है सन्देह-वाद से संबंध रखने वाला है, तथा अनुभव के द्वारा अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण बनी विभावना की सतर्कता को प्रदर्शित करता है। परन्तु अब एक तीसरा पग भी जो कि केवल परि-पक्व और पौरुषपूर्ण निर्णय से संबंध रखता है, जो उपपन्न सर्वव्यापकता वाले सुनिश्चित सिद्धान्तों पर आधारित है, आवश्यक हो जाता है, दूसरे शब्दों में जो पग है, बुद्धि (या विवेक) के तथ्यों को नहीं प्रत्युत स्वयं बुद्धि को ही, उसकी समस्त शक्तियों के विस्तार में, तथा प्रागनुभवात्मक शुद्ध ज्ञानों के प्रति उसकी उपयुक्तता को दृष्टि में रखते हुए, मूल्यांकन की प्रक्रिया के हवाले कर देना, जो (प्रक्रिया) बुद्धि की दोषाकलना नहीं प्रत्युत मीमांसा है, जिसके द्वारा न केवल उसकी मर्यादाएँ, प्रत्युत सुनिर्धारित सीमाएँ, न केवल इस अथवा उस विषय के संबंध में प्रत्युत किसी विशेष प्रकार के समस्त प्रश्नों के संबंध में उसका अज्ञान न केवल कल्पना से कूते जाएँगे प्रत्युत सिद्धान्तों द्वारा निरूपित (या सिद्ध) किए जाएँगे। इस प्रकार सन्देहवाद मानवीय बुद्धि के लिये एक विश्राम-स्थल है, जहाँ वह अपने अयौक्तिक मतवादी विचरणों के विषय में मनन कर सकती है, तथा उस स्थान का सर्वेक्षण कर सकती है जिसमें वह अवस्थित है, जिसके आगे भविष्य में वह अपने पथ को अधिक सुरक्षिततता के साथ वरण कर सके, परन्तु स्थायी रूप से बसने के लिए (उपयुक्त) निवास-स्थान नहीं है, क्योंकि ऐसा (स्थान) तो केवल हमारे ज्ञान की पूर्ण सुनिश्चितता में ही उपलब्ध हो सकता है, फिर चाहे तो वह स्वयं विषयों के संबंध में हो अथवा उन सीमाओं का हो जिनके भीतर हमारा विषय-संबंधी समस्त ज्ञान परिसीमित रहता है।

हमारी बुद्धि (या विवेक) अनिश्चितरूपेण बहुत अनन्त दूर तक फैले हुए एक ऐसे समतल मैदान के समान नहीं है जिसकी सीमाओं (या मर्यादाओं) को हम सामान्य रूप से जानते हैं, प्रत्युत इसकी अपेक्षा उसकी तुलना एक गोलाकार पिण्ड के साथ अधिक की जानी चाहिए, जिसका अर्द्धव्यास उसके तल के वृत्तखण्ड की वक्रता से (अर्थात् सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाओं के स्वभाव से) निर्धारित की जा सकती है, तथा जिससे हम उसके परिमाण और सीमाओं को भी सुनिश्चितता के साथ

सूचित कर सकते हैं। इस मण्डल (अर्थात् अनुभव के क्षेत्र) के बाहर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो बुद्धि के लिए विषय हो; इतना ही नहीं प्रत्युत ऐसे कल्पित विषयों से संबंध रखने वाले प्रश्न तक स्वयं उन संबंधों के परिपूर्ण निर्धारित के विषयिगत सिद्धान्तों से वास्ता रखते हैं, जो बोधवृत्ति के संबोधों के भीतर समा सकते हैं तथा जो अनुभव के क्षेत्र में पाये जा सकते हैं।

जैसा कि बोधवृत्ति के उन सिद्धान्तों द्वारा प्रदर्शित होता है जो अनुभव का पूर्वाव-भास प्रदान करते हैं, हमको वास्तव में सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक ज्ञान के प्रकार सम्प्राप्त हैं। यदि कोई इन सिद्धान्तों की संभाव्यता को समझ सकने में अपने को बिलकुल असमर्थ पाता है, तो वह आरंभ में इस प्रकार का सन्देह कर सकता है कि क्या वे हम में वास्तव में प्रागनुभवात्मकतया रहते भी हैं, (अथवा नहीं); पर वह इस प्रकार से केवल बोधवृत्ति की शक्ति के द्वारा उनकी असंभवता को भी सिद्ध (या घोषित) नहीं कर सकता, तथा उन सब पगों को जिनको बुद्धि उनके पथप्रदर्शन में उठाती है, शून्य और अकिञ्चित्कर रूप में उपस्थित नहीं कर सकता। वह केवल इतना कह सकता है कि हम बुद्धि के विस्तार और सीमा का निर्धारण तभी कर सकेंगे, जब कि हम उनके मूलोद्‌गम और प्रामाणिकता के संबंध में अन्तर्दृष्टि प्राप्त हों, पर जब तक ऐसा नहीं हो जाता तब तक इस संबंध में जितने भी कथन (या दावे हैं) वे सब के सब यादृच्छिक हैं। और इस प्रकार से, अयौक्तिकमतवादी दर्शन के संबंध में, (जो दर्शन बुद्धि की मीमांसा किए बिना ही अपने पथ पर प्रवृत्त होता) पूर्ण सन्देह भले प्रकार आधारित (अथवा उचित) प्रतीत होता है, परन्तु इसी कारण हम बुद्धि को आगे प्रगति के पग रखने का पूर्णतया निषेध नहीं कर सकते, (विशेष कर तब) जब कि उसकी राह को सुदृढ़ आधार भूमि सुप्रशस्त और सुरक्षित कर लिया गया हो। क्योंकि वे समस्त संबोध, और संबोध ही नहीं, वे सब प्रश्न भी जो शुद्ध बुद्धि हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है, अपना मूलोद्‌गम अनुभव में नहीं प्रत्युत इसके विपरीत केवल बुद्धि में ही रखते हैं और इसलिए वे इस योग्य होने चाहिए कि उनको हल किया जा सके और प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता की दृष्टि से उनका निर्धारण हो सके। यह मानते हुए कि इन समस्याओं का वास्तविक समाधान (या हल) वस्तुओं की प्रकृति पर निर्भर है, अतएव अपनी अक्षमता के बहाने अपने को उनकी आगे की खोज में न लगाना भी हमारे लिए न्यायोचित नहीं, क्योंकि बुद्धि ने इन विचारों (या भावों) को अपनी ही कोख से जन्म दिया है, इसलिये यह उसका दायित्व है कि वह उनकी प्रामाणिकता अथवा आन्वी-क्ष्यात्मक प्रातिभासिकता (या मायिकावभास) का लेखाजोखा प्रस्तुत करे।

समस्त सन्देहवादी तार्किक-विवाद तो औचित्य के साथ वास्तव में केवल अयौ-

क्तिक मतवादी के विरुद्ध प्रेरित किया जाना चाहिए जो अपने मूलभूत वैषयिक सिद्धान्तों के संबंध में बिना किसी आशंका के, अर्थात् बिना मीमांसा के, गंभीरता के साथ अपने मार्ग पर चलता रहता है, और यह केवल इसलिये कि उसको उसके विश्वास से डिगा दिया जाए और आत्मज्ञान को प्राप्त करा दिया जाए। (परन्तु) इस दृष्टि से कि हम क्या जान सकते हैं और उसके विपरीत क्या नहीं जान सकते, यह सन्देहवादी तार्किक-विवाद अपने आप में किसी भी काम का नहीं है। बुद्धि की समस्त अयौक्तिक मतवादी असफल चेष्टाएँ तथ्य हैं, जिनको सन्देहवादी के दोषान्वेषण की कसौटी पर कसना (या दोषान्वेषण के अधीन करना) सर्वदा ही उपयोगी होता है। परन्तु यह (अर्थात् ऐसा करना) बुद्धि की उन प्रत्याशा के संबंध में, जिनके अनुसार वह भावी प्रयत्नों में अपेक्षाकृत अधिक अच्छी सफलताओं की, और उन (सफलताओं) के ऊपर अपने दावों को आधारित करने की आशा करती है, कुछ भी निर्णय नहीं करता; परिणामतः केवल दोषान्वेषणमात्र मानवीय बुद्धि के अधिकारों के विवाद (या कलह) को समाप्त नहीं कर सकता।

समस्त सन्देहवादियों के मध्य में स्यात् ह्यूम सबसे अधिक प्रतिभा का धनी, तथा उस प्रभाव की दृष्टि से तो निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति है, जिसको सन्देहवादी पद्धति (या प्रक्रिया) बुद्धि को परिपूर्ण आत्मपरीक्षण के लिये जगाने के निमित्त उत्पन्न कर सकती है; अतएव जहाँ तक हमारे उद्देश्य के लिए संगत है वहाँ तक एक ऐसे बुद्धिमान और सम्मान्य पुरुष की यौक्तिक विवेचना तथा गलतियों के पथ को अपन प्रति प्रत्युपस्थापित (या स्पष्ट) करने का परिश्रम—(उस यौक्तिक-विवेचना के पथ को जो कि आरंभ में सत्य की लीक पर था) अवश्य अपना पारिश्रमिक भली भाँति चुका देगा।

ह्यूम को स्यात् इस बात का भान तो था, यद्यपि उसने इसका पूर्णतया स्पष्ट विकास कभी नहीं किया, कि हम एक विशेष प्रकार की विभावनाओं में विषय के संबोध का अतिक्रमण किया करते हैं। मैंने इस प्रकार की विभावनाओं को सांश्लेषिक विभावना का नाम दिया है। इस विषय में कोई गम्भीर चिन्ता की बात (या कठिनाई) नहीं है कि मैं अनुभव के द्वारा किस प्रकार उस संबोध का अतिक्रमण कर सकता हूँ जिसको मैं पूर्वतः रखता था। अनुभव स्वयमेव ऐसे प्रत्यक्षों का संश्लेषण है, जो मेरे उस संबोध को, जो मुझे किसी प्रत्यक्ष से प्राप्त हुआ है, अन्य प्रत्यक्षों के योग से बढ़ा (या कर) ता है। परन्तु यह विश्वास करने लगते हैं कि हम प्रागनुभवात्मकतया भी अपने संबोधों का अनुक्रमण और अपने ज्ञान को अपेक्षाकृत व्यापकतर बना सकते हैं। हम ऐसा करने की चेष्टा या तो शुद्ध बोधवृत्ति के द्वारा उनके संबंध में किया करते हैं जो कम से कम

अनुभव का विषय हो सकते हैं, अथवा शुद्ध बुद्धि तक के द्वारा भी वस्तुओं के ऐसे गुणों के संबंध में ऐसी वस्तुओं की सत्ता के संबंध में भी किया करते हैं जो अनुभव में कभी घटित (अथवा उपलब्ध) नहीं हो सकतीं। हमारे संदेहवादी दार्शनिक (ह्यूम) ने, जैसा उसको करना चाहिए ही था, इन दोनों प्रकार की विभावनाओं में तो भेद नहीं किया, और तत्काल ही संबोधों की आत्मवृद्धि को, और मानों, अनुभव द्वारा गर्भाधान के बिना, हमारी बोधवृत्ति और (साथ ही साथ हमारी बुद्धि) के इस स्वतः प्रजनन को असंभव मानने के लिये प्रवृत्त हो गया; अतएव उसने सभी तथाभिमत प्रागनुभवात्मक सिद्धान्तों को स्वयं कल्पित सिद्धान्त मान लिया, और यह निष्कर्ष निकाला कि वे अनुभव और उसके नियमों से उत्पन्न रूढ़ि (अथवा चित्तवृत्ति) के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, परिणामतः वे अनुभवात्मकमात्र हैं, अर्थात् ऐसे नियम हैं जो स्वरूपतः (या अपने आप में) आपतिक (या संभाव्य) हैं, तथा जिनके साथ हम एक काल्पनिक अनिवार्यता और सर्वव्यापकता को संयुक्त कर दिया करते हैं। अपनी इस अजीब अनोखी प्रस्थापना के दावे के समर्थन में उसने कार्य और कारण के मध्यवर्ती सर्वमान्य संबंध के सिद्धान्त को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया। क्योंकि जब बोधवृत्ति की कोई भी शक्ति किसी वस्तु के संबोध से किसी ऐसी वस्तु के अस्तित्व की ओर नहीं ले जा सकती जो उसके द्वारा सर्वव्यापकतया और अनिवार्यतया प्रदान की जाती हो, अतः उसने इस हेतु से यह विश्वासपूर्वक अनुमान निकाला कि (अथवा उसने विश्वास किया कि वह इससे यह अनुमान निकाल सकता है कि) अनुभव को छोड़ हमारे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो हमारे संबोध को बढ़ा सके और, इस प्रकार स्वयं अपने को प्रागनुभवात्मकतया वृद्धि (या विस्तार) प्रदान करने वाली विभावना का प्रतिपादन करने पर हमारा औचित्य सिद्ध कर सके। सूर्य का प्रकाश जो कि मोम को प्रकाशित करता है उसको पिघला देता है, पर उसके साथ गीली मिट्टी को कड़ा कर देता है, यह ऐसे तथ्य हैं, जिनका ज्ञान कोई भी बोधवृत्ति इन वस्तुओं के पूर्वज्ञात संबोधों के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकती, किसी नियम के अनुसार उनका अनुमान तो और भी कम कर सकती है और केवल अनुभव ही हमको ऐसा नियम सिखा सकता है। पर इसके विपरीत, अनुभवातीत तर्कशास्त्र में हम देख चुके हैं कि यद्यपि हम किसी संबोध के अन्तर्विष्ट विषय से, जो हमको दिया हुआ है, परे हम निश्चय ही अपरोक्षतया कभी नहीं जा सकते, तथापि हम पूर्णरूपेण प्रागनुभवात्मकतया, एक तीसरी वस्तु के संबंध में अर्थात् संभाव्य अनुभव के संबंध में, इस प्रकार प्रागनुभवात्मकतया, अन्य वस्तुओं के साथ इसके संयोजन के नियम को जान सकने की क्षमता रखते हैं। इसलिये यदि पहले जो मोम कड़ा था वह पिघल जाता है, तो मैं प्रागनुभवात्मकतया यह जान सकता हूँ कि इसके पिघलने से

पहले कुछ बात या वस्तु अवश्य घटित हुई होगी (जैसे उदाहरणार्थ प्रस्तुत प्रसंग में सूर्य का ताप) जिसके होने पर यह पिघलना एक स्थायी नियम के अनुसार परिणाम-स्वरूप प्राप्त हुआ है, यद्यपि अनुभव के बिना निश्चय ही मैं न तो कार्य से कारण को, और कारण से कार्य को प्रागनुभवात्मकतया और अनुभव के शिक्षण के बिना, निर्धा-रित हुआ नहीं जान सकता था। अतएव नियम के अनुसार हमारे निर्धारण की आपति-कता या संभाव्यता से जो उस (ह्यूम) ने स्वयं नियम की आपतिकता का अनुमान निकाला यह उसकी गलती थी, और उसने किसी वस्तु के संबोध से उसके परे संभाव्य अनुभव की ओर प्रवृत्त होने को (जो कि प्रागनुभवात्मकतया घटित होता है, तथा जो उस संबोध की वस्तुगत यथार्थता को संघटित करता है) भ्रान्तिवश वास्तविक अनुभव के विषयों का संश्लेषण समझ लिया, जो संश्लेषण निस्सन्देह सर्वदा ही आनुभविक या दृष्ट होता है; इस प्रकार उसने एक सादृश्य के सिद्धान्त को, जिसका स्थान (या आसन) बोधवृत्ति में है तथा जो अनिवार्य संयोजन का अभिपोषण करता है, (भ्रान्ति-वश) साहचर्य का नियम बना डाला, जो केवल कल्पना-शक्ति की अनुकरण वृत्ति में अपनी सत्ता रखता है तथा जो केवल संभाव्य संयोजन को प्रदर्शित कर सकता है वस्तुगत संयोजन को नाममात्र को भी प्रदर्शित नहीं कर सकता।

इस अन्यथा विलक्षणतया तीक्ष्ण बुद्धि वाले विचारक की सन्देहवादी भ्रान्तियाँ मुख्यतया एक ऐसे दोष से उत्पन्न हुई, जो उसमें भी समस्त अयौक्तिक मतवादियों के साथ समान रूप से पाया जाता है, तथा जो यह है कि उसने बोधवृत्ति के समस्त प्रागनुभवात्मक संश्लेषणों के प्रकारों से सुव्यवस्थित रूप से सर्वेक्षण नहीं किया। क्योंकि ऐसा करने पर उसको (अन्य उदाहरणों का उल्लेख न भी किया जाए तो) उदाहरण के लिए स्थायित्व का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त मिला होता जो कार्यकारण संबंध के सिद्धान्त के ही समान अनुभव का पूर्वाभास प्रदान करता है। इस प्रकार वह स्वयं अपने आपको विस्तीर्णतर करने वाली बोधवृत्ति और शुद्ध बुद्धि के लिए सुनिर्धारित सीमा नियत करने में भी समर्थ हो सकता था। ऐसा करने के स्थान पर वह हमारी बोध-वृत्ति की सीमाओं को निर्धारित किये बिना उसको संकुचितमात्र कर डालता है, और यद्यपि वह एक सर्वव्यापक अविश्वास की भावना को प्रस्तुत कर देता है, पर उस अज्ञान के संबंध में जो हमारे लिए अपरिहार्य है कोई सुनिर्धारित जानकारी (या ज्ञान) प्रस्तुत नहीं करता, क्योंकि वह बोधवृत्ति के कतिपय सिद्धान्तों का, बोधवृत्ति को उसकी समस्त क्षमताओं की दृष्टि से मीमांसा की तुला पर चढ़ाए बिना ही, दोषाकलन करता है; और जब कि वह बोधवृत्ति के संबंध में उन बातों का ठीक ही निषेध करता है जिनको वह यथार्थ में प्रदान नहीं कर सकती, तब वह इतने पर ही नहीं रुकता पर इससे आगे बढ़

कर उसके सम्बन्ध में अपने को प्रागनुभवात्मकतया विस्तीर्ण करने की समस्त क्षमता का भी, बिना यह विचारे हुए कि उसने उसकी समस्त शक्तियों को मूल्यांकन के लिये नहीं तोला है, निषेध कर देता है; इस प्रकार जो (दुर्भाग्य) सर्वदा संदेहवाद के विनिपात का कारण होता है, उसको भी सम्प्राप्त होता है, अर्थात् वह सन्देहवाद का पात्र बन जाता है, क्योंकि उसकी आपत्तियाँ केवल तथ्यों पर आधारित हैं जो संभाव्य या आपतिक होते हैं, किन्तु सिद्धान्तों पर आश्रित नहीं हैं, जो अयौक्तिक मतवादी दावों का अनिवार्य परित्याग घटित कर सकते हैं।

क्योंकि वह बोधवृत्ति के उन दावों के, (जो सुदृढ़ आधार पर आधारित हैं) और बुद्धि के द्वन्द्वात्मक मिथ्याभियोगों के (जिनके विरुद्ध उसके आक्रमण मुख्यतया निर्दिष्ट हैं) मध्य में कोई स्पष्ट भेद करना नहीं जानता, अतः बुद्धि (या विवेक) जिसकी अत्यन्त विलक्षण वेगवान् प्रवृत्ति लेशमात्र भी नष्ट नहीं हुई है, प्रत्युत केवल बाधित हो गई है, अपने विस्तार के प्रदेश (या क्षेत्र) को बन्द हुआ अनुभव नहीं करती, और इसलिये, यत्र-तत्र व्यथित होनेपर भी, अपनी चेष्टाओं से कदापि भी पूर्णतया वर्जित नहीं की जा सकती। इसके विपरीत आक्रमणों के बदले में प्रत्याक्रमणों की तैयारी की जाया करती है, तथा अपनी सम्मतियों को और अधिक प्रबलता के साथ दूसरों पर ठूँसने का कठोरतर हठ उत्पन्न होता है। परन्तु बुद्धि (या विवेक) की समस्त शक्तियों का परिपूर्ण सर्वेक्षण, और उससे उत्पन्न होने वाला, ऊँचे ऊँचे दावों की निरर्थकता के मध्य में एक सुनिश्चित किन्तु छोटे से स्वत्वाधिकार का विश्वास, समस्त कलह को समाप्त कर देता है और उस (बुद्धि) को परिसीमित विवादमुक्त स्वत्वसंपदा पर ही शान्तिपूर्वक सन्तुष्ट रहने के लिये प्रेरित करता है।

ऐसे अनालोचनात्मक अयौक्ति मतवादी के प्रति, जिसने अपनी बोधवृत्ति के गोचर का सर्वेक्षण नहीं किया है, परिणामतः जिसने अपने संभाव्य ज्ञान की सीमाओं को सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित नहीं किया है, जो इस प्रकार पहले से ही इस बात को नहीं जानता कि वह कितना कुछ कर सकता है, परन्तु जो यह सोचता है कि वह इस बात को केवल प्रयत्न या खोज के द्वारा आविष्कृत कर सकता है, ये सन्देहवादी आक्रमण न केवल भयावह ही हैं प्रत्युत विध्वंसक भी हैं। क्योंकि, यदि विवाद छिड़ जानेपर उसका कोई एक अकेला कथन (या दावा) भी ऐसा पाया जाता है, जिसके औचित्य का वह प्रतिपादन नहीं कर सकता, जिसके हेत्वाभास को वह सिद्धान्तों के अनुसार विकसित (या विवृत) नहीं कर सकता, तो फिर उस के सभी कथनों पर, चाहे वे अन्यथा कितने ही सत्याभ क्यों न प्रतीत होते हों, संशय आ पड़ता है।

और इस प्रकार सन्देहवादी विचारक अयौक्तिक मतवादी दार्शनिक का सच्चा

कार्याध्यक्ष है जो बोधवृत्ति और बुद्धि की स्वस्थ मीमांसा की दिशा में ले जाने वाला है। जब वह एक बार वहाँ (अर्थात् आलोचना या मीमांसा की स्थिति तक) पहुँच जाता है तो फिर आगे उसको किसी आक्रमण का भय नहीं रह जाता; क्योंकि तब वह अपनी वास्तविक स्वत्वसम्पदा को उससे पृथक् कर सकता है जो पूर्णतया उससे बाहर की वस्तु है, जिसके विषय में वह कोई दावा नहीं करता तथा जिसके संबंध में वह किसी विवाद में भी नहीं उलझ सकता। इसलिये जब कि एक ओर (यह) सन्देह-वादी प्रक्रिया स्वयं अपने आप में निश्चय ही बुद्धि के प्रश्नों के संबंध में कोई संतोष प्रदान करने वाली नहीं है, तब दूसरी ओर बुद्धि को चतुर्दिक् निरीक्षण के प्रति जागरूक करके, एवं उन मूलभूत उपायों को सूचित करके जो उसको अपने वैध स्वत्वाधिकारों में सुर-क्षित रख सकते हैं, यह प्रक्रिया वास्तव में एक उत्तम पूर्वाभ्यास है।

प्रथम अध्याय

तृतीय खंड

उपकल्पनाओं के संबंध में शुद्ध बुद्धि का अनुशासन

तो फिर जब कि अपने विवेक (या बुद्धि) की मीमांसा के द्वारा हमने इतना जान लिया कि हम उसके विशुद्ध अथवा चिन्तनात्मक विनियोग के द्वारा वास्तव में कुछ भी नहीं जान सकते, तो क्या इससे उपकल्पनाओं (या अधिष्ठापनाओं) के लिये विस्तृत क्षेत्र खुलता हुआ नहीं प्रतीत होता; क्योंकि जहाँ हम दावे नहीं कर सकते क्या वहाँ हम कम से कम कल्पना करने और सम्मति बनाने की अनुज्ञा भी नहीं रखते?

यदि कल्पनाशक्ति केवल स्वप्नों में निमग्न रहना नहीं प्रत्युत बुद्धि की कठोर अध्यक्षता में आविष्कारक (या रचनात्मक) होना है, तो सर्वदा पहले से ही कुछ ऐसी वस्तु अवश्य होनी चाहिये जो पूर्णतया निश्चित हो, कल्पित अथवा केवल सम्मति-मात्र न हो, और वह है स्वयं विषय की संभाव्यता। यदि इस स्थिति (या अवस्था) को मान लिया जाए तो तत्पश्चात् उसकी यथार्थता के संबंध में सम्मति को रखने की अनुज्ञा हो सकती है, पर जिस सम्मति को, निराधार न होने के लिये, उस वस्तु के संयोजन में लाई जानी चाहिये जो कि वास्तव में दी हुई हो, अतएव सुनिश्चित हो, और लाई जानी चाहिये उसकी व्याख्या के आधारभूत हेतु के रूप में, और तभी वह उपकल्पना कहलाती है।

क्योंकि हम गत्यात्मक संयोजन का लेशमात्र प्रागनुभवात्मक संबोध नहीं बना सकते, और क्योंकि शुद्ध बोधवृत्ति के बौद्धिक प्रकार इस प्रकार के संनिबन्धन का आविष्कार करने के काम नहीं आते, प्रत्युत, जहाँ कहीं वह अनुभव में मिल जाए

तो उसको समझने भर के काम आते हैं, अतः हम इन बौद्धिक प्रकारों के अनुसार किसी एक अकेले ऐसे विषय का भी मौलिकतया अ विष्कार नहीं कर सकते, जो किसी नवीन और अनुभव में न दी हुई विशेषता से समन्वित हो, और उसको किसी अनुज्ञात उपकल्पना का आधार नहीं बना सकते, क्योंकि अन्यथा तो हम बुद्धि को, वस्तुओं के संबोधों के स्थान पर, कल्पनासूत्रों पर आधारित करेंगे। इस प्रकार यह अनुज्ञात नहीं है कि किसी नवीन मौलिक शक्ति का आविष्कार किया जाए, उदाहरणार्थ एक ऐसी बोधवृत्ति जो अपने विषयों को इन्द्रियों की सहायता के बिना अनुभव करने की शक्ति रखती हो, अथवा किसी ऐसे वेग का आविष्कार किया जाए जो बिना सम्पर्क के हो, अथवा नवीन प्रकार के द्रव्यों का आविष्कार किया जाए जैसे उदाहरण के लिये ऐसा द्रव्य जो अभेद्य हुए बिना देश के भीतर स्थित हो; परिणामतः जैसा कि हम कह चुके हैं बुद्धि के संबोध केवल भावमात्र होते हैं तथा उनका विषय किसी अनुभव में उपलब्ध होने वाला नहीं होता, फिर भी वे इस कारण (से ही) ऐसे विषयों को सूचित नहीं करते जो कल्पित होने के कारण इसके साथ ही साथ संभाव्य भी मान लिये गये हों। उनका केवल शक्यतावाची रूप में विचार किया जाता है, जिससे कि (उसकी स्वयंशिक्षणात्मक प्रकल्पनाओं वाले) रूप पर अनुभव के क्षेत्र में बोधवृत्ति के सुव्यवस्थित विनियोग के नियामक सिद्धान्तों को आधारित किया जा सके। इतनी सी बात को छोड़ कर वे, केवल विचारगत सत्ताएँ हैं, जिनकी संभाव्यता उपपाद्य नहीं है, और इसीलिये जो यथार्थ अवभासों की व्याख्या में भी उपकल्पना (या अधिष्ठापना) के रूप में आधार स्थानीय नहीं माने जा सकते। आत्मा को सरल अविमिश्रित के रूप में विचार करना पूर्णतया अनुज्ञातव्य है जिससे कि इस भाव के अनुसार उसकी समस्त शक्तियों की परिपूर्ण और अनिवार्य एकता को उसके आन्तरिक अवभासों की व्याख्या के सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त किया जा सके, यद्यपि यह एकता ऐसी है जो मूर्तरूप में कदापि अववृत नहीं हो सकती। पर आत्मा को सरल अविमिश्रित द्रव्य रूप मान लेना (अनुभवातीत संबोध मान लेना) एक ऐसी प्रस्थापना है, जो न केवल अनुपपाद्य है (जैसी कि बहुत सी भौतिक उपकल्पनाएँ या अधिष्ठापनाएँ हैं) प्रत्युत पूर्णतया मनमाने और बँधे ढंग से साहसपूर्वक प्रस्तुत की हुई भी है, क्योंकि सरल अविमिश्रित की उपलब्धि कभी किसी अनुभव में नहीं हो सकती, और यदि यहाँ द्रव्य शब्द से किसी इन्द्रियानुभव के स्थायी विषय का अर्थ ग्रहण किया जाए तो किसी भी सरल अवभास की संभाव्यता बिलकुल अनवधार्य हो जाती है। केवल बोधगम्य सत्ताओं अथवा ऐन्द्रिय जगत् की वस्तुओं से संबंध रखने वाले केवल बोधगम्य गुणों को सम्मति के रूप तक में मानने के लिये, बुद्धि के पास कोई सहेतुक अधिकार नहीं है, यद्यपि

(क्योंकि उनकी संभाव्यता अथवा असंभाव्यता का कोई संबोध उपलब्ध नहीं है) उनकी संभाव्यता को तथाकथित अपेक्षाकृत अधिक अच्छी अन्तर्दृष्टि के द्वारा अयौक्तिक तथा निषिद्ध ठहराने का भी दावा नहीं किया जा सकता।

दिये हुए (अर्थात् उपलब्ध) अवभासों की व्याख्या के लिये उन वस्तुओं और हेतुओं के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी वस्तुओं और हेतुओं को उपस्थित नहीं किया जा सकता जो अवभासों के पहले से ही जाने हुए नियमों के अनुसार उनके साथ संनियोजन (या संनिबन्धन) में स्थापित रहे हैं। कोई भी ऐसी अनुभवातीत उपकल्पना (अथवा अधिष्ठापना) जिसमें कि बुद्धि का भावमात्र प्राकृतिक वस्तुओं की व्याख्या में प्रयुक्त हुआ है, इसी कारण वास्तव में कोई व्याख्या नहीं होगी; क्योंकि ऐसा करना, किसी एक ऐसी वस्तु को जो कि ज्ञात आनुभविक सिद्धान्तों के द्वारा पर्याप्तरूपेण समझ में नहीं आती किसी एक ऐसी (अन्य) वस्तु के द्वारा स्पष्ट करना होगा जिसको हम विल्कुल भी नहीं समझते। फिर इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि इस प्रकार की उपकल्पना के सिद्धान्त वास्तव में (अथवा अधिक से अधिक) केवल बुद्धि (या विवेक) को सन्तोष प्रदान करने के काम आएँगे, किन्तु विषयों के संबंध में बोधवृत्ति के विनियोग को विस्तार प्रदान करने के काम नहीं आएँगे। इसके विपरीत प्रकृति में प्राप्त होने वाली क्रमव्यवस्था तथा सोद्देश्यता की व्याख्या तो प्राकृतिक हेतुओं के आधार पर प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही की जानी चाहिये, और इस प्रसंग में विकटतम उपकल्पनाएँ (अधिष्ठापना-हाइपौथेसिस्) यदि वह भौतिकमात्र हों, किसी भी अतिभौतिक उपकल्पना से, अर्थात् दिव्य सृष्टिकर्त्ता की पुकार से जो कि इसी उपलक्ष में पूर्वतः कल्पित किया जाता है, अपेक्षाकृत अधिक सह्य होंगी। ऐसे सब कारणों की, (जिनकी वस्तुगत यथार्थता, कम से कम उनकी संभाव्यता में तो अवश्य ही लगातार चालू रहनेवाले अनुभव में जानी जा सकती है) उपेक्षा करते हुए उनके पास से होकर निकल जाना, जिससे कि (अन्त में) एक ऐसे भावमात्र में विश्राम किया जा सके जो बुद्धि के लिये अत्यन्त सन्तोषप्रद है, यह समस्त प्रक्रिया आलस्यपूर्ण बुद्धि (रातियो इग्नावा) के सिद्धान्त को सूचित करती है। जहाँ तक इन कारणों की श्रृंखला की व्याख्या के आधारों की ऐकान्तिक समग्रता का संबंध है, सो यह तो लौकिक विषयों के संबंध में कोई भी बाधा उपस्थित नहीं कर सकती, क्योंकि यह विषय अवभासों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, जिनमें प्रतिबन्धों की श्रृंखला के संश्लेषण में कभी भी किसी प्रकार की पूर्णता की आशा नहीं की जा सकती।

बुद्धि के चिन्तनात्मक विनियोग में अनुभवातीत उपकल्पना (हाइपौथेसिस्) का आश्रय लेने तथा व्याख्या के आधारभूत भौतिक हेतुओं के अभाव, यदि अवश्याकता

हो तो अतिभौतिक हेतुओं को काम में लाने की स्वतंत्रता बरतने की अनुज्ञा कदापि नहीं दी जा सकती, क्योंकि कुछ तो इसका कारण यह है कि ऐसा करने से बुद्धि की लेशमात्र भी प्रगति ही नहीं होगी इतनी सी ही बात नहीं है, प्रत्युत वह अपने समुपयुक्त विनियोग में समस्त प्रगति से विच्छिन्न हो जाएगी, और कुछ (कारण) यह है कि अन्त में यह स्वच्छन्दता बुद्धि को, उन सब फलों से वंचित कर देगा जो कि उसके अपने निजी क्षेत्र की कृष्टि से, अर्थात् अनुभव से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि जब कभी प्राकृतिक पदार्थों की व्याख्या हमारे लिये यत्रतत्र कठिन प्रतीत होती है तो हमको सदा एक ऐसा स्थायी व्याख्या का अनुभवातीत आधार हाथ के दाँव मिल जाता है, जो हमको आगे अनुसंधान कार्य से मुक्त कर देता है, और हमारी खोज किसी अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति के कारण समाप्त नहीं होती प्रत्युत एक ऐसे सिद्धान्त की पूर्ण अनवधार्यता के कारण समाप्त होती है जो बिलकुल आरम्भ से ही इस प्रकार आकल्पित किया गया था कि उसमें नितान्त आद्य (अथवा आरंम्भक) का संबोध अवश्यमेव अन्तर्विष्ट रहे।

किसी भी उपकल्पना को ग्राह्य बनाने के लिये दूसरा अपेक्षित तत्व है इसकी प्रागुभवात्मकतया स्वयं, (उन सब परिणामों को जो कि दिये हुये हैं) निर्धारित करने की पर्याप्तता (या क्षमता) है। यदि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये पूरक (अथवा सहायक) उपकल्पनाओं की पुकार करनी आवश्यक हो जाए, तो वे उसके कपोलकल्पनामात्र होने का सन्देह उत्पन्न करती हैं, क्योंकि उनमें प्रत्येक के लिये भी उसी प्रकार के औचित्य-प्रतिपादन की आवश्यकता हुआ करती है जैसी कि आधार-भूत विचार के लिये (अथवा मूलभूत उपकल्पना के लिये) होती है, अतएव वह विश्वसनीय साक्ष्य प्रदान करने के काम नहीं आ सकते। यदि किसी नितान्त परिपूर्ण कारण को पूर्वतः मान कर चला जाए तो ऐसा मानने में संसार में उपलब्ध होने वाली सोद्देश्यता सुव्यवस्था और विशालता की व्याख्या करने में किसी प्रकार का अभाव या कमी नहीं रह जाती, परन्तु फिर भी उन बातों को दृष्टि में रखते हुए जो कम से कम हमको (परिमित मानवीय दृष्टिसे) अपने संबोधों के अनुसार स्पष्ट ही पथ से विचलन और दूषण प्रतीत होते हैं, तो इन आपत्तिरूप स्थितियों के प्रतिविधान के लिये (और प्रथम उपकल्पना की रक्षा के लिये) नवीन उपकल्पनाएँ आवश्यक होंगी। यदि मानवीय आत्मा की सरल अविमिश्रत आत्मनिर्भरता का जिसको उसके अवभासों के मूलाधार के रूप में मान लिया गया है उसकी ऐसी कठिनाइयों के द्वारा, (जो भौतिक तत्व में घटित होने वाले (वृद्धि और क्षय) दृष्टिगोचर विषय के सदृश हैं) विरोध किया जाए, तो अवश्यमेव सहायता के लिये नवीन उपकल्पनाओं की पुकार की जाएगी, जो निश्चय ही सत्याभास से रहित तो नहीं, हैं, परन्तु

जो उस प्रामाणिकता के अतिरिक्त और किसी प्रामाणिकता से समन्वित नहीं नहीं हैं जो उनको उस सम्मति––अर्थात् आधारभूत मौलिक उपकल्पना द्वारा प्रदान की गई है, जिसका पोषण (या समर्थन) करने के लिये उनको पुकारा गया था।

यहाँ पर जो दो उदाहरणस्वरूप ग्रहण किये हुए बुद्धि के दावे (अर्थात् (१) आत्मा की अमूर्त एकता और (२) परमतत्व की सत्ता) प्रस्तुत किये गए हैं यदि उनको उपकल्पना न माना जाए प्रत्युत प्रागनुभवात्मकतया उपपन्न अयौक्तिक मत रूप माना जाए तो उनके विषय में कुछ नहीं कहना है। किन्तु ऐसी परिस्थिति में भी इस बात की विशेष सावधानी बरती जानी चाहिये कि उपपत्ति में प्रत्यक्षण के समान स्वयंसिद्ध निश्चितता हो। क्योंकि इस प्रकार के भावों की वास्तविकता को सत्यसंकाश सिद्ध करना चाहना ऐसा ही निरर्थक उद्देश्य है जैसा कि किसी भूमितिशास्त्र के प्रमेय (या प्रस्थापना) को केवल संभाव्य सिद्ध करने की बात विचारना। समस्त अनुभव से पृथक् हुई बुद्धि या तो प्रत्येक वस्तु को केवल प्रागनुभवात्मकतया जानती है अतएव अनिवार्य रूप में जानती है अथवा बिलकुल भी नहीं जानती; इस कारण इसकी विभावना कदापि राय या सम्मति (ओपीनियन, माइनुंग) नहीं होती; या तो बुद्धि समस्त विभावना से पूर्णतया विरत रहती है, अथवा जो कुछ कहती है तो उसको स्वयंसिद्ध निश्चितता के रूप में कहती है। जिसका वस्तुओं से संबंध है उसके विषय में सम्मतियाँ और संभाव्य विभावनाएँ (या निर्णय) तो केवल उसी की व्याख्या (या स्पष्टीकरण) में प्रतिपादित की जा सकती हैं जो वास्तव में उपलब्ध है, अथवा जो वास्तव में दिये हुए के मूलाधार से आनुभविक नियमों के अनुसार परिणामस्वरूप निष्पन्न होता है, अतः उनका संबंध अनुभव के विषयों की श्रृंखला या परम्परामात्र से ही है। इस क्षेत्र के बाहर सम्मति (या राय) बनाना विचार के साथ खिलवाड़ करने के बराबर है, क्योंकि तब तो विभावना के अनिश्चित मार्ग से यह राय बनानी पड़ेगी कि स्यात् इसी मार्ग से सत्य की उपलब्धि हो सके।

परन्तु, यद्यपि, शुद्ध बुद्धि के केवल चिन्तनात्मक प्रश्नों की विवेचना में उपकल्पनाओं (या हाइपौथेसिस) का ऐसा कोई स्थान नहीं है, कि उनका उपयोग प्रस्थापनाओं के आधाररूप में किया जा सके, फिर भी वे प्रस्थापनाओं के पोषण के लिये तो सर्वथा ही अनुज्ञेय हैं, अर्थात् वे खण्डन-मंडनात्मक पद्धति में तो प्रयुक्त हो सकते हैं पर अयौक्तिक मतवादी ढंग में प्रयुक्त नहीं हो सकते। किन्तु पोषण या प्रतिवाद से मेरा अभिप्राय प्रतिज्ञापन के लिये उपपत्ति के आधारभूत हेतुओं की

वृद्धि से नहीं है, प्रत्युत विरोधियों के उन कूटतर्कों के निराकरण से है, जिनका उद्देश्य हमारे दावों या प्रतिज्ञापनों को अप्रामाणिक सिद्ध करना है। (अब) शुद्ध बुद्धि की समस्त प्रस्थापनाओं की अपनी यह विशिष्टता होती है कि, जब कि वह व्यक्ति जो कि किसी एक भाव की वास्तविकता का दावा (प्रतिज्ञापन) करता है, अपनी उस प्रस्थापना को सुनिश्चितता प्रदान कर सकने के लिये कदापि पर्याप्त ज्ञान नहीं रखता, तो दूसरी ओर प्रतिपक्षी भी विरोधी दावे के लिये उतना ही कम ज्ञान रखता है। मानवीय बुद्धि के भाग्य की (उभयपक्षवर्तिनी) यह समानता, चिन्तनात्मक ज्ञान-प्रकारों में निश्चित ही दोनों पक्षों में से किसी को भी अनुकूलता प्रदान नहीं करती, अतः यह कभी भी निर्णीत न होने वाले कलहों का सही युद्धक्षेत्र भी है। परन्तु जैसा कि आगे चलकर प्रदर्शित किया जाएगा कि बुद्धि, अपने व्यावहारिक विनियोग के संबंध में, किसी ऐसी बात को मान लेने का अधिकार रखती है, जिसको विशुद्ध चिन्तन के क्षेत्र में, उपपत्ति के पर्याप्त आधारभूत हेतुओं के बिना, पहले से कल्पना करने की अधिकारिणी नहीं होती; क्योंकि इस प्रकार की सब पूर्वकल्पनाएँ चिन्तन की परिपूर्णता के लिये विघातक हैं, पर इसके विषय में व्यावहारिक हित को किसी प्रकार का कोई वास्ता नहीं है। इसलिये इस क्षेत्र में तो वह स्वत्वाधिकार सम्पन्न होती है, जिस स्वत्वाधिकार के औचित्य को सिद्ध करने की उसको आवश्यकता नहीं होती, और वास्तव में जिसकी उपपत्ति वह प्रदान कर भी नहीं सकती। इसलिये उपपत्ति का दायित्व विरोधी के ऊपर पड़ता है। परन्तु क्योंकि विरोधी भी विवादग्रस्त विषय के अनस्तित्व को सिद्ध करने के लिये उसके विषय में उतना ही कम ज्ञान रखता है, जितना कम ज्ञान उसकी यथार्थता की प्रतिज्ञा करने वाला उसका समर्थक रखता है, इससे यह स्पष्ट है कि इस विवाद में उस पक्ष को अधिक सुविधा प्राप्त रहती है जो किसी बात को व्यावहारिकतया अनिवार्य मानने का दावा करता है (मैलियोर एस्ट् कॉण्डीटियो पोसीडैण्ट्स् = सिद्धान्त या स्वीकार पक्ष की अवस्था अधिक अच्छी होती है)। उसको इस बात की स्वतंत्रता है कि वह अपने नेक पक्ष के समर्थन में, मानों आत्मरक्षा के लिये, उन्हीं हथियारों को काम में ला सकता है, जिनको उसका विरोधी उस पक्ष के विरुद्ध प्रयोग करता है और जो हथियार उपकल्पनाएँ हैं, तथा जिनका उपयोग स्वयं उपपत्ति को बल प्रदान करने के लिये बिलकुल नहीं होता प्रत्युत केवल यह दिखलाने के लिये होता है कि विरोधी विवादग्रस्त विषय के संबंध में इतना कम ज्ञान रखता है कि वह चिन्तनात्मक अन्तर्दृष्टि के संबंध में अपने आपको किसी सुविधा से युक्त मानकर आत्मश्लाघा नहीं कर सकता।

इस प्रकार शुद्ध बुद्धि के क्षेत्र में उपकल्पनाएँ केवल युद्ध के हथियारों के रूप में

ही अनुज्ञात होती हैं, वे किसी अधिकार को स्थापित करने के लिये नहीं प्रत्युत उसके संरक्षण (या पोषण) के लिये अनुज्ञात हैं। पर विरोधी (या विपक्षी) को खोज तो हमको सर्वदा अपने भीतर ही करनी चाहिये। क्योंकि चिन्तनात्मक बुद्धि (या विवेक) अपने अनुभवातीत विनियोग में स्वयं अपने आप में ही द्वन्द्वात्मक होती है। वे आपत्तियाँ जिनसे हमको डरना है, स्वयं हमारे भीतर छिपी पड़ी हैं। हमको उन्हें इसी प्रकार खोज कर निकालना चाहिये जिस प्रकार हम उन पुराने दावों के संबंध में किया करते हैं जो पुराने होते हुए भी कदापि वयोतीत नहीं हुए हैं, जिससे कि उनके विनाश के ऊपर शाश्वत शान्ति को स्थापित किया जा सके। बाहरी शान्ति तो केवल दिखावा-मात्र है। इन सब झगड़ों का बीज (या अंकुर)जो कि मानवीय बुद्धि में अन्तर्निहित रहता है निर्मूल कर दिया जाना चाहिये; परन्तु जब तक हम उसको स्वतंत्रता प्रदान न करें, इतना ही क्यों, उसके कल्ले फूटने और अपने को हमारी दृष्टि के समक्ष प्रकट करने के लिये और तत्पश्चात् समूल नष्ट करने के लिये उसको परि तक प्रदान न करें तो भला उसको हम कैसे निर्मूल कर सकते हैं ? अतएव हमको स्वयमेव उन आपत्तियों तक का विचार करना चाहिये जो किसी भी विरोधी को न सूझी हों, और अपने हथियारों तक को उनको उधार दे देना चाहिये, तथा (आक्रमण करने के लिये) जिस स्थिति या स्थान को वह अपने सब से अधिक अनुकूल और अभीष्ट समझे वह भी उसको दे डालना चाहिये। ऐसा सब कुछ करने में डरने की कोई बात नहीं है प्रत्युत बहुत कुछ आशा करने का अवसर है, अर्थात् ऐसा करने से एक ऐसी सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं, जिसके विषय में भविष्य में कभी भी कोई विवाद या दावा करने का साहस नहीं कर सकेगा।

अपनी पूरी साज-सज्जा के लिये आपको शुद्ध बुद्धि की उपकल्पनाओं (अधिष्ठापनाओं) की भी आवश्यकता है, जो यद्यपि (क्योंकि वे किसी भी अनुभव के नियम के द्वारा फौलाद में परिणत नहीं किये गये हैं) हैं केवल सीसे के ही हथियार, फिर भी जो इतने शक्तिशाली हैं कि जितने शक्तिशाली वे हथियार होंगे जो कोई भी विरोधी आपके विरुद्ध काम में ला सकता है। इसलिये यदि तुमने (किसी अचिन्तनात्मक संबंध में) आत्मा के स्वरूप को अभौतिक, और किसी भी शारीरिक परिणाम के अधीन न रहने वाला मान लिया हो, और तब तुमको इस कठिनाई का सामना करना पड़े कि इतना सब कुछ होते हुए भी अनुभव हमारी मानसिक शक्तियों के उत्थान और विस्खलन दोनों ही को एक समान रूप से हमारी इन्द्रियों के विभिन्न विचारमात्र सिद्ध करता हुआ प्रतीत हो, तो तुम इस उपपत्ति की शक्ति को यह मान कर दुर्बल कर दे सकते हो कि हमारा शरीर एक मूलाधारभूत अवभास के अतिरिक्त

और कुछ भी नहीं है, एक प्रतिबन्ध के रूप में जिसके साथ हमारी वर्त्तमान अवस्था में हमारी इन्द्रियसंवेद्यता की समस्त शक्तियाँ और उसके साथ ही हमारे विचार की समस्त शक्तियाँ संबद्ध हैं। आत्मा की शरीर से पृथकता आपकी ज्ञान-शक्ति के ऐन्द्रिय विनियोग की समाप्ति और बौद्धिक विनियोग का आरंभ माना जा सकता है। इस प्रकार से शरीर को विचार का कारण नहीं समझा जाएगा, प्रत्युत उसका आयंत्रक प्रतिबन्धमात्र समझा जाएगा, इसलिये जब कि एक ओर निश्चय ही उसको ऐन्द्रिय और प्राणीजीवन को प्रगति प्रदान करने वाला समझा जाएगा, तब दूसरी ओर शुद्ध और आध्यात्मिक जीवन के लिये उतना ही अधिक बाधारूप भी माना जाएगा; और तब प्राणी जीवन और ऐन्द्रिय जीवन की शारीरिक संघटना पर जो निर्भरता है वह किसी भी प्रकार हमारी इन्द्रियों की अवस्था के ऊपर हमारे समग्र जीवन की निर्भरता को सिद्ध नहीं करेगी। और इससे और भी आगे जा सकते हैं, और ऐसे नवीन संदेहों का आविष्कार कर सकते हैं जो या तो पहले कभी भी उठाये या सुझाये ही नहीं गये, अथवा पर्याप्तरूपेण दूर तक विचारे नहीं गये।

प्रजनन की संभावना (या संयोग) जो कि मानव-जाति में और विवेकरहित प्राणियों में, दोनों में ही अवसर पर, बहुधा सचमुच ही पर्याप्त भोजन (या पोषण) पर, शासकों की मन की मौज पर, नहीं इतना ही नहीं, बहुधा दुर्व्यसन तक पर निर्भर रहती है, इस दृष्टिकोण में विश्वास करने के मार्ग में महान कठिनाई उत्पन्न कर देती है कि एक ऐसे प्राणी का जीवन, जिस (के जीवन) का प्रथम आरंभ ऐसी (तुच्छ) और हमारी स्वेच्छा पर पूर्णतया निर्भर रहने वाली परिस्थितियों में हुआ हो, अनन्त काल तक पहुँचने वाले स्थायित्व से युक्त हैं। जहाँ तक पृथ्वी पर समस्त जाति के सतत स्थायित्व का संबंध है, यह कठिनाई स्वयं अपने आप में बहुत नगण्य (तुच्छ) सी है, क्योंकि व्यक्तियों के प्रसंग में घटित होने वाली आकस्मिक घटनाएँ फिर भी एक सर्वव्यापी नियम के अधीन रहती हैं, परन्तु जहाँ तक प्रत्येक व्यक्ति का संबंध है, ऐसे तुच्छ कारणों से इतने शक्तिशाली परिणाम की प्रत्याशा करना निश्चयमेव सन्देहास्पद प्रतीत होता है। पर इस (आपत्ति) के विरूद्ध भी आप इस उपकल्पना का प्रतिपादन कर सकते हैं कि समस्त जीवन वास्तव में बुद्धिगम्यमात्र है, समय के परिवर्तनों के अधीन नहीं है, तथा न वह जन्म के साथ आरंभ होता है, न मृत्यु के साथ समाप्त। आप यह भी कह सकते हैं कि यह जीवन केवल अवभासमात्र है, इस के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात् यह शुद्ध आध्यात्मिक जीवन की ऐन्द्रिय प्रत्युपस्थापना है, तथा समस्त इन्द्रियग्राह्य जगत् एक चित्रमात्र है, जो हमारे एतत्कालीन विद्यमान ज्ञान के प्रकार में हमारे समक्ष मँडराया करता है, तथा स्वप्न के तुल्य अपने

आप कोई वस्तुगत यथार्थता नहीं रखता; और यदि हम वस्तुओं को स्वयं अपने आपको उस रूप में अपरोक्षतया देख पाएँ जैसे कि हम वस्तुतः हैं तो हम अपने को आध्यात्मिक सत्ताओं के संसार में पाएँगे, जिसके साथ में हमारा एकमात्र और सच्चा साहचर्य न तो जन्म के साथ में आरंभ हुआ है और न मृत्यु के साथ समाप्त ही होगा (क्योंकि जन्म और मृत्यु दोनों ही एक समान अवभासमात्र हैं)।

यद्यपि यह सत्य है कि हम यहाँ पर जो कुछ भी अपने विपक्षी के आक्रमण के विरुद्ध उपकल्पना के रूप में निवेदन कर रहे हैं, हम उसके विषय में लेशमात्र भी कुछ नहीं जानते, हम गंभीरतापूर्वक उसका दावा भी नहीं करते, क्योंकि जो कुछ हम कह रहे हैं वह तो बुद्धि का भाव (या विचार) भी नहीं है, प्रत्युत यह तो केवल आत्मरक्षा के निमित्त कल्पित किया हुआ भाव है, पर इतना सब कुछ होते हुए भी हम इस विवाद में पूर्णतया विवेकानुसार ही प्रवृत्त हो रहे हैं, क्योंकि हम अपने विरोधी के लिये जो यह मानता है कि उसने एक एक करके सब संभावनाओं को समाप्त कर दिया है, कारण कि वह आनुभविक प्रतिबन्धों के अभाव को झूठे ही हमारे विश्वास की परिपूर्ण असंभवता की उपपत्ति के रूप में प्रत्युपस्थापित करता है, केवल यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि वह केवल अनुभव के नियमोंमात्र के द्वारा, स्वरूपतः सत् संभाव्य वस्तुओं के समग्र क्षेत्र को उतना ही कम अवधृत कर सकता है जितना कम हम अनुभव के बाहर अपनी बुद्धि के लिये किसी सुदृढ़ आधार के ढंग वाली वस्तु को उपार्जित कर सकते हैं। वह व्यक्ति जो अपने साहसिक निषेधकर्ता विरोधी के दावों के विरुद्ध इस प्रकार के औपकाल्पनिक आत्मरक्षा के उपायों को प्रस्तुत करता है, उसके विषय में इस कारण यह नहीं समझा जाना चाहिये कि वह इन सम्मतियों को अपने मत के रूप में अंगीकार करना चाहता है। ज्यों ही वह अपने विरोधी अयौक्तिक मतवादी के गर्व को खर्व करने में सफल हो जाता है, त्योंही वह इनको त्याग देता है। क्योंकि, दूसरों के दावों के संबंध में यदि कोई अस्वीकारात्मक और निषेधात्मक व्यवहार करता है तो चाहे ऐसा करना कितना ही संयत और विनीत क्यों न समझा जाए, तथापि किसी कथन के प्रति की गई आपत्तियों को उसके विरोधी कथन की उपपत्तियों के रूप में प्रत्युपस्थापित करने का प्रयत्न एक ऐसा ही धृष्ट और अतिकल्पनापूर्ण दावा होगा जैसा कि तब होता जब कि स्वीकारात्मक (या सकारात्मक) पक्ष की स्थिति और उसकी संगति को अंगीकार किया गया होता।

इसलिये इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि के चिन्तनात्मक विनियोग में केवल अभिनव के रूप में उपकल्पना की अपने आप में कोई प्रामाणिकता नहीं होती, प्रत्युत विरोधी पक्ष के अनुभवातीत दर्पपूर्ण दावों की अपेक्षा या दृष्टि से ही उनकी प्रामा-

णिकता हुआ करता है। क्योंकि संभाव्य अनुभव के सिद्धान्तों को वस्तु सामान्य की संभावना (या संभाव्यता) तक विस्तार दे देना भी उतनी अतिगामी प्रक्रिया है, जितनी उन (अतिगामी) संबोधों की वस्तुगत यथार्थता का दावा करने की प्रक्रिया होगी जिनके विषय समस्त संभाव्य अनुभव की सीमाओं के बहिर्भाग को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं पाए जा सकते। शुद्ध बुद्धि जिस बात का भी दृढ़तापूर्वक दावे के साथ निर्णय करती है (वह बुद्धि के द्वारा ज्ञात प्रत्येक वस्तु के समान) या तो अनिवार्य होनी चाहिये, अथवा वह कुछ भी नहीं है। परिणामतः वास्तव में बुद्धि में कोई अभिमत नहीं होता। वे उपकल्पनाएँ, जिनका हमने ऊपर विवेचन किया है, केवल अनिर्णीत (संदिग्ध) विभावनाएँमात्र हैं, जो यद्यपि निश्चय ही किसी वस्तु के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकतीं, तथापि कम से कम निरस्त (या खंडित) भी नहीं होतीं, इसलिये वे शुद्ध निजी अभिमतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, किन्तु हम (स्वयं अपने आन्तरिक सन्तोष के लिये भी) अपने मन में उठने वाली आशंकाओं के निराकरण के लिये उनके बिना नहीं रह सकते। उनको उनके इसी लक्षण में सुरक्षित बनाए रखना चाहिए, और उनके स्वतंत्र रूप से अधिकार को तथा आत्यन्तिकी प्रामाणिकता को धारण कर लेने को रोकने के लिये बड़ी सावधानी बरती जानी चाहिये क्योंकि अन्यथा तो वे हमारी बुद्धि को कल्पना सृष्टियों और भ्रान्तियों में निमग्न कर देंगे।

प्रथम अध्याय

चतुर्थ खण्ड

उपपत्तियों की दृष्टि से शुद्ध बुद्धि का अनुशासन

प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक ज्ञान प्रदान करने वाली अन्य सब उपपत्तियों से अनुभवातीत और सांश्लेषिक स्थापनाओं की उपपत्तियों की यह विशेषता (या विलक्षणता) होती है कि इस प्रसंग में बुद्धि अपने आपको अपने संबोधों के द्वारा विषय के प्रति सीधे (अपरोक्षतया, बराहरास्त) प्रयुक्त नहीं कर सकती, प्रत्युत इसके पूर्व उसको पहल उन संबोधों की वैषयिक प्रामाणिकता और उनके प्रागनुभवात्मक संश्लेषण की संभावना को सिद्ध करना पड़ता है। यह कोई ऐसा नियम नहीं है जो केवल चतुरता के विचार से आवश्यक हो, प्रत्युत यह तो स्वयं उपपति की संभाव्यता और सत्ता से घनिष्ट संबंध (या नाता) रखता है। यदि मुझे, प्रागनुभवात्मकतया किसी विषय के संबोध के परे जाना हो तो मैं ऐसा केवल किसी ऐसे पथप्रदर्शन की सहायता से ही कर सकता हूँ जो मुझको उस संबोध के परे से प्राप्त

हो, उस सहायता के बिना ऐसा कर सकना असंभव है। गणित विज्ञान में वह वस्तु जो कि मेरे संश्लेषण का पथप्रदर्शन करती है प्रागनुभवात्मक अन्तःस्फुरणा है, जिससे हमारे समग्र परिणाम अपरोक्षतया शुद्ध अन्तःस्फुरण (या अन्तःप्रत्यक्ष) से निकाले जा सकते हैं। अनुभवातीत ज्ञान में, जब तक हमारा वास्ता केवल बोधवृत्ति के संबोधों से रहता है, संभाव्य अनुभव इस पथप्रदर्शक सूत्र का काम देता है। यहाँ पर उपपत्ति निश्चय ही इस बात को प्रदर्शित नहीं करती कि दिया हुआ संबोध (उदाहरण के लिये, उसका संबोध जो कि घटित होता है) सीधे एक दूसरे संबोध (किसी कारण के संबोध) की ओर ले जाता है; क्योंकि इस प्रकार का संक्रमण तो एक ऐसी छलाँग होगी जिसके औचित्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता; प्रत्युत यह (उपपत्ति) तो यह प्रदर्शित करती है कि स्वयं अनुभव और इसीलिये अनुभव का विषय भी, एक इस प्रकार के सन्निबन्धन के बिना असंभव होंगे। इसलिये उपपत्ति को इसके साथ ही साथ सांश्लेषिक तथा प्रागनुभवात्मकतया वस्तुओं के किसी ऐसे ज्ञान तक पहुँचने की संभाव्यता को भी विज्ञापित करना चाहिये जो उनके संबोधों में अन्तर्निविष्ट नहीं था। इस सावधानी के बिना तो उपपत्तियों की दशा उन जलधाराओं के समान हो जाती है जो अपने तटों को तोड़ कर खेतों और मैदानों में, जिधर को भी प्रच्छन्न विचार(-साहचर्य) का ढलाव उनको संयोगात् ले चलता है, उधर को ही उन्मत्त स्वच्छन्दता के साथ बहने लगती है। विश्वास का वह आभास जो कि विचार साहचर्य के विषयिगत कारणों पर आश्रित रहता है, तथा जो कि प्राकृतिक संबंध के विषय में अन्तर्दृष्टि-रूप समझा जाता है, उन सब आशंकाओं को बिलकुल भी संतुलित नहीं कर सकता, जिनको इस प्रकार का भयास्पद मार्ग अवश्य ही औचित्य के साथ जन्म देगा। इसलिये पर्याप्त हेतु के सिद्धान्त की उपपत्ति के प्रतिपादन करने की सभी चेष्टाएँ, इस विषय के ज्ञाताओं के सर्वव्यापी अंगीकरण के कारण निरर्थक रही हैं; तथा अनुभवातीत आलोचना के प्रकट होने के पूर्व, (अवस्था इतनी बिगड़ चुकी थी) कि क्योंकि इस सिद्धान्त को त्यागा तो जा नहीं सकता था, (अतएव) किसी नवीन उपपत्ति को प्रस्तुत करने की अपेक्षा धृष्टतापूर्वक स्वस्थ सामान्य-सूझबूझ की दुहाई देना अधिक अच्छा समझा जाता था (और यह ऐसा उपाय है जो सर्वदा यह सिद्ध करता है कि बुद्धि नैराश्यपूर्ण स्थिति में है)।

परन्तु यदि वह प्रस्थापना जिसको सिद्ध करना है, शुद्ध बुद्धि का दावा (या उपोद्बलन) हो और यदि मैं केवल भावोंमात्र के माध्यम से ही अपने आनुभविक (या दृष्ट) संबंधों से पार चले जाने का इच्छुक भी होऊँ, तब भी संश्लेषट के (यदि वह अन्यथा संभव भी हो तो) इस प्रकार के पग का, एक ऐसे अनिवार्य प्रतिबन्ध के रूप

में, जिसको उसकी निर्णयकता (या प्रामाणिकता) अपने में समाविष्ट रखती है, औचित्य प्रतिपादन करना और भी अधिक आवश्यक होगा। अनुव्यवसाय की एकता से निष्पन्न हमारे विचार करने वाले द्रव्य (=आत्मा) के सरल स्वरूप की तथा-कथित उपपत्ति चाहे कितनी सत्यसंकाश क्यों न हो, इसको अनिवार्य कठिनाई का सामना करना पड़ता है, कि क्योंकि आत्यन्तिक सरलता कोई ऐसा संबोध नहीं है, जो किसी प्रत्यक्षानुभव के साथ अपरोक्षतया संबंद्ध किया जा सकता हो, प्रत्युत वह तो एक भाव के रूप में अनुमित ही किया जाना चाहिये, यह बात बिलकुल भी समझने में नहीं आती कि वह चेतनामात्र (जो समस्त विचार में अन्तर्विष्ट रहती है, अथवा कम से कम अन्तर्विष्ट हो सकती है) यद्यपि वह निश्चय ही यहाँ तक एक सरल अविमि-श्रित प्रत्युपस्थापना होती है, मुझको किसी ऐसी वस्तु की चेतना और ज्ञान की ओर कैसे ले जा सकती है, जिसमें विचारमात्र ही समाविष्ट होता है। क्योंकि यदि मैं किसी गतिशील शरीर की शक्ति को अपने प्रति प्रत्युपस्थापित करूँ तो वह इस सीमा तक मेरे लिये एक आत्यन्तिक इकाई होगी, और मेरी उसकी प्रत्युपस्थापना (भी) सरल (=अविमिश्रित) होती है, इसलिये मैं इस (गति) की प्रत्युपस्थापना को किसी विन्दु की गति के रूप में भी अभिव्यक्त कर सकता हूँ, क्योंकि यहाँ पर (इस प्रस्तुत प्रसंग में) शरीर की संहति अकिंचितकर है, तथा शक्ति में बिना किसी कमी को किये उसको जितना चाहे उतना छोटा विचार किया जा सकता है, और इसलिये विन्दु में विद्यमान जैसा भी माना जा सकता है। पर इसीलिये मैं इस से यह एक निष्कर्ष भी नहीं निकाल सकता कि, यदि मुझको किसी शरीर की गति-शक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी दिया हुआ न हो, तो शरीर को केवल इस कारण सरल अविमिश्रित द्रव्य के रूप में विचार किया जा सकता है, क्योंकि उसकी प्रत्युपस्थापना उसकी संहति की मात्रा से पृथक् (अथवा अपकृष्ट) है, और इसलिये सरल अवि-मिश्रित है। अब, क्योंकि अपकृष्ट रूप में (या पृथक् रूप में) सरल होना विषयरूप में सरल होने से बिलकुल भिन्न बात है और क्योंकि "मैं" (या अहम्), जो अपकृष्ट रूप में ग्रहण किये जाने पर (प्रथम अर्थ में समझे जाने पर) अपने में नानात्व को लेशमात्र में भी नहीं रखता, दूसरे अर्थ में (वैषयिक अर्थ में) ग्रहण किये जाने पर, स्वयं आत्मा को सूचित करने के कारण एक अत्यन्त जटिल संबोध हो सकता है, अर्थात् अपने भीतर संघात को धारण और सूचित कर सकता है, इसी से मुझे इन सूक्तियों में तर्काभास का पता लगता है। पर इस प्रकार के तर्काभासों का प्रतिकार करने के लिये (क्योंकि किसी प्रकार की पूर्वचेतावनी के बिना, तो उपपत्ति से स्यात् सन्देह भी जाग्रत नहीं होगा) यह नितान्त अपरिहार्य है कि ऐसी सांश्लेषिक प्रस्था-

पनाओं की संभाव्यता की कसौटी हमको सर्वदा हस्तगत रहनी चाहिये जो अनुभव की उपलब्धियों स अधिक सिद्ध करने की सामर्थ्य रखती है, तथा यह कसौटी इस अपेक्षा से संघटित होती है कि उपपत्ति को सीधे अपरोक्षतया अभीष्ट विधेय की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये, प्रत्युत एक ऐसे सिद्धान्त के माध्यम से प्रवृत्त होनी चाहिये जो हमारे दिय हुए संबोधों को प्रागनुभवात्मकतया भावों तक विस्तीर्ण करने की संभाव्यता से समन्वित है और उनकी प्रतीति को उत्पन्न कर सकता है। यदि यह सावधानी सर्वदा बरती जाएगी, यदि किसी उपपत्ति प्रदान करने की चेष्टा से पूर्व विवेकसहित यह विचार कर लिया जाएगा कि शुद्ध बुद्धि के द्वारा इस प्रकार के विस्तार की प्रत्याशा किस प्रकार और आशा के किस आधार पर की जा सकती है, तथा ऐसी स्थिति में, यह अन्तर्दृष्टि जो कि न तो संबोधों से विकसित होती है, और न किसी संभाव्य अनुभव में जिसका पूर्वाभास ही प्राप्त हो सकता है, कहाँ से व्युत्पादित की जा सकती है—तो ऐसा करने से बहुत सा कठिन किन्तु निरर्थक परिश्रम बच जाएगा, क्योंकि बुद्धि में उस बात को पाने का ख्याल नहीं किया जाएगा जो उसकी शक्ति के परे है; अथवा, इसकी अपेक्षा यों कह सकते हैं कि क्योंकि जब वह (बुद्धि) अपने क्षेत्र के चिन्तनात्मक विस्तार की आवेगपूर्ण इच्छा से आविष्ट हुआ सरलता से संयत किये जाने की स्थिति में नहीं होगा तो उसको आत्मसंयम के अनुशासन के अधीन कर दिया जाएगा।

अतएव पहला नियम यह है—तब तक किसी अनुभवातीत उपपत्ति को प्रदान करने का प्रयत्न ही नहीं किया जाना चाहिये, जब तक कि उनके लिये औचित्य की उपलब्धि के लिये इस बात का विचार न कर लिया गया हो कि वे आधारभूत सिद्धान्त किस उद्‌गम से प्राप्त किए जाएँगे जिन पर इन उपपत्तियों को आधारित करने का विचार है, तथा अपने निष्कर्षों की सुसफलता की आशा किस अधिकार से की जाएगी। यदि वे आधारभूत सिद्धान्त बोधवृत्ति के सिद्धान्त हैं (जैसे कि उदाहरणार्थ कार्य-कारण भाव का सिद्धान्त है) तो, उनके द्वारा तो शुद्ध बुद्धि के भावों तक पहुँचने का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है, यह सिद्धान्त तो केवल संभाव्य अनुभव के विषयों के प्रसंग में ही प्रामाणिक होते हैं। यदि वे शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त हों, तो भी फिर यह व्यर्थ का ही श्रम होगा। क्योंकि, निश्चय ही बुद्धि के अपने निजी सिद्धान्त तो हैं ही परन्तु विषयगत सिद्धान्तों के रूप में वे सब के सब द्वन्द्वात्मक हैं, तथा अनुभव को सुव्यवस्थित या समनुगत बनाने के लिये उसके क्षेत्र में बुद्धि के विनियोग के नियामक सिद्धान्तों के रूप में इन सिद्धान्तों की प्रामाणिकता के अतिरिक्त (अन्यत्र) इनकी कोई प्रामाणिकता नहीं होती। परन्तु जब इस प्रकार की मानी हुई उपपत्तियाँ

प्रस्तुत की जाएँ, तो उनकी प्रवंचनापूर्ण मनाने की शक्ति का सामाना आपकी परिपक्व निर्णय-शक्ति के 'स्पष्ट नहीं है' (नोन् लिक्वेट्) के द्वारा किया जाना चाहिये, और यद्यपि आप उसमें संनिहित भ्रान्ति को भले ही उद्घाटित न कर सकें, तथापि उनमें प्रयुक्त सिद्धान्तों के निगमन (डिडक्शन) की माँग करने का आपको पूरा-पूरा अधिकार है; जो माँग, (यदि यह सिद्ध केवल बुद्धिमात्र से उत्पन्न हुए) तो कदापि पूरी नहीं की जा सकेगी । और इस प्रकार से आपके लिये प्रत्येक निराधार प्रातिभासिक भ्रान्ति के विकास और खंडन के साथ अपने को व्यापृत करने की एक बार भी आवश्यकता नहीं रहती, प्रत्युत आलोचनात्मक बुद्धि के न्यायालय में, जो नियमों की माँग करता है, चतुराइयों के अनन्त भण्डार से युक्त यह सारा तर्क का आडम्बर एक बार में ही सब का सब निबटा दिया जाता है ।

अनुभवातीत उपपत्तियों की दूसरी विशिष्टता यह है कि प्रत्येक अनुभवातीत प्रस्थापना के लिये केवल एक अकेली उपपत्ति ही उपलब्ध हो सकती है । यदि मैं संबोधों से निष्कर्ष नहीं निकाल रहा हूँ, प्रत्युत ऐसे सहज ज्ञान (या अपरोक्ष ज्ञान) से निष्कर्ष निकाल रहा हूँ जो किसी संबोध के समनुरूप है, तो चाहे तो वह शुद्ध सहजज्ञान हो जैसा कि गणित में होता है, अथवा कोई दृष्ट सहजज्ञान हो, जैसा कि प्राकृतिक विज्ञान में होता है, जो भी सहजज्ञान निष्कर्ष या अनुमान के आधार के रूप में काम आता है, मुझको सांश्लेषिक प्रस्थापनाओं के लिये नानात्वपूर्ण सामग्री (या उपादान) प्रदान करता है, जिस सामग्री को मैं एक से अधिक प्रकार से संबद्ध कर सकता हूँ, और, क्योंकि मैं एक से अधिक विन्दुओं से प्रस्थान कर सकता हूँ इसलिये मैं विभिन्न रास्तों से एक ही प्रस्थापना तक पहुँच सकता हूँ ।

परन्तु अब जहाँ तक अनुभवातीत प्रस्थापना का प्रश्न है, प्रत्येक ऐसी प्रस्थापना केवल एकमात्र संबोध से प्रस्थान करती है, तथा, उस संबोध के अनुसार विषय की संभाव्यता के संश्लिष्ट प्रतिबन्ध (या शर्त) का विधान (या कथन) करती है । इसलिये इस प्रकार उपपत्ति का आधार केवल एक ही हो सकता है, क्योंकि इस संबोध के बाहर उससे परे और कुछ भी नहीं है जिसके द्वारा विषय का निर्धारण हो सके, इसी लिये उपपत्ति भी इसी के अकेले संबंध के अनुसार किसी विषय सामान्य के निर्धारण के अतिरिक्त और कुछ भी अपने में समाविष्ट नहीं रख सकती । उदाहरण के लिये, हमने, अनुभवातीत वैश्लेषिकी के इस सिद्धान्त को कि जो कुछ भी (संसार में) घटित होता है, उसका कोई कारण होता है, एक ऐसे अकेले प्रतिबन्ध से व्युत्पादित किया था जिसके अधीन सामान्यतः घटित होने का संबोध वैषयिकतया संभव है, अर्थात् यह दिखला कर किया था कि घटना का काल के अन्तर्गत निर्धारण, और इसीलिये

अनुभव से संबद्ध घटना, यह दोनों ही, इस प्रकार के गतिशील नियम के अधीन हुए बिना असंभव हैं। यही उपपत्ति का एक अकेला आधारभूत हेतु भी है, क्योंकि इसी (तथ्य) के द्वारा तो, (कि कोई भी विषय संबोध के लिये कार्य-कारण भाव के नियम के माध्यम से निर्धारित हुआ करता है) प्रत्युपस्थापित की गई घटना प्रामाणिकता से अर्थात् सत्य से समन्वित होती है। यह सच है कि इस सिद्धान्त के लिये अन्य उपपत्तियों को, जैसे उदाहरण के लिये संभाव्यता पर आश्रित उपपत्ति को, प्रतिपादित (या प्रदान) करने की चेष्टा की गई है; परन्तु यदि सुक्ति का सूक्ष्म परीक्षण किया जाए अर्थात् यदि इसका सावधानी से विचार किया जाए, तो भी घटना के अतिरिक्त संभाव्यता का कोई भी चिह्न उपलब्ध नहीं होता, अर्थात् केवल विषय की असत्ता से अनुगत उसकी सत्ता उपलब्ध होती है (अथवा) विषय की वह सत्ता उपलब्ध होती है जिसके पूर्व उसकी असत्ता (अभाव) थी और इस प्रकार पुनः वही पुरानी उपपत्ति पुनः उपलब्ध हो जाती है। (और इसी प्रकार) यदि इस प्रस्थापना को सिद्ध करना हो कि जो कुछ विचार करता है सरल अविमिश्रित होता है, तो विचार के नानात्व की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, प्रत्युत वह केवल अहं के संबोध पर टिक जाता है जो सरल और अविमिश्रित है तथा जिसके प्रति समस्त विचार निर्दिष्ट हुआ करता है। ईश्वर की सत्ता की अनुभवातीत उपपत्ति के विषय में भी सत्य है, जो (उपपत्ति) परम यथार्थ सत्ता के तथा अनिवार्य सत्ता के संबोधों के संपात पर आधारित है, तथा जो अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध होने वाली नहीं है।

इस चेतावनी के द्वारा बुद्धि के दावों की आलोचना अत्यन्त संक्षिप्त आकार को प्राप्त हो जाती है। जब बुद्धि अपना व्यापार केवल संबोधों के द्वारा चलाती है तो यदि कोई उपपत्ति संभव होती है तो केवल एक ही उपपत्ति संभव होती है। इसलिये यदि अयौक्तिक मतवादी अपनी दस उपपत्तियों को लेकर आता है, तो यह निश्चयपूर्वक विश्वास किया जा सकता है कि उसके पास कोई भी उपपत्ति नहीं है। क्योंकि, यदि उसके पास एक भी ऐसी उपपत्ति होती जिसमें (जैसा कि शुद्ध बुद्धि से संबंध में सभी मामलों में होना चाहिये) स्वयंसिद्ध की शक्ति (या लक्षण) हो तो उसको अन्य उपपत्तियों की क्या जरूरत रहती? उसका उद्देश्य तो केवल वैसा ही होता है जैसा किसी पार्लिमैण्ट के वकील का हुआ करता है, जिस की एक युक्ति एक व्यक्ति (या व्यक्तियों के समूह) के लिये होती है तथा दूसरी युक्ति दूसरे के लिये, जिससे कि वह अपने न्यायाधीशों की दुर्बलता का लाभदायक उपयोग कर सके, जो (न्यायाधीश, या श्रोता) समस्या की गहराई में जाए बिना, उससे शीघ्र ही छुटकारा पाने के लिये, उसी युक्ति को ग्रहण कर लेते हैं जो उनके ध्यान को सर्वप्रथम आकृष्ट

करती है, और उसी के अनुसार निर्णय कर डालते हैं।

शुद्ध बुद्धि का (उसके अनुभवातीत उपपत्ति के संबंध में अनुशासन के अधीन होने की अवस्था में) तीसरा विशिष्ट नियम यह है कि उसकी उपपत्तियाँ कदापि परिस्थिति-सापेक्ष नहीं प्रत्युत अपरोक्ष होनी चाहिये। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में सीधी या अपरोक्ष उपपत्ति वह होती है जो अपने सत्य के विश्वास के साथ अपने उद्‌गमों में अन्तर्दृष्टि को भी संवलित रखती है, इसके विपरीत सापेक्ष्य उपपत्ति, (यद्यपि वह निश्चितता को उत्पन्न कर सकती है) सत्य की, (उसकी संभाव्यता के आधारों के संदर्भ के संबंध में) अवधारणा को उत्पन्न नहीं कर सकती। अतएव यह बुद्धि की समस्त आवश्यकताओं को सन्तोष प्रदान करने वाली किसी प्रक्रिया की अपेक्षा पीछा छुड़ान का उपाय ही अधिक है। तथापि यह उपपत्ति (परिस्थिति-सापेक्ष्य उपपत्ति) प्रत्यक्ष सीधी उपपत्ति के मुकाबले में साक्ष्य-संबंधी यह सुविधा रखती है कि सर्वोत्तम संयोजन की भी अपेक्षा प्रत्युपस्थापना में निसंवादिता अधिक स्पष्टता को अपन साथ वहन करती है, और इस कारण प्रत्यक्षण के सहज ज्ञान के लक्षण के अधिक समीप प्रहुँचती है।

विविध विज्ञानों में परिस्थिति-सापेक्ष्य उपपत्तियों के उपयोग का यथार्थ कुछ यह (निम्नलिखित) प्रतीत होता है। जब कि वे आधारभूत कारण जिनसे कोई विशेष ज्ञान व्युत्पादित किया जाता है, या तो बहुसंख्यक अथवा बहुत गहरे छिपे हुए होते हैं तो यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि क्या उस ज्ञान तक उसके परिणामों द्वारा तो नहीं पहुँचा जा सकता है। अब जहाँ तक इस (मोडुसपोनैन्स) अस्ति प्रकारक का प्रश्न है, अर्थात् किसी ज्ञान के सत्य को उसके परिणामों के सत्य से निष्पन्न करने के प्रकार का प्रश्न है, यह तभी अनुज्ञातव्य होता है जब कि उसके समस्त संभाव्य परिणाम सच्चे हों, क्योंकि ऐसी अवस्था (या स्थिति) में ऐसा होने के लिये केवल एक ही संभाव्य आधार होता है, और इसी लिये वह भी सत्य होता है। परन्तु यह प्रक्रिया अव्यावहारिक है, क्योंकि किसी दी हुई प्रस्थापना के समस्त संभावित परिणामों को खोज निकालना हमारी क्षमता से बाहर की बात है; फिर भी युक्ति का यह प्रकार उस समय (यद्यपि कुछ रियायत के साथ) काम में लाया जाता है जब कि किसी बात को केवल उपकल्पना (अथवा अधिष्ठापना) के रूप में सिद्ध या स्थापित करना अभीष्ट होता है क्योंकि ऐसी स्थिति में सादृश्य के अनु-सार अनुमान को स्वीकार कर लिया जाता है, और वह इस प्रकार कि जब जितने भी परीक्षित परिणाम देखे गये वे सब के सब एक माने हुए आधारभूत हेतु से मेल खाते हैं, अतः जो शेष संभाव्य परिणाम हैं वे भी उससे मेल खानेवाल होंगे। पर इसलिये

इस प्रकार से कोई उपकल्पना कदापि भी सुसाधित सत्य के रूप में परिवर्तित नहीं की जा सकती। तर्क का नास्ति प्रकारक (मोडुस टौलैन्स) परिणाम से हेतु का अनुमान, न केवल पूर्णतया कठोर है, अपितु अनुमान का अत्यन्त सरल प्रकार भी है। क्योंकि यदि किसी प्रस्थापना से केवल एक भी झूठा परिणाम निष्पादित किया जा सकता हो तो स्वयं वह प्रस्थापना भी झूठी हो जाती है। तो अब, जैसा कि प्रत्यक्ष उपपत्ति में हुआ करता है, हेतुओं की समस्त शृंखला के (जो उनकी संभाव्यता में अन्तर्दृष्टि के द्वारा किसी ज्ञान की सत्यता की ओर ले जाने वाली है) पूरे परीक्षण के स्थान पर, यह प्रदर्शित करने के लिये कि विरोधी (पक्ष या ज्ञान) वितथ है केवल यह दिखलाना आवश्यक होता है कि विरोधी ज्ञान से व्युत्पादित होने वाले परिणामों में से केवल एक झूठा है, और इसीलिये जैसा जिस ज्ञान को सिद्ध करना था वह सच्चा है।

परन्तु उपपत्ति का परिस्थिति-सापेक्ष्य प्रकार केवल उन्हीं विज्ञानों में अनुज्ञेय है, जहाँ कि हमारी प्रत्युपस्थापना के विषयिगत (तत्व) को वैषयिक (तत्व) के स्थान पर अर्थात् उसके ज्ञान के स्थान पर जो विषय में है, (भूल से) प्रतिस्थापित करना असंभव है। जहाँ इस प्रकार की प्रतिस्थापना का शासन चलता है, वहाँ यह बात प्रभूत मात्रा में घटित होगी कि किसी दी हुई प्रस्थापना का विरोधी (पक्ष) विचार के केवल विषयिगत प्रतिबन्ध (या शर्त) का विरोध (या खंडन) करता है, किन्तु विषय का खंडन नहीं करता, अथवा दोनों प्रस्थापनाएँ परस्पर एक दूसरे का खंडन केवल एक ऐसी विषयिगत शर्त (या प्रतिबन्ध) के अधीन करती हैं जिसको गलती से झूठमूठ वैषयिक मान लिया गया है, और क्योंकि प्रतिबन्ध (या शर्त) झूठा है, अतएव दोनों प्रस्थापनाएँ झूठी हो सकती हैं, बिना इस बात के कि एक के असत्य होने से दूसरी की सत्यता का अनुमान किया जा सके।

गणित विद्या में यह मिथ्योपलब्धि असंभव है, इस कारण इन परिस्थिति-सापक्ष्य (या परोक्ष) उपपत्तियों का वास्तविक स्थान भी इसी विज्ञान में है। प्राकृतिक-विज्ञान में, (क्योंकि हमारा समस्त ज्ञान अनुभवात्मक सहज ज्ञान पर आधारित होता है) यह मिथ्योपलब्धि को सामान्यतया निरीक्षणों की वारंवार तुलना के द्वारा बचाया (या वर्जित किया) जा सकता है, परन्तु फिर भी इस क्षेत्र में उपपत्ति का यह प्रकार बहुधा महत्त्वपूर्ण नहीं होता। परन्तु शुद्ध बुद्धि की अनुभवातीत चेष्टाएँ, सब की सब तार्किक भ्रान्ति के अपने निजी क्षेत्र के भीतर ही प्रवृत्त हुआ करती हैं, अर्थात् विषयिगत के क्षेत्र में घटित हुआ करती हैं जो अपने आपको अपने अवयवों (या परिसर) में बुद्धि के प्रति विषयगत रूप में उपस्थित करता है, नहीं,

अपने को बलात्कार से उस (बुद्धि) पर विषयगत (या वैषयिक) रूप में आरोपित कर देता है। इसलिये अब यहाँ पर जहाँ तक कि संश्लिष्ट प्रस्थापनाओं का संबंध है, यह अनुज्ञा बिलकुल भी नहीं दी जा सकती कि अपने दावों के औचित्य का प्रतिपादन उनके विरोधी पक्ष के खंडन के द्वारा किया जाए। क्योंकि या तो यह खंडन बुद्धि के द्वारा समवबोध्यता के विषयिगत प्रतिबन्धों के साथ चलने वाले विरोधी अभिमत कलहमात्र के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, जो स्वयं वस्तु की अनुपपत्ति की दिशा में कुछ भी नहीं करता (और यह उदाहरण के लिये ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार किसी सत्ता (या सत्त्व) के अस्तित्व की अप्रतिबद्ध अनिवार्यता हमारे द्वारा किसी प्रकार भी अवबोध्य नहीं होती, और इसलिये अनिवार्य परमसत्ता की प्रत्येक चिन्तनात्मक उपपत्ति का विषयिगत आधारभूत हेतु से उचित ही विरोध किया जाना चाहिये, किन्तु ऐसी सत्ता (या सत्त्व) के अस्तित्व ही की संभावना को अस्वीकार करने का हम को कोई अधिकार नहीं है), अथवा नहीं तो दोनों ही पक्ष, वह भी जो सकारात्मक स्थिति को ग्रहण करता है, और उसी के समान वह भी जो नकारात्मक स्थिति को स्वीकार करता है, अनुभवातीत भ्रान्ति के द्वारा प्रतारित किये गये हैं, और वे दोनों अपने दावों को विषय के असंभव संबोध के ऊपर आधारित करते हैं और ऐसी स्थिति में यह नियम लागू होता है कि "विषय के संबंध में जो कुछ भी दावा किया जाता है, चाहे तो वह सकारात्मकतया किया गया हो, चाहे नकारात्मकतया, वह भ्रान्त होता है, तथा इस कारण परिस्थिति-सापेक्ष्य उपपत्ति के द्वारा विरोधी पक्ष के खंडन से सत्य के ज्ञान तक नहीं पहुँचा जा सकता।' उदाहरण के लिये, यदि यह मान लिया जाए कि ऐन्द्रिय जगत् स्वरूपतः अपनी समग्रता में दिया हुआ है तो यह कहना, कि उसको या तो देश की दृष्टि से अनन्त होना चाहिये अथवा सान्त और सीमित होना चाहिये, झूठ होगा, क्योंकि दोनों ही कथन झूठे हैं। कारण कि (केवल प्रत्युपस्थापना के रूप में) ऐसे अवभास जिनको (विषय के रूप में) स्वरूपतः सत् वस्तु के रूप में भी दिया हुआ होता है, कुछ असंभव जैसी वस्तुएँ हैं; तथा यद्यपि इस कल्पित अवयवी की अनन्तता सचमुच ही अप्रतिबद्ध होगी, तथापि (क्योंकि अवभासों में प्रत्येक वस्तु प्रतिबद्ध होती है) वह परिमाण के अप्रतिबद्ध निर्धारण का विरोध या खंडन करेगी जो संबोध में पूर्वतः मान लिया गया है।

परिस्थिति सापेक्ष्य उपपत्ति का प्रकार ही वास्तव में वह प्रतारक प्रभाव भी है जिसके द्वारा हमारे अयौक्तिक दर्शन की गंभीरता के प्रशंसक विचारक सर्वदा ठगे जाते रहे हैं, वह एक ऐसे रक्षक सुभट के सदृश है जो अपने अंगीकृत पक्ष के सम्मान

और अविबाध अधिकारों को इस प्रकार सिद्ध करना चाहता है, कि वह उस प्रत्येक व्यक्ति से जो उनके विषय में सन्देह करता है युद्ध करने का प्रण करता है; परन्तु इस प्रकार की दर्पोक्तियों से वास्तविक समस्या के महत्त्व के संबंध में तो कुछ भी निर्णय नहीं होता, प्रत्युत केवल झगड़ा करने वाले पक्षों के बलाबल का पता अवश्य चल जाता है, और ऐसा भी वास्तव में उस पक्ष के संबंध में जो आक्रमण को आरंभ करता है। दर्शक, यह देखते हुए कि प्रत्येक पक्ष पर्याय क्रम से ज़रा सी देर में विजेता और ज़रा सी देर में विजित हो रहा है, विवाद के उद्देश्य के संबंध में ही प्रायः संशयालु होने की स्थिति में पहुँचा दिये जाते हैं। पर इस प्रकार धारणा बनाने के लिये उनके पास कोई कारण नहीं है; विवाद करने वालों के प्रति यह घोषणा कर देना पर्याप्त होगा कि

नोन् डेफेन्सोरिबुस् इस्टिस्
टैम्पुस् ऐगेट्।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्थिति की रक्षा प्रत्यक्षतया ऐसी वैध (या उचित) उपपत्ति के द्वारा करनी चाहिये जो अपने साथ उन आधारभूत हेतुओं का अनुभवातीत निगमन वहन करती है जिसके ऊपर स्वयं उसको आधारित किया जाता है; ऐसा होने पर ही यह देखा जा सकेगा कि वह स्वयं बुद्धि के दावों के विषय में क्या औचित्य प्रस्तुत करता है। क्योंकि यदि उसका विरोधी विषयिगत (या आत्मगत) आधारभूत हेतुओं पर भरोसा करता है तो उसका खंडन करना सरल काम है, पर इससे अयौक्तिक मतवादी को कोई सुविधा प्राप्त नहीं होगी, जो स्वयमेव सामान्यरूपेण विभावनाओं के विषयिगत (या आत्मगत) कारणों पर उतना ही (जितना कि उसका विरोधी) आश्रित रहता है, और इस कारण स्वयं भी अपने विरोधी के द्वारा उतनी ही आसानी से कोन में ठेला (अर्थात् हराया) जा सकता है। परन्तु यदि दोनों पक्ष प्रत्यक्ष पद्धति से विवेचन में प्रवृत्त हों तो या तो वे स्वयं ही शीघ्र अपने दावों के लिये आधारभूत हेतु प्रदर्शित करने की कठिनाई, नहीं, असंभवता को खोज निकालेंगे, और अन्ततोगत्वा केवल चिरकालिक अधिकार की दुहाई दे सकेंगे, अथवा हमारी मीमांसा अयौक्तिक मतवाद की भ्रान्ति को सरलता से उद्घाटित कर देगी और शुद्ध बुद्धि को चिन्तनात्मक विचार के क्षेत्र में अपने अतिरंजित अभियोग का परित्याग करने और अपने वास्तविक अधिकार क्षेत्र की सीमा में---व्यावहारिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में---लौट आने को बाधित कर डालेगी।

द्वितीय अध्याय

शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्तसूत्र

मानवीय बुद्धि के लिये यह विकार या मानमर्दन की बात है कि अपने शुद्ध प्रयोग में कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता, और इतना ही नहीं, (दशा ऐसी है कि) अपने अतिशयों को मर्यादित रखने के लिये तथा तज्जनित भ्रान्तियों से बचाव के लिये अनुशासन की आवश्यकता पड़ती है। इसके विपरीत, दूसरी ओर यह बात बुद्धि को ऊँचा उठाती है और उसको आत्मविश्वास प्रदान करती है कि वह इस अनुशासन का अभ्यास (या व्यवहार) स्वयं कर सकती है और उसको ऐसा करना भी चाहिये, तथा उसको अपने ऊपर किसी अन्य आचारावेक्षक को अधिकार नहीं देना है, और इसके अतिरिक्त वे सीमाएँ (या मर्यादाएँ) जिनको वह अपने चिन्तात्मक विनियोग पर आरोपित करने के लिये विवश हो गई है, इसके साथ ही साथ समस्त विरोधियों के वितथ-बौद्धिक व्यपदेशों (या दावों) को भी मर्यादित करने का काम देती है, और इसलिये उसके पूर्व के अतरंजित दावों में से जो कुछ अवशिष्ट बच गया है, उसको यह समस्त आक्रमणों से सुरक्षित रख सकती है। अतएव शुद्ध बुद्धि के समस्त दर्शन का सबसे बड़ा और स्यात् एकमात्र उपयोग नकारात्मक (निगेटिव) है क्योंकि यह (दर्शन) शुद्ध बुद्धि को विस्तार प्रदान करने वाली ज्ञान-पद्धति (आर्गैनन) का काम नहीं देता, प्रत्युत उसको मर्यादित करने वाले अनुशासन का काम करता है तथा सत्य का आविष्कार न करके उसके स्थान पर असत्य के वर्जन की विनम्र सेवा करता है।

फिर भी कहीं न कहीं सकारात्मक (पॉज़ीटीव) ज्ञान का ऐसा उद्गम अवश्य ही होना चाहिये जो शुद्ध बुद्धि के गोचरक्षेत्र से संबद्ध है, (अर्थात् जो शुद्ध बुद्धि की सम्पत्ति है) तथा जो केवल मिथ्यावबोध के कारण ही भ्रान्ति को अवसर प्रदान करता है, किन्तु जो वास्तव में उस लक्ष्य को संघटित करता है जिसकी दिशा में स्वयं बुद्धि का प्रयत्न (या चेष्टा) चालू है। क्योंकि, अन्यथा अनुभव की सीमा से बाहर कहीं न कहीं सुदृढ़ पादस्थिति प्राप्त करने की जो भी न बुझने वाली इच्छा (या पिपासा) मानव में पाई जाती है, उसकी व्याख्या किस प्रकार या किस कारण से की जा सकती है? उसको ऐसे विषयों की पूर्ववेदना या पूर्वभावना प्राप्त रहती है, जो उसके लिये अपने में हित की भावना को वहन करते हैं। परन्तु जब यह शुद्ध चिन्तन के मार्ग का अनुसरण करती है कि जिससे यह उनके निकटतर पहुँच सके तो, वे इसके पास से पलायन करने लगते हैं। संभवतया यह उस एकमात्र मार्ग में, जो कि इसके

लिये अवशिष्ट रह गया है, अर्थात् जो बुद्धि व्यावहारिक विनियोग का मार्ग है, अपेक्षाकृत अधिक अच्छे सौभाग्य की आशा कर सकती है।

सिद्धान्त-सूत्र अथवा सूत्र से मैं किन्हीं ज्ञानवृत्तियों के शुद्ध विनियोग के प्रागनुभवात्मक सिद्धान्तों के पूर्ण संग्रह का आशय ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार सामान्य तर्कशास्त्र, अपने विश्लेषणात्मक भाग में, बोधवृत्ति और विवेक के लिये सामान्यतः सिद्धान्त-सूत्र-रूप है, किन्तु केवल अपनी आकृति में, क्योंकि वह अन्तर्विष्ट विषय से कोई वास्ता नहीं रखता। इस प्रकार अनुभवातीत वैश्लेषिकी शुद्ध बोधवृत्ति के सिद्धान्त-सूत्रों के रूप में थी; क्योंकि यह बोधवृत्ति ही सच्चे प्रागनुभवात्मक सांश्लेषिक ज्ञान के लिये सक्षम है। परन्तु जहाँ किसी ज्ञान की वृत्ति का सही विनियोग संभव नहीं होता वहाँ कोई सिद्धान्त-सूत्र भी संभव नहीं होता। जैसा कि अब तक दी हुई उपपत्तियों के द्वारा प्रदर्शित किया जा चुका है, शुद्ध बुद्धि का उसके चिन्तनात्मक विनियोग में प्राप्त होने वाला समस्त सांश्लेषिक ज्ञान पूर्णतया असंभव है। इसलिये उसके चिन्तनात्मक विनियोग का कोई सूत्रशास्त्र नहीं है, (क्योंकि यह विनियोग तो पूर्णतया द्वन्द्वात्मक होता है); इस दृष्टि से समस्त अनुभवातीत तर्कशास्त्र एक अनुशासन जैसा ठहरता है। परिणामतः यदि शुद्ध बुद्धि का कोई सही विनियोग हो तो, जिस स्थिति में उसके विनियोग सिद्धान्त-सूत्र भी होना चाहिये, तो यह सिद्धान्त-सूत्र उसके चिन्तनात्मक विनियोग का नहीं किन्तु व्यावहारिक विनियोग का प्रतिपादन करेगा, जिसका अनुसंधान अब हम आरंभ करने जा रहे हैं।

शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त-सूत्र

प्रथम खंड

हमारी बुद्धि के शुद्ध विनियोग का अन्तिम या चरम लक्ष्य

अपने स्वभाव की एक प्रवृत्ति के द्वारा प्रेरित होकर बुद्धि अपने आनुभविक (या दृष्ट) विनियोग के क्षेत्र के बाहर जाने में प्रवृत्त हो जाती है, तथा अपने शुद्ध विनियोग में तथा केवल भावों के द्वारा समस्त ज्ञान की चरम सीमा तक पहुँचने का साहस करती है, और तभी चैन से सन्तुष्ट होकर बैठती है जब कि एक आत्मोपजीवी सुव्यवस्थित पूर्णावयवी (के अवधारण) में अपने गन्तव्य लक्ष्य की पूर्णता को नहीं पहुँच जाती। अब प्रश्न यह है कि क्या यह उद्योग केवल बुद्धि के चिन्तनात्मक हित पर आधारित है अथवा इसकी अपेक्षा अन्य सब को छोड़ कर केवल उसके व्यावहारिक हित पर निर्भर है।

जो सौभाग्य शुद्ध बुद्धि को अपने चिन्तनात्मक उद्देश्य में प्राप्त होता है, उसको

मैं इस समय एक ओर छोड़ दूँगा, और केवल उन्हीं समस्याओं के विषय में प्रश्न करूँगा जिनका समाधान इसका चरम लक्ष्य (संघटित करता) है, (चाहे उस लक्ष्य तक पहुँचा जा सके या न पहुँचा जा सके), तथा जिसकी अपेक्षा अन्य सब लक्ष्य केवल उपायों की योग्यता (या मूल्य) रखते हैं। बुद्धि के स्वभाव के अनुसार, फिर ये सर्वोच्च लक्ष्य भी इसलिये एकता से समन्वित होने चाहिए कि जिससे कि इस प्रकार एकीभूत होकर वे मानवता के उस हित को आगे बढ़ा सकें जो अन्य किसी उच्चतर हित से नीचा नहीं है।

जिस चरम लक्ष्य की ओर बुद्धि का चिन्तन अपने अनुभवातीत विनियोग में अन्ततः प्रेरित किया जाता है, उसका वास्ता या संबंध तीन विषयों से है, जो, इच्छा (या संकल्प) शक्ति की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता तथा ईश्वर का अस्तित्व हैं। इन तीनों के ही संबंध में बुद्धि का केवल चिन्तनात्मकमात्र स्वार्थ तो बहुत थोड़ा है, और केवल उसी के उद्देश्य से इस अनुभवातीत अनुसंधान के श्रम को, जो अनन्त कठिनाइयों से जूझने के कारण बहुत ही थकान उत्पन्न करने वाला है, कठिनाई से ही अध्यवसित किया जाता, क्योंकि इन विषयों के संबंध में चाहे जो भी आविष्कार किये जा सकें, उनका मूर्त रूप में सुविधाजनक हो सके ऐसा कोई भी उपयोग करना संभव नहीं होगा, अर्थात् प्रकृति के अनुशीलन या अनुसंधान में उनका कोई उपयोग नहीं हो सकेगा। हमारी इच्छा स्वतंत्र हो सकती है किन्तु इसका (वास्ता या प्रभाव) तो केवल हमारे संकल्प के बोधगम्य कारण पर ही हो सकता है। क्योंकि, जहाँ तक उसकी बाह्य अभिव्यक्ति से संबद्ध इन्द्रियग्राह्य अवभासों का संबंध है, अर्थात् हमारे व्यापारों का संबंध है, उनकी व्याख्या तो, हमको एक ऐसे अनुल्लंघनीय आधारभूत सिद्धान्त के अनुसार, जिसके बिना हम बुद्धि को किसी भी प्रकार से अनुभवात्मक उपयोग में नहीं ला सकेंगे, प्रकृति के अन्य समस्त इन्द्रियग्राह्य अवभासों के प्रकार से भिन्न किसी अन्य प्रकार से कभी नहीं कर सकेंगे, अर्थात् केवल अपरिवर्तनीय नियमों के अनुसार ही कर सकेंगे। दूसरे, आत्मा का आध्यात्मिक स्वरूप (और इसके साथ उसकी अमरता भी) समझे जा सकते हैं, परन्तु इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि के ऊपर, न तो इस जीवन के अवभासों के संबंध में और न भावी अवस्था की विशिष्ट दशा के संबंध में—दोनों ही के संबंध में किसी स्पष्टीकरण को आधारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमारा अमूर्त प्रकृति का संबोध नकारात्मकमात्र होता है और हमारे ज्ञान को लेशमात्र भी विस्तृत नहीं बनाता, एवं केवल ऐसे अनुमानों को छोड़ कर, जो कि केवल कल्पना प्रसूत माने जा सकते हैं किन्तु जो दर्शनशास्त्र में अनुज्ञात (या मान्य) नहीं हो सकते, अन्य किन्हीं अनुमानों के लिये

उचित उपादान भी प्रदान नहीं करता। तीसरे, यदि परम बुद्धिमत्ता की सत्ता सिद्ध भी हो जाए, तो इसके द्वारा निश्चय ही हम, दुनियाँ की संघटना में और क्रम व्यवस्था में जो कुछ भी सोद्देश्य है उसको सामान्यरूपेण समझ में आने योग्य बना सकते हैं, परन्तु किसी भी प्रकार उससे किसी विशेष संविधान अथवा विन्यास को व्युत्पादित करना अथवा जहाँ ऐसे किसी का प्रत्यक्ष न होता हो वहाँ साहसपूर्वक उसका अनुमान करना हमारे लिये कदापि उचित नहीं होगा; क्योंकि बुद्धि के चिन्तनात्मक विनियोग का यह एक अत्यन्त आवश्यक या अनिवार्य नियम है कि प्राकृतिक कारणों की अवहेलना नहीं की जानी चाहिये, और जो कुछ हम अनुभव से सीख सकते हैं उसका परित्याग करके, किसी ऐसी बात को, जिसको हम जानते हैं, किसी ऐसी बात से व्युत्पादित नहीं किया जाना चाहिये, जो हमारे समस्त ज्ञान को पूर्णतया अतिक्रमण करने वाली है। एक शब्द में (संक्षेप में) यह कहा जा सकता है कि चिन्तनात्मक बुद्धि के लिये यह तीनों ही प्रस्थापनाएँ सर्वदा अनुभवातीत ही रहती हैं और किसी भी अनुभवगत विनियोग की अर्थात् अनुभव के विषयों से संबंध रखने वाले और इसलिये हमारे लिये किसी प्रकार से वास्तव में लाभदायक विनियोग की अनुज्ञा नहीं देतीं, प्रत्युत अपने आप में, विचार किये जाने पर पूर्णतया व्यर्थ हैं, यद्यपि तिस पर भी वह हमारी बुद्धि के ऊपर घोर परिश्रम आरोपित करने वाली हैं।

तब, यदि यह तीन प्रमुख प्रस्थापनाएँ हमारे लिये ज्ञान के निमित्त बिलकुल भी आवश्यक नहीं हैं, और फिर भी हमारी बुद्धि द्वारा इनको हमारे लिये इतनी प्रबलता से अभिस्तावित किया गया है, तो ऐसी अवस्था में उनके महत्त्व का संबंध स्यात् केवल हमारे व्यावहारिक हितों से होगा।

ऐसी प्रत्येक बात जो स्वतंत्रता के द्वारा संभाव्य है व्यावहारिक कहलाती है। किन्तु जब हमारी स्वतंत्र संकल्प शक्ति के प्रयोग की शर्तें आनुभविक (या दृष्ट) होती हैं तो उसके प्रति बुद्धि विनियामक विनियोग के अतिरिक्त और कोई उपयोग नहीं रख सकती, और केवल आनुभविक नियमों की एकता के प्रतिपादनमात्र के काम आ सकती है; जैसे कि उदाहरण के लिये चतुरता के उपदेश में, बुद्धि का सारा व्यवसाय इस बात में निहित रहता है, कि हमारी इच्छाओं या प्रवृत्तियों द्वारा नियत समस्त उद्देश्य एकीकृत होकर एक उद्देश्य सुख में केन्द्रित कर दिये जाएँ, तथा उसकी प्राप्ति के लिये समस्त उपाय, परस्पर समन्वित कर दिये जाएँ; इसलिए इस क्षेत्र में, उन लक्ष्यों की सिद्धि के लिये, जो हमारे लिये इन्द्रियों द्वारा अभिस्तावित किये जाते हैं, बुद्धि स्वतंत्र व्यापारों के व्यावहारिक नियमों के अतिरिक्त कोई अन्य नियम प्रदान नहीं कर सकती, अतएव ऐसे भी कोई नियम प्रदान नहीं कर सकती जो

शुद्ध हों और पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित हों। इसके विपरीत शुद्ध क्रियात्मक नियम, जिनका लक्ष्य बुद्धि के द्वारा पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया दिया होता है, तथा जो आनुभविकतया प्रतिबद्ध (या अवस्थित) नहीं होते प्रत्युत निरपेक्षतया आदिष्ट होते हैं, शुद्ध बुद्धि के उत्पादन होते हैं। इस प्रकार के नियम सदाचार के नियम होते हैं, और इसलिये केवल यही बुद्धि के क्रियात्मक विनियोग से संबद्ध होते हैं, और विधिसूत्र की अनुज्ञा प्रदान करते हैं।

उस शास्त्र या अनुशासन में जिसको विशुद्ध दर्शनशास्त्र कहा जा सकता है बुद्धि की समस्त तैयारी (या सज्जा) वास्तव में उपर्युक्त समस्याओं की ओर ही प्रेरित (या प्रवृत्त) होती है। और स्वयं यह तीनों फिर हमको और भी आगे के अपने उद्देश्य की ओर इंगित करते हैं अर्थात् इस समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि यदि संकल्प शक्ति स्वतंत्र हो, यदि ईश्वर और भावी जगत् का अस्तित्व हो तो हमको क्या करना चाहिये। क्योंकि इस समस्या का सम्बन्ध चरम लक्ष्य के प्रति हमारी वृत्ति से है, अतएव ऐसा लगता है कि प्रकृति का (हमारे प्रति बुद्धिमत्तापूर्ण प्रवंध में) अन्तिम लक्ष्य, हमारी बुद्धि (या विवेक) की संघटना में केवल सदाचार संबंधी हित की ही दिशा में प्रेरित रहा है।

परन्तु यह बात अत्यावश्यक सावधानी बरतने की है कि अब जब कि हम अपना ध्यान एक ऐसे विषय की ओर मोड़ रहे हैं जो अनुभवातीत दर्शन के लिये परकीय[कां.] विषय है तब कहीं ऐसा न हो कि हम एक ओर विषयान्तर में इतनी दूर चले जाएँ कि हमारे शास्त्र के संस्थान की एकता ही पर आ बने, और दूसरी ओर इस नवीन विषय पर इतना थोड़ा कहा जाए कि स्पष्टता की कमी के कारण उसके विषय में विश्वासोत्पादन ही न हो सके। अतः अनुभवातीत दर्शन के यथाशक्य निकटतम रह कर तथा जो भी उसके सहचर मनोवैज्ञानिक अर्थात् आनुभविक (या दृष्ट) तथ्य हों उनको बिलकुल एक ओर छोड़ कर मैं इन दोनों ख़तरों से बच जाने की आशा करता हूँ।

इसलिये प्रथम ध्यान देने योग्य बात यह है, कि मैं इस समय तो स्वाधीनता के

कां. सब व्यावहारिक संबोध सुख या दुःख के विषयों से संबद्ध होते हैं, और इसलिये परोक्षतया हमारी भावनाओं के विषयों से संबंध रखते हैं। पर क्योंकि भावना वस्तुओं की प्रत्युपस्थापित करने की शक्ति (या वृत्ति) नहीं है प्रत्युत हमारी ज्ञान की समस्त शक्ति से परे अवस्थित है, इसलिये हमारी विभावनाओं के तत्व, जहाँ तक कि वे सुख या दुःख से संबद्ध होते हैं, अर्थात् व्यावहारिक विभावनाओं के तत्वों से संबद्ध होते हैं, अनुभवातीत दर्शन से संबंध नहीं रखते, जिस (दर्शन) का वास्ता अनन्यतया शुद्ध प्रागनुभवात्मक ज्ञान प्रकारों से होता है।

संबोध को केवल उसके व्यावहारिक या सक्रिय अर्थ में ही काम में लाऊँगा, और अनुभवातीत आशय में, जो उस स्वाधीनता का दूसरा संबोध है, जिसको अवभासों की व्याख्या (या स्पष्टीकरण) के आधारभूत हेतु के रूप में अनुभवात्मकतया पूर्वतः स्वीकार (या कल्पित) नहीं किया जा सकता प्रत्युत जो बुद्धि के लिये स्वयं एक समस्या है, जैसा कि पहले ही निश्चय किया जा चुका है, उसको एक ओर छोड़ दूँगा। वह इच्छा (या संकल्प) केवल पाशविक (आर्बिट्रियुम ब्रूटुम्) होती है, जो ऐन्द्रिय आवेगों के अर्थात् मनोविकारों के द्वारा ही नियंत्रित हुआ करती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। परन्तु वह इच्छा (या संकल्प) जो ऐन्द्रिय आवेगों से स्वतंत्र है, और इसलिये ऐसी प्रेरणाओं से नियंत्रित (या निर्धारित) हो सकती है जो केवल बुद्धि के द्वारा प्रत्युपस्थापित होती हैं स्वतंत्र इच्छा (आर्बिट्रियुम् लिबेरुम्) कहलाती है, और प्रत्येक बात जो इस इच्छा के साथ संबद्ध होती है, चाहे तो वह हेतु के रूप में संबद्ध हो और चाहे परिणाम के रूप में, व्यावहारिक कहलाती है। व्यावहारिक स्वतंत्रता अनुभव के द्वारा सिद्ध की जा सकती है। क्योंकि मानवीय इच्छा (या संकल्प) केवल उसी के द्वारा नियंत्रित नहीं होती जो उत्तेजित करता है, अर्थात् अपरोक्षतया इन्द्रियों को प्रभावित करता है ; प्रत्युत हमको एक ऐसी शक्ति प्राप्त है कि हम उसकी प्रत्युपस्थापनाओं के द्वारा, जो कि दूर-दृष्टि से उपयोगी अथवा हानिकारक है, अपनी ऐन्द्रिय इच्छा शक्ति पर पड़ी हुई छापों को अभिभूत कर सकते हैं ; परन्तु वह जो कि हमारी समग्र स्थिति की दृष्टि से वांछनीय है, अर्थात् उपयोगी है तत्संबंधी यह सब विचार बुद्धि पर आश्रित हैं। इसलिये यह (बुद्धि) ऐसे नियम (भी) प्रदान करती है जो आदेश-रूप होते हैं, अर्थात् स्वतंत्रता के वैषयिक (या वस्तुगत) नियम होते हैं, और जो यह कहते हैं कि क्या घटित होना चाहिये—यद्यपि वैसा कभी घटित होता नहीं, और जो इसी बात में प्रकृति के नियमों से भिन्न होते हैं जो केवल उसी का प्रतिपादन करते हैं जो घटित हुआ करता है, इसलिये यह (स्वतंत्रता के) नियम व्यावहारिक नियम कहलाते हैं।

जहाँ तक इस प्रश्न का प्रसंग है कि बुद्धि इन नियमों को नियत करन वाले व्यापारों में फिर कहीं अपने आप ही तो अन्य अभावों के द्वारा नियंत्रित नहीं हुआ करती, और कहीं, वही जो कि ऐन्द्रिय आवेगों की दृष्टि से स्वाधीनता कहलाती है, उच्चतर और दूरतर कार्यकर कारणों के संबंध में, फिर प्रकृति ही न हो, यह ऐसा प्रश्न है, जो व्यावहारिक क्षेत्र में हमसे कोई वास्ता नहीं रखता, क्योंकि हम तो सबसे पहले बुद्धि से केवल आचरण के नियममात्र की माँग कर रहे हैं, प्रत्युत यह तो केवल ऐसा चिन्तनात्मक प्रश्न है जिसको हम तब तक एक ओर छोड़ सकते हैं, जब

तक कि हम इस बात का विचार करते हैं कि क्या किया जाना चाहिये और क्या नहीं किया जाना चाहिये। इस प्रकार हम व्यावहारिक स्वतंत्रता को, अनुभव के द्वारा प्राकृतिक कारणों में से एक कारण के रूप में जानते हैं, अर्थात् इच्छा को नियंत्रित करने में बुद्धि की कारणता के रूप में जानते हैं, जब कि दूसरी ओर अनुभवातीत स्वतंत्रता (अवभासों के आरंभ करने में अपनी कारणता की दृष्टि से) ऐन्द्रिय जगत् के समस्त नियंत्रक कारणों से इस बुद्धि की स्वाधीनता की माँग करती है, और इस प्रकार (यह अनुभवातीत स्वतंत्रता) ऐसा लगता है, प्रकृति के नियम के विपरीत है, और इसीलिये समस्त संभाव्य अनुभव के भी प्रतिकूल है, और अतएव एक समस्या बन कर रह जाती है। परन्तु इस समस्या का बुद्धि के व्यावहारिक विनियोग से कोई वास्ता (या संबंध) नहीं है, इसलिये शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त-सूत्र में हमको केवल दो प्रश्नों का प्रतिपादन करना आवश्यक है, जिनका संबंध शुद्ध बुद्धि व्यावहारिक स्वार्थ (या हित) के साथ है, तथा जिनकी दृष्टि से इसके विनियोग की सिद्धान्त-विधि (या सिद्धान्त-सूत्र) संभव होनी चाहिये--और यह दो प्रश्न हैं (१) क्या किसी ईश्वर की सत्ता है ? (२) क्या कोई भावी जीवन है ? अनुभवातीत स्वतंत्रता का प्रश्न केवल चिन्तनात्मक ज्ञान से संबंध रखता है, जिसको हम, व्यावहारिक विषय का प्रतिपादन करते समय, कुछ भी वास्ता न रखने वाला मान कर एक ओर छोड़ सकते हैं, तथा जिसके विषय में पहले ही शुद्ध ज्ञान के विरोध के प्रकरण में पर्याप्त विवेचन पाया जा सकता है।

शुद्ध बुद्धि का सिद्धान्त-सूत्र

द्वितीय खंड

शुद्ध बुद्धि के चरम लक्ष्य के निर्धारक हेतु के रूप में सर्वोच्च हित के आदर्श का विचार

अपने चिन्तनात्मक विनियोग में, बुद्धि हमको अनुभव के क्षेत्र में सर्वत्र ले गई, और क्योंकि वहाँ स्वयं उसको कभी भी पूर्ण संतोष प्राप्त नहीं हुआ, अतः वहाँ से वह चिन्तनात्मक भावों की ओर ले गई, जिन्होंने अन्त में हमको पुनः अनुभव के प्रति लौटा दिया, और इस प्रकार उन्होंने अपने उद्देश्य को एक ऐसे प्रकार से पूर्ण (या सिद्ध किया) जो निश्चय ही उपयोगी होते हुए भी हमारी प्रत्याशा के प्रकार से बिलकुल भी मेल खानेवाला नहीं था। अब भी हमारे लिए शोध या अनुसंधान का एक प्रकार अवशिष्ट बचा है; जो यह है कि क्या शुद्ध बुद्धि व्यावहारिक विनियोग में भी प्राप्त हो सकती है, या नहीं, क्या वह उन भावों (या विचारों) की ओर ले

जा सकती है जो हमारे द्वारा अभी उद्धृत शुद्ध बुद्धि सर्वोच्च उद्देश्यों को प्राप्त कर सकते हैं, या नहीं ले जा सकती और क्या इसलिये वह बुद्धि अपने व्यावहारिक हित के दृष्टिकोण से उस वस्तु को प्रदान नहीं कर सकती, जिसको उसने अपने चिन्तनात्मक स्वार्थ (या हित) की दृष्टि से प्रदान करने को बिलकुल मना कर दिया है।

हमारी बुद्धि के समस्त स्वार्थ, चाहे तो वे चिन्तनात्मक हों या व्यावहारिक हों, निम्नलिखित तीन प्रश्नों में संचित (या केन्द्रित) हैं—

१. मैं क्या जान सकता हूँ ?
२. मुझे क्या करना चाहिये ?
३. मैं क्या आशा कर सकता हूँ ?

इनमें से प्रथम प्रश्न केवल चिन्तनात्मक है। (इस विषय में मैं दावा कर सकता हूँ कि) हमने इसके समस्त संभाव्य उत्तरों की सूची को पूर्णतया प्रतिपादित कर लिया है, और अन्त में उस उत्तर को खोज कर पा लिया है जिससे बुद्धि को निश्चयमेव संतुष्ट होना ही चाहिये, और यदि वह व्यावहारिक की ओर दृष्टिपात न करे, तो उसको संतुष्ट होने का कारण भी प्राप्त है; परन्तु फिर भी उन दो लक्ष्यों से, जिनकी ओर शुद्ध बुद्धि का समस्त प्रयत्न वास्तव में निर्देशित था, हम अब भी उतनी ही दूरी पर पड़े रह गये हैं जैसे कि मानों हमने सौकर्य (या आरामतलबी) के कारण इस श्रम को बिलकुल आरंभ से ही त्याग दिया हो। इसलिये जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है, कम से कम इतना तो सुनिश्चित और सुव्यस्थित है कि इन दो पिछली समस्याओं के संबंध में ज्ञान हमारा भागधेय कदापि नहीं हो सकता।

दूसरा प्रश्न विशुद्ध-रूप से व्यावहारिक है। इस रूप में वह निश्चयमेव शुद्ध बुद्धि के क्षेत्र के अन्तर्गत आ सकता है, पर ऐसी अवस्था में भी अनुभवातीत, नहीं, प्रत्युत आचार-संबंधी प्रश्न ही है, और इसलिये हमारी इस मीमांसा का समुपयुक्त प्रतिपाद्य विषय नहीं बन सकता।

तीसरा प्रश्न, अर्थात् यदि मैं वह करूँ जो मुझे करना चाहिये तो ऐसी अवस्था में मैं क्या आशा कर सकता हूँ ? एक साथ ही व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों ही प्रकार का है और वह भी इस प्रकार कि इसका व्यावहारिक पक्ष सैद्धान्तिक के उत्तर के प्रति पथ-प्रदर्शन का काम करता है, और जब इसका उच्च अवस्था तक अनुसरण किया जाता है तो चिन्तनात्मक प्रश्नों के उत्तर के प्रसंग में भी यही काम देता है। क्योंकि समस्त आशा करना तो सुख की ओर निर्देशित होता है तथा व्यावहारिक (तत्व) और आचार के नियम के संबंध में उसी स्थिति में स्थित होता है जिस

में जानना और प्रकृति का नियम वस्तुओं के सैद्धान्तिक ज्ञान के संबंध में स्थित होते हैं। इनमें से प्रथम अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कुछ (वस्तु) है (जो चरम संभाव्य लक्ष्य को निर्धारित करती है) क्योंकि कुछ वस्तु घटित होनी चाहिये तथा दूसरा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कुछ वस्तु है (जो सर्वोच्च कारण के रूप में काम करती है) क्योंकि कुछ वस्तु घटित होती है।

हमारी समस्त इच्छाओं की (उनकी विविधता की दृष्टि से) विस्तारपूर्वक, (उनकी मात्रा की दृष्टि से) सान्द्रतापूर्वक और (उनकी कालगत व्यापकता की दृष्टि से) दीर्घ काल तक सन्तुष्टि को सुख (कहते) हैं। सुख की प्रेरणा देने वाले तत्व से व्युत्पादित व्यावहारिक नियम को मैं कार्य साधक (कुशलता का नियम) का नाम देता हूँ, और उस नियम को (यदि ऐसा कोई नियम हो) जिसकी प्रेरणा का आधार सुखी होने की योग्यता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, मैं आचरण का (अर्थात् सदाचार का) नियम कहता हूँ। इनमें से प्रथम नियम हम को यह परामर्श देता है कि हम सुखी होना चाहें तो हमको क्या करना चाहिये, तथा दूसरा यह आदेश करता है सुखी होने की योग्यता प्राप्त करने के लिये हमको कैसा बर्ताव करना होगा। पहला नियम आनुभविक सिद्धान्तों पर आधारित है; क्योंकि अनुभव के अतिरिक्त मैं अन्य किसी भी प्रकार से यह नहीं जान सकता कि जिनको सन्तुष्ट किया जाना चाहिए ऐसी कौन सी इच्छाएँ हैं, तथा जो उनको सन्तुष्ट कर सकते हैं ऐसे प्राकृतिक कारण कौन से हैं। दूसरा नियम इच्छाओं और उनको सन्तुष्ट करने वाले प्राकृतिक साधनों से अपने को अलग रखता है, और बौद्धिक सत्त्व सामान्य की स्वतंत्रता-मात्र का तथा उन अनिवार्य प्रतिबन्धों का विचार करता है जिनके अधीन यह स्वतंत्रता, सुख के सिद्धान्तों के अनुसार किये गये वितरण के साथ तालैक्य को प्राप्त हो सके, और इसलिये यह (नियम) कम से कम शुद्ध बुद्धि के भावों पर आश्रित हो सकता है तथा प्रागनुभवात्मकतया जाना जा सकता है।

मैं यह मानता हूँ कि वास्तव में ऐसे विशुद्ध सदाचार संबंधी नियमों का अस्तित्व है जो (आनुभविक प्रेरणाओं को बिना दृष्टि में रखे हुए, अर्थात् सुख का विचार बिना किये हुए ही) इस बात का निर्धारण करते हैं कि क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं किया जाना चाहिये अर्थात् जो एक बुद्धि युक्त सत्त्व सामान्य की स्वतंत्रता के विनियोग को निर्धारित करते हैं, तथा यह नियम निरपेक्ष भाव से आदेश करते हैं (किन्हीं अन्य आनुभविक उद्देश्यों की पूर्वकल्पना के आधार पर अधिष्ठापनापूर्वक नहीं), और इसी कारण सभी दृष्टियों से अनिवार्य होते हैं। इन प्रस्थापनाओं की पूर्वकल्पना मैं औचित्य के साथ कर सकता हूँ, तथा ऐसा इसलिये कर सकता हूँ,

क्योंकि मैं न केवल सुविज्ञ आचारवेत्ताओं की विभावनाओं की दुहाई अपने पक्ष में दे सकता हूँ, अपितु प्रत्येक व्यक्ति की आचार-संबंधी विभावना की दुहाई दे सकता हूँ, बशर्ते कि वह इस प्रकार के नियम के संबंध में स्पष्टता के साथ विचार करना चाहता हो।

इसलिये शुद्ध बुद्धि, निश्चय ही अपने चिन्तनात्मक विनियोग में तो नहीं, किन्तु व्यावहारिक विनियोग में—अर्थात् आचार संबंधी विनियोग में,अनुभव की संभाव्यता के सिद्धान्त को अन्तर्विष्ट रखती है, अर्थात् ऐसे कार्यों की संभाव्यता को अपने में धारण करती है, जो सदाचार के नियमों के अनुसार, मानवीय इतिहास में मिल सकते हैं। क्योंकि जब वह (बुद्धि) आज्ञा करती है कि इस प्रकार कार्य घटित होने चाहिये, तब उनका घटित होना अवश्यमेव संभव होना चाहिये, और इसीलिये एक विशेष प्रकार की सुव्यवस्थित एकता अर्थात् सदाचार की एकता संभव होनी चाहिये, जब कि प्रकृति की सुव्यवस्थित एकता बुद्धि के चिन्तनात्मक सिद्धान्तों के अनुसार सिद्ध नहीं की जा सकी थी, क्योंकि (यद्यपि) बुद्धि सामान्यतः स्वतंत्रता की दृष्टि से (या स्वतंत्रता के संबंध में) निश्चय ही कारणता से समन्वित है, परन्तु वह समग्र प्रकृति की दृष्टि से कारणता से युक्त नहीं है, तथा बुद्धि के सदाचार-संबंधी सिद्धान्त निश्चय ही स्वतंत्र व्यापारों को उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु प्रकृति के नियमों को उत्पन्न नहीं कर सकते। तदनुसार शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त अपने व्यावहारिक, किन्तु विशेषकर सदाचार संबंधी विनियोग में, वस्तुगत यथार्थता से समन्वित होते हैं।

मैं इस संसार को, जहाँ तक कि यह सदाचार संबंधी नियमों के अनुसार हो (या रह) सकता है (जैसी कि यह बौद्धिक प्राणियों की स्वतंत्रता के अनुसार हो सकता है, और जैसा कि सदाचार के अनिवार्य नियमों के अनुसार इसको होना चाहिये) सदाचार का संसार कहता हूँ। क्योंकि यहाँ सब प्रतिबन्धों (लक्ष्यों) और सदाचार के मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं को भी (अर्थात् मानवीय स्वभाव की दुर्बलता अथवा नीचता को भी) विचार से अलग कर दिया गया है, अतः इस संसार को केवल बुद्धिगम्य संसार के रूप में विचारा जा रहा है। इसलिये, इस सीमा तक यह केवल भाव (या विचार)मात्र है, यद्यपि है व्यावहारिक भाव या विचार, जो ऐन्द्रिय जगत् को यथासंभव उस भाव के अनुसार बनाने के लिये उस (जगत्) पर अपना प्रभाव डाल सकता है और डालना चाहिये। अतएव सदाचार जगत् का भाव वस्तुगत् (या वैषयिक) यथार्थता से समन्वित है, परन्तु बोधगम्य प्रत्यक्षानुभव के विषय की ओर निर्देश करने के रूप में नहीं (ऐसे किसी विषय का तो हम कदापि विचार नहीं कर सकते) प्रत्युत उसके व्यावहारिक विनियोग में प्रयुक्त शुद्ध बुद्धि के

विषय के रूप में ऐन्द्रिय जगत् की ओर निर्देश करने के रूप (या अर्थ) में वास्तविकता से युक्त होता है, और जो (उस सीमा तक) अपने में विवेकशील प्राणियों का समुदाय रखता है, जहाँ तक सदाचार के नियमों के अन्तर्गत प्रत्येक प्राणी की स्वतंत्र इच्छा शक्ति अपने साथ और अन्य प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ पूर्ण सुव्यवस्थित एकता में स्थित रहती है।

इसलिये, व्यावहारिक हितों के संबंध में शुद्ध बुद्धि के दो प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है, वह (कार्य) कर जिसके द्वारा तू सुखी होने के योग्य बन सके। दूसरा प्रश्न यह पूछता है कि, यदि मैं अपना बर्ताव इस प्रकार का रखूँ कि कि मैं सुख-प्राप्ति के अयोग्य न होऊँ, तो मैं उसके द्वारा सुख प्राप्त करने की आशा किस प्रकार कर सकता हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर देने में इस बात का विचार करना पड़ता है कि क्या शुद्ध बुद्धि के वे सिद्धान्त जो कि प्रागनुभवात्मकतया नियम को नियत करते हैं, इस आशा को भी उसके साथ अनिवार्यतया संबद्ध करते हैं या नहीं।

अतएव मेरा कहना यह है कि ठीक जिस प्रकार बुद्धि के व्यावहारिक विनियोग के अनुसार सदाचार के सिद्धान्त अनिवार्य होते हैं, उसी प्रकार बुद्धि के सैद्धान्तिक विनियोग के अनुसार यह मानना भी इसके समान ही अनिवार्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसी मात्रा में सुख-प्राप्ति की आशा करने का कारण है जिस मात्रा में उसने अपने आपको अपने बर्ताव (या आचरण) के द्वारा उसके पाने के योग्य बना लिया है, और इस प्रकार सदाचार की व्यवस्था (या शास्त्र)—चाहे विशुद्ध बुद्धि के भाव में ही क्यों न हो—सुख की व्यवस्था (या शास्त्र) के साथ अवियोज्यतया संबद्ध है।

(अब) एक बोधगम्य जगत् में, अर्थात् सदाचार की दुनियाँ में, जिसके संबोध में हम सदाचार के मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं को (इच्छाओं को) विचार में सम्मिलित नहीं करते, एक ऐसी संव्यवस्था, जिसमें सुख सदाचार के साथ समानुपात में बँधा हुआ हो, अनिवार्य समझी जा सकती है, क्योंकि सदाचार के नियम से अंशतः प्रेरित और अंशतः संयमित स्वाधीनता स्वयं ही सामान्य सुख का कारण होती है, और इसलिए विवेकशील प्राणी (भी) अपने आप ही ऐसे सिद्धान्तों के नेतृत्व में स्वयं अपने शाश्वत कल्याण के कर्त्ता होते हैं और साथ ही साथ दूसरों के कल्याण के भी। पर स्वयं अपने आपको पुरस्कृत करने वाली यह सदाचार की संव्यवस्था केवल एक भावमात्र है, जिसका (कार्य रूप में) प्रतिपादन इस प्रतिबन्ध या शर्त पर निर्भर है कि प्रत्येक व्यक्ति वही करे जो उसको करना चाहिये, अर्थात् विवेकशील प्राणियों के समस्त व्यापार इस प्रकार घटित हों कि मानों वे एक ऐसी परमेच्छा (या परम संकल्प) से उत्पन्न हैं, जो सब निजी व्यक्तिगत इच्छाओं को अपने में या अपने आधीन

समवधृत रखती है । परन्तु क्योंकि, सदाचार का नियम, अपनी स्वतंत्रता के उपयोग में, प्रत्येक व्यक्ति के लिये, तब भी बन्धन-स्वरूप रहता ही है जब कि चाहे दूसरे इस नियम का अनुसरण न भी करते हों, अतः न तो संसार की वस्तुओं का स्वरूप और न स्वयं व्यापारों की कारणता तथा सदाचार के साथ उनका संबंध—यह कोई भी इस बात का निर्धारण नहीं करते कि इन व्यापारों के परिणाम सुख के साथ किस प्रकार संबद्ध होंगे, और सुखी होने की आशा का, अपने को सुख के योग्य बनाने की आवश्यक चेष्टा के साथ ऊपर बतलाया गया अनिवार्य संयोग (या संबोध) बुद्धि (या विवेक) के द्वारा नहीं दिया जा सकता; प्रत्युत इसकी तभी आशा की जा सकती है जबकि एक ऐसे परम (या चरम) विवेक को, जो सदाचार के नियमों के अनुसार शासन करता है, इसके साथ ही प्रकृति के कारण के रूप में उसके मूल में स्थित माना जाए।

मैं ऐसी बुद्धि के भाव को, जिस (बुद्धि में) परिपूर्ण सदाचार-संबंधी इच्छा, परम मंगल के साथ आबद्ध होकर, संसार के समस्त सुख का कारण होती है,—अर्थात् उस सीमा तक जहाँ तक कि सुख, सदाचार, (अर्थात् सुख की पात्रता) के साथ यथा-तथ्य (या सुनिर्दिष्ट) संबंध में स्थित होता है, 'परम सत् का आदर्श' कहता हूँ। इसलिये शुद्ध बुद्धि केवल परम मौलिक सत् के आदर्श में ही इस संनियोजन (या संनिबंधन) का आधार प्राप्त कर सकती है, जो (संनिबन्धन) परम व्युत्पादित सत् के दो तत्वों के मध्य में व्यावहारिक दृष्टिकोण से आवश्यक है—अर्थात् जो बोध-गम्य अथवा सदाचार की दुनिया का आधार है। अब क्योंकि हम बुद्धि के द्वारा अपने को एक जगत् से संबद्ध रूप में प्रत्युपस्थापित करने के लिये अनिवार्यतया विवश कर दिये जाते हैं, यद्यपि इन्द्रियाँ हमारे प्रति एक अवभासों की दुनियाँ को छोड़ कर और कुछ भी उपस्थित नहीं करतीं, अतः हमको उस आचरण की दुनियाँ को ऐंद्रिय जगत् में अपने व्यवहार का परिणाम मानना पड़ेगा (उस ऐन्द्रिय जगत् में जिसमें सुख की पात्रता और सुख के मध्य में ऐसा कोई संनिबंधन प्रदर्शित नहीं होता) और इस-लिए उसको अपने लिये भावी जगत् मानना पड़ेगा। इस प्रकार ईश्वर और भावी जीवन यह दो ऐसी आधारभूत धारणाएँ हैं, जो शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्तों के अनुसार उन दायित्वों से अपृथक्करणीय हैं, जिनको वह बुद्धि हमारे ऊपर आरोपित करती है।

आचारशास्त्र स्वयं अपने स्वरूप में एक संव्यवस्था (सिस्टम) निर्मित करता है, पर सुख (या सौख्य) वहाँ तक के अतिरिक्त, जहाँ तक कि वह सदाचार के अनुपात में ठीक ठीक वितरित हुआ होता है, ऐसा कुछ नहीं करता। परन्तु यह तो किसी बुद्धिमान कर्त्ता और शासक के अधीन बोधगम्य जगत् में ही संभव है। बुद्धि

अपने आपको एक ऐसे शासक को इस प्रकार के जगत् में (जिसको हमें भावी जगत् मानना चाहिये) जो जीवन है उसके सहित, पूर्वतः मानकर चलने के लिये विवश पाती है, अन्यथा इसको सदाचार के नियमों को रिक्त मानसिक ताना बाना मानना पड़ेगा, क्योंकि इस आधारभूत धारणा के बिना वह अनिवार्य परिणाम, जिसको वह स्वयं इन नियमों के साथ जोड़ती है, नहीं निकल सकेगा। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति सदाचार के नियमों को आज्ञा (या आदेश) रूप भी मानता है, पर यदि वे (आज्ञाएँ) अपने नियमों के साथ उपयुक्त परिणामों को आबद्ध न कर सकें और अपने साथ प्रतिज्ञाएँ और धमकियों को लेकर न चल सकें तो वे ऐसा हो ही नहीं सकते। पर यदि वे परम सत् के रूप में किसी अनिवार्य सत्त्व में नहीं रहते हों जो केवल अकेला ही इस प्रकार की सोद्देश्य एकता को संभाव्य बनाता है, तो वे ऐसा भी नहीं कर सकते।

लाइब्नित्स ने इस जगत को, जहाँ तक कि इसके अन्तर्गत पाये जाने वाले विवेकशील प्राणियोंमात्र पर तथा चरम सत् के शासन के अधीन सदाचार के नियमों के अनुसार उनके पारस्परिक संबन्ध पर ध्यान दिया जाता है, प्रसाद (या धन्यता) का राज्य (डास् राइश् डेर् ग्नाडन्) कहा है, और उसको प्रकृति के राज्य से (इस बात में) भिन्न माना है कि यद्यपि इसमें ये विवेकशील प्राणी निश्चयमेव सदाचार के नियमों के अधीन स्थित रहते हैं, किन्तु अपने कार्यों (या व्यापारों) से उन परिणामों के अतिरिक्त, जो कि हमारे ऐन्द्रिय जगत् में प्रकृति के प्रक्रमानुसार परिणत हुआ करते हैं, अन्य परिणामों की आशा नहीं करते। अतएव अपने को इस प्रसाद के राज्य में, जहाँ समस्त सौख्य हमारी बाट जोह रहा है, (अतिरिक्त उस अवस्था के जिसमें हम सुख की अपात्रता के कारण इस राज्य में अपने भागधेय को कम कर दें) देखना या समझना बुद्धि का व्यावहारिकतया अनिवार्य भाव (या विचार) है।

जहाँ तक कि व्यावहारिक नियम (हमारे) व्यापारों (या कार्यों) के विषयिगत आधार, अर्थात् विषयिगत सिद्धान्त होते हैं, वे नीति-सूत्र कहलाते हैं। सदाचार की शुद्धता और परिणाम की दृष्टि से उसका मूल्यांकन (या निर्णय) भावों (या विचारों) के अनुसार किया जाता है, तथा उसके नियमों का पालन उसके नीति-सूत्रों के अनुसार होता है।

यह बात आवश्यक है कि हमारी समस्त जीवनचर्या नीति-सूत्रों के अधीन व्यवस्थित हो ; पर ऐसा घटित हो यह बात भी तब तक असंभव है, जब तक कि बुद्धि सदाचार के नियम के साथ जो कि एक भावमात्र है, किसी ऐसे कर्म प्रवर्तक कारण को संयुक्त नहीं कर देती जो सदाचार के नियम का अनुसरण करने वाले आचरण के लिए, इस जीवन या भावी जीवन में ऐसे परिणाम को निर्धारित करता

है जो हमारे चरम लक्ष्य के पूर्णतया समनुरूप है। इस प्रकार ईश्वर के बिना, तथा ऐसी दुनियाँ के बिना जो सम्प्रति तो हमारे लिये अदृश्य है, पर जो प्रत्याशित है, सदाचार के ऊर्जस्वित भाव निश्चय ही अनुमोदन और सराहना के विषय तो भले ही हो जाएँ पर प्रयोजन और व्यापार के उत्स (या उद्गम) नहीं होते; क्योंकि वे उस लक्ष्य को पूर्णतया सिद्ध नहीं करते जो प्रत्येक विवेकशील प्राणी के लिये स्वाभाविक है, तथा जो उसी शुद्ध बुद्धि (या विवेक) के द्वारा प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित किया और अनिवार्य कर दिया जाता है।

अकेला सुख, अपने आप में, हमारी बुद्धि के लिए, परिपूर्ण सत् या शिवं होने से बहुत दूर है। बुद्धि सुख को, जहाँ तक कि वह सुखी होने की पात्रता के साथ अर्थात् सदाचारपूर्ण आचरण के साथ एकीभूत न हो, अनुमोदित नहीं करती (चाहे हमारी इच्छा उसकी कितनी ही कामना क्यों न करे)। अकेला सदाचार और उसके साथ केवल सुखी होने की पात्रता भी तो दूर तक पूर्ण सत् (या शिवं) नहीं है। इस सत् को पूर्णता को पहुँचाने के लिये, वह व्यक्ति जो ऐसा आचरण करता है कि वह सुख का अपात्र न हो, उसमें अपना भाग पाने की आशा करने के योग्य होना चाहिये। समस्त व्यक्तिगत उद्देश्यों से मुक्त बुद्धि भी, यदि, बिना अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखे हुए, अपने एक ऐसे प्राणी की स्थिति में रखे जिसको समस्त सुख को दूसरों में बाँटना है, तो इससे भिन्न निर्णय नहीं कर सकती; क्योंकि व्यावहारिक भाव (या विचार) में दोनों ही तत्व सारतः एक साथ बँधे हुए हैं, यद्यपि बँधे हुए ऐसे प्रकार से हैं कि सदाचार की ओर (हमारी) मनोवृत्ति प्रतिबन्ध (या शर्त) के रूप में सुख में हमारे भाग को प्राप्त करने को संभव बनाती है, इसके विपरीत दूसरी ओर सुख की प्रात्याशा सदाचार की मनोवृत्ति को संभव नहीं बनाती। क्योंकि इस दूसरी अवस्था में वह मनोवृत्ति सदाचार की मनोवृत्ति नहीं होगी, और इसी कारण समग्र सुख को पाने का पात्र भी नहीं होगी—उस सुख को जो बुद्धि की दृष्टि से उस परिमिति के अतिरिक्त और कोई सीमा नहीं रखता जो स्वयं हमारे अनाचारपूर्ण आचरण से उत्पन्न होती है।

इसलिये, विवेकशील प्राणियों के सदाचार के (जिसके द्वारा वे स्वयं सुख के योग्य पात्र बनते हैं) ठीक समानुपात में सुख ही केवल वह वस्तु है जो एक ऐसी दुनियाँ का सर्वोच्च सत् घटित करता है, जिसमें हम अपने आपको शुद्ध किन्तु व्यावहारिक बुद्धि के आदेश के अनुसार स्थित रखने के लिए विवश हैं, तो वास्तव में एक बुद्धिगम्य दुनियाँ है, क्योंकि ऐन्द्रिय जगत् हमको वस्तुओं के स्वभाव (या स्वरूप) से इस प्रकार की उद्देश्य की सुव्यवस्थित एकता के प्रादुर्भूत होने का कोई आश्वासन नहीं

देता, जिसकी वास्तविकता भी किसी सर्वोच्च मौलिक सत् की आधारभूत पूर्वकल्पना के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु पर आधारित नहीं हो सकती, जिससे कि स्वयं अपने में स्थित बुद्धि एक सर्वोच्च कारण की समस्त पर्याप्तता से सज्जित (होकर) उस सर्वोच्च सत् में वस्तुओं की उस सर्वव्यापक व्यवस्था को परमपरिपूर्ण प्रचना के अनुसार स्थापित करता है, लगातार बनाए रखता है, और परिपूर्णता को पहुँचाता है, जो व्यवस्था बहुधा ऐन्द्रिय जगत् में हमारी दृष्टि से ओझल रहती है।

इस आचरण संबंधी देवविज्ञान को चिन्तनात्मक देवविज्ञान की अपेक्षा यह विशेष सुविधा प्राप्त है कि यह अनिवार्यतया एक एकमेवाद्वितीय, परमपरिपूर्ण, एवं विवेकी आद्यसत्त्व के संबोध की ओर ले जाता है, जिसकी ओर चिन्तनात्मक ईश्वरविज्ञान, वस्तुगत आधार पर संकेत भी नहीं करता, उसके संबंध में विश्वास उत्पन्न कराने की तो बात ही क्या है। क्योंकि चाहे बुद्धि हमको कितनी भी दूर तक क्यों न ले जाए, हमको न तो अनुभवातीत देवविज्ञान में और न प्राकृतिक देवविज्ञान में दोनों में ही किसी एकमात्र ऐसे सत्त्व को स्वीकार के लिये विचारक्षम स्पष्ट आधार प्राप्त नहीं होता, जिसको हम समस्त प्राकृतिक कारणों के पूर्व रख सकें तथा, जिसके ऊपर उनको सर्वथा निर्भर बना सकें। इसके विपरीत, यदि संसार के अनिवार्य नियम के रूप में सदाचार की एकता के दृष्टिकोण से विचार किया जाए कि वह कौन सा कारण होना चाहिये जो अकेला इस नियम को इसके समयुक्त प्रभाव प्रदान कर सकता है, और इसी कारण हमारे संबंध में बाधित करने वाली शक्ति प्रदान कर सकता है, तो यह पता चलेगा कि वह कारण एकमात्र सर्वोच्च इच्छा-शक्ति होनी चाहिये, जो अपने में इन सब नियमों को संनिहित (या समवधृत) रखती है। क्योंकि विभिन्न इच्छाओं के मध्य में इस उद्देश्य की परिपूर्ण एकता किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? यह इच्छा, (या दिव्य सत्त्व) सर्वशक्तिमान होनी चाहिये जिससे कि समस्त प्रकृति और संसार में सदाचार के साथ उसका संबंध उसके अधीन हो सके; सर्वज्ञ होनी चाहिये जिससे कि वह हमारे अन्तरतम के भावों के उत्सों और उनके आचरण-संबंधी मूल्यों को जान सके; सर्वगत होनी चाहिये जिससे कि संसार के सर्वोच्च हित के लिये जो कुछ अपेक्षित है उसको प्रदान करने के लिये सर्वदा समीप हो; शाश्वत (अथवा सनातन) होनी चाहिये, जिससे प्रकृति और स्वतंत्रता का यह तालैक्य (या आनुरूप्य) किसी भी समय में भी असफल न हो, इत्यादि।

पर बुद्धियों के संसार में लक्ष्यों की सुसंव्यवस्थित एकता,—जो यदि केवल प्रकृति की दृष्टि से देखी जाए तो ऐन्द्रिय जगत्-मात्र है, परन्तु जो यदि स्वतंत्रता के संस्थान के रूप में देखी जाए तो बोधगम्य अर्थात् सदाचारात्मक जगत् (रैग्नम् ग्रातियाए =

हितों का साम्राज्य) कही जाएगी—अनिवार्यतया समस्त वस्तुओं की उद्देश्य की एकता की ओर भी ले जाने वाली है, जो सामान्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार इस विशाल अवयवी को संघटित करती है, (ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि पूर्वोक्त एकता सदाचार के सर्वव्यापी और अनिवार्य नियमों का अनुसरण करने वाली होती है) और इस प्रकार व्यावहारिक बुद्धि को चिन्तनात्मक बुद्धि के साथ एकत्र संयुक्त कर देती है। यदि इस संसार को बुद्धि के उस विनियोग के साथ तालमेल में होना आवश्यक है, जिसके बिना हमको अपने आपको बुद्धि का अपात्र मानना पड़ेगा, अर्थात् जो बुद्धि का सदाचार-संबंधी विनियोग है—जो कि पूर्णतया सर्वोच्च सत् के भाव पर आश्रित है, तो इस जगत् को एक भावमात्र उत्पन्न हुआ जैसा प्रत्युपस्थापित करना आवश्यक होगा। इस प्रकार से प्रकृति का समस्त अनुसंधान लक्ष्यों के संस्थान (सिस्टम डेर त्स्वैके—सिस्टम् ऑफ् ऐण्ड्स्) का आकार धारण करने की ओर प्रवृत्ति होना प्रतीत होता है, और अपने व्यापकतम विस्तार में भौतिक देवविज्ञान वन जाता है। परन्तु यह, क्योंकि यह तो, स्वतंत्रता की निजी सारभूत प्रकृति में आश्रित एकता के रूप वाली न कि बाह्य आदेशों के द्वारा आकस्मिकतया संस्थापित, आचार-व्यवस्था से आरंभ होती है, प्रकृति की सोद्देश्यता को उन आधारों के साथ जोड़ती है, जो वस्तुओं की आन्तरिक संभाव्यताओं के साथ अविभाज्यरूपेण प्रागनुभवात्मकतया संवद्ध होने चाहिये, और इस प्रकार एक अनुभवातीत देवविज्ञान की ओर ले जाती है, जो (देवविज्ञान) सत्त्वविद्यासंबंधी सर्वोच्च पूर्णता के आदर्श को संव्यवस्थित एकता के सिद्धान्त (या तत्व) के रूप में ग्रहण करता है, जो (एकता) समस्त वस्तुओं को प्रकृति के सर्वव्यापी और अनिवार्य नियमों के अनुसार एकता के सूत्र में बाँधती है, क्योंकि समस्त वस्तुओं का मूलोद्गम एक आद्यसत्त्व (या सत्ता) की आत्यन्तिक अनिवार्यता में निहित है।

यदि हम अपने प्रति लक्ष्यों को (भी) प्रस्तुत न करें तो हम अनुभव के संबंध में भी अपनी बोधवृत्ति का किस प्रकार का उपयोग कर सकते हैं? परन्तु सर्वोच्च लक्ष्य होते हैं सदाचार के, और इनको हम उसी रूप में जान सकते हैं जिसमें कि वे हमको शुद्ध बद्धि के द्वारा दिये जाते हैं। अब इनसे समन्वित होकर, और इनका अनुसंधान-सूत्र के रूप में प्रयोग करते हुए भी, हम तब तक ज्ञान की दृष्टि से प्रकृति की जानकारी का कोई सोद्देश्य उपयोग नहीं कर सकते जब तक कि प्रकृति ने स्वयं कोई लक्ष्यात्मक एकता अवस्थापित न की हो; क्योंकि इसके बिना तो हमको ही कोई बुद्धि प्राप्त नहीं होगी, इसलिये कि बुद्धि के लिये कोई विद्यालय ही नहीं होगा, और न उन विषयों से व्युत्पादित कोई संस्कृति (या कृष्टि) ही होगी जो ऐसे संबोधों के लिये सामग्री प्रदान करते हैं। परन्तु प्रथमोक्त सोद्देश्य एकता आवश्यक है, तथा स्वतंत्रेच्छा की सारभूत

प्रकृति पर आश्रित है, और इसलिये यह (दूसरी सोद्देश्य एकता) भी, जो अपने में अपने मूर्त्त प्रयोग के प्रतिबन्ध (या शर्त) को धारण किये रहती है, ऐसी ही होनी चाहिये; इस प्रकार हमारे बौद्धिक ज्ञान का अनुभवातीत अभ्युत्थान उस व्यावहारिक सोद्देश्यता का, शुद्ध बुद्धि हमारे ऊपर आरोप करती है, कारण नहीं प्रत्युत केवल परिणाम (या कार्य) होगा।

परिणामतः मानवीय बुद्धि के (विकास के) इतिहास में भी हम यह देखते हैं कि सदाचार के संबोधों के पर्याप्तरूपेण परिष्कृत और सुनिर्धारित होने के पूर्व, तथा इस प्रकार के संबोधों और निश्चय ही अनिवार्य नियमों के अनुसार लक्ष्यों की सुसंव्यवस्थित एकता के समझे जाने से पहले, प्रकृति का ज्ञान, और अनेकों विज्ञानों में बुद्धि का काफ़ी बड़ी मात्रा में विकास तक, कुछ तो (या अंशतः) ईश्वर(त्व) का केवल अपरिपक्व और अविस्पष्ट संबोध उत्पन्न कर सके, और कुछ (या अंशतः) इन प्रश्नों के संबंध में आश्चर्यजनक उदासीनता का पोषण करते रहे। सदाचार के भावों के महत्तर विकास ने, जो हमारे धर्म के असाधारणतया शुद्ध नीति-नियम के द्वारा अनिवार्य बना डाला गया था, बुद्धि को उस विषय के संबंध में अनिवार्यतया रुचि लेने के कारण अत्यन्त तीक्ष्णता के साथ सज्ञान बना दिया और यह बात प्रकृति संबंधी विस्तृततर ज्ञान अथवा सही (=शुद्ध) और विश्वसनीय अनुभवातीत अन्तर्दृष्टि के (क्योंकि इसका सभी युगों में अभाव रहा है) बिना ही घटित हुई; सदाचार संबंधी भावों ने ही उस दिव्य सत्ता के संबोध को उत्पन्न किया जिसको हम आजकल सही मानते हैं,—और हम इसको सही इस कारण नहीं मानते हैं कि क्योंकि चिन्तनात्मक बुद्धि हमको इसके ठीक होने का विश्वास दिलाती है, प्रत्युत क्योंकि यह बुद्धि के आचार संबंधी सिद्धान्त से पूर्णतया तालमेल रखता है। और इस प्रकार अन्ततोगत्वा यह तत्व केवल शुद्ध बुद्धि ही है परन्तु वह भी अपने व्यावहारिक विनियोग में, जिसको हमारे सर्वोच्च हितों के साथ उस ज्ञान को संबद्ध का श्रेय प्राप्त है जिसको शुद्ध चिन्तन केवल कल्पित कर सकता है पर प्रामाणिक नहीं बना सकता, तथा इसके द्वारा, उसको निश्चय ही सुसाधित मत बना देने का तो नहीं प्रत्युत बुद्धि या विवेक के सारवत्तम लक्ष्यों के लिये नितान्त अनिवार्य पूर्वकल्पित आधारभूत धारणा बना देने का (भी) श्रेय प्राप्त है।

परन्तु जब व्यावहारिक बुद्धि इस उच्च विन्दु तक पहुँच चुकती है, अर्थात् परम सत् के रूप में एकमेवाद्वितीय आद्यसत्त्व के संबोध तक पहुँच जाती है, तो भी उसको यह समझने का साहस नहीं करना चाहिये कि उसने अपने आपको अपने उपयोग के समस्त आनुभविक प्रतिबन्धों से ऊपर उठा दिया है, और इतनी ऊँची उड़ान भर ली है कि उसको नवीन विषयों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया है, और इसलिये इस संबोध

से आगे चलने का साहस करके उससे स्वयं सदाचार के नियमों का अनुमान कर सकती है। क्योंकि यही तो वे नियम थे जिनकी भीतरी व्यावहारिक अनिवार्यता ने हमको आत्मनिर्भर कारण की पूर्वकल्पना तक अथवा विश्व के बुद्धिमान शासक की कल्पना तक पहुँचाया, जिससे कि उनको कार्यान्वित किया जा सके, इसलिये हमको, इस प्रक्रिया को पलट कर, उनको आकस्मिक, और शासक की इच्छामात्र से व्युत्पादित नहीं समझना चाहिये, विशेषकर इसलिये कि हम इस इच्छा का उस संबोध के अतिरिक्त अन्य कोई संबोध प्राप्त नहीं कर सकते जो इन नियमों के अनुसार बना है। जहाँ तक व्यावहारिक बुद्धि को हमारे नेतृत्व का अधिकार है, वहाँ तक हम कार्यों या व्यापारों को अपने लिये इस कारण अवश्य कर्त्तव्य नहीं मानते कि वे ईश्वर के आदेश हैं प्रत्युत उनको इसलिये ईश्वरीय आदेश मानते हैं कि हम उनके प्रति एक आन्तरिक बाध्यता से बँधे हुए हैं। बुद्धि के सिद्धान्तों द्वारा निर्धारित सोद्देश्य एकता के अनुसार हम स्वाधीनता का अध्ययन करेंगे, तथा अपने को केवल उसी सीमा तक दिव्य इच्छा के अनुरूप होने का विश्वास करेंगे, जिस सीमा तक उस नैतिक-नियम को, जिसको बुद्धि हमको स्वयं कार्यों की प्रकृति से सिखाती है, पवित्र मानेंगे, और विश्वास करेंगे कि हम उस दिव्य इच्छा की सेवा कर रहे हैं, जब कि हम उस तत्व को अभ्युन्नत कर रहे होंगे जो संसार में—हमारे में और दूसरों में समानरूपेण—सर्वश्रेष्ठ है। अतः नैतिक (या सदाचार विषयक) देवविज्ञान लोकान्तःस्थित उपयोगमात्र की वस्तु है, जो हमको अपने आपको समस्त सामान्य लक्ष्यों के अनुरूप बनाकर, अपने भागधेय को इसी जगत् में पूरा करने की शिक्षा देती है, और यह चेतावनी देती है कि हम अपने जीवन के सदुपयोग में नीति-नियमों का विधान करने वाले विवेक के पथप्रदर्शक-सूत्र को न तो मतान्धता के कारण ही और न अश्रद्धा से ही त्यागें, जिससे कि, उसको अपरोक्षतया परम सत्ता के भाव के साथ जोड़ सकें, (ऐसा करने से अर्थात् सूत्र का त्याग करने से जो प्राप्त होगा) वह नैतिक देवविज्ञान का अनुभवातीत उपयोग होगा, जो चिन्तन के अनुभवातीत उपयोग के समान, बुद्धि (या विवेक) के चरम लक्ष्य को विकृत और विफल (या भग्नाश) करके छोड़ेगा।

शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त-सूत्र

तृतीय खंड

सम्प्रति, ज्ञान और विश्वास

किसी बात को सत्य मानना हमारी बोधवृत्ति में एक ऐसी घटना है कि, जो वस्तुगत आधार पर भले ही आश्रित हो, किन्तु फिर भी जो उस व्यक्ति के मस्तिष्क

में, जो कि विभावना को निर्मित करता है, विषयिगत कारणों की अपेक्षा करती है। यदि विभावना प्रत्येक बुद्धिवन्त प्राणी के लिये प्रामाणिक हो, तो उसका आधार वैषयिकतया पर्याप्त है, और ऐसी दशा में उसको सत्य मानना दृढ़ विश्वास कहलाता है। पर यदि उसका आधार किसी व्यक्ति विशेष के चरित्र में हो, तो इसको मान्यता कहा जाता है।

मान्यता केवल आभासमात्र होती है, क्योंकि विभावना का आधारभूत हेतु जो केवल विषयों में ही स्थित होता है, वस्तुगत मान लिया जाता है। इस प्रकार की विभावना की प्रामाणिकता भी किसी व्यक्ति के लिये निजी व्यक्तिगत प्रामाणिकता ही होती है, और उसको सत्य मानना दूसरों के प्रति सम्प्रेषित (या संचरित) होने के योग्य नहीं होता। परन्तु सत्य विषय के साथ संविदा या समनुरूपता पर आश्रित रहता है, परिणामतः इसके संबंध में प्रत्येक बोधवृत्ति की विभावनाएँ परस्पर मेल खाने वाली होनी चाहिये (जो दो वस्तुएँ एक एक करके तीसरी के समनुरूप होती हैं वे परस्पर भी मेल रखती हैं)। अतएव, हमारा किसी बात को सत्य मानना, विश्वास है अथवा धारणा (या मान्यता) मात्र है इस बात की कसौटी बाह्यतः, उसकी सम्प्रेषणीयता की संभाव्यता, और उसकी सत्यता को प्रत्येक मानव की बुद्धि के लिये प्रामाणिक पाने पर निर्भर है; क्योंकि ऐसी अवस्था में कम से कम यह संभावना तो होती है कि समस्त विभावनाओं की पारस्परिक समनुरूपता का आधार, (विभिन्न प्रमाताओं की पृथकता के होते हुए भी) किसी सामान्य आश्रय पर अर्थात् विषय पर आधारित है, और इसलिये जिसके साथ वे मेल खाते हैं, जिससे कि विभावना की सत्यता सिद्ध होती है।

इसलिये मान्यता (या धारणा) को विषयिगततया विश्वास से तब तक पृथक् नहीं किया जा सकता, जब तक कि विषयी सत्य मानने की विभावना को केवल अपने मस्तिष्क के अवभास के रूप में अपने समक्ष रखता है; परन्तु वह प्रयोग, जिसको इन आधारभूत हेतुओं के साथ, जो हमको प्रामाणिक प्रतीत होते हैं, दूसरों की बोधवृत्ति पर किया जाता है, (जिससे यह जाना जा सके कि क्या वे दूसरों की बुद्धि पर भी वैसा ही प्रभाव डालते हैं, जैसा हमारी बुद्धि पर डालते हैं) यह एक उपाय है, यद्यपि है केवल विषयिगत उपाय ही, और सो भी निश्चय ही विश्वास उत्पन्न करने का नहीं, पर विभावना में केवल विशुद्ध निजी व्यक्तिगत प्रामाणिकता के तत्व को, अर्थात् उसमें किसी ऐसी बात को जो मान्यता-भर है, उद्घाटित करने का उपाय है।

यदि इसके अतिरिक्त विभावना के उन विषयिगत कारणों को, जिनको हमने वस्तुगत आधारों के रूप में ग्रहण कर लिया था, स्पष्टतया सूचित किया जा सके, और परिणामतः प्रतारक सत्य मानने की विभावना को हमारे मस्तिष्क में घटित होने वाली

घटना के रूप में स्पष्ट किया जा सके, और ऐसा किया जा सके विषय के विशिष्ट स्वरूप (या अवस्था) की आवश्यकता का अनुभव किये बिना ही, तो हम आभासमात्र की भ्रांति को उद्घाटित कर डालते हैं, तथा फिर इसके पश्चात् उसके द्वारा प्रवंचित नहीं होते, यद्यपि यदि आभास रूप भ्रांति का विषयिगत कारण हमारी प्रकृति में स्वतः अन्तःस्थित है, हम उसके द्वारा नित्य ही कुछ मात्रा में प्रलोभित होते रहेंगे।

मैं उस अवस्था में किसी बात का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन नहीं कर सकता, अर्थात् तब तक उसका प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्यतया प्रामाणिक विभावना के रूप में द्वारा नहीं कर सकता जब तक कि वह विश्वास को उत्पन्न नहीं करती। मान्यता (या धारणा) को, यदि वह मुझको प्रिय लगे, मैं अपने पास भले ही रख सकता हूँ, परन्तु मैं उसको अपने को छोड़ किसी अन्य के अवश्यंपालनीय नहीं बना सकता और न बनाना ही चाहिये।

किसी बात को सत्य मानने की, अथवा किसी विभावना की विषयिगत (या प्रमातृगत) प्रामाणिकता की, विश्वास के संबंध में (जो कि साथ ही साथ वैषयिकतया प्रामाणिक होता है) निम्नलिखित तीन श्रेणियाँ होती हैं—मानना, विश्वास करना और जानना। मानना किसी बात को इस प्रकार से सच मानने को कहते हैं कि जिसके साथ में यह चेतना लगी रहती है कि यह मानना विषयिगततया तथा वैषयिकतया दोनों ही प्रकार अपर्याप्त है। यदि किसी बात को सच मानना विषयिगततया (सब्-जैक्टिवली) पर्याप्तरूपेण समाधानकारक हो, पर उसके साथ ही वैषयिकतया (ऑब्-जैक्टिवली) अपर्याप्त हो, तो इस मनोदशा को विश्वास करना कहते हैं। अन्त में जब किसी बात को सच मानना, विषयिगततया तथा वैषयिकतया दोनों ही दृष्टियों से एक समान पर्याप्त हो तो इसको जानना कहते हैं। विषयिगत पर्याप्तता (मेरे अपने लिये) विश्वास कहलाती है, वैषयिक पर्याप्तता (प्रत्येक व्यक्ति के लिये) सुनिश्चितता कही जाती है। मैं ऐसे सरल संबोधों के स्पष्टीकरण के लिये और अधिक समय नहीं दूंगा।

मुझको किसी विषय में अभिमत रखने का साहस भी बिना कम से कम कुछ जाने कदापि नहीं करना चाहिये, (क्योंकि) कुछ जानने के द्वारा ही तो, अपने में केवल अनिश्चित (या संशयस्थ) विभावना, सत्य के साथ संबंध प्राप्त करती है, जो संबंध, यद्यपि पूर्ण नहीं होता, तथापि स्वच्छन्द कपोल कल्पना से अधिक ही होता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के संबंध का नियम निश्चित होना चाहिये। क्योंकि यदि इस नियम के संबंध में भी मैं अभिमत के अतिरिक्त और कुछ न रखूँ तब तो सब कुछ ही, सत्य से लेशमात्र संबंध के बिना कल्पना का खिलवाड़ मात्र हो जाएगा। शुद्ध बुद्धि

से निष्पन्न होने वाली विभावनाओं में अभिमत मात्र व्यक्त करने की विलकुल भी अनुज्ञा नहीं है। इसलिये कि, क्योंकि वे विभावनाएँ अनुभव के आधार पर आश्रित नहीं होतीं प्रत्युत जहाँ सब कुछ अनिवार्य है वहाँ प्रत्येक बात को प्रागनुभवात्मकतया जानना आवश्यक होता है, इसलिये संबंध के नियम के लिये सर्वव्यापकता और अनिवार्यता अपेक्षित होती है, परिणामत: निश्चितता भी अपेक्षित होती है, नहीं तो सत्य के संबंध में कोई नेतृत्व (या मार्गदर्शन) उपलब्ध नहीं होगा। अत: शुद्ध गणित के संबंध में अभिमत रखना नितान्त असंगत है, या तो उसके संबंध में ज्ञान होना चाहिये, अथवा उसके संबंध में अभिमत प्रकट करने से विरत रहना चाहिये। सदाचार के सिद्धान्तों के विषय में भी यही बात लागू होती है, क्योंकि किसी को केवल इस अभिमत के आधार पर कि किसी कार्य को करने की अनुज्ञा है, उस कार्य को कर डालने का साहस नहीं करना चाहिये, प्रत्युत निश्चित रूप से यह जानना चाहिये कि अमुक कार्य अनुज्ञात है।

इसके विपरीत, बुद्धि के अनुभवातीत विनियोग में, अभिमत शब्द निस्सन्देह अत्यधिक दुर्बल है, किन्तु ज्ञान (जानना) भी तो अत्यधिक प्रबल है। इसलिये केवल चिन्तनात्मक दृष्टिकोण से हम कोई भी विभावना प्रस्तुत नहीं कर सकते; क्योंकि (वे) विषयिगत आधार जिनके बल पर किसी बात को सत्य माना जा (सक)ता है, जैसे कि वे (आधार) जो विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, चिन्तनात्मक प्रश्नों के संबंध में कदापि सक्षम (या योग्य) नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे समस्त अनुभवात्मक सहायता के विना न तो माने ही जा सकते हैं, और न एक बराबर मात्रा में दूसरों के प्रति प्रेषित (या दूसरों में संचारित) ही किये जा सकते हैं।

परन्तु यह बात तो सामान्यत: केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही संभव है कि सैद्धान्तिकतया अपर्याप्त (प्रमाण पर) सत्य माने जाने को विश्वास का नाम दिया जा सके। और यह व्यावहारिक दृष्टिकोण या तो कौशल से संबंध रखता है, या सदाचार (या नीति) से; इनमें से प्रथम का वास्ता यथेच्छ तथा संभाव्य लक्ष्यों से है, तथा दूसरे का वास्ता ऐसे लक्ष्यों से है जो नितान्त अनिवार्य है।

जब एक बार किसी लक्ष्य को अंगीकार कर लिया जाता है तो उसकी सम्प्राप्ति के प्रतिबन्ध (या शर्तें) भी, औपकल्पिक दृष्टि से अनिवार्य हो जाते हैं। यदि मुझे ऐसे अन्य किन्हीं प्रतिबन्धों का पता न हो जिनके अधीन लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है तो यह अनिवार्यता विषयिगततया, किन्तु तिस पर भी केवल तुलनात्मकतया पर्याप्त होंगे; परन्तु यदि मैं इस बात को सुनिश्चितता के साथ जानता होऊँ कि कोई भी व्यक्ति अंगीकृत लक्ष्य की दिशा में ले जाने वाले अन्य प्रतिबन्धों (या शर्तों) को जान ही नहीं

सकता तो, यह अनिवार्यता आत्यन्तिकतया और सब के लिये पर्याप्त होगी। प्रथम अवस्था में मेरी मान्यता, और किन्हीं प्रतिबन्धों को सत्य मानना केवल संभाव्य (या शक्य) विश्वास होगी, परन्तु दूसरी दशा में अनिवार्य विश्वास होगी। उदाहरण के लिये एक ऐसे डॉक्टर की दशा का विचार कीजिए जिसको संकटापन्न रोगी के लिये कुछ न कुछ करना आवश्यक है, परन्तु वह उसके रोग को नहीं जानता। वह रोग बाह्य लक्षणों को देखता है, और क्योंकि उसको इससे अधिक अच्छा अन्य निर्णय नहीं जान पड़ता, वह यह निर्णय (या निदान) करता है कि यह रोग क्षय रोग है। उसका विश्वास उसके अपने निर्णय में भी केवल संभाव्यमात्र है, कोई दूसरा स्यात् इससे अधिक अच्छा निदान (या निर्णय) करता। ऐसे संभाव्य विश्वासों को, जो संभाव्य होने पर भी किन्हीं निश्चित व्यापारों के प्रसंग में उपायों के वास्तविक विनियोग के आधार होते हैं, मैं कार्यकारी (प्रागमाटिशन्) विश्वास का नाम देता हूँ।

कोई मनुष्य जिस बात का दावा करता है, वह उसकी मान्यता (या धारणा) मात्र है, अथवा कम से कम उसका आत्मगत विश्वास, अर्थात् दृढ़ श्रद्धा है, इसकी प्रायिक कसौटी पणन, या बाज़ी लगाना है। बहुधा कुछ मनुष्य अपनी सम्मतियों (या प्रस्थापनाओं) को इतने साहसपूर्ण और असमझौते की भावना से भरे हुए भरोसे के साथ प्रस्तुत करते हैं कि मानों ऐसा लगता है कि इन लोगों ने संभाव्य गलती या भ्रान्ति की संभाव्यता के सभी विचारों को उठा कर ताक में रख दिया है। परिपणन या दाव लगाना ऐसों को डगमगा (या डाँवाडोल कर) देता है। कभी कभी ऐसा हो जाता है कि उसका विश्वास ऐसा होता है जिसका मूल्य एक डुकाट् आँका जा सकता है, दस डुकाट् नहीं। क्योंकि वह प्रथम डुकाट् की बाज़ी लगाने के लिये तो बहुत इच्छुक (अथवा तैयार) रहता है, पर दस डुकाट् की बाज़ी का प्रसंग उपस्थित होने पर उसको सर्वप्रथम यह भान होता है, जिसके विषय में उसने इसके पूर्व ध्यान नहीं दिया था कि यह भी बहुत कुछ संभव है कि स्यात् वह स्वयं गलती कर रहा है। यदि विचार में यह प्रत्युपस्थापित किया जाए कि समस्त जीवन के सुख की बाज़ी लगानी पड़ रही है, तो हमारी विजयगर्विता विभावना (या निर्णय) बहुत घट जाती है, हम अत्यन्त झेंपने लगते हैं और हमको प्रथम बार यह पता लगता है कि हमारा विश्वास इतनी दूर तक नहीं पहुँचता। इस प्रकार व्यावहारिक विश्वास सर्वदा किसी विशिष्ट मात्रा में रहा करता है, जो कि बाज़ी पर लगे हुए हितों (या स्वार्थों) के भेद के अनुसार, बड़ी मात्रा में भी हो सकता है और छोटी में भी।

परन्तु क्योंकि बहुत से प्रसंगों में, जब कि हमारा वास्ता ऐसे विषय से होता है जिसके संबंध में हम कुछ भी उपक्रम नहीं कर सकते, तथा इस प्रकार जिसके संबंध में

हमारी उसको सत्य मानने की विभावना केवल सैद्धान्तिक होती है, तो भी बहुत से प्रसंगों में, हम एक ऐसे उपक्रम को विचार में धारण कर सकते हैं, और अपने लिये कल्पित कर सकते हैं, जिसके लिये हम यह समझते हैं कि हमारे पास पर्याप्त आधार (या आधारभूत हेतु) है, बशर्ते कि उस विषय में निश्चितता के निर्धारित करने का कोई उपाय हो (जैसा कि होता नहीं है); इस प्रकार विशुद्ध सैद्धान्तिक विभावनाओं में भी व्यावहारिक विभावनाओं का सादृश्य पाया जाता है,जिसके सत्य मानने के लिये विश्वास शब्द ठीक प्रतीत होता है, तथा जिसको हम सैद्धान्तिक विश्वास नाम दे सकते हैं। यदि किसी अनुभव के द्वारा इस प्रश्न को निर्धारित करना संभव होता तो मैं अपनी ऐहिक सम्पत्ति की बाज़ी इस बात पर लगा देने को तैयार हो जाता कि जिन ग्रहों को हम देखते हैं उनमें से कम से कम कोई एक निवासियों से युक्त है। इसलिये मैं कहता हूँ कि "दूसरी दुनियाँओं में भी निवासी हैं" यह कथन केवल कोरा अभिमत ही नहीं है प्रत्युत एक सुदृढ़ (या प्रबल) विश्वास है (जिसके सत्य होने पर मैं जीवन की बहुत सी सुविधाओं की बाज़ी लगा दूँगा)।

अब हमको इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिये कि ईश्वर के अस्तित्व का सिद्धान्त , सैद्धान्तिक विश्वासों से संबंध रखता है। क्योंकि यद्यपि जहाँ तक संसार के सैद्धान्तिक ज्ञान का संबंध है, मैं कोई ऐसी बात प्रस्तुत (या उद्धृत) नहीं कर सकता, जो इस विचार को, दुनियाँ के अवभासों के मेरे स्पष्टीकरणों के प्रतिबन्ध के रूप में अनिवार्य पूर्वकल्पित आधार बना देगी, प्रत्युत इससे कहीं अधिक तो मैं अपनी बुद्धि को ऐसे प्रकार से काम में लाने के लिये बाधित हूँ कि सब कुछ शुद्ध प्रकृति हो, फिर भी सोद्देश्य एकता बुद्धि को प्रकृति के प्रति लागू करने का इतना बड़ा प्रतिबन्ध है कि मैं बिलकुल भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता, विशेष कर इसलिये क्योंकि अनुभव मुझको इतनी सम्पन्नता के साथ उसके उदाहरण प्रदान करता है। पर इस उद्देश्य की एकता के संबंध में मैं इस प्रतिबन्ध (या शर्त) के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं जानता जो इसको मेरे लिये नेतृत्व प्रदान करने वाला सूत्र बनाए, कि मैं यह पूर्वत: कल्पना करूँ कि एक परम बुद्धिमत्ता ने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण लक्ष्यों के अनुसार समस्त वस्तुओं की व्यवस्था की है। परिणामत: किसी निश्चिततया संभाव्य किन्तु ऐसे लक्ष्य की, जो कि महत्त्वशून्य नहीं है, शर्त के रूप में, अर्थात् प्रकृति के अनुसंधान पथप्रदर्शन प्राप्त करने के लिये, संसार के बुद्धिमान कर्ता (या रचयिता) को पूर्वत: मानकर चलना ही पड़ता है। मेरे प्रयोगों (या प्रयत्नों) का परिणाम इस आधारभूत पूर्वमान्यता की उपयोगिता को इतनी बार पुष्ट करता है और दूसरी ओर इसके विपक्ष में निर्णायक प्रकार से कुछ भी उद्धृत नहीं किया जा सकता कि यदि मैं अपने

इस बात को सत्य मानने को केवल अपना अभिमतमात्र कहूँ तो मैं अपनी बात को बहुत घटा कर कह रहा हूँ, प्रत्युत इस सैद्धान्तिक संबंध तक में भी यह कहा जा सकता है कि मैं दृढ़तापूर्वक ईश्वर में विश्वास रखता हूँ; किन्तु इस अवस्था में भी यह विश्वास शब्दों के कठोर और ठीक-ठीक नपे तुले आशय के अनुसार व्यावहारिक फिर भी नहीं है, प्रत्युत यह तो ऐसा सैद्धान्तिक विश्वास कहलाएगा जिसको प्राकृतिक देवविज्ञान (भौतिक देवविज्ञान) सर्वदा अनिवार्यतया उत्पन्न करता है। इसी बुद्धिमत्ता में, तथा मानवीय स्वभाव को प्राप्त हुए प्रमुख श्रेष्ठ वरदानों में, जीवन की अपर्याप्त स्वल्पता के मिलने पर, मानवीय आत्मा के भावी जीवन के संबंध में सैद्धान्तिक विश्वास का एक और पर्याप्त आधार प्राप्त हो सकता है।

ऐसे प्रसंगों में विश्वास की अभिव्यंजना, वैषयिक दृष्टिकोण से विनय या विनम्रता की अभिव्यंजना है, किन्तु इसके साथ ही साथ, विषयी के दृष्टिकोण से हमारे विश्वास की दृढ़ता की अभिव्यंजना है। यदि यहाँ मैं इसे केवल सैद्धान्तिक सत्य मानने को केवल उपकल्पना या अधिष्ठापना का भी नाम क्यों न देना चाहूँ, जिसको मानना मेरे लिये पूर्णतया न्यायोचित है, तो भी मैं अपने आपको जगत् के कारण की घटना और दूसरी दुनियाँ की संघटना के उससे अधिक उपयुक्त (पर्याप्त) संबोध को रखने के लिये वचनबद्ध करूँगा, जिसको कि मैं वास्तव में प्रदर्शित कर सकता हूँ; क्योंकि जिस वस्तु को केवल अधिष्ठापना (या उपकल्पना) के भी रूप में स्वीकार करता हूँ, तो भी उसकी विशेषताओं के अनुसार उसके संबंध में कम से कम इतना तो जानना चाहिये ही कि मैं उसके संबोध को नहीं प्रत्युत केवल उसकी सत्ता को तो घड़ (गढ़) सकूं। 'विश्वास' शब्द का संकेत केवल उस मार्गदर्शन की ओर है जो एक भाव मुझको प्रदान करता है, और मेरी बुद्धि के कार्यों को आगे बढ़ाने पर उस भाव का जो विषयिगत प्रभाव है उसकी ओर है (जो प्रभाव) मुझे उस भाव को दृढ़तापूर्वक पकड़ रखने की प्रेरणा देता है, यद्यपि मैं अपने को चिन्तनात्मक दृष्टि से उसका विवरण प्रस्तुत करने की स्थिति में भले ही नहीं पाता हूँ।

परन्तु विशुद्ध सैद्धान्तिक विश्वास अपने आप में कुछ अस्थिरता से युक्त होता है; चिन्तन संबंधी कठिनाइयों के कारण, जो प्रायः उपलब्ध होती रहती हैं, उससे हमारा संबंध विच्छिन्न हो जाता है, यद्यपि अन्त में हम पुनः अनिवार्यतया उसके प्रति लौट आते हैं।

आचार संबंधी विश्वास की अवस्था इससे बिलकुल भिन्न है। क्योंकि यहाँ तो यह नितान्त अनिवार्य है कि कुछ घटित होना ही चाहिये, अर्थात् मुझको सर्वांशतः नीति-नियमों का पालन करना ही चाहिये। यहाँ (हमारा) लक्ष्य अपरिहार्यतया

दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुका है, तथा मेरी समस्त अन्तर्दृष्टि के अनुसार केवल एक अकेली ऐसी शर्त संभव है जिसके अधीन यह लक्ष्य अन्य सब एकत्रित लक्ष्यों के साथ संबद्ध हो सकता है, और उसके द्वारा व्यावहारिक प्रामाणिकता प्राप्त कर सकता है, (तथा जो शर्त) यह है कि ईश्वर और भावी जगत् का अस्तित्व हो; मैं यह भी पूर्ण निश्चितता के साथ जानता हूँ कि कोई भी व्यक्ति ऐसे अन्य प्रतिबन्धों को नहीं जानता जो नीति (या आचार) के नियमों के अधीन लक्ष्यों की उसी एकता तक ले जाने वाले हों। अतएव, क्योंकि नीति (या सदाचार) की शिक्षा साथ ही साथ मेरा सिद्धान्त-सूत्र है (जैसा कि बुद्धि का आदेश है कि वह ऐसी हो) मैं ईश्वर और भावी जीवन के अस्तित्व में अनिवार्यतया विश्वास करता हूँ, और मैं इस विषय में निश्चिन्ततया निश्चित हूँ कि इस विश्वास को कुछ भी विचलित नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा होने से मेरे आचार-संबंधी सिद्धान्त स्वयमेव अभिभूत हो जाएँगे, जिन (सिद्धान्तों) का प्रत्याख्यान मैं स्वयं अपनी आँखों में घृणास्पद हुए बिना नहीं कर सकता।

इस प्रकार, समस्त अनुभव की सीमा के परे घुमक्कड़ी करने वाली बुद्धि के सभी महत्त्वाकांक्षी प्रयोजनों के निष्फल हो जाने के पश्चात् भी, पर्याप्त ऐसी बात बच रहती है कि जिसके आधार पर हमको व्यावहारिक दृष्टि से सन्तुष्ट होने का कारण रहता है। निःसन्देह, निश्चय ही कोई व्यक्ति अभिमानपूर्वक यह नहीं कह सकेगा कि मैं यह जानता हूँ कि ईश्वर और भावी जीवन (या परलोक) है, क्योंकि यदि वह ऐसा जानता होगा तो निश्चयमेव वह मनुष्य होगा जिसको मैं दीर्घकाल से खोजता रहा हूँ (परन्तु पा नहीं सका हूँ)। समस्त ज्ञान, (यदि उसका वास्ता मात्र बुद्धि के विषय से हो) दूसरों में संचरित किया जा सकता है, और इसलिये मैं भी उसकी शिक्षा के द्वारा अपने ज्ञान को ऐसी आश्चर्यजनक मात्रा में विस्तीर्ण हुआ देखने की आशा करता हूँ। नहीं, यही नहीं, यह सम्प्रत्यय (या आस्था) यौक्तिक (लॉजीकल) नहीं, प्रत्युत नैतिक निश्चितता है, और क्योंकि यह (नैतिक भावना के) विषयिगत आधारों पर आश्रित (या निर्भर) है अतः मुझको यह भी नहीं कहना चाहिये कि यह बात नीत्या सुनिश्चित है ईश्वर है इत्यादि, प्रत्युत यह कहना चाहिये कि "मैं नीत्या निश्चय रखता हूँ" इत्यादि। दूसरे शब्दों में यूँ कहना चाहिये कि ईश्वर और परलोक का विश्वास मेरी नैतिक भावना के साथ इतने घनिष्ट भाव से संग्रथित (या ओत-प्रोत) है कि जब मेरे इस दूसरी बात (=नैतिक भावना) को गँवा बैठने का भय बहुत कम है तब उतना ही कम भय इस बात का भी है कि प्रथम (=ईश्वर और परलोक का विश्वास) कभी मुझसे छीना जा सकता है।

इस उपर्युक्त विवेचन से जो शंका उपस्थित होती है वह यह है कि यह बौद्धिक

विश्वास नैतिक भावनाओं की मान्यता पर आधारित है। यदि हम इन (नैतिक भावनाओं) को एक ओर छोड़ दें, और एक ऐसे मनुष्य को लें जो नैतिक नियमों के संबंध में पूर्णतया उदासीन हो, तो बुद्धि (या विवेक) के द्वारा प्रस्तुत किया हुआ प्रश्न चिन्तन के लिये एक समस्यामात्र बन कर रह जाता है, और ऐसी दशा में यह निश्चय ही सादृश्य से प्राप्त सुदृढ़ आधारों द्वारा समर्थित किया जा सकता है पर ऐसे आधारों से समर्थित नहीं होता जिनके प्रति धृष्टतम संशयवाद को भी झुकना पड़े[कां.]। पर कोई भी मनुष्य इन प्रश्नों में समस्त अभिरुचि या स्पृहा से मुक्त नहीं है। क्योंकि, यद्यपि, भली भावनाओं के अभाव में नैतिक अभिरुचि से विच्छिन्न हो सकता है, फिर ऐसी दशा में भी बहुत कुछ ऐसा अवशिष्ट रह जाता है जिसके कारण वह ईश्वर के अस्तित्व और भावी जीवन (=परलोक) से डरा करता है। क्योंकि इसके लिये इसकी अपेक्षा इससे अधिक और किसी बात की आवश्यकता नहीं होती कि वह कम से कम इस विषय में किसी निश्चितता का बहाना नहीं कर सकता कि किसी ऐसे सत्त्व (=ईश्वर) और भावी जीवन (परलोक) की प्राप्ति नहीं हो सकती, (और) यह एक ऐसी बात है जिसको केवल बुद्धि के द्वारा सिद्ध करना और इसीलिये स्वयंसिद्धि के प्रकार से सिद्ध करना पड़ेगा, अतः उसको दोनों की असंभाव्यता को सिद्ध करना पड़ेगा, जिस कार्य को करने का उपक्रम निश्चय ही कोई भी सविवेक मानव नहीं कर सकता। यह एक निषेधात्मक (या नकारात्मक) विश्वास होगा, जो निश्चय ही सदाचार (=नीति) और सद्-भावनाओं को तो जन्म नहीं देगा, किन्तु फिर भी इसके प्रति सदृश् तत्वों को तो अर्थात् दुष्ट भावनाओं के उद्भेद के प्रति बाधाओं को तो, उत्पन्न कर ही सकेगा।

पर यह कहा जाएगा कि यह जो शुद्ध बुद्धि अनुभव की सीमाओं के परे के दृष्टि-गोचर प्रदेशों को उद्घाटित करती है, उससे जो कुछ प्राप्त करती है क्या वह सब यही है? क्या विश्वास के दो तत्वों (या नियमों) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं? निश्चय ही, इतनी सिद्धि तो, दार्शनिकों को सलाह देने के लिये बिना घसीटे, साधारण बोधवृत्ति (मामूली सूझ-बूझ) भी प्राप्त कर ही सकती थी!

मैं यहाँ उस सेवा का बखान नहीं करूँगा जो (यह मानते हुए भी कि अन्त में यह सेवा निषेधात्मक या नकारात्मक सिद्ध होती है) दर्शनशास्त्र ने अपनी आलोचना

कां. मानवीय मस्तिष्क (और जैसा कि मेरा विश्वास है, प्रत्येक विवेकवान प्राणी के संबंध में भी यही बात अनिवार्यतया घटित होगी, कि प्रत्येक विवेकी जीव भी) नीति या सदाचार के विषय में प्रकृत्या रुचि रखता है, यद्यपि यह रुचि अविभाजित: और व्यावहारिक दृष्टि से अतिभारशालिनी नहीं होती।

की परिश्रमपूर्ण चेष्टाओं के द्वारा मानवीय बुद्धि के प्रति की है; क्योंकि इस सम्बन्ध में आगामी खंड में भी कुछ कहा जाएगा। पर आपके प्रश्न के उत्तर में मैं आपसे यह जानना चाहूँगा कि क्या आप यह चाहते हैं कि वह ज्ञान जिसका सब मनुष्यों से वास्ता है, सामान्य बोधवृत्ति से अतीत (साधारण सूझबूझ की पहुँच से परे) होना चाहिये, और आपके लिये दार्शनिकों के ही द्वारा उद्‌घाटित किया जाना चाहिये ? वही बात, जिसमें आप दोष निकाल रहे हैं, हमारे अब तक के कथनों (या दावों) के सही होने की सर्वश्रेष्ठ सम्पुष्टि है, क्योंकि यह उस तथ्य को उद्‌घाटित करती है, जिसको आरंभ में पहले से नहीं देखा जा सकता था, अर्थात् प्रकृति, उन सब बातों में जिनका संबंध बिना भेद-भाव के सब मनुष्यों से है, अपने (वर-) दानों के किसी पक्षपात-पूर्ण वितरण की दोषी नहीं है, तथा मानवीय प्रकृति के सारवान् लक्ष्यों में सर्वोच्च दर्शनशास्त्र वहाँ से आगे नहीं बढ़ सकता जहाँ तक उसे मार्गदर्शन से पहुँचना संभव है जिसको उसने सामान्यतम बोधवृत्ति को प्रदान किया है।

अनुभवातीत पद्धति विज्ञान

तृतीय अध्याय

शुद्ध बुद्धि की संस्थान-निर्माण-विधि

संस्थान-निर्माण-विधि से मेरा आशय संस्थान के संघटित करने की कला से है। जिस प्रकार संव्यवस्थित एकता वह तत्व है जो साधारण ज्ञान को उठाकर विज्ञान की उच्च पदवी पर स्थापित कर देता है, अर्थात् ज्ञान के केवल संग्रहमात्र को एक संस्थान (सिस्टम) बना देता है, उसी प्रकार संस्थान-निर्माण-विधि हमारे ज्ञान सामान्य में वैज्ञानिक-तत्व-संबंधी सिद्धान्त है, इसलिये उसका संबंध अनिवार्यतया पद्धति-विज्ञान से है।

बुद्धि के शासन के अन्तर्गत, हमारे ज्ञान के विभिन्न प्रकार सामान्यत: कथा-वार्ता (राप्-सोडी) नहीं रहने चाहिये, प्रत्युत संस्थान के रूप में संघटित हो जाने चाहिये,

---

(पिछले पृष्ठ की टिप्पणी का शेष) यदि आप इस अभिरुचि को अधिक बलवान् और प्रवर्द्धित बनाएँगे तो आप चिन्तनात्मक अभिरुचि को व्यावहारिक अभिरुचि के साथ संयुक्त करने के लिये भी बुद्धि को अत्यधिक शिक्षाग्रहण करने के प्रवण और स्पष्ट प्रकाश युक्त पाएँगे। परन्तु यदि आप इस बात का प्रयत्न नहीं करते कि पहले आप कम से कम मनुष्यों के अर्धमार्ग तक अच्छा मनुष्य बनाएँ तो आप उनको कभी भी प्रामाणिक (या ईमानदार) श्रद्धालु विश्वासी नहीं बना सकते।

क्योंकि इसी प्रकार से ही बुद्धि के सारभूत लक्ष्य समर्थित और विवर्द्धित हो सकते हैं। संस्थान शब्द से मैं एक भाव (या विचार) के अधीन ज्ञान के विविध प्रकारों की एकता का आशय ग्रहण करता हूँ। यह भाव (या विचार) किसी अवयवी के आकार का बुद्धि द्वारा दिया हुआ संबोध है, तथा उस सीमा तक है जहाँ तक कि संबोध न केवल प्रागनुभवात्मकतया अपने विविधतापूर्ण अन्तर्विष्ट विषय के प्रसर निर्धारित करता है अपितु उन स्थानों का भी निर्धारण करता है जो उसके भाग परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा ग्रहण करते हैं। अतएव बुद्धि का वैज्ञानिक संबोध उस अवयवी के लक्ष्य और आकार को अपने में अन्तर्विष्ट रखता है, जो इस अपेक्षा के के साथ समनुरूप है। लक्ष्य की एकता जिसमें कि समस्त अवयव संबद्ध रहते हैं, तथा जिसके भाव में वे सब के सब परस्पर संबद्ध होते हैं, हमको इस योग्य बना देती है कि कि हम अपने शेष अवयवों के ज्ञान से इस बात का निर्धारण कर सकें, कि कोई सा अवयव खोया हुआ है, (अथवा नहीं) तथा उसकी सीमाओं में किसी स्वच्छन्द वृद्धि को, अथवा उसकी पूर्णता की दृष्टि से किसी ऐसी अस्पष्टता जो उसकी सीमाओं के समनुरूप न हो, रोक सकें। इस प्रकार अवयवी एक सुसंघटित एकता होता है न कि अंगों का समूह (कोआकेर्वाटियो) ; वह भीतर से वृद्धि को प्राप्त हो सकता है पर बाह्यतः जोड़-जुगाड़ से नहीं बढ़ सकता और यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे कि जीवधारी के शरीर में होता है, जिसकी वृद्धि, किसी नवीन अंग के जुड़ने से नहीं होती, प्रत्युत बिना उन अंगों के अनुपात को बदले, उन में से प्रत्येक को उसके प्रयोजन या लक्ष्य के लिये अधिक सबल और दक्ष बनाकर होती है।

भाव की कार्यान्विति के लिये काल्पनिक आकृति (स्कीमा) की अपेक्षा होती है, अर्थात् एक सारभूत विविधता और उसके अवयवों की क्रमव्यवस्था आवश्यक होती है, जो दोनों ही उसके लक्ष्य के द्वारा निश्चित सिद्धान्त से प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित किये गये होने चाहिये। वह काल्पनिक आकृति, जो किसी भाव के अनुसार प्रकल्पित नहीं होती अर्थात् बुद्धि के चरम लक्ष्य के अनुसार प्रकल्पित नहीं होती, प्रत्युत ऐसे उद्देश्यों के अनुसार, आनुभविकतया प्रकल्पित होती है जो संभाव्यता से स्वयं आपतित होते हैं (जिनकी संख्या पूर्वतः नहीं जानी जा सकती), एक पारिभाषिक एकता प्रदान करती है, पर वह काल्पनिक आकृति जो किसी भाव के परिणाम स्वरूप प्रादुर्भूत होती है (जिसमें बुद्धि लक्ष्यों के आनुभविकतया दिये जाने की प्रतीक्षा नहीं करती प्रत्युत, उनको स्वयं प्रागनुभवात्मकतया प्रतिपादन करती है) संस्थान-निर्मापक एकता के आधार का काम देती है। जिसको हम विज्ञान का नाम देते हैं, जिसकी काल्पनिक आकृति में भाव के अनुसार, अर्थात् प्रागनुभवात्मकतया प्रकल्पित बाहरी

रूपरेखा तथा अवयवी का अवयवों में विभाजन अवश्यमेव अन्तर्विष्ट होना चाहिये, तथा जिसे इसको सिद्धान्तों के अनुसार निश्चयमेव अन्य सब कुछ से बिलकुल अलग रखना चाहिये, वह (विज्ञान नाम की वस्तु) अपने विविध अंगों के सादृश्य के अनुसार, अथवा सब प्रकार के बाह्य वैकल्पिक उद्देश्यों के लिये ज्ञान के संभाव्य मूर्त विनियोग विनियोग के अनुसार प्राविधिकतया निर्मित (या रचित) नहीं होती, प्रत्युत उसके अवयवों के सहज निकट संबंध तथा उनकी एक अकेले चरम और आन्तरिक लक्ष्य से व्युत्पत्ति को दृष्टि में रखते हुए जो कि अवयवी सर्वप्रथम संभाव्य बनाती है, उसकी रचना संस्थान-निर्माण-विधि से ही संभव है।

कोई भी व्यक्ति, बिना (उस विज्ञान के) आधारभूत भाव के, किसी विज्ञान की स्थापना का प्रयत्न नहीं करता। परन्तु उसके परिष्कारपूर्वक निष्पादन में, वह काल्पनिक आकृति (स्कीमा) ही क्या, उसकी वह परिभाषा तक, जो उसने आरंभ में अपने विज्ञान के लिये दी थी, अत्यन्त विरलतया उसके भाव से मेल खाती है, क्योंकि यह भाव तो बुद्धि में बीज के तुल्य छिपा पड़ा रहता है, जिसमें तद्गत अवयव अभी अविकसित होते हैं, और अणुवीक्षणात्मक निरीक्षण वे द्वारा भी कठिनता से ही पृथक् पृथक् देखे जाने के योग्य होते हैं। इसलिये, क्योंकि सभी विज्ञान एक निश्चित व्यापक (या सार्वजनिक) हित के दृष्टिकोण से प्रकल्पित (या नियोजित) की जाती हैं, उनकी व्याख्या और निर्धारणा उनके संस्थापक के दिये हुए विवरण के अनुसार नहीं की जानी चाहिये, प्रत्युत उस भाव के अनुसार की जानी चाहिये, जो उसके संघटक अवयवों की प्रकृत एकता से स्वयं बुद्धि में ही आश्रित पाया जाता है। क्योंकि तब यह देखने में आएगा कि, स्वयं संन्थापक, और बहुधा उसके अ धुनिकतम अनुयायी तक एक भाव के आस-पास अँधेरे में टटोल रहे हैं, तथा उस भाव को वे स्वयं अपने प्रति भी स्पष्ट नहीं कर पाये हैं, और इसी कारण वे उस विज्ञान के विशिष्ट अन्तर्विष्ट विषय, सन्विसन्निवेश (आर्टीकुलेशन या संव्यवस्थित एकता) एवं उसकी सीमाओं (या मर्यादाओं) को भी निर्धारित नहीं कर सके हैं।

यह बड़े खेद की बात है कि केवल पहले पहल, हमारे दीर्घकाल तक, अपने भीतर छिपे हुए भाव की प्रेरणा के अनुसार, अटकलपच्चू किसी विज्ञान से संबद्ध जानकारी को प्रभूत मात्रा में निर्माण-सामग्री के रूप में इकट्ठा कर लेने पर, इतना ही नहीं, बहुत लम्बे समय तक उसको प्रविधि के अनुसार ग्रथित कर लेने के पश्चात् तब कहीं पहले हमारे लिये यह संभव होता है कि हम उस भाव को निर्मल प्रकाश में देख पाते हैं, और समस्त अवयवी को बुद्धि के (या विवेक) लक्ष्यों के अनुसार संस्थान-निर्माण-विधि से प्रकल्पित कर पाते हैं। ऐसा लगता है कि (विविध) संस्थान (सिस्ट-

म्स) निम्नकोटि के कीड़े मकोड़ों के समान, एक प्रकार द्विविध (या संदिग्ध) प्रजनन से (गैनेराटियो अइक्विवोका से) एकत्रित संवेगों के संगमन मात्र से विकसित हुए हैं, आरंभ में अपूर्ण रहें और कालक्रम से शनैः शनैः पूर्णता को प्राप्त हुए हैं, यद्यपि उन सब ही की काल्पनिक आकृति (स्कीमा) उनके आद्य मौलिक बीज के रूप में बुद्धि या विवेक में विद्यमान थी, उस बुद्धि में जो स्वयं भी केवल विकसित हो रही थी; अतएव न केवल उनमें से प्रत्येक किसी भाव के अनुसार अंगाभिव्यक्ति को प्राप्त हुआ है, अपितु वे सबके परस्पर एक अवयवी के अवयवों के रूप में मानवीय ज्ञान के संस्थान के अन्तर्गत सोद्देश्यतया एकत्र समन्वित हैं, और एक समस्त मानवीय ज्ञान की संस्थान-निर्माण-विधि की अनुज्ञा देते हैं, जो वर्त्तमान समय में, जबकि इतनी अधिक सामग्री एकत्रित हो चुकी है, अथवा प्राचीन काल के विध्वस्त संस्थानों के भवनों के खँडहरों से प्राप्त की जा सकती है, न केवल संभव है, अपितु उतनी कठिन भी नहीं है। यहाँ अब हम अपने आपको अपने व्यवसाय की पूर्ति से ही सन्तुष्ट मानेंगे, अर्थात् शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न होने वाली समस्त ज्ञान की संस्थान-निर्माण-विधि की रूप-रेखा प्रस्तुत करने से ही अपने को कृतकृत्य समझेंगे, और इस कार्य का आरंभ वहाँ से करेंगे जहाँ पर हमारे ज्ञान का मूल दो स्कन्धों में विभक्त होता है, जिनमें से एक बुद्धि है। बुद्धि से मैं यहाँ ज्ञान की समस्त उच्चतर शक्ति का अर्थ ग्रहण करता हूँ और इस प्रकार बौद्धिक को आनुभविक के प्रतिपक्ष के रूप में स्थापित करता हूँ।

ज्ञान का वैषयिक दृष्टि से विचार करते हुए, यदि मैं उसके अन्तर्विष्ट विषय (इन् हाल्टे=कॉण्टैण्ट्स) की ओर बिलकुल ध्यान दूँ, तो विषयी या प्रमाता की दृष्टि से समस्त ज्ञान या तो ऐतिहासिक होता है या बौद्धिक। ऐतिहासिक ज्ञान दिए हुए विषयोपादान से प्राप्त ज्ञान (कॉग्नीटियो ऐक्स् डाटिस्) होता है तथा बौद्धिक ज्ञान सिद्धान्तों से प्राप्त ज्ञान (कॉग्नीटियो ऐक्स प्रिन्किपिइस्) होता है। कोई ज्ञान मूलतः चाहे कैसे भी क्यों न दिया हुआ हो, तथापि यह ज्ञान उस व्यक्ति के संबंध में जो कि इस ज्ञान को रखता है, अर्थात् जो इसका प्रमाता है ऐतिहासिक ज्ञान ही होता है, बशर्ते कि वह इस ज्ञान का उतना ही अंश जानता हो जितना उसको बाहर से दिया गया है, फिर चाहे यह उस को प्रत्यक्ष सीधे अनुभव से, अथवा वर्णन से अथवा (सामान्य ज्ञान की) शिक्षा के द्वारा भी क्यों न प्राप्त हुआ हो। अतः वह व्यक्ति, जिसने किसी दर्शन संस्थान को, जैसे उदाहरण के लिये वौल्फ के संस्थान ने वास्तविकतया सीख लिया है, यद्यपि वह समस्त सिद्धान्तों को, परिभाषाओं को, उपपत्तियों को और साथ ही साथ समस्त सिद्धान्त-शरीर के विभागों को अपने मस्तिष्क में भरे हुए हो, और इन सबको अँगुलियों पर गिन सकता हो, तथापि वह वौल्फ

के दर्शन के ऐतिहासिक ज्ञान से अधिक और कुछ नहीं जानता; वह उतना ही जानता है और उतने के ही संबंध में निर्णय करता है जितना उसको दिया गया है। यदि उसकी एक परिभाषा के विषय में विवाद छिड़ जाए तो वह यह जानता है कि दूसरी परिभाषा कहाँ से लाए। क्योंकि उसने अपनी बुद्धि को पराई बुद्धि के सहारे शिक्षित किया है, पर अनुकरण की शक्ति स्वयं उत्पादक नहीं होती, अर्थात् उसमें उसका ज्ञान बुद्धि से उत्पन्न नहीं हुआ है, और यद्यपि वैषयिक दृष्टि से सचमुच ही बुद्धि से उत्पन्न हुआ ज्ञान है तथापि विषयी या प्रमाता की दृष्टि से यह केवल ऐतिहासिक ज्ञान है। उसने भले प्रकार से इसको अवधृत (रक्षित) कर लिया है अर्थात् सीख लिया है और इस प्रकार एक जीवित व्यक्ति की गारे की ढली प्रतिमा बन गया है। बौद्धिक ज्ञान के वे प्रकार, जो वैषयिकतया विवेकात्मक हैं (अर्थात् जो मूलतः केवल मानव की अपनी बुद्धि से ही उत्पन्न हो सकते हैं) विषयी की दृष्टि से भी तभी ऐसे (अर्थात् विवेकात्मक) कहे जा सकते हैं, जबकि वे बुद्धि के सर्वव्यापी उद्गमों से व्युत्पादित हुए हों, जिन उद्गमों से आलोचना भी उत्पन्न हो सकती है, नहीं इतना ही क्यों, जिस से जो कुछ सीखा गया है उसकी निकृति या प्रत्याख्यान भी उत्पन्न हो सकता है— अर्थात् वे, संक्षेप में सिद्धान्तों से व्युत्पन्न हुए होने चाहिये।

अब जहाँ तक बुद्धि के ज्ञान का प्रश्न है वह या तो संबोधों से उत्पन्न होता है अथवा संबोधों की संघटना (या निर्मिति) से ; इनमें से प्रथम दार्शनिक ज्ञान कहलाता है एवं द्वितीय गणित-संबंधी ज्ञान। इन दोनों के आन्तरिक भेद का प्रतिपादन मैं पहले ही प्रथम अध्याय में कर चुका हूँ। जैसा कि हम देख चुके हैं ज्ञान वैषयिकतया दार्शनिक, तथापि विषयिदृष्ट्या ऐतिहासिक हो सकता है, जैसा कि बहुधा नौसिखियों के प्रसंग में हुआ करता है, तथा उन सबके विषय में भी होता है जो अपने स्कूल से परे कभी नहीं देखते तथा जो आजीवन नौसिखिये ही बने रहते हैं। परन्तु यह भी एक आश्चर्यजनक बात है कि गणित का ज्ञान, ज्योंही कोई व्यक्ति उसको सीख लेता है, त्योंही विषयी की दृष्टि से भी बौद्धिक ज्ञान माना जा सकता है, और इस कारण इस ज्ञान में उस प्रकार का भेद घटित नहीं होता जैसा कि दार्शनिक ज्ञान के संबंध में पाया जाता है। कारण यह है कि ज्ञान के वे स्रोत केवल जिनसे गणित का शिक्षक अपने ज्ञान ग्रहण कर सकता है, बुद्धि के सारभूत और असली सिद्धान्तों के अतिरिक्त और कहीं स्थित नहीं होते, और इसलिये शिष्य के द्वारा वे और किसी स्थान से ग्रहण नहीं किये जा सकते और न निरस्त ही किये जा सकते हैं, और यह निश्चय ही यहाँ इस कारण होता है, क्योंकि यहाँ बुद्धि का विनियोग, यद्यपि होता है इसी प्रकार प्रागनुभवात्मकतया, (तथापि) होता है मूर्त रूप में, अर्थात्

शुद्ध और इस कारण दोषरहित प्रत्यक्षानुभव में होता है, और इस प्रकार समस्त भ्रान्तियों और गलतियों को अपवर्जित कर देता है। अतएव समस्त (प्रागनुभवात्मक) बौद्धिक विज्ञानों के मध्य में केवल गणित ही सीखा जा सकता है, दर्शनशास्त्र (केवल ऐतिहासिक प्रकार से सीखने के अतिरिक्त) कभी नहीं सीखा जा सकता; जहाँ तक बुद्धि का संबंध है, अधिक से अधिक दार्शनिक पद्धति से विचार करना सीखा जा सकता है।

दर्शनशास्त्र समस्त दार्शनिक ज्ञान का संस्थान है। यदि इसको समस्त दार्शनिक प्रकार से विचार करने के प्रयत्नों के मूल्यांकन का मूलादर्श (आर्केटाइप) का आशय समझा जाता है, जिसको प्रत्येक विषयीगत दर्शन के मूल्यांकन के लिये काम देना है, जिन दर्शनों की संरचना बहुधा विविध प्रकार की और अत्यन्त परिवर्तनशील होती है, तो इसको वैषयिकतया ग्रहण किया जाना चाहिये। इस प्रकार दर्शनशास्त्र एक ऐसे संभावित विज्ञान का सम्प्रत्यय है, जो मूर्त रूप में कहीं भी दिया हुआ (उपलब्ध) नहीं है, पर जिसके समीप पहुँचने का प्रयत्न बहुत से मार्गों से किया जाता है, और तब तक किया जाता है जब तक कि एकमात्र (सच्चा) मार्ग जो कि इन्द्रिय संवेद्यता की उपज की [illegible] से आच्छादित हो गया है, न खोज लिया जाए, और वह बिम्ब जो अब तक बहुधा असफल रहा है, आद्यमूर्ति के सादृश्य के इतना समीप नहीं पहुँच जाता जितना कि (स्वयं) मानव के भागधेय में उसको बनाना प्रदान किया गया है। तब तक हम दर्शनशास्त्र नहीं सीख सकते, क्योंकि वह कहाँ, जिसके पास है, और उसको पहचाना (भी) कैसे जाएगा? हम केवल दार्शनिक पद्धति से विचार करना सीख सकते हैं, अर्थात् कतिपय दिये हुए संपरीक्षणों पर बौद्धिक प्रज्ञा का उसके साधारण सिद्धान्तों के अनुसार, बुद्धि के इस अधिकार को सुरक्षित रखते हुए, अभ्यास कर सकते हैं कि वह इन सिद्धान्तों को उनके उद्गम में खोज सकती है और उनको स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है।

पर इस समय तक दर्शनशास्त्र का संबोध केवल एक पाण्डित्य संबंधी संबोध रहा है, अर्थात् ज्ञान के एक ऐसे संस्थान का संबोध रहा है जो केवल एक विज्ञान के रूप में अन्वेष्टव्य है, एवं जो अपने लक्ष्य के रूप में उस ज्ञान की संव्यवस्थित एकता के अतिरिक्त, अर्थात् उस ज्ञान की यौक्तिक परिपूर्णता के अतिरिक्त और कुछ अधिक नहीं रखता। पर (इसके अतिरिक्त) दर्शनशास्त्र का एक सार्वभौम (अथवा) विश्वव्यापी संबोध भी है, जो सर्वदा ही इस नाम "दर्शनशास्त्र" का आधार रहा है, विशेष कर जब यह दार्शनिक के आदर्श के रूप में मूर्तिमन्त किया गया और मूलादर्श के रूप में प्रत्युपस्थापित किया जाता है। इस अर्थ में दर्शनशास्त्र मानवीय बुद्धि के

सारभूत लक्ष्यों के साथ समस्त ज्ञान के संबंध का विज्ञान है और दार्शनिक, मानवीय बुद्धि के क्षेत्र में कलाकार नहीं है प्रत्युत स्वयं मानव बुद्धि का नियमनिर्माता है। दार्शनिक शब्द के इस अर्थ को दृष्टि में रखते हुए अपने को दार्शनिक नाम से अभिहित करना और उस मूलादर्श की बराबरी करने का दंभ करना, जो भावमात्र में ही सत्ता रखता है बड़े अभिमान की बात होगी।

गणितशास्त्री, प्रकृति-विज्ञानी तथा तर्कशास्त्री, (चाहे इनमें से प्रथम दो बौद्धिक ज्ञान के क्षेत्र में सामान्यतया प्रगति में उत्तमता के साथ कितने ही क्यों न बढ़े हुए हों, तथा इसी प्रकार अन्तिम दो दार्शनिक ज्ञान के क्षेत्र में कितनी ही प्रगति क्यों न किये हों फिर भी सबके सब हैं विवेक के क्षेत्र के कारीगर (या शिल्पकार) ही। इनके अतिरिक्त, आदर्श में (विचारित) एक गुरु होता है, जो इन सब के कार्य निर्धारित करके इनको काम पर नियोजित करता है, तथा मानवीय बुद्धि के सारभूत लक्ष्यों को प्रगति देने के लिए इनको उपकरणों के रूप में काम में लाता है। हम केवल उसी को दार्शनिक का नाम दे सकते हैं, पर क्योंकि उसकी सत्ता (आदर्श के अतिरिक्त) कहीं भी नहीं है, किन्तु उसके विधिविधान का भाव प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि में सर्वत्र पाया जाता है, अतः हम पूर्णतया इस भाव से ही संबंध रखेंगे, और इस बात का ठीक ठीक निर्धारण करेंगे कि दर्शनशास्त्र, इस विश्वव्यापी संबोध[कां.] के अनुसार अपने लक्ष्यों के दृष्टिकोण से किस प्रकार की संव्यवस्थित एकता का आदेश करता है।

सारभूत लक्ष्य इस कारण सर्वोच्च लक्ष्य नहीं होते; (बुद्धि की परिपूर्ण संव्यवस्थित एकता की दृष्टि से तो) उनमें से एक ही अकेला लक्ष्य ऐसा हो सकता है। अतएव सारभूत लक्ष्य या तो चरम लक्ष्य होता है, अथवा उसके अधीनस्थ लक्ष्य होते हैं, जो उस प्रथम (चरम लक्ष्य) के साथ अनिवार्यतया साधन के रूप में संबद्ध होते हैं। इनमें से प्रथम मनुष्य के समग्र पुरुषार्थ (बैस्टिम्मुङ्क = वोकेशन् = डेस्टिनेशन्) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथा जो दर्शनशास्त्र इस का प्रतिपादन करता है नीति- (अथवा आचार) दर्शन कहलाता है। इसी श्रेष्ठता के कारण, जो कि आचारदर्शन को बुद्धि के अन्य व्यापारों की अपेक्षा प्राप्त है, पुरातन लोग दार्शनिक शब्द (या नाम)

कां. विश्वव्यापी संबोध यहाँ उसको कहा गया है जिसका वास्ता ऐसी बात से हो जो अनिवार्यतया प्रत्येक व्यक्ति के हित (अथवा रुचि) की बात हो; अतएव, यदि किसी विज्ञान को केवल ऐसे शास्त्रमात्र के रूप में देखा जाए जो कतिपय चुने हुए अभीष्ट उद्देश्यों के लिये आकल्पित हुआ हो, तो मैं उसको पाण्डित्य-संबंधी संबोधों के अनुसार निर्धारित करूँगा।

से मुख्यतया आचारविद् (या नीतिविद्) को ही समझते थे और आजकल भी एक निश्चित सादृश्य के अनुसार किसी ऐसे मनुष्य को,बुद्धि के द्वारा आत्मसंयम का बाह्य प्रदर्शन से स्वयं दार्शनिक का नाम दिया जाता है, चाहे उसका ज्ञान कितना ही सीमित क्यों न हो।

मानवीय बुद्धि के विधान (अर्थात् दर्शनशास्त्र) के दो विषय हैं, प्रकृति और स्वतंत्रता और इसलिये उसमें न केवल प्रकृति के नियम अन्तर्विष्ट रहते हैं प्रत्युत आचार या नीति के नियम भी; जो प्रथमतः दो पृथक् पृथक् संस्थानों में प्रस्तुत किये जाते हैं पर अन्ततः दर्शन के एक अकेले संस्थान में सम्मिलित कर दिये जाते हैं। प्रकृति का दर्शन उस तत्व का प्रतिपादन करता है, जो है, नीति दर्शन उसका प्रतिपादन करता है, जो होना चाहिये।

समग्र दर्शनशास्त्र या तो शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान होता है अथवा आनुभविक सिद्धान्तों से बुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है। इनमें से प्रथम ज्ञान शुद्ध दर्शन कहलाता है तथा दूसरा आनुभविक दर्शन कहा जाता है।

शुद्ध बुद्धि का दर्शन या तो आमुख होता है जो समस्त शुद्ध प्रागनुभवात्मक ज्ञान के संबंध में बुद्धि की शक्ति का अनुसंधान करता है और आलोचना या मीमांसा कहलाता है, या दूसरे शुद्ध बुद्धि का संस्थान होता है, जो शुद्ध बुद्धि से व्युत्पादित समस्त दार्शनिक ज्ञान (सत्य और प्रातिभासिक दोनों ही प्रकार के ज्ञान) को एक संव्यवस्थित संनियोजन में अपने में समवधृत रखता है, और पराविद्या (मेटाफीजिक) कहलाता है; यद्यपि यह नाम मीमांसा के सहित समस्त शुद्ध दर्शन को भी दिया जा सकता है, जिससे कि इसके अन्तर्गत उस सब का अनुसंधान भी आ जाए जो कभी भी प्रागनुभवात्मकतया जाना जा सकता है, तथा इसके साथ ही उसका विवरण भी आ जाए जो इस प्रकार शुद्ध दार्शनिक ज्ञान-प्रकारों के संस्थान को संघटित करता है एवं जो इस प्रकार जो बुद्धि के आनुभविक और गणित-संबंधी विनियोग से पूर्णतया अलग है।

पराविद्या शुद्ध बुद्धि के चिन्तनात्मक और व्यावहारिक विनियोगों में विभाजित है और इस प्रकार या तो प्रकृति की पराविद्या होती है अथवा आचार (या नीति) की पराविद्या होती है। इनमें से प्रथम में, समस्त वस्तुओं के सैद्धान्तिक ज्ञान के संबोधोंमात्र से व्युत्पादित (अतएव गणित को छोड़ते हुए) बुद्धि के शुद्ध सिद्धान्त सन्निविष्ट रहते हैं; दूसरी में वे सिद्धान्त अन्तर्विष्ट होते हैं जो कार्यों (करने और न करने) को प्रागनुभवात्मकतया निर्धारित करते हैं और आवश्यक (या अनिवार्य) बना देते हैं। अब आचारदर्शन ही कर्मों के प्रति प्रयुक्त होने वाला अकेला स्मृति-

शास्त्र है जो मौलिक सिद्धान्तों (या तत्वों) से पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया व्युत्पादित हो सकता है। इसलिये नीति की पराविद्या यथार्थ में शुद्ध आचार-दर्शन है, जिसके आधार में कोई नृतत्वविज्ञान (अर्थात् कोई आनुभविक प्रतिबन्ध या शर्त) स्थित नहीं है। चिन्तनात्मक बुद्धि की पराविद्या वह है जिसको सम्यगर्थ में पराविद्या नाम से अभिहित किया जाता रहा है; पर जहाँ तक शुद्ध आचारदर्शन भी वास्तव में इस विशिष्ट मानवीय और निश्चयमेव दार्शनिक ज्ञान से संबद्ध है जो शुद्ध बुद्धि से व्युत्पन्न है, अत: हम इसके लिये इस नाम को (अर्थात् पराविद्या को) सुरक्षित बनाये रखते हैं; यद्यपि, क्योंकि यह इस समय हमारे उद्देश्य से वास्ता नहीं रखता इसलिये इसको एक ओर छोड़ देते हैं।

यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि ज्ञान के उन विविध प्रकारों को जो अपनी जाति और उद्गम के कारण एक दूसरे से भिन्न हैं, एक दूसरे से अलग रक्खा जाए तथा बड़ी सावधानी के साथ उनको ऐसे तत्वों (ज्ञानों) के साथ मिश्रित होने से रोका जाना चाहिये, जिनके साथ वे व्यावहारिक उपयोग में सामान्यतया संयुक्त रहते हैं। पदार्थों (या द्रव्यों) के विश्लेषण जो काम रसायन विज्ञानवेत्ता करता है, तथा जो गणितशास्त्र-वेत्ता द्वारा अपने शुद्ध गणित विज्ञान में किया जाता है, वही काम दार्शनिक के लिये और भी अधिक मात्रा में कर्त्तव्य-स्वरूप हो जाता है, जिससे कि वह बोधवृत्ति के सब ओर घुमक्कड़ी करने वाले विनियोग में हर एक प्रकार के ज्ञान के भाग को, जो वह उस विनियोग में रखता है, निर्धारित कर सके और उसकी अपनी योग्यता और प्रभाव का भी निर्णय कर सके। अतएव मानवीय बुद्धि ने जब से विचार करना, अथवा अधिक अच्छा यह कहना होगा कि अभिध्यान या अनुध्यान करना आरंभ किया है तब से वह पराविद्या के बिना नहीं रह सकी है (अथवा पराविद्या के बिना उसका काम नहीं चल सका है), पर इसके साथ ही साथ वह इसको समस्त विजातीय तत्वों से पर्याप्त मात्रा में विशुद्ध रूप में भी प्रदर्शित करने में समर्थ नहीं हो सकी है। इस प्रकार के एक विज्ञान का विचार या भाव उतना ही पुरातन है जितनी मानव की चिन्तनात्मक बुद्धि; और कौन सी बुद्धि ऐसी है जो चिन्तन नहीं करती, अब यह बात और है कि चाहे वह पाण्डित्यपूर्ण प्रकार से चिन्तन करे, चाहे जनसाधारण के ढंग से चिन्तन करे? तथापि, यह स्वीकार किया किया ही जाना चाहिये कि हमारे ज्ञान के दो तत्वों का पृथक्करण, जिनमें एक पूर्णतया प्रागनुभवात्मकतया हमारे अपने वश (या शक्ति) में है, तथा दूसरा जो केवल अनुभव के पश्चात् लोकदर्शन से ग्रहण किया जा सकता है, विचार के व्यवसायी विचारकों तक में केवल अस्पष्ट ही बना रहा है, और इसी कारण वे एक विशिष्ट के ज्ञान की

सीमाओं या मर्यादाओं को निर्धारित करने में अभी सफल नहीं हो सके हैं, और परि-णामतः उस विज्ञान के असली (या यथार्थ) भाव को भी, जिसने मानवीय बुद्धि को इतने दीर्घकाल तक तथा इतना अधिक व्यापृत रखा है, सिद्ध नहीं कर सके हैं। जब यह कहा गया कि पराविद्या मानवीय ज्ञान के प्रथम सिद्धान्तों (या तत्वों) का विज्ञान है, तो इस (कथन) के द्वारा किसी पूर्णतया विशिष्ट प्रकार के ज्ञान को पृथक् लक्षित नहीं किया गया, प्रत्युत व्यापकता की दृष्टि से उस कीकेवल विशिष्ट पदवीमात्र का कथन किया गया, जिसके द्वारा वह इस प्रकार आनुभविक ज्ञान से जानने योग्य ढंग से पृथक् नहीं की जा सकती थी; क्योंकि आनुभविक सिद्धान्तों या तत्वों में भी कुछ अधिक व्यापक होते हैं और इस प्रकार अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा उच्चतर होते हैं; और प्रकार क्रमशः निम्न से निम्नतर होते हुए तत्वों (या सिद्धान्तों) की शृंखला (या मालिका) में (जिसमें कि जो पूर्णता प्रागनुभवात्मकतया जाना जाता है उसको उससे पृथक् नहीं किया गया है जो केवल अनुभव के उपरान्त ज्ञात होता है) उस रेखा को कहाँ खींचा जाएगा जो प्रथम खंड और सर्वोच्च अव-यव को अन्तिम और निम्नस्थित को विभाजित या पृथक् करेगी। यदि संसार के युगों की कालगणना केवल इस प्रकार की जा सकती कि वे आरंभिक शताब्दियों और पश्चात् आने वाली शताब्दियों में विभक्त किये जाते, तो इस विभाजन के विषय में क्या कहा जाता? इस पर प्रश्न किया जाता:—क्या पाँचवीं, दसवीं इत्यादि शता-ब्दियाँ आरंभिक शताब्दियों से संबंध रखती हैं? ठीक इसी प्रकार मैं यह प्रश्न करता हूँ—क्या विस्तृत का संबोध पराविद्या से संबंध रखता है? तुम उत्तर देते हो—हाँ। तब तो शरीर का संबोध भी? हाँ। और तरल (या द्रव) शरीर का? अब तुम हतप्रभ हो जाओगे, क्योंकि यदि यही क्रम आगे बढ़ता गया तो सब कुछ ही पराविद्या से संबद्ध हो जाएगा। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि (सामान्य के अधीन विशेष की) अधीनता की मात्रा मात्र किसी विज्ञान की सीमाओं (या मर्यादाओं) को निर्धारित नहीं कर सकती, प्रत्युत हमारे प्रस्तुत प्रसंग में तो प्रकार और मूलोद्गम परिपूर्ण विभिन्नता (ऐसा करने में समर्थ होगी)। पर पराविद्या के आधारभूत (भाव या) विचार को दूसरी ओर जिस बात ने अस्पष्ट कर दिया वह यह भी थी कि प्रागनुभवात्मक ज्ञान के रूप में पराविद्या कुछ समानता प्रदर्शित करती है, और जहाँ तक प्रागनुभवात्मक मूलोद्गम का वास्ता है, दोनों (अर्थात् गणित और पराविद्या) परस्पर संबद्ध हैं; परन्तु जब दार्शनिक विज्ञान और गणित के ज्ञान के प्रकारों के भेदों पर ध्यान दिया जाता है, अर्थात् यह देखा जाता है कि इनमें से प्रथम संबोधों से व्युत्पन्न होता है, जबकि उसकी तुलना में दूसरे

में प्रागनुभवात्मक विभावनाओं पर केवल संबोधों की निर्मिति के द्वारा पहुँचा जाता है, परिणामतः गणित के ज्ञान से दार्शनिक ज्ञान के भेद पर पहुँचा जाता है, तब स्वयंमेव एक ऐसा सुनिर्णीत प्रकार भेद प्रकट हो जाता है, जो निश्चय ही लगभग अनुभव तो सर्वदा ही किया जाता था पर किसी स्पष्ट कसौटी के आधार पर कभी भी निर्धारित नहीं किया जा सका था। इस प्रकार यह घटित हुआ है कि क्योंकि दार्शनिकगण अपने विज्ञान के भाव या विचार तक को विकसित करने में असफल रहे, अतः वे इसके सश्रम-परिष्कार में किसी सुनिर्धारित लक्ष्य और किसी भी सुरक्षित मार्गदर्शक सूत्र को नहीं रखते थे, और इस मनमाने ढंग से कल्पित योजना में, जिस मार्ग को ग्रहण करना है उसके विषय में भी अज्ञान, इन दार्शनिकों ने परस्पर, अपने अपने मार्ग पर चलते हुए जिसने जो आविष्कार करने का दावा किया, उसके विषय में झगड़ते हुए अपने विज्ञान को प्रथम तो दूसरे लोगों में और अन्त में अपने मध्य में भी तिरस्कार का भाजन बना दिया।

समस्त शुद्ध प्रागनुभवात्मक ज्ञान, इस प्रकार, ज्ञान की उस विशिष्ट शक्ति (या वृत्ति) के अनुसार, केवल जिसमें इसका मूलोद्भव हो सकता है, अपने में एक विलक्षण एकता रखती है, और पराविद्या वह दर्शन है जिसको उस ज्ञान को इस संव्यवस्थित एकता में अभिव्यक्त (या प्रस्तुत) करना है। इसका चिन्तनात्मक भाग, जिसने इस नाम को विशिष्टतया अपना लिया है, अर्थात् जिसको हम प्रकृति की पराविद्या का नाम देते हैं, तथा जो प्रत्येक वस्तु का जहाँ तक कि वह है (न कि जैसी वह होनी चाहिये) प्रागनुभवात्मक संबोधों के द्वारा विचार करता है, अब निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया जाएगा।

पराविद्या, इस शब्द के संकीर्ण अर्थ में, अनुभवातीत दर्शन और शुद्ध बुद्धि अंग-व्यापार-विद्या से मिल कर घटित होती है। इनमें से प्रथम केवल बोधवृत्ति और बुद्धि का, विषयों से सामान्यतः संबद्ध संबोधों और सिद्धान्तों के संस्थान में, प्रतिपादन करता है, परन्तु जो विषय (अनुभव में) दिये हुए हो सकते हैं उनका कोई विचार नहीं करता, दूसरी प्रकृति का प्रतिपादन करती है, अर्थात् दिये हुए विषयों के समूह का (चाहे तो इन्द्रियों को उपलब्ध हों, अथवा, यदि आप चाहें, तो किसी अन्य प्रकार के प्रत्यक्षानुभव के प्रति दिए हुए हों) प्रतिपादन करती है, और इस प्रकार अंग व्यापार विद्या है (यद्यपि है केवल बौद्धिक ही)। प्रकृति के इस बौद्धिक अध्ययन में बुद्धि का विनियोग या तो भौतिक होता है अथवा अति भौतिक होता है, अथवा यदि इससे भी अधिक अच्छे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं, या तो सर्वान्तरव्यापी होता है या सर्वातीत होता है। इन में से प्रथम का वास्ता प्रकृति से उस सीमा तक

है जहाँ तक उसका ज्ञान अनुभव में (इन्द्रियग्राह्य मूर्त तत्व में) प्रयुक्त हो सकता है; दूसरे का वास्ता अनुभव के विषयों के उस संबंध से है, जो समस्त अनुभव का अतिक्रमण करता है। यह अतिशायिनी अंगव्यापार विद्या, इस प्रकार अपने विषय के रूप में या तो आन्तरिक संबंध को अथवा बाह्य संबंध को रखती है, जो दोनों ही संभाव्य अनुभव से परे जाने वाले हैं; इनमें प्रथम समग्र प्रकृति की अंग-व्यापार विद्या है, अर्थात् समस्त विश्व का अनुभवातीत ज्ञान है, दूसरी समस्त प्रकृति के परे एक सत्त्व के संबंध की अंगव्यापार विद्या है, अर्थात् ईश्वर का अनुभवातीत ज्ञान है।

इसके विपरीत सर्वान्तरव्यापी अंगव्यापार विद्या प्रकृति को इन्द्रियों के समस्त विषयों की समाकलित राशि के रूप में देखती है, अतएव ठीक उसी रूप में देखती है जिसमें वह हम को दी हुई है, पर ऐसा केवल प्रागनुभवात्मक प्रतिबन्धों (शर्तों) के अनुसार ही करती है, केवल जिनके अधीन (या मातहत) यह हमको दी हुई हो सकती है। ऐसे विषयों के (या इसके विषयों के) केवल दो ही प्रकार होते हैं। (१) वह जो बाह्येन्द्रियों के विषय होते हैं, अतएव उनकी एकत्रित राशि, मूर्त शरीरिणी प्रकृति। (२) आन्तरिक इन्द्रियों का विषय, आत्मा और उसके सामान्यतः आधार-भूत संबोध के अनुसार (जिसको) विचार करने वाली प्रकृति भी कह सकते हैं। शरीरिणी (व्यक्त) प्रकृति की पराविद्या भौतिकी कहलाती है, परन्तु क्योंकि उसमें उसके प्रागनुभवात्मक ज्ञान के केवल सिद्धान्त (मुख्य तत्व) अन्तर्विष्ट होने चाहियें, अतः यह बौद्धिक भौतिकी कहलाती है। विचार करने वाली प्रकृति की पराविद्या मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) कहलाती है और उपर्युक्त कारण से इसका बौद्धिक ज्ञान कहलाती है।

इसलिये पराविद्या का संस्थान चार मुख्य भागों से घटित होता है—(१) सत्त्व-विद्या या तात्विकी (२) बौद्धिक अंगव्यापार विद्या। (३) बौद्धिक सृष्टि विद्या (४) बौद्धिक ईश्वर (या देव) विद्या। दूसरा विभाग, अर्थात् शुद्ध बुद्धि की प्रकृति संबंधी शिक्षा दो उपविभागों को अपने में अन्तर्विष्ट रखती है, बौद्धिक भौतिकी[कां.] और बौद्धिक मनोविज्ञान।

कां. यह नहीं समझा जाना चाहिये कि इस शब्द से मेरा आशय वह है जिसको सामान्यतया "सामान्य भौतिकी" कहा जाता है, और जो प्रकृति के दर्शनशास्त्र की अपेक्षा गणित ही अधिक है। क्योंकि प्रकृति की पराविद्या गणित से बिलकुल भिन्न है, और दूर तक भी विस्ताराधेयक ज्ञान प्रदान नहीं करती जितना गणित करता है, परन्तु है फिर भी अत्यन्त मह-

शुद्ध बुद्धि के दर्शन का आधारभूत मौलिक भाव (या विचार) ही इस विभाजन को निर्दिष्ट करता है, इसलिये यह भाव शुद्ध बुद्धि के सारभूत लक्ष्यों के अनुसार ज्ञान-संस्थान-निर्मापक है, केवल प्रावैधिकमात्र नहीं है, जो औपाधिकतया लक्षित समानताओं के अनुसार अटकलपच्चू ही मानों सौभाग्यवश बना लिया गया हो, और इसी कारण यह अपरिवर्तनीय और वैधानिक अधिकार रखने वाला भी है। परन्तु कुछ ऐसे विचारणीय प्रश्न (या विषय) हैं जो आशंकाओं को उत्तेजना दे सकते हैं, तथा इसके वैध रूप के संबंध में जो हमारा विश्वास है उसको दुर्बल कर दे सकते हैं।

सबसे प्रथम विचारणीय बात यह है कि, जहाँ तक कि संसार के विषय हमारी इन्द्रियों को, (और अतएव अनुभव के पश्चात्) दिये हुए होते हैं, मैं उनका प्रागनुभवात्मक ज्ञान (तदनुसार उनकी पराविद्या) की प्रत्याशा किस प्रकार कर सकता हूँ, और सिद्धान्तों के अनुसार प्रागनुभवात्मकतया वस्तुओं की प्रकृति (या स्वभाव) को जान लेना, और बौद्धिक-अंगव्यापार-विद्या तक पहुँच जाना किस प्रकार संभव है? इसका उत्तर यह है कि हमको वाह्येन्द्रिय अथवा अन्तरिन्द्रिय के विषय प्रदान करने के लिये जो कुछ अनिवार्यतया आवश्यक है, उसके आगे हम अनुभव में से और कुछ भी नहीं लेते। इनमें से प्रथम की सम्प्राप्ति (बाह्येन्द्रियों के विषय की सम्प्राप्ति) केवल भौतिक तत्व (माटेरी = मैटर) के संबोधमात्र (जो अननुप्रवेश्य विस्तार है) से घटित हो जाती है, और दूसरे की एक विचार करने वाले सत्त्व के संबोध के द्वारा (मैं विचार करता हूँ, इस आन्तरिक आनुभविक प्रत्युपस्थापना में) हो जाती है। जो अवशिष्ट रहा उसके लिये (उसके संबंध में) इन विषयों की समस्त पराविद्या में (अर्थात् इनके पराविद्यात्मक विवेचन में) हमको समस्त आनुभविक सिद्धान्तों (या तत्वों) का पूर्णतया परिवर्जन करना चाहिये, जो इन विषयों पर और अधिक निर्णय (या विभावना) प्रस्तुत करने के लिये, भौतिक तत्व के उपर्युक्त संबोध में अनुभव का कुछ और अंश जोड़ दे सकते हैं।

दूसरे यह विचारणीय है कि जब प्रागनुभवात्मकतया किसी भी उपयोगी वस्तु को प्राप्त करने की आशा त्याग दी गई तब उसके उपरान्त, वह आनुभविक (या दृष्ट)

त्वपूर्ण, क्योंकि यह प्रकृति के संबंध में प्रयुक्त होने वाले शुद्ध बोधवृत्ति के ज्ञान सामान्य की समालोचना (या मीमांसा) को जन्म देती है; क्योंकि इसके अभाव में स्वयं गणितवेत्ताओं तक ने, कुछ ऐसे साधारण संबोधों को ग्रहण किए हुए, जो वास्तव में पराविद्या के संबोध हैं, भौतिक विज्ञान पर अनजाने में ऐसी उपकल्पनाओं को लाद दिया है, निहित सिद्धान्तों की अलोचना पर इस क्षेत्र में गणित को विनियोग में (जो कि पूर्णतया अनिवार्य है) लेशमात्र भी कमी किये बिना विलय को प्राप्त हो जाती हैं।

मनोविज्ञान कहाँ रह जाता है, जिसने सदा से पराविद्या में अपने स्थान का दावा किया है, तथा जिससे हमारे समय में पराविद्या पर प्रकाश डालने के लिये इतनी बड़ी आशाएँ बाँधी गई हैं ? इसका उत्तर मैं यह देता हूँ कि उसका स्थान वहीं है, जहाँ कि प्रकृति के यथार्थ (आनुभविक या दृष्ट) अध्ययन का (या सिद्धान्त) का स्थान होना चाहिये, अर्थात् इसका स्थान व्यावहारिक दर्शनशास्त्र में होना चाहिये, जिसके लिये आधारभूत सिद्धान्त शुद्ध दर्शनशास्त्र में अन्तर्विष्ट हैं; और इस प्रकार वह (मनोविज्ञान) शुद्ध दर्शन से संबद्ध तो हो जाता है, परन्तु उसके साथ अस्तव्यस्त नहीं होता। अतएव आनुभविक मनोविज्ञान पराविद्या से पूर्णतया निर्वासित कर दिया जाना चाहिये, और वास्तव में यह पहले से ही, पराविद्या के मूलभाव से ही उस से पूर्णतया व्यावृत्त है। फिर भी, दार्शनिक-प्रस्थानों की परम्परागत प्रथा के अनुसार इसको पराविद्या में ही (चाहे वह केवल उपकथा या गौणविषय के रूप में ही क्यों न हो) छोटा मोटा स्थान देना ही पड़ेगा, और ऐसा आर्थिक (या गृहव्यवस्था) के निमित्त करना होगा, क्योंकि वह अभी इतना समृद्ध नहीं है कि स्वतः अध्ययन का विषय बन सके, और फिर इतना महत्त्वपूण भी है कि इसको पूर्णतया निर्वासित नहीं किया जा सकता, अथवा किसी ऐसे अन्य स्थान में आवद्ध नहीं किया जा सकता, जहाँ उसको पराविद्या से भी कम सजातित्व प्राप्त हो सके। इसलिये यह गृह में दीर्घकाल से स्वीकृत अतिथि (या परदेसी) मात्र है, जिसको और थोड़े से समय के लिये तब तक टिकने दिया जा रहा है जब तक कि वह परिपूर्ण मानवशास्त्र के क्षेत्र में (जो आनुभविक प्रकृतिशास्त्र का गौण सहचर है) अपने निजी निवास-गृह में प्रवेश करने में समर्थ हो सके।

अतः सामान्यरूपेण पराविद्या का भाव यही है, जो, (क्योंकि आरंभ में इससे उसकी अपेक्षा जो कि औचित्य के साथ माँगा जा सकता है, अधिक की आशा की गयी, और यह कुछ समय तक मनोज्ञ आशाओं से मनोविनोद करती रही) अन्त में सामान्य कुख्याति का भाजन बन गई है, क्योंकि उससे जो आशाएँ बाँधी गई थीं वे प्रवञ्चनाएँ सिद्ध हुईं। हमारी मीमांसा के समस्त विवेचन पथ से यह विश्वास पर्याप्तरूपेण प्राप्त हो गया होगा कि यद्यपि पराविद्या धर्म की नींव नहीं हो सकती, तथापि इसको सर्वदा (धर्म की) प्राचीर तो बना रहना ही चाहिये, और मानवीय बुद्धि, जो कि अपने स्वभाव की दिशा (या प्रवृत्ति) के कारण द्वन्द्वात्मक है, एक ऐसे विज्ञान के बिना कदापि नहीं रह सकती जो उसको अंकुश में रखती है, तथा वैज्ञानिक एवं पूर्णतया सुस्पष्ट आत्मज्ञान के द्वारा उन विध्वंसों को अवरुद्ध कर देती है, अन्यथा जिनको नियमरहित चिन्तनात्मक, सदाचार और धर्म दोनों ही के क्षेत्र में, एक समान, बेचूक कर डालेगा। अतएव हम इस विषय में बिलकुल निश्चिन्त रह सकते हैं कि चाहे

वे लोग जो किसी विज्ञान का मूल्यांकन उसके स्वभाव से नहीं करते प्रत्युत उसके औपाधिक प्रभाव से करते हैं, (दर्शनशास्त्र के प्रति) कितनी कर्कश (या उदासीन) और तिरस्कारपूर्ण आलोचनात्मक अभिवृत्ति क्यों न रखें हम (दार्शनिक लोग) तो बारंबार पराविद्या की ओर कलहान्तरिताप्रिया के पास लौटने के समान, लौट कर आएँगे, क्योंकि यहाँ प्रश्न सारभूत लक्ष्यों का है, इस कारण बुद्धि को इस क्षेत्र में (पराविद्या के क्षेत्र में) या तो सच्ची मौलिक अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करने के लिये अथवा पूर्वतः सत्तावान् अच्छी कही जाने वाली अन्तर्दृष्टियोंको विध्वस्त करने के लिये अविश्रान्तभाव से कार्यरत रहना पड़ेगा।

प्रकृति और आचार इन दोनों की पराविद्याएँ समान भाव से, और विशेष रूप से हमारे, अपने पंखों पर साहसपूर्ण उड़ान भरने वाली बुद्धि की वह आलोचना जो पराविद्या के लिए उसकी भूमिका या तैयारी के रूप में काम आती है, यह तीनों एक साथ मिलकर वास्तव में उस वस्तु को संघटित करती हैं जो सही या यथार्थ अर्थ में दर्शन कहा जा सकता है। इसका एकमात्र मन्तव्य (लक्ष्य) बुद्धिमत्ता (विवेक, प्रज्ञा) है, पर इसका मार्ग विज्ञान में होकर पड़ता है, जो एकमात्र ऐसा मार्ग है कि यदि एक खुल जाए (अर्थात् चालू हो जाए) तो फिर कभी (तृणादि) से संकुल नहीं होता, और (मार्ग से) बहकने भी नहीं देता। गणित, प्रकृति विज्ञान, यहाँ तक कि मानव का आनुभविक ज्ञान, बहुधा मानव जाति के औपाधिक लक्ष्यों के लिये अत्यन्त उच्च कोटि का मूल्य रखते हैं, तथापि अन्ततोगत्वा मानव जाति के अनिवार्य और सारभूत लक्ष्यों के लिये भी अत्यन्त उच्च महत्त्व रखते हैं, परन्तु वे यह उच्च मूल्य शुद्ध संबोद्धों से बुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान के माध्यम से ही रखते हैं, जिसको चाहे जो नाम दिया जाए, पर जो वास्तव में पराविद्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इसी कारण पराविद्या मानवीय बुद्धि (या विवेक) की सर्वोच्च संस्कृति है, और यद्यपि, विज्ञान के रूप में कतिपय सुनिर्धारित लक्ष्यों के संबंध में इसके प्रभाव को एक ओर डाल दिया जाए, तथापि यह है अनिवार्य। क्योंकि यह बुद्धि का विवेचन उसके ऐसे तत्वों और सूत्रों के अनुसार करती है जो विज्ञानों के, तथा सभी विज्ञानों के उपयोग के, मूल में निहित रहने आवश्यक हैं। यदि यह कहो कि केवल चिन्तनात्मक होने के कारण, ज्ञान को विस्तीर्ण करने की अपेक्षा यह भ्रान्तियों को रोकने के काम अधिक आती है, तो इससे उसके मूल्य में कोई कमी नहीं आती, प्रत्युत इसके विपरीत यह बात तो उस दोषपरीक्षण के द्वारा जो सामान्य (क्रम-) व्यवस्था और तालमेल, हाँ (इतना ही नहीं प्रत्युत) वैज्ञानिक राष्ट्रमण्डल के कल्याण को सुरक्षित रखता है, तथा इसके कर्मपरायण साहसी एवं सफल कार्यकर्त्ताओं को समस्त मानव

जाति के सुख के मुख्य लक्ष्य से, दूर हट जाने से रोकता है, इसको एक गरिमा और प्राधिकार प्रदान करती है।

अनुभवातीत पद्धति विज्ञान
चतुर्थ अध्याय
शुद्ध बुद्धि का इतिहास

यह शीर्षक यहाँ केवल संस्थान में एक ऐसे स्थल को सूचित करने के लिये स्थित है, जो बचा हुआ है तथा जिसको भविष्य में पूरा किया जाना चाहिये। मैं तो इस समय अपने को विशुद्ध अनुभवातीत दृष्टिकोण से, अर्थात् शुद्ध बुद्धि के स्वरूप के दृष्टिकोण से, इस क्षेत्र में आज तक के समस्त दार्शनिकों के कार्य पर एक उड़ती हुई दृष्टि डालकर —जो कि मेरी आँख के समक्ष अनेकों भवनों को अवश्यमेव प्रस्तुत करती है, परन्तु वे भवन केवल खंडहरों के रूप में हैं—सन्तुष्ट कर लूँगा।

यह बात पर्याप्त ध्यान देने योग्य है,—यद्यपि स्वाभाविकतया जो कुछ हुआ वह अन्यथा नहीं हो सकता था—कि दर्शनशास्त्र के शैशव में ही मनुष्यों ने वहाँ से आरंभ किया जहाँ हम समाप्त करना पसन्द करेंगे, अर्थात् उन्होंने ईश्वर संबंधी ज्ञान और दूसरे जगत् (परलोक) की आशा अथवा स्वरूपसंघटन के अध्ययन से आरंभ किया। वे धार्मिक संबोध जो कि मानव जाति की प्राचीनतर परिष्कृत जंगली अवस्था से अवशिष्ट चली आ रही पुरानी प्रथाओं से उत्पन्न हुए थे, चाहे कितने ही संस्काररहित क्यों न रहे हों, तो भी समाज के प्रति कुछ भाग तो इन्होंने अपने आप को इन बातों के स्वतंत्र अनुसंधान के प्रति समर्पित करने से नहीं रोका, और यह सरलता से देखा जा सका कि उस अदृश्य शक्ति को, जो कि जगत् का शासन करती है, प्रसन्न करने का और परिणामतः कम से कम परलोक में सुखी होने का,जीवन को भले प्रकार व्यतीत करने के अतिरिक्त अन्य कोई आधारभूत और विश्वसनीय उपाय दिया हुआ (= उपलब्ध) नहीं हो सकता। इसलिए देव-विज्ञान और सदाचार ऐसी दो कमानियाँ (या स्कन्द) थे, अथवा यह कहना अधिक अच्छा होगा कि ऐसे दो आकर्षण (या संकेत-) विन्दु थे,जिनके प्रति, बुद्धि के समस्त निगूढ़ अनुसंधानों में, पीछे के समय में मनुष्यों ने अपने को सर्वदा समर्पित किया है। तथापि, इनमें से प्रथम ही, मुख्यतया वह था, जिसने विशुद्ध चिन्तनात्मक बुद्धि को क्रमशः शनैः-शनैः उस धन्धे या व्यापार में खींच लिया, जो बाद के समय में पराविद्या के नाम से इतना विख्यात हो गया है।

मैं यहाँ इतिहास के उन युगों को, जिनमें पराविद्या का यह या वह परिवर्तन घटित हुआ, एक दूसरे से पृथक् करने का प्रयत्न नहीं करूँगा; प्रत्युत केवल उन विभिन्न

भावों का मानचित्र जल्दी से प्रस्तुत करूँगा, जिन्होंने पराविद्या में मुख्य क्रान्तियाँ उत्पन्न की हैं। और यहाँ मुझे एक तिहरा लक्ष्य दिखलाई पड़ता है जिसके संबंध में, इस कलह (= विवाद) के अखाड़े में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण (= ध्यान देने योग्य) परिवर्तन घटित हुए हैं।

१. हमारे समस्त बौद्धिक-ज्ञान के विषय के संबंध में कुछ दार्शनिक मात्र ऐन्द्रिय-वादी थे, और अन्य कुछ मात्र बौद्धिकवादी थे। एपीकुरुस् इन्द्रियवादियों में प्रमुख, और प्लेटो (प्लातोन या अफलातून) बुद्धिवादियों में अग्रगण्य कहा जा सकता है। इन दोनों प्रस्थानों का भेद चाहे है अत्यन्त सूक्ष्म, किन्तु अत्यन्त आरंभिक समय से ही प्रारम्भ हो चुका था, और (तब से) अब तक दीर्घकाल से अविच्छिन्न चला आ रहा है। प्रथम स्थान के अनुयायियों का दावा है कि यथार्थता तो केवल इन्द्रियों के विषयों-मात्र में ही रहती है, और शेष सब कल्पना है, दूसरे प्रस्थान वालों का इसके विरुद्ध यह कहना है कि, इन्द्रियों में आभास (या भ्रान्ति) के अतिरिक्त और कुछ नहीं रखा है, केवल बोधवृत्ति ही यह जानती है कि सत्य क्या है। प्रथम प्रस्थान वालों ने वास्तव में बोधवृत्ति के संबोधों की वास्तविकता अस्वीकार नहीं की, पर यह वास्तवि-कता उनकी दृष्टि में यौक्तिकमात्र थी, किन्तु दूसरों की दृष्टि में यह रहस्यात्मक थी। उन्होंने (अर्थात् प्रथम प्रस्थान वालों ने—दुर्जनतोषण न्याय से) बौद्धिक संबोधों को मान भले ही लिया, पर अंगीकार ऐन्द्रिय विषयों को ही किया। इन्होंने (अर्थात् द्वितीय प्रस्थान वालों ने) यह माँग की कि सच्चे विषय केवल बुद्धिग्राह्य ही होने चाहिये, और यह दावा किया कि शुद्ध बोधवृत्ति के द्वारा हमको ऐसा अपरोक्षा-नुभव प्राप्त होता है जो किसी इन्द्रिय के साहचर्य से समन्वित नहीं होता, तथा उनके मतानुसार इन्द्रियाँ केवल बोधवृत्ति को भ्रान्त किया करती हैं।

२. शुद्ध बुद्धि के द्वारा ज्ञान के प्रकारों की उत्पत्ति के संबंध में, विचारणीय प्रश्न यह है कि वे अनुभव से व्युत्पादित होते हैं, अथवा अनुभव से स्वतंत्र रहते हुए वे अपना उद्गम बुद्धि में रखते हैं। अरिस्तू को अनुभववादियों का मुखिया माना जा सकता है, तथा प्लैटो (अफलातून) को बुद्धिवादियों का प्रमुख माना जा सकता है। लॉक, जिसने आधुनिक काल में प्रथम का अनुसरण किया, और लाइब्‌नित्स् जिसने (यद्यपि प्लेटो के रहस्यात्मक संस्थान से पर्याप्त दूरी बनाए रख कर) द्वितीय का अनुसरण किया, यह दोनों भी इस विवाद को किसी निर्णय तक नहीं पहुँचा सके। चाहे एपी-करुस् को कुछ भी समझा जाए, पर दूसरों को लुभानेवाला वह कम से कम अपने इन्द्रिय-वादी संस्थान में (क्योंकि वह अपने अनुमानों में अनुभव की सीमाओं के परे कदापि नहीं गया) अरिस्तू और लॉक की अपेक्षा कहीं अधिक आत्मसंगत है (विशेषकर

दूसरे--अर्थात् लॉक की अपेक्षा), जो संबोधों और आधारभूत सिद्धान्तों को अनुभव से व्युत्पादित कर लेने के पश्चात् इनके विनियोग में इतनी दूर चला जाता है कि वह यह दावा करने लगता है कि ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता (यद्यपि यह दोनों ही विषय संभाव्य अनुभव की सीमा से बिलकुल परे स्थित हैं) उसी निर्णायकता के साथ सिद्ध की जा सकती हैं जिसके साथ कोई गणित की प्रस्थापना सिद्ध की जा सकती है।

३. पद्धति के संबंध में। यदि किसी वस्तु को पद्धति का नाम दिया जाना है तो वह सिद्धान्तों के अनुसार कोई प्रक्रिया होनी चाहिये। अब इस प्रकृति के अनुसंधान के क्षेत्र में आजकल चलने वाली पद्धति को दो भागों में--प्राकृतिक पद्धति और वैज्ञानिक पद्धति में--विभाजित किया जा सकता है। शुद्ध बुद्धि का प्रकृतिवादी इस बात को अपने आधारभूत नियम के रूप में मानता है कि विज्ञान-विरहित साधारण बुद्धि के द्वारा (जिसको वह स्वस्थ बुद्धि का नाम देता है) उन उदात्ततम प्रश्नों के संबंध में, जिनसे पराविद्या की समस्याएँ संघटित होती हैं चिन्तन की अपेक्षा अधिक सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस प्रकार मानों वह यह दावा करता है कि चन्द्रमा का आकार और दूरी गणित की चक्करदार पद्धतियों की अपेक्षा खुली आँख से अधिक सुनिश्चितता के साथ निर्धारित की जा सकती हैं। यह तो सिद्धान्त के रूप को प्रापित कोरी तर्क द्वेषिता है, और इसके संबंध से सबसे अधिक निरर्थक (या बेहूदा) बात यह है, कि यह समस्त कृत्रिम की उपेक्षा की हमारे ज्ञान को विस्तीर्ण करने के विशिष्ट उपाय के रूप में प्रशंसा है। क्योंकि जहाँ तक उन लोगों का संबंध है, जो अधिक अन्तर्दृष्टि के कारण प्रकृतिवादी हैं, उनको तो सकारण ही दोष नहीं दिया जा सकता। वे अपने अज्ञान के संबंध यह दर्पोक्ति किए बिना कि वह एक ऐसी पद्धति या उपाय है जिसमें दिमॉक्रितुस् के गहरे कुए में से सत्य को निकालने का रहस्य छिपा हुआ है, अपनी साधारण बुद्धि का अनुसरण किया करते हैं।

क्वोड् सापियो, साटिस् ऐस्ट् मिही, नोन् एगो कुरो
एस्से क्वोड् आर्केसिलास् ऐरूम्नोसिक्वे सोलोनेस्।-- **प्रसियुस्।**

उनका आदर्श वाक्य है, जिसके साथ वे प्रसन्न एवं प्रशस्य जीवन बिता सकते हैं, (और सो भी) बिना विज्ञान के विषय में चिन्ता किये, और बिना उसके कार्यों को अस्तव्यस्त किये।

जहाँ तक उन लोगों का संबंध है जो वैज्ञानिक पद्धति को मानने वाले या स्वीकार करने वाले हैं, उनके चुनने के लिये दो विकल्प हैं, वे या तो दैष्टिकतया या सांशयिकतया अपने अनुसंधान में प्रवृत्त हो सकते हैं, पर सभी अवस्थाओं में उनको व्यवस्थापूर्वक

प्रवृत्त होने की बाध्यता अवश्य माननी है। जब मैं यहाँ प्रथम विकल्प के प्रतिनिधि के रूप में सुविख्यात वौल्फ़् का और द्वितीय विकल्प के प्रतिनिधि के रूप में डैविड् ह्यूम का नाम ले लेता हूँ, तो मैं अपने प्रस्तुत लक्ष्य की दृष्टि से, अवशिष्ट लोगों को बिना नामोल्लेख के छोड़ सकता हूँ। आलोचनात्मक मार्ग ही केवल ऐसा मार्ग है जो अभी तक खुला हुआ है। यदि पाठक ने मेरे साथ इस मार्ग पर चलने की कृपा और धैर्य रखा है, तो अब वह स्वयं यह निर्णय कर सकता है कि यदि उसे रुचे तो इसको अपनी सहायता का योगदान देकर और इस पगडंडी को राजमार्ग बना कर, क्या उस (कार्य) को वर्त्तमान शताब्दी की समाप्ति के पूर्व ही सिद्ध कर लेना संभव होगा या नहीं, जो बहुत सी शताब्दियों में भी सिद्ध नहीं हो सका है, अर्थात् क्या मानवीय बुद्धि को उस (समस्या) के संबंध में पूर्ण संतोष को प्राप्त करा देना संभव होगा या नहीं, जिसके साथ उसकी ज्ञान-पिपासा सर्वदा (किन्तु इस समय तक व्यर्थ ही) व्यापृत रहती आई है?